विशिष्टाद्वैत वेदान्त का विस्तृत विवेचन

(AN EXTENSIVE STUDY OF VISHISHTADVAITA VEDANTA)

स्वामी त्रिभुवनदास

॥श्री:॥

ब्रजजीवन प्राच्यभारती ग्रन्थमाला

१६४

विशिष्टाद्वैत वेदान्त का विस्तृत विवेचन

लेखक

स्वामी त्रिभुवनदास

चौखम्बा संस्कृत प्रतिष्ठान

दिल्ली

प्रकाशक

चौखम्बा संस्कृत प्रतिष्ठान

(भारतीय संस्कृति एवं साहित्य के प्रकाशक तथा वितरक)
38 यू. ए. जवाहर नगर, बंगलो रोड
पो. बा. नं. 2113, दिल्ली - 110007
दूरभाष : (011) 23856391, 41530902

प्रथम संस्करण 2013
पृष्ठ : LIV+754
मूल्य : ₹ 1000.00

अन्य प्राप्तिस्थान :

चौखम्बा विद्याभवन
चौक (बैंक ऑफ बड़ौदा भवन के पीछे)
पो. बा. नं. 1069
वाराणसी - 221001

❈

चौखम्बा सुरभारती प्रकाशन
के. 37/117 गोपाल मन्दिर लेन
पो. बा. नं. 1129
वाराणसी - 221001

❈

चौखम्बा पब्लिशिंग हाउस
4697/2, भू-तल (ग्राउण्ड फ्लोर)
गली नं. 21-ए, अंसारी रोड़
दरियागंज, नई दिल्ली - 110002

ISBN : 978-81-7084-431-3

सम्पादन सहयोग - स्वामी महेशानन्द

मुद्रक :
ए. के. लिथोग्राफर्स, दिल्ली

THE

VRAJAJIVAN PRACHYABHARATI GRANTHAMALA

164

Vishishtadvaita Vedanta Ka Vistrita Vivechana

Author

Swami Tribhuvandass

आत्म-निवेदन

सम्पूर्ण प्राणियों में दुःखनिवृत्ति और सुखप्राप्ति की इच्छा निःसर्गतः विद्यमान रहती है किन्तु दुःखों की आत्यन्तिकी निवृत्तिपूर्वक परमसुखकी प्राप्ति मानव शरीरसे सम्भव है। वेदान्तशास्त्र जीवात्मा और परमात्मा के स्वरूप-स्वभाव, जीवका बन्धन, मोक्ष तथा मोक्षकी साधन ब्रह्मविद्या का सम्यक् प्रतिपादन करता है। मेरे गुरुदेव अयोध्यास्थ श्रीमणिरामछावनीपीठाधीश्वर अनन्त श्रीसमलंकृत ब्रह्मविद्वरिष्ठ, आचार्य श्रीमत्स्वामी नृत्यगोपालदासजी महाराज की पावन आज्ञासे दास की शास्त्राध्ययन में प्रवृत्ति हुई। अयोध्यामें ही श्रीरामकिंकरदास जी, डा. श्री विश्म्भरदास जी और म.म.पं. श्रीरामलखन पाठक से व्याकरण शास्त्र और पं. श्रीरामवदनजी शुक्लसे विशिष्टाद्वैतवेदान्तका कुछ अध्ययन करके अनन्त श्रीविभूषित,परमहंस-परिव्राजकाचार्य, पदवाक्यप्रमाणपारावारीण श्रीमत्स्वामी दिव्यानन्दसरस्वती जी महाराजसे शांकरवेदान्त और अन्य दर्शनशास्त्रों का अध्ययन सम्पन्न हुआ, सारस्वतधारा के अविरल-प्रवाहक पूज्यपाद सम्प्रति ऋषीकेशमें श्रीकैलासापीठाधीश्वर पद को सुशोभित कर रहे हैं। अनन्त श्री विभूषित, ब्रह्मविद्वरिष्ठ, विद्वद्वरेण्य, दार्शनिक-सार्वभौम, वीतराग, परमहंस श्रीस्वामी शंकरानन्दसरस्वतीजी महाराजसे विशिष्टाद्वैतवेदान्त तथा धर्मशास्त्र की शिक्षा प्राप्त की। परमसुहृद् अनन्त श्रीविभूषित भक्तिशास्त्रमर्मज्ञ, विद्वद्वरिष्ठ, श्रोत्रिय-ब्रह्मनिष्ठ श्रीमलूकपीठाधीश्वर श्रीराजेन्द्र दास जी महाराज ने विशिष्टाद्वैतवेदान्त के प्रमेयों का सम्यक् निरूपण करने वाले ग्रन्थ को राष्ट्रभाषा में लिखने के लिए प्रेरित किया। श्रद्धेय विद्वानों तथा श्रीभगवान् की भी प्रेरणा प्राप्त करके कलिमलविनाशिनी भागीरथी गङ्गा माता के सुरम्य तट पर स्थित स्वर्गाश्रम क्षेत्रके निवासस्थलमें आषाढ़ शुक्लपक्ष, वि.सं.२०६४ में आरम्भ हुआ लेखन कार्य शास्त्रान्तर का अध्यापन तथा रुग्णता आदि अनिवार्य व्यवधान उपस्थित होने पर भी भगवदनुग्रह से

फाल्गुन शुक्ल वि.सं.२०६८ में पूर्णता को प्राप्त हुआ। मेरे वृन्दावन-प्रवासकाल में विशिष्टाद्वैतवेदान्त के मूर्धन्य विद्वान् अनन्त श्रीविभूषित श्रोत्रिय-ब्रह्मनिष्ठ श्रीस्वामी मधुसूदनाचार्य जी महाराज व्याकरण-वेदान्ताचार्य(भूतपूर्व वेदान्तविभागाध्यक्ष, श्रीरंगलक्ष्मी आदर्श संस्कृत महाविद्यालय, वृन्दावन) की पावन सन्निधि में लिखित विषय का वाचन किया जाता था। उन्होंने उसे सुनकर ग्रन्थ को उपयोगी बनाने के लिए कृपापूर्वक कहीं नूतन प्रमाण का संयोजन, कहीं विषय का परिष्कार और कहीं सुबोध भाषामें प्रस्तुतीकरण करवाया। इस प्रकार ये महात्मा वि.सं.२०६४ से लेकर २०६८ तक इस कार्य के लिए प्रतिवर्ष चैत्रमास में प्रसन्नता से उदारतापूर्वक समय प्रदान करते रहे। इन महापुरुषों के श्रीचरणों में कोटिशः प्रणति समर्पित हैं। बाद में अन्य विद्वानों के निर्देशानुसार पूर्वाचार्यों के वेदान्तग्रन्थों के कुछ वचनों का समावेश किया गया।

हमारे लेखों को सुन्दर अक्षरों में लिखकर पाण्डुलिपि बनाने का कार्य श्रीहेमन्त(नासिक) आदि छात्रों ने किया। श्रीमहेशचन्द्र मासीवाल(साहित्याचार्य,एम.एड.) शिक्षक देहरादून ने तत्परता से लिपिविन्यास किया है। डा. प्रेमसुख मंगला(दिल्ली) एवं उनकी मण्डलीके सदस्य प्रोफेसर अचिन्ता याज्ञिक(मनोविज्ञानविभागाध्यक्ष, बी.डी.आर्टस कालेज, अहमदाबाद), डा.द्युति याज्ञिक(दर्शनविभाग अध्यक्ष, गुजरात आर्टस एण्ड साइंस कालेज, अहमदाबाद), साध्वी मधु बहिन(फिरोजपुर) और सुश्री उर्मिला अजाबिया(गणित शिक्षक, जामनगर) ने अक्षरशुद्धिनिरीक्षण तथा ज्योतिर्विद और वेदान्त विद्वान् स्वामी महेशानन्द(स्वर्गाश्रम)ने सम्पादन कार्य करके अत्यन्त उपकार किया है। इन सभी के परिश्रम के फलस्वरूप प्रस्तुत ग्रन्थ आपके समक्ष प्रस्तुत है। भगवान् हम सब पर अनुग्रह करते रहें।

विजया दशमी
वि.सं.२०६९

स्वामी त्रिभुवनदास
मंगलम् कुटीरम्, गंगा लाइन
स्वर्गाश्रम, ऋषिकेश, उत्तराखण्ड

शुभ-आशीर्वाद

अद्वैतसिद्धान्त सभी वैदिकसिद्धान्तोंका मूल है। निर्विशेषाद्वैत, शुद्धाद्वैत आदि सिद्धान्त इसकी सुरम्य, आकर्षक शाखाएं हैं। ऐसे सुदृढ़ मूल एवं कमनीय विविध शाखाओं वाले वेदान्तवृक्षका खिला हुआ सुगन्धित,सुरम्य,तापत्रयमोचक एवं आह्लादक पुष्प और फल विशिष्टाद्वैतसिद्धान्त है। जिसकी समन्वयरूपा, दिव्य, मनोहर सुगन्ध सम्पूर्ण उपनिषद्-वाक्यों में ओतप्रोत हो रही है। अधिकारी मुमुक्षु पुरुष की रुचि,योग्यता एवं सामर्थ्य के अनुसार प्रत्येक सिद्धान्त ग्राह्य है किन्तु निखिल श्रुतियों का अशेषतः समन्वय विशिष्टाद्वैतवेदान्तसिद्धान्तमें ही निहित है। अपौरुषेय वेदों के द्वारा प्रतिपाद्य इस सिद्धान्त का मुमुक्षुओं को सुगमता से बोध कराने के लिए महर्षि वेदव्यासने ब्रह्मसूत्र का प्रणयन किया। श्रीमद्भगवद्गीता उपनिषत्-प्रोक्त विषयों का ही प्रतिपादन करती है। सांख्यशास्त्र जीवों का नानात्व और सत्य प्रकृति को स्वीकार करने के कारण वेदान्त शास्त्र के निकट है, फिर भी स्वतन्त्र जड़-प्रकृति को जगत्-कारण स्वीकार करने से सांख्यशास्त्र का महर्षि वेदव्यास ने ब्रह्मसूत्र में खण्डन किया है। इसी प्रकार योगशास्त्र सत्य प्रकृति, जीव तथा उससे भिन्न ईश्वर स्वीकार करने के कारण हमारे निकट है, फिर भी ईश्वर को केवल निमित्तकारण स्वीकार करने से तथा जगत् को ब्रह्मात्मक स्वीकार न करने से इसका भी ब्रह्मसूत्र में खण्डन किया जाता है। इसी प्रकार न्यायवैशैषिकशास्त्रसम्मत परमाणु का जगतकारणत्व श्रुतिविरुद्ध होने से ब्रह्मसूत्र में निराकृत होता है। **वैधर्म्याच्च न स्वप्नादिवत्**(ब्र.सू.२.२.२८) इस प्रकार ब्रह्मसूत्रकार ने बौद्धसिद्धान्तसम्मत जगत्-मिथ्यात्व का खण्डन किया है। मुमुक्षु की सकल जिज्ञसाओं का समाधान वेदान्त शास्त्र में ही निहित है,

इसलिए वेदान्त दर्शन को सकल दशनों में श्रेष्ठ कहा जाता है। अनेकशास्त्रनिष्णात श्रीत्रिभुवनदासजी ने जहाँ विभिन्न ग्रन्थों की टीका एवं व्याख्या की है, वहीं विशिष्टाद्वैत वेदान्त का विस्तृत विवेचन लिख कर बड़े अभाव की पूर्ति की है, एतदर्थ धन्यवादार्ह हैं।

महान्त नृत्यगोपालदास
श्रीमणिरामदास
छावनी,अयोध्या,उ.प्र.

श्रीमते रामानन्दाचार्याय नमः

शुभ-सम्मति

भगवान के श्वासप्रश्वासभूत अपौरुषेय वेद, ब्रह्मसूत्र तथा इतिहास-पुराणादि का श्रवण,मनन और अनुशीलन करने पर तत्त्व-जिज्ञासु को निश्चय हो जाता है कि अनुभव में आने वाले ब्रह्म,जीव और प्रकृति ये तीन सनातन तत्त्व हैं। भगवान् रामानन्दाचार्य ने कबीर दास को कहा है- तामें जीव ब्रह्म अरु माया। समरथ ऐसा खेल बनाया।। (ज्ञानगुदरी) अर्थात इस शरीररूपी गुदरी से साधना करने पर जीवात्मा, ब्रह्म और प्रकृति इन तीनों का अनुभव होता है। वेदवेद्य परतत्त्व परात्पर ब्रह्म श्रीराम हैं। वे चेतन जीव तथा अचेतन प्रकृति से विशिष्ट अद्वैत तत्त्व हैं। ब्रह्म विशेष्य है, जीव और प्रकृति विशेषण हैं। वे कभी भी ब्रह्म से पृथक् न रहने के कारण अपृथक्सिद्ध विशेषण कहलाते है। दोनों विशेषणों से विशिष्ट ब्रह्म एक ही है। अतः एक तत्त्व है अथवा तीन तत्त्व हैं, इन दोनों कथनों में कोई विरोध नहीं है। प्रकृति नित्य है-गौरनाद्यन्तवती(मं.उ.), प्रकृति और पुरुष दोनों नित्य हैं- प्रकृतिं पुरुषं चैव विद्ध्यनादी उभावपि(गीता), जीव और ईश्वर दोनों नित्य हैं- नित्यो नित्यानाम्(क.उ.), प्रकृति का स्वरूपतः महत्तत्त्व आदि रूपों में परिणाम होता है, इसलिए प्रकृति की परिणामी नित्यता कही जाती है। जीवात्मा के धर्मभूतज्ञान का बद्धावस्था में परिणाम होता है किन्तु उसका स्वरूपतः परिणाम कभी भी नहीं होता है। ईश्वर तो सर्वथा अपरिणामी है, इसलिए जीव और ईश्वर की कूटस्थ नित्यता कही जाती है। सामान्य साधकों को भी विशिष्टाद्वैतवेदान्त का सरलतापूर्वक बोध के लिए परमाराध्य भगवान् श्रीसीतारामजी के अनुग्रह से हमारे परम सुहृद् विद्वद्वरेण्य श्रीत्रिभुवनदासजी ने परिश्रमपूर्वक अत्यन्त सहज प्राञ्जल शैली में

भावगाम्भीर्ययुक्त 'विशिष्टाद्वैत वेदान्त का विस्तृत विवेचन' प्रस्तुत करके व्यक्तिगतरुपसे हमारी हार्दिक-अभिलाषा को पूर्ण किया है। श्रीप्रभुचरणों में प्रार्थना है कि इस ग्रन्थ के माध्यम से जिज्ञासुजन ब्रह्म तत्त्व का बोध प्राप्त करके कृतार्थ हों और विशिष्टाद्वैत वेदान्त सिद्धान्त का विश्वव्यापी प्रचार हो।

राजेन्द्र दास(व्याकरणसाहित्यवेदान्ताचार्य)
श्री मलूक पीठ,वंशीवट,वृन्दावन

प्रस्तावना

दर्शनं साक्षात्करणम् इस प्रकार तत्त्वका साक्षात्कार दर्शन कहलाता है। **दृश्यते ज्ञायते अनेन** इस व्युत्पत्तिके अनुसार अतीन्द्रिय अर्थ को विषय करने वाले ज्ञान(परोक्ष और अपरोक्षज्ञान) को दर्शन कहा जाता है। अतीन्द्रिय ज्ञेयतत्त्व के ज्ञान का साधन शास्त्र भी दर्शन शब्द से कहा जाता है। वह ज्ञेय वस्तु क्या है? हम कौन हैं? कैसे हैं? कहाँ से आये हैं? कहाँ जायेंगे? इस दृश्यमान जगत् का वास्तविक स्वरूप क्या है? इसका क्या कारण है? वह कारण चेतन है? या अचेतन? हमारा क्या लक्ष्य है? उसकी प्राप्ति के लिए क्या कर्त्तव्य है? इत्यादि प्रश्नों का उत्तर देना दर्शनशास्त्र का उद्देश्य है। मनुष्य इस संसार में आकर जीवन संग्राम में अपने को सुखी बनाना ही अनिवार्य कर्तव्य समझता है। अन्य जीवित प्राणियों के समान वह भी अपने को सुखी बनाने के लिए निरन्तर संघर्षशील रहता है। कभी वह विरोधी परिस्थितियों का प्रतिकार करता है और कभी दु:ख के साधनों से संघर्ष करता है। भेद केवल इतना है कि अन्य जीव विना विचार किए स्वाभाविक प्रवृत्ति के वशीभूत होकर जीवनसंग्राम में लगा रहता है किन्तु मानव विवेकप्रधान प्राणी होने से समुपस्थित प्रत्येक कार्यके अवसर पर अपनी विचार(दर्शन) शक्ति का उपयोग करता है। इसलिए आहार, निद्रा, भय और मैथुन के विषय में मानवकी पशुओंके साथ समता होनेपर भी उसकी सबसे बड़ी विशेषता है- उसका विचारात्मक दर्शन। वैदिकयुगमें भारतभूमि मनुष्य जीवन के समस्त अनिवार्य संसाधनों से परिपूर्ण थी, जिससे इस देश के निवासी ऐहिक चिन्ता से विनिर्मुक्त होकरके पारलौकिक चिन्तन की ओर स्वतः प्रेरित होते थे और इस राष्ट्र में निःसर्गतः विचार को महत्त्व दिया जाता था किन्तु

उस समय भी अन्य देशों में जीवनरण इतना भीषण था कि वे दिन-प्रतिदिन व्यावहारिक जीवन की अनेक उलझी हुई समस्याओं को सुलझाने में अपना अमूल्य समय व्यर्थ कर देते थे। आत्यन्तिकी दुःखनिवृत्ति एवं परमसुख की प्राप्ति के साधन महत्त्वपूर्ण तत्त्वों का अन्वेषण करना और उसे व्यवहार में लाना उनके जीवन की आकस्मिक घटनाएं थीं किन्तु भारत में ऐसी स्थिति नहीं थी। विचारशील मनुष्य प्रत्येक वस्तु, परिदृश्य और परिस्थिति के सन्दर्भ में क्यों शब्द से अभिव्यक्त होने वाली अपनी जिज्ञासा को व्यक्त करता है। यह जिज्ञासा मानव की एक पहचान है जो उसे अन्य प्राणियों से पृथक् सिद्ध करती है। इस जिज्ञासा में ही दार्शनिक बीज निहित हैं। भारतीय मनीषियों ने इसे पहचानकर वैदिकसाहित्य का अवलम्बन लेते हुए इस जिज्ञासा और इससे संभावित समाधानों का इतनी प्रकर्षता के साथ उन्नयन किया। जिससे भारतीय दर्शन की रूपरेखा तैयार हुई। इस आधार पर निर्मित भारतीयदर्शन विश्वमानव के लिए आध्यात्मिक उच्चतमशिखर पर आरोहरण करने की प्रेरणा प्रदान करता है। इसी कारण भारत को जगद्गुरु माना गया है।

सम्पूर्ण संसार में अध्यात्मज्ञान को प्रसारित करने का श्रेय इसी देश को प्राप्त है। इसी देश के अग्रजन्मा ब्राह्मणों से विश्व के सभी मनुष्यों ने अपने अपने चरित्र को सीखा था- **एतद्देशप्रसूतस्य सकाशादग्रजन्मनः। स्वं स्वं चरित्रं शिक्षेरन् पृथिव्यां सर्व मानवाः।।** (म.स्मृ.२.२०)। हिन्दू दर्शनकारों ने आस्तिक और नास्तिक भेद से भारतीय दर्शनों को दो भागों में विभाजित किया है। लोक में ईश्वर की सत्ता स्वीकार करने वाले को आस्तिक और उसकी सत्ता का निषेध करने वाले को नास्तिक कहा जाता है किन्तु इन प्रचलित अर्थों में आस्तिक और नास्तिक शब्दों का प्रयोग दर्शनों के साथ

नहीं किया जाता है। **अस्ति नास्ति दिष्टं मतिः**(अ.सू.४.४.६०) इस पाणिनीयसूत्र के अनुसार **अस्ति परलोक इति मतिर्यस्य सः आस्तिकः, नास्ति परलोक इति मतिर्यस्य सः नास्तिकः**। इस प्रकार परलोक की सत्ता में विश्वास करने वाले को आस्तिक तथा विश्वास न करने वाले को नास्तिक कहा जाता है। इस व्युत्पत्तिलभ्य अर्थ के अनुसार जैन तथा बौद्ध दर्शनों की गणना आस्तिक दर्शन में करनी होगी और तब केवल चार्वाक दर्शन ही नास्तिक दर्शन सिद्ध होगा। अतः इन अर्थों में भी उक्त शब्दों का प्रयोग नहीं किया जाता है। **नास्तिको वेदनिन्दकः**(म.स्मृ.२.११) इस मनुवचन के अनुसार वेद की निन्दा करने वाले को नास्तिक कहा जाता है। यही अर्थ दर्शन के विभाजन में मान्य है। वेद का प्रामाण्य न मानने से चार्वाक, जैन तथा बौद्ध दर्शन को नास्तिक दर्शन और वेद प्रामाण्य मानने से न्याय, वैशेषिक, सांख्य, योग, पूर्वमीमांसा तथा वेदान्त को आस्तिक दर्शन कहा जाता है।

भारतीय मनीषियों ने जड़ जगत्, जीव और उससे परतत्त्व का अपनी ऋतम्भरा प्रज्ञा द्वारा साक्षात्कार किया। इसी आधार पर भारतीय वैदिकदर्शनों का सूत्रपात हुआ। आधुनिक मतानुसार भी ऋग्वेद विश्व का पुरातन ग्रन्थ है। वेद तत्त्व, हित और पुरुषार्थ का निरूपण करते हैं। परब्रह्म परमात्मा ही तत्त्व हैं। उनकी प्राप्ति के साधन को हित कहा जाता है। धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष इनमें मोक्ष ही परम पुरुषार्थ है। **वेदानामन्तः सारभागः वेदान्तः**– वेदों का सार भाग वेदान्त कहलाता है। वेदों की सार भाग उपनिषद् है, इसलिए उपनिषद् को वेदान्त कहा जाता है। उपनिषदों का प्रतिपाद्य विषय संहिताभागमें भी विद्यमान है। उपनिषदें संहिताभागके प्रतिपाद्य अध्यात्मतत्त्व का प्रकर्षता से प्रतिपादन करती हैं। **वेदानाम् वेदप्रतिपाद्यार्थानामन्तः निर्णयः यत्र सः वेदान्तः**। वेदों के प्रतिपाद्य

अर्थ का निर्णय जिसमें उपलब्ध होता है, उसे वेदान्त कहा जाता है। इस व्युत्पत्ति के अनुसार ब्रह्मसूत्र को वेदान्त कहा जाता है। श्रीमद्भगवद्गीता भी उपनिषत्प्रोक्त विषय का प्रतिपादन करती है। भगवान् श्रीकृष्ण ने **अध्यात्मविद्या विद्यानाम्**(गी.१०.३२) इस प्रकार गीता में अपनी व्यापक विभूतियों के निरूपण के प्रसङ्ग में सभी विद्याओं में अध्यात्मविद्या(वेदान्तशास्त्र) को अपना ही स्वरूप निरूपित कर उसकी सर्वोपरि श्रेष्ठता प्रदर्शित की है। **स ब्रह्मविद्यां सर्वविद्याप्रतिष्ठामथर्वाय ज्येष्ठाय पुत्राय प्राह**(मु.उ.१.१.१) इस प्रकार मुण्डकोपनिषद् ब्रह्मविद्या को सर्वविद्याप्रतिष्ठा बतलाती है। मुगल राजकुमार दाराशिकोह ने उपनिषदों का फारसी भाषा में अनुवाद कर उनके सिद्धान्तों का स्वधर्मावलम्बियों में प्रसारित करने का प्रशंसनीय कार्य किया। फारसी भाषा में अनूदित इन्हीं उपनिषदों का लैटिन भाषा में अनुवाद किया गया। जिससे भारतीय विचार की गम्भीरता, सुन्दरता तथा श्रेष्ठता का परिचय यूरोप के दार्शनिकों को हुआ। **अहं मनुरभवं सूर्यश्चाऽहं कक्षीवाँ ऋषिरस्मि विप्रः**(ऋ.सं.३. ६.१५) ऋग्वेदका यह मन्त्र ब्रह्मदर्शी के द्वारा अनुभूयमान अद्वैत ब्रह्म की सर्वात्मरूपता का प्रतिपादन करता है। श्रुतियों का प्रतिपाद्य अद्वैत सविशेषाद्वैत ही है, निर्विशेषाद्वैत नहीं है। श्रुतियों के सारभूत अर्थका बोध कराने के लिए रचित ब्रह्मसूत्र में **अथातो ब्रह्मजिज्ञासा**(ब्र.सू.१.१.१) सूत्र से जिज्ञास्य ब्रह्म को कहकर **जन्माद्यस्य यतः**(ब्र.सू.१.१.२) सूत्र से उसका लक्षण जगज्जन्मादिकारणत्व किया गया है। इस प्रकार उपक्रम से और उपसंहार से भी सविशेष ब्रह्म सिद्ध होने पर इसका तात्पर्य निर्विशेष में है, ऐसा कहने वाले आचार्य शंकर का मत स्वमत ही है, श्रुतिसूत्र मत नहीं है। ब्रह्मसूत्रकार ही नहीं किन्तु उनसे पूर्ववर्ती वेदान्ताचार्यों ने भी सविशेष ब्रह्मका प्रतिपादन किया है।

ब्रह्मसूत्रकार से पूर्ववर्ती वेदान्ताचार्य

महर्षि बाल्मीकि ने **जगत्सर्वं शरीरं ते स्थैर्यं ते वसुधातलम्** (वा.रा.यु.११७.२५) इत्यादि प्रकार से जगत् और ब्रह्म के आत्मशरीरभाव आदि का प्रतिपादन किया। श्रुतिप्रतिपाद्य आत्मशरीरभाव विशिष्टाद्वैत सिद्धान्त का आधार है। पराशरमुनि ने इस सिद्धान्त का विष्णुपुराण में प्रतिपादन किया और महर्षि पाराशर्य वेदव्यास ने अपने ब्रह्मसूत्र आदि ग्रन्थों के द्वारा विशिष्टाद्वैत सिद्धान्त का प्रतिपादन किया। बोधायन ने वृत्तिग्रन्थ में इसी का विस्तार किया । धर्मशास्त्रकार के रूप में प्रसिद्ध मनु महाराज भी **'प्रशासितारं सर्वेषाम्'**(मनु.स्मृ.१२.१२२) इत्यादि प्रकार से विशिष्टाद्वैतसम्मत चेतनाचेतन जगत् के नियन्ता परब्रह्म का निरूपण करते हैं। महर्षि याज्ञवल्क्य भी **क्षेत्रज्ञस्येश्वरज्ञानाद् विशुद्धिः परमा मता**(या.स्मृ.३.३४)। इस प्रकार शरीर के अधिष्ठाता जीव की आत्यन्तिकी अविद्यानिवृत्ति सर्वनियन्ता परमात्मा के साक्षात्कारात्मक ज्ञान से मानते हैं। यही वेदान्तसिद्धान्तसम्मत मोक्ष का साधन है। ब्रह्मसूत्रकार से पूर्ववर्त्ती आचार्यों का उल्लेख करके अब प्रसंगानुसार ब्रह्मसूत्रमें उल्लिखित आचार्यों का वर्णन किया जाता है।

ब्रह्मसूत्र में उल्लिखित वेदान्ताचार्य

१. आश्मरथ्य– इनका ब्रह्मसूत्र में दो बार(ब्र.सू.१.२.३० तथा १.४.२०) उल्लेख मिलता है। ये परमात्माको सविशेष तथा जीव और परमात्मा में भेदाभेद सम्बन्ध को मानते हैं। आचार्य आश्मरथ्य का अनुसरण करके यादवप्रकाश ने ब्रह्मसूत्रभाष्य की रचना करके भेदाभेद का पोषण किया।

२. बादरि– ये ब्रह्मसूत्रकार बादरायण से भिन्न हैं। इनका १.२.३१, ३.१.११, ४.३.६ तथा ४.४.१० इन स्थानों में उल्लेख प्राप्त

होता है। इनका मत पूर्वपक्ष तथा सिद्धान्तपक्ष दोनों रूपों में प्राप्त होता है।

३. औडुलौमि- ये भी भेदाभेदवादी तथा सविशेषब्रह्मको मानने वाले आचार्य हैं। इनका निर्देश ब्रह्मसूत्र १.४.२१, ३.४.४५ तथा ४.४.६ में प्राप्त होता है। ये संसार दशा में जीव-ब्रह्म का भेद और मुक्तावस्था में अभेद मानते हैं।

४. कार्ष्णाजिनि- ब्र.सू.३.१.६ में रमणीयचरणाः(छां.उ.५.१०.७) के विषय में इनका उल्लेख प्राप्त होता है।

५. आत्रेय- ब्र.सू.३.४.४४ में कर्माङ्ग उपासनाके विषयमें इनका विचार उपलब्ध होता है।

६. जैमिनि- पूर्वमीमांसा सूत्रों के निर्माता महर्षि जैमिनि ब्रह्मसूत्रकार के साक्षात् शिष्य हैं। ब्रह्मसूत्र में इनका अधिक उल्लेख प्राप्त होता है। कर्म और देवताके विषयमें इनका मत सूत्रकारसे भिन्न प्रतीत होता है किन्तु यह स्थिति सर्वत्र नहीं है। ये ब्रह्मसूत्रकारके विचारोंके निकट हैं।

७. काशकृत्स्न- ब्र.सू.१.४.२२ में इनका निर्देश प्राप्त होता है। अन्तर्यामी ब्राह्मण की श्रुतियों के अनुसार परब्रह्म जीवात्मा के अन्तर्यामी रूप में स्थित हैं, जीवात्मा उनका शरीर है। इसलिए जीवात्मा का वाचक शब्द परमात्मा का भी बोधक होता है। इस प्रकार महर्षि काशकृत्स्न ने प्राचीनमत की ही स्थापना की है। यही मत बह्मसूत्रकार-सम्मत है।

८. बादरायण- ये स्वयं ब्रह्मसूत्रकार हैं। इन्होनें अपने नाम का भी ग्रन्थ में उल्लेख किया है।

ब्रह्मसूत्रमें उल्लिखित आचार्योंमें एक भी आचार्य निर्विशेषब्रह्मका प्रतिपादन नहीं करता है, सभी आचार्य सविशेषब्रह्मवादी हैं।

ब्रह्मसूत्रकारसे परवर्ती वेदान्ताचार्य

१. बोधायन(उपवर्ष) - महर्षि बोधायनका जन्म सीतामढ़ी(बिहार) में हुआ था। जगज्जननी पराम्बा भगवती सीता की अवतारभूमि होनेका गौरव भी इसी स्थान को प्राप्त है। भारतीय इतिहास में महावैयाकरण पाणिनि के गुरु का नाम वर्ष प्रसिद्ध है। वर्ष के अनुज होने से बोधायन उपवर्ष नामसे भी विख्यात हुए। पाणिनि, व्याडि, इन्द्रदत्त तथा वररुचि आदि विद्वानों ने आचार्य वर्ष से व्याकरण शास्त्र का अध्ययन करके श्रीबोधायन से वेदान्तादि शास्त्रों का अध्ययन किया था। महाराज जनक के यज्ञ से पवित्र जिस स्थलीमें हल के अग्रभाग से माता श्रीजानकी जी का आविर्भाव हुआ। उस हलस्थलीके समीप बोधायन का जन्म होने से उनका नाम हलभूति भी हुआ। वैजयन्तीकोशकार **'हलभूतिस्तूपवर्षः कृतकोटिः कविश्च सः'** ऐसा लिखते हैं। **'उपवर्षो हलभूतिः कृतकोटिः अयाचितः'** यह त्रिकाण्डशेष तथा केशवकोश का वचन है। सम्प्रदायपरम्परा में ये श्री शुकदेव मुनि के शिष्य रूप में और श्री पुरुषोत्तमाचार्य नाम से भी प्रसिद्ध हैं। सीतामढ़ी में परम्परा से प्रसिद्ध प्राचीन बोधायन सर और बोधायन बट इनकी कीर्ति के समुज्ज्वल स्मारक हैं। इन्हें वेदव्यास और शुकदेव दोनों से शास्त्राध्ययन का सौभाग्य प्राप्त हुआ। **'व्यासस्य एकान्तरित प्रशिष्यो बोधायनः'** यह पाराशर्य विजय में श्रीमहाचार्य का कथन है। भगवान् बोधायनने ब्रह्मसूत्र में उल्लिखित बादरि, जैमिनि, आश्मरथ्य, औडुलौमी और काशकृत्स्न आदि विविध महर्षियों के अभिप्रायज्ञानपूर्वक उनमें बादरायण की सम्मति और विमतिका

विशद विचार करके महर्षि बादरायण के निष्कर्ष का बोध कराने के लिए विस्तृत वृत्ति लिखी। उनकी यह ब्रह्मसूत्रवृत्ति बोधायनवृत्ति नाम से विख्यात हुई। आठवीं शताब्दी में लिखित प्रपञ्चहृदय ग्रन्थ में इसका कृतकोटि नाम कहा है।

भगवान् बोधायन कृत विस्तृत ब्रह्मसूत्रवृत्ति को पूर्वाचार्यों ने संक्षिप्त कर दिया था। अब परमाचार्य(बोधायन) के ही मतानुसार सूत्रके प्रत्येक अक्षर को ध्यान में रखकर अतिविस्तार और अतिसंक्षेप से रहित व्याख्या की जायेगी- **भगवद्बोधायनकृतां विस्तीर्णां ब्रह्मसूत्रवृत्तिं पूर्वाचार्याः संचिक्षिपुः, तन्मतानुसारेण सूत्राक्षराणि व्याख्यास्यन्ते।** यह ब्रह्मसूत्रभाष्य के आरम्भ में श्रीरामानुज स्वामी ने प्रतिज्ञा की है। श्रुतप्रकाशिकाकार के अनुसार यहाँ उल्लिखित आचार्य द्रमिडभाष्यकारादि हैं। विस्तारयुक्त वृत्तिग्रन्थ के अध्ययन के लिए अत्यधिक समय अपेक्षित होता है और संक्षिप्तग्रन्थ के अध्ययनार्थ तीव्रतम मेधा अपेक्षित होती है। जो कि आज के मानव को सुलभ नहीं है, इसलिए मध्यम आकार की सुबोध एवं गम्भीर श्रीभाष्य की रचना की गई। बोधायन पूर्वोत्तर मीमांसाओंके वृत्तिकार हैं। **अथ गौरित्यत्र कः शब्दः? गकारौकारविसर्जनीयाः इति भगवान् उपवर्षः**(शाबरभाष्य १.१.५) इत्यादि प्रकार से पूर्वमीमांसा शास्त्र के भाष्यकार शबरस्वामी ने अनेक स्थानों में उपवर्ष का भगवान् ,आचार्य और वृत्तिकार शब्दों से उल्लेख किया है। 'भगवान् उपवर्ष ने पूर्वमीमांसा में आत्मा के अस्तित्व का प्रसंग आने पर शारीरक में कहेंगे', यह कहकर प्रकरण समाप्त किया है- **'भगवता उपवर्षेण प्रथमे तन्त्रे आत्मत्वाभिधानप्रसक्तौ शारीरके वक्ष्यामः' इत्युद्धारः कृतः**(ब्र.सू.शां. भा.३.३.५३)। इस प्रकार श्रीशंकराचार्य भी पूर्वोत्तर मीमांसाओं की व्याख्या करने वाले आचार्य उपवर्ष का स्मरण करते हैं।

श्रीभास्कराचार्य भी **अत एव उपवर्षाचार्येण उक्तं प्रथमे पादे आत्मवादन्तु शारीरके वक्ष्यामः** इस प्रकार उपवर्ष का उल्लेख करते हैं। प्रपञ्चहृदयकार ने बीस अध्याय वाले मीमांसा शास्त्र का कृतकोटि नामक भाष्य लिखने वाले बोधायन हैं, ऐसा कहकर उनसे भिन्न उपवर्ष को प्रस्तुत करके द्वादशलक्षणी पूर्वमीमांसा से पर चार अध्यायों का नाम संकर्षकाण्ड कहा है- **तस्य विशंत्यध्यायनिबद्धस्य मीमांसाशास्त्रस्य कृतकोटिनामधेयं भाष्यं बोधायनेन कृतम्। तद् ग्रन्थबाहुल्यादुपेक्ष्य किञ्चत् संक्षिप्तम् उपवर्षेण कृतम्।..... आचार्यशबरस्वामिना अतिसंक्षेपेण संकर्षकाण्डं द्वितीयमुपेक्ष्य कृतं भाष्यम्।** २०० ई.सन् में लिखे गये मणिमेखला आदि तमिल ग्रन्थों में भी बोधायन कृत विंशति-अध्यायात्मक मीमांसाशास्त्र के कृतकोटिभाष्यका उल्लेख है।

भगवान् बोधायन सेश्वर मीमांसक हैं। इस विषयमें **'संहितमेतच्छारीरकं जैमिनीयेन षोडशलक्षणेनेति शास्त्रैकत्वसिद्धिः'**(बो.वृ.) यह ब्रह्मसूत्रभाष्य में उद्धृत बोधायनवृत्ति का वचन ही प्रमाण है। श्रीवेंकटनाथ वेदान्तदेशिकस्वामी **'अथातो धर्मजिज्ञासा'**(पू.मी.१.१.१) इत्यारभ्य **'अनावृत्तिःशब्दाद् अनावृत्तिःशब्दात्'**(उ.मी.४.४.२२) **'इत्येवमन्तं विंशतिलक्षणमेकं शास्त्रम्'** इस प्रकार सेश्वरमीमांसा ग्रन्थ में बीस अध्याय वाले मीमांसा शास्त्र का उल्लेख करते हैं। आनन्दगिरि ब्र.सू.शांकरभाष्यकी टीकामें **संकृष्यते कर्मकाण्डस्थमेवा-वशिष्टं कर्म संक्षिप्योच्यते इति संकर्षो देवताकाण्डम्**(ब्र.सू.शां.भा.३.३.४३)। इस प्रकार मीमांसा शास्त्रके १३ से १६ अध्यायका संकर्षकाण्ड और देवता काण्ड नाम से उल्लेख करते हैं। कल्पतरुपरिमलकार भी संकर्षकाण्डका उल्लेख करते हैं। उक्त १६ अध्याय की पूर्वमीमांसा तथा ४ अध्याय की उत्तरमीमांसा मिलाकर मीमांसा शास्त्र के २० अध्याय होते हैं। श्रीमधुसूदनसरस्वतीप्रणीत

प्रस्थानभेद में पूर्व मीमांसा के १६ अध्यायों का वर्णन है तथा मीमांसकमूर्धन्य खण्डदेव के शिष्य शम्भुभट्ट ने भाट्टदीपिका की प्रभावली व्याख्या में मीमांसा शास्त्र के २० अध्यायों का वर्णन किया है। 'बोधायनके शिष्य उपवर्ष ने वृत्ति को संक्षिप्त किया।' इस प्रकार बोधायन और उपवर्ष का भेद प्रपञ्चहृदय में कहा गया है। इन दोनों का भेद पाराशर्यविजय में भी निरूपित है। बोधायन और उपवर्ष का भेद मानने वाले विद्वान् **पूर्वाचार्याः संचिक्षिपुः** इस प्रकार श्रीभाष्य में प्रस्तुत पूर्वाचार्य पद से उपवर्ष को ग्रहण करते हैं। वेदान्तदेशिकस्वामी तो श्रीभाष्य की तत्त्वटीका के जिज्ञासा अधिकरण में दोनों के अभेद का प्रतिपादन करते हैं- **अत्र शाबरं गौः इत्यत्र गकारौकारविसर्जनीयाः इति भगवान् उपवर्षः, वृत्तिकारस्य बोधायनस्यैव स्यान्नामिति वाक्यं मानम्।**

२. टंक(ब्रह्मनन्दि)- छान्दोग्योपनिषद् पर वाक्य नामक व्याख्या लिखने वाले टंकाचार्य हैं। इन्हें ही ब्रह्मनन्दि कहा जाता है। श्रीभाष्य और वेदार्थसंग्रह में वाक्यग्रन्थ को उद्धृत किया गया है। ये सविशेषाद्वैती आचार्य हैं।

३. द्रमिडाचार्य- श्रीयामुनाचार्यकृत सिद्धित्रय में संक्षिप्त किन्तु गम्भीर अर्थ से युक्त ब्रह्मसूत्रभाष्य लिखनेवाले द्रमिडाचार्य का उल्लेख है। इन्होंने आचार्य टंककृत वाक्य ग्रन्थ का भी विस्तृत भाष्य लिखा था। आनन्दगिरि स्वामी ने छां.उ.शां.भा. के उपोद्धात प्रकरण में **अथ पाठक्रममाश्रित्यापि द्राविडं भाष्यं प्रणीतम्** इस प्रकार द्रमिडाचार्य के भाष्य का उल्लेख किया है। इसके अंश श्रीभाष्य और वेदार्थसंग्रह में उद्धृत हैं।

४. श्रीवत्सांकमिश्र- सिद्धित्रयमें ही ब्रह्मसूत्रका विस्तृतभाष्य लिखने वाले श्रीवत्सांकमिश्र का उल्लेख है। ये प्रसिद्ध कूरेशस्वामी से

अत्यन्त प्राचीन हैं। महर्षि आपस्तम्ब भी **पूः प्राणिनः सर्व एव गुहाशयस्य**(आ.ध.सू.२२.४) इस प्रकार सभी प्राणियों को परमात्मा का शरीर कहते हैं। आपस्तम्ब धर्मसूत्र में आत्मशरीरभाव के साथ ही भक्तिरूपापन्न उपासनात्मक ज्ञानसे मुक्ति और अर्चिरादिगति आदि का प्रतिपादन किया गया है। इस प्रकार विशिष्टाद्वैतसिद्धान्तसम्मत प्रमेयों की प्राचीनता सिद्ध होती है। बोधायनकल्पसूत्र के व्याख्याकार यज्ञेश्वर आपस्तम्ब को बोधायन का शिष्य लिखते हैं।

वेदार्थसंग्रहमें गुहदेव, कपर्दी और भारुचि आचार्यका भी उल्लेख प्राप्त होता है। देवराज यज्वाने निघण्टु की व्याख्या(४.६) में गुहदेव को वेदभाष्यका कर्त्ता कहा है। ये आपस्तम्बश्रौतसूत्र के भी व्याख्याता हैं। आपस्तम्ब श्रौतसूत्र पर कपर्दी स्वामीकी व्याख्या प्रसिद्ध है। श्रौतसूत्रों का भाष्य वेदके अनेक वाक्यों का विवरणरूप होता है। वेद के सभी प्राचीन व्याख्याकार वेदान्तवेत्ता ही थे। वेद के कई भाग वेदान्तार्थ के प्रतिपादक होते हैं, अतः व्याख्याताओं के द्वारा उनमें वेदान्तवेद्य अर्थ का प्रतिपादन किया जाता है। इसलिए वेद की व्याख्यासे व्याख्याकारों के वेदान्तसिद्धान्त का निर्णय हो जाता है। पूर्वाचार्यों के उक्त वचन निर्विशेषाद्वैतियों के प्रतिकूल तथा सविशेषाद्वैतियों के अनुकूल हैं। इसी कारण निर्विशेषाद्वैतियों ने श्रीगौड़पादाचार्य को छोड़कर किसी पूर्वाचार्य को उद्धृत नहीं किया है।

विशिष्टाद्वैतसिद्धान्त श्रुतिमूलक है। इस सिद्धान्तमें श्रुतिसे अविरुद्ध स्मृति, इतिहास, पुराण और आगमवचन प्रमाण माने जाते हैं। आगमशास्त्र में प्रोक्त वास्तु और पूजापद्धति आदि का सभी वैदिकधर्मावलम्बी आदर करते हैं, विशिष्टाद्वैती भी आदर करते हैं। ऐसा होने पर भी 'विशिष्टाद्वैतसिद्धान्त आगममूलक है, श्रुतिमूलक

नहीं है।' यह कहना अपनी अज्ञानता का परिचय देना है। विशिष्टाद्वैती भाष्यकारों ने ब्रह्मसूत्रके पाञ्चरात्राधिकरण को छोड़कर कहीं भी आगम वचन को उद्धृत नहीं किया है। शांकरभाष्य में अति स्वल्पांश में स्वीकृत पाञ्चरात्र के अप्रामाण्यको भी भाष्यकी भामतीटीका के कल्पतरुव्याख्याकार सहन नहीं करते हैं।

श्रीभाष्यमें उद्धृत **'यथार्थं सर्वविज्ञानं इति वेदविदां मतम्'** इस वचनकी व्याख्यामें श्रीसुदर्शनसूरि 'वेदविदाम्' पदका अर्थ 'भगवद्बोधायननाथमुनिमिश्रादीनाम्' लिखते हैं। इस पर विषयाऽनभिज्ञ आधुनिक अद्वैती विद्वान् कुरगण्टिशास्त्री कहते हैं कि बोधायन और नाथ मुनिके मध्यमें ब्रह्मनन्दि और द्रमिडाचार्यका उल्लेख न होने से ये विशिष्टाद्वैतसम्प्रदायके पूर्वाचार्य नहीं हो सकते हैं। इस कथन का यह समाधान है कि विशिष्टाद्वैतसम्प्रदायप्रवर्तक आचार्यों की दो परम्पराएं हैं। भगवान् बोधायनसे आरम्भ होने वाली एक परम्परा है। इसमें ब्रह्मनन्दि, द्रमिडाचार्य और श्रीवत्सांकमिश्र आदि अन्तर्भूत होते हैं। श्रीशठकोपमुनिका साक्षात्कार करके उनसे उपदेश प्राप्त करके श्रीनाथ मुनिसे प्रवर्तित द्वितीय परम्परा है। श्रुतप्रकाशिकाकार दोनों परम्पराओं के प्रथम प्रवर्तक दोनों आचार्यों का नाम से निर्देश करके आदि पद से दोनों परम्पराओं के अन्य आचार्यों का ग्रहण स्वीकार करते हैं। अतः शास्त्री का कथन निराधार है- **'यथार्थं सर्वविज्ञानमिति वेदविदां मतम्' इति श्रीभाष्यश्रीसूक्तौ वेदविदामित्यस्य व्यासाचार्याणां विवरणम्- भगवद्बोधायननाथमुनिमिश्रादीनामित्यर्थः इति। अत्र सम्प्रदायबाह्यत्वात् विषयानभिज्ञः शास्त्री यथाशीलं कुकल्पनाः करोति। बोधायननाथमुन्योर्मध्ये ब्रह्मनन्दिद्रमिडाचार्ययोरकीर्तनं अनयोः विशिष्टाद्वैतसम्प्रदायाप्रवर्तकत्वाभिप्रायेणैव। अत इमौ अस्य सम्प्रदायस्य पूर्वाचार्यौ न भवतः इति विवरणग्रन्थेन अनेन स्फुटमवगम्यत इति।**

अत्र तत्त्वमिदं उपदेशेन ग्रन्थप्रणयनेन च विशिष्टाद्वैतसम्प्रदाय-प्रवर्तकानां आचार्याणां परम्परे द्वे। भगवद्बोधायनोपक्रममेका, अत्र ब्रह्मनन्दिद्रमिडाचार्यश्रीवत्सांकमिश्रा अन्तर्भवन्ति। योगे शठकोपमुनिं साक्षात्कृत्य उपदेशं लब्ध्वा श्रीमन्नाथमुनिभिः प्रवर्तिता अपरा। अनयोरुभयोः परम्परयोः प्रथमप्रवर्तकौ द्वौ नाम्ना निर्दिश्य व्यासार्याः इतरान् आदिपदग्राह्यान् अमन्यन्त। अतोऽत्र दुर्भाषणस्य न कश्चिदवकाशः। (डी.टी.ताताचार्यकृत विशिष्टाद्वैतसिद्धि पृ.४२१) इस विवरणसे भी विशिष्टाद्वैत सिद्धान्तकी प्राचीन परम्परा सिद्ध होती है।

विशिष्टाद्वैतसिद्धान्तमें मान्य प्रमेय प्राचीन होने पर भी विशिष्टाद्वैत शब्दका प्रयोग प्राचीन नहीं है। त्रिविधतापसन्तप्त संसारी प्राणियोंके उद्धारार्थ भगीरथ प्रयास करने वाले करुणामूर्ति श्रीरामानुजाचार्यने भी इस शब्दका अक्षरशः प्रयोग नहीं किया है। अद्वैत शब्दका श्रुतियों में प्रयोग है। श्रीगौड़पादाचार्य से पहले वेदान्तसिद्धान्त विरोधसे रहित सर्वथा एकरूप था। विद्वानोंकी प्रतिपादनशैलीमें कुछ भेद हो सकता था किन्तु प्रमेय तत्त्वके विषयमें सभीके विचार समान थे। आचार्य शंकरसे पूर्व भारत बौद्धबहुल था। वेदप्रमाण का निराकरण करने वाले बौद्ध दार्शनिक किसी न किसी रूप में जीव को मानते हैं, चाहे वे उसे क्षणिक विज्ञान कहें अथवा शून्यादि कुछ भी कहें किन्तु परमात्मा को सर्वथा नहीं मानते हैं। श्रीशंकराचार्य का प्रधानकार्य था- वेदप्रामाण्य की स्थापना। जिसमें वे पूर्णतः सफल हुए, उन्होंने ब्रह्म के अस्तित्व का भी प्रतिपादन किया किन्तु तत्कालिक परिस्थितिवशात् उसे जीव से अभिन्न कह दिया। बौद्धों को राजाश्रय प्राप्त था, शंकर एक वीतराग सन्यासी थे, उन्होंने अपने उत्कट तप एवं मेधा के बल से बौद्धों को परास्त किया। इसके लिए वैदिक समाज सदाके लिए

उनका ऋणी रहेगा। बौद्ध और जैनसे आक्रान्त विकराल कालमें यदि श्रीशंकराचार्य आविर्भूत नहीं होते तो वैदिक सिद्धान्त उषाकालके तारों के समान निस्तेज होकर लीन ही हो जाते। यह कथन अतिशयोक्ति नहीं है। जिन उपनिषदोंको प्रमाण मानकर आचार्यों ने भाष्यग्रन्थोंकी रचना की है, उनमें कहीं भी विवर्तवाद का प्रतिपादन नहीं है। **यथा सोम्य! एकेन मृत्पिण्डेन विज्ञातेन सर्वं मृन्मयं विज्ञातं भवति**(छां.उ.६.१.४) यह छान्दोग्य श्रुति मृद्घट दृष्टान्त कहती है तथा ब्रह्मसूत्र **परिणामात्**(ब्र.सू.१.४.२७) इसप्रकार परिणाम का कथन करता है। विवर्तवाद तो बौद्धविद्वानों की देन है। ऐसा होनेपर भी आचार्य शंकरने अत्यन्त कुशलतासे बौद्धोंको शान्तकरने के लिए विवर्त शब्द का प्रयोग किया, इसका कारण तात्कालिक सामाजिक परिस्थितियाँ ही थीं। जिनके चलते वे स्पष्ट रूपसे श्रुतिप्रतिपाद्य तत्त्वका प्रतिपादन नहीं कर सके। उस कालमें यदि सविशेषाद्वैती आचार्य होते तो वे भी परिस्थिति वशात् शंकर का ही अनुसरण करते। श्रीशंकराचार्यने अद्वैत तत्त्व का प्रतिपादन किया। सविशेषाद्वैती आचार्य उनके चिन्तनको और सूक्ष्मताकी ओर ले गये। जगत्का सत्यत्व, जीव से भिन्न सत्य सविशेष ब्रह्म, भक्तिरूपापन्न ज्ञान से मोक्ष इत्यादि विषय ही बौद्ध दर्शनसे वेदान्तदर्शन का पार्थक्य सिद्ध करते हैं। जगत्मिथ्यात्व बौद्धों की देन है। शंकर से पूर्व गौड़पादको छोड़कर किसी भी आचार्यने जगत्को मिथ्या नहीं कहा। आचार्य शंकर से परवर्ती उनके अनुयायी विद्वानोंके समक्ष दो विकल्प थे- एक वैदिक अद्वैतकी स्वीकृति, दूसरा बौद्धमत की ओर झुकाव। बौद्धवासनावासित परवर्ती विद्वानोंको वैदिक अद्वैतमें द्वैतकी गन्ध आती थी। इसलिए उनका झुकाव बौद्ध मतकी ओर हो गया। इस कारण कुछ विद्वानोंने परवर्ती आचार्योंको प्रच्छन्न बौद्ध भी कहा।

श्रीगौड़पादाचार्य ने माण्डूक्य कारिकामें जगत्की उत्पत्ति और लय का निषेध किया है तथा अजातवादका प्रतिपादन किया है। इसका मूल बौद्ध ग्रन्थ बोधिचर्यावतार(९.१४६) का यह वाक्य है- **एवं न च निरोधोऽस्ति न च भावोऽस्ति सर्वदा, अजातमनिरुद्धञ्च तस्मात् सर्वमिदं जगत्।** बौद्धों का मायावादी होना बौद्ध दार्शनिकों के निम्न वचनों से ज्ञात होता है। **यदि निर्वाणादपि कश्चिद् धर्मो विशिष्टतरः स्यात्, तमप्यहं मायोपमं स्वप्नोपमम् इति वदेयम्** (अष्टसाहस्रिकाप्रज्ञापारमिता पृ.४०) **नामरूपमेव माया मायैव नामरूपम्**(शतसाहस्रिका प्रज्ञा पारमिता पृ.८९८) **मायोपमास्ते सत्त्वा इति माया च सत्त्वाश्च अद्वयमेतत्**(पञ्चविंशतिसाहस्रिका प्रज्ञा पारमिता पृ.४०) **यावत् प्रत्ययसामग्री तावन्मायाऽपि वर्तते।** (बोधिचर्यावतार पृ.४०) बौद्धों का यह प्राचीन मायावाद वर्तमान मायावाद का मूल है। श्रीवाचस्पति मिश्र भामती २.१.१९ में **अस्माकं मायावादिनाम्** इस प्रकार गौरवपूर्वक अपनेको मायावादी घोषित करते हैं। बौद्ध आचार्योंके द्वारा प्रदर्शित युक्तियोंके द्वारा ही आधुनिक अद्वैती जगत्मिथ्यात्व प्रतिपादन की चेष्टा करते हैं। इन कारणोंसे मायावादी प्रच्छन्न बौद्ध भी कहे जाते हैं। श्रुतिसूत्रप्रतिपादित सविशेष ब्रह्मतत्त्व का स्पष्टरूपसे समर्थन न करने से विद्वानों की अवधारणा है कि श्रीशंकराचार्यने ब्रह्मसूत्र के आशय को प्रकट करने की अपेक्षा अपने प्रवर्तित सम्प्रदायके मण्डन और अपनेसे भिन्नता रखने वाले मतों के खण्डन में उसका अधिक प्रयोग किया है। प्रसिद्ध पाश्चात्य पण्डित थीबो ने शांकरभाष्यके स्वरचित अनुवाद की भूमिका में लिखा है कि बादरायण का दार्शनिक सिद्धान्त शंकराचार्य के सिद्धान्त से सर्वथा भिन्न था किन्तु शंकराचार्यने अपने शुष्क निर्विशेषाद्वैत सिद्धान्तका प्रचार करनेके लिए बादरायणके ऊपर अपने मत का आरोप किया है। आचार्योंके

द्वारा प्रणीत ग्रन्थों में प्रथम पूर्व पक्षका प्रतिपादन होता है, पश्चात् सिद्धान्तपक्ष का प्रतिपादन होता है। ब्रह्मसूत्रके अधिकरणों में भी प्रथम पूर्वपक्ष के सूत्र और बाद में सिद्धान्त सूत्र होते हैं। यह विषय प्रसिद्ध होने पर भी कार्याधिकरण के शांकरभाष्य में पूर्व सूत्र सिद्धान्तसूत्ररूप से तथा उत्तर सूत्र पूर्वपक्षरूप से रखे गये हैं क्योंकि सूत्रकार द्वारा प्रदर्शित क्रम से श्रुतिसूत्र की अभीष्ट सिद्धि होने पर भी भाष्यकार की अभीष्टसिद्धि नहीं होती है। इस प्रकार शिष्टों में स्वमत के ग्रहण के लिए आचार्य शंकर ने ब्रह्मसूत्र की व्याख्या की किन्तु अपना आशय सूत्रसे अलग बताकर स्वमतकी प्रतिष्ठा की।

द्रमिडाचार्यके पश्चात् भर्तृप्रपञ्चने ब्रह्मके स्वरूपपरिणामका आश्रय लेकर ब्रह्मसूत्रका व्याख्यान किया। उस वादका बौद्धोंने बहुत प्रकारसे खण्डन किया। आचार्य शंकरने भर्तृप्रपञ्चसे भी पूर्वके आचार्यों का अभीष्ट स्वरूपपरिणामसे भिन्न परिणामवादका समर्थन न करके बौद्धसम्मत जगत्-मिथ्यात्ववाद का आश्रय लेकर दोषोंके मिथ्या होनेसे ब्रह्मके नाश आदि होने की शंकाका निराकरण किया किन्तु आचार्यरामानुजने श्रुतिसूत्र तथा पूर्वाचार्य समर्थित शरीरशरीरीभाव के प्रतिपादन द्वारा ब्रह्मके शरीररूप विशेषण अचेतन प्रकृतिके स्वरूप और चेतन जीवके धर्मभूतज्ञान में परिणाम मानकर शंका का परिहार किया। इसका विवरण ब्र.सू.(२.३.३) आत्माधिकरणके श्रीभाष्यमें द्रष्टव्य है।

भारतवर्ष में गुप्तवंश का साम्राज्य ५५० से २४० ईसापूर्व तक रहा। समुद्रगुप्त इस वंश के प्रसिद्ध शासक हुए और उनके समय राष्ट्र ने बहुत उन्नति की। उन्होंने महाभागवत्की उपाधि धारण की थी। उनका कार्यकाल ३७० ईसापूर्व से ३३५ ईसापूर्व तक रहा है। उस समय जगत् बौद्धबहुल था। इससे उस कालमें

बौद्धधर्म का प्रमुख प्रतिपक्षी वैष्णवधर्म ज्ञात होता है। जो कि श्रुतिसूत्रसम्मत परिणामवादको स्वीकार करता है। परिणामवादका निराकरण बौद्धोंने किया, शंकरने सामयिक परिस्थितियों के चलते मध्यवर्ती मार्ग अपनाया। उत्तरवर्ती आचार्योंने बौद्धमत ही स्वीकार किया। इसी कारण विशिष्टाद्वैत का प्रतिक्रियात्मक स्वरूप भगवत्पाद शंकर के प्रति कम है और परवर्ती प्रकरण ग्रन्थकारोंके प्रति अधिक है। समीक्षकोंने श्रीरामानुजाचार्य के द्वारा निर्विशेषाद्वैत सिद्धान्त का सफल खण्डन माना है। जैसे वेद की प्रामाणिकता स्थापित करने के कारण आचार्य शंकर सभीके द्वारा आदरणीय हैं, वैसे ही परम्परा प्राप्त प्राचीनसिद्धान्तसम्मत ब्रह्मसूत्र का भाष्य करने के कारण श्रीरामानुजाचार्य सबके द्वारा आदरणीय हैं। सविशेषाद्वैत सिद्धान्त भारत में बहुलता से प्रचलित है। इससे ज्ञात होता है कि यह सार्वभौम वेदान्त सिद्धान्त है। अनेक अंशोंमें अन्य सम्प्रदायोंने भी इसे स्वीकार किया है। विशिष्टाद्वैत वेदान्त की ग्रन्थ राशि विपुल है। श्रीरामानुज सम्प्रदायके प्रस्थानत्रय भाष्य अत्यन्त सूक्ष्मता और गम्भीरता से तत्त्व का प्रतिपादन करते हैं और श्रीरामानन्द सम्प्रदायके प्रस्थानत्रय भाष्य अत्यन्त सुबोध और सरस शैली से तत्त्व का प्रतिपादन करते हैं। श्रीवेंकटनाथ वेदान्तदेशिकाचार्यने तत्त्वमुक्ताकलाप, न्यायसिद्धाञ्जन और शतदूषणी आदि प्रौढ ग्रन्थोंकी रचना की तथा वाचस्पति मिश्र(भामतीकार से भिन्न) आदि ने खण्डनोद्धार और अध्यासध्वंसलेश आदि प्रौढ ग्रन्थों की रचना की। श्री स्वामीनारायण सम्प्रदाय में भी विशिष्टाद्वैतसिद्धान्त के ग्रन्थ उपलब्ध होते हैं।

विशिष्टाद्वैतवेदान्तके सभी विषयों का तलस्पर्शी ज्ञान करानेवाला कोई ग्रन्थ हिन्दी भाषा में उपलब्ध नहीं था, इसलिए

श्रीभगवान् और विद्वज्जगत् की प्रेरणा से 'विशिष्टाद्वैतवेदान्तका विस्तृतविवेचन' नामक ग्रन्थ प्रणीत होकर प्रस्तुत है।

स्वामी त्रिभुवनदास
मंगलम् कुटीरम्, गंगा लाइन
स्वर्गाश्रम, ऋषिकेश
उत्तराखण्ड

प्राक्कथन

वेद-वेदान्त, इतिहास-पुराण, धर्मशास्त्र तथा आगमशास्त्र द्वारा प्रतिपादित, महर्षि पराशर, पाराशर्य व्यास और भगवद्बोधायन द्वारा संदर्शित, श्रीनाथमुनि और श्रीयामुनाचार्यद्वारा संवर्धित एवम् शेषावतार श्रीरामानुजाचार्य द्वारा सम्यक् संरक्षित श्रीविशिष्टाद्वैत वेदान्तसिद्धान्त अनादि श्रीगुरुपरम्परा के माध्यमसे प्रवहित होकर चला आ रहा है, अत एव इस प्रकार से स्मरण किया जाता है- लक्ष्मीनाथसमारम्भां नाथयामुनमध्यमाम्। अस्मदाचार्यपर्यन्तां वन्दे गुरुपरम्पराम्।। इत्यादि। श्रद्धेय विद्वान् सन्त श्रीत्रिभुवनदास जी महाराज उक्त विशिष्टाद्वैत सिद्धान्तसे सम्बन्धित अनेक ग्रन्थोंका श्रीगुरुमुखसे विधिवत् अध्ययन कर उत्तराखण्डमें निवास करते हुए जिज्ञासु छात्रोंको निःस्वार्थ विद्यादान करते आ रहे हैं। इसके साथ साथ सम्बन्धित अन्य ग्रन्थोंका भी गहन चिन्तन-मनन करते रहे हैं। इस बीच कुछ महानुभावोंने आप से अनुरोध किया कि आप अपने उपार्जित ज्ञान को साकाररूप प्रदान करते हुए विशिष्टाद्वैत सिद्धान्तका विस्तृत ज्ञान कराने वाला एक ग्रन्थ हिन्दी भाषा में लिखें। इस तरह भक्त और श्रीभगवान् की भी प्रेरणा से आपने लेखन कार्य प्रारम्भ किया। इसके बाद जब कभी हम दोनों श्री वृन्दावनस्थ श्रीरङ्गमन्दिरमें मिलते तब आप अपने लेख को हमें सुनाते रहे। इस प्रकार आगे बढ़ते हुए लगभग ४.५ वर्ष में लेखन कार्य अब पूर्ण हो चुका है, यह बड़ी प्रसन्नता की बात है।

यद्यपि इस सिद्धान्तके प्रतिपादक अनेक विशिष्ट ग्रन्थ हिन्दी अनुवाद सहित प्रकाशित हो चुके हैं तथापि प्राचीन और अर्वाचीन ग्रन्थों तथा वर्तमानमें उपलब्ध अनेक टीकाओंका स्वाध्याय कर एकत्र

सारसंग्रहपूर्वक लोकभाषामें **'विशिष्टाद्वैत वेदान्त दर्शन का विस्तृत विवेचन'** इस नामसे प्रकाशमें आने वाला यह निबन्ध अपूर्व ही होगा। इसके प्रकाशित होने पर इस सिद्धान्तका विस्तृत ज्ञान अर्जित करनेकी इच्छा वाले विशिष्ट छात्रों, शोधकर्ताओं और अन्य जिज्ञासुओंका भी यह महान् उपकारक होगा,ऐसा हमें विश्वास है।

उपनिषदोंमें जीव,जड़ और ब्रह्मके परस्पर भेदप्रतिपादक, अभेदप्रतिपादक तथा भेदनिषेधक अनेक वाक्य उपलब्ध होते हैं। जैसे-१.**भोक्ता भोग्यं प्रेरितारञ्च मत्वा**(श्वे.उ.१.१२)[१], २.**पृथगात्मानं प्रेरितारञ् च मत्वा जुष्टस्ततस्तेनामृतत्वमेति** (श्वे.उ.१.६)[२], ३.**प्रधानक्षेत्रज्ञपतिर्गुणेशः**(श्वे.उ.६.१६)[३], ४.**द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया**(मु.उ.३.१.१)[४] इत्यादि वाक्य भेद का प्रतिपादन करते हैं तथा **१.सदेव सोम्येदमग्र आसीदेकमेवाद्वितीयम्**(छां.उ.६.२.१)[५], **२.तत्त्वमसि**(६.८.७.)[६], **३.सर्वं खल्विदं ब्रह्म**(छा.उ.३.१४.१)[७] इत्यादि वाक्य अभेद का प्रतिपादन करते है। एवम् **१.नेह नानास्ति किञ्चन,मृत्योः स मृत्युमाप्नोति य इह नानेव पश्यति**(बृ.उ.४.४.

अर्थ१.भोक्ता जीव, भोग्य जड़ पदार्थ तथा प्रेरक ईश्वर को जानकर मैंने सम्पूर्ण त्रिविध ब्रह्म को बता दिया। यहाँ जीव का अन्तर्यामी होकर रहना, जड पदार्थ का अन्तर्यामी होकर रहना तथा स्वस्वरूप से भी रहना- यही ब्रह्म की त्रिविधता है।

२.जीवात्मा और प्रेरक ईश्वरको अलग-अलग पदार्थ समझ कर साधक ईश्वरकी प्रीतिका विषय बनता है तथा बादमें उस भेदज्ञान से मोक्ष प्राप्त करता है।

३. ईश्वर प्रकृति और जीवात्माका स्वामी एवं ज्ञानादि छः गुणों से पूर्ण है। इस वचनसे प्रकृति, जीव और ईश्वर में भेद सिद्ध होता है।

४.जन्म न लेने वाले दो तत्त्व हैं, उनमें एक ईश्वर और दूसरा उससे भिन्न जीव है, ईश्वर सर्वज्ञ है किन्तु जीव अज्ञ अर्थात् अल्पज्ञ है।

५.हे सोम्य! यह दृश्यमान जगत् सृष्टिके पूर्व एक 'सत्' शब्द से वाच्य ब्रह्मरूप ही था, इसका प्रेरक दूसरा निमित्त कारण नहीं था।

६.तुम ब्रह्मात्मक हो।

७.यह सब ब्रह्म है।

१६)[1], **२.यत्र हि द्वैतमिव भवति, तदितर इतरं पश्यति**(बृ.उ.२.४.१४)[2] इत्यादि वाक्य भेदका निषेध करते हैं। ये सभी श्रुतिवचन होने से इनमें परस्पर बाध्य-बाधकभाव नहीं हो सकता है अर्थात् किसी एक पक्ष का समर्थनकर दूसरे पक्ष का बाध करना उचित नहीं है, अतः इनका विषय-विभाजन करके अर्थ करना ही औचित्य या समन्वय है। जो विशिष्टाद्वैतसिद्धान्त में दिखाया गया है।

लोक में देखा जाता है कि जब दो पक्ष आपस में विवाद करते हैं तब कुछ मध्यस्थ पुरुष आकर परस्परमें समझौता कराते हैं, इन्हें घटक पुरुष कहा जाता है। इसी प्रकार उपनिषदमें भी कुछ ऐसे श्रुति वाक्य हैं, जो उपर्युक्त तीनों प्रकारके उपनिषद्-वाक्योंमें समन्वय स्थापित करते हैं, इन्हें ही घटक श्रुति कहते हैं। जैसे- **अन्तः प्रविष्टः शास्ता जनानां सर्वात्मा**(यजुराण्यक ३.११.२१) अर्थात ईश्वर सभी जनों के भीतर प्रविष्ट होकर शासन करने वाला सर्वात्मा है तथा बृहदारण्यक(३.७)के अन्तर्यामी ब्राह्मण में उल्लेख है- **यः पृथिव्यां तिष्ठन् पृथिव्याम् अन्तरो यं पृथिवी न वेद यस्य पृथिवी शरीरं यः पृथिवीमन्तरो यमयति** यहाँसे आरम्भ करके **यो विज्ञाने तिष्ठन् विज्ञानादन्तरो यं विज्ञानं न वेद यस्य विज्ञानं शरीरं यो विज्ञानमन्तरो यमयति** यहाँ तक शरीरात्मभाव-सम्बन्ध बताया गया है। यहाँ पर विज्ञान शब्दसे जीवात्मा लिया गया है क्योंकि माध्यन्दिनी शाखा के अन्तर्यामी ब्राह्मण में विज्ञान के स्थान में आत्मशब्द का उल्लेख है, जो इस प्रकार है- **य आत्मनि तिष्ठन्**

१.यहाँ अनेक पदार्थ बिल्कुल नहीं हैं, जो अनेक पदार्थ देखता है, वह मृत्यु से मृत्यु को प्राप्त करता है।
२.जहाँ भेद भासित होता है, वहाँ दूसरा दूसरे को देखता है किन्तु जब साधक को सब आत्मा ही हो गया तब यह किससे किसको देखे और किससे किसको जाने।

आत्मनोऽन्तरो यमात्मा न वेद यस्यात्मा शरीरं य आत्मानमन्तरो यमयति, एष त आत्माऽन्तर्याम्यमृतः अर्थात् जो आत्मा में रहता हुआ आत्मा के अन्दर है, जिसे जीवात्मा नहीं जानता है, जीवात्मा जिसका शरीर है, जो अन्दर रहकर जीवात्मा का नियमन करता है वह तुम्हारी परम भोग्य अन्तरात्मा है। ऐसा ही यहाँ पर वर्णित अन्य अर्न्तयामी-वाक्यों का भी अर्थ समझना चाहिये। इन श्रुतिवाक्यों में पृथिव्यादि सभी जड़ पदार्थ और चेतन जीवात्माओंको परब्रह्म परमात्माका शरीर तथा परमात्माको इन सभी की आत्मा बताया गया है, ऐसे ही अनेक वाक्य **सुबालोपनिषत्** और **कौषीतकी ब्राह्मण** में भी मिलते हैं। यहाँ विस्तार के भयसे उन वचनोंको नहीं दिया जा रहा है। पूर्वोक्त अन्तर्यामी वाक्यों के अनुसार सम्पूर्ण जड़ और चेतन पदार्थ परब्रह्म परमात्मा के शरीर तथा परमात्मा उनके अन्तर्यामी आत्मा सिद्ध होते हैं। सृष्टि प्रकरणमें कहा गया है कि जगत्‌की रचना करते समय परब्रह्म ने समष्टि पदार्थ में जीव द्वारा प्रवेश करके ही नाम और रूप का विभाग किया, अत एव शरीरके वाचक देव, मनुष्य, पशु आदि शब्द जैसे शरीर को बताते हुए शरीरके भीतर विद्यमान जीवात्मा को भी बताते है, उसी प्रकार जीवात्माके वाचक त्वम् इत्यादि शब्द भी जीवात्माको बताते हुए प्रकरणानुसार उसके अन्तर्यामी परमात्माको भी बताने में समर्थ हैं क्योंकि जीवात्मा भी परमात्माके प्रति शरीर कहा गया है। इस प्रक्रिया से विचार करने पर 'तत्त्वमसि' इस वाक्यमें 'तत्' पद जगत्कारणत्व-सर्वज्ञत्व आदि धर्मों से विशिष्ट ब्रह्म को बताता है तथा 'त्वम्' पद भी सशरीर जीवको बताते हुए उसके अन्तर्यामी ब्रह्म को शब्दशक्तिसे ही बता रहा है। उद्दालक श्वेतकेतु से कह रहे हैं- जो सर्वज्ञत्वादि विशिष्ट जगत्कारण ब्रह्म है, वही तुम्हारा अन्तर्यामी ब्रह्म है। इस प्रकार 'तत्' और 'त्वम्' ये दोनों पद भिन्न

विशेषताओंको बताते हुए ब्रह्मरूपी एक अर्थके वाचक बनते हैं। जहाँ समान विभक्ति वाले पद होते हैं, वहाँ उन पदों का वाच्यार्थ एक होता है, इसे ही 'सामानाधिकरण्य' कहा जाता है। जो परस्पर विरोध न रखने वाली विशेषताएं हैं। वे सब एक व्यक्ति में रह सकती हैं, इसलिये सर्वज्ञत्वादि विशेषता और जीवान्तर्यामित्वरूप विशेषता का ब्रह्ममें रहना कोई विरोध नहीं है। अतः उद्दालक का यह कहना उचित ही है कि तुम ब्रह्मात्मक हो अर्थात् ब्रह्म तुम्हारी अन्तरात्मा है, ऐसा अर्थ करने पर दोनों पदों में लक्षणा भी नहीं करनी पड़ती है तथा जीवात्मा की सत्ता का अपलाप भी नहीं होता।

निर्विशेषाद्वैत सिद्धान्तमें 'तत्' और 'त्वम्' दोनों पदों की चैतन्यमात्रमें लक्षणा करके जीव-ब्रह्म का अभेद बताया गया है परन्तु ऐसा मानने पर जीवोंको अनादि नित्य चेतन बताने वाली अनेक भेदश्रुतियोंका बाध करना पड़ेगा, जो उचित नहीं है। व्यावहारिक और पारमार्थिक सत्ताकी कल्पना करके केवल ब्रह्म की पारमार्थिक सत्ता बताना भी श्रुतिसम्मत मार्ग नहीं है तथा **सर्वं खल्विदं ब्रह्म** इस श्रुति का भी जगत् और ब्रह्म का अभेद बताने में तात्पर्य नहीं है अपितु सबमें ब्रह्मकी व्याप्ति और सबकी स्थिति तथा प्रवृत्ति ब्रह्मके अधीन होने से सबको ब्रह्मात्मक समझकर उसकी उपासनाका विधान किया गया है। उपर्युक्त व्यवस्थाके अनुसार भेदनिषेध करने वाले वचनोंके साथ कोई विरोध नहीं होता है। अब **नेह नानास्ति किञ्चन** इत्यादि श्रुतिवचनका अर्थ होता है- इस जगत् में अब्रह्मात्मक स्वतन्त्र कोई पदार्थ नहीं है (क्योंकि जो भी है, वह सब अन्तर्यामी ब्रह्मरूप आत्मासे व्याप्त और परतन्त्र है), इसलिए अब्रह्मात्मक स्वतन्त्र भेदकी प्रतीतिमात्र से वह मृत्युको प्राप्त करता है। जहाँ द्वैत अर्थात् अब्रह्मात्मक स्वतन्त्र भेद भासित होता है, वहाँ कोई स्वतन्त्र कर्ता किसी करणसे किसी कर्मको देखता है

किन्तु जब साधकका सब कुछ आत्मा ही हो गया अर्थात् सब कुछ ब्रह्मात्मक दीखने लगा, तब कौन किससे किसको देखेगा? और किस साधन से किसको वैसा जानेगा? इस प्रकार विचार करने पर भेदनिषेध करने वाले वचनोंसे अब्रह्मात्मक स्वतन्त्र भेद का ही निषेध किया गया है, श्रुति-सिद्ध ब्रह्मात्मक पदार्थोंका जो भेद है। उसका निषेध कदापि नहीं, ऐसा निर्वाह करने पर ही भेदश्रुतियाँ अपने प्रतिपादित अर्थमें प्रामाणिक सिद्ध होती हैं।

ब्रह्म से भिन्न पदार्थोंकी व्यावहारिक सत्ता मानकर भेदश्रुतियों का उस भेदको बताने में तात्पर्य है- ऐसा कहना भी उचित नहीं है क्योंकि मोक्षमें भी जीव-ब्रह्म का भेद प्रतिपादन करने वाले अनेक श्रुतिसूत्रस्मृतिवचन उपलब्ध होते हैं, उनका निर्वाह कैसे होगा? इसलिए उपर्युक्त सभी श्रुति वचनोंका बाध किये विना परस्पर समन्वय करने की इच्छा रखने वाले विचारकों को विशिष्टाद्वैत सिद्धान्तकी पद्धति सुगम मार्ग है। इसमें चेतना-चेतनपदार्थविशिष्ट ब्रह्म एक है, वह कभी सूक्ष्मचेतनाचेतनविशिष्ट होकर रहता है, उसे कारण ब्रह्म कहते हैं, तथा कभी स्थूलचेतनाचेतनविशिष्ट होकर रहता है, उसे कार्य ब्रह्म कहा जाता है। चेतनाचेतन पदार्थों का विभक्त नाम और रूपसे युक्त होना स्थूलत्व तथा अविभक्त नाम-रूप से युक्त होकर रहना सूक्ष्मत्व है। विशिष्ट ब्रह्म एक है तथा विशेष्य और विशेषण में एवं चेतन-अचेतनरूपी विशेषणोंमें भी आपसी भेद सदा रहता है, यह औपनिषद विशिष्टाद्वैत सिद्धान्त की मान्यता है। यह संक्षिप्त दिग्दर्शन है। विशेष जानकारी के लिये यथा शीघ्र प्रकाशित होने वाले प्रस्तुत निबन्ध ग्रन्थ का अध्ययन करना चाहिए।

श्रीत्रिभुवनदासजी महाराज द्वारा लिखित इस ग्रन्थ में मुख्यतः ५ प्रकरण हैं- १.जड़द्रव्यविवेचन, २.जीवात्मविवेचन, ३.ब्रह्मविवेचन, ४.धर्मभूतज्ञानविवेचन और ५.अद्रव्यविवेचन ।

१.ग्रन्थ के उपोद्घातरूप 'तत्त्वविवेचन'के अन्तर्गत सविशेष अद्वैत ब्रह्म तत्त्व और पदार्थों के उद्देश के बाद आरम्भ होनेवाले इस प्रकरण में चौबीस तत्त्वरूपमें विभक्त प्रकृति के स्वरूप और स्वभाव तथा कार्यों का विस्तार से वर्णन किया गया है, साथ ही उसका परिणामी सत्यत्व भी स्थापित किया गया है। इसी प्रकरणमें अचिद्विशेष काल तत्त्वका भी निरूपण किया गया है।

२.इस प्रकरणमें जीवात्मा के स्वरूप- स्वभाव और संख्या के बारे में प्रामाणिक विचार प्रस्तुत किया गया है। मानव जीवन का प्रधान लक्ष्य संसार बन्धनसे निवत्तिपूर्वक परम पुरुषार्थ मोक्षको प्राप्त करना ही है। इसके लिये साधन की आवश्यकता होती है, अतएव मोक्ष के साधनोंका निरूपण और प्राप्य मोक्षका भी निरूपण इसी प्रकरण में किया गया है।

३.तृतीय प्रकरणमें परब्रह्म परमात्माके स्वरूप-रूप और गुणोंका निरूपण करते हुए उनके कार्य तथा स्वेच्छामय दिव्य अवतारोके हेतु और प्रयोजनका भी वर्णन किया गया है। जगत् की उत्पत्ति, पालन और संहार करना ब्रह्मका मुख्य कार्य है। जगत् कारण ईश्वर और ब्रह्म एक ही तत्त्व है। सत्, ब्रह्म, आत्मा और नारायण इत्यादि सामान्य और विशेष नामों से एक ही कारण वस्तुका उल्लेख उपनिषदोंमें किया गया है। परब्रह्म दोषरहित और अनेक कल्याण गुणोंके आश्रय हैं, अत एव श्रुति-सूत्रों में उन्हें उभयलिङ्ग कहा गया है। उनके सभी गुण स्वाभाविक होनेसे नित्य हैं, अविद्या से कल्पित नहीं हैं। वे चेतनाचेतनविशिष्ट होते हुए अप्राकृत दिव्य

मंगलविग्रहविशिष्ट भी हैं तथा ऐसे अनन्तकल्याणगुण और विग्रह से विशिष्ट, मुक्तों के प्राप्य परमात्मा का विशिष्ट निवासस्थान और परिजन भी होने चाहिये? इस जिज्ञासा को शान्त करने के लिये नित्यविभूतिका भी इसी प्रकरण में निरूपण किया गया है।

४.जीवात्मा प्रमाणानुसार ज्ञानस्वरूप होते हुए ज्ञानका आश्रय भी है। दोनोंके स्वरूपको समझानेके लिये आत्माको धर्मिभूतज्ञान और उसके गुण को धर्मभूत ज्ञान कहा गया है। चतुर्थ प्रकरणमें इसी धर्मभूत ज्ञान का विस्तारसे निरूपण किया गया है। प्रमाणके अधीन ही किसी प्रमेय की सिद्धि होती है, इसलिये प्रमाणोंका भी निरूपण आवश्यक है। इसी दृष्टिसे इस प्रमेय ग्रन्थ में भी कहीं प्रमाणों का उल्लेख अवश्य होना चाहिये। सुगमता को ध्यान में रखकर लेखक द्वारा धर्मभूतज्ञानविवेचनमें ही संक्षेपतः प्रमाणोंका भी निरूपण किया गया है।

५.ग्रन्थ का अन्तिम प्रकरण अद्रव्य विवेचन है। विशिष्टाद्वैत सिद्धान्तमें छः द्रव्य और दश अद्रव्य पदार्थ स्वीकृत किये गये हैं। अद्रव्य का दूसरा नाम गुण भी हो सकता है। इन्हीं का निरूपण इस विवेचन में किया गया है। लेखक महानुभावके आग्रह से विषय का कुछ दिग्दर्शनमात्र किया गया है। अन्त में यह निबन्ध यथाशीघ्र प्रकाशित होकर सर्वसुलभ हो, ऐसी श्रीगोदारङ्गमन्नार भगवान् के श्रीचरणों में प्रार्थना के साथ इस लेखनीको विश्राम दिया जा रहा है।

मधुसूदनाचार्य वेदान्ती
(व्याकरण-वेदान्ताचार्य एम.ए.)
भूतपूर्व वेदान्तविभागाध्यक्ष
श्रीरङ्गलक्ष्मी आ.सं.महाविद्यालय
वृन्दावन, मथुरा(उ.प्र.)

१५.४.२०१२

विषयानुक्रमणिका

आत्म-निवेदन vii

शुभ-आशीर्वाद ix

शुभ-सम्मति xi

प्रस्तावना xiii

प्राक्कथन xxxi

तत्त्वविवेचन(१-१४)

एकतत्त्ववाद १

तत्त्वविभाग ६

द्रव्य ८

सत्कार्यवाद ८

जड़ १३

अज़ड़ १३

जड़द्रव्यविवेचन(१५-७४)

प्रकृति १५

महत् १७

अहंकार १८

अहंकार शब्द की व्युत्पत्ति १८

एकादश इन्द्रियाँ २०

ज्ञानेन्द्रिय २०

कर्मेन्द्रिय २३

परिमाण २५

अहंकारजन्यत्व २५

तन्मात्रा	२६
शब्दतन्मात्रा	२६
आकाश	२७
स्पर्शतन्मात्रा	२७
वायु	२७
प्राण	२८
रूपतन्मात्रा	२९
तेज	२९
प्रभा	३०
प्रभावान्	३१
रसतन्मात्रा	३२
जल	३२
गन्धतन्मात्रा	३२
पृथ्वी	३२
पञ्चीकरण	३३
आकाशका अनित्यत्व	३४
आकाशका प्रत्यक्ष	३४
तमका पृथ्वीमें अन्तर्भाव	३७
स्थूलशरीर	३८
सूक्ष्मशरीर	३९
शरीरका लक्षण	४०
शरीरके विभाग	५३
नित्य शरीर	५३
अनित्य शरीर	५३
समष्टिसृष्टि और व्यष्टिसृष्टि	५६
लयप्रक्रिया	५८

नित्यता ६०
उपसंहार ६१
काल ६२
अतिरिक्तपदार्थत्व ६३
नित्यत्व ६३
विभुत्व ६५
क्षणादिरूप विकार ६६
प्रत्यक्ष ६८
माप ६६
सृष्टि के भेद ७०
प्रलय ७०
नैमित्तिक प्रलय ७०
प्राकृत प्रलय ७१
आत्यन्तिक प्रलय ७२
नित्य प्रलय ७२

जीवात्मविवेचन(७५-२६४)

जीव और ईश्वरके सामान्यलक्षण ७६
जीवात्माका लक्षण ७७
चार्वाकमत ८०
देहात्मवाद ८०
बाह्येन्द्रिय-आत्मवाद ८७
मन-आत्मवाद ६०
प्राण-आत्मवाद ६२
ज्ञान-आत्मवाद ६४
बौद्धमत ६६

ज्ञान–आत्मवाद ६६
प्रवृत्तिविज्ञान ६६
आलय विज्ञान ६७
शांकरमत ६८
ज्ञान–आत्मवाद ६८
सिद्धान्तमत १०८
ज्ञाता तथा ज्ञानरूप आत्मा १०८
स्वयंप्रकाशत्व ११५
प्रमाण ११५
आनन्दरूपता १२३
अहमर्थत्व १३०
कर्तृत्व १३६
परमात्माधीन कर्तृत्व १५०
भोक्तृत्व १५५
अणुत्व १५५
हृदय में स्थिति १५६
धर्मभूतज्ञान के द्वारा व्याप्ति १५७
सुख–दुःख का अनुभव १५८
जैनमत १६५
नित्यत्व १६७
नानाजीववाद १६६
एकजीववाद १७१
स्वाभाविक भेद १७५
आत्मभेद लोकसिद्ध नहीं १८१
आत्मा और परमात्माका भेद १८४
मुक्तात्माका भी परमात्मासे भेद १८६

जीव और ब्रह्मकी स्वरूप-एकताका ज्ञान भ्रान्ति १६५
ब्रह्मात्मकत्व १६५
अविनाभावसम्बन्ध १६६
आत्मशरीरभाव सम्बन्ध १६६
शेषशेषिभाव सम्बन्ध २००
नियाम्यनियामकभाव सम्बन्ध २०३
धार्यधारकभाव सम्बन्ध २०३
अंशत्व २०४
जीवविभाग २०७
बद्ध २०७
कर्म २१२
क्रियमाण कर्म २१२
संचित कर्म २१२
प्रारब्ध कर्म २१२
बन्धनका कारण २१३
त्रिविध दुःख २१५
देहात्मबुद्धि २१५
जाग्रत अवस्था २१६
स्वप्नावस्था २२१
स्मृतिरूप स्वप्न २२१
अनुभवरूप स्वप्न २२२
सुषुप्ति अवस्था २२८
जाग्रत आदि अवस्थाओंमें जीवके स्थान २३४
माध्वमत २३५
सिद्धान्त मत २३६
शास्त्रके अवश्य २३६

शास्त्रके वश्य २३७
बुभुक्षु २३७
मुमुक्षु २३८
कैवल्य २३८
मोक्ष २४१
भक्त २४१
प्रपन्न २४१
मोक्षका साधन २४२
कर्मयोग २४२
ज्ञानयोग २४३
भक्तियोग २४३
परमात्मज्ञान में आत्मज्ञानकी हेतुता २५६
साधनसप्तक २५८
उपासनाके भेद २६६
प्रतीकोपासना २६६
अप्रतीकोपासना २६६
अहङ्ग्रहोपासना २६७
श्रवण २७०
मनन २७१
निदिध्यासन २७१
श्रवणमात्रसे साक्षात्कार नहीं होता २७२
प्रपत्ति २७३
ब्रह्मदर्शीकी जीवनकालिक अवस्था २७८
जीवनमुक्ति २७९
मुक्त २८०
ब्रह्मज्ञानीके पूर्वोत्तर पापोंका अश्लेष एवं विनाश २८१

उत्क्रान्ति और अर्चिरादि गति २८३
रात्रि और दक्षिणायनमें मरनेवालेको भी मोक्षप्राप्ति २८४
स्वाभाविक रूपका आविर्भाव २८७
सर्वज्ञता २८७
परमात्माके साथ परम समता २८६
भगवत्सेवा २८६
शरीरधारण २८६
अकर्मवश्यत्व २६०
क्रममुक्ति २६२
नित्य २६३

ब्रह्मविवेचन(२६५-५७८)

सविशेष ब्रह्म २६८
एकके विज्ञानसे सबके विज्ञानकी प्रतिज्ञा ३१४
वाचारम्भण श्रुतिका अर्थ ३१७
शांकरमतमें वाचारम्भण श्रुतिके अर्थकी असंगति ३२०
ब्रह्मके गुण अनन्त होनेसे वह वाणी और मनका अविषय ३२१
जगत् कल्पित होनेपर भी निर्विशेष ब्रह्मकी असिद्धि ३२२
निर्विशेषके वस्तुत्वकी असिद्धि ३२३
तात्पर्यनिर्णायक लिङ्गोंसे सविशेषब्रह्मकी सिद्धि ३२४
उपक्रम-उपसंहार ३२४
अभ्यास ३२५
अपूर्वता ३२६
फल ३२६
अर्थवाद ३२६
उपपत्ति ३२६

शब्दप्रमाणसे भी निर्विशेष वस्तुका प्रतिपादन संभव नहीं ३२७

जगत्कारण ३३१

उपादानकारण ३३१

निमित्तकारण ३३१

सहकारी कारण ३३२

असमवायिकारणका निराकरण ३३३

अभिन्ननिमित्तोपादानकारण ३३३

स्थितिकारण ३४७

लयकारण ३४७

स्वभावका असंकर ३४६

जगत्कारणत्वका उपलक्षणत्व और विशेषणत्व ३४६

सत्यम् ज्ञानम् अनन्तं ब्रह्म ३५६

सत्य ३५६

जगत्के मिथ्यात्वका निराकरण ३५८

जगत्को मिथ्या माननेपर शाब्दबोधकी असिद्धि ३७०

अनुमानप्रमाणसे भी जगद्मिथ्यात्वकी असिद्धि ३७१

शास्त्रों का सत्यत्व ३७८

निर्विशेषाद्वैतियोंका वाद(शास्त्रार्थ)में अनधिकार ३७६

ज्ञान ३८०

अनन्त ३८२

ज्ञाता तथा ज्ञानरूप ब्रह्म ३८७

स्वयंप्रकाशत्व ३८८

आनन्दका आश्रय तथा आनन्दरूप ब्रह्म ३८८

अहमर्थत्व ३८६

कर्तृत्व ३६०

आराध्यत्व तथा फलप्रदत्व ३६१

विभुत्व ३६५
अखिलहेयप्रत्यनीक ४०१
अपहतपाप्मत्वादि ४०२
सत्यकामत्व, सत्यसंकल्पत्व ४०४
ज्ञान ४०४
बल ४०७
ऐश्वर्य ४०७
वीर्य ४०७
शक्ति ४०७
तेज ४०७
ज्ञानत्व, आनन्दत्वादि अनन्तकल्याण गुण ४०८
वाच्यत्व, वेद्यत्व ४०८
बृहत्त्व और बृंहणत्व ४१४
आत्मत्व ४१६
अनुप्रवेश ४२२
शांकरमतमें अनुप्रवेश श्रुतिकी असिद्धि ४२५
नामरूपव्याकरण ४३०
सभी पदार्थोंका ब्रह्मात्मकत्व और सभी शब्दोंका ब्रह्मबोधकत्व ४३३
ऐतदात्म्यम् इदं सर्वम् ४३८
तत्त्वमसि ४४२
शांकरमतमें मध्यमपुरुषकी असिद्धि ४४६
सामानाधिकरण्य ४५७
अखण्डार्थबोधक सामानाधिकरण्यका निराकरण ४६३
परिणामवाद ४७०
सांख्यमत ४७१
वेदान्तमत ४७१

विवर्त	४७२
परिणाम	४७६
उपसंहार	४८२
परमात्माकी पाँच रूपोंमें स्थिति	४८४
पर	४८४
व्यूह	४८५
विभव	४८८
मुख्य	४८६
गौण	४८६
स्वरूपावेश	४६०
शक्त्यावेश	४६०
अवतारका हेतु	४६०
अवतारका प्रयोजन	४६१
अंशावतार	४६२
अंशांशावतार	४६३
अंशवशावतार	४६३
कलावतार	४६४
अन्तर्यामी	४६४
अर्चावतार	४६६
श्रीतत्त्व	४६८
[illegible]**सिद्धान्त**	५०१
[illegible]ैत, अद्वैत आदि सिद्धान्तोंकी मूलभूत श्रुति	५०२
[illegible]तवादीसम्मत अर्थ	५०२
[illegible]र्विशेषाद्वैतवादीसम्मत अर्थ	५०२
[illegible]दनिषेधक श्रुति	५०३
[illegible]ताद्वैत(भेदाभेद)वाद	५०३

भेदप्रतिपादक श्रुति ५०३
निर्विशेषाद्वैतवादी ५०३
द्वैतवादी ५०४
निर्विशेषाद्वैतवादी ५०४
सविशेषाद्वैतवादी ५०४
विशिष्टाद्वैत पदकी व्याख्या ५०६
अविद्यानिराकरण ५१०
अविद्याके आश्रयकी असिद्धि ५१२
अविद्यासे ब्रह्मके तिरोधानकी असिद्धि ५१७
अविद्याके स्वरूपकी असिद्धि ५२५
अविद्याके अनिवर्चनीयत्वकी असिद्धि ५२६
अविद्यामें प्रमाणकी असिद्धि ५२८
प्रत्यक्षप्रमाण की असिद्धि ५२८
अनुमानप्रमाणकी असिद्धि ५३०
श्रुति प्रमाणकी असिद्धि ५३४
अर्थापत्ति प्रमाणकी असिद्धि ५३७
अविद्याके निवर्तकज्ञानकी असिद्धि ५३८
निवर्तक ज्ञानके कर्ताकी असिद्धि ५४०
निवर्तकज्ञानके विषयकी असिद्धि ५४२
निवर्तकज्ञानकी उत्पादक सामग्रीकी असिद्धि ५४४
अविद्यानिवृत्तिकी असिद्धि ५४६
नित्यविभूति(शुद्धसत्त्व) ५४७
नित्य ५५१
अचेतन ५५२
ज्ञानानन्दरूप और स्वयंप्रकाश ५५२
आत्मा और शुद्धसत्त्वकी समानता ५५६

आत्मा और शुद्धसत्त्वका भेद ५५७
धर्मभूतज्ञान और शुद्धसत्त्वकी समानता ५५८
धर्मभूतज्ञान और शुद्धसत्त्वका भेद ५५९
नित्यविभूतिकी विविधरूपता ५६०
दिव्यमङ्गलविग्रह ५६३
विलक्षणता ५६४
श्रुति प्रमाण ५६६
सूत्र प्रमाण ५६७
अप्राकृत ५६९
नित्य ५७०
परविग्रह ५७३
व्यूहविग्रह ५७३
विभवविग्रह ५७३
अन्तर्यामीविग्रह ५७४
अर्चावतारविग्रह ५७५
व्यापकत्व शक्ति ५७६

धर्मभूतज्ञानविवेचन(५७९-६७८)

लक्षण ५७९
विषयप्रकाशकत्व ५८२
ज्ञानका परप्रकाशत्व ५८३
नैयायिकवैशेषिकमत ५८३
भाट्टमीमासंकमत ५८५
स्वयंप्रकाशत्व ५८६
बुद्धिके अवेद्यत्वका निराकरण ५९१
नित्यत्व ५९३

श्रुति प्रमाण ५६४
सूत्र प्रमाण ५६७
स्मृति प्रमाण ५६७
विभुत्व ६०१
द्रव्यत्व ६०१
द्रव्यके लिए गुण शब्दका प्रयोग ६०३
ज्ञानकी प्रतिपुरुष भिन्नता ६०४
संकोचविकास ६०५
धर्मभूतज्ञान और आत्मा की समानता ६०८
धर्मभूतज्ञान और आत्मा का भेद ६०९
सुखादिकी ज्ञानविशेषरूपता ६१०
सुषुप्ति ६१३
योगमत ६१३
सांख्य मत ६१४
समीक्षा ६१४
अपूर्व. ६१५
जीवका अदृष्ट ईश्वरकी प्रीति एवं कोपरूप ६१६
प्रमाण ६१७
प्रमा ६१८
संशय ६१८
अन्यथाज्ञान ६१९
विपरीतज्ञान ६२०
प्रमाणके भेद ६२१
प्रत्यक्षप्रमाण ६२१
प्रत्यक्षप्रमा ६२१
प्रत्यक्षज्ञानकी उत्पत्ति ६२१

निर्विकल्पक प्रत्यक्ष	६२४
सविकल्पक प्रत्यक्ष	६२४
अर्वाचीन प्रत्यक्षज्ञान	६२६
इन्द्रियसापेक्ष प्रत्यक्षज्ञान	६२६
इन्द्रियनिरपेक्ष प्रत्यक्षज्ञान	६२६
स्वयंसिद्ध प्रत्यक्षज्ञान	६२६
दिव्य प्रत्यक्षज्ञान	६२७
दिव्य चक्षु	६२७
अनर्वाचीन प्रत्यक्षज्ञान	६३०
स्मृति	६३०
संस्कार	६३१
प्रत्यभिज्ञा	६३२
अभावकी भावान्तररूपता	६३३
अनुपलब्धिप्रमाकी असिद्धि	६३३
ख्याति	६३४
आत्मख्याति	६३४
असत्ख्याति	६३५
अनिर्वचनीयख्याति	६३५
अख्याति	६३७
अन्यथाख्याति	६३८
सत्ख्याति	६३८
शब्द प्रत्यक्षज्ञानका जनक नहीं	६५१
अनुमिति	६५२
अनुमानप्रमाण	६५३
केवलव्यतिरेकी हेतुका निराकरण	६५६
परार्थानुमानका निराकरण	६५७

शाब्दज्ञान ६५८
शब्दप्रमाण ६६०
वेदोंका अपौरुषेयत्व और नित्यत्व ६६१
पूर्वमीमांसकमतका निराकरण ६६४
ब्रह्मबोधकवेदवाक्यका प्रामाण्य ६६५
प्राभाकरमीमांसक मत ६६६
वेदान्तमत ६६६
विधि ६७०
मन्त्र ६७१
अर्थवाद ६७१
वेदाङ्ग ६७१
मुख्यवृत्ति ६७२
योग ६७२
रूढि ६७३
योगरूढि ६७३
यौगिकरूढि ६७३
औपचारिक वृत्ति ६७४
लक्षणा ६७४
गौणी ६७४
अपर्यवसान वृत्ति ६७४

अद्रव्यविवेचन(६८६-७००)

लक्षण ६७६
सत्त्व ६८०
रज ६८२
तम ६८३

सांख्यमत	६८४
वेदान्तमत	६८४
शब्द	६८५
स्पर्श	६८६
रूप	६८८
चित्ररूपका निराकरण	६८९
रस	६८९
गन्ध	६९०
संयोग	६९२
अनित्य संयोग	६९२
नित्यसंयोग	६९३
शक्ति	६९४

परिशिष्ट(७०१-७५४)

संकेताक्षरानुक्रमणिका	७०१
प्रमाणानुक्रमणिका	७०७
न्यायानुक्रमणिका	७३९
आचार्यानुक्रमणिका	७३९
सहायकग्रन्थानुक्रमणिका	७४१

विशिष्टाद्वैत वेदान्त
का
विस्तृत विवेचन

मङ्गलाचरण

येनाऽऽवास्यमिदं सर्वं चेतनाऽचेतनात्मकम्।
विशुद्धसद्गुणौघं तं सीताराममुपास्महे ॥१॥
रामदूतं हनूमन्तं गङ्गां नत्वा च सद्गुरुम्।
विशिष्टाद्वैतव्याख्यानं कुर्वे हरिः प्रसीदतु ॥२॥

तत्त्वविवेचन

जिस तत्त्वका अज्ञान होनेके कारण बन्धन हो गया है तथा जिस तत्त्वका ज्ञान होनेपर मुक्त हो जायेंगे, वही हम लोगोंकी प्रमेय अर्थात् अच्छी तरहसे जानने योग्य वस्तु है- **यद् अज्ञानात् संसारः यज्ज्ञानात् तन्निवृत्तिः, तत्प्रमेयम्**(न्या.प.१.१)। ब्रह्मको न जाननेके कारण जीवोंका बन्धन हो गया है तथा इसके ही ज्ञानसे वे मुक्त होते हैं, अतः वह ब्रह्म प्रमेय तत्त्व है। सम्पूर्ण चेतनाऽचेतनरूप विशेषणोंसे युक्त ब्रह्म ही एक तत्त्व है।

एकतत्त्ववाद- आरोपितका अर्थ होता है- कल्पित या अयथार्थ। अनारोपित वस्तु यथार्थ(सत्य) कही जाती है। अनारोपित वस्तुको ही तत्त्व कहा जाता है- **तत्त्वं नाम अनारोपितं वस्तु परमार्थ इति यावत्।** यहाँ पर सिद्धान्त और प्रमेय शब्द तत्त्वके पर्याय हैं। प्रमाका विषय सिद्धान्तभूत सविशेष एक अद्वैत ब्रह्म ही तत्त्व है। जिस प्रकार दण्ड और कुण्डल इन दो विशेषणोंसे विशिष्ट देवदत्त एक ही होता है। उसी प्रकार जीव और प्रकृतिसे विशिष्ट ब्रह्म एक ही है। यहाँ पर एक शब्दका प्रयोग उक्त विशेषणसे विशिष्ट वस्तुके लिए है

अर्थात् त्रिक(तीनका समुदाय=दो विशेषण और एक विशेष्य)के लिए है। चित्, अचित् और ब्रह्म ये तीन तत्त्व हैं। इनमें चित् और अचित् ब्रह्मके विशेषण हैं, ब्रह्म विशेष्य है। ये कभी भी ब्रह्मस्वरूपसे पृथक् नहीं रहते हैं, इसलिए अपृथक्सिद्ध विशेषण कहलाते हैं। ऊपर दृष्टान्तमें कहे गये दण्ड और कुण्डल विशेषण अपने आश्रयसे पृथक् भी रहते हैं, इसलिए वे पृथक्सिद्ध विशेषण कहलाते हैं। चित् और अचिद्रूप दो विशेषणोंसे विशिष्ट ब्रह्म एक ही है, अतः एक तत्त्व है अथवा तीन तत्त्व हैं, इन दोनों कथनोंमें कोई विरोध नहीं है।

प्रमाणके द्वारा द्रव्य प्रधानरूपसे ज्ञात होता है तथा अद्रव्य उसका विशेषण होनेके कारण अप्रधानरूपसे ज्ञात होता है। इस प्रकार प्रधान होनेके कारण द्रव्यको ही तत्त्व कहा जाता है। चिद्, अचिद् और ईश्वरके भेदसे तत्त्व तीन प्रकारका होता है। अपृथक्सिद्धिको अन्तर्भाव कहते हैं- **अपृथक्सिद्धिलक्षणः अन्तर्भावः।** अपृथक्सिद्ध विशेषणकी विशेष्यसे अपृथक्सिद्धि होती है। जीवका धर्मभूतज्ञान जीवका अपृथक्सिद्ध विशेषण है। ईश्वरका धर्मभूतज्ञान ईश्वरका अपृथक्सिद्ध विशेषण है, इसलिए धर्मभूतज्ञानका जीव और ईश्वर दोनोंमें ही अन्तर्भाव हो जाता है। इस प्रकार चिद्, अचिद् और ईश्वर ये तीन तत्त्व कहे जाते हैं। जैसे अप्रधान होनेके कारण विशेषण(धर्मभूत ज्ञान)का अन्तर्भाव करके तत्त्वके तीन विभाग कहे गये हैं, उसी प्रकार चेतन और अचेतन को ब्रह्मका ही प्रकार(विशेषण) बनकर रहनेका स्वभाव श्रुतिसे सिद्ध होनेके कारण अप्रधान होनेसे इन दोनोंका विशेष्यमें अन्तर्भाव करके प्रधान एक ही तत्त्व कहा जाता है और वह सम्पूर्ण चिद् और अचिद् प्रकारवाला ब्रह्म ही है। एक वस्तुकी दूसरेके साथ स्वरूप-एकताका अभाव होनेपर भी एकमें दूसरेके अन्तर्भाव मात्रसे एक शब्दका

प्रयोग देखा जाता है। जैसे-अग्नि और काष्ठकी स्वरूप-एकता न होनेपर भी मन्थनसे पूर्व अग्नि(अनुद्भूत अग्नि)वाले काष्ठमें एक शब्दका प्रयोग होता है। गर्भस्थ प्राणी और गर्भिणीकी स्वरूप-एकता न होनेपर भी गर्भवती प्राणीमें एक शब्दका प्रयोग होता है। अनेक कृमि आदि की उनके आश्रय प्राणी के साथ स्वरूप-एकता न होनेपर भी अनेक कृमि आदिसे युक्त प्राणीमें एक शब्दका प्रयोग होता है, वैसे ही जीव और प्रकृतिकी ब्रह्मके साथ स्वरूप-एकता न होनेपर भी जीव और प्रकृतिका ब्रह्ममें अन्तर्भाव होनेके कारण 'ब्रह्म एक ही है' इस प्रकार ब्रह्ममें एक शब्दका प्रयोग होता है। यह एकत्वका व्यवहार औपचारिक नहीं है, मुख्य ही है। जिस प्रकार प्रधान सङ्ख्येय पदार्थोंकी गणना करने पर उन पदार्थोंमें विद्यमान रूप आदिकी गणना नहीं की जाती है, उस प्रकार प्रधान सङ्ख्येय पदार्थकी गणना करने पर सङ्ख्याकी गणना नहीं की जाती है- **यथा प्रधानसङ्ख्येयसङ्ख्यायां नैव गण्यते। सङ्ख्या पृथक् सती तत्र सङ्ख्येयान्यपदार्थवत्**(सि.त्र.३.२५)। ऐसा होनेपर भी जैसे सङ्ख्याका अपलाप(निषेध) नहीं किया जाता है, वैसे ही एक अद्वैत ब्रह्मका कथन करने पर उसके विशेषणोंका अपलाप नहीं किया जा सकता है। ब्रह्मकी तरह उसके विशेषण चित् और अचित् श्रुतिसे प्रतिपादित हैं। अपनी आत्मा और प्रेरक परमात्माको भिन्न तत्त्व जानकर ईश्वरकी प्रीतिका विषय बना हुआ साधक उस ज्ञानसे मोक्षको प्राप्त करता है- **पृथगात्मानं प्रेरितारं च मत्वा जुष्टस्ततस्तेनामृतत्वमेति**(श्वे.उ.१.६), सर्वज्ञ ईश्वर और अज्ञ, अनीश्वर जीव ये दोनों अजन्मा हैं- **ज्ञाज्ञौद्वावजावीशनीशौ**(श्वे.उ.१.९), समानगुणवाले और साथ रहनेवाले जीव और ईश्वररूप दो पक्षी हैं- **द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया**(ऋ.सं.२.३.१७, अ.सं.९.९.२०, मु.उ.३.१.१, श्वे.उ.४.६),जिस अन्तर्यामी ईश्वरका आत्मा

शरीर है, पृथ्वी शरीर है तथा मूल प्रकृति शरीर है- **यस्य आत्मा शरीरम्**(बृ.उ.मा.पा.३.७.२६), **यस्य पृथिवी शरीरम्**(बृ.उ.३.७.७), **यस्य तमः शरीरम्**(बृ.उ.३.७.१७)। क्षर प्रधान है, अमृत और अक्षर भोक्ता जीव है। क्षर प्रधान और जीवात्मा पर शासन करनेवाला एक देव ईश्वर है- **क्षरं प्रधानं अमृताक्षरं हरः क्षरात्मानावीशते देव एकः**(श्वे.उ.१.१०) इस प्रकार चेतन जीव, अचेतन प्रकृति और ब्रह्मका प्रतिपादन किया जाता है। इनसे विशिष्ट एक ब्रह्म ही अद्वैत तत्त्व है। इस विशिष्ट ब्रह्मका अभेद ही अभेदश्रुतियोंका प्रतिपाद्य है। ब्रह्ममें विद्यमान वैशिष्ट्य ही अभेद या एकत्व है। यह अभेद मुख्यार्थ ही है। विशिष्ट ब्रह्मसे भिन्न कोई भी सजातीय और विजातीय वस्तु नहीं है, अतः सजातीय और विजातीय भेदोंसे रहित ब्रह्म है। आत्मा और प्रकृति अपृथक्सिद्धि सम्बन्धसे ब्रह्ममें विद्यमान है। ब्रह्मके विशेषण आत्मा और प्रकृतिसे भिन्न ब्रह्म है, अतः ब्रह्ममें स्वगत भेद रहता है। निर्विशेषाद्वैत सिद्धान्तमें स्वगत, सजातीय और विजातीय इन तीन भेदोंसे रहित अद्वैत तत्त्वको स्वीकार किया जाता है। **भिद्यते व्यावर्त्यते इति भेदः** इस व्युत्पत्तिके अनुसार तो भेद पदार्थविशेषका वाचक है, अन्योन्याभावका वाचक नहीं है। सिद्धान्तमें सजातीय चेतन, विजातीय अचेतन और स्वगत कल्याणकारक गुणरूप भेदोंसे विशिष्ट ब्रह्म तत्त्व है। वेदान्तसिद्धान्तमें विशेषणभूत चिद्-अचिदात्मक प्रपञ्च और ब्रह्मको सत्य कहा जाता है तथा उन दोनोंके अभेद व्यवहारके योग्य आत्मशरीरभाव(शरीरशरीरीभाव)सम्बन्धसे विशिष्ट ब्रह्मको एक तत्त्व कहा जाता है। आत्मशरीरभाव सम्बन्ध श्रुति-सूत्र सम्मत है। तीनोंका परस्पर स्वरूपभेद होनेपर भी विशिष्टकी एकता की विवक्षासे अभेद व्यवहार होता है और विशिष्ट ब्रह्मसे भिन्न का निषेध किया जाता है।

सर्वात्मा ब्रह्म सभी जनों के अन्दर प्रवेश करके शासन करते हैं- **अन्तः प्रविष्टश्शास्ता जनानां सर्वात्मा**(तै.आ.३.११.३)। श्रुति स्वयं ही **सर्वात्मा** पदका व्याख्यान **अन्तः प्रविष्टः शास्ता जनानाम्** करती है। अतः श्रुतिके अनुसार **अन्तः प्रविश्य नियन्ता** अर्थात् अन्दर प्रवेश करके नियमन करनेवाले को आत्मा स्वीकार करना चाहिए। **सर्वात्मा** इस वचनके अनुसार सम्पूर्ण जगत् परमात्माका शरीर है। शरीरका प्रतिसम्बन्धी आत्मा है। **सदेव सोम्य इदम्**(छां.उ. ६.२.१) इस प्रकार उपक्रम करके **ऐतदात्म्यम् इदं सर्वम्, तत्सत्यम्, स आत्मा तत्त्वमसि श्वेतकेतो**(छां.उ.६.८.७) इस सामानाधिकरण्य वाक्यमें **ऐतदात्म्यम् इदं सर्वम्** कहा गया है। **इदं सर्वम्** इस प्रकार चेतन-अचेतनात्मक जगत्का निर्देश करके **स आत्मा** इस वाक्यसे परमात्माको जगत्की आत्मा कहा जाता है। अतः **ऐतदात्म्यम्** यहाँ पर बहुब्रीहि विवक्षित है। **एषः आत्मा नियन्ता यस्य स एतदात्मा। एतदात्मा एव ऐतदात्म्यम् स्वार्थे ष्यञ्।** यह सम्पूर्ण जगत् ब्रह्मात्मक है। वह ब्रह्मात्मकम् जगत् सत्य है। सत् शब्दका वाच्य परब्रह्म सम्पूर्ण जगत्का आत्मा है। अन्यथा **स आत्मा** यहाँ पर किसकी आत्मा ऐसी आकांक्षा होनेपर पूर्व प्रस्तुत आत्माका ही ग्रहण होगा। **ऐतदात्म्यम् इदम् सर्वम्** इस कथनसे सत् शब्दका वाच्य सभी जगत्का आत्मा सिद्ध होता है। ऐसा होनेपर **स आत्मा** यह कथन प्रकारान्तरसे सत् शब्दके वाच्यके सर्वात्मकत्वको दृढ़ करता है। बृहदारण्यकके अन्तर्यामी ब्राह्मणमें **यस्यात्मा शरीरम्** इत्यादि वाक्योंसे परब्रह्मका **सर्वस्य अन्तः प्रविश्य नियन्तृत्वरूप आत्मत्व** कहा जाता है। वहीं पर इक्कीस(२१) बार कथनसे इस अर्थकी दृढ़ता होती है और ऐसा होनेके कारण यह परब्रह्मका नियन्तृत्वरूप आत्मत्व वेदान्तसिद्धान्तमें सर्वथा अपरिहार्य है।

ईशावास्योपनिषत्में **ईशावास्यम्**(ई.उ.१) इस प्रकार उपक्रम

करके **यस्तु सर्वाणि भूतान्यात्मन्येवानुपश्यति**(ई.उ.६) यहाँ पूर्ववाक्यके अनुसार सभी भूतों(चेतनाचेतनरूप शरीरों) का आधार शरीरी परमात्मा ज्ञात होनेसे चेतनाचेतनरूप जगत् और परब्रह्ममें शरीरशरीरी(आत्मशरीर) भाव सम्बन्ध सिद्ध है। इससे **यस्मिन् सर्वाणि भूतान्यात्मैवाभूद् विजानतः तत्र को मोहः कश्शोकः एकत्वमनुपश्यतः**:(ई.उ.७) इस प्रकार विशिष्ट ब्रह्मकी एकताका बोध होता है।

द्वैतवादी अभेदश्रुतिको औपचारिक स्वीकार करते हैं और निर्विशेषाद्वैतवादी भेदश्रुतिको मिथ्या या औपाधिक अर्थकी बोधक स्वीकार करते हैं। इस प्रकार दोनों ही शास्त्रके एक भागमें आग्रह रखनेवाले हैं और दूसरे भागकी उपेक्षा करते हैं किन्तु विशिष्टाद्वैतवेदान्ती सम्पूर्ण श्रुतियोंको समानरूपसे प्रमाण मानते हैं क्योंकि **सर्वे वेदाः यत्पदमामनन्ति**(क.उ.१.२.१५) तथा **वेदैश्च सर्वैरहमेव वेद्यः**(गी.१५.१५) ऐसे शास्त्र वचन है।

तत्त्वविभाग–उक्त प्रमेय[1] वस्तु विशिष्ट ब्रह्म तत्त्वके अन्तर्गत आने वाले सभी पदार्थ द्रव्य और अद्रव्य भेदसे विभक्त हैं। द्रव्य के दो

टिप्पणी१–प्रमेय शब्दका अर्थ दो प्रकारसे किया जाता है। पहले धातुका उपसर्गसे सम्बन्ध होता है, बादमें कारकसे सम्बन्ध होता है– **पूर्वं धातुः उपसर्गेण युज्यते पश्चात् साधनेन**। इस पक्षके अनुसार प्रमेय शब्दका अर्थ होता है कि **प्रकृष्टं ज्ञानम्** अर्थात् यथार्थज्ञान प्रमा है, उसका विषय प्रमेय है। **प्रकृष्टं ज्ञानं= यथार्थज्ञानं प्रमा, प्रमायाः विषयः प्रमेयम्**। इस प्रकार यथार्थज्ञानके विषय सभी पदार्थ प्रमेय कहे जाते हैं। प्रमेयको ही तत्त्व कहा जाता है। प्रमेयत्व सभी पदार्थोंमें रहनेवाला साधारण धर्म है। कल्पित(आरोपित) वस्तुका ज्ञान प्रमा नहीं है। अतः उस ज्ञानकी विषय कल्पित वस्तु प्रमेय नहीं है। पहले धातुका कारकसे सम्बन्ध होता है, बादमें उपसर्गसे– **पूर्वं धातुः साधनेन युज्यते पश्चाद् उपसर्गेण**। इस पक्षके अनुसार प्रमेय शब्दका अर्थ है कि ज्ञानका विषय मेय है, जो अच्छी प्रकारसे जानने योग्य है, वह प्रमेय है– प्रकर्षेण मेयं प्रमेयम्। यह

भेद होते हैं- जड़ और अजड़। जड़ के दो भेद हैं- प्रकृति और काल। अजड़केदो भेद हैं- प्रत्यक् और पराक्। प्रत्यक् के दो भेद होते हैं- जीव और ब्रह्म। जीव के तीन भेद होते हैं- बद्ध, मुक्त और नित्य। पराक् के दो भेद होते हैं- नित्यविभूति और धर्मभूतज्ञान। अद्रव्य के दश भेद होते है- सत्त्व, रज, तम, शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध, संयोग और शक्ति।
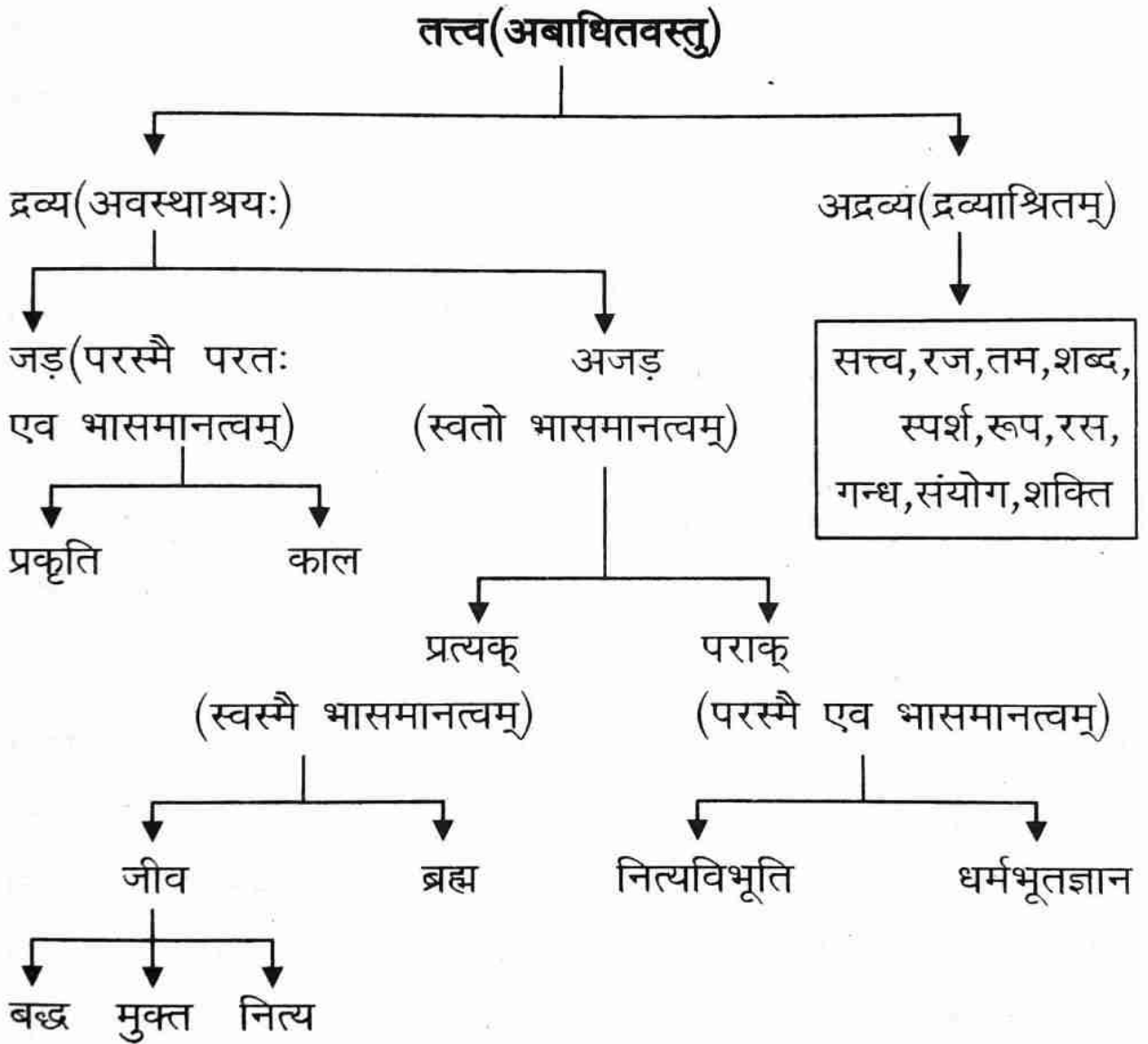
प्रमेयत्व विशेष धर्म है। क्योंकि सभी पदार्थ यथार्थ ज्ञानके विषयरूप प्रमेय होनेपर भी अच्छी तरहसे जानने योग्य नहीं होते हैं। कल्याणकारक पदार्थ ही अच्छी तरहसे जानने योग्य होते हैं। उक्त दोनों प्रकारका प्रमेयत्व ब्रह्ममें संभव होता है।

द्रव्य– उपादानको द्रव्य कहते हैं– **उपादानं द्रव्यम्।** अवस्थाके आश्रयको उपादान कहते हैं– **अवस्थाश्रय उपादानम्**(न्या.सि.) जो धर्म आगन्तुक और अपृथक्सिद्ध होता है, वह अवस्था कहा जाता है। **आगन्तुकोऽपृथक्सिद्धधर्मोऽवस्था**(श्रौ.प्र.च.) काल विशेषमें होनेवाली वस्तु आगन्तुक कहलाती है। पृथक् न रह सकना अपृथक्सिद्धि है– **अविभक्ततया स्थितिः अपृथक्सिद्धिः।** पृथक् न रह सकनेवाली वस्तु अपृथक्सिद्ध कहलाती है, जैसे-मिट्टी कभी चूर्ण होती है, कभी पिण्ड होती है, कभी घट होती है, कभी कपाल होती है। मिट्टी कारण है। चूर्ण, पिण्ड, घट और कपाल कार्य हैं। चूर्णत्व, पिण्डत्व और घटत्व धर्म मिट्टी से पृथक् न रहनेके कारण उसके अपृथक्सिद्ध धर्म हैं। चूर्णत्व, पिण्डत्व और घटत्व हमेशा नहीं होते हैं प्रत्युत किसी कालमें होते हैं, इसलिए ये आगन्तुक कहे जाते हैं। इस प्रकार आगन्तुक और अपृथक्सिद्ध धर्म होनेके कारण चूर्णत्व, पिण्डत्व और घटत्व को अवस्था कहा जाता है। इनका आश्रय मिट्टी है। अवस्थाका आश्रय होनेसे मिट्टी उपादान है, उपादान होनेसे द्रव्य है। विशिष्टाद्वैत सिद्धान्तमें सत्कार्यवाद स्वीकृत है।

सत्कार्यवाद– द्रव्य नित्य है। वे विभिन्न कारणसामग्रीके अनुसार विभिन्न अवस्थाओंको प्राप्त होते रहते हैं। उनमें कई अवस्थाएं ऐसी हैं, जिनसे वह द्रव्य विभिन्न नामोंको प्राप्त करता है। इन अवस्थाओंको 'नामान्तर भजनार्हावस्था' कहते हैं। कई अवस्थाएं ऐसी हैं, जिनसे द्रव्य नामान्तरको प्राप्त नहीं करता। उदाहरण– मृत्तिका द्रव्य पिण्डत्वावस्थाको छोड़कर दूसरी घटत्वावस्था को जब प्राप्त हो जाता है, तब वह मृत्तिकाद्रव्य घट नामसे व्यवहृत होता है। मृत्तिका द्रव्य सदा बना रहता है, उसमें कभी पिण्डत्व, कभी घटत्व और कभी कपालत्व इत्यादि अवस्थाएं होती रहती हैं। मृत्तिकाद्रव्य स्थायी होनेपर भी 'घट उत्पन्न होता है', 'घट नष्ट होता है' ऐसे

व्यवहार जगतमें होते हैं। इस व्यवहार का तात्पर्य क्या है? घट मृत्तिकाद्रव्य ही है, मृत्तिकाद्रव्य पहले से है। ऐसी स्थितिमें "घट उत्पन्न होता है" यह व्यवहार कैसे संभव होता है? इसका उत्तर यही है कि जब मृत्तिकाद्रव्य प्रथम क्षणसे सम्बन्ध रखनेवाली घटत्वावस्थाको अपना लेता है, तब "घट उत्पन्न होता है" ऐसा व्यवहार होता है। यद्यपि मृत्तिका द्रव्यमें घटत्वावस्था बहुत समय तक रहती है तथापि प्रथमक्षणमें मृत्तिकासे सम्बन्ध रखनेवाली घटत्वावस्था ही घटकी उत्पत्ति मानी जाती है। इस घटत्वावस्था से विरोध रखनेवाली कपालत्व और चूर्णत्व अवस्थाएं जो मृत्तिका द्रव्यमें होती हैं, वे घटका नाश कहलाती हैं। पूर्व अवस्थामें रहनेवाले द्रव्यका नाश विरोधी उत्तरावस्था है तथा विरोधी पूर्वावस्था उत्तरावस्थावाले द्रव्यका प्रागभाव है। द्रव्य स्वरूपतः नित्य है। द्रव्यस्वरूप कभी उत्पन्न नहीं होता, कभी नष्ट नहीं होता, वह सदा बना रहता है। वह नामान्तरभजनार्ह विविध अवस्थाओंको प्राप्त होता है, जिससे दूसरा नाम पड़ता है। प्रथमक्षणसे सम्बद्ध उस अवस्थाविशेषको प्राप्त होनेपर वह द्रव्य ऐसा व्यवहृत होता है कि अमुक पदार्थ उत्पन्न हुआ तथा उस पूर्वावस्था से विरोध रखनेवााली उत्तरावस्था को प्राप्त होनेपर वह द्रव्य ऐसा व्यवहृत होता है कि अमुक पदार्थ नष्ट हो गया। द्रव्य नित्य है, अवस्थाएं अनित्य हैं। उन अवस्थाओंकी उत्पत्ति और नाश होनेसे द्रव्यकी उत्पत्ति और नाश कहे जाते हैं। द्रव्य सदा रहनेसे सत्कार्यवाद सिद्ध होता है और आगन्तुक अवस्थाओंको लेकर कारणव्यापार सार्थक होते हैं, यही सत्कार्यवाद है।

सत्कार्यवादके अनुसार कारण ही अवस्थान्तरके योगसे कार्य कहा जाता है। मिट्टी कारण है। जब वह घटत्वावस्थाको प्राप्त होती है, तब उसे कार्य कहा जाता है। पूर्वावस्थासे विशिष्ट द्रव्य

कारण(उपादानकारण) होता है, अव्यवहितोत्तरावस्थासे विशिष्ट वही द्रव्य कार्य कहा जाता है। अतः पिण्डत्वावस्थासे विशिष्ट(पिण्डरूप) मिट्टी कारण है, घटत्वावस्थासे विशिष्ट(घटरूप) मिट्टी कार्य है। पिण्डत्व अवस्थाका आश्रय मिट्टी उपादान है, उपादान होनेके कारण द्रव्य है। इससे जन्य होनेसे घट कार्य है। पिण्डत्व अवस्थासे पूर्व मिट्टीकी चूर्णत्वावस्था होती है। इस अवस्थासे विशिष्ट मिट्टीको चूर्ण कहा जाता है। चूर्णत्व अवस्थावाली मिट्टी पिण्डका उपादान है। जब घटध्वंस होनेपर कपाल शेष रहता है, तब घटत्व अवस्थावाली मिट्टी कपालका उपादान होती है। इस प्रकार वेदान्त सिद्धान्तमें उपादान(कारण) और उपादेय(कार्य)की एकता सिद्ध होती है।

सत्कार्यवाद सिद्धान्तके अनुसार असत् कार्यकी उत्पत्ति नहीं होती है। कार्य सत् होता हैं, सत्का अर्थ विद्यमान होता है। कार्य उत्पत्तिके पूर्व कारणरूपसे विद्यमान रहता है। कार्यका विनाश भी नहीं होता है। अतः कारण द्रव्यको व्यवहारविशेषकी हेतु उत्तरावस्थाकी प्राप्ति ही कार्यकी उत्पत्ति कही जाती है एवं पूर्वावस्थाका अभाव ही कार्यका नाश कहा जाता है। मिट्टीको प्रथमक्षणसे सम्बन्ध रखनेवाली घटत्व अवस्थाकी प्राप्ति ही घट की उत्पत्ति है एवं घटत्व अवस्थाका न रहना ही घट का नाश है। इस प्रकार पूर्वमें पिण्डत्वावस्था का न रहना ही पिण्डका नाश है। पूर्वमें जो पिण्डत्वावस्थावाली मिट्टी है, वही घटत्वावस्था को प्राप्तकर घटरूपमें होती है, इस प्रकार मिट्टी कारण और घट कार्यका अभेद है।

वेदान्तसिद्धान्तके अनुसार ब्रह्म सभीका आश्रय है। सभी उसमें अपृथक्सिद्धि सम्बन्धसे स्थित हैं, अतः वे सभी उसके अपृथक्सिद्ध विशेषण हैं। मिट्टी और घट भी ब्रह्मके विशेषण हैं।

ब्रह्म विशेष्य है। विशेषणवाचक शब्द विशेष्यपर्यन्त अर्थका बोध कराते हैं। जैसे गोत्व विशेषणका वाचक गोशब्द गोत्वविशिष्ट गो(गोत्व विशेषणके सहित विशेष्य गोपदार्थ)का बोध कराता है, वैसे ही ब्रह्मके विशेषण मिट्टी और घटके वाचक मिट्टी और घट शब्द क्रमशः मृत्शरीरक(मिट्टीसे विशिष्ट) ब्रह्म और घटशरीरक(घटसे विशिष्ट) ब्रह्मके बोधक हैं। मिट्टी कारण है अर्थात् मृत्शरीरक ब्रह्म कारण है। घट कार्य है अर्थात् घटशरीरक ब्रह्म कार्य है। इस प्रकार अन्यत्र भी कार्य और कारण सब ब्रह्म ही है, ऐसा जानना चाहिए।

नामरूपविभागके अभाववाला(सूक्ष्मचिदचिद् विशिष्ट) ब्रह्म कारण है, नामरूपविभागवाला(स्थूलचिदचिद् विशिष्ट) ब्रह्म कार्य है। सूक्ष्मावस्थावाला पदार्थ कारण होता है, स्थूलावस्थावाला कार्य होता है। ब्रह्म सदैव एक जैसा ही रहता है। सूक्ष्मत्व और स्थूलत्व अवस्थाएं विशेषणों की हैं, विशेषणों के द्वारा ये विशेष्य की अवस्थाएं कही जाती हैं और ये अवस्थाएं विशेषणोंके द्वारा ब्रह्ममें विद्यमान होती हैं, इसलिए विशिष्ट ब्रह्म उपादान है, उपादान होनेसे द्रव्य है।

मूर्तपदार्थका संयोग आगन्तुक होता है। ब्रह्म विभु है, इसलिए वह संयोग ब्रह्मसे अपृथक्सिद्ध है, अतः आगन्तुक और अपृथक्सिद्ध धर्म होनेके कारण वह संयोग अवस्था है। इसका आश्रय होनेसे ब्रह्मस्वरूप उपादान है, उपादान होनेसे द्रव्य है। श्रीभगवान् का धर्मभूतज्ञान संकल्पत्व आदि अवस्थाओंका आश्रय होनेसे द्रव्य है। श्रीभगवान् सर्वज्ञ हैं, उनका धर्मभूत ज्ञान सभीके आकारका है, श्रीभगवान् विभु हैं, उनका ज्ञानगुण भी विभु हैं। इसका कभी भी संकोच नहीं होता है। यह सर्वदा प्रसरित ही रहता है। जिस प्रकार जलसे आप्लावित खेतमें नूतन पैाधे उत्पन्न होनेपर जल उनके भी आकार का हो जाता है, उसी प्रकार घटादि पदार्थोंके

उत्पन्न होनेपर विभु ज्ञान उनके भी आकारका हो जाता है। व्यापक ज्ञानस्वरूपमें भेद न होनेपर भी उसके अवान्तर(मध्यवर्ती) अवस्थारूप आकार होते ही हैं। इनका आश्रय होनेसे ईश्वरका धर्मभूतज्ञान द्रव्य कहा जाता है। प्रकृतिका स्वरूपतः परिणाम होनेके कारण वह महत्त्व आदि अनेक अवस्थाओंको धारण करती हैं। इन अवस्थाओंका आश्रय होनेसे प्रकृति द्रव्य है। जीवके धर्मभूतज्ञानका संकोच, विकास होता है। अतः संकोच और विकासरूप अवस्थाओंका आश्रय होने से धर्मभूतज्ञान द्रव्य है। सुखत्व आदि अवस्थाओंका आश्रय होनेसे भी वह द्रव्य है। सुखत्व आदि ज्ञानके द्वारा जीवात्माकी अवस्थाएं हैं, इसलिए जीवात्मा भी द्रव्य है। बाल्य, यौवन आदि शरीरके द्वारा जीव की अवस्थाएं हैं, इसलिए भी जीव द्रव्य है। शरीरके अन्दर प्राणवायुका संयोग है। यह आगन्तुक है। यद्यपि प्राणवायुसंयोग(प्राणन क्रिया)को करनेवाला परमात्मा है, फिर भी शरीरमें जीवकी विद्यमानताके विना प्राणसंयोगके न होनेसे प्राणसंयोग जीवका अपृथक्सिद्ध धर्म है। अतः प्राणसंयोगरूप अवस्थाका आश्रय होनेसे जीव द्रव्य है। कालका क्षण और दिवस आदि रूपमें परिणाम होनेके कारण उसकी क्षणत्व ओर दिवसत्व आदि अवस्थाओंको लेकर कालमें द्रव्यके लक्षणका समन्वय होता है। शुद्धसत्त्वमय नित्यविभूति श्रीभगवान् के संकल्पसे विग्रह, गोपुर, विमान ओर मण्डप आदिरूपसे परिणामको प्राप्त होनेके कारण द्रव्य है।

प्रकृति, काल, शुद्धसत्त्व(नित्यविभूति), धर्मभूतज्ञान, जीव तथा ईश्वरके भेदसे द्रव्य छः प्रकारका होता है। प्रकति और काल जड़ हैं।

जड़–

१.स्वयंप्रकाश न होना जड़का लक्षण है– **अस्वयंप्रकाशत्वं जडस्य लक्षणम्।** घटादि जड़ पदार्थ स्वयंप्रकाश(ज्ञात) नहीं होते हैं, इसलिए जड़ हैं।

२.दूसरेके द्वारा ही प्रकाशित होना जड़का लक्षण है– **परत एव भासमानत्वं जडस्य लक्षणम्।** घटादि ज्ञानके द्वारा ही प्रकाशित(ज्ञात) होते हैं इसलिए जड़ हैं।

३.अपनेको विषय करनेवाले ज्ञानके द्वारा ही प्रकाशमान होना जड़का लक्षण है– **स्वगोचरज्ञानतः एव प्रकाशमानत्वं जडस्य लक्षणम्।** घटादि जड़ पदार्थ स्वयंप्रकाशित(ज्ञात) नहीं होते हैं। ये अपनेको विषय करनेवाले ज्ञानके द्वारा ही प्रकाशित होते हैं, इसलिए जड़ है।

४.ज्ञानसे भिन्न होना जड़का लक्षण है– **ज्ञानव्यतिरिक्तत्वं जडत्वम्।** शुद्धसत्त्व, धर्मभूतज्ञान, जीव और ईश्वर ये चारों ज्ञान पदार्थ हैं। इनसे भिन्न प्रकृति और काल जड़ पदार्थ हैं। सदा परसे प्रकाशित होकर रहनेका स्वभाव जड़का लक्षण है– **दृश्यैकस्वरूपत्वं जडत्वम्।** प्रकृति और काल सदा पर अर्थात् ज्ञानसे प्रकाशित होकर रहनेके स्वभाव वाले है, इसलिए जड़ हैं।

अजड़– जड़से भिन्न वस्तु अजड़ होती है। शुद्ध सत्त्व आदि चार द्रव्य अजड़ हैं।

१.शुद्धसत्त्व, धर्मभूतज्ञान, जीव और ईश्वर इनका साधारण लक्षण अजड़त्व है– **शुद्धसत्त्वधर्मभूतज्ञानजीवेश्वरसाधारणलक्षणम् अजडत्वम्।**

२.स्वयंप्रकाशत्व अजड़का लक्षण है– **अजडत्वं नाम स्वयंप्रकाशत्वम्।**

३.अन्य ज्ञानकी अपेक्षा न करके प्रकाशित(ज्ञात) होना स्वयंप्रकाशका लक्षण है– **ज्ञानान्तरानपेक्षप्रकाशवत्त्वं स्वयंप्रकाशत्वम्।** घटादि

जड़पदार्थ स्वयंप्रकाशित नहीं होते हैं। वे अपने प्रकाशके लिए अपनेसे भिन्न ज्ञानकी अपेक्षा करते हैं, अतः वे परप्रकाश हैं, जड़ हैं। शुद्धसत्त्व आदि चारों अपने प्रकाशके लिए अपनेसे अन्य ज्ञानकी अपेक्षा नहीं करते हैं। ये अपने से अन्य ज्ञानकी अपेक्षा न करके प्रकाशित होनेके कारण स्वयंप्रकाश कहे जाते हैं।

४.शुद्धसत्त्व और धर्मभूतज्ञानका सामान्यलक्षण पराक्त्वविशिष्ट अजड़त्व है- **शुद्धसत्त्वधर्मभूतज्ञानसाधारणलक्षणं पराक्त्वे सति अजडत्वम्।** यहाँ पराक्त्वका अर्थ परके लिए ही प्रकाशित होना है-**परस्मै एव भासमानत्वं पराक्त्वम्** । अजड़त्वका अर्थ स्वयंप्रकाशत्व है, अतः शुद्धसत्त्व और धर्मभूतज्ञानका सामान्यलक्षण **स्वयं प्रकाशत्वे सति परस्मै एव भासमानत्वम्** निष्पन्न होता है। ये दोनों स्वयंप्रकाश हैं। इनमेंसे शुद्धसत्त्व पर अर्थात् ब्रह्म, नित्य और मुक्तोंके लिए प्रकाशित होता है, एवं धर्मभूतज्ञान स्वाश्रयभूतजीव और ईश्वरके लिए प्रकाशित होता है।
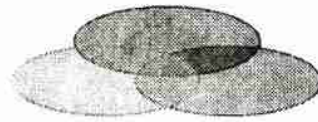
जड़द्रव्यविवेचन

प्रकृति

लक्षण– ईश्वर जिससे विकारों(कार्यों)को उत्पन्न करता है, वह प्रकृति है- **प्रकरोति विकारान् उत्पादयति यस्या इति प्रकृतिः।** प्रकृतिके स्वामी अव्यक्तरूप प्रकृति(माया)से इस विश्वकी रचना करते हैं- **अस्मान् मायी सृजते विश्वमेतत्** (श्वे.उ.४.९), सत्त्व, रज, तम इन तीनों गुणोंकी आश्रय प्रकृति है- **दैवी ह्येषा गुणमयी**(गी.७.१४), **अजामेकाम् लोहितशुक्लकृष्णाम्**(तै.ना.उ.७०), **सिताऽसिता च रक्ता च**(मं.उ.५) यह नित्य है- सदारहनेवाली है। बद्ध जीवोंका जो ज्ञानानन्दस्वरूप है, उसका तिरोधान(आवरण) करनेवाली है। देहात्मबुद्धि(जो आत्मा नहीं है, उस देहादिको आत्मा समझना) विपरीत ज्ञान है, ऐसे विपरीज्ञान(भ्रम)को उत्पन्न करनेवाली है। विकारोंकी जनिका होनेके कारण प्रकृति कही जाती है, श्रीभगवान्की लीलाका प्रधान साधन होनेसे प्रधान कही जाती है, देह-इन्द्रियादिरूपसे परिणत होकर विद्या(आत्मज्ञान)का विरोधी(प्रतिबन्धक) होनेके कारण अविद्या कही जाती है, विचित्र सृष्टि करनेवाली होनेसे और अनात्म पदार्थोंमें भोग्यत्वबुद्धि(भोग्यत्वभ्रम)को उत्पन्न करके मोहजनक होनेसे माया कही जाती है, सदा विद्यमान रहनेसे अक्षर कही जाती है, रजस् और तमस्से मिश्रित होनेके कारण मिश्र सत्त्व कही जाती है, चित्(चेतन)से भिन्न होने के कारण अचित् कही जाती है। गुणोंकी साम्यावस्था रहते इसकी अविभक्ततम, विभक्ततम, अक्षर और अव्यक्त ये स्वल्प अन्तरवाली चार अवस्थाएं होती हैं।

जिस अवस्थामें मूलप्रकृति सर्वथा नामरूपविभागके अयोग्य होकर जलमें विलीन लवणकी तरह ब्रह्मसे अविभक्त रहती है, उस

अवस्थावाली वह प्रकृति अविभक्ततम कहलाती है। वह नामरूपविभागकी योग्यताके लिए अक्षर आदि अवस्थाओंको प्राप्त करती है। उन अवस्थाओंकी प्राप्तिके लिए उन्मुख प्रकृति विभक्ततम कही जाती है। इस प्रकार अक्षर अवस्थासे पूर्वमें विद्यमान तमके दो भेद होते हैं- १.अविभक्ततम, २.विभक्ततम।

तम अवस्थामें 'यह अचित् है, यह चेतनसमष्टि है,' ऐसा विवेचन नहीं हो सकता है। अवस्थान्तरकी प्राप्ति होनेपर ऐसे विवेचनके योग्य चेतनसमष्टिसे संयुक्त प्रकृति अक्षरशब्दका वाच्य होती है। इस समय गुणोंके साम्यका भी विवेचन नहीं हो सकता है। इसके अनन्तर प्रकृति कुछ और अवस्थान्तरको प्राप्त होकर गुणोंकी साम्यावस्था वाली होती है। इस अवस्थावाली प्रकृति अव्यक्त कहलाती है। साम्यावस्थाके पश्चात् प्रकृतिके गुणोंमें वैषम्य होता है। गुणोंका वैषम्य होनेपर प्रकृति सृष्टिकार्य करनेके लिये उन्मुख होती है। ऐसी कार्योन्मुख अवस्थावाली प्रकृति भी अव्यक्त कही जाती है। अविभक्ततम भूतलमें स्थित बीजके समान है। विभक्ततम मृतिका से निकले हुए बीज के समान है। अक्षर जलसे आर्द्र और शिथिलावयववाले बीजके समान है। अव्यक्त फूले हुए बीजके समान है। महत्तत्त्व अंकुरके समान है।

जिस विकारके नाम और रूपका विभाग न हो, वह सूक्ष्म विकार समविकार कहा जाता है। जिस विकारके नाम और रूपका विभाग हो, वह स्थूल विकार विषमविकार कहा जाता है। महद् आदि सभी विषमविकार हैं। प्रलयकालमें समविकार ही होते हैं, अन्य समयमें प्रदेश भेदसे सम और विषम दोनों प्रकारके विकार होते हैं। जिस प्रकार महासमुद्रमें प्रचलित और अप्रचलित दोनों प्रदेश होते हैं, उसी प्रकार सृष्टिकालमें प्रकृतिमें विकाररहित (विषमविकार रहित) और विकारसहित दोनों प्रदेश होते हैं। जिस

प्रकार प्रलयकालमें महद् आदि विकारोंसे रहित प्रकृति होती है, उसी प्रकार सृष्टिकालमें महद् आदि विकारोंसे रहित भी प्रकृति(प्रकृतिका भाग) होती है। त्रिगुणद्रव्य प्रकृतिके जिन भागोंमें तीनों गुण सम हैं, उन भागोंसे समविकार उत्पन्न होते हैं और जिन भागोंमें तीनों गुण सम नहीं है, उन भागों से विषमविकार उत्पन्न होते हैं। प्रलयकालमें प्रकृति परब्रह्मसे अविभक्तरूपमें स्थित रहती है,अतः उस समय प्रकृतिमें गुणवैषम्य नहीं होता है। इस कारण उस कालमें विषम विकार नहीं होते हैं। सृष्टिकालमें प्रकृति भगवत्संकल्पके द्वारा विभक्त होकर जब कार्योन्मुख होती है, तब इसमें गुणवैषम्य होता है। ऐसा होनेपर इससे महद् आदि विषमविकार उत्पन्न होते हैं। सत्त्वादि तीनों गुण प्रलयकालमें अत्यन्त सामयावस्थामें पहुँच जाते हैं, सृष्टि और स्थितिकालमें अत्यन्त वैषम्यावस्थामें हो जाते हैं।

ईश्वरने संकल्प किया कि मैं बहुत हो जाऊँ- **तद् ऐक्षत बहु स्याम्**(छां.उ.६.२.३) इस प्रकार किये गये श्रीभगवान् के संकल्पसे प्रकृति कार्योन्मुख होती है। वह अविभक्ततम प्रकृति क्रमशः विभक्ततम, अक्षर एवं अव्यक्तरूपवाली होती हैं और प्रकृतिके गुणोंमें वैषम्य होता है। गुणोंका वैषम्य होनेपर प्रकृति सृष्टिकार्य करनेके लिए उन्मुख होती है, ऐसी कार्योन्मुख अवस्थावाली अव्यक्तसंज्ञक प्रकृतिसे महान्(महत्तत्त्व) उत्पन्न होता है। कार्यकी अपने उपादानसे उत्पत्ति होती है एवं उपादानमें ही उसका लय होता है। महत्का अव्यक्तमें लय होता है- **महान् अव्यक्ते लीयते**(सु. उ.२) ऐसी श्रुति होनेसे इसकी उत्पत्ति भी अव्यक्तसे ज्ञात होती है।

महत्- अव्यक्त-अवस्थासे अव्यवहितोत्तर-अवस्थावाला तथा अहंकारसे अव्यवहित पूर्वावस्थावाला त्रिगुणात्मक द्रव्य महान्(महत् या महत्तत्त्व) कहा जाता है- **अव्यक्तावस्थाऽव्यवहितो-त्तरावस्थाविशिष्टम् अहंकारावस्थाऽव्यवहितपूर्वावस्थाविशिष्टं त्रिगुणं**

महान्। यह प्रकृतिके सभी कार्योंमें बृहत् होनेके कारण महत् पदसे अभिहित होता है। यह अध्यवसाय(निश्चयात्मक बुद्धि)का सहकारी कारण है, इसलिए इसको बुद्धि कहा जाता है। महत् के सात्त्विक, राजस और तामस भेद होते हैं। जिसमें सत्त्वगुणकी अधिकता एवं अन्य दो गुणोंकी न्यूतनता होती है, वह सात्त्विक कहलाता है। जिसमें रजोगुणकी अधिकता एवं अन्य दो गुणोंकी न्यूतनता होती है, वह राजस कहलाता है। जिसमें तमोगुणकी अधिकता एवं अन्य दो गुणोंकी न्यूनता होती है, वह तामस कहा जाता है। महत्तत्त्वसे अहंकारकी उत्पत्ति होती है।

अहंकार- महत्तत्त्व से अव्यवहितोत्तर अवस्थावाला त्रिगुणात्मक द्रव्य अहंकार कहलाता है- **महदव्यवहितोत्तरावस्थाविशिष्टं द्रव्यम् अहंकारः।** यह अनात्म देहमें अहंभाव(अहंबुद्धि)का हेतु होनेके कारण अहंकार कहा जाता है। महत्तत्त्वके समान अहंकारके भी तीन भेद हैं-१.सात्त्विक(वैकारिक),२.राजस(तैजस),३.तामस(भूतादि)।

अहंकार शब्दकी व्युत्पत्ति-

१) अहंपूर्वक कृञ् धातुसे भाव में घञ् प्रत्यय करने पर जो अहंकार शब्द सिद्ध होता है, वह अहंबुद्धिका बोधक है। इस व्युत्पत्तिके अनुसार अहम् अर्थ आत्माको विषय करनेवाली बुद्धि(अहंबुद्धि) अहंकार कहलाती है।

२) अहंपूर्वक कृञ् धातुसे कर्मकारकमें घञ् प्रत्यय करने पर जो अहंकार शब्द सिद्ध होता है, वह अहंबुद्धिके विषय आत्माका बोधक है। उक्त दोनों अर्थोंमें किसी एक अर्थको लेकर **अथातोऽहंकारादेशः**(छां.उ.७.२५.१) इस छान्दोग्य वचनमें अहंकार शब्द प्रयुक्त हुआ है।

३) अहं शब्दसे च्वि प्रत्यय एवं कृञ् धातुसे करणकारकमें घञ् प्रत्यय करने पर निष्पन्न होनेवाला अहंकार शब्द उस प्राकृत तत्त्वविशेषका वाचक है, जिससे अहमर्थ आत्मासे भिन्न शरीर इत्यादिमें अहंबुद्धि होती है। यह प्राकृत तत्त्व अहंकार ही महत्से जन्य कहा गया है। यह मोक्ष अथवा प्रलयपर्यन्त जीवसे संयुक्त रहता है। **महाभूतान्यहंकारः..**(गी.१३.५) इस प्रकार इस अहंकारका क्षेत्रमें अन्तर्भाव बताया गया है।

४) अहंशब्दसे च्वि प्रत्यय एवं कृञ् धातुसे भावार्थमें घञ् प्रत्यय करने पर निष्पन्न होनेवाला अहंकार शब्द अहमर्थभिन्न देहादिके विषयमें होनेवाली अहंबुद्धि अर्थात् देहात्मभ्रमका वाचक है। अपनेसे श्रेष्ठ लोगोंको भी अपमानित करनेका कारण गर्व होता है। यह देहात्मबुद्धि(देहात्मभ्रम)से जन्य होता है। यह अहंकार शब्द लक्षणासे गर्वका प्रतिपादन करता है। देहात्मबुद्धिके वाचक अहंकारका **निर्ममो निरहंकारः**(गी.२.७१) इस गीतावचनमें प्रयोग है तथा गर्व अर्थवाले अहंकारका **अहंकारं बलं दर्पम्**(गी.१६.१८) इस गीतावचनमें प्रयोग है।

अहंकार(देहात्मबुद्धि)का बोधक 'अहम्' शब्द मान्त अव्युत्पन्न विभक्तिप्रतिरूपक अव्यय है। आत्मा अर्थका बोधक 'अहम्' शब्द दान्त अस्मद् शब्दसे प्रथमा-एकवचनमें निष्पन्न होता है। इनकी व्युत्पत्ति **अहंशुभयोर्युस**(अ.सू.५.२.१४०) सूत्र पर काशिकावृत्तिकी न्यास एवं पदमञ्जरी व्याख्यामें द्रष्टव्य है।

शांकरदर्शनमें महत् और अहंकारको तत्त्वान्तर नहीं माना जाता है। उस मतमें अन्तःकरणकी निश्चयात्मिका वृत्ति महत् एवं अभिमानात्मिका वृत्ति ही अहंकार है। वस्तुतः ये दोनों अन्तःकरणकी वृत्तिमात्र नहीं हैं, ये दोनों तत्त्वान्तर हैं। यह निम्नवचनोंसे स्पष्ट है-

१) तन्मात्राएं अहंकारमें लीन होती हैं, अहंकार महत्में लीन होता है, महत् अव्यक्तमें लीन होता है- **तन्मात्राणि भूतादौ लीयन्ते। भूतादिर्महति लीयते। महानव्यक्ते लीयते।**(सु.उ.२)

२) आठ प्रकृति(अव्यक्त, महत्, अहंकार और पञ्च सूक्ष्मभूत) एवं सोलह विकार शरीरमें हैं-**अष्टौ प्रकृतयः षोडशविकाराः शरीरे**(ग.उ.३)

३) श्रीकृष्णने भूमि आदिकी तरह महत् और अहंकारको तत्त्वान्तर कहा है-पृथ्वी, जल, तेज, वायु, आकाश, मन, बुद्धि और अहंकार इस प्रकार मेरी प्रकृति आठ भेदोंवाली है- **भूमिरापोऽनलो वायुः खं मनो बुद्धिरेव च। अहंकार इतीयं में भिन्ना प्रकृतिरष्टधा।।**(गी.७.४)

राजसाहंकार-सहकृत सात्त्विक अंहकारसे एकादश इन्द्रियाँ उत्पन्न होती हैं।

एकादश इन्द्रियाँ- सात्त्विक अंहकार जिसका उपादान कारण होता है, वह द्रव्य प्राकृत इन्द्रिय कहा जाता है- **सात्त्विकाहंकारोपादानकं द्रव्यम् इन्द्रियम्**। इनकी उत्पत्तिमें राजस अंहकार सहकारी कारण है।

इन्द्रियोंके दो भेद हैं- क.ज्ञानेन्द्रिय, ख.कर्मेन्द्रिय।

क.ज्ञानेन्द्रिय- ज्ञानके प्रसारकी सामर्थ्यवाली इन्द्रिय ज्ञानेन्द्रिय है- **ज्ञानप्रसरणशक्तम् इन्द्रियं ज्ञानेन्द्रियम्**। इसके दो भेद हैं- बाह्येन्द्रिय और अन्तर् इन्द्रिय। श्रोत्र, चक्षु, त्वक्, रसना और घ्राण ये पाँच बाह्येन्द्रियाँ हैं। मन अन्तर् इन्द्रिय है।

१.श्रोत्र- शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध इन पाँचों विषयोंमें शब्दमात्रका प्रत्यक्ष ज्ञान करानेमें जो इन्द्रिय समर्थ होती है, वह श्रोत्र कहलाती है-**शब्दादिपञ्चके शब्दमात्रग्रहणशक्तम् इन्द्रियं श्रोत्रम्।** यह मनुष्यादिके कर्णविवरमें रहती है, सर्पके नेत्रगोलकमें

रहती है, इसलिए वह नेत्रसे सुनता भी है, अतः उसका एक नाम चक्षुःश्रवा भी है।

२.त्वक्- शब्दादि पाँच गुणोंमें स्पर्शमात्रका प्रत्यक्षज्ञान करानेमें समर्थ इन्द्रिय त्वग् इन्द्रिय कहलाती है- **शब्दादिपञ्चके स्पर्शमात्रग्रहणशक्तम् इन्द्रियं त्वगिन्द्रियम्।** यह सम्पूर्ण शरीरमें रहती है। चक्षु इन्द्रियके समीपवर्ती स्थानमें रजकणका भी स्पर्श होता है किन्तु पादतलमें नहीं। इस वैषम्यका हेतु प्राणकी व्याप्तिका तारतम्य है अर्थात् जहाँ प्राणसंचार अधिक होता है, वहाँ छोटी वस्तुके भी स्पर्शका स्पष्ट ज्ञान होता है एवं जहाँ प्राणसंचार अल्प होता है। वहाँ छोटी वस्तुके स्पर्शका ज्ञान नहीं होता है।

३.चक्षु- शब्दादि पाँच विषयोंमें रूपमात्रका प्रत्यक्षज्ञान करानेमें समर्थ इन्द्रिय चक्षु कहलाती है- **शब्दादिपञ्चके रूपमात्रग्रहणशक्तम् इन्द्रियं चक्षुः।** यह प्राणियोंके नेत्र गोलकमें रहती है।

४.रसना- शब्दादि पाँच विषयोंमें रसमात्रका प्रत्यक्षज्ञान करानेमें समर्थ इन्द्रिय रसना कहलाती है- **शब्दादिपञ्चके रसमात्रग्रहणशक्तम् इन्द्रियं रसनम्।** यह जिह्वाके अग्रभागमें रहती है।

५.घ्राण- शब्दादि पाँच विषयोंमें गन्धमात्रका ज्ञान करानेकी सामर्थ्यवाली इन्द्रिय घ्राण है- **शब्दादिपञ्चके गन्धमात्रग्रहणशक्तम् इन्द्रियं घ्राणम्।** यह मनुष्यादिकी नासिकाके अग्रभागमें रहती है तथा हाथीकी सूड़के अग्रभागमें रहती है ।

६.मन- जो इन्द्रिय स्मृति आदिकी करण होती है, वह मन कहलाती है- **स्मृत्यादिकरणम् इन्द्रियं मनः।** यहाँ आदि पदसे प्रत्यभिज्ञाका ग्रहण किया जाता है। शब्दादि पाँच विषयोंके ज्ञान करानेका हेतु जो साधारण इन्द्रिय है, वह मन है- **पञ्चविषयसाधारणेन्द्रियत्वं मनोलक्षणम्।**

प्रश्न- यदि मन ज्ञानेन्द्रिय ही है, कर्मेन्द्रिय नहीं तो लोकमें 'मानस(मनसे होनेवाले) कर्म' ऐसा व्यवहार कैसे किया जाता है?

उत्तर- मनसे होनेवाले जो शुभाशुभ संकल्प हैं, वे एक प्रकारके ज्ञान ही हैं। उस ज्ञानको उपचारसे कर्म मानकर उक्त व्यवहार किया जाता है।

मन प्राणियोंके हृदयमें स्थित रहता है, अन्य इन्द्रियाँ भी हृदयमें स्थित हैं। हृदयकमलके अन्दर मुख्यप्राण तथा इन्द्रियोंके मध्यमें विद्यमान ज्ञानधर्मवाला तथा ज्ञानस्वरूप जो आत्मा है- **योऽयं विज्ञानमयः प्राणेषु हृद्यन्तर्ज्योतिः पुरुषः**(बृ.उ.४.३.७) इस प्रकार इन्द्रियोंका स्थान हृदय कहा गया है। हृदयके दश छिद्र होते हैं, जिनमें पञ्च ज्ञानेन्द्रियाँ और पञ्च कर्मेन्द्रियाँ स्थित होती हैं- **हृदयस्य दश छिद्राणि भवन्ति, येषु प्राणाः प्रतिष्ठिताः**(सु.उ.४.२), इसलिए ब्रह्मसूत्रभाष्य(१.२.१८)में **सर्वेन्द्रियकन्दभूते स्थानविशेषे वृत्तिः**(सभी इन्द्रियोंके मूल स्थान हृदयमें आत्मा रहती है) इस प्रकार सभी इन्द्रियोंका मूलस्थान हृदय कहा है। ये प्रधान दश नाड़ियाँ होती हैं- **अथेमा दश नाड्यो भवन्ति**(सु.उ.४.३) हृदयस्थ इन नाड़ियोंसे सम्बद्ध इन्द्रियाँ अपने-अपने गोलकोंमें भी रहती हैं। इन्द्रियोंका हृदयसे गोलकोंमें संचरण नाड़ियोंके माध्यमसे होता है। इस प्रकार हृदयमें रहनेवाली ये इन्द्रियाँ भिन्न भिन्न नाड़ियोंके द्वारा गोलकोंमें स्थित होकर अपना कार्य करती हैं।

मन ही अन्तःकरण है। सांख्यवादी सम्मत मन, बुद्धि और अंहकार ये तीनों तथा निर्विशेषाद्वैतवादी सम्मत मन, बुद्धि, चित्त और अंहकार ये चारों अन्तःकरण नहीं हैं। सभी वृत्तियाँ धर्मभूत ज्ञानकी परिणाम हैं। इन वृत्तियोंकी उत्पत्तिमें मन सहायक है, अतः सभी वृत्तियाँ मनकी कही जाती हैं। अध्यवसाय(निश्चयात्मिका)

वृत्तिमें महत् सहायक है। अहंकार(अभिमान) वृत्तिमें अंहकार तत्त्व सहायक है। स्मरण(चिन्तन) वृत्तिमें संस्कार सहायक है। मनके सम्बन्धसे धर्मभूतज्ञानकी जब निश्चयात्मिका वृत्ति होती है, तब मनको बुद्धि कहा जाता है। इसी प्रकार मनके सम्बन्धसे जब धर्मभूत ज्ञानकी अहंकारात्मिका तथा चिन्तनात्मिका(स्मरणरूपा) वृत्तियाँ होती हैं, तब मनको क्रमशः अहंकार और चित्त कहा जाता है। महत् और अहंकार तत्त्वान्तर होनेपर भी करण नही है। मनके सम्बन्धसे होनेवाली सभी वृत्तियोंको उपचारसे मन कहा जाता है। काम(इच्छा), संकल्प(प्रतिज्ञा), संशय, श्रद्धा, अश्रद्धा, प्रीति, अप्रीति, लज्जा, ज्ञान और भय ये सब मन ही हैं- **कामः संकल्पो विचिकित्सा श्रद्धाऽश्रद्धा धृतिरधृतिर्ह्रीर्धीर्भीरित्येतत्सर्वं मन एव।**(बृ.उ. १.५.३) शंकराचार्य भी मनको इन्द्रिय मानते हैं- **सत्यमेतत् स्मृतौ त्वेकादशेन्द्रियाणीति मनोऽपि इन्द्रियत्वेन श्रोत्रादिवत् संगृह्यते।**(ब्र.सू. शां.भा.२.४.१७) विवरणकार और उनके अनुयायी वेदान्तपरिभाषाकार मनको इन्द्रिय नहीं मानते। उनका यह कथन शास्त्रविरुद्ध होनेसे त्याज्य है।

ख.कर्मेन्द्रिय- उच्चारणादि क्रियाओंमें किसी एक क्रियाको करनेका सामर्थ्य कर्मेद्रियका लक्षण है- **उच्चारणादिषु अन्यतमक्रियासमर्थत्वं कर्मेन्द्रियस्य लक्षणम्।** वाक्, पाणि, पाद, पायु, उपस्थ ये पाँच कर्मेन्द्रियाँ हैं।

१.वाक्- वर्णोच्चारणका करण जो इन्द्रिय होती है, वह वाक् कही जाती है- **वर्णोच्चारणकरणम् इन्द्रियं वाक्।** वह हृदय, कण्ठ, तालु, जिह्वाका मूलभाग, दन्त, ओष्ठ, नासिका और मूर्धा इन आठ स्थानोंमें रहती है। शुकसे भिन्न पक्षियों तथा मनुष्येतर प्राणियोंमें वर्णोच्चारण करनेकी शक्ति नहीं रहती है क्योंकि उन प्राणियोंके

कण्ठ आदि स्थान वर्णोच्चारणके लिए उपयोगी आकृतिवाले नहीं हैं तथा उनमें वर्णोच्चारणका हेतुभूत अदृष्ट भी नहीं है।

२.पाणि– आदान-प्रदान आदि कार्योका करण जो इन्द्रिय होती है, वह पाणि है- **आदानप्रदानादिकरणम् इन्द्रियं पाणिः।** यहाँ आदानका अर्थ है- ग्रहण करना। प्रदानका अर्थ है- दूसरोंको देना। आदि पदसे शिल्पादिकलाको ग्रहण करना चाहिए। यह मनुष्य आदिकी अङ्गुलियोंके अग्रभागमें रहती है। हाथी की नासिका अर्थात् सूंडके अग्रभागमें रहती है। पक्षियोंकी चोंचमें रहती है। अभ्यासकी पटुता होनेपर पाद(पैर)से लिपिलेखन आदि कार्य देखे जाते हैं, अतः पादमें भी पाणि इन्द्रियकी विद्यमानता स्वीकार करनी चाहिए। इन्द्रिय किसी प्रदेशमें अल्पतासे, किसी प्रदेशमें अधिकतासे रहती है। जिस प्रकार एक नेत्रगोलकमें चक्षु और त्वक् ये दोनों इन्द्रियाँ रहती ही हैं, उसी प्रकार स्थानविशेषपर भी एकसे अधिक इन्द्रियोंकी विद्यमानता स्वीकार करनेमें कोई विरोध नहीं है।

३.पाद- जो इन्द्रिय संचरण(चलने) का साधन होती है, वह पाद है- **संचरणकरणम् इन्द्रियं पादः।** यह मनुष्य आदिके चरणों, सर्पोकी छाती और पक्षियोंके पंखों तथा पैरोंमें रहती है।

४.पायु– मल-मूत्रके त्यागका साधन इन्द्रिय पायु कही जाती है- **मलादित्यागकरणम् इन्द्रियं पायुः।** यह मनुष्यादि प्राणियोंकी गुदा और शिश्नमें रहती है। मान्थाल(चमगादड़)के मुखमें रहती है, अतः वह मुखसे ही मलमूत्रका त्याग करता है।

५.उपस्थ– जो इन्द्रिय आनन्दविशेषके जनक संभोगका हेतु होती है, उसे उपस्थ कहा जाता है- **आनन्दविशेषकरणम् इन्द्रियम् उपस्थः।** यह पुरुषोंके शिश्न और स्त्रियोंकी योनिमें रहती है।

परिमाण- अणवश्च(ब्र.सू.२.४.६) इस प्रकार भगवान् वेदव्यासने सभी इन्द्रियोंको अणु कहा है। ब्रह्मसूत्र आनन्दभाष्यके भाष्यदीपव्याख्याकार स्वामी रामप्रपन्नाचार्यने अणुका अर्थ सूक्ष्म(परिच्छिन्न परिमाणवाली) किया है। यहाँ अणु शब्दका अर्थ निरवयव(भागरहित) नहीं हो सकता क्योंकि सभी इन्द्रियोंकी उत्पत्ति श्रुतियोंमें कही गयी है। उत्पन्न वस्तु कभी भी निरवयव नहीं हो सकती।

शरीरनाशसे इन्द्रियोंका नाश नहीं- जीव जब एक स्थूल देहको छोड़कर अन्य देहको ग्रहण करनेके लिए अन्य स्थानमें जाता है, तब ये इन्द्रियाँ उसके साथ ही जाती हैं- **शरीरं यदवाप्नोति यच्चाप्युत्क्रामतीश्वरः। गृहीत्वैतानि संयाति वायुर्गन्धानिवाशयात्।।**(गी. १५.८) जीव जिस शरीरको प्राप्त करता है और जिस शरीरसे उत्क्रमण करता है, वहाँ से वह वैसे ही इन्द्रियोंको लेकर जाता है, जैसे वायु गन्धके स्थानसे गन्धको लेकर जाता है। शरीर नाशसे इन्द्रियोंका नाश नहीं होता है। मुक्त हो जानेपर उसके साथ इन्द्रियोंका सम्बन्ध नहीं रहता है। तब ये प्रलय पर्यन्त यहीं विद्यमान रहती हैं अथवा जिसकी इन्द्रियाँ नही हैं, उसको प्राप्त हो जाती हैं।

अहंकारजन्यत्व- इन्द्रियोंका उपादान सात्त्विक-अंहकार है। कुछ विद्वान् इन्द्रियोंको राजस अहंकारका कार्य मानते हैं। अन्य विद्वान् मन और दशों इन्द्रियोंको सात्त्विक अंहकारका कार्य मानते हैं। (पक्षद्वयका कथन करके अब सिद्धान्तभूत द्वितीय पक्षको कहते हैं) वस्तुतः इन्द्रियाँ सात्त्विक-अहंकारसे उत्पन्न होती हैं- **तैजसानीन्द्रियाण्याहुर्देवा वैकारिका दश। एकादशं मनश्चात्र देवा वैकारिकाःस्मृताः।।**(वि.पु.१.२.४७) **(तैजसानि= राजसाहंकारकार्याणि, वैकारिकाः= सात्त्विकाहंकारकार्याणि, देवाः= इन्द्रियाणि।)** उस आत्माको चक्षुसे नहीं जान सकते हैं, वाणीसे(उसकी इयत्ता अर्थात्

सीमाका) प्रतिपादन नहीं कर सकते हैं। अन्य इन्द्रियोंके द्वारा भी नहीं जान सकते हैं- **न चक्षुषा गृह्यते नाऽपि वाचा नान्यैर्देवैः**(मु.उ. ३.१.८) इन्द्रियाँ जीवके साथ ही रहनेवाली परमात्माको नहीं जानती हैं- **सहैव सन्तं न विजानन्ति देवाः।**(तै.आ.३.११.२) इत्यादि श्रुतियोंमें आये हुए देव पदका अर्थ इन्द्रिय है।

अहंकारसे उत्पन्न होने वाली इन्द्रियोंका पञ्चभूतोंके द्वारा पोषण होता है- **आप्याय्यन्ते च ते नित्यं धातवस्तैस्तु पञ्चभिः**(म. भा.शा.१८४.४३)। इस कारण क्वचिद् इनका भौतिकत्व उपचार से कहा जाता है।

तन्मात्रा- भूतोंकी उत्पत्तिसे अव्यवहित पूर्व उनकी सूक्ष्मावस्थावाला द्रव्य तन्मात्रा है- **भूतानाम् अव्यवहितसूक्ष्मावस्थाविशिष्टं द्रव्यं तन्मात्रम्।** यह भूतोंकी उपादान कारण है। दुग्धका परिणाम दधि है। जिस प्रकार दुग्ध और दधिकी मध्यवर्ती एक अवस्था होती है, उसी प्रकार भूतोंके रूपमें परिणत होनेवाले द्रव्यकी भूतोंसे अव्यवहित पूर्ववर्ती एक अवस्था होती है, उस अवस्थावाला द्रव्य तन्मात्रा कहा जाता है। इनकी संख्या पाँच है- १.शब्दतन्मात्रा, २.स्पर्शतन्मात्रा, ३. रूपतन्मात्रा, ४.रसतन्मात्रा, ५.गन्धतन्मात्रा। राजसाहंकार-सहकृत तामस अंहकारसे शब्दतन्मात्रा उत्पन्न होती है।

शब्दतन्मात्रा- तामस अहंकार और आकाशकी मध्यमावस्थावाला द्रव्य शब्दतन्मात्रा है- **तामसाहंकाराकाशयोर्मध्यमावस्थाविशिष्टं द्रव्यं शब्दतन्मात्रम्।**

भूत- शान्तत्व, घोरत्व और मूढत्व इन विशेषताओंवाले शब्दादि विषय जिस अधिकरणमें रहते हैं, वह भूत कहलाता है- **विशिष्टशब्दादिविषयाधिकरणं भूतम्।** इनकी संख्या पाँच है- १.आकाश, २.वायु, ३.तेज, ४.जल, ५.पृथ्वी।

जो शब्दादि विषय अनुकूल प्रतीत होते हैं, वे शान्त कहे जाते हैं, जो प्रतिकूल प्रतीत होते हैं, वे घोर कहे जाते हैं और जो मोहजनक प्रतीत होते हैं, वे मूढ़ कहे जाते हैं। तन्मात्राओंमें विद्यमान वे शब्दादि विषय शान्तत्व, घोरत्व और मूढत्व इन विशेषताओंसे रहित होते हैं। भूतोंमें विद्यमान शब्दादि विषय उक्त तीन विशेषताओंसे युक्त होते हैं। शब्दतन्मात्रासे आकाशकी उत्पत्ति होती है।

आकाश– स्पर्शरहित होते हुए शान्तत्व, घोरत्व और मूढत्वसे विशिष्ट शब्दोंका आधार होना आकाशका लक्षण है– **अस्पर्शत्वे सति विशिष्टशब्दाधारत्वं आकाशत्वम्।** श्रोत्र इन्द्रियका पोषक होना आकाशका लक्षण है– **श्रोत्राप्यायकत्वं आकाशत्वम्।** यह पदार्थोंकी स्थिति और गतिके लिए अपेक्षित अवकाशका हेतु है। इस पञ्चीकृत आकाशका एक गुण शब्द है। आकाशसे स्पर्शतन्मात्राकी उत्पत्ति होती हैं

स्पर्शतन्मात्रा– आकाश और वायुकी मध्यवर्ती अवस्थावाला द्रव्य स्पर्शतन्मात्रा है। **आकाशवाय्वोर्मध्यमावस्थाविशिष्टं द्रव्यं स्पर्शतन्मात्रम्।** इससे वायुकी उत्पत्ति होती है।

वायु– जिस द्रव्यमें शान्तत्व, घोरत्व और मूढत्व इन विशेषताओंसे युक्त स्पर्श रहता है तथा रूप नहीं रहता है, वह द्रव्य वायु कहलाता है– **विशिष्टस्पर्शवत्त्वे सति रूपशून्यत्वं वायोर्लक्षणम्।** हम लोगोंकी केवल त्वक् इन्द्रियसे ग्राह्य जो द्रव्य है, वह वायु है– **अस्मदादिस्पर्शनैकेन्द्रियग्राह्यद्रव्यत्वम् वायोर्लक्षणम्** जो द्रव्य अनुष्णाशीत स्पर्शसे युक्त होते हुए गन्धसे रहित है, वह वायु है– **अनुष्णाशीतस्पर्शविशिष्टत्वे सति गन्धशून्यत्वं वायोर्लक्षणम्।** यह

पदार्थोंके शोषण(सुखाने) का हेतु है और त्वगिन्द्रियका आप्यायक (पोषक) है। इसके शब्द और स्पर्श दो गुण हैं।

प्राण– शरीरको धारण आदि करनेका हेतु वायुविशेष ही प्राण है। यह तत्त्वान्तर नहीं है। जिस प्रकार खाया हुआ अन्न अन्तःकरणका पोषक आहार बनता है, उसी प्रकार पिये गये पानीका सूक्ष्म भाग प्राणका पोषक आहार बनता है। पिये हुए जलके तीन परिणाम होते हैं। जब जल जठरमें जीर्ण होता है, तब उसका स्थूल भाग मूत्र बन जाता है, सूक्ष्मभाग रक्तमें मिल जाता है और सूक्ष्मतम भाग प्राणका पोषक बनता है- **आपः पीतास्त्रेधा विधीयन्ते, तासां यः स्थविष्ठो धातुस्तन्मूत्रं भवति, यो मध्यमस्तल्लोहितं, योऽणिष्ठः स प्राणः।**(छां.उ.६.५.२) अन्न न खानेपर शरीर तथा मनकी क्रियाएं दुर्बल हो जाती हैं किन्तु प्राणी नहीं मरते। केवल पानी पीते रहनेसे महींनोंतक प्राण बच जाते हैं। पानी न पीनेसे कम समयमें ही मृत्यु हो जाती है, इसलिए **आपोमयः प्राणः**(छां.उ.६.५.४) यह छान्दोग्यश्रुति जलके द्वारा शरीरका पोषण कहती है। प्राण, अपान, व्यान, उदान और समान भेदसे प्राण पाँच प्रकार का होता है।

१.प्राण– तैत्तिरीय ब्राह्मण(३.१०.८.५) में **प्राणो हृदये** कहकर प्राणकी अवस्थिति हृदयमें बतायी गई है। उच्छ्वास और निःश्वास इसके कार्य हैं। यह अन्य चार वायुके लिए राजाके समान होता है, इसलिए इसे मुख्य प्राण भी कहते हैं।

२.अपान– यह शरीरके गुदा आदि मल-मूत्रके निर्गमन स्थानोंमें रहता है। इसका कार्य मल-मूत्र आदिका विसर्जन करना है।

३.व्यान– इस वायु का स्थान हृदयके दाहिने रन्ध्रसे निकलनेवाली देहभरमें व्याप्त नाड़ियाँ हैं। हृदयमें रहनेवाली प्रधान नाड़ियोंकी संख्या १०१ है। इनमें सर्वप्रधान सुषुम्ना है। हर एक नाड़ीमें सौ-सौ

भाग होते हैं। उनमेंसे हर एक नाड़ी ७२००० शाखाओंमें विभाजित होकर सारे शरीरमें व्याप्त होती है। व्यान वायुका स्थान यह नाड़ी मंडल है।

मनुष्यको जब कोई बलसाध्य विशेष कार्य करना होता है, तब वह प्राण और अपान को नियन्त्रित करके बल लगाकर उस कार्यको करता है, ऐसे कार्यमें जो वायु सहायक होती है, उसे ही व्यान कहा जाता हैं। उसका वर्णन छान्दोग्य उपनिषद्में (१.३.३ से १.३.५तक) किया गया है।

४.उदान- यह कण्ठमें स्थित होकर मूर्धासे लेकर पादतल तक सक्रिय रहता है। प्रश्नोपनिषत्(३.७)के अनुसार यह शुभकर्म करनेवालेको पुण्यलोक तथा पापकर्म करनेवालेको नरकलोक ले जाता है।

५.समान- यह जठराग्निको उद्दीप्तकर भुक्त-पीत पदार्थोंके पचानेमें सहयोग करके उसे शरीरके सारे भागोंमें ले जाता है।

वायुसे रूपतन्मात्राकी उत्पत्ति होती है।

रूपतन्मात्रा- वायु और तेजके अन्तरालमें होनेवाली अवस्थासे विशिष्ट द्रव्य रूपतन्मात्रा कहा जाता है- **वायुतेजसोर्मध्यमा-वस्थाविशिष्टं द्रव्यं रूपतन्मात्रम्।** इससे तेजकी उत्पत्ति होती है।

तेज- उष्णस्पर्श वाला होना तेजका लक्षण है- **उष्णस्पर्शवत्त्वं तेजसो लक्षणम्।** भास्वररूप वाला होना तेजका लक्षण है- **भास्वररूपवत्त्वं तेजसोः लक्षणम्।** जिस रूपसे युक्त होनेके कारण तेज दूसरे पदार्थोंका प्रकाशक होता है, वह रूप भास्वररूप कहलाता है। यह अग्नि और सूर्यरूपसे बाह्य पदार्थोंके परिपाक(जीर्णता)का तथा जाठराग्निरूपसे भुक्त-पीत(खाये-पिये गये) पदार्थोंके परिपाकका हेतु होता है। यह उष्णता तथा प्रकाशका भी हेतु है। यह चाक्षुष ज्ञानका

उपकारक है। यह भौम(भूमिपर रहनेवाला), दिव्य(आकाशमें रहनेवाला) तथा उदर्य(उदरमें रहनेवाला) भेदसे तीन प्रकारका होता है। दीपादि भौम तेज हैं, सूर्यादि दिव्य तेज हैं, जाठराग्नि उदर्य तेज है। यद्यपि कुछ दार्शनिकोंने सुर्वणादिको भी तेज माना है किन्तु काठिन्यका आश्रय होनेके कारण सुवर्णादि पार्थिव ही हैं, तेज नहीं, ऐसा आचार्योंका मत है। तेज चक्षु तथा वाक् इन्द्रियका पोषक है। वाक् इन्द्रियका पोषक होनेके कारण वाक् तेजोमयी है- **तेजोमयी वाक्**(छां.उ.६.५.४) ऐसा कहा जाता है। खाये गये तेल, घी आदि तैजस पदार्थके तीन परिणाम होते हैं- जब ये वस्तुएं जीर्ण होती हैं, तब इनका स्थूल भाग हड्डी बन जाता है, मध्यमभाग मज्जा अर्थात् हड्डियोंको जोड़नेवाला चिकना पदार्थ बन जाता है और उसका सूक्ष्मतम भाग वाणीका पोषक आहार बन जाता है। पुनः तेजके दो भेद हैं- (क) प्रभा, (ख) प्रभावान्।

(क)प्रभा- जो तेज आवरणके होनेपर संकुचित हो जाता है और आवरणके न होनेपर विकसित होकर अपने आश्रयसे सम्बन्ध रखते हुए दूर तक फैल जाता है, वह तेज प्रभा कहा जाता है- **आवरणसदसद्भावाधीनसंकोचविकासप्रसारिततेजोविशेषः प्रभा।** जैसे दीप और सूर्यादिके आश्रित रहनेवाला जो तेज भित्ति(दीवार) आदि किसी आवरणके कारण संकुचित हो जाता है और आवरणके न होनेपर अपने आश्रय दीप और सूर्यादिसे दूर तक फैल जाता है, वह तेज प्रभा कहलाता है। प्रभा दीपादिके आश्रित रहनेके कारण गुण(अद्रव्य) कही जाती है। गुण अपने अधिकरणसे अन्य स्थान पर नहीं रहता है किन्तु यह अपने आश्रयसे अतिरिक्त स्थानमें भी रहती है, अतः यह द्रव्य है और सावयव है।

शंका– दीप आदि तेज सावयव द्रव्य हैं। इसके विशीर्ण(फूटकर चारों ओर फैलनेवाले) अवयवोंको ही प्रभा मानना चाहिए। तेजसे अतिरिक्त प्रभाको तेजका गुण स्वीकार करना उचित नहीं है।

समाधान– प्रभाको तेजका गुण मानना ही उचित है क्योंकि विशीर्ण अवयवोंको प्रभा मानने पर अनेक असमाधेय प्रश्न उपस्थित होते हैं– (१) दीपके अवयवोंका क्या तिर्यक् होकर फैलना स्वभाव है? अथवा (२) उर्ध्वगमन स्वभाव है? इनमें प्रथम विकल्प उचित नहीं है क्योंकि वैसा मानने पर दीपके अवयवोंका ऊर्ध्वगमन असम्भव हो जायेगा। अग्निके अवयव ऊपर ही उठते है। इसके विपरीत तिर्यक् गमनको स्वभाव मानना उचित नहीं है। इस प्रकार प्रथम विकल्प असिद्ध हो जाता है। दूसरा विकल्प भी अनुपपन्न है क्योंकि वैसा मानने पर विशरण(फूटकर चारों ओर निकलना) सम्भव नहीं होगा। वायुके संयोगके कारण उनका फूटकर चारों ओर निकलना होता है, ऐसा भी नहीं कह सकते हैं क्योंकि वैसा मानने पर निर्वातमें रखे दीप और रत्नकी प्रभाका प्रसार नहीं हो सकेगा। तेजके विशीर्ण अवयवोंको ही प्रभा मानने पर तेजोमय रत्न और सूर्यका विनाश मानना पड़ेगा जो कि अनुभवसे विरुद्ध है, अतः तेजके विशीर्ण अवयव ही प्रभा हैं। प्रभा तेजका गुण नहीं है। यह मत खण्डित हो जाता है, इसलिए प्रभाको प्रभावान् तेजका गुण स्वीकार करना चाहिए।

(ख)प्रभावान्– प्रभाके आश्रय दीप आदि प्रभावाले कहे जाते हैं। प्रभावान् तेजके भेदोंका प्रतिपादन ऊपर किया जा चुका है। इसके शब्द, स्पर्श और रूप ये तीन गुण होते हैं। जो लाल रूप है, वह अग्निका है–**यदग्ने रोहितं रूपं तेजसः तद् रूपम्**(छां.उ.६.४.१) इस श्रुतिसे तेजका स्वाभाविक लाल रूप सिद्ध होता है। ऐसा होनेपर भी

उपाधिके संसर्गसे तेजमें नाना रूप दिखाई देते हैं। तेजसे रसतन्मात्राकी उत्पत्ति होती है।

रसतन्मात्रा- तेज और जलकी मध्यम अवस्थावाला द्रव्य रसतन्मात्रा है- **जलतेजसोर्मध्यमावस्थाविशिष्टं द्रव्यं रसतन्मात्रम्।** इससे जलकी उत्पत्ति होती है।

जल- शीतस्पर्श वाला होना जलका लक्षण है- **शीतस्पर्शवत्त्वं जलस्य लक्षणम्।** गन्धरहित होते हुए शान्तत्व, घोरत्व और मूढत्व इन विशेषताओंसे युक्त रसका आश्रय होना जलका लक्षण है- **निर्गन्धत्वे सति विशिष्टरसवत्त्वं जलस्य लक्षणम्।** यह सेचन, पिण्डीकरण, शीतलता तथा मृदुताका हेतु है। शब्द, स्पर्श, रूप और रस इसके गुण हैं। जल स्वभावतः शुक्लरूपवाला, शीतस्पर्शवाला और मधुररसवाला होता है किन्तु विभिन्न पदार्थोंके संसर्गके कारण इसमें नानाप्रकारके रूप, रस, और स्पर्शका आरोप होता है। **यच्छुक्लं तद् अपाम्**(छां.उ.६.४.१) इस श्रुतिके अनुसार इसका शुक्ल रूप है। जलसे गन्धतन्मात्राकी उत्पत्ति होती है।

गन्धतन्मात्रा- जल और पृथ्वीकी मध्यमावस्थासे विशिष्ट द्रव्य गन्धतन्मात्रा कहा जाता है- **जलपृथिव्योर्मध्यमावस्थाविशिष्टं द्रव्यं गन्धतन्मात्रम्।** इससे पृथ्वीकी उत्पत्ति होती है।

पृथ्वी- शान्तत्व, घोरत्व और मूढत्व इन विशेषताओंसे युक्त गन्धका आधार होना, रसवती होती हुई शान्तत्वादि विशेषताओंसे युक्त स्पर्शका आधार होना पृथ्वीका लक्षण है- **विशिष्टगन्धवत्त्वे सति रसवत्त्वे सति विशिष्टस्पर्शवत्त्वं पृथिव्याः लक्षणम्।** यह प्राणियोंके धारणका हेतु है। शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध इसके गुण हैं। इसका अनुष्णाशीत स्पर्श स्वाभाविक है किन्तु पृथ्वीके साथ तेज और जलका संयोग होनेके कारण वह उष्ण और शीत प्रतीत होती

है। जो कृष्ण रूप है, वह पृथ्वीका है- **यत्कृष्णं तदन्नस्य**(छां.उ.६.४.१) इस श्रुतिमें कहा गया कृष्ण रूप पृथ्वीका स्वाभाविक है, मधुर रस स्वाभाविक है, सुरभि गन्ध स्वाभाविक है किन्तु पृथ्वी पाक(विजातीयतेजसंयोग) के कारण विविध प्रकारके रूप, रस, और गन्धवाली होती है। यह मन और घ्राण दोनोंका उपकारक है। **अन्नमयं हि सोम्य मनः**(छां.उ.६.५.४) यह श्रुति मनका पोषक अन्न(पृथ्वी)को कहती है। मनके लिए आवश्यक शक्ति आहारसे मिलती है। भोजनका स्थूलभाग मल बन जाता है, मध्यम भाग रस, रक्त आदि के क्रमसे मांस बन जाता है और सूक्ष्मतम भाग मनका पोषक आहार बन जाता है- **अन्नमशितं त्रेधा विधीयते। तस्य यः स्थविष्ठो धातुस्तत्पुरीषं भवति, यो मध्यमस्तन्मांसं योऽणिष्ठस्तन्मनः** (छां.उ.६.५.१)। अन्नके सेवन न करनेसे मनकी क्रियायें दुर्बल हो जाती हैं। अन्तःकरणका कार्य आहारके गुणोंपर निर्भर करता है। सात्त्विक, राजस और तामस आहारसे मनके क्रमशः सात्त्विक, राजस और तामस भाव उत्पन्न होते हैं।

पञ्चीकरण- A छान्दोग्य मन्त्र(६.३.४)में श्रूयमाण त्रिवृत्करण पञ्चीकरणका उपलक्षण है। पाँच भूतोंमें प्रत्येकको दो भागोंमें विभक्त करते हैं। फिर प्रत्येकके अर्ध(१/२) भागको यथावत् रखते हुए अन्य सभी अर्द्ध भागोंको चार भागोंमें विभाजित करते हैं। (यह १/२का चतुर्थांश तथा सम्पूर्ण भूतका १/८ होता है) अब किसी एक भूतके पूर्वमें किये गये अर्द्ध(१/२) भागमें अन्य चार भूतोंके १/८ भागको मिलानेसे पञ्चीकृत भूत बन जाता है। इस प्रकार सभी भूतोंका पञ्चीकरण जानना चाहिए-

अपञ्चीकृत१/२पृथ्वी+१/८जल+१/८तेज+१/८वायु+१/८आकाश= १ पञ्चीकृत पृथ्वी।

अपञ्चीकृत१/२जल+१/८पृथ्वी+१/८तेज+१/८वायु+१/८आकाश=

१ पञ्चीकृत जल।

अपञ्चीकृत१/२तेज+१/८पृथ्वी+१/८जल+१/८वायु+१/८आकाश=
१ पञ्चीकृत तेज।

अपञ्चीकृत१/२वायु+१/८पृथ्वी+१/८जल+१/८तेज+१/८आकाश=
१ पञ्चीकृत वायु।

अपञ्चीकृत१/२आकाश+१/८पृथ्वी+१/८जल+१/८तेज+१/८वायु=
१ पञ्चीकृत आकाश।

इस प्रकार पृथ्वीमें उसके भागकी अधिकता एवं जलादिकी न्यूनता रहनेके कारण उसका पृथ्वी शब्दसे कथन होता है, ऐसा ही अन्य भूतोंके बारेमें जानना चाहिए। यह विषय **वैशेष्यात्तु तद्वादस्तद्वादः**(२.४.१९), **त्र्यात्मकत्वात् तु भूयस्त्वात्**(३.१.२) इन ब्रह्मसूत्रोंमें वर्णित है। कुछ आचार्य पञ्चभूतोंके साथ महत् और अहंकारको मिलाकर सप्तीकरण भी मानते हैं। यह विषय विष्णुपुराणके निम्न वचनोंमें वर्णित है- **नानावीर्याः पृथग्भूतास्ततस्ते संहतिं विना। नाशक्नुवन्प्रजाः स्रष्टुमसमागम्य कृत्स्नशः।। समेत्यान्योन्यसंयोगं परस्परसमाश्रयाः। महदाद्या विशेषान्ता ह्यण्डमुत्पादयन्ति ते**(वि.पु.१.२.५२-५४)।

आकाशका अनित्यत्व- पञ्चीकरणके लिए आकाशका विभाग किए जानेसे उसका सावयवत्व भी सिद्ध हो जाता है। सावयवत्व होनेसे नैयायिक सम्मत निरवयवत्व(अवयवोंका अभाव) और तन्मूलक अजन्यत्व(उत्पत्तिका अभाव) भी निराकृत हो जाता है।

आकाशका प्रत्यक्ष- (१)आकाशका चक्षु इन्द्रियसे प्रत्यक्ष होता है क्योंकि चक्षु खुलते ही 'यह आकाश है' इस प्रकार सबको आकाशकी अबाधित प्रतीति होती है। सहसा होनेवाली इस प्रतीतिको अनुमिति नहीं कह सकते हैं क्योंकि अनुमितिके लिए व्याप्तिज्ञान अपेक्षित होनेसे वह सहसा नहीं हो सकती। सहसा होनेवाली यह

प्रतीति प्रत्यक्ष है, इसका विषय आकाश प्रत्यक्ष है। इस प्रतीतिका विषय प्रकाश नहीं हो सकता है क्योंकि 'यहाँ प्रकाश है' इस प्रकार प्रकाशके अधिकरणरूपसे आकाश ही प्रतीत होता है। आकाशका अधिकरण प्रकाश नहीं हो सकता है, अतः प्रकाशका भी अधिकरण जो आकाश है, वही 'यह आकाश है' इस प्रतीतिका विषय है। आकाशमें पक्षी उड़ता है, इस प्रतीतिके द्वारा पक्षीके अधिकरणरूपसे आकाशका प्रत्यक्ष होता है। 'यह कूप है' इस प्रकार अन्तरालदेशकूपाऽवच्छिन्न आकाशका प्रत्यक्ष होता है।

यहाँ पर यह प्रश्न उपस्थित होता है कि रूपशून्य आकाशका चक्षुरिन्द्रियसे कैसे प्रत्यक्ष हो सकता है? इस प्रश्नका उत्तर देनेके पूर्व हम यह जानना चाहेंगे कि रूपवाले पदार्थका चक्षु इन्द्रियसे कैसे प्रत्यक्ष होता है? यदि इस प्रश्नके उत्तरमें यह कहा जाय कि सबका यह अनुभव है कि रूपवाले द्रव्य प्रत्यक्ष होते हैं। अतः इस अनुभवके अनुसार यह मानना पड़ता है कि रूपवाले पदार्थोंमें प्रत्यक्ष होनेकी योग्यता है, इस कारण उनका प्रत्यक्ष होता है। तब तो हम भी यह उत्तर दे सकते हैं कि सभीका यह अनुभव है कि आकाश दिखाई देता है। इस अनुभवके अनुसार यह मानना पड़ता है कि रूपशून्य आकाशमें भी प्रत्यक्ष होनेकी योग्यता है, अतः उसका प्रत्यक्ष होता है। इस कारण चक्षुरिन्द्रियसे वेद्य होनेके लिए अनुभवानुसार नानाप्रकारकी योग्यता मानी जाती है अन्यथा रूपवान्का ही चाक्षुष प्रत्यक्ष मानने पर रूपका भी प्रत्यक्ष नहीं हो सकेगा क्योंकि रूपमें रूप नहीं रहता है और इस प्रकार 'चाक्षुषप्रत्यक्षसामान्यमें रूप कारण है।' यह कार्यकारणभाव खण्डित हो जाता है। यदि रूपके प्रत्यक्षमें व्यभिचारवारणके लिए द्रव्यके चाक्षुष प्रत्यक्षमें ही रूपको कारण कहें तो रूप द्रव्य न होनेके कारण रूपके अभाववाला होनेपर भी रूपका चाक्षुष प्रत्यक्ष होता है। रूपको

द्रव्यसे भिन्न होनेके कारण इसके प्रत्यक्षमें रूप हेतु न होनेसे व्यभिचार दोष नहीं होता है। रूपरहित रूपके समान रूपरहित घटत्व आदि जाति, संख्या, रूपाभाव तथा रूपवान वस्तुके अभावका भी चाक्षुष प्रत्यक्ष होता है किन्तु जैसे द्रव्यसे भिन्न रूप है, वैसे ही रस भी द्रव्यसे भिन्न है। द्रव्यसे भिन्न पदार्थोंके चाक्षुषमें रूप हेतु नहीं है, अतः रसका भी चाक्षुष प्रत्यक्ष होना चाहिए। इस पर यदि शंकाकार कहे कि हम अनुभवके आधारपर रूपमें ही चाक्षुषप्रत्यक्षकी योग्यता स्वीकार करते हैं, रसादिमें नहीं तो इसी प्रकार सिद्धान्ती भी अनुभवके आधारपर रूपरहित आकाश द्रव्यमें चाक्षुषप्रत्यक्षयोग्यता मानते हैं। समीपवर्ती आकाशके नीलरूपका प्रत्यक्ष न होनेसे यह स्वीकार करना चाहिए कि दूरसे होनेवाली 'नीलं नभः' इस प्रतीतिका हेतु दूरत्व दोष है।

(२)आकाश नीला है– **नीलं नभः** इस प्रकार भी नीलरूपाधिकरणत्वेन आकाशका प्रत्यक्ष होता है। पञ्चीकरणप्रक्रियासे आकाशमें तेज, जल और पृथिवी इन तीन रूपवान् भूतोंका अंश मिश्रित होनेके कारण आकाश रूपवान् है और आकाशका रूप गुण होनेके कारण इसके चाक्षुष प्रत्यक्षमें कोई बाधा नहीं है। यह विषय **आकाशस्य त्रिवृत्करणोपदेशप्रदर्शितपञ्चीकरणेन रूपवत्त्वात् चाक्षुषत्वेऽप्यविरोधः** (श्री२.२.२३) इस प्रकार श्रीभाष्य में प्रतिपादित है। इस समाधानसे यह फलित होता है कि पदार्थोंके संयुक्त होनेपर एक पदार्थका रूप दूसरेके प्रत्यक्षमें हेतु होता है। जैसे जब श्वेतवस्त्र रक्त वस्तुके संयोगसे रक्त वर्णवाला हो जाता है, तब पटके श्वेतरूपका ज्ञान न होनेपर भी रक्तवस्तुगत रक्त वर्णके ज्ञानसे ही पट भी ज्ञात हो जाता है। वैसे ही पञ्चीकरणप्रकियासे पृथिवी आदि आकाशके साथ मिश्रित होनेपर पृथ्वीका नीलरूप 'नीलं नभः' इस प्रकार आकाशके प्रत्यक्षका हेतु होता है। दूरसे आकाशके नीलरूपकी उपलब्धि होती

है। सामीप्य दोष होनेपर उसकी उपलब्धि नहीं होती, अतः समीपवर्ती आकाशका नीलरूप प्रतीत नहीं होता किन्तु उस समय भी आकाशकी प्रतीति होती ही है। दोषाभावके होनेपर ही यथार्थ प्रतीति होती है। पञ्चीकरणप्रक्रियासे वायुमें रूपकी विद्यमानता होनेपर भी उसे अनुद्भूत होनेके कारण वायुमें रूपकी प्रतीति नहीं होती है।

ऊपर आकाशके प्रत्यक्षके विषयमें मतद्वयका निरूपण किया गया। इस विषयमें विद्वानोंका कहना है कि आकाश रूपवान् तो है किन्तु इसमें उद्भूत रूप और इसके परवर्ती वायुमें अनुद्भूतरूपको स्वीकार करना उचित नहीं है। अतः आकाशका अनुद्भूत रूप है, इसलिए आकाशका रूप प्रत्यक्ष होने योग्य नहीं है फिर भी आकाशका प्रत्यक्ष होता है। यह ऊपर प्रथम पक्षमें सविस्तार प्रतिपादित है। श्रीभाष्य(२.२.२३)की भाष्यार्थदर्पण व्याख्यामें **सर्वम् इदं तर्कमूलप्रश्नस्य तर्कमूलसमाधानम्, नाकाशे रूपसाधने भाष्यनैर्भर्यम् अत एव चाक्षुषत्वेऽपि इत्यपिशब्दः** (भा.द.२.२.२३) इस प्रकार आकाशका रूप स्वीकार करनेवाले पक्षमें अरुचि व्यक्त की गयी है। रूपाश्रयत्वेन आकाशके प्रत्यक्ष कथनको सर्वार्थसिद्धि(जड़द्रव्यसर४३)में वैभववाद कहा है। वस्तुतः आकाश रूपवान्(उद्भूत् रूपवान्)हो अथवा रूपरहित हो, अनुभवके आधारपर उसका प्रत्यक्ष स्वीकार करना ही चाहिए।

तमका पृथ्वीमें अन्तर्भाव- तम(अन्धकार)का अन्तर्भाव पृथ्वीमें होता है। यह पदार्थान्तर नहीं है। संकोचविकासरूप अवस्थाका आश्रय होनेसे द्रव्य है। नील रूपका आश्रय होनेसे पृथिवी है।

शंका- यदि तमका पृथिवीमें अन्तर्भाव होता तो पृथिवीकी सृष्टिके वर्णनसे ही अन्धकारकी सृष्टि सिद्ध हो जाती किन्तु भगवान्ने

तमकी सृष्टिकी- **तमः ससर्ज भगवान्** इस प्रकार पृथक् तमकी सृष्टिका कथन किया गया है। इससे सिद्ध होता है कि तम पृथ्वीसे भिन्न है, अतः उसका पृथ्वीमें अन्तर्भाव नहीं हो सकता है।

समाधान- विराट पुरुषकी नाभिसे अन्तरिक्ष उत्पन्न हुआ, शिरसे स्वर्गलोक उत्पन्न हुआ- **नाभ्या आसीदन्तरिक्षं शीर्ष्णोद्यौः समवर्तत** इन मन्त्रोंके द्वारा जिस प्रकार भूतोंके अन्तर्गत अन्तरिक्ष और स्वर्गकी पृथक् सृष्टि बतानेपर भी इनको भौतिक पदार्थ माननेमें कोई बाधा नहीं है, उसी प्रकार पृथ्वीके अन्तर्गत तमकी पृथक् सृष्टि बतानेपर भी तमको पार्थिव पदार्थ माननेमें कोई बाधा नहीं है। तमको पार्थिव पदार्थ होनेसे उसका पृथ्वीमें अन्तर्भाव होता है।

स्थूलशरीर- महत्, अहंकार, पृथ्वी, जल, तेज, वायु और आकाश ये सात द्रव्य स्थूलशरीरके उपादान कारण हैं। प्रकृति शरीरका साक्षात् उपादान नहीं है। महदादि सप्त ही साक्षात् उपादान हैं। प्रकृति स्वकार्यभूत महद् आदिके द्वारा ही शरीरका कारण होती है। इन सात द्रव्योंसे शरीर उत्पन्न होता है। एकादश इन्द्रियाँ(श्रोत्र, त्वक्, चक्षु, घ्राण, रसना, मन, वाक्, पाणि, पाद, पायु और उपस्थ) तथा पञ्चप्राण(प्राण, अपान, व्यान, उदान, और समान) ये शरीरको आश्रय बनाकर उसमें रहते हैं। तन्मात्राएं शरीरका उपादान नहीं हैं क्योंकि वे पूर्णतः भूतोंके रूपमें परिणत होती हैं। **तन्मात्राणां तु आवारकत्वाद्यनाश्रयणात् निश्शेषपरिणाम इत्येके**(न्या.सि.ज.) इस प्रकार स्थूल शरीरके साक्षात् कारण तेईस(२३) तत्त्व सिद्ध होते हैं। परम्परया कारण बनने वाली प्रकृतिको लेकर स्थूल शरीरके चौबीस(२४) तत्त्व कहे जाते हैं। यह शरीर अन्न(आहार)से ही पैदा होता है और अन्नसे ही पलता है, इसलिए इसे अन्नमय शरीर भी कहते हैं। यह नव द्वार और सप्त धातुओंसे युक्त होता है। दो नेत्र, दो कान, दो नासिकाछिद्र, मुख, मल और मूत्रको बाहर

निकालनेवाले दो छिद्र ये नवद्वार हैं। रस, रक्त, मांस, मेद, अस्थि, मज्जा और वीर्य ये सात धातुएं हैं।

सूक्ष्मशरीर– स्थूलशरीरका घटक सूक्ष्मशरीर होता है। यह महत्, अहंकार, एकादशेन्द्रियाँ, एक प्राण तथा पञ्च सूक्ष्मभूत इन उन्नीस अवयवोंवाला होता है।

प्राण हृदय आदि स्थानों तथा कार्यके भेदसे पाँच प्रकारका होता है। सूक्ष्मशरीरमें हृदय आदि अवयव न होनेके कारण प्राण एक ही कहा गया है। स्थूलशरीरमें हृदयादि अवयव होनेसे प्राण पाँच कहे जाते हैं। सूक्ष्मशरीरमें विद्यमान सूक्ष्मभूत पञ्चीकृत ही हैं। यही भूत स्थूलशरीरके उपादान कारण होते हैं। जीव सूक्ष्मशरीरके साथ माताके गर्भमें प्रवेश करता है। वहाँ माताके द्वारा खाए हुए आहारसे स्थूलशरीरका निर्माण होता है। सूक्ष्मशरीर सृष्टिके आरम्भसे लेकर प्रलयपर्यन्त अथवा मोक्षपर्यन्त रहता है। एक योनिसे दूसरी योनिमें जाते समय अथवा एक लोकसे अन्य लोकमें जाते समय यह जीवके साथ ही जाता है। सृष्टिके आरम्भसे लेकर अन्त तक स्थूलशरीर भिन्न-भिन्न प्रकारके अनेकों प्राप्त होते हैं किन्तु उन सबके अन्दर प्रविष्ट होनेवाला सूक्ष्म शरीर एक ही रहता है। मरने पर जीवके साथ सूक्ष्म शरीर चला जाता है किन्तु पञ्च सूक्ष्मभूतोंका कार्य स्थूल शरीर यहीं रहता है।[1]

टिप्पणी१– यद्यपि प्रमाणभूत प्राचीन आर्ष ग्रन्थोंमें कारण शरीर का उल्लेख प्राप्त नहीं होता है, फिर भी शांकरवेदान्तमें कारण शरीरकी चर्चाकी जाती है। उनके अनुसार प्रलयावस्थामें भी जीवके साथ अनिवार्यरूपसे संलग्न अविद्या ही कारण शरीर है। अविद्याके कारण ही जीवको बन्धन प्राप्त होता है। बन्धनकी कारण अविद्याको विशिष्टाद्वैत सिद्धान्तमें भी माना है किन्तु सिद्धान्तमें शरीरका उपनिषदनुसारी लक्षण जो वक्ष्यमाण है, उसे अविद्यामें न घटनेसे अविद्या को कारण शरीर नहीं कहा जाता है।

शरीरका लक्षण-जिस चेतनसे सम्बन्ध रखनेवाला जो द्रव्य उस चेतनसे पृथक् स्थित नहीं रहता है, वह द्रव्य उस चेतनका शरीर होता है- **यस्य चेतनस्य यद् द्रव्यम् अपृथक्सिद्धं भवति तद् तस्य शरीरम्।** जैसे चेतन जीवसे सम्बन्ध रखनेवाला जो पूर्वोक्त तत्त्वोंवाला द्रव्य उससे पृथक् नहीं रहता है, अतः वह द्रव्य उस जीवका शरीर कहा जाता है।

शंका- मृतशरीर पूर्वमें जीवसे सम्बन्ध रखनेवाला होता है किन्तु वह मृतशरीर चेतन जीवसे अपृथक्सिद्ध नहीं होता है, अतः शरीरके उक्त लक्षणकी मृतशरीरमें अव्याप्ति होती है।

समाधान- यहाँ 'यद् द्रव्यम्' पदसे यदवस्थद्रव्यम् विवक्षित है, तब लक्षणका यह अर्थ निष्पन्न होता है कि जिस चेतनसे सम्बन्ध रखनेवाला जिस अवस्थावाला जो द्रव्य उस चेतनसे पृथक् स्थित नहीं रहता है, उस अवस्थावाला वह द्रव्य उस चेतनका शरीर होता है। ऐसा होनेपर अव्याप्तिकी शंका नहीं रहती क्योंकि चेतनसे सम्बन्ध रखनेवाला जो द्रव्य जिस अवस्थामें चेतनसे अपृथक्सिद्ध है, वह उस अवस्थामें उस चेतनका शरीर है। जीवितावस्थामें ही उसे अपृथक्सिद्ध होनेके कारण शरीर कहा जाता है। मृतावस्थामें उसे अपृथक्सिद्ध न होनेसे वह शरीरके लक्षणका लक्ष्य ही नहीं है, अतः उस अवस्थामें लक्षण का न जाना ही उचित है। पूर्वमें स्थूलशरीरका वर्णन किया गया है। जीव मरनेपर उन्नीस(१९) तत्त्वोंवाले सूक्ष्म शरीरको लेकर चला जाता है। पूर्वमें जो चतुर्विंशतितत्त्वसमूहरूप शरीर कहा गया है, उसका एकभाग शव(मृतशरीर) होनेसे उसमें शरीर पदका प्रयोग औपचारिक है- **पूर्वं शरीरतया परिक्लृप्तसंघातैकदेशत्वेन च तत्र शरीरत्वव्यवहारः**(ब्र. सू.श्रीभाष्य २.१.९)।

•

शंका- चेतनसे सम्बन्ध रखनेवाला ज्ञान गुण सर्वदा उससे अपृथक् सिद्ध होता है, अतः ज्ञान गुणमें शरीरके लक्षणकी अतिव्याप्ति होती है।

समाधान- यहाँ शरीरके लक्षणमें चेतनपदसे ज्ञानगुणविशिष्ट चेतन आत्माको ग्रहण किया जाता है। शरीर जिस ज्ञानगुणवाले चेतनसे सम्बन्ध रखता है, वह शरीरी आत्मा है। उससे सम्बन्ध रखनेवाला द्रव्य शरीर है। ऐसा होनेपर ज्ञानगुणमें शरीरके लक्षणकी अतिव्याप्ति नहीं होती है क्योंकि ज्ञानगुणसे विशिष्ट चेतनके साथ सम्बन्ध रखनेवाला ज्ञान गुण नहीं है। यदि दो ज्ञान गुण होते तो वैसा होता किन्तु दो ज्ञानगुण नहीं हैं, अतः ज्ञानमें शरीरके लक्षणकी अतिव्याप्तिका निराकरण हो जाता है।

शरीर आधेय(आश्रित) होता है। शरीरी चेतन आधार (आश्रय) होता है। शरीर नियाम्य(नियमन करनेयोग्य) होता है, शरीरी नियामक(नियमन करनेवाला) होता है। शरीर शेष होता है, शरीरी शेषी होता है। परमात्मस्वरूप और धर्मभूतज्ञानको छोड़कर सभी द्रव्य परमात्माके शरीर हैं।

शरीरके उक्त लक्षणका सभी चेतन तथा अचेतनोंमें समन्वय होता है, इसलिए चेतन और अचेतन दोनों परमात्माके शरीर हैं। वे सबके शरीरी आत्मा हैं। बृहदारण्यकके अन्तर्यामिब्राह्मणमें **यस्य पृथिवी शरीरम्**(बृ.उ.३.७.७) से आरम्भ करके २१बार जगत्को परब्रह्मका शरीर कहा गया है। इसी प्रकार **जगत् सर्वं शरीरं ते**(वा. रा.६.११७.२५) इत्यादि शास्त्रोंमें जगत्को उनका शरीर कहा गया है।

समष्टि सृष्टिके चतुर्विंशति तत्त्व परमात्माके साक्षात् शरीर हैं। वे जीवके द्वारा परमात्माके शरीर नहीं हैं क्योंकि छान्दोग्यमें

भूतोंकी सृष्टिके पश्चात् उनमें **अनेन जीवेनात्मनाऽनुप्रविश्य नामरूपे व्याकरवाणीति**(छां.उ.६.३.२) इस प्रकार जीवके द्वारा परमात्माके अनुप्रवेशसे नामरूप विभागका निरूपण किया गया है, अतः समष्टिसृष्टिके पश्चात् भावी व्यष्टिसृष्टिके पदार्थोंमें जीवद्वारा उनका अनुप्रवेश होनेसे वे पदार्थ जीवद्वारा उनके शरीर हैं तथा वे साक्षात् भी परमात्माके शरीर हैं किन्तु समष्टिसृष्टिके पदार्थ साक्षात् ही उनके शरीर हैं क्योंकि पञ्चीकरणके पूर्व वे साक्षात् ही सबमें अनुप्रविष्ट हैं, जीवद्वारा नहीं। भगवान् के दिव्यमङ्गलविग्रह उनके साक्षात् शरीर हैं। व्यष्टिसृष्टिमें जो जीवके शरीर हैं, वे भगवान् के साक्षात् शरीर हैं तथा जीवद्वारा भी भगवान् के शरीर हैं। सुषुप्ति, मूर्च्छा और समाधिकालमें भी जीव और उसके शरीर नियाम्य होकर रहते हैं। नियमन करनेके लिए ज्ञान और इच्छा अपेक्षित हैं किन्तु सुषुप्ति आदि अवस्थाओंमें जीवके ज्ञान और इच्छा संभव नहीं, अतः उस समय जीव अपने शरीरका नियामक नहीं होता है। उस समय परमात्मा ही साक्षात् जीवके शरीरके नियामक होते हैं। अतः यह मानना पड़ता है कि जिस प्रकार चेतन साक्षात् परब्रह्मका शरीर

उसी प्रकार जीवके अचेतन शरीर भी परमात्माके साक्षात् शरीर है। इस प्रकार यह निष्पन्न होता है कि चेतन साक्षात् परमात्माका शरीर है। अचेतन पदार्थ साक्षात् तथा जीवके द्वारा भी परमात्माका शरीर है।

नैयायिकसम्मत शरीरके लक्षणोंका निराकरण– न्यायदर्शनकार महर्षि गौतमने **चेष्टेन्द्रियार्थाश्रयः शरीरम्**(न्या.सू.१.११) सूत्रसे शरीरके तीन लक्षणोंका प्रतिपादन किया है। उनमें प्रथम लक्षण यह है कि जो द्रव्य अन्तिम अवयवी हो तथा चेष्टाका आश्रय हो, वह शरीर है– **अन्त्यावयवित्वे सति चेष्टाश्रयत्वं शरीरत्वम्।** अन्तिम अवयवी उसे कहते हैं, जो अवयवी दूसरे किसी अवयवीका उत्पादक न हो। हाथ

और पाद इत्यादि द्रव्य अवयवोंसे बननेके कारण अवयवी होनेपर भी वे शरीररूप अवयवीके उत्पादक हैं, अतः वे अन्तिम अवयवी नहीं माने जा सकते हैं। शरीर अन्तिम अवयवी है क्योंकि वह दूसरे किसी अवयवीका उत्पादक नहीं है। शरीर कहा जानेवाला द्रव्य चेष्टाका आश्रय है। इस प्रकार इस लक्षणका शरीरमें समन्वय होता है। हाथ इत्यादिमें अतिव्याप्तिको दूर करनेके लिये इस लक्षणमें अन्त्यावयवित्व विशेषण तथा घटादिमें अतिव्याप्ति दूर करनेके लिए चेष्टाश्रयत्व विशेष्य कहा गया है। दूसरा लक्षण यह है कि जो द्रव्य अन्तिम अवयवी हो तथा इन्द्रियोंका आश्रय हो, वह शरीर है– **अन्त्यावयवित्वे सति इन्द्रियाश्रयत्वम्।** तीसरा लक्षण यह है कि जो द्रव्य अन्तिम अवयवी हो तथा भोग का स्थान हो, वह शरीर है– **अन्त्यावयवित्वे सति भोगायतनत्वम्** । अब इन तीनों लक्षणोंपर विचार किया जाता है। प्रथम लक्षणमें चेष्टा शब्दसे सब तरहकी क्रियाएं यदि विवक्षित हैं, तो घट आदिमें अतिव्याप्ति होगी क्योंकि घट अन्तिम अवयवी है तथा चेष्टा अर्थात् चलन इत्यादि क्रियाओंका आश्रय है परन्तु शरीर नहीं है।

नैयायिक– चेष्टा शब्दसे सब तरहकी क्रियाएं विवक्षित नहीं हैं किन्तु वे सभी क्रियाएं विवक्षित हैं, जो प्रयत्नवाले आत्माके संयोगसे उत्पन्न होती हैं। शरीरमें होनेवाली क्रियाएं ही इस प्रकारकी हैं क्योंकि प्रयत्नवाली आत्माका शरीरके साथ संयोग होनेसे ही क्रियाएं उत्पन्न होती हैं। इन क्रियाओंके प्रति प्रयत्नवाली आत्माका संयोग असमवायिकारण है क्योंकि वह संयोग समवायिकारण शरीरमें रहता हुआ इन क्रियाओंको उत्पन्न करता है। प्रयत्नवाले आत्माका संयोग जिन क्रियाओंका असमवायिकारण है, वे क्रियाएं ही चेष्टा शब्दसे विवक्षित हैं। ऐसा मानने पर घटादिमें अतिव्याप्ति दूर हो जाती है क्योंकि घटादिमें होनेवाली क्रियाओंके लिए प्रयत्नवाली आत्माका

संयोग असमवायिकारण नहीं किन्तु वायु आदिका संयोग ही असमवायिकारण है। ऐसी स्थितिमें घटादिमें होनेवाली क्रिया चेष्टा नहीं मानी जा सकती है, घटादिमें चेष्टाश्रयत्वरूप अंश न होनेसे अतिव्याप्ति नहीं होती है।

वेदान्ती– नैयायिकोंने भूमि और पर्वत इत्यादिको ईश्वरका शरीर नहीं माना है। हम उनको ईश्वरका शरीर मानते हैं। न्याय मतके अनुसार वे अलक्ष्य हैं। उनमें लक्षण विद्यमान होनेसे अतिव्याप्ति होती है क्योंकि भूमि और पर्वत के द्वारा किसी दूसरे अवयवीके उत्पन्न न होनेसे वे अन्तिम अवयवी हैं तथा प्रयत्नयुक्त ईश्वरके संयोगरूपी असमवायिकारणसे होनेवाली कम्प इत्यादि क्रियाओंके आश्रय हैं।

नैयायिक– उपर्युक्त अतिव्याप्तिको दूर करनेके लिए उस लक्षणमें 'प्रयत्नवज्जीव'का विशेषणरूपमें निवेश करते हैं, तब यह लक्षण होता है कि जो द्रव्य अन्तिम अवयवी हो तथा प्रयत्नवाले जीवके संयोगरूपी असमवायिकारणसे उत्पन्न होनेवाली क्रियाका आश्रय हो, वह शरीर है। इस प्रकार लक्षणका परिष्कार करने पर उपर्युक्त अतिव्याप्ति दूर हो जाती है क्योंकि भूमि और पर्वत इत्यादिमें होनेवाली कम्पन इत्यादि क्रियाओंका असमवायिकारण प्रयत्नयुक्त जीवका संयोग नहीं है किन्तु प्रयत्नयुक्त ईश्वरका संयोग है। इस परिष्कारके अनुसार अतिव्याप्ति दूर होनेसे उपर्युक्त लक्षण दोषरहित है।

वेदान्ती– प्रयत्नवज्जीव ऐसा विशेषण देने पर भी प्राण आदिमें अतिव्याप्ति होती है। नैयायिक और वेदान्ती प्राण आदिको जीवका शरीर नहीं मानते हैं। अत एव वे अलक्ष्य हैं, उनमें उपर्युक्त लक्षण है। प्राणके द्वारा किसी अवयवीकी उत्पत्ति न होनेसे वह अन्तिम

अवयवी है, प्रयत्नवाले जीवके संयोगरूपी असमवायिकारणसे उसमें उच्छ्वास इत्यादि क्रियाएं होती हैं। इस प्रकार प्राण आदिमें लक्षण विद्यमान होनेसे अतिव्याप्ति होती है।

नैयायिक– उपर्युक्त लक्षणमें 'बुद्धिपूर्वक प्रयत्न' ऐसा विशेषण दिया जाता है। इससे अतिव्याप्ति दूर हो जाती है क्योंकि यद्यपि प्राण आदि अन्त्यावयवी हैं तथा प्रयत्नवाले जीवके संयोगरूपी असमवायिकारणसे होनेवाली उच्छ्वास आदि क्रियाओंके आश्रय हैं तथापि जीवका वह प्रयत्न जिसके कारण निःश्वास आदि क्रियाएं होती हैं, वे बुद्धिपूर्वक नहीं हैं, जीव निःश्वास आदिको उत्पन्न करनेके लिए सोच-समझकर प्रयत्न नहीं करता है। बुद्धिपूर्वक प्रयत्न करनेवाले जीवके संयोगरूपी असमवायिकारणसे उत्पन्न होनेवाली क्रियाका आश्रय न होनेसे प्राणादिमें अतिव्याप्ति नहीं होती है।

वेदान्ती– ऐसा निवेश करने पर भी प्राणायामकालमें बुद्धिपूर्वक जीवके प्रयत्नसे होनेवाली आकुञ्चन और प्रसारण इत्यादि क्रियाओंका आश्रय होनेसे प्राणादिमें अतिव्याप्ति अवश्य होगी।

नैयायिक– प्राण वायु इत्यादि अन्तिम अवयवी नहीं हैं क्योंकि उनसे भी बड़ा अवयवी वायु उत्पन्न हो सकता है तथा प्राण वायु बाहर निकलने पर बाह्यवायुसे मिलकर अवयवीको उत्पन्न करता है। प्राणादिमें अन्त्यावयवित्व न होनेसे उक्त लक्षणकी अतिव्याप्ति दूर हो जाती है।

वेदान्ती– तब तो अन्त्यावयवी किसीको भी नहीं मान सकते हैं?

नैयायिक– घट आदि अन्त्यावयवी माने जा सकते हैं क्योंकि इनसे दूसरा अवयवी उत्पन्न नहीं हो सकता है।

वेदान्ती- अनेक घट आदिसे बड़ी भित्ति निर्मित हो सकती है तथा अनेक वस्त्रोंसे बड़ी कन्था निर्मित हो सकती है, ऐसी स्थितिमें घट-पट भी अन्त्यावयवी नहीं हो सकते हैं।

नैयायिक- अनेक घट और पट आदिसे भित्ति और कन्था इत्यादिका आरम्भ नहीं होता है, अतः वे अन्त्यावयवी माने जा सकते हैं।

वेदान्ती- प्राण आदिसे भी दूसरे अवयवीका आरम्भ न होनेसे प्राण आदि भी अन्त्यावयवी हैं, अतः उनमें अतिव्याप्ति होगी ही।

नैयायिक- घट आदि मध्यावयवी हैं, अन्त्यावयवी नहीं हैं क्योंकि उनसे भित्ति आदि अवयवी उत्पन्न होते हैं। इसी प्रकार प्राण भी मध्यावयवी होनेसे उसमें अतिव्याप्ति नहीं होती है।

वेदान्ती- ऐसी स्थितिमें सभी पदार्थोंको मध्यावयवी मानना होगा। कोई भी पदार्थ अन्त्यावयवी नहीं माना जा सकता है। कोई भी पदार्थ अन्त्यावयवी न होने से उपर्युक्त लक्षण असम्भव दोषसे ग्रस्त है।

नैयायिकोंने शरीरका दूसरा लक्षण यह माना है कि जो द्रव्य इन्द्रियोंका आश्रय है, वह शरीर है- **इन्द्रियाश्रयत्वं शरीरस्य लक्षणम्।** अब इस लक्षण पर विचार किया जाता है कि इन्द्रियोंका आश्रय किसे मानना चाहिए? जिसमें इन्द्रियोंका समवाय हो, या जिसमें इन्द्रियों का संयोग हो? इनमें प्रथम पक्ष समीचीन नहीं है क्योंकि इसके अनुसार असम्भव दोष होता है। नैयायिकोंने यह नहीं माना है कि इन्द्रियाँ शरीरमें समवाय सम्बन्धसे रहती हैं। उन्होंने यहीं माना है कि इन्द्रियाँ शरीरमें संयोग सम्बन्धसे रहती है। ऐसी स्थितिमें नैयायिकके मतानुसार प्रथम पक्षमें इन्द्रियावयवोंमें अतिव्याप्ति होगी क्योंकि उनमें इन्द्रिय समवायसम्बन्धसे रहती है, अतः प्रथम पक्ष समीचीन नहीं है तथा द्वितीय पक्ष भी समीचीन

नहीं है क्योंकि घट आदिमें इस लक्षणकी अतिव्याप्ति होती है। देखने एवं स्पर्श करनेके समय घट आदिमें चक्षु इत्यादि इन्द्रियोंका संयोग रहता ही है। वे शरीर नहीं हैं, उनमें उपर्युक्त लक्षण जानेसे अतिव्याप्ति होगी, इसलिए द्वितीय पक्ष भी ठीक नहीं है।

नैयायिक- जब तक जो द्रव्य रहता है, तब तक उसमें लगातार होनेवाला इन्द्रियसंयोग लक्षणमें विवक्षित है। ऐसे इन्द्रियसंयोगका जो आश्रय है, वह शरीर है। शरीर जब तक बना रहता है, तब तक इन्द्रियसे संयुक्त रहता ही है। अतः उसमें लक्षण का समन्वय हो जाता है परन्तु घट आदि जब तक बने रहते हैं, तब तक इन्द्रियसे संयुक्त होकर रहते हों, ऐसी बात नहीं क्योंकि इन्द्रिय-संयोगके विना भी घटादि विद्यमान रहते हैं, अतः उनमें अतिव्याप्ति नहीं होती है।

वेदान्ती- कभी कभी निर्निमेष दृष्टिसे पुरुष देखता है। देखते समय जो बुद्बुद इत्यादि उत्पन्न होकर नष्ट हो जाते हैं, वे जब तक बने रहते हैं, तब तक इन्द्रिय-संयोगका आश्रय बनकर ही रहते हैं। ऐसी अवस्थामें उनमें उपर्युक्त लक्षणकी अतिव्याप्ति अवश्य होगी। नैयायिकोंने मन इन्द्रियको नित्य माना है एवं वह विभु आत्मासे नित्य संयुक्त रहता है। आत्मा शरीर नहीं है, किन्तु आत्मामें सदा मन इन्द्रियका संयोग होनेसे अतिव्याप्ति होगी।

नैयायिक- इन्द्रियाश्रयत्वका यह परिष्कार किया जाता है कि शरीर वह होता है, जिसके सम्पूर्ण प्रदेशोंमें इन्द्रियोंका संयोग हो। बुद्बुदके सभी अंशोंमें चक्षुरिन्द्रियका संयोग नहीं है क्योंकि उसके भीतरी अंशोंमें चक्षुरिन्द्रियका संयोग नहीं होता है, अतः उसमें अतिव्याप्ति नहीं होगी। शरीरके सभी प्रदेशोंमें कम से कम त्वगिन्द्रियसंयोग होनेसे शरीरमें लक्षण का समन्वय होता है।

वेदान्ती– नैयायिकमतानुसार शरीरके सभी प्रदेशोंमें इन्द्रियसंयोग नहीं माना जा सकता है क्योंकि उनके मतमें त्वगिन्द्रिय वायवीय होनेसे स्पर्शवाली तथा मूर्त है एवं शरीर भी स्पर्शवाला तथा मूर्त है, शरीरके अवयव भी ऐसे ही हैं। इसलिए मूर्त शरीर और इन्द्रियोंके संयोगमें प्रतिघात अवश्यम्भावी है, मूर्त पदार्थोंके संयोगमें प्रतिघात को अवश्यम्भावी नैयायिकोंने भी माना है। प्रतिघात अवश्यम्भावी होनेके कारण शरीरके सभी प्रदेशोंमें इन्द्रियका संयोग हो ही नहीं सकता, अतः उनके मतानुसार उपर्युक्त लक्षणमें असंभव दोष होता है। शरीरके अन्तर्गत ऐसे भी प्रदेश हैं, जहाँ इन्द्रियोंकी गति नहीं है। इस कारण उपर्युक्त लक्षणमें असम्भव दोष होता है, अतः यह परिष्कार भी समीचीन नहीं है।

नैयायिक– हम उपर्युक्त लक्षणका यह परिष्कार करते हैं कि एक साथ अनेक इन्द्रियोंके रहनेका जो देश है अर्थात् जिस देशमें एक समयमें अनेक इन्द्रियाँ विद्यमान हों, वह शरीर है।

वेदान्ती– इस परिष्कारमें अनेक इन्द्रियोंके रहनेकी जो बात कही गई है, यदि वह संयोग सम्बन्धसे होनेवाली स्थितिको लेकर है, तो आकाश आदि पदार्थ तथा ईश्वरमें अतिव्याप्ति होगी क्योंकि उनमें अनेक इन्द्रियाँ एक कालमें संयोग सम्बन्धसे रहती हैं तथा वे एक कालमें अनेक इन्द्रियोंके रहनेके स्थान हैं।

नैयायिक– जो पदार्थ इन्द्रियोंका उपष्टम्भक अर्थात् इन्द्रियोंकी कार्यजनन शक्तिको बढ़ाता हुआ एक समयमें अनेक इन्द्रियोंके रहनेका स्थान हो, वह शरीर है। शरीर इन्द्रियोंकी कार्यजनन शक्तिको बढ़ाते हुए इन्द्रियोंके रहने का स्थान है, इसलिए उसमें लक्षण का समन्वय हो जाता है। आकाश आदि इन्द्रियोंके रहनेके स्थान होनेपर भी वे उनकी शक्तिको बढ़ाते नहीं हैं, अतः उनमें

अतिव्याप्ति नहीं होती है।

वेदान्ती– इस प्रकार उपष्टम्भकत्वकी विवक्षा करने पर प्राणमें अतिव्याप्ति होती है क्योंकि प्राण इन्द्रियशक्तिका वर्धक है और प्राणका ही आश्रय लेकर इन्द्रियाँ रहती हैं, अतः अनेक इन्द्रियोंके रहनेका स्थान भी वही है परन्तु प्राण शरीर नहीं है।

नैयायिक– शरीरके इस लक्षणका परिष्कार इस प्रकार किया जाता है कि वह पदार्थ शरीर है, जो रहते समयमें कभी भी इन्द्रियोंके असंयोगके योग्य नहीं होता।

वेदान्ती– इस लक्षणमें यह दोष है कि नैयायिकोंने मृत शरीरको शरीर माना है क्योंकि मरनेके बाद वह शरीर रहता है। उसमें इन्द्रियसंयोग न होनेसे वह इन्द्रियोंके असंयोगके योग्य बन जाता है, इसलिए मृतशरीरमें लक्षण न रहनेके कारण नैयायिकमतानुसार अव्याप्ति होगी। नैयायिकोंके मतानुसार मन नित्य होनेके कारण ईश्वर सदा मनसे संयुक्त ही रहते हैं, असंयुक्त कभी नहीं होते, ऐसी स्थितिमें अलक्ष्य ईश्वरादिमें उपर्युक्त लक्षण होनेसे अतिव्याप्ति भी होगी।

नैयायिक– शरीरका लक्षण यह है कि जो द्रव्य इन्द्रियसे भिन्न हो तथा प्राणव्यापारके अनुसार प्रवृत्ति और निवृत्ति इत्यादि रखता हो, वह शरीर है। इन्द्रियोंमें अतिव्याप्तिको हटानेके लिए लक्षणमें इन्द्रियभिन्नत्व कहा गया है। इन्द्रिय भी प्राणके व्यापारके अनुसार प्रवृत्ति और निवृत्ति इत्यादि रखती है परन्तु वह शरीर नहीं है। उसमें अतिव्याप्ति होती है, इन्द्रियभिन्नत्व कहनेसे वह दूर हो जाती है क्योंकि इन्द्रिय इन्द्रियसे भिन्न नहीं है।

वेदान्ती– इस लक्षणकी आत्मा और मल आदिमें अतिव्याप्ति होगी। आत्मा और मल इत्यादि शरीर नहीं हैं परन्तु वे इन्द्रियोंसे भिन्न हैं

तथा उनकी प्रवृत्ति और निवृत्ति इत्यादि व्यापार प्राणव्यापारके अधीन हैं, अतः उनमें अतिव्याप्ति होती है।

नैयायिक- यहाँ यह अर्थ विवक्षित है कि सभी प्रवृत्तियाँ प्राणव्यापारके अधीन हैं, आत्मा और मल आदिकी सभी प्रवृत्तियाँ प्राणव्यापारके अधीन नहीं हैं, क्योंकि जीवनयोनि प्रयत्न प्राणाधीन नहीं हैं। अतः उनमें अतिव्याप्ति नहीं होती है।

वेदान्ती- ऐसा मानने पर इस लक्षणमें असम्भव दोष होता है। शरीरके सभी व्यापार प्राणके अधीन नहीं होते, इसलिए जिस शरीरको वायु खींचकर बहुत दूर ले जाती है तथा जलप्रवाह बहाकर ले जाता है, उस शरीरमें होनेवाली वह प्रवृत्ति प्राणके अधीन नहीं है, अतः असम्भव दोष होगा। इस विचारसे यही सिद्ध होता है कि नैयायिकवर्णित यह लक्षण भी समीचीन नहीं है।

नैयायिकोंने शरीरका तीसरा लक्षण यह किया है कि जो भोग भोगनेका स्थान है, वह शरीर है- **भोगायतनत्वं शरीरत्वम्।** अब इस लक्षण पर विचार किया जाता है। यदि भोगका स्थान होना शरीरका लक्षण है तो गृह इत्यादिमें अतिव्याप्ति होगी क्योंकि जीव गृह इत्यादिमें रहकर भोग भोगते हैं परन्तु गृह इत्यादि शरीर नहीं हैं। इन अलक्ष्य गृह इत्यादिमें भोगस्थानत्वरूप लक्षण रहता है।

नैयायिक- इस लक्षणका यह परिष्कार है कि जिसका आश्रय लेकर ही आत्मा भोगवाली बनती है, वह पदार्थ भोगायतन माना गया है। लोकमें जिसे हम लोग शरीर कहते हैं, उसका आश्रय लेकर ही जीव भोग भोगता है, उसे छोड़नेपर नहीं परन्तु गृह इत्यादिको छोड़नेपर भी जीव सुख-दुःख भोगता है। यह परिष्कृत लक्षण गृहादिमें नहीं है, अत एव अतिव्याप्ति नहीं है।

वेदान्ती- वेद के अनुसार यह लक्षण नहीं हो सकता है क्योंकि नैयायिक भले शरीररहित होनेसे मुक्तोंको भोग नहीं मानें परन्तु "मुक्त ब्रह्मके साथ अनेक कल्याणकारक गुणोंका अनुभव करता है"- **सोऽश्नुते सर्वान् कामान् सह ब्रह्मणा विपश्चितेति**(तै.उ.२.१.१) इस श्रुतिके अनुसार शरीररहित मुक्तोंको भी ब्रह्मानुभवरूप भोग होता है। ऐसी स्थितिमें यह कैसे कहा जा सकता है कि जीव शरीरशब्दवाच्य पदार्थका आश्रय लेकर ही भोग भोगता है। शरीरशब्दवाच्य पदार्थका आश्रय लिये विना ही मुक्त भोग भोगते हैं, यह अर्थ उपनिषत्- सिद्धान्तमें माना जाता है। अतः इससे विरुद्ध उपर्युक्त लक्षण मान्य नहीं हो सकता है।

नैयायिक- लक्षणमें भोग शब्दसे दुःखात्मक भोग विवक्षित है। वेदान्ती भी यह मानते हैं कि जीव शरीरशब्दवाच्य पदार्थका आश्रय लेकर ही दुःख भोगता है।

वेदान्ती- जिसका आश्रय लेकर ही जीव दुःख भोगता है, वह शरीर है। इस प्रकार लक्षण करने पर भी इन्द्रियोंमें अतिव्याप्ति होगी क्योंकि इन्द्रियोंका आश्रय लेकर ही जीव दुःख भोगता है। इन्द्रिय शरीर नहीं है, अतः अलक्ष्य इन्द्रियोंमें उपर्युक्त लक्षण संगत होनेसे अतिव्याप्ति अवश्य होगी। ईश्वर और मुक्त इत्यादि स्वेच्छासे जिन शरीरोंको धारण करते हैं, उनमें यह लक्षण न होनेसे अव्याप्ति भी है।

नैयायिक- अपने भ्रमके अनुसार जो भोगका आश्रय प्रतीत होता है, वह शरीर है। इस प्रकार लक्षणका परिष्कार किया जाता है। यह निश्चित है कि देहात्माभिमानमें पड़े हुए जीव भ्रमसे शरीरको आत्मा समझते हैं तथा भ्रमसे यह भी समझते हैं कि शरीर ही दुःख को भोग रहा है। इस प्रकार भ्रमके अनुसार शरीरशब्दवाच्य पदार्थ ही

भोगाश्रय प्रतीत होता है और इस लक्षणका शरीरमें समन्वय हो जाता है।

वेदान्ती– जिस प्रकार देहात्माभिमानी चार्वाक भ्रमसे देहको भोगाश्रय मानता है। उसी प्रकार इन्द्रिय-आत्मवादी, मन-आत्मवादी और प्राण-आत्मवादी चार्वाक इन्द्रिय, मन और प्राणको आत्मा मानते हुए भ्रमसे इनको भोगाश्रय मानते हैं परन्तु ये शरीर नहीं है, इनमें उपर्युक्त लक्षण विद्यमान है। अतः अतिव्याप्ति दोष होता है। ईश्वर और मुक्त के शरीरों में अव्याप्ति भी है क्योंकि ईश्वर और मुक्त भ्रमसे देहको भोगाश्रय नहीं समझते हैं।

किसीने शरीरका यह लक्षण कहा है कि जो पदार्थ शिर, हाथ और चरण इत्यादि अङ्गोंसे युक्त है, वह शरीर है– **शिरःपाणिपादादिमत्त्वम्** यह लक्षण भी समीचीन नहीं है क्योंकि शिलासे निर्मित प्रतिमा इत्यादिमें यह लक्षण है किन्तु वे शरीर नहीं हैं, अतः अतिव्याप्ति होती है।

नैयायिक– इस लक्षणका यह परिष्कार है कि जिस पदार्थमें प्राण आदि हों तथा पाणि और पाद इत्यादि अङ्ग हों, वह शरीर है।

वेदान्ती– मृतशरीर में प्राणादि न होनेसे इस लक्षणकी अव्याप्ति होगी।

नैयायिक– यहाँ यह अर्थ विवक्षित नहीं है कि उसमें सदा प्राण रहें किन्तु किसी भी समयमें प्राण रहें, यही अर्थ विवक्षित है। मृत कहा जानेवाला शरीर भी जीवित रहते समय प्राणसे युक्त ही था, अतः उसमें लक्षण का समन्वय हो जाता है, अव्याप्ति नहीं होती है।

वेदान्ती– ऐसा कहनेपर भी स्थावरादि शरीरोंमें अव्याप्ति अवश्य होगी क्योंकि उनमें प्राणादि रहने पर भी पाणिपादादिमय सन्निवेश नहीं है। इसी प्रकार नैयायिकद्वारा वर्णित शरीर के अन्य लक्षण

दोषयुक्त हैं। सिद्धान्तानुसार वर्णित लक्षण ही समीचीन है क्योंकि वह श्रुतिके अनुकूल है। अन्तर्यामी ब्राह्मणमें जिन पदार्थोंको अन्तर्यामी परमात्माका शरीर कहा गया है, उनमें सिद्धान्तसम्मत लक्षण ही संगत होते हैं। इस विषयका विस्तार 'नयद्युमणि' ग्रन्थमें देखना चाहिए।

शरीरके विभाग- शरीर दो प्रकार के होते हैं- १.नित्य २.अनित्य।

१.नित्य शरीर- प्रकृति, काल,जीव और शुभाश्रय(श्रीविग्रह) ये सभी परब्रह्मके नित्य शरीर हैं। हनुमान, लक्ष्मण, भरत, शत्रुघ्न, गरुड़ और शेष आदि नित्यसूरियों (कभी भी संसार बन्धनमें न आनेवालों)के शरीर नित्य हैं। ये स्वाभाविक हैं, कर्मकृत नहीं हैं।

२.अनित्य शरीर- इसके भी दो भेद हैं- क.अकर्मकृत, ख.कर्मकृत।

क.अकर्मकृत शरीर- परब्रह्मके महत् अहंकार आदि जो शरीर हैं, वे अकर्मकृत हैं। भक्तपरित्राणके लिए कदाचित् धारण किये गये शरीर भी अकर्मकृत होते हैं। ये शरीर कर्मसे प्राप्त नहीं होते। ये भगवानकी इच्छासे ही उनके शरीर होते हैं। नित्यसूरि और मुक्त स्वसंकल्पसे जिन नूतन शरीरोंको धारण करते हैं, वे भी अकर्मकृत ही होते हैं।

ख.कर्मकृत शरीर- इसके भी दो भेद हैं-१.स्वसंकल्पके सहित कर्मसे उत्पन्न, २.केवल कर्मसे उत्पन्न।

१.स्वसंकल्पके सहित कर्मसे उत्पन्न- सौभरि इत्यादि योगियोंके शरीर उनके संकल्पके सहित कर्मसे उत्पन्न होते हैं। पौराणिक कथानकोंके अनुसार महर्षि सौभरिने अपने योगशक्तियुक्त संकल्पसे पचास शरीरोंको धारण किया था। संकल्पकी सिद्धिके अनुरूप उनका कर्म होनेपर ही वैसा संभव हुआ।

२.केवल कर्मसे उत्पन्न- सामान्य संसारी जीवोंके शरीरोंकी उत्पत्तिके मूल उनके कर्म ही हैं। पुनः शरीरके दो भेद किये जाते हैं-

क.स्थावर शरीर- शिला, वृक्ष, लता आदि स्थावर शरीर हैं।

ख.जंगमशरीर- इसके चार भेद हैं- १.देव, २.मनुष्य, ३.तिर्यक्, ४.नारकीय।

शुक्र और शोणितके मेलको योनि कहते हैं। उससे उत्पन्न शरीर योनिज कहलाते हैं। जो शरीर योनिसे उत्पन्न नहीं होते हैं, वे अयोनिज कहलाते हैं। देवताओंमें ब्रह्मा तथा नारदादि, मनुष्योंमें द्रौपदी, धृष्टद्युम्न और तिर्यक्में ऐरावत आदि के शरीर अयोनिज हैं। वृक्ष, गुल्म आदि उद्भिज्ज, जूएं आदि स्वेदज और नारकीय प्राणियों के शरीर भी अयोनिज हैं।

छान्दोग्य उपनिषद्(५.३-५.१०)में पञ्चाग्नि विद्याके अन्तर्गत द्युलोक, पर्जन्य, पृथिवी, पुरुष और स्त्री इन पाँच अग्नियोंमें श्रद्धा, सोम, वृष्टि, अन्न और रेत इन पाँच आहुतियोंके हवनकी बात कही गयी है। स्त्रीमें पुरुषके द्वारा रेतका समर्पण पञ्चमाहुति कही गयी है। योनिज शरीरोंमें ही इसकी आवश्यकता है। इन आकाश, वायु, धूम, अभ्र, मेघ, वृष्टि, ब्रीह्यादि और रेतस्सिक्(रेतका सेक करनेवाले पिता का शरीर) ये दूसरे जीवोंके शरीर होते हैं, योनिप्राप्तिके पूर्व जीवका उनमें संसर्गमात्र होता है। जीव आकाश आदि शरीरवाला नहीं होता है। ब्रीहि आदिको प्राप्त करनेके पूर्व जीव जिन आकाश आदिमें अवस्थित रहता है, उनसे शीघ्र निकलकर दूसरेमें पहुँच जाता है। ब्रीहि आदिमें पहुँचनेके बाद तो जीव उनसे विलम्बसे ही निकल पाता है। यह अर्थ **अतो वै खलु दुर्निष्प्रपतरम्**(छां.उ.५.१०.६) इस श्रुति वाक्यसे प्रमाणित है। द्युलोक, पर्जन्य, पृथिवी और पुरुषरूप अग्नियोंमें हवन होने के बाद

पाँचवी स्त्रीरूपी अग्निमें भूतसूक्ष्मविशिष्ट जीवका हवन होनेपर वह हुत द्रव्य उन-उन कालोंमें होनेवाले जिन-जिन परिणामविशेषोंको प्राप्त होता है, वे वैद्यक और योगादि शास्त्रोंमें सविस्तर प्रतिपादित हैं। शुक्र और शोणितसे सप्त धातुओंकी उत्पत्तिकी प्रक्रिया, प्रकृतिविकृतिभावमें रहनेवाले वात, पित्त और कफ इत्यादिका वर्णन तथा नाड़ी आदिकी विशेषताएं शास्त्रोंमें वर्णित हैं। गर्भोपनिषद्में कहा गया है कि ऋतुकालमें शुक्र और शोणितका संयोग होनेपर गर्भमें एक रात्रिमें ही शुक्र और शोणित कलिलके रूपमें परिणत हो जाते हैं। ये ही सात रात्रिमें बुद्बुद एवं अर्धमासके अन्तर्गत पिण्ड बन जाते हैं तथा पुनः एक मासमें कठिन होकर दूसरे मासमें शिरको उत्पन्न करते हैं। तीन मासमें पाद उत्पन्न होकर चतुर्थमासमें अङ्गुलि, उदर और कटिप्रदेशका आविर्भाव होता है। इसी क्रमसे पञ्चम मासमें मेरुदण्ड उत्पन्न होकर षष्ठ मासमें मुख, नासिका, नेत्र और श्रोत्र उत्पन्न होते है तथा शरीर सप्तम मासमें जीवसे संयुक्त होकर अष्टम मासमें पूर्णाङ्गसे सम्पन्न होता है- **ऋतुकाले संप्रयोगादेकरात्रोषितं कलिलं भवति। सप्तरात्रोषितं बुद्बुदं भवति। अर्धमासाभ्यान्तरेण पिण्डो भवति। मासाभ्यान्तरेण कठिनो भवति। मासद्वयेन शिरः संपद्यते। मासत्रयेण पादप्रवेशो भवति। अथ चतुर्थे मासेऽङ्गुलिजठरकटिदेशो भवति। पञ्चमे मासे पृष्ठवंशो भवति। षष्ठेमासे मुखनासिकाक्षिश्रोत्राणि भवन्ति। सप्तमे मासे जीवेन संयुक्तो भवति। अष्टमे मासे सर्वलक्षणसम्पूर्णो भवति।**(ग.उ.) इस प्रकार गर्भोपनिषद्में तत्तत्कालोंमें होनेवाले परिणाम वर्णित हैं।

प्रकारान्तरसे शरीरके चार भेद-

१.जरायुज- जरायु(गर्भका आवरण)से उत्पन्न होनेवाले शरीर जरायुज कहे जाते हैं। मनुष्य और पशुओंके शरीर जरायुज हैं।

२.अण्डज- अण्डोंसे उत्पन्न होनेवाले पक्षियोंके शरीर अण्डज कहे जाते हैं।

३.उद्भिज्ज-भूमिको फोड़कर उत्पन्न होनेवाले वृक्षादि शरीर उद्भिज्ज हैं।

४.स्वेदज- स्वेद अर्थात् पसीनेसे उत्पन्न होनेवाले जूं आदि शरीर स्वेदज हैं।

भगवान् पञ्चीकृत भूतोंसे ब्रह्माण्डकी सृष्टि करते हैं। एक ब्रह्माण्डमें चतुर्दश(१४) लोक होते हैं। भगवान् जलमें उठनेवाले बुलबुलोंकी तरह ऐसे असंख्य ब्रह्माण्डोंकी युगपद् संरचना करते हैं। ब्रह्माण्ड पृथ्वी आदि उत्तरोत्तर दशगुने तत्त्वोंसे आवृत्त है। इन ब्रह्माण्डोंका विस्तृत वर्णन श्रीविष्णुपुराणके द्वितीय अंशके द्वितीय अध्यायसे बारहवें अध्याय तक एवं श्रीमद्भागवत्पुराणके पाँचवे स्कन्धके सोलहवें अध्यायसे छब्बीसवें अध्याय तक है।

समष्टिसृष्टि और व्यष्टिसृष्टि-

१-पञ्चीकरणके पूर्वमें होने वाली भूतपर्यन्त सभी तत्त्वोंकी सृष्टि समष्टिसृष्टि कहलाती है और इस समष्टिसृष्टिके पश्चात् होनेवाली सृष्टि व्यष्टिसृष्टि कहलाती है।

२-ब्रह्माण्डोत्पत्तिसे पूर्वकालीन सृष्टिको समष्टिसृष्टि कहते हैं और इससे उत्तरकालीन सृष्टिको व्यष्टिसृष्टि कहते हैं।

३-चतुर्मुखपर्यन्त सृष्टिको समष्टिसृष्टि कहते हैं और चतुर्मुखके द्वारा की गयी सृष्टि को व्यष्टिसृष्टि कहते हैं।

वेदान्तग्रन्थोंमें समष्टि और व्यष्टिसृष्टिकी उक्त तीन प्रकारकी परिभाषाएं मिलती हैं। इनमें प्रथम अधिक उपयोगी है। इसके अनुसार अपञ्चीकृत भूतपर्यन्त चौबीस तत्त्वोंकी सृष्टि समष्टिसृष्टि

है और इसके बाद भगवान् जीवके द्वारा भूतोंमें अनुप्रवेश करके नामरूपका विभाग करते हैं। यह नामरूपका विभाग पञ्चीकरणके अधीन है। पञ्चीकरण भी व्यष्टिसृष्टि है। पञ्चीकरण किये हुए भूतोंसे निर्मित ब्रह्माण्डकी सृष्टि आदि व्यष्टिसृष्टि है।

भगवान् ब्रह्माण्डनिर्माण करके ब्रह्माकी उत्पत्ति पर्यन्त सृष्टिकार्य स्वयं करते हैं, इसलिए इतनी सृष्टि अद्वारक(साक्षात्) सृष्टि कही जाती है। इसके बाद ब्रह्मा द्वारा व्यष्टिसृष्टि करते हैं, इसलिए यह सृष्टि सद्वारक सृष्टि कही जाती है। यह विषय **संज्ञामूर्तिक्लृप्तिस्तु त्रिवृत्कुर्वत उपदेशात्**(ब्र.सू.२.४.१७) इस सूत्रके भाष्यमें प्रतिपादित है। पञ्चीकरणके पूर्वकी सृष्टि अतीन्द्रिय तत्त्वोंकी सृष्टि हैं, इसलिए अतीन्द्रिय तत्त्वोंका ही पञ्चीकरण हुआ है, दृश्यमान पृथिवी आदि भूतोंका नहीं, इसकारण घट तथा स्फटिकादिमें जलादिकी उपलब्धि नहीं होती है। इसके बादकी सृष्टि व्यक्तियोंकी सृष्टि है। ये परिगणित चतुर्विंशति तत्त्वोंके अन्तर्गत नहीं हैं। जब अचित् तत्त्व पूर्वावस्थाको छोड़कर विजातीय अवस्थाको प्राप्त करता है, तब इसे तत्त्वान्तर कहा जाता है। समष्टिसृष्टिमें होनेवाली चौबीस अवस्थाओंको लेकर प्राकृत तत्त्व चौबीस कहे जाते हैं। समष्टिसृष्टिमें अग्निसे जल उत्पन्न हुआ- **अग्नेरापः**(तै.उ.२.१.१) यही क्रम है। जलसे अग्नि उत्पन्न हुई- **अद्भ्योरग्निः** यह वाक्य व्यष्टिसृष्टिमें तेजके प्रति जलकी निमित्तकारणताको कहता है। जलमें विद्यमान तेज ही तेजका उपादान कारण है। अतः **अग्नेरापः** और **अद्भ्योरग्निः** इन दोनों वाक्योंमें विरोध नहीं है। जलसे अग्निकी उत्पत्तिका क्रम स्वीकार नहीं किया जा सकता क्योंकि **अग्नेरापः** यह तैत्तिरीय श्रुति सृष्टिप्रकरणमें पठित है और **अद्भ्योरग्निः** यह श्रुति सृष्टि प्रकरणमें नहीं है। यह स्थूलजगद्विषयक है। जल तप्ततेलमें अग्निको उत्पन्न करता है। कदाचित् मेघमें विद्युत देखी जाती है

और जलसे विद्युतका उत्पादन होता है। इस दृष्टिसे **अद्भ्योरग्निः** यह श्रुति प्रवृत्त हुई है। भूतोंकी उत्पत्ति होनेपर क्रमशः उत्तरोत्तर भूतोंमें एक एक गुणकी अधिकता देखे जानेसे भी **अग्नेरापः** यही क्रम उचित है। कारण तत्त्व पूर्णतः कार्यतत्त्वके रूपमें परिणत नहीं होते बल्कि उनके भागसे कार्यतत्त्वों की सृष्टि होती है। ऐसा स्वीकार करनेका कारण यह है कि शास्त्रोंमें ब्रह्माण्डको उत्तरोत्तर दश-दश गुने अधिक जल, तेज, वायु, आकाश, अंहकार, महत्, और प्रकृति इन सात तत्त्वोंसे आवृत कहा गया है।

तन्मात्राओंके विषयमें एकदेशी आचार्योंका यह मत है कि इनके भी भागसे उत्तर तत्त्व उत्पन्न होते हैं किन्तु सिद्धान्तमें तन्मात्राओंका पूर्णतः परिणाम माना जाता है क्योंकि तन्मात्राका आवरण नहीं कहा गया है। जैसे महत् तथा अहंकारके क्रमशः अध्यवसाय तथा अभिमान कार्य हैं। वैसे तन्मात्राओंका कोई कार्य नहीं है। इस कारणसे सभी तन्मात्राओंका पूर्णतः परिणाम माना जाता है। अधुना हम लोगोंके द्वारा दृश्यमान पञ्च भूत तत्त्व नहीं है, ये तो उनके पञ्चीकृत कार्य हैं। तत्त्व तो अतीन्द्रिय हैं। यह जगत् तो भौतिक पदार्थों का संघात है।

लयप्रक्रिया- सृष्टि-क्रमसे विपरीत लय क्रम होता है। स्वगुण सहित पृथ्वी जलमें लीन होती है। यहाँ लीन शब्दका अर्थ द्रव्यका विनाश नहीं है किन्तु द्रव्यकी पूर्वावस्थाके त्यागपूर्वक अवस्थान्तरको प्राप्त होकर अवस्थान्तरवाले द्रव्यके साथ अविभक्त(एक) होकर रहना ही लीन होना है। अतः पृथ्वी जलमें लीन होती है। इस वाक्यका अर्थ है कि पृथ्वी पृथ्वीत्व अवस्थाको छोड़कर जलत्व-अवस्थाको प्राप्त होकर जलके साथ एक होकर रहती है। इस समय पृथ्वीका जलसे पृथक् नाम और रूप नहीं रहता है। जैसे दुग्धमें जलका नामरूपविभागके अयोग्य संसर्ग होता है, वैसे ही जलमें पृथ्वीका

नामरूप विभागके अयोग्य संसर्ग होता है, इसी प्रकार आगे भी जानना चाहिए। जल तेजमें लीन होता है, तेज वायुमें लीन होता है, वायु आकाशमें लीन होता है, आकाश इन्द्रियोंसे संयुक्त होता है, आकाशसे संयुक्त इन्द्रियाँ शब्दतन्मात्रासे संयुक्त होती हैं। (आकाश शब्दतन्मात्रामें लीन होता है और इन्द्रियाँ शब्द तन्मात्रासे संयुक्त होती हैं।) इन्द्रियोंसे संयुक्त शब्दतन्मात्रा अहंकारमें लीन होती हैं। अहंकार महत्में लीन होता है, महत् अव्यक्तमें लीन होता है, अव्यक्त अक्षरमें लीन होता है, अक्षर विभक्ततममें लीन होता है। विभक्ततम कार्यावस्थाप्राप्तिकी उन्मुखतासे रहित अविभक्ततमशरीरक परमात्मामें उससे अभिन्न होकर रहता है- **पृथिव्यप्सु प्रलीयते। आपस्तेजसि लीयन्ते। तेजो वायौ लीयते। वायुराकाशे लीयते। आकाशमिन्द्रियेषु, इन्द्रियाणि तन्मात्रेषु। तन्मात्राणि भूतादौ[1] लीयन्ते। भूतादिर्महति लीयते। महानव्यक्ते लीयते। अव्यक्तमक्षरे लीयते। अक्षरं तमसि लीयते। तमः परे देव एकी भवति**(सु.उ.२)। प्रलयकालमें अविभक्ततम प्रधान और परमात्मामें शरीरशरीरीभावका विवेचन दुष्कर है। इस कालमें गुणत्रयकी वैषम्यावस्थासे अव्यवहित पर गुणत्रयकी साम्यावस्था होती है। इन दोनों अवस्थाओंवाली प्रकृति अव्यक्त कही जाती है, जिस अवस्थामें प्रकृतिके गुणोंका साम्य भी स्पष्ट नहीं रहता है किन्तु चेतनसमष्टिसंयुक्तत्व स्पष्ट रहता है। उस अवस्थामें चेतनसमष्टिसे संयुक्त अचेतन प्रकृतिको अक्षर शब्दसे कहा जाता है। जिस अवस्थामें चेतन समष्टिसंयुक्तत्वका भी विवेचन नहीं कर सकते हैं, उस अवस्थावाला सूक्ष्मप्रधान तम शब्दका वाच्य होता है। अक्षर आदि अवस्थाओंकी प्राप्तिके लिए उन्मुख वही तम विभक्ततम कहलाता है। तादृश उन्मुखतासे रहित अत्यन्त सूक्ष्म

टिप्पणी१- इस श्रुतिमें आया भूतादि शब्द अहंकारमात्रका बोधक है।

प्रधान अविभक्ततम कहा जाता है। इस अवस्थामें उसका परमात्मशरीरत्वेन भी चिन्तन दुष्कर है, तब यह जलमें विलीन लवणकी तरह परमात्मामें विलीन होकर उससे अविभक्त रहती है। जिस प्रकार चन्द्रकान्तमणिमें विलीन जल, सूर्यकान्तमणि और अरणिमें विलीन अग्नि उनसे अपृथक्स्थित है, उस प्रकार यह परमात्मामें अपृथक्स्थित है। उदाहृत सुबालोपनिषद्के मन्त्रकी विशद व्याख्याके लिए सुदर्शनसूरि(श्रुतप्रकाशिकाचार्य) का भाष्य देखना चाहिये।

अपरिच्छिन्नता- प्रकृति ऊपरकी ओर परिच्छिन्न तथा अन्य सभी ओर अपरिच्छिन्न है।

नित्यता- भूतोंको उत्पन्न करनेवाली वह गोरूपा प्रकृति आदि-अन्तसे रहित है-**गौरनाद्यन्तवती सा जनित्री भूतभाविनी**(मं.उ.१.५), सद्-असद्रूप त्रिगुणात्मक अव्यक्त(प्रकृति) नित्य है- **यत् तत् त्रिगुणमव्यक्तं नित्यं सदसदात्मकम्**(भा.३.२६.१०), अनादि, अनन्त, नित्य, अविनाशी कारण अव्यक्त है- **अनाद्यनन्तमव्यक्तं नित्यं कारणमव्ययम्**(भा.१२.४.१६), परब्रह्म नित्य है और प्रकृति भी नित्य कही गयी है- **नित्यं तत्परमं ब्रह्म नित्या च प्रकृतिः स्मृता**(ब्र.वै.पु.१.२८.३०), प्रकृतिको सत्य कहा है, कार्यरूप विकारको अनृत कहा है- **प्रकृतिं सत्यमित्याहुर्विकारोऽनृतमुच्यते।**(ब्र.पु.उ.३.८५), प्रकृति नित्य है- **तदनन्तम्**(वि.पु.२.७.२६) इन प्रमाणोंके आधार पर वेदान्त दर्शनमें प्रकृतिकी नित्यता स्वीकार की जाती है।

शंका- यदि प्रकृति(माया) नित्य है तो श्वेताश्वतर उपनिषद्में **अन्ते विश्वमाया निवृत्तिः**(श्वे.उ.१.१०) इस प्रकार अन्तमें मायाकी निवृत्ति किस दृष्टिसे कही है?

समाधान- मुक्तावस्थामें माया(प्रकृति) से सम्बन्ध नहीं रहता, इस

दृष्टिसे मायाकी निवृत्ति कही है।

शंका– महाभारत शान्तिपर्वमें कहा है कि परब्रह्मसे अव्यक्त प्रकृति उत्पन्न हुई– **तस्मात्प्रसूतमव्यक्तम्**(म.भा.शां.३४०.२६)। अनादि, उत्पत्तिरहित प्रकृतिकी उत्पत्ति किस दृष्टिसे कही है?

समाधान– वहीं शान्तिपर्वमें **ऋता सत्यामरा**(म.भा.शां.३४१.१४) इन शब्दोंसे प्रकृति को ऋता, सत्या, अमरा भी कहा है। उससे तथा ऊपर लिखे शास्त्रवचनोंसे विरोध न हो, इसलिए ''प्रलयावस्थाके बाद सृष्टिके अनुकूल अभिव्यक्त होती है'' इस दृष्टिसे ही उसकी उत्पत्ति कही है।

ब्रह्मज्ञानसे बन्धनके मूलकारण कर्मरूप अज्ञानकी ही निवृत्ति होती है, ईश्वराश्रित प्रकृति की नहीं। अतः ज्ञान होनेपर भी ब्रह्मात्मिका प्रकृति बनी ही रहती है।

उपसंहार– उपर्युक्त प्रकारसे चतुर्विंशति तत्त्वोंका निरूपण सम्पन्न हुआ। इनमें मूल प्रकृति कारण है और महदादि कार्य हैं। **आत्मन आकाशः सम्भूतः**(तै.उ.२.१.१) इत्यादि वाक्योंमें परमात्मासे आकाश, वायु, अग्नि, जल और पृथ्वी इन पाँच तत्त्वोंकी उत्पत्ति कथित है किन्तु **तत्तेजोऽसृजत**(छां.उ.६.२.३) इत्यादि वाक्योंमें तेज, जल और पृथ्वी इन तीन तत्त्वोंकी उत्पत्ति वर्णित है। यहाँ निर्णयके लिए **अनुक्तम् अन्यतो ग्राह्यम्** इस न्यायका सहारा लेते हैं। इसका अर्थ है- यदि किसी अर्थका एकस्थानमें वर्णन न हुआ हो तो भी अन्यत्र उसका वर्णन होनेपर उसे स्वीकार करना ही चाहिए। इस न्यायके अनुसार आकाश और वायुकी उत्पत्ति छान्दोग्यमें वर्णित न होनेपर भी तैत्तिरीयमें वर्णित होनेके कारण स्वीकार की जाती है। कहीं सृष्टिका संक्षिप्त वर्णन है, कहीं विस्तृत। इन दोनोंमें लेशमात्र भी विरोध नहीं है। इसी प्रकार महत् और अहंकारकी सृष्टि इत्यादि

विषय स्वीकार किये जाते हैं। जो कि इस ग्रन्थमें यथा स्थान निरूपित हैं। उपनिषदोंमें प्रतिपादित सृष्टिप्रक्रिया वैदिक ही है, सांख्यसम्मत नहीं। वैदिकप्रक्रिया और सांख्यकी प्रक्रियाका भेद है। कल्पके भेदसे सृष्टिके क्रमका भेद नहीं है क्योंकि परमात्माने पूर्वकल्पके अनुसार सृष्टि की- **धाता यथापूर्वमकल्पयत्**(ऋ.सं.८.८.४८,तै.आ.१०.१.१४) यह भगवती श्रुति ही कहती है।

अभी प्रकृतिके निरूपणमें उसके कार्य महदादि की उत्पत्ति और लयका भी निरुपण किया गया। वे उत्पत्ति आदि किसी कालमें होती हैं,इसलिए प्रकृतिके निरूपणके पश्चात् कालका निरूपण किया जाता है-

काल

लक्षण- गुणत्रयके अभाववाला जड़द्रव्यविशेष काल कहलाता है- **कालो नाम गुणत्रयरहितो जडद्रव्यविशेषः।** जो स्वयं परिणामी है, प्रकृतिके परिणामका हेतु है, वह सत्त्वादि त्रिगुणसे रहित जडद्रव्यविशेष काल कहा जाता है- **स्वयं परिणामी, प्रकृतेः परिणामहेतुः सत्त्वादिगुणत्रयविहीनो जडद्रव्यविशेषः कालः।** ज्येष्ठत्व, कनिष्ठत्व, बालत्व, वृद्धत्व, चिरत्व, क्षिप्रत्व, भूत, भविष्य आदि व्यवहारविशेषका हेतुभूत, प्रत्यक्षसिद्ध, नित्य एक, विभु द्रव्य काल कहलाता है- **कालो नाम प्रत्यक्षसिद्धं ज्येष्ठकनिष्ठबालवृद्धचिरक्षिप्र-भूतभविष्यादिव्यवहारविशेषहेतुभूतं नित्यम् एकं विभु द्रव्यम्।** कालके दो भेद हैं- **१.**खण्डकाल और **२.**अखण्डकाल। अखण्डकाल नित्य है। खण्डकाल उससे जन्य और अनित्य है।

कालके अतीत, वर्तमान और अनागत ये तीनों भेद उपाधिकृत हैं। प्रयोग किये जा रहे शब्दका अधिकरण काल वर्तमान है- **प्रयुज्यमानशब्दाधिकरणकालो वर्तमानः।** प्रयोग किये गये शब्दके

ध्वंसका अधिकरण काल भूत है- **प्रयुक्तशब्दध्वंसाधिकरणकालो भूतः।** प्रयोग किये जानेवाले शब्दके प्रागभावका अधिकरण काल भविष्य है- **प्रयोक्ष्यमाणशब्दप्रागभावाधिकरणकालो भविष्यः।**

अतिरिक्तपदार्थत्व- **अनादिर्भगवान् कालः**(वि.पु.१.२.२६) इत्यादि वचनोंसे कुछ दार्शनिक कालका परब्रह्मसे अभेद मानते हैं, वह उचित नहीं क्योंकि हे द्विज! विष्णुके जिस अन्यरूपके द्वारा प्रधान और पुरुष सृष्टिकालमें संयुक्त तथा प्रलयकालमें वियुक्त होते हैं, उस रूपान्तरका नाम काल है- **तस्यैव तेऽन्येन धृते वियुक्ते रूपान्तरं तद् द्विज कालसंज्ञम्**(वि.पु.१.२.२४) तथा जो पच्चीसवाँ तत्त्व काल है- **यः कालः पञ्चविंशकः**(भा.३.२६.१५) इत्यादि वचनोंमें कालको परमात्मासे भिन्न कहा गया है। इससे 'आकाश ही काल है', 'तामस महान्(महत् तत्त्व) काल है' इत्यादि मत खण्डित हो जाते हैं। **अनादिर्भगवान् कालः** तथा **अहमेवाक्षयः कालः**(गी.१०.३३) इत्यादि वाक्योंमें भगवदात्मक(श्रीभगवान् के शरीर) कालका वर्णन है। लोकोंका क्षय करनेवाला बढ़ा हुआ काल मैं हूँ- **कालोऽस्मि लोकक्षयकृत्प्रवृद्धः**(गी.११.३२) यह वचन कालके अन्तर्यामी परब्रह्मका बोधक है।

ब्रह्मा, दक्ष आदि प्रजापति, काल तथा समस्त प्राणी हरिकी विभूतियाँ हैं। ये जगत्की सृष्टिका कारण हैं- **ब्रह्मादक्षादयः कालस्तथैवाखिलजन्तवः। विभूतयो हरेरेता जगतः सृष्टिहेतवः।**(वि.पु. १.२२.३१) इत्यादि वचन कालको श्रीभगवान् की विभूति कहते हैं।

नित्यत्व- काल नित्य है, इसकी उत्पत्ति और विनाश नहीं होते हैं। यह सृष्टिके पूर्वकालमें विद्यमान रहता है तथा प्रलयके पश्चात् भी रहता है। सृष्टिके पूर्वमें असत् नहीं था, सत नहीं था-**नासदासीन्नोसदासीत् तदानीम्**(तै.ब्रा.२.८.६.८) तथा 'सृष्टिके

पूर्वकालमें एक सत् ही था'- **सदेव सोम्येदम् अग्र आसीत्**(छां.उ.६.२.१) इत्यादि श्रुतियाँ क्रमशः तदानीम् और अग्रे शब्दोंसे सृष्टिके पूर्वमें कालकी विद्यमानता को कहती हैं। सृष्टिके पूर्वमें वही वस्तु रह सकती है, जिसका प्रलयमें नाश न हुआ हो। इस प्रकार कालका अविनाशित्व भी सिद्ध होता है। अविनाशी काल मदात्मक(ब्रह्मात्मक) ही है- **अहमेवाक्षयः कालः**(गी.१०.३३) हे द्विज! भगवदात्मक काल अनादि है, इसका विनाश नहीं होता- **अनादिर्भगवान् कालो नान्तोऽस्य द्विज विद्यते**(वि.पु.१.२.२६) कालका नित्यत्व ध्वंसाऽप्रतियोगित्वरूप है, सर्वकालसत्त्वरूप नहीं है क्योंकि कालान्तर(कालविशेष) का अभाव होता है।

कालका नाश कोई भी नहीं कर सकता है। यदि कोई कहना चाहे कि सर्वसमर्थ ईश्वर जगत्का नाश करके इसका भी नाश कर देता है, तो यह कथन उचित नहीं है क्योंकि प्रश्न होता है कि ईश्वर कालका नाश कब करता है? यदि कहें कि प्रलयकालमें तो इस कथनसे उस समय कालकी विद्यमानता ही सिद्ध होती है, अतः कालको अनित्य मानना उचित नहीं है।

शैवमतमें कालकी मायासे उत्पत्ति मानी जाती है। उसके अनुसार जगत्की सृष्टिके पूर्व काल नहीं था और प्रलयके पश्चात् काल नहीं रहेगा। उससे यह पूछना चाहिए कि उनके वाक्योंमें जो पूर्व और पश्चात् शब्द हैं, क्या वे शब्द निरर्थक हैं या सार्थक? यदि वे शब्द निरर्थक हैं तो वादी निरर्थक नामक निग्रहस्थानसे निग्रहीत(परास्त) हो जाता है। यदि वे शब्द सार्थक हैं तो पूर्व शब्दका अर्थ होता है- पूर्व काल और उत्तर शब्दका अर्थ होता है- उत्तर काल। ऐसा होनेपर उनके वाक्यका यह अर्थ होता है कि सृष्टिके पूर्व कालमें काल नहीं था और उत्तर कालमें काल नहीं रहेगा। तब तो उक्त वाक्यसे कालकी विद्यमानता ही सिद्ध होती है।

उसका अभाव सिद्ध नहीं होता है बल्कि 'मम मुखे जिह्वा नास्ति' की तरह व्याघात दोष उपस्थित होता है, अतः कालको नित्य मानना ही उचित है।

शंका- हमें पूर्व शब्दसे भूतकालविशेष और पश्चात् शब्दसे भविष्यत् कालविशेष विवक्षित नहीं हैं बल्कि पूर्व शब्दसे भूतदेशविशेष एवं पश्चात् शब्दसे भविष्यद्देशविशेष विवक्षित हैं। इसलिए "भूतदेशविशेषमें काल नहीं था और भविष्यद्देशविशेषमें काल नहीं रहेगा।" यह उक्त वाक्यका अर्थ है, इसलिए हमारे कथनसे सृष्टिके पूर्व और प्रलयके पश्चात् कालका सद्भाव सिद्ध नहीं होता है।

समाधान- यदि उक्त देशोंमें काल नहीं है, तो उनको भूतदेश एवं भविष्यत्देश कैसे कह सकते है? क्योंकि भूतकालसे सम्बन्ध रखनेवाला देश भूतदेश एवं भविष्यत्कालसे सम्बन्ध रखनेवाला देश भविष्यद्देश कहलाता है। यदि उन देशोंमें काल न हो तो उनको भूतदेश और भविष्यद्देश भी नहीं कह सकते हैं। उक्त विवक्षा कालको स्वीकार करके ही संभव होती है। अतः कालका अभाव कभी भी सिद्ध नहीं होता है।

विभुत्व- काल विभु है। यह सर्वत्र(प्राकृत एकपादविभूति और अप्राकृत त्रिपादविभूतिमें) रहता है। सभी परिच्छिन्न वस्तुओंके साथ संयुक्त होना विभुका लक्षण है- **सर्वमूर्तसंयोगित्वं हि विभुत्वम्।** कालकी तरह उसके क्षणादिरूप विकार भी **विश्वम् इदानीं वर्तते** इत्यादि प्रतीतियोंसे विभु सिद्ध होते हैं, अतः कालको अणु माननेवाला जैनमत असंगत है।

सूरिगण जिसका सदा दर्शन करते हैं, वह विष्णुका सर्वोत्कृष्ट स्थान है- **तद् विष्णोः परमं पदं सदा पश्यन्ति सूरयः**(सु. उ.६) इस श्रुतिसे त्रिपादविभूतिमें कालकी विद्यमानता सिद्ध होती है

किन्तु वह वहाँ होनेवाले किसी कार्यका कारण नहीं है, भगवत्संकल्प ही वहाँ के कार्यों का कारण है। वहाँ भगवान् अन्यत्र सभीकी जीर्णताके हेतु कालको जीर्ण(निष्प्रभावी) कर देते हैं। वहाँ भगवान् ही समर्थ हैं, काल समर्थ नहीं है- **कालं स पचते तत्र न कालस्तत्र वै प्रभुः**(म.भा.शां.१६८.६), कलामुहूर्तादिरूप काल नित्यविभूतिके परिणामका हेतु नहीं है- **कलामुहूर्तादिमयश्च कालो न यद्विभूतेः परिणामहेतुः**(वि.पु.४.१.८४), नित्यविभूतिमें भी विद्यमान रहनेसे इसे गुणत्रयरहित जानना चाहिए। 'सदा पश्यन्ति सूरयः' इस व्यवहारका हेतु काल ही है।

इस संसारमें होनेवाले सभी कार्योका निमित्त कारण काल है। यह १.अन्वयव्यतिरेक और २.शास्त्रसे सिद्ध है।

१.वसन्तऋतुके होनेपर आमवृक्षमें पल्लव और फल होते हैं, उसके न होनेपर नहीं होते है। यह अन्वयव्यतिरेकसहचार प्रत्यक्षसिद्ध है।

२.हे द्विज! काल अनादि एवं अनन्त है। इसलिए सृष्टि, स्थिति, प्रलय और नियमन अविच्छिन्नरूपसे चलते रहते हैं- **अनादिर्भगवान् कालो नान्तोऽस्य द्विज विद्यते। अव्युच्छिन्नास्ततस्त्वेते सर्गस्थित्यन्तसंयमाः**(वि.पु.१.२.२६), इससे काल सृष्टि-आदिका निमित्तकारण सिद्ध होता है। श्रीभगवान् जब इस लीलाविभूतिमें अवतार ग्रहण करके आते हैं तब कालके अनुसार ही लीला करते हैं। यह भगवान् की लीलाका सहकारी है।

क्षणादिरूप विकार- कालके विकारोंके विषयमें दो पक्ष प्रचलित हैं-

१- कालमें क्षण आदि जो विभाग होते हैं, वे स्वाभाविक नहीं हैं। अखण्डकाल ही भिन्न-भिन्न उपाधियोंका संसर्ग होनेपर क्षण आदि शब्दोंसे व्यवहृत होता है, अतः क्षणत्व आदि औपाधिक धर्म हैं,

स्वाभाविक नहीं। उनको स्वाभाविक मानने पर कालका अखण्डत्व ही सिद्ध नहीं होगा।

२- इस लोकमें कार्यमात्रके प्रति निमित्तकारण बननेवाला काल क्षणादिके प्रति उपादान कारण होता है। काल क्षण, काष्ठादि रूपमें विकारको प्राप्त होता है। विद्युत्‌के समान वर्णवाले उस परमात्मासे निमेष, कला, काष्ठा और अहोरात्र ये सब उत्पन्न हुए- **सर्वे निमेषा जज्ञिरे विद्युतः पुरुषादधि। कलामुहूर्ताः काष्ठाश्चाहोरात्राश्च सर्वशः**(तै.ना.उ.८) कला, मुहूर्त आदिके रूपमें परिणत होनेवाला काल त्रिपादविभूतिके परिणामका हेतु नहीं है- **कलामुहूर्तादिमयश्च कालो न यद्विभूतेः परिणामहेतुः**(वि.पु.४.१.८४) इस वचनसे कला, मुहूर्तादि कालके विकार सिद्ध होते हैं। कालके क्षण आदिरूप विकार होते हैं। क्षणोंका समूह ही काष्ठा, दिवस आदि है। क्षणादि खण्डकाल हैं, इनका उपादान कारण अखण्डकाल है।

प्रश्न- कालका क्षण आदिके रूपमें परिणाम मानना उचित नहीं है क्योंकि काल विभु पदार्थ है, विभु पदार्थ विकारवाला नहीं होता है।

उत्तर- विकार अनेक प्रकारके होते हैं। अवयवोंका फूल जाना भी एक विकार है। यह कालमें नहीं हो सकता क्योंकि सर्वत्र व्याप्त निरवयव विभु पदार्थमें अवयवोंका फूलना असम्भव है। अवस्थान्तरको प्राप्त होना दूसरा विकार है। यह कालमें माना जाता है। इसका विभुत्वके साथ विरोध नहीं है। यदि नूतनावस्था(भावी अवस्था) की प्राप्तिरूप विकार कालमें न माना जाय तो इसका विभुत्व ही सिद्ध नहीं होगा क्योंकि परिच्छिन्न परिमाणवाले सभी द्रव्योंके साथ संयुक्त होकर रहना ही विभुत्व है। परिच्छिन्न परिमाणवाले घटादिके उत्पन्न होते ही कालका इनके साथ संयोग हो जाता है। यह संयोग एक अवस्था है। आगन्तुक अपृथक्‌सिद्ध

धर्मको अवस्था कहा जाता है। घटादिकी उत्पत्ति दशासे ही कालका उसके साथ संयोग होता है, अतः यह आगन्तुक है। यह कालमें रहता है, अतः यह कालका अपृथक्सिद्ध धर्म है। आगन्तुक अपृथक्सिद्ध धर्म होनेके कारण घटादिका संयोग अवस्था कहा जाता है। घटादिकी उत्पत्तिसे पूर्व काल उनसे असंयुक्त था, उनकी उत्पत्ति होते ही काल उनसे संयुक्त हो जाता है। ऐसे परिच्छिन्न परिमाणवाले सभी द्रव्योंके साथ संयोगरूप अवस्थाका आश्रय होनेसे ही कालको विभु कहा जाता है। जैसे घटादिकी संयोगरूप अवस्था कालमें है, वैसे क्षणत्व आदि अवस्थाएं भी कालमें है।

प्रत्यक्ष- काल षड्-इन्द्रियवेद्य है। "इदानीं घटः" इस प्रकार वर्तमानकालविशिष्ट घटका प्रत्यक्ष होता है। चक्षुके द्वारा होनेवाले घटके प्रत्यक्षमें कालका घटके विशेषणरूपसे प्रत्यक्ष होता है। "अयं घटः" इस प्रकार अस्तित्वविशिष्ट घटका प्रत्यक्ष होता है। अस्तित्वका अर्थ है- वर्तमानकालका सम्बन्ध। अतः इन्द्रियके द्वारा कालका भी पदार्थके विशेषणरूपसे प्रत्यक्ष होता है। जिस प्रकार रूपवाले पदार्थोंके प्रत्यक्षके समय उनकी संख्या रूपवाली न होनेपर भी विशेषणरूपसे प्रत्यक्ष होती है, उसी प्रकार काल भी प्रत्यक्ष होता है। 'इदानीं मधुरो रसः' इस प्रकार रसनासे होनेवाले रसके प्रत्यक्षमें कालका रसके विशेषणरूपसे प्रत्यक्ष होता है। 'इदानीं सुरभिर्गन्धः' इस प्रकार घ्राणके द्वारा होनेवाले प्रत्यक्षमें कालका गन्धके विशेषणरूपसे प्रत्यक्ष होता है। 'इदानीं शीतः स्पर्शः' इस प्रकार त्वक् इन्द्रियके द्वारा होनेवाले ज्ञानमें कालका शीतस्पर्शके विशेषणरूपसे प्रत्यक्ष होता है। 'इदानीं तीव्रः शब्दः' इस प्रकार श्रोत्रके द्वारा होनेवाले प्रत्यक्षमें कालका शब्दके विशेषणरूपसे प्रत्यक्ष होता है। 'इदानीं(समाधिकाले) मे सुखम्' इस प्रकार मनसे होनेवाले प्रत्यक्षमें कालका सुखके विशेषणरूपसे प्रत्यक्ष होता है। इस प्रकार

वेदान्तसिद्धान्तमें काल षड्-इन्द्रियवेद्य माना जाता है। जिस प्रकार अनुभवके बलपर रूपरहित रूपका प्रत्यक्ष स्वीकृत होता है, उसी प्रकार अनुभवके बल पर रूपरहित कालका भी प्रत्यक्ष स्वीकृत होता है। कुमारिल भट्ट ने कहा है- **न सोऽस्ति प्रत्ययो लोके यत्र कालो न भासते।** क्षणरूप काल अभिज्ञा प्रत्यक्षका विषय है। दिवस आदिरूप काल प्रत्यभिज्ञा प्रत्यक्षका विषय होता है।

माप- आँखकी पलक गिरनेमें जो समय लगता है, उसे निमेष या क्षण कहते हैं। १५निमेष= १काष्ठा। ३०काष्ठा= १कला।
३०कला=१मुहूर्त। ३०मुहूर्त= १अहोरात्र(दिनरात)। ७दिन= १सप्ताह। १५दिन= १पक्ष। २पक्ष= १मास। २मास= १ऋतु।३ऋतु= १अयन। अयन दो होते हैं- उत्तरायण,दक्षिणायन। २अयन= १२मास= १वर्ष। उत्तरायण देवताओंका दिन है और दक्षिणायन उनकी रात्रि है। १मानवमास= १पितृदिन। अमावस्या पितरोंका मध्याह्न काल है। १मानववर्ष= देवताओंका १दिन।
१२०००देववर्ष= १चतुर्युग। ४०००देववर्ष= १सतयुग।
३०००देववर्ष= १त्रेतायुग। २०००देववर्ष= १द्वापरयुग।
१०००देववर्ष= १कलियुग। २०००देववर्ष= ४युगोंकी संन्धियाँ।
४००देववर्ष=सतयुगकी पूर्वसन्धि,इतनी ही सतयुगकी उत्तरसन्धि है।
३००देववर्ष=त्रेतायुगकी पूर्वसन्धि,इतनी ही त्रेतायुगकी उत्तरसन्धि है।
२००देववर्ष=द्वापरयुगकी पूर्वसन्धि,इतनी ही द्वापरकी उत्तरसन्धि है।
१००देववर्ष=कलियुगकी पूर्वसन्धि,इतनी ही कलियुगकी उत्तरसन्धि है।
१०००चतुर्युग= ब्रह्माका १दिन। ब्रह्माकी रात्रिका मान भी यही है। ब्रह्माका १दिन= १४मनुका काल। ब्रह्माके १दिनमें इतने ही सप्तर्षिगण और इन्द्र होते हैं। ब्रह्माजीकी आयु १००वर्ष होती है।

ब्रह्मा आदि कालके अधीन हैं। जगत्‌की सृष्टि, स्थिति और प्रलय भी काल के अधीन हैं।

सृष्टिके भेद– नित्य, नैमित्तिक और प्राकृत भेदसे सृष्टि त्रिविध होती है–**१.प्राकृत सृष्टि–** आत्यन्तिक प्रलयके पश्चात् परमात्माके द्वारा की जानेवाली सृष्टि प्राकृत सृष्टि कही जाती है।

२.नैमित्तिक सृष्टि– ब्रह्माके दिवसका आरम्भ होनेपर उनके द्वारा की जानेवाली सृष्टि नैमित्तिक सृष्टि कही जाती है।

३.नित्य सृष्टि– प्राणियोंकी प्रतिदिन होनेवाली सृष्टि नित्य सृष्टि कही जाती है।

आत्यन्तिक सृष्टि कभी भी नहीं होती है।

प्रलय– प्रलय चार प्रकारकी होती है– नैमित्तिक, प्राकृतिक, आत्यन्तिक और नित्य– **नित्यो नैमित्तिकश्चैव प्राकृतात्यन्तिकौ तथा। चतुर्धायं पुराणेऽस्मिन् प्रोच्यते प्रतिसञ्चरः**(कू.पु.उ.४३.५), **नैमित्तिकः प्राकृतिकस्तथैवात्यन्तिको द्विज। नित्यश्च सर्वभूतानां प्रलयोऽयं चतुर्विधः**(वि.पु. १.७.४१)।

१.नैमित्तिक प्रलय– कल्पान्तमें होनेवाली जिस प्रलयमें ब्रह्माजी शयन करते हैं, वह प्रलय ब्राह्म या नैमित्तिक कहलाता है। ब्रह्माके शयनरूप निमित्तसे होनेके कारण इस प्रलयको नैमित्तिक प्रलय कहते हैं। ब्रह्माके १ दिनका मान १०००चतुर्युग है। १०००चतुर्युगका एक कल्प होता है। इतना ही ब्रह्माकी रात्रिका मान है। यह रात्रिमान ही नैमित्तिक प्रलयकी अवधि है। ब्रह्माकी सुषुप्तिकालीन इस प्रलयको उनकी रात्रि भी कहा जाता है– **ब्राह्मो नैमित्तिकस्तत्र शेतेऽयं जगतीपतिः**(वि.पु.१.७.४२), **ब्राह्मो नैमित्तिकस्तेषां कल्पान्ते प्रतिसञ्चरः**(वि.पु.६.३.२), **ब्राह्मो नैमित्तिको नाम कल्पान्ते यो भविष्यति। त्रैलोक्यस्यास्य कथितः प्रतिसर्गो मनीषिभिः**(कू.पु.उ.४३.७)। श्रीमद्भागवत्(१२.४.३)में भूः आदि त्रिलोकीका प्रलय कहा गया है। विष्णुपुराण(६.३.२१) तथा ब्रह्मपुराणमें पाताल सहित

त्रिलोकीका, गरुड़पुराण में पाताल सहित ऊपरके पाँच लोकोंका, ब्रह्मवैवर्तपुराण प्रकृतिखण्डमें ब्रह्मलोक(सत्यलोक) को छोड़कर सभी लोकोंका नाश कहा गया है। विविध पुराणोंके आधार पर उपरि लिखित विवरणसे यह निष्कर्ष निकलता है कि नैमित्तिक प्रलयमें कभी भी सत्यलोकका नाश नहीं होता है। किसी नैमित्तिकप्रलयमें त्रिलोकीका नाश होता है। किसी नैमित्तिक प्रलयमें पाताल सहित त्रिलोकीका, किसीमें पाताल सहित चार लोकोंका, किसीमें उसके सहित पाँच लोकोंका, किसीमें उसके सहित छः लोकोंका नाश होता है।

२.प्राकृत प्रलय- जिस प्रलयमें ब्रह्माण्ड प्रकृति(प्रकृतिशरीरक ब्रह्म)में लीन हो जाता है, उस प्रलयको प्राकृतिक या प्राकृत प्रलय कहते हैं- **प्रयाति प्राकृते चैव ब्रह्माण्डं प्रकृतौ लयम्।।**(वि.पु.१.७.४२) ब्रह्माण्डका प्रकृतिमें लीन होनेका अर्थ है कि ब्रह्माण्ड प्रकृतिरूप हो जाता है। यहाँ ब्रह्माण्डका अर्थ है- कार्यब्रह्म अर्थात् स्थूलचिदचिद्विशिष्ट ब्रह्म तथा प्रकृतिका अर्थ है- कारणब्रह्म अर्थात् सूक्ष्मचिदचिद्विशिष्ट ब्रह्म । यहाँ कार्य(स्थूल) अवस्थाको छोड़कर कारण(सूक्ष्म) अवस्थाकी प्राप्ति होना ही लीन होना है। इस प्रकार यहाँ अवस्थान्तरकी प्राप्तिको प्रलय कहा जाता है। द्रव्यका अभाव प्रलय नहीं है। इसमें महत्से लेकर स्थूलभूतपर्यन्त सभी कार्योंका नाश हो जाता है- **महदाद्यं विशेषान्तं यदा संयाति संक्षयम्। प्राकृतः प्रतिसर्गोऽयं प्रोच्यते कालचिन्तकैः**(कू.पु.उ.४३.८) इसमें ब्रह्माका भी लय हो जाता है। ब्रह्माकी आयु पूर्ण होनेपर ब्रह्मा सहित सम्पूर्ण ब्रह्माण्डकी होनेवाले प्रलयको प्राकृत प्रलय कहते हैं। इसकी अवधि द्वि परार्धकाल(ब्रह्माकी १००वर्ष आयुके बराबर) होती है- **प्राकृतो द्विपरार्द्धकः**(वि.पु.६.३.२) प्राकृत प्रलयको महाप्रलय भी कहते हैं।

३.आत्यन्तिक प्रलय- ज्ञानयोगसे योगीका परमात्मामें लीन हो जाना आत्यन्तिक प्रलय है- **ज्ञानादात्यन्तिकः प्रोक्तो योगिनः परमात्मनि** (वि.पु.१.७.४३), उपासनात्मक ज्ञानसे परमात्माका साक्षात्कार होनेपर निःशेष प्रारब्धके क्षीण होनेपर योगीका परमात्मामें लीन होना ही आत्यन्तिक प्रलय है- **ज्ञानादात्यन्तिकः प्रोक्तो योगिनः परमात्मनि, प्रलयः प्रतिसर्गोऽयं कालचिन्तापरैर्द्विजैः**(कू.पु.उ.४३.८) यह प्रलय मोक्षका पर्याय है। **आत्यन्तिकस्तु मोक्षाख्यः**(वि.पु.६.३.२) उपासकयोगी की नामरूपके त्यागपूर्वक परमात्मामें स्थिति होना ही आत्यन्तिक प्रलय है। कर्मरूप अविद्याके कारण ही देवमनुष्यादि नाम तथा रूप(शरीर) प्राप्त होते हैं। ये नामरूप जीव और ब्रह्मके भेदक आकार हैं। उपासनात्मक ज्ञानसे इनकी निवृत्ति हो जाती है और जीवकी परमात्मामें अविभागसे स्थिति होती है। जैसे नदीके समुद्रमें जानेपर नदीजल और समुद्रजलकी स्वरूप-एकता नहीं होती है, वैसे ही आत्माके द्वारा परमात्माका साक्षात्कार करने पर दोनोंकी स्वरूप-एकता नहीं होती है किन्तु **निरञ्जनः परमं साम्यम् उपैति**(मु.उ.३.१.३) इस प्रकार कही गयी परम समता होती है, इसलिए **यथोदकं शुद्धे शुद्धमासिक्तं तादृगेव भवति। एवं मुनेर्विजानत आत्मा भवति गौतम।**(क.उ.२.१.१५) यह समताबोधक वचन प्रवृत्त होता है। मुक्तावस्थामें परब्रह्मसे समताको प्राप्त किया हुआ जीव उससे अपृथक् स्थित होकर रहता है।

४.नित्य प्रलय- रात दिन सदा जो भूतोंका विनाश होता है, वह नित्य प्रलय है- **नित्यः सदैव भूतानां यो विनाशो दिवानिशम्**(वि.पु.१.७.४३), **योऽयं संदृश्यते नूनं लोके भूतक्षयस्त्विह। नित्यः संकीर्त्यते नाम्ना मुनिभिः प्रतिसञ्चरः**(कू.पु.उ.४३.६) कुछ विद्वान् प्रतिदिन होनेवाले भूतोंके क्षय अर्थात् प्राणियोंकी मृत्युको नित्यप्रलय कहते हैं क्योंकि जिस प्रकार शास्त्रोंमें प्राणियोंकी उत्पत्तिको नित्य सृष्टि कहा

गया है, उसी प्रकार प्राणियोंकी मृत्यु को नित्य प्रलय कहा गया है। अन्य विद्वान् प्रतिदिन होनेवाली सुषुप्तिको नित्य प्रलय कहते हैं क्योंकि इसमें जीव परमात्मामें लीन हो जाता है। सुषुप्ति कालमें जीवका परमात्मामें लीन होनेका अर्थ "जीवका परमात्मा होना नहीं है अपितु अपने नामरूपके त्यागपूर्वक परमात्मामें स्थित होना है।" जिस चेतनके द्वारा जो द्रव्य अपनी सम्पूर्ण स्थितिकालमें अपने शक्यकार्यमें नियाम्य(नियमन करने योग्य) होकर रहता है, वह द्रव्य उस चेतनका शरीर होता है- **येन चेतनेन यद् द्रव्यं यावत् सत्तं स्वशक्यार्थे नियाम्यं वर्तते, तत् तस्य शरीरम्** इत्यादि शरीरके लक्षण हैं। सुषुप्तिकालमें भी जीवका शरीर नियाम्य होकर रहता है। नियमन करनेके लिये ज्ञान और इच्छा अपेक्षित होती हैं। सुषुप्तिमें जीवके ज्ञान और इच्छा संभव नहीं हैं, इसलिए उस समय जीव अपने शरीरका नियामक नहीं है। उस समय वह परमात्मासे नियाम्य होनेके कारण परमात्माका शरीर कहा जाता है, जीवका नहीं कहा जाता। इस प्रकार सुषुप्तिमें जीवके शरीरका त्याग होता है। शरीरके सम्बन्धसे ही जीवके देवदत्त आदि नाम होते हैं। सुषुप्तिमें जीवके शरीर(रूप)का त्याग होनेसे उसके नामका भी त्याग होता है। सुषुप्ति कालमें जीवकी परमात्मामें अविभागेन स्थिति होनेके कारण जीवके नामरूपका त्याग होता है।

सुषुप्ति और मुक्ति इन दोनों अवस्थाओंमें जीवकी परमात्मामें स्थिति होनेपर भी दोंनोंमें यह भेद है कि सुषुप्तिमें जीवकी अविद्या रहती है और मुक्तिमें नहीं रहती, इसलिए सुषुप्तिसे जीवका व्युत्थान होता है।

सुषुप्त पुरुषकी वाग् आदि कर्मेन्द्रियाँ तथा चक्षु आदि ज्ञानेन्द्रियाँ मनमें लीन होती हैं, मन प्राणमें लीन होता है। यहाँ लीयमान पदार्थ और लयके अधिकरणमें कार्यकरणभाव नहीं है,

अतः प्राकृतलयकी तरह यहाँ पर लयका अर्थ कारणावस्थाकी प्राप्ति नहीं है बल्कि पृथक् व्यवहारके अयोग्य संसर्ग ही लयका अर्थ है। सुषुप्तिमें सभी इन्द्रियाँ लीन होनेके कारण अपने कार्योंसे निवृत्त हो जाती हैं और प्राण लीन न होनेसे अपना कार्य करता रहता है। इन्द्रिय-प्राणादिसे विशिष्ट जीव पुरीतन्नाड्यवच्छिन्न परमात्मामें लीन हो जाता है। सुषुप्तिमें जीवके शरीरका नाश नहीं होता है, उस काल में उसके शरीर का साक्षात् नियामक परमात्मा होता है। इसलिए सुषुप्तिमें जीवके नामरूपका त्याग कहा जाता है। इन्द्रियोंका प्राणमें लय होनेके कारण उस समय इन्द्रियजन्य ज्ञान नहीं होता है। उस अवस्थामें इन्द्रियोंका ही लय होता है, सबका लय नहीं होता है। इस अभिप्रायसे श्रुतप्रकाशिकामें कहा है- सुषुप्तिमें एक देशका लय होता है, प्रलयमें सर्वलय होता है- **सुषुप्तौ एकदेशलयः अत्र(प्रलये) तु सर्वलयः**(श्रु.प्र.१.४.२३)।
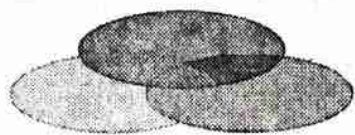
जीवात्मविवेचन

आत्मा स्वाभाविक ज्ञानका अधिकरण और ज्ञानरूप होती है। इसके दो भेद होते हैं- जीवात्मा और परमात्मा। जीवात्माका जीव, चित् तथा आत्मा पदसे भी अभिधान होता है और परमात्माका ब्रह्म तथा ईश्वर आदि पदोंसे अभिधान होता हैं। **चेतति जानाति** इस अर्थमें चिती संज्ञाने धातुसे कर्तामें क्विप् प्रत्यय करने पर चित् शब्दकी निष्पत्ति होती है। चित्, अचित् और ईश्वररूप तत्त्वत्रयके परिगणन में चित् शब्द चेतन जीवका वाचक होता है, अचेतन बुद्धिका वाचक नहीं होता। चित् शब्दका अर्थ बुद्धिविशिष्ट जीव होता है। यद्यपि भाव प्रत्ययान्त चित् शब्द **प्रेक्षोपलब्धिश्चित् संवित् प्रतिपज्ज्ञप्ति चेतना**(अ.को.१.५.१) इस कोशके अनुसार साक्षात् ज्ञानका वाचक है तथापि तत्त्वत्रयप्रकरणमें कर्तृप्रत्ययान्त चित् शब्द चेतन जीवका ही वाचक होता है। **पृथगात्मानं प्रेरितारं च मत्वा** (श्वे.उ.१.६), **क्षरात्मानावीशते देव एकः**(श्वे.उ.१.१०), **आत्मा ज्ञानानन्दमयोऽमलः**(वि.पु.६.७.२२) इत्यादि शास्त्रवचनोंमें जीवके लिए आत्मा शब्दका प्रयोग हुआ है।

शंका- **जीव प्राणधारणे** धातुसे निष्पन्न जीव शब्द प्राणको धारणकरनेवाले बद्धका ही बोधक है, मुक्तका बोधक नहीं है।

समाधान- शब्दके व्युत्पत्तिनिमित्त और व्यवहारनिमित्त भिन्न भिन्न होते हैं। जैसे-**गच्छति इति गौः** इस प्रकार गो शब्दका व्युत्पत्तिनिमित्त गमनकर्तृत्व है और व्यवहारनिमित्त गोत्व सामान्य है। व्युत्पत्तिनिमित्तसे भिन्न व्यवहारनिमित्त न मानने पर बैठी हुई गायके लिए गो शब्दका प्रयोग सम्भव नहीं होगा और जानेवाले अश्व आदिके लिए भी गो शब्दके प्रयोगका प्रसङ्ग होगा। इसी प्रकार

जीव शब्दका व्यवहारनिमित्त जीवत्व सामान्य है। यह जीवत्व परब्रह्मभिन्न चेतनत्वरूप है। परब्रह्मभिन्न चेतनत्वरूप जीवत्व बद्धकी तरह मुक्तोंमें भी रहता है, इसलिए मुक्तात्मा भी जीव पदका वाच्य होता है। जीव शब्दका व्युत्पत्तिनिमित्त प्राणधारकत्व है। इसे व्यवहारनिमित्त मानने पर महाप्रलयमें रहनेवाले बद्धका भी जीव शब्दसे व्यवहार नहीं होगा क्योंकि उस समय वह प्राणोंको धारण करनेवाला नहीं है। बद्ध, मुक्त और नित्य इन तीनोंके लिए सामान्यतः जीव शब्दका प्रयोग होता है।

जीव और ईश्वरके सामान्यलक्षण– प्रत्यक्त्व, चेतनत्व, आत्मत्व और कर्तृत्व आदि जीव और ईश्वरके सामान्य लक्षण हैं– **प्रत्यक्त्वचेतनत्वात्मत्वकर्तृत्वानि ईश्वरजीवसामान्यलक्षणानि।** अपने लिए स्वयंप्रकाशित होनेवाली वस्तु प्रत्यक् कही जाती है– **प्रत्यक्त्वं नाम स्वस्मै स्वयं भासमानत्वम्।** घटादि पराक् पदार्थ भी प्रकाशित होनेवाले हैं किन्तु वे स्वयंप्रकाशित होनेवाले नहीं हैं। वे तो धर्मभूतज्ञानके द्वारा प्रकाशित होनेवाले हैं। धर्मभूतज्ञान भी स्वयंप्रकाशित होनेवाला है किन्तु यह अपने लिए प्रकाशित होनेवाला नहीं है। यह तो अपने आश्रय ज्ञाता आत्माके लिए प्रकाशित होनेवाला है। स्वस्मै स्वयं भासमान जीव और ईश्वर ही हैं। इस प्रकार स्वस्मै स्वयं भासमानत्वरूप प्रत्यक् का लक्षण जीव और ईश्वरमें समन्वित होता है। ज्ञानके आश्रयको चेतन[1] कहते हैं–

टिप्पणी१– चेतयते जानाति इति चेतनः। चेतति जानाति इति वा चेतनः। चुरादिगणीय ण्यन्त चित संचेतने धातुसे **ण्यासश्रन्थो युच्**(अ.सू. ३.३.१०७) सूत्रसे यूच् प्रत्यय करने पर चेतन शब्द निष्पन्न होता है तथा भ्वादिगणीय **चिती संज्ञाने** धातुसे नन्द्यादित्वात् ल्यु प्रत्यय करने पर भी चेतन शब्द सिद्ध होता है।

चेतनत्वं नाम ज्ञानाश्रयत्वम् ज्ञानके आश्रय जीव और ईश्वर दोनों हैं। अतः ज्ञानाश्रयत्वरूप चेतनत्व लक्षण लक्ष्य जीव और ईश्वरमें घटता है। शरीरसे सम्बन्ध रखनेवाली आत्मा कही जाती है– **शरीरप्रतिसम्बन्धित्वम् आत्मत्वम्।** जीवात्मा सामान्यतः एक अचेतन शरीरसे सम्बन्ध रखता है और परमात्मा समस्त चेतन और अचेतन शरीरोंसे सम्बन्ध रखते हैं। इस प्रकार शरीरसे सम्बन्ध रखनेवाले जीव और ईश्वर दोनों होते हैं, अतः शरीरप्रतिसम्बन्धित्वरूप आत्माका लक्षण जीव और ईश्वरमें घटित होता है। अन्दर प्रविष्ट होकर रहनेवाले नियन्ताको आत्मा कहते हैं– **अन्तः प्रविष्टत्वे सति नियन्तृत्वम् आत्मत्वम्।** अन्दर प्रविष्ट होकर रहनेवाला आकाश भी है किन्तु वह नियन्ता नहीं है। राजा नियन्ता होता है किन्तु वह अन्दर प्रविष्ट होकर नहीं रहता है। जीव सामान्यतः एक शरीरके अन्दर प्रविष्ट होकर रहता है और ईश्वर समस्त चेतनाऽचेतनरूप शरीरोंमें प्रविष्ट होकर रहते हैं। ये दोनों अन्दर प्रविष्ट होकर रहनेके साथ नियमन भी करते हैं, अतः अन्तःप्रविष्टत्वे सति नियन्तृत्वरूप आत्माके लक्षणका जीव और ईश्वरमें समन्वय हो जाता है। संकल्पात्मक ज्ञानके आश्रयको कर्ता कहते हैं– **संकल्पज्ञानाश्रयत्वं कर्तृत्वम्।** 'मैं इसे करूँगा'– **इदमहं करिष्ये** इस प्रकार होनेवाला ज्ञान संकल्पात्मक ज्ञान है। जीव ऐसे विविध संकल्पोंको करता रहता है। **तद् ऐक्षत्**(छां.उ.६.२.३) इत्यादि श्रुतियों में ईश्वरका संकल्प प्रसिद्ध है। अतः संकल्पात्मक ज्ञानके आश्रय जीव और ईश्वर दोनों होते हैं। इस प्रकार संकल्पात्मक ज्ञानाश्रयत्वरूप कर्ताका लक्षण जीव और ईश्वर दोनोंमें समन्वित होता है।

जीवात्माका लक्षण– अणु होते हुए ज्ञानाश्रय होना जीवका लक्षण है– **अणुत्वे सति ज्ञातृत्वं जीवस्य लक्षणम्।** जीवात्मा अणु है और ज्ञाता

है, इसलिए अणुत्वे सति ज्ञातृत्व लक्षण जीवमें सम्भव होता है। लक्षणमें केवल ज्ञातृत्व अंशका निवेश करने पर ईश्वरमें अतिव्याप्ति होती है क्योंकि ज्ञातृत्व ईश्वरमें भी रहता है। इस दोषके निवारणके लिए लक्षणमें अणुत्व पद कहा गया है। ईश्वर अणु नहीं है, विभु है। अणुत्व ईश्वरमें नहीं रहता है। परमात्मा अणु(सूक्ष्म जीव)से भी अतिशय अणु(सूक्ष्मतर) है- **अणोरणीयान्**(क.उ.१.२.२०) यह श्रुति विभु ईश्वरको निरतिशय सूक्ष्म होनेके कारण अणु कहती है, अणुपरिमाण होनेके कारण अणु नहीं कहती है। केवल अणुत्व लक्षण करने पर पृथिवी आदिके सूक्ष्म अवयवों तथा इन्द्रियोंमें अतिव्याप्ति होती है। इसके निवारणके लिए लक्षणमें ज्ञातृत्व कहा गया है। पृथ्वी आदिके सूक्ष्म अवयव तथा इन्द्रियोंमें ज्ञातृत्व नहीं रहता क्योंकि वे ज्ञाता नहीं हैं, वे तो जड़ हैं। ज्ञातृत्व चेतन का धर्म है, अचेतन प्रकृतिका धर्म नहीं है। शेष होते हुए ज्ञाता होना जीवका लक्षण है- **शेषत्वे सति ज्ञातृत्वं जीवस्य लक्षणम्**। इच्छानुसार उपयोगमें आनेवाली वस्तु शेष कहलाती है। चाहे वह चेतन हो या अचेतन। श्रीभगवान् की इच्छाके अनुसार सभी जीव उनके उपयोग(सेवा)के लिए ही हैं। जीव ज्ञाता अर्थात् ज्ञानका आश्रय भी है, अतः इस लक्षणका जीवमें समन्वय हो जाता है। केवल शेषत्व कहने पर प्रकृतिमें अतिव्याप्ति होती है। उसकी निवृत्तिके लिए ज्ञातृत्व कहा गया है। अचेतन प्रकृतिमें ज्ञातृत्व नहीं रहता है। इस प्रकार प्रकृतिमें अतिव्याप्ति निवारित हो जाती है। केवल ज्ञातृत्व कहने पर ईश्वरमें अतिव्याप्ति होती है क्योंकि ईश्वर भी ज्ञाता है। शेषत्व कहने पर इस अतिव्याप्तिका निवारण हो जाता है क्योंकि ईश्वर सबके प्रति शेषी है, वह शेष नहीं है। प्रेमी भक्त भी ईश्वरका यथेच्छ उपयोग करते हैं, इसलिए भक्तोंके शेष श्रीभगवान् होते हैं। ईश्वर ज्ञाता भी है, इसलिए शेषत्वे सति ज्ञातृत्व लक्षणकी ईश्वरमें

पुनः अतिव्याप्ति होती है। ऐसा कहना उचित नहीं है क्योंकि लक्षणमें आये शेषत्व पदसे स्वाभाविक शेषत्व विवक्षित है। ईश्वरका स्वाभाविक शेष जीव है। स्वाभाविक शेषत्व जीवमें है, ईश्वरमें नहीं। ईश्वर तो अपनी इच्छासे जीवके शेष बन जाते हैं। भक्त जीवके प्रति ईश्वरमें जो शेषत्व है, वह ऐच्छिक शेषत्व है, इसलिए ईश्वरमें अतिव्याप्ति नहीं होती है। आधेय होते हुए ज्ञाता होना जीवका लक्षण है- **आधेयत्वे सति ज्ञातृत्वं जीवत्वम्।** श्रीभगवान् आधार हैं, जीव आधेय है। आधेयका अर्थ है- आश्रित। जीव श्रीभगवान् के आश्रित रहता है। जीव ज्ञाता भी है, इसलिए आधेयत्वे सति ज्ञातृत्वम् लक्षणकी जीवमें संगति हो जाती है। लक्षणमें केवल ज्ञातृत्व पद देने पर ईश्वरमें अतिव्याप्ति होती है। आधेयत्व पदको देने पर नहीं होती क्योंकि ईश्वर आधेय नहीं है। यहाँ भी पूर्ववत् आधेयत्व पदसे स्वाभाविक आधेयत्वको ग्रहण करना चाहिए। लक्षणमें केवल आधेयत्व पदको ग्रहण करने पर घटादि अचेतन पदार्थोंमें अतिव्याप्ति होती है। उसकी निवृत्तिके लिए ज्ञातृत्व पदका निवेश किया गया है। घटादि ज्ञाता नहीं हैं, इसलिए उनमें अतिव्याप्ति नहीं होती है। नियाम्य होते हुए ज्ञाता होना जीवका लक्षण है- **नियाम्यत्वे सति ज्ञातृत्वं जीवत्वम्।** परमात्माके अधीन कर्तृत्व जीवका लक्षण है- **परमात्माधीनकर्तृत्वं जीवत्वम्।** जीवात्मा और परमात्मा दोनों ही कर्ता हैं। जीव स्वतन्त्र कर्ता नहीं है। परमात्मा स्वतन्त्र कर्ता है। परमात्माके अधीन जीवका कर्तृत्व है। परमात्माके अधीन होते हुए चेतन होना जीवका लक्षण है- **परमात्माधीनत्वे सति चेतनत्वं जीवत्वम्।** परमात्माधीनत्व अचेतन पदार्थोंमें भी रहता है। चेतनत्व परमात्मामें भी रहता है किन्तु परमात्माधीनत्वे सति चेतनत्वम् केवल जीवमें ही है।

यह आत्मा देहादिसे विलक्षण, अजड़, ज्ञानानन्दरूप, नित्य, अणु, अव्यक्त, अचिन्त्य, निरवयव, निर्विकार, ज्ञानका आश्रय, ईश्वरका नियाम्य, धार्य और शेषभूत है।

विविध दार्शनिक मत– जीवात्माके विषयमें भी विद्वानोंके विविध मत विश्रुत हैं– कुछ विद्वान देहको ही आत्मा मानते हैं, कुछ इन्द्रियोंको आत्मा मानते हैं। कुछ मनको आत्मा मानते हैं, कुछ प्राणको आत्मा मानते हैं, कुछ ज्ञानको आत्मा मानते हैं। इनको क्रमशः प्रस्तुत किया जा रहा है–

चार्वाकमत

१.देहात्मवाद– मातापिताके द्वारा खाये हुये अन्नके रसोंसे बना और अपने खाये अन्नके रसोंसे पला हस्त-पाद आदि अवयवोंसे युक्त दृश्यमान स्थूलशरीर ही आत्मा है। अतः सप्राण शरीरके जन्मकालसे लेकर शरीरके निष्प्राण न होने तक ही आत्माका अस्तित्व है। शरीरके निष्प्राण होते ही आत्माका अस्तित्व समाप्त हो जाता है। पृथ्वी, जल, तेज और वायु इन चार प्रत्यक्ष भूतोंका ही अस्तित्व है। इनका संघात(मिश्रितरूप) ही शरीर है और शरीर ही आत्मा है। यह प्रत्यक्षप्रमाणसे सिद्ध होता है। सभीके मतमें आत्मा ज्ञाता है और वह ज्ञाता आत्मा 'स्थूलोऽहं जानामि' इस प्रकार अहमर्थके रूपमें सिद्ध होता है, प्रस्तुत शरीर ही ज्ञाता अहमर्थ आत्मा है। 'अहं स्थूलः', 'अहं कृशः', 'अहं गच्छामि', 'अहं गौरः' और 'अहं श्यामः' इत्यादि प्रतीतियोंसे स्थूलता(मोटापा), कृशता(दुबलापन), गमन क्रिया, गौरत्व और श्यामत्वका आश्रय अहमर्थ सिद्ध होता है। प्रत्यक्षप्रमाणसे देहके ही स्थूलता आदि धर्म सिद्ध होते हैं। 'अहं स्थूलः' इत्यादि प्रतीतियोंसे यह भी सिद्ध होता है कि स्थूलता आदिसे युक्त शरीर और अहमर्थ आत्मा एक है। उक्त प्रतीतियोंके

द्वारा शरीरसे पृथक् आत्मा सिद्ध नहीं होती है। अतः प्रमाणमूर्धन्य प्रत्यक्ष प्रमाणके द्वारा देह ही आत्मा ज्ञात होता है। शरीरको ही आत्मा होनेके कारण शरीरके स्थूल(पुष्ट) होनेपर मनुष्य अपनेको स्थूल और शरीरके कृश(दुर्बल) होनेपर अपनेको दुर्बल अनुभव करता है। जब कभी घरमें आग लग जाती है, पूरा घर जलने लगता है। तब यह देखा जाता है कि मनुष्य अपने पुत्रको भी छोड़ कर जलते हुये घरसे स्वयं बाहर भागता है। इससे सिद्ध होता है कि अपना शरीर ही निरतिशय प्रिय आत्मा है।

निराकरण– देह आत्मा नहीं हो सकता है क्योंकि उसके विषयमें विकल्प करने पर कोई भी पक्ष सिद्ध नहीं होता, विकल्प ये हैं– क. क्या शरीरका प्रत्येक अवयव आत्मा है? अथवा ख. अवयव समुदाय आत्मा है? अथवा ग. शरीररूप अवयवी आत्मा है?

क. शरीरके हस्त, पाद आदि प्रत्येक अवयव आत्मा हैं। यह प्रथमपक्ष उचित नहीं है क्योंकि जिस प्रकार विभिन्न शरीरोंमें विद्यमान विभिन्न आत्माओंमें परस्पर ईर्ष्या और असूया आदिके कारण एकमत न होनेसे कभी कभी विवाद होता है, उसी प्रकार एक शरीरमें विद्यमान प्रत्येक अवयवरूप आत्मामें ईर्ष्या और असूया आदिके कारण एक मत न होनेसे कभी कभी विवाद होना चाहिए किन्तु ऐसा नहीं होता है। इससे सिद्ध होता है कि शरीरका प्रत्येक अवयव आत्मा नहीं है।

शंका– जिस प्रकार प्रयोजनवशात् एक परिवारके मनुष्योंका मिलकर रहनेके कारण उनमें विवाद नहीं होता है, उसी प्रकार प्रयोजनवशात् एक शरीरकी नाना अवयवरूप आत्माओंके मिलकर रहनेके कारण विवाद नहीं होता है। इस प्रकार शरीरके प्रत्येक अवयवको आत्मा माननेमें कोई बाधा नहीं है।

समाधान- उक्त कथन समीचीन नहीं है। अन्वयव्यतिरेकके द्वारा प्राणियोंकी प्रवृत्ति-निवृत्ति रागद्वेषमूलक ज्ञात होती है। रागादिके होनेपर ईर्ष्या आदिसे रहित होना असम्भव होनेके कारण ऐकमत्य न होनेसे जिस प्रकार एक परिवारके लोगोंमें भी अवर्जनीय विवाद कभी कभी होता है, उसी प्रकार एक शरीरके अनेक हस्तपाद आदि अवयवरूप आत्माओंमें भी विवाद होना चाहिए किन्तु ऐसा नहीं देखा जाता है। अतः शरीरके अवयवोंको आत्मा मानना उचित नहीं है।

जो अनुभव करता है, वही स्मरण करता है, यह नियम है। अवयवोंको आत्मा स्वीकार करने पर किसी एक अवयवका उच्छेद होनेपर उसके द्वारा अनुभूत अर्थका स्मरण नहीं होना चाहिए क्योंकि अनुभवकर्ता विनष्ट हो गया है किन्तु स्मरण होता है, इससे सिद्ध होता है कि अनुभव कर्ता आत्मा देहके हस्त, पाद आदि अवयवोंसे भिन्न है। अवयवोंका विनाश होनेपर भी 'वह ही मैं हूँ'- **स एवाहम्** ऐसी प्रत्यभिज्ञा होनेसे यह स्वीकार करना चाहिए कि प्रत्यभिज्ञाका विषय पूर्वोत्तरकालमें रहनेवाली स्थायी अहमर्थ आत्मा अवयवोंसे भिन्न है।

जिस प्रकार 'यह मेरा वस्त्र है', 'यह मेरा घर है।' ऐसी अबाधित प्रतीतियोंसे आत्मा और वस्त्र आदिका भेद प्रमाणित होता है, उसी प्रकार 'यह मेरा हस्त है', 'यह मेरा पाद है।' ऐसी अबाधित प्रतीतियोंसे आत्मा और हस्त आदि अवयवोंका भेद प्रमाणित होता है। उक्त विवेचनसे फलित होता है कि देहके अवयवोंको आत्मा मानना उचित नहीं है।

ख. अवयव समुदाय आत्मा है। यह द्वितीय पक्ष अनुमानसे खण्डित हो जाता है। अनुमान- शरीरके हस्तपादादि अवयवोंका समुदाय

आत्मा नहीं है, समुदाय होनेसे, रूपवान होनेसे, चाक्षुष होनेसे, बाह्येन्द्रियग्राह्य होनेसे। जिस प्रकार समुदायात्मक, रूपवान्, चाक्षुष एवं बाह्येन्द्रियग्राह्य होनेसे घटादि पदार्थ चेतन आत्मा नहीं हैं, उसी प्रकार शरीरके अवयव भी आत्मा नहीं हैं- **हस्तपादाद्यवयवसंघातः न आत्मा संघातत्वात्, रूपवत्त्वात्, चाक्षुषत्वात्, बाह्येन्द्रियग्राह्यत्वात् घटादिवत्।**

अवयव समुदायको आत्मा स्वीकार करनेवाले मतमें स्मरण के उत्पादक संस्कारोंका आधान कहाँ होगा? इस प्रश्नका सही उत्तर नहीं दिया जा सकता। यदि शरीरके तत्तद् अवयवोंमें ही संस्कारोंका आधान माना जाए तो तत्तद् अवयवोंका विनाश हो जानेपर तत् तत् विषयोंका स्मरण नहीं होना चाहिए। यदि सभी विषयों के संस्कारोंका आधान मस्तिष्क या हृदयमें मान लिया जाय तो एक चित्रपट पर लिये गये नानाचित्रोंकी भांति किसीका भी संस्कार स्पष्ट नहीं होगा, अतः उनका स्पष्ट स्मरण भी नहीं होगा किन्तु उनका अतिस्पष्ट स्मरण होता ही है, इसलिए यह पक्ष भी अनुभवविरुद्ध होनेके कारण माना नहीं जा सकता। यदि संस्कारों का आधान पृथक् पृथक् कोशों(अंशों)में मान लिया जाए तो प्रतिदिन मस्तिष्क या हृदयकी वृद्धि होनी चाहिए तथा शल्यक्रिया द्वारा मस्तिष्ककी या हृदयके एक अंशका कर्तन या सब अंशों का परिवर्तन कर देने पर कुछ पदार्थों या सब पदार्थों का स्मरण नहीं होना चाहिए। यदि किसी प्रकार अवयव समुदायमें यावत् जीवन स्थायी कोई तत्त्व मान लिया जाए एवं उसीमें संस्कारोंका आधान स्वीकार करके स्मरण आदिकी संगति बैठा ली जाय तो भी पूर्वजन्मका स्मरण करनेवाले व्यक्तियोंका उल्लेख जहाँ तहाँ समाचार पत्रोंमें आता ही रहता है, उनके पूर्वजन्मके स्मरणकी संगति समुदाय-आत्मवादीके मतमें तो

किसीप्रकार भी नहीं हो सकती। कारण कि उनका समुदायरूप आत्मा तो अग्निमें भस्म हो चुका।

ग. अवयवसमुदायसे भिन्न अवयवी शरीर आत्मा है, यह तृतीयपक्ष भी उचित नहीं है क्योंकि अवयवसमुदायसे अतिरिक्त अवयवीके अस्तित्वमें कोई प्रमाण नहीं है। सन्निवेशविशेषसे युक्त अवयव ही अवयवी कहलाते हैं। अवयवसमुदायसे अतिरिक्त अवयवी स्वीकार करने पर भी इस पक्षमें अनेक दोष प्रसक्त होते हैं। अवयवी देह कार्य है, हस्तपाद आदि अवयव कारण हैं। कार्यद्रव्यमें विद्यमान विशेष गुण कारणद्रव्यमें विद्यमान विशेष गुणोंसे जन्य होते हैं। घटके रूपादि मृत्पिण्डके रूपादिसे जन्य होते हैं। जब कारणभूत देहके अवयवमें आत्मत्व असम्भव है, तब कार्य देहमें आत्मत्व हो ही नहीं सकता है इसलिए अवयवसमूहसे अतिरिक्त अवयवी शरीर भी आत्मा नहीं हो सकता है।

'मम इदं शरीरम्,' 'मम हस्तः' इत्यादि प्रतीतियाँ सर्वसम्मत हैं। अहमर्थ शरीरादिको मम इस प्रकार जानता है। मम इस प्रकार ज्ञात होनेवाले शरीर और हस्त ज्ञेय हैं। अहमर्थ ज्ञाता है। ज्ञाता और ज्ञेयका भेद सभीके अनुभवसे सिद्ध है। इसलिए अहमर्थ आत्माका शरीर और हस्त आदिसे भेद सिद्ध होता है। यदि ऐसा कहना चाहें कि हस्त आदि अवयवोंमें ही कोई एक अवयव अपनेसे भिन्न अवयवको मम इस प्रकार जानता है तो ज्ञाता अवयव कौन है? इस प्रश्नका उत्तर देना होगा। हस्त आदिमें नियत किसी ज्ञाताकी उपलब्धि नहीं होती है और मम हस्तः, मम मुखम्, मम पादः, मम शिरः, मम उदरम् इस प्रकार सभी अवयवोंका अहमर्थसे भिन्नत्वेन ज्ञान होनेके कारण तथा स्वयंके प्रति स्वयं ज्ञाता न होनेसे कोई भी अवयव ज्ञाता नहीं हो सकता है, इसलिए अवयव और शरीरसे अतिरिक्त ही आत्मा सिद्ध होता है। अवयवसमूहसे

अतिरिक्त अवयवी ही यह सब जानता है, ऐसा कथन भी सम्भव नहीं है क्योंकि जाननेवाला चेतन आत्मा ही होता है। अवयवसे अतिरिक्त अवयवी शरीरके आत्मत्वका खण्डन पूर्वमें किया जा चुका है।

शंका– मम इस प्रकार होनेवाली प्रतीति केवल भेद स्थलमें होती है। ऐसा नियम नहीं है क्योंकि अभेद होनेपर भी 'मम आत्मा' ऐसी प्रतीति होती है, अतः मम शरीरम् इत्यादि प्रतीतियोंके बल पर अहमर्थका शरीरादिसे भेद ही सिद्ध होता है। ऐसा कहना उचित नहीं है, इसलिए मम आत्मा की तरह मम शरीरम् इस प्रतीतिसे अहमर्थ और शरीरका अभेद मान लेना चाहिए।

समाधान– यह शंका अनुचित है क्योंकि 'मम गृहम्,' 'मम पशुः' की तरह 'मम शरीरम्' इत्यादि प्रतीतियाँ स्पष्टरूपसे भेदका प्रतिपादन करती हैं। मम आत्मा यह प्रतीति तो घटस्य स्वरूपम् इस प्रतीतिके समान है। यहाँ पर मम इस प्रकार प्रतीयमान शरीरादिसे विशिष्ट आत्मा है। आत्मा इस प्रकार प्रतीयमान केवल आत्मस्वरूप है। यहाँ विशिष्ट और केवलका अमुख्य भेद अगत्या अङ्गीकार किया जाता है। अमुख्यभेदके कारण 'मम आत्मा' यह औपचारिक(गौण) प्रयोग माना जाता है। देह आत्मा नहीं है। देहके साथ आत्माका संसर्ग होता है। लौहपिण्ड अग्नि नहीं है, लौहपिण्डके साथ अग्निका संसर्ग होता है। जिस प्रकार लौहपिण्डमें अग्निके संसर्गके कारण दोनोंका भेद ज्ञान न होनेपर 'लोहा जलाता है'– अयो दहति इस प्रकार लौहपिण्डमें अग्निबुद्धि होती है, उसी प्रकार देहमें आत्मसंसर्गके कारण दोनोंका भेदज्ञान न होनेपर 'मैं स्थूल व्यक्ति जानता हूँ'– 'स्थूलोऽहं जानामि' इस प्रकार देह में अहंबुद्धि होती है।

आत्मा देहसे भिन्न है। इसमें एक प्रमाण यह है कि उत्पन्न होनेके बाद बच्चे की माताके दुग्धपानमें प्रवृत्ति होती है। दुग्धपानमें इष्टसाधनता ज्ञान होनेके कारण ही यह प्रवृत्ति होती है। 'दुग्धपान इष्टसाधन है' ऐसा उनका ज्ञान इस जन्मके अनुभवसे नहीं हो सकता है क्योंकि इस जन्ममें उनकी दुग्धपानमें यही प्रथम प्रवृत्ति है, इसलिए मानना पड़ता है कि जन्मान्तरमें दुग्धपान करते समय उनका जो इष्टसाधनताज्ञान हुआ था, उससे संस्कार उत्पन्न हुए। वे संस्कार अदृष्टके कारण इस जन्ममें उद्बुद्ध होकर दुग्धपानमें इष्टसाधनताकी स्मृतिको उत्पन्न करते हैं-**बालात्मा स्तन्यपानेष्टसाधनता-स्मारकसंस्कारोद्बोधकादृष्टवान् स्तन्यपानप्रवृत्तिमत्त्वात् मद्वत्।** उस स्मृतिसे उनकी दुग्धपानमें प्रवृत्ति होती है। इससे सिद्ध होता है कि अनादि कालसे अनेक जन्मोंको ग्रहण करती हुई आत्माने अब बच्चे के रूपमें जन्म लिया है। इस प्रकार आत्मा शरीरसे भिन्न सिद्ध होती है।

हम देखते हैं कि एक सोया हुआ नवजात बालक क्षणमें हँसता और क्षणमें रोता है। उसके मुखपर क्षण क्षणमें इन दोनों अवस्थाओंका दृश्य देखनेमें आता रहता है। यह सब क्या है? नित्य अपरिवर्तनीय आत्माने जिन कर्मोंका सुख अथवा दुःखरूप फल पूर्वजन्ममें भोगा है। इस जन्मकी रागद्वेषादिवासनाओंसे सर्वथा रहित वह जीवात्मा उन कर्मोंका स्मरण करके हँसता है और रोता है। इस प्रकार देहसे भिन्न आत्मा सिद्ध होती है।

देह उत्पत्ति-विनाशसे युक्त होती है और आत्मा उत्पत्ति-विनाशसे रहित होती है। देहकी उत्पत्तिके पूर्व तथा विनाशके पश्चात् विद्यमान आत्मा देहसे भिन्न ही होती है। अब देहात्मवादकी विरोधी कुछ अन्य युक्तियाँ कही जाती हैं- एक ही देशमें, एक ही कालमें, एक ही समाजमें, एक ही माता-पिताकी अनेक संतानें होती

हैं। उन संतानोंमें जन्मसे ही स्वस्थता-रुग्णता, बुद्धिमत्ता-मूर्खता आदिकी विचित्रता देखनेमें आती है। यह विचित्रता पूर्वजन्म माने विना किसी प्रकार भी संगत नहीं होती। यदि कहें कि भिन्न भिन्न सन्तानोंकी उत्पत्तिके समय मातापिताके स्वभावमें, खान-पानमें, समाजके वातावरण आदिमें विचित्रता होती है, उसी विचित्रताके कारण सन्तानोंमें भी विचित्रता पैदा हो जाती है। दृष्टकारणवादियोंका यह कथन भी ठीक नहीं क्योंकि जो स्वभाव माता-पिताके जीवनमें कभी भी देखनेमें नहीं आया, वह स्वभाव संतानमें कहाँ से आ जाता है? यदि कहें कि वह स्वभाव व्यक्त(दृष्ट)रूपमें नहीं किन्तु अव्यक्त(अदृष्ट)रूपमें माता पितामें विद्यमान था तो यह उत्तर देना दृष्टकारणवादीको शोभा नहीं देता। फिर भी हम पूछते हैं- जब एक साथ ही दो-तीन सन्तानें उत्पन्न हो जाती हैं, तब उनमें परस्पर विचित्रता कहाँ से आ जाती है? क्योंकि माता-पिताके खान-पान तथा अव्यक्त स्वभाव आदि विचित्रताके कारण सभी सन्तानोंके लिए समान ही हैं, इसलिए ऐसे स्थलोंकी विचित्रतासे स्पष्ट हो जाता है कि प्राणियोंके पूर्वजन्मकृत-कर्मजन्य संस्कार ही एकमात्र विचित्रताके हेतु हैं।

२.बाह्येन्द्रिय-आत्मवाद- 'चक्षु आदि इन्द्रियोंके विद्यमान होनेपर घटादि और रूपादिका ज्ञान होता है' तथा 'विद्यमान न होनेपर ज्ञान नहीं होता है' इस अन्वयव्यतिरेकके द्वारा चक्षु आदि इन्द्रियाँ ही ज्ञाता आत्मा सिद्ध होती हैं। सुषुप्तिकालमें देह विद्यमान होनेपर भी ज्ञान नहीं होता है, इससे सिद्ध होता है कि देह ज्ञाता आत्मा नहीं है। सुषुप्तिमें इन्द्रियाँ उपरत होनेके कारण ज्ञानका अभाव होनेसे यह सिद्ध होता है कि ज्ञान प्रबुद्ध इन्द्रियोंका धर्म है। ज्ञानका आधार प्रबोधकालीन इन्द्रियाँ ही आत्मा हैं। 'आँख देखती है,' 'वायु त्वगिन्द्रियको सुख देती है', 'यह शब्द श्रोत्रको अच्छा लगता है' ये

व्यवहार भी इन्द्रियको आत्मा सिद्ध करते हैं। चक्षुका काणत्व(कानापन) और श्रोत्रका बधिरत्व(बहरापन) होनेपर 'अहं काणः' और 'अहं बधिरः' ऐसे जो व्यवहार होते हैं, उनसे चक्षु आदि इन्द्रियाँ ही अहमर्थ सिद्ध होती हैं। ऊपर इन्द्रियोंको ज्ञाता कहा गया है। इस प्रकार अहमर्थ ही ज्ञाता आत्मा होता है।

निराकरण– बाह्य इन्द्रियाँ आत्मा नहीं हैं क्योंकि उनके विषयमें विकल्प करने पर कोई भी पक्ष सिद्ध नहीं होता। विकल्प ये हैं – १.क्या प्रत्येक इन्द्रिय आत्मा है? अथवा २.इन्द्रियोंका समुदाय आत्मा है? इन दोनों पक्षोंमें १.'क्या प्रत्येक इन्द्रिय आत्मा है', इस पक्षका निराकरण किया जा रहा है– बाह्य इन्द्रियाँ अनेक हैं, यदि वे आत्मा हैं तो एक शरीरमें इन इन्द्रियोंके अनेक होनेसे एक शरीरमें आत्माएं भी अनेक माननी होंगी। ऐसा होनेपर जिस प्रकार एक परिवारके सदस्योंमें कभी कभी विवाद होता है, उसी प्रकार इन इन्द्रियरूपी आत्माओंमें कभी कभी विवाद अवश्य होना चाहिए किन्तु वैसा नहीं होता है, इससे सिद्ध होता है कि बाह्य इन्द्रियाँ आत्मा नहीं हैं। चक्षु इन्द्रियको आत्मा स्वीकार करने पर चक्षु विनष्ट होनेपर उसके द्वारा अनुभूत विषय रूप और रूपवान् पदार्थोंकी स्मृति नहीं आनी चाहिए क्योंकि अनुभवको करनेवाली इन्द्रियरूप आत्मा विनष्ट हो चुकी है और अनुभविताको ही स्मृति आनेका नियम है। इसी प्रकार श्रोत्र इन्द्रियको आत्मा स्वीकार करने पर श्रोत्र विनष्ट होनेपर शब्दकी स्मृति नहीं आनी चाहिए किन्तु ऐसा नहीं होता है। चक्षु आदिके विनष्ट होनेपर अनुभूत रूपादिकी स्मृति आती ही है। अन्धे पुरुषको रूपकी स्मृति आती है और बधिरको शब्दकी स्मृति आती है। इससे सिद्ध होता है कि चक्षु आदि इन्द्रियाँ आत्मा नहीं हैं। इन्द्रिय तो अनुभव(ज्ञान)का करण(साधन) है। ज्ञाता आत्मा तो इन्द्रियसे भिन्न है।

२. 'इन्द्रियोंका समुदाय आत्मा है', यह पक्ष भी असंगत है क्योंकि सभी इन्द्रियाँ मिलकर किसी विषयको जानती हैं, ऐसा किसीको अनुभव नहीं होता और इन्द्रियोंका समुदाय मैं हूँ, ऐसा अनुभव भी किसीको नहीं होता। इन्द्रियसमुदायको आत्मा मानने पर एक इन्द्रियका नाश होनेपर समुदायरूप आत्माका भी नाश होना चाहिए, ऐसा न होनेसे भी द्वितीयपक्ष असंगत होता है।

स्वप्नावस्थामें मनुष्यकी सभी बाह्येन्द्रियाँ अपने अपने कार्योंसे निवृत्त हो जाती हैं। उस समय मनुष्य अपनेको व्याघ्र आदि के रूपमें भी देखने लगता है। यह अपनेको व्याघ्र आदि रूपमें जाननेवाला कौन है? बाह्येन्द्रियाँ तो जाननेवाली नहीं हैं क्योंकि वे उपरत हो चुकी हैं। शरीरके ज्ञातृत्वरूप आत्मत्वका निराकरण पूर्वमें ही हो चुका है। स्वप्नकालीन 'अहं व्याघ्रः' ऐसे ज्ञानसे सिद्ध होता है कि उससमय अपनेको 'अहम्' 'अहम्' इस रूपमें जानने वाली आत्मा शरीर तथा बाह्येन्द्रियोंसे भिन्न है।

उक्त दोनों विकल्पोंके खण्डनके पश्चात् इन्द्रियोंका आत्मत्व सिद्ध करनेवाली पूर्व प्रदर्शित युक्तियोंका खण्डन इस प्रकारसे किया जाता है- इन्द्रियोंसे भिन्न आत्मा सिद्ध होनेपर यह मानना पड़ता है कि 'मैं आँखोंसे देखता हूँ' 'मैं श्रोत्रसे सुनता हूँ' इत्यादि व्यवहार मुख्य हैं तथा 'आँख देखती है' इत्यादि व्यवहार औपचारिक हैं। अतः इससे इन्द्रियोंका आत्मत्व सिद्ध नहीं होता। चक्षु आदि इन्द्रियाँ ज्ञानकी करण हैं, ज्ञाता नहीं हैं, अतः इन्द्रियोंके आत्मत्वकी सिद्धिमें कहा गया अन्वयव्यतिरेक उनके करणत्वको सिद्ध करके चरितार्थ हो जाता है। 'अहं काणः' इत्यादि व्यवहार भी इन्द्रियोंके करणत्वको ही सिद्ध करते हैं। इन्द्रिय अहमर्थ ज्ञाता है, ऐसा सिद्ध नहीं करते क्योंकि ज्ञाता इन्द्रियका ही नाश होनेपर वह 'अहं काणः,' 'अहं बधिरः' ऐसा व्यवहार नहीं कर सकती है, फिर भी ऐसा व्यवहार

होनेसे यह सिद्ध होता है कि व्यवहार करनेवाली आत्मा चक्षु आदिसे भिन्न है। काणका अर्थ है- चक्षुइन्द्रियरहित और बधिरका अर्थ है- श्रोत्रेन्द्रियरहित। इस प्रकार अहं काणः का अर्थ- मैं चक्षुइन्द्रियसे रहित हूँ और अहं बधिरः का अर्थ- मैं श्रोत्रेन्द्रियसे रहित हूँ, इस प्रकार ये व्यवहार भी इन्द्रियोंसे भिन्न आत्माका ही बोध कराते हैं।

उक्त इन्द्रियात्मवाद पक्षमें मैंने जिसको देखा था, उसीका स्पर्श कर रहा हूँ- **यदमहमद्राक्षं तमहं स्पृशामि** यह प्रत्यभिज्ञा भी संभव नहीं होगी। इससे दर्शनकर्ता और स्पर्शकर्ताकी एकता प्रतीत होती है। 'प्रत्येक इन्द्रिय आत्मा है।' इस प्रथम पक्षके अनुसार चक्षु दर्शनका कर्ता और त्वचा स्पर्शका कर्ता है। देखनेवाली चक्षु स्पर्श नहीं कर सकती है और स्पर्श करनेवाली त्वचा देख नहीं सकती है। अतः यह पक्ष असम्भव है। इन्द्रियसे भिन्न आत्मा को स्वीकार करने वालोंके मतमें उक्त दोनों ज्ञानोंका आश्रय एक स्थिर आत्मा है। इन्द्रिय तो ज्ञाता आत्माके ज्ञानका साधन है। इस प्रकार सिद्धान्त पक्षमें प्रत्यभिज्ञा संभव होती है। प्रस्तुत इन्द्रियवाद पक्षमें 'मैं ही सभी इन्द्रियोंसे विषयका अनुभव करता हूँ' यह अनुसन्धान भी संभव नहीं होता है। उक्त अनेक दोषोंके कारण प्रथम पक्ष निरस्त हो जाता है। उक्त दोनोंसे स्वमतको बचानेके लिए यदि चार्वाक कहे कि बाह्येन्द्रियोंमें कोई एक ही इन्द्रिय आत्मा है, तो इस कथनका भी कोई औचित्य नहीं है क्योंकि इन इन्द्रियोंमें अमुक इन्द्रिय आत्मा है, इस प्रकार इन्द्रियविशेषके आत्मत्वमें कोई नियामक प्रमाण नहीं है। इस प्रकार यह एकेन्द्रियात्मवाद भी खण्डित हो जाता है।

३.मन-आत्मवाद- उक्त युक्तियोंके द्वारा देह और बाह्येन्द्रियोंसे भिन्न सिद्ध होनेवाली आत्मा मन ही है क्योंकि मनको आत्मा स्वीकार

करने पर पूर्वोक्त दोषोंकी प्राप्ति नहीं होती है। अवयवसमुदायरूप देह होनेसे उसके विषयमें ये विकल्प उठते हैं कि क्या देहका प्रत्येक अवयव आत्मा है? अथवा अवयवसमुदाय आत्मा है? मनको निरवयव होनेके कारण वे विकल्प यहाँ नहीं होते, अतः देहात्मवादके दोष मन–आत्मवादमें प्राप्त नहीं होते। बाह्य इन्द्रियोंकी अनेकता होनेसे उसके विषयमें ये विकल्प होते हैं कि क्या प्रत्येक इन्द्रिय आत्मा है? अथवा इन्द्रियसमुदाय आत्मा है? मन एक होनेके कारण उक्त विकल्प यहाँ नहीं होते। अतः इन्द्रियात्मवादके दोष मनको आत्मा मानने पर नहीं होते हैं। 'मम मनः' इस प्रकार होनेवाली आत्म–मन भेदकी प्रतीति तो 'राहुका शिर है'– 'राहो शिरः' इस प्रकार अभेदमें भी सम्भव है। मनसे अतिरिक्त आत्माकी कल्पनामें गौरव दोष भी है। इसलिए मन ही अहमर्थ ज्ञाता आत्मा है।

जाग्रत अवस्थामें चक्षु आदिका मनसे सम्बन्ध होनेपर ही उन इन्द्रियोंसे ज्ञानकी उत्पत्ति होती है। स्वप्नमें चक्षु आदि इन्द्रियोंके निवृत्त होनेपर मनसे ही समस्त व्यवहार चलते रहते हैं। सुषुप्ति एवं मूर्च्छामें प्राण तो होते हैं किन्तु मन नहीं होता, उस समय मनके न होनेसे ही किसी प्रकारका कोई व्यवहार नहीं होता, इसलिए सभी इन्द्रियोंमें एक मन ही स्वतन्त्र इन्द्रिय है और वही आत्मा है।

निराकरण– मनको निरवयव और एक होनेके कारण पूर्वोक्त दोषोंकी संभावना इस पक्षमें नहीं रहती है। फिर भी जिस प्रकार रूपज्ञानादि के करणरूपसे चक्षु आदि इन्द्रियोंकी सिद्धि होती है, उसी प्रकार स्मरणके करणरूपसे मनकी सिद्धि होती है– **रूपादिस्मरणं करणसाध्यं क्रियात्वात् चाक्षुषादिज्ञानवत्।** इस अनुमानसे स्मृतिके करणरूपसे मनकी सिद्धि होती है। **अहं जानामि** इस प्रकार ज्ञानके आश्रयरूपसे(ज्ञानक्रियाकर्तृत्वेन) आत्मा सभीके अनुभवसे सिद्ध है।

कर्तासे भिन्नरूपसे ही करणकी सर्वत्र उपलब्धि होती है, इस कारण मन ज्ञानक्रियाका कर्तारूप ज्ञाता आत्मा नहीं हो सकता है। 'मैं मनसे स्मरण करता हूँ' 'मेरा मन है' इन अनुभवोंसे भी ज्ञाता अहमर्थ आत्मा मनसे भिन्न ही सिद्ध होती है। मेरा मन अन्यत्र था, इसलिए सामने स्थित वस्तुको भी नहीं देख सका- **अन्यत्र मनाऽभूवं,नादर्शम्**(बृ.उ.१.५.३) इस प्रतीतिसे भी मनके असन्निधानसे सम्मुख वस्तुके ज्ञानके अभाववाली आत्मा मनसे भिन्न सिद्ध होती है।

ज्ञाता आत्मा मनके द्वारा इतर इन्द्रियोंका विषयसे सम्बन्ध होनेपर विषयको जानती है, सुषुप्ति एवं मूर्च्छामें मन उपरत होनेके कारण विषयसे सम्बन्ध न होनेसे विषयको नहीं जानती है, इससे मन आत्माके अधीन करण ज्ञात होता है, स्वतन्त्र ज्ञात नहीं होता है। योगशास्त्रमें अभ्यास आदिके द्वारा मनके निरोधका उपदेश होनेसे भी मनको स्वतन्त्र कहना उचित नहीं है।

४.प्राण-आत्मवाद- जाग्रत अवस्थामें देह, इन्द्रिय, मन और प्राण ये सभी सक्रिय रहते हैं। स्वप्नमें देह और बाह्य-इन्द्रियाँ सक्रिय नहीं रहती हैं, मन और प्राण सक्रिय रहते हैं किन्तु सुषुप्तिमें मनके भी निष्क्रिय हो जानेपर प्राण सक्रिय रहते हैं। इसलिए जाग्रत आदि तीनों अवस्थाओंमें कार्य करनेवाले प्राणको आत्मा स्वीकार करना चाहिए। जाग्रत और स्वप्नकालमें होनेवाली देह, इन्द्रिय और मनकी सभी प्रवृत्तियाँ प्राणके अधीन हैं तथा शरीरमें प्राणकी स्थिति को देखकर कहा जाता है कि आत्मा है। प्राणके न रहनेपर कहा जाता है कि आत्मा चली गयी। **प्राणोऽस्मि प्रज्ञात्मा**(कौ.उ.३.१४) इस प्रकार श्रुतिमें आत्माके लिए प्राण शब्दका प्रयोग देखा जाता है। इन हेतुओंसे सिद्ध होता है कि प्राण ही आत्मा है। मरते समय जीव शरीरसे निकलकर लोकान्तरमें जाकर कर्मफल भोगकर पुनः यहाँ

आकर शरीरधारण करता है। वैदिकोंकी यह मान्यता भी प्राणात्मवादमें संगत हो जाती है क्योंकि क्रियाशील प्राणको शरीरसे निकलने, लोकान्तर जाने और पुनः यहाँ आकर शरीरधारण करनेमें कोई बाधा नहीं है।

निराकरण- देहात्मवादके खण्डनसे ही प्राणात्मवाद भी खण्डित हो जाता है क्योंकि देहधारणकी योग्यतारूप गुणसे युक्त वायुके अवयवोंका समुदाय ही प्राण है। वायुका प्रत्येक अवयवरूप प्राण आत्मा है? अथवा अवयवसमुदायरूप प्राण आत्मा है? इस प्रकार विकल्प करने पर देहात्मवादके दोष यहाँ प्राप्त होनेसे प्राण भी देहकी तरह अनात्मा है। जैसे बाहर संचरण करनेवाली वायु आत्मा नहीं है, वैसे ही वायुविशेष प्राण भी आत्मा नहीं है। यह सबका अनुभव है कि सुषुप्तिकालमें आत्मा अनुभव, स्मरण आदि कोई कार्य नहीं करता है। उस समय भी प्राण अपना कार्य करता रहता है। प्राणोंके कार्यके प्रभावसे ही सोये हुये मनुष्यके उदरस्थ भोजनसे रस, रक्त आदि निर्मित होते रहते हैं, श्वास और प्रश्वास भी चलते रहते हैं। सुषुप्तिकालमें सक्रिय प्राण और निष्क्रिय आत्मा दोनों एक नहीं हो सकते। सुषुप्तिकालमें सक्रिय होकर अपना कार्य करनेवाला प्राण यदि आत्मा होता तो उसे ज्ञान अवश्य होना चाहिये किन्तु ज्ञान नहीं होता है, इससे सिद्ध होता है कि श्वास आदि कार्यकरने वाला प्राण पृथक् है तथा जाननेवाली आत्मा पृथक् है। 'मेरे प्राण हैं'। इस प्रतीतिसे भी अहमर्थ आत्मा प्राणसे भिन्न सिद्ध होती है। **प्राणोऽस्मि प्रज्ञात्मा**(कौ.उ.३.१४) यहाँ पर प्राण शब्द प्राणविशिष्ट आत्माका बोधक है। देह, इन्द्रिय और मनकी प्रवृत्तिया प्राणविशिष्ट आत्माके अधीन हैं, केवल प्राणके अधीन नहीं। जीवात्माका शरीरसे उत्क्रमण होनेपर प्राणका उत्क्रमण होता है- **तमुत्क्रान्तं प्राणोऽनूत्क्रामति।**(बृ.उ.४.४.२) इस प्रकार आत्माका अनुगामी

प्राणको कहा गया है। देहमें प्राण होनेपर 'आत्मा है' तथा देहमें प्राण न होनेपर 'आत्मा चली गयी' ये कथन भी देहमें प्राण और आत्माकी साथ विद्यमानताके कारण सम्भव होते हैं, अतः इनसे भी प्राण और आत्माका अभेद स्वीकार करना व्यर्थ है।

प्राण भौतिक है, विनाशी है। आत्माके सूक्ष्म शरीरका घटक प्राण है। इसका महाप्रलय और मुक्तिकालमें विनाश होता है। सदा रहनेवाली अविनाशी आत्मा प्राणसे भिन्न ही है। आत्मा ही पुण्य-पापात्मक कर्मोंको करके उनके फलको भोगती है। प्राण तो संसारी आत्माकी शरीरमें स्थितिका साधनमात्र है।

मन आत्मवाद और प्राण आत्मवादके निरूपणका पौर्वापर्य- मनः प्राणे(छां.उ.६.८.६) इस प्रकार मरणकालमें मनकी उत्क्रान्तिके पश्चात् प्राणकी उत्क्रान्ति सुने जानेसे जीवात्माके उपकारकी दृष्टिसे मनकी अपेक्षा प्राणका महत्त्वपूर्ण स्थान ज्ञात होता है। इस दृष्टिसे यहाँ मन-आत्मवादके पश्चात् प्राण-आत्मवादका विचार किया गया है और बृहदारण्यक(४.४.५)में भी मनोमयके पश्चात् प्राणमयका कथन है किन्तु वस्तुस्वरूपकी दृष्टिसे प्राणकी अपेक्षा मनका महत्त्वपूर्ण स्थान है क्योंकि मन अहंकारजन्य है, प्राण वायुविशेष है, इसलिए भौतिक है, इस दृष्टिसे तैत्तिरीयमें प्राणमयके पश्चात् मनोमयका निरूपण किया गया है।

५.ज्ञान-आत्मवाद- चार्वाक सिद्धान्तके कुछ विद्वानोंका कहना है कि उपर्युक्त दोषोंके कारण देह, इन्द्रिय, मन और प्राण आत्मा नहीं हैं, यह बात हमको मान्य है किन्तु लोक प्रसिद्ध जो ज्ञान है, उसीको आत्मा मानना उचित है क्योंकि यह पक्ष दोषरहित है। यह आत्मा ही भोक्ता है। कुछ दार्शनिक भोक्ता आत्माको ज्ञानसे भिन्न एवं नित्य मानते हैं, वह उचित नहीं क्योंकि सुषुप्तिमें आत्मा भोक्ता नहीं होती

है। सुषुप्तिमें ज्ञान नहीं होता है। यदि ज्ञानसे अतिरिक्त नित्य आत्मा होता तो उसे सुषुप्तिमें भी विद्यमान होनेसे भोग होना चाहिए। यदि ऐसा कहा जाए कि ज्ञानके कालमें आत्म भोग भोगती है। सुषुप्तिमें ज्ञानके न रहनेसे भोग नहीं होता, ऐसा कहना उचित नहीं क्योंकि ज्ञान उभयपक्ष सम्मत है। अतः इसे ही भोक्ता माननेमें लाघव है, ज्ञानसे अतिरिक्त आत्माको भोक्ता माननेमें गौरव है। अनुकूल अथवा प्रतिकूल विषयोंको जानना ही ज्ञानका भोक्तृत्व है। भोगके लिए अदृष्टकी कल्पना व्यर्थ है। इस ज्ञानरूप आत्माका सुषुप्तिमें विनाश स्वीकार करना चाहिए क्योंकि सुषुप्तिमें उसका सद्भाव अनुभूत नहीं होता है। जाग्रत अवस्थामें विना कारणके ज्ञान उत्पन्न हो जाता है, यही आत्मा है।

निराकरण– कुछ चार्वाक विद्वानों द्वारा प्रतिपादित उक्त मत सम्यक् नहीं हैं क्योंकि अनुभवके अनुरूप ही पदार्थोंके स्वरूप और स्वभावको माना जाता है, अनुभवके विपरीत नहीं माना जाता। **अहं जानामि** इस प्रकार शरीरके अन्दर जो अहमर्थ ज्ञानका आश्रय प्रतीत होता है, वही आत्मा है। लोक प्रसिद्ध अनित्य ज्ञान आत्मा नहीं है। प्रत्यक्षसे सिद्ध ज्ञाताको अहमर्थ आत्मा स्वीकार करनेमें गौरव दोष नहीं है क्योंकि कल्पित अर्थ होनेपर ही गौरव दोष माना जाता है, प्रमाणसिद्ध अर्थ होनेपर नहीं माना जाता। पदार्थोंकी अनुकूलता और प्रतिकूलता ज्ञानके आश्रय भोक्ता आत्माके प्रति होती है, भोगरूप ज्ञानके प्रति नहीं होती। अतः वह ज्ञान जो कभी भोगरूपताको प्राप्त करता है, वह आत्मा नहीं है, उसका आश्रय आत्मा है। ज्ञानरूप आत्माको विनाशी और अनित्य स्वीकार करने पर स्मृति और प्रत्यभिज्ञाकी असिद्धि आदि अनेक दोषोंसे ग्रस्त होनेके कारण प्रस्तुत मत त्याज्य है।

बौद्धमत

ज्ञान-आत्मवाद- बौद्धोंके चार भेद हैं- १.माध्यमिक, २.योगाचार, ३.सौत्रान्तिक, ४.वैभाषिक।

प्रसङ्गतः योगाचार बौद्धका मत यहाँ प्रस्तुत है- क्षणिकविज्ञान ही आत्मा है। ज्ञान(विज्ञान) प्रतिक्षण उत्पन्न एवं नष्ट होते रहते हैं। एकके पश्चात् दूसरा ज्ञान, उसके पश्चात् तीसरा ज्ञान, इस प्रकार ज्ञानका प्रवाह चलता रहता है। प्रवाहको ही सन्तान कहते हैं। यह क्षणिक ज्ञानका सन्तान ही आत्मा है क्योंकि ज्ञान अजड़ है। लोकमें देखा जाता है कि घटादि पदार्थ विद्यमान रहते समय सदा प्रकाशित नहीं होते हैं और जब प्रकाशित होते हैं, तब ज्ञानसे ही प्रकाशित होतें हैं। दूसरेसे प्रकाशित होनेके कारण घटादि जड़ हैं। ज्ञान रहते समय सदा अपनेसे ही प्रकाशित होता रहता है, इसलिए स्वयंप्रकाश है। स्वयंप्रकाश होनेसे अजड़ है। 'अहम्' 'अहम्' इस रूपमें भासित होनेके कारण अहमर्थ है। इस विज्ञानसे अतिरिक्त कोई बाह्य वस्तु है ही नहीं। जो भाव पदार्थ है, वह क्षणिक है- **यत् सत् तत् क्षणिकम्**। विज्ञान भावपदार्थ है, इसलिए क्षणिक है। ज्ञानसे अतिरिक्त आत्माका अस्तित्व स्वीकार करनेवालोंको ज्ञान स्वीकार करना ही पड़ता है। उभयवादी सम्मत विज्ञानसे ही सब व्यवहार संभव हो जाते हैं, इसलिए क्षणिकविज्ञान ही आत्मा है। प्रवृत्तिविज्ञान और आलयविज्ञानके भेदसे यह दो प्रकारका होता है-

१.प्रवृत्तिविज्ञान- घट,पटादि तथा नील,पीतादिको विषय करनेवाला ज्ञान अर्थात् सविषयक ज्ञान प्रवृत्तिविज्ञान कहलाता हे। यह जाग्रत और स्वप्नावस्थामें रहता है।

२.आलय विज्ञान– 'अहम्' 'अहम्' इस प्रकार होनेवाला ज्ञान अर्थात् निर्विषयक ज्ञान आलय विज्ञान कहलाता है। यह प्रगाढ़ सुषुप्तिमें रहता है। अहम्–अहम् इस प्रकार प्रतीत होनेवाला आलय विज्ञान नीलज्ञान, पीतज्ञानरूप प्रवृत्ति विज्ञानके आश्रयरूपमें भासित होता है। वास्तव में आश्रय–आश्रयी भाव नहीं है, ज्ञाता–ज्ञेय भाव नहीं है। प्राचीन वासना के कारण ही ज्ञाता और ज्ञेय का आरोप होता है।

निराकरण– 'मैं जानता हूँ' इस प्रतीतिसे ज्ञानरूपी धर्म एवं ज्ञानका आश्रय अहमर्थ धर्मी आत्मा भिन्न–भिन्न पदार्थ सिद्ध होते हैं। उक्त ज्ञानात्मवादमें प्रत्यक्षप्रमाणसे सिद्ध ज्ञाताका अपलाप करना पड़ता है, जो बहुत बड़ा दोष है। ज्ञान और आत्मा दोनों अजड़ हैं। इतनेसे ज्ञान आत्मा सिद्ध नहीं होता क्योंकि धर्मधर्मिभाव होनेसे इन दोनोंका भेद प्रमाणसिद्ध है। 'घटज्ञान उत्पन्न हुआ', 'पटज्ञान नष्ट हुआ' इस प्रकार ज्ञान ज्ञाताका उत्पत्ति विनाशवाला धर्म सिद्ध होता है। 'मैं वही हूँ' इस अनुभवसे आत्मा एक एवं स्थिर सिद्ध होती है। बौद्धसम्मत ज्ञानात्मवादमें आत्मा क्षणिक होनेके कारण 'मैं वही हूँ' ऐसी प्रत्यभिज्ञा संभव नहीं होगी और ज्ञानसन्तानका भी ग्रहण नहीं होगा, अतः ज्ञानसन्तान ही असिद्ध होनेसे क्षणिकज्ञानसन्तानको आत्मा नहीं कहा जा सकता है।

विज्ञानसे व्यवहारकी सिद्धि तो होती है किन्तु विज्ञानमात्रसे सभी व्यवहारोंकी सिद्धिका कथन भ्रममूलक है क्योंकि व्यवहार ज्ञान, ज्ञाता और ज्ञेय इन तीनोंकी अपेक्षा करता है, अतः विज्ञानसे अतिरिक्त स्थिर ज्ञाता और ज्ञेयको भी स्वीकार करना चाहिए।

शांकरमत

ज्ञान-आत्मवाद- 'क्षणिक विज्ञान ही आत्मा है' यह बौद्धमत प्रत्यभिज्ञाकी असिद्धि आदि अनेक दोषोंसे युक्त होनेके कारण अमान्य हैं। नित्य ज्ञानको आत्मा स्वीकार करनेवाले श्रीशंकराचार्यका मत इन दोषोंसे रहित है, इसलिए इसे स्वीकार करना चाहिए- विषयका प्रकाश करनेवाला ज्ञान स्वयंप्रकाश है। यह कभी भी दूसरेके द्वारा प्रकाशित न होते हुए स्वयं प्रकाशित होता रहता है। ज्ञान नित्य है। ज्ञान अनेक नहीं हैं किन्तु एक ही है। यह सधर्मक अर्थात् आश्रय-विषयवाला नहीं है, बल्कि निर्धर्मक अर्थात् आश्रय-विषयसे रहित है। इस प्रकार भेदरहित, निर्धर्मक प्रकाशैकस्वरूप जो ज्ञान है, वही आत्मा है।

जो अनुभूति अजन्मा है, अप्रमेय(ज्ञानका अविषय) है, अनन्त है, आत्मा है, आनन्दस्वरूप है, महत्तत्व इत्यादि जगद्रूप मायामय चित्रकी भित्ति(अधिष्ठान) है, उसे नमस्कार करता हूँ- **याऽनुभूतिरजाऽमेयाऽनन्तात्मानन्दविग्रहा। महदादि जगन्मायाचित्रभित्तिं नमामि ताम्॥**(इ.सि.मं.) बाह्य अर्थरूप प्रमेयविषयक(प्रमेयका प्रकाशकरनेवाली) जो अनुभूति फलरूपमें मानी जाती है, वही अनुभूति वेदान्तवाक्यरूप प्रमाणोंका प्रतिपाद्य अर्थ है- **परागर्थप्रमेयेषु या फलत्वेन सम्मता। संवित् सैवेह मेयोऽर्थो वेदान्तोक्तिप्रमाणतः॥**(सु.वा.) इन वचनोंसे स्पष्ट है कि निर्विशेषाद्वैती विद्वान् विषयप्रकाशक ज्ञानको ही आत्मा मानते हैं। उस ज्ञानमें ज्ञानान्तरवेद्यत्व, उत्पत्ति, विनाश इत्यादि विकार तथा अनेकत्व इत्यादि धर्मोंको आरोपित मानते हैं। इन आरोपित आकारोंका निषेधकर विषयप्रकाशक स्वप्रकाश ज्ञानको ही आत्मा मानते हैं।

निराकरण– बौद्धसम्मत ज्ञानात्मवादके निराकरणके अनुसार निर्विशेषाद्वैतीसम्मत ज्ञानात्मवाद सिद्धान्तका भी निराकरण हो जाता है। बौद्धोंके ज्ञानात्मवादको ही निर्विशेषाद्वैतवेदान्तियोंने वैदिकरूप देकर अपनाया है। यद्यपि बौद्धोंके ज्ञानात्मवाद तथा इनके ज्ञानात्मवादमें यह अन्तर है कि बौद्ध क्षणिक ज्ञानको आत्मा मानते हैं तथा निर्विशेषाद्वैती स्थिर ज्ञानको आत्मा मानते हैं। इतना अन्तर होनेपर भी बौद्धमतमें वर्णित दोष निर्विशेषाद्वैत मतमें समानरूपसे संगत होते हैं। शंकर भगवत्पादके मतमें जिस ज्ञानको आत्मा स्वीकार किया जाता है, वह ज्ञान 'घटमहं जानामि', 'पटमहं जानामि' इस प्रकार आश्रय और विषयके सहित ही अनुभवमें आता है। लोकमें 'अहं जानामि' यह अबाधित अनुभव है क्योंकि 'नाहं जानामि' इस प्रकार इसका बाध कभी भी नहीं होता है, इसलिए वादीने जिस ज्ञानको आत्मा माना है, वह आश्रय और विषयसे रहित नहीं हो सकता है। स्वयंप्रकाश ज्ञान अपने लिए प्रकाश नहीं करता है। यह अपनी आश्रय आत्माके लिए अपना तथा विषयका प्रकाश करता है। कालान्तरमें अपने ज्ञानको स्मरणके द्वारा जाना जाता है। अनुमान आदिके द्वारा पर पुरुषके ज्ञानको समझा जाता है। इस विवेचनसे यह सिद्ध होता है कि विषयप्रकाशन कालमें ही स्वाश्रय आत्माके लिए अन्य ज्ञानकी अपेक्षा न करके प्रकाशित होनेवाला ज्ञान ज्ञानान्तरवेद्य भी है, सर्वथा अवेद्य नहीं है। इस विषयको धर्मभूतज्ञानविवेचनमें बुद्धिके अवेद्यत्वनिराकरणके प्रसंगमें विस्तारसे देखना चाहिए।

शंका– सिद्धान्तमें भी आत्मा ज्ञानस्वरूप माना जाता है, तो आप ज्ञानात्मवादका निराकरण क्यों करते हैं?

समाधान– घट-पटादि विषयोंको प्रकाशित करनेवाला जो ज्ञान है, शांकरमतमें उसे ही आत्मा माना जाता है। हम उस ज्ञानके

आत्मत्वका निराकरण करते हैं क्योंकि वह ज्ञान 'मैं घटको जानता हूँ, 'मैं पटको जानता हूँ' इन प्रतीतियोंसे अहमर्थ आत्माके धर्मरूपसे प्रतीत होता है। आत्माके धर्मरूपसे प्रतीत होनेवाला ज्ञान आत्मा नहीं हो सकता है किन्तु विषयप्रकाशक ज्ञानका आश्रय जो अहमर्थ धर्मीरूपसे प्रतीत होता है, वह आत्मा है, आत्मा भी ज्ञानस्वरूप है। श्रुतिसिद्ध आत्माकी ज्ञानरूपताका निराकरण हम नहीं करते हैं। हम तो उसके आश्रित रहनेवाले ज्ञानके आत्मत्वका निराकरण करते हैं। आत्माकी ज्ञानरूपता हमें इष्ट है।

अहं प्रतीतिका विषय आत्मा ज्ञाता(ज्ञानका आश्रय) है, वह केवल ज्ञान नहीं है। लोकमें 'मैं जानता हूँ' इस प्रकार ज्ञा धातुके अर्थरूपमें जो ज्ञान अनुभूत होता है। वह ज्ञाता नहीं है, स्थिर भी नहीं है। वह अस्थिर ज्ञान 'मैं वहीं हूँ' ऐसी प्रत्यभिज्ञा नहीं कर सकता है, इसलिए आत्मा नहीं हो सकता है।

प्रश्न- ज्ञानकी उत्पत्ति और नाश नहीं होते हैं। अन्तःकरणकी वृत्तिकी ही उत्पत्ति एवं नाश होते हैं। अन्तःकरणकी वृत्तिमें होनेवाली उत्पत्ति एवं नाशको ज्ञानमें आरोपित करके लोकमें व्यवहार होता है। वास्तवमें ज्ञान स्थिर है तथा उत्पत्ति-विनाशशून्य है, अतः प्रत्यभिज्ञा करनेवाले ज्ञानको आत्मा माननेमें क्या आपत्ति है?

उत्तर- ज्ञानको स्थिर मानने पर भी ज्ञानसे प्रत्यभिज्ञा सम्पन्न नहीं हो सकती है क्योंकि 'मैं वही हूँ' इस प्रत्यभिज्ञाके अनुसार ज्ञानसे अतिरिक्त पूर्वोत्तरकालवर्ती स्थिर ज्ञाता सिद्ध होता है, ज्ञान ज्ञाता सिद्ध नहीं होता। वह प्रत्यभिज्ञारूप ज्ञान ज्ञाता-आत्मा नहीं हो सकता है क्योंकि उपर्युक्त प्रत्यभिज्ञा ज्ञाताकी अपेक्षा रखती है और वह ज्ञाताको ही होती है।

प्रश्न– उपर्युक्त प्रत्यभिज्ञा भ्रम है, विषयकी अपेक्षा न रखकर जैसे भ्रम होता है। वैसे आश्रयकी अपेक्षा न रखकर भी भ्रम हो सकता है। उपर्युक्त प्रत्यभिज्ञारूप भ्रम आश्रयनिरपेक्ष है, उससे पूर्वोत्तरकालवर्ती ज्ञाता सिद्ध नहीं होगा।

उत्तर– भले ही भ्रम विषयनिरपेक्ष हो परन्तु आश्रयनिरपेक्ष नहीं हो सकता क्योंकि सब तरहके भ्रम आश्रय ज्ञाताके ही होते हैं। ऐसा कोई भी भ्रम नहीं है जो ज्ञाताको न होता हो। अतः उपर्युक्त प्रत्यभिज्ञा पूर्वोत्तर कालवर्ती ज्ञाता आत्माको ही सिद्ध करती है। वही आत्मा है, ज्ञान आत्मा नहीं है क्योंकि वह प्रत्यभिज्ञा कर ही नहीं सकता है।

प्रश्न– ज्ञानके लिए भले ज्ञाताकी अपेक्षा हो, निर्विशेषाद्वैतियोंके मतमें भ्रान्तिसिद्ध ज्ञाता मान्य है, उस भ्रान्तिसिद्ध ज्ञातासे निर्वाह हो सकता है, अतः सत्य ज्ञाताको माननेकी क्या आवश्यकता है?

उत्तर– भ्रान्तिसिद्ध ज्ञातासे निर्वाह नहीं हो सकता है क्योंकि जिस भ्रान्तिसे ज्ञाताकी सिद्धि मानी जाती है, वह भ्रान्ति भी ज्ञाताकी अपेक्षा अवश्य रखेगी क्योंकि वह ज्ञाताकी ही होगी। यदि वह ज्ञाता भ्रान्त्यन्तर से सिद्ध होगा तो वह भ्रान्त्यन्तर भी ज्ञाताकी अपेक्षा रखेगी क्योंकि वह भी ज्ञाताको होती है, यदि वह ज्ञाता भी भ्रान्त्यन्तरसे सिद्ध हो तो उस भ्रान्तिका भी ज्ञाता मानना चाहिए। इस प्रकार अनवस्था दोष प्राप्त होगा। सत्य ज्ञाता मानने पर ही अनवस्था दोष दूर होगा, अन्यथा नहीं।

शंका– यहाँ अनवस्था दोष नहीं है। जिस प्रकार बीज और अंकुरको लेकर होनेवाली अनवस्था दोष नहीं है क्योंकि वह कारणको लेकर होनेवाली अनवस्था है, यह अर्थ सर्वसम्मत है कि

कारणानवस्था दोष नहीं है, उसी प्रकार ज्ञाताके भ्रान्तिसिद्धत्वको लेकर होनेवाली अनवस्था भी कारणानवस्था होनेसे दोष नहीं है।

समाधान- यदि ज्ञाताको भ्रान्तिसिद्ध मानने पर होनेवाली अनवस्थाको कारणानवस्था मानकर गुण माना जाए तो भ्रान्तिसिद्ध दोष और अधिष्ठानको लेकर ही सभी भ्रम संभव होते हैं। वहाँ अविद्या दोषके अनादित्वको तथा अधिष्ठानके सत्यत्वको माननेकी आवश्यकता ही नहीं रहेगी। भ्रान्तिसिद्ध दोष और अधिष्ठानको लेकर भ्रमोंकी उत्पत्ति माननेपर होनेवाली अनवस्थाका शांकराद्वैती कारणानवस्था मानकर समाधान नहीं करते हैं। वे समाधानके लिए अविद्या दोषको अनादि एवं अधिष्ठानको सत्य मानते हैं। वैसा माननेवाले निर्विशेषाद्वैतियोंके मतमें ज्ञाताको भ्रान्तिसिद्ध मानने पर होनेवाला अनवस्था दोष भी असमाधेय ही है। उपर्युक्त अनवस्था दोषका समाधान करनेके लिए ज्ञाताको सत्य मानना ही होगा।

निर्विशेषाद्वैती विद्वान् सांख्योंसे मिलकर यह कहते हैं कि आत्मा चिन्मात्रस्वरूप है, वह ज्ञाता नहीं है किन्तु अन्तःकरण ही ज्ञाता है। अन्तःकरणका ज्ञातृत्व तीन प्रकारसे सिद्ध होता है-

१.जिस प्रकार दर्पणमें मुखकी छाया पड़नेसे दर्पण मुखका आश्रय प्रतीत होता है, उसी प्रकार अन्तःकरणमें ज्ञानरूप आत्माकी छाया पड़नेसे अन्तःकरण ज्ञानका आश्रय प्रतीत होता है। अन्तःकरणमें भासने वाला यह ज्ञानाश्रयत्व ही ज्ञातृत्व है।

२.जिस प्रकार लौहपिण्डमें उष्णताकी आश्रय अग्निका गाढ़ सम्पर्क होनेसे लौहपिण्ड उष्णताका आश्रय प्रतीत होता है, उसी प्रकार अन्तःकरणमें ज्ञानरूपी आत्माका सम्पर्क होनेसे अन्तःकरण ज्ञानका आश्रय प्रतीत होता है। अन्तःकरणका यह ज्ञानाश्रयत्व ही ज्ञातृत्व है।

३.जिस प्रकार करतल(हाथ) सूर्यकिरणका अभिव्यञ्जक होते समय उसके अभिव्यञ्जकत्व बलसे सूर्य किरणोंका आश्रय प्रतीत होता है, उसी प्रकार अन्तःकरण ज्ञानरूप आत्माका अभिव्यञ्जक होनेसे ज्ञानका आश्रय प्रतीत होता है।

निर्विशेषाद्वैती विद्वानोंका उक्त कथन समीचीन नहीं है। प्रथमपक्ष यह कि दर्पणमें मुखकी छाया पड़नेके समान अन्तःकरणमें चिद्रूप आत्माकी छाया पड़नेसे अन्तःकरण ज्ञाता अर्थात् ज्ञानाश्रय प्रतीत होता है। इस कथनमें छायापत्तिसे छाया पड़ना यह मुख्यार्थ विवक्षित होगा, तो यह दोष होगा कि यहाँ बिम्ब बननेवाली चिद्रूप आत्मा तथा छायाका अधिकरण बननेवाला अन्तःकरण ये दोनों अचाक्षुष(चक्षुरिन्द्रिय से अग्राह्य) हैं। ऐसी स्थितिमें एकको छाया दूसरेमें कैसे पड़ सकती है? क्योंकि यदि बिम्ब और अधिकरण चाक्षुष हों तो बिम्बकी छाया अधिकरणमें पड़ती देखी जाती है। जैसे- बिम्ब बननेवाला मुख तथा छायाका अधिकरण बननेवाला दर्पण दोनों चाक्षुष हैं, इसलिए मुखकी छाया दर्पणमें पड़ती दिखाई देती है। प्रकृतमें चिद्रूप आत्मा और अन्तःकरण दोनों अचाक्षुष हैं, ऐसी स्थितिमें चिद्रूप आत्माकी छाया अन्तःकरणमें कैसे पड़ सकती है? यहाँ पर निर्विशेषाद्वैती विद्वान् यह उत्तर देते हैं कि यहाँ 'छायापत्ति' शब्दसे छाया पड़ना यह मुख्यार्थ नहीं कहा जाता है, केवल अध्यास ही छायापत्ति शब्दसे लक्षणाके द्वारा कहा जाता है। आरोपको अध्यास कहते हैं। यह अध्यास ही यहाँ छायापत्ति शब्दसे विवक्षित है। यहाँ निर्विशेषाद्वैती विद्वानोंसे यह पूँछना चाहिए कि यदि छायापत्ति शब्दसे अध्यास विवक्षित है, तो चिच्छायापत्ति शब्द षष्ठीतत्पुरुष और सप्तमी तत्पुरुष ऐसे दोनों समासोंसे निष्पन्न होनेसे क्या अन्तःकरणमें चित्का अध्यास चिच्छायापत्ति शब्दसे विवक्षित है? अथवा चित्में

अन्तःकरणका अध्यास चिच्छायापत्ति शब्दसे विवक्षित है? यहाँ पर यदि अन्तःकरणमें चैतन्य(ज्ञानरूप आत्मा) का अध्यास ही चिच्छायापत्ति शब्दसे विवक्षित हो,तो चैतन्य मिथ्या हो जायेगा क्योंकि उपर्युक्त कथनके अनुसार अन्तःकरणमें चैतन्य अध्यस्त अर्थात् आरोपित होता है और आरोपित पदार्थ मिथ्या होता है क्योंकि 'मैं जानता हूँ' इस प्रकार चैतन्य(ज्ञान) अन्तःकरणमें अध्यस्त होकर ही प्रतीत होता है। वह चैतन्य जो अन्तःकरणमें अध्यस्त न होता हो, किसी प्रमाणसे सिद्ध नहीं होता है, अतः अन्तकरणमें चैतन्यका अध्यास मानने पर अन्तःकरणमें अध्यस्त होनेवाले चैतन्यमें मिथ्यात्वरूप दोष अवश्य उपस्थित होगा। यदि उपर्युक्त दोषका परिहार करनेके लिए निर्विशेषाद्वैती विद्वान् यह कहें कि चैतन्यमें अन्तःकरणका अध्यास ही चिच्छायापत्ति शब्दसे विवक्षित है तो इस अध्यासके अनुसार ज्ञानमें अन्तःकरणका आरोप होनेसे ज्ञानको अन्तःकरणके आश्रयरूपमें प्रतीत होना चाहिए परन्तु वैसा किसीको भी प्रतीत नहीं होता है। यदि ज्ञानमें अन्तःकरणरूप अहंकारके तादात्म्यका आरोप होता तो 'ज्ञान मैं हूँ' ऐसा भ्रम होना चाहिए, किन्तु वैसा भ्रम किसीको नहीं होता। निर्विशेषाद्वैती अन्तःकरणमें ज्ञातृत्वका भ्रम ही मानते हैं परन्तु यह भ्रम चैतन्यमें अन्तःकरणका संसर्गारोप अथवा तादात्म्यारोप मानने पर नहीं हो सकेगा। इस प्रकार प्रथम पक्षका निराकरण हो जाता है।

द्वितीय पक्ष भी असंभव है क्योंकि दृष्टान्तमें अग्निमें उष्णता वस्तुतः रहती है। लौहपिण्डमें अग्निके सम्पर्कके कारण उष्णताश्रयत्वका भ्रम होता है। परन्तु यहाँ चैतन्य एवं अन्तःकरणमें वास्तविक ज्ञातृत्व है ही नहीं। ऐसी स्थितिमें अन्तःकरणमें चित्का सम्पर्क होनेपर भी अन्तःकरणमें ज्ञातृत्व(ज्ञानाश्रयत्व)का अध्यास नहीं हो सकता है। यहाँ पर निर्विशेषाद्वैती यह कहते हैं कि घट और

उसके रूपमें धर्मधर्मिभाव अनुभवमें आता है। घट धर्मी एवं उसका रूप धर्म है। इस प्रकार घट और उसके रूपमें अनुभूत होनेवाले धर्मधर्मिभावका अध्यास ज्ञान एवं अन्तःकरणमें होता है। ज्ञानमें धर्मत्वका अध्यास तथा अन्तःकरणमें धर्मित्वका अध्यास होता है। इस अध्यासके कारण ही ज्ञान धर्मके रूपमें और अन्तःकरण धर्मीके रूपमें प्रतीत होता है। इस प्रकार अन्तःकरणमें ज्ञातृत्वका भ्रम होता है। ऐसा पूर्वपक्ष प्रस्तुत होनेपर उत्तर दिया जाता है कि निर्विशेषाद्वैतियोंका यह कथन समीचीन नहीं है क्योंकि लोकमें घट और उसके रूपके विषयमें अनुभूत धर्मधर्मिभावका चैतन्य एवं अन्तःकरणमें अध्यास मानना उचित नहीं है क्योंकि ज्ञानमें धर्मत्वका ही अध्यास हो, अन्तःकरणमें धर्मित्वका ही अध्यास हो, इसमें कोई नियामक नहीं है। ज्ञानमें धर्मित्वका तथा अन्तःकरणमें धर्मत्वका अध्यास क्यों न हो? इस प्रकार विपरीत अध्यास भी हो सकता है, अतः निर्विशेषाद्वैतियोंका कथन असंगत होता है।

यहाँ पर निर्विशेषाद्वैती विद्वानोंके द्वारा अन्तःकरणमें धर्मित्वका अध्यास तथा चैतन्यमें धर्मत्वका अध्यास होनेमें नियामक कहे जाते हैं। यद्यपि अहंकार धर्मीसे भिन्न है, तथापि उसमें विद्यमान धर्मिभेद गृहीत(ज्ञात) नहीं होता है। इस धर्मिभेदाग्रहके कारण ही अहंकारमें धर्मित्वका अध्यास होता है। इसमें धर्मिभेदाग्रह नियामक है तथा चैतन्य धर्मसे यद्यपि भिन्न है परन्तु उसमें विद्यमान धर्मभेद गृहीत नहीं होता है। इस धर्मभेदाग्रहके कारण ही चैतन्यमें धर्मत्वका अध्यास होता है। इसमें धर्मभेदाग्रह ही नियामक है। इस प्रकार अंहकारमें धर्मित्वाध्यास तथा चैतन्यमें धर्मत्वाध्यास होनेसे 'मैं जानता हूँ' इस प्रकार अहमर्थमें ज्ञातृत्व अर्थात् ज्ञानाश्रयत्वका भ्रम होता है। निविर्शेषाद्वैतियों का यह कथन भी समीचीन नहीं है क्योंकि वे कहते हैं कि चैतन्य धर्मसे भिन्न है,

चैतन्यमें धर्मसे भेद है। वह भेद ज्ञात नहीं होता है, अतः चैतन्यमें धर्मत्वका अध्यास होता है, इस विषयमें यह पूछना है कि निर्विशेषाद्वैतियों के मतमें ज्ञानरूप आत्मा स्वयंप्रकाश पदार्थ है, वह निर्धर्मक है, उसमें स्वरूपातिरिक्त कोई धर्म नहीं होता है। ऐसी स्थितिमें चैतन्यरूप आत्मामें जो धर्मसे भेद है, जिसका ज्ञान न होनेसे चैतन्यमें धर्मत्वका अध्यास माना जाता है। वह भेद चैतन्यस्वरूप ही होगा। स्वरूपातिरिक्त धर्मरूप भेद निर्धर्मक चैतन्यमें नहीं माना जा सकता है। वह स्वरूपभूत भेद भासता ही रहता है क्योंकि ब्रह्मरूपी चैतन्य स्वयंप्रकाश है। ऐसी स्थितिमें उस स्वरूपभूत भेदका अज्ञान नहीं होगा तथा भेदका अज्ञान न होनेपर धर्मत्वका अध्यास भी नहीं होगा। यदि निर्विशेषाद्वैती ब्रह्ममें स्वरूपातिरिक्त धर्मका भेद मानें तो वह भेद धर्म बन जायेगा और ब्रह्म सधर्मक होगा, वह निर्धर्मक न हो सकेगा। अतः चैतन्यमें धर्मत्वाध्यास तथा अन्तःकरणमें धर्मित्वाध्यासके बल पर अन्तःकरणमें ज्ञातृत्वका प्रतिपादन नहीं हो सकता है, इस प्रकार द्वितीय पक्षका निवारण हो जाता है।

निर्विशेषाद्वैती विद्वान् अहंकारमें ज्ञातृत्व को सिद्ध करनेके लिए तृतीय पक्ष कहते हैं- जिस प्रकार सूर्यकी किरणोंका अभिव्यञ्जक करतल सूर्य किरणोंका आश्रय प्रतीत होता है, उसी प्रकार चैतन्यरूप आत्माका अभिव्यञ्जक अहंकार भी चैतन्यरूप ज्ञान(आत्मा)का आश्रय प्रतीत होता है। निर्विशेषाद्वैतियों द्वारा वर्णित यह तृतीय पक्ष भी समीचीन नहीं है क्योंकि चैतन्यरूप आत्मा स्वयंप्रकाश पदार्थ है। इतर पदार्थोंका चैतन्यमें जो भेद है। वह भेद चैतन्यरूप है, चैतन्यका धर्म नहीं है, ऐसा माना जाता है क्योंकि उनके मतमें चैतन्य निर्धर्मक है। इतर भेद चैतन्यस्वरूप होनेसे यह फलित होता है कि वह स्वयंप्रकाश अपने चैतन्यस्वरूपको प्रकाशित

करते समय स्वस्वरूपको इतर पदार्थोंसे भिन्न रूपमें ही प्रकाशित करता है। इस प्रकार इतरपदार्थोसे भिन्नरूपमें स्वयंप्रकाशित होने वाला जो चैतन्य है, उसे अहंकारसे अभिव्यक्त होनेकी आवश्यकता नहीं है, इसलिए चैतन्यको अहंकाराभिव्यङ्ग्य मानकर अहंकारका ज्ञातृत्व सिद्ध नहीं हो सकता है। चैतन्यमें अहंकारका जो भेद है, यदि वह ज्ञात नहीं होता तो चैतन्यमें अहंकारका अध्यास अवश्य होता तथा अहंकार सिद्ध भी होता और वह चैतन्यका अभिव्यञ्जक भी होता परन्तु चैतन्यमें जो अहंकारका भेद है, वह चैतन्यस्वरूप है क्योंकि निर्विशेषाद्वैतमतमें चैतन्य निर्धर्मक है। वह स्वरूपभेद जब स्वयंप्रकाश चैतन्यसे प्रकाशित होता रहता है, तब उस भेदका अज्ञान कैसे होगा? भेदका अज्ञान न होनेसे अहंकारका अध्यास भी न हो सकेगा एवं अहंकारकी सिद्धि ही नहीं होगी, अतः अहंकारसे चैतन्यकी अभिव्यक्ति सर्वथा असम्भावित है। जिस प्रकार शान्त अङ्गार(कोयला) स्वयंप्रकाश सूर्यको प्रकाशित करे यह अर्थ युक्तियुक्त नहीं होता है, उसी प्रकार यह जड़ अहंकार स्वयंप्रकाश आत्माको अभिव्यक्त करे, यह अर्थ भी युक्तियुक्त नहीं है- **शान्ताङ्गार इवादित्यमहंकारो जडात्मकः। स्वयंज्योतिषमात्मानं व्यनक्तीति न युक्तिमत्**(सि.त्र.१.११)। निर्विशेषाद्वैतियोंको यह मान्य है कि अनुभूति अर्थात् चैतन्य अनुभाव्य नहीं है। यदि चैतन्य अहंकारसे अनुभाव्य(अभिव्यक्त) होगा तो वह अननुभूति(जड़) हो जायेगा क्योंकि जगत्में जितनें घटादि अनुभाव्य पदार्थ हैं, वे सब अनुभूतिसे भिन्न हैं। अनुभूति भी यदि अनुभाव्य हो तो वह भी घटादिके समान अननुभूति होगी। उपर्युक्त विवेचनसे यह सिद्ध होता है कि अहंकार ज्ञाता नहीं हो सकता, आत्मा ही ज्ञाता है। इस ज्ञाताका धर्म बननेवाले ज्ञानको आत्मा मानना उचित नहीं किन्तु उस ज्ञानका आश्रय बनने वाला ज्ञाता ही आत्मा है। वह 'अहम्'

ऐसे प्रतीत होता है। इससे फलित होता है कि ज्ञाता आत्मा ही अहं प्रतीतिका विषय है, अहंकार अहं प्रतीतिका विषय नहीं है। अहं प्रतीतिका विषय बननेवाला अहमर्थ ही ज्ञाता आत्मा है। इस प्रकार आत्मा देह, इन्द्रिय, मन, प्राण और बुद्धि(धर्मभूत ज्ञान)से भिन्न सिद्ध होती है।

सिद्धान्तमत

ज्ञाता तथा ज्ञानरूप आत्मा- नैयायिक आत्माको ज्ञानका अधिकरण मानते हैं, ज्ञानस्वरूप नहीं मानते हैं। वे ज्ञानको आगन्तुक धर्म तथा ज्ञातृत्व(ज्ञानाधिकरणत्व)को स्वाभाविक मानते हैं। शांकरवेदान्ती आत्माको ज्ञानस्वरूप मानते हैं, ज्ञानका अधिकरण नहीं मानते हैं। वे ज्ञानस्वरूपताको स्वाभाविक एवं ज्ञातृत्वको कल्पित मानते हैं किन्तु विशिष्टाद्वैत-वेदान्ती आत्माको ज्ञानस्वरूप एवं ज्ञानका अधिकरण दोनों ही मानते हैं क्योंकि श्रुतियाँ आत्माका वैसा ही प्रतिपादन करती हैं- **यो विज्ञाने तिष्ठन्**(बृ.उ.३.७.२६) इत्यादि श्रुतियाँ आत्माकी ज्ञानरूपताका प्रतिपादन करती हैं तथा- **विज्ञातारम् अरे केन विजानीयात्**।(बृ.उ.४.५.१५) इत्यादि श्रुतियाँ आत्माके ज्ञातृत्वका प्रतिपादन करती हैं। **एष हि द्रष्टा स्प्रष्टा श्रोता घ्राता रसयिता मन्ता बोद्धा कर्ता विज्ञानात्मा पुरुषः**[1](प्र.उ.४.९) यह श्रुति आत्माको ज्ञानस्वरूप तथा ज्ञाता दोनों ही कहती है। इस श्रुतिमें बोद्धा पदसे आत्माको सामान्य रूपसे ज्ञाता कहा जाता है और द्रष्टा आदि पदोंसे विशेषरूपसे ज्ञाता कहा जाता है। विज्ञानात्मा पदसे आत्माको

टिप्पणी१ (द्रष्टा= रूप और रूपवान् पदार्थके ज्ञानका आश्रय, स्प्रष्टा= स्पर्श और स्पर्शवान् पदार्थके ज्ञानका आश्रय, श्रोता= शब्द ज्ञानका आश्रय, घ्राता= गन्ध ज्ञानका आश्रय, रसयिता= रस ज्ञानका आश्रय, मन्ता= मननका आश्रय, बोद्धा= ज्ञानका आश्रय, कर्ता= प्रयत्नका आश्रय, विज्ञानात्मा= विज्ञानस्वरूप, पुरुषः= आत्मा)

ज्ञानस्वरूप कहा जाता है। 'मैं इसे सूघूँ' ऐसा जो जानता है, वह आत्मा है- **अथ यो वेदेदं जिघ्राणीति स आत्मा**।(छां.उ.८.१२.४) इस श्रुतिसे भी अहमर्थ आत्मा ज्ञाता कही जाती है। **जानात्येव** यह श्रुति मुक्तके ज्ञातृत्वका निरूपण करती है। ब्रह्मदर्शी सबका अनुभव करता है- **सर्वं ह पश्यः पश्यति**।(छां.उ.७.२६.२), जिस परमात्मासे अनुग्रहीत हुआ जीवात्मा सभीको जानता है- **येनेद सर्वं विजानाति**।(बृ.उ.२.४.१४) इस प्रकार मुक्तके सर्वविषयकज्ञातृत्वका प्रतिपादन किया जाता है। ब्रह्मदर्शी मृत्युका अनुभव नहीं करता है, रोगका अनुभव नहीं करता है, प्रतिकूलताका अनुभव नहीं करता है- **न पश्यो मृत्युं पश्यति, न रोगं नोत दुःखताम्**(छां.उ.७.२६.२) इस प्रकार स्वकर्म जन्य जो मृत्यु आदि पदार्थ होते हैं, मुक्तावस्था में उन पदार्थोंके प्रति आत्माके ज्ञातृत्वका निषेध किया जाता है। सर्वथा आत्माके ज्ञातृत्वका निषेध नहीं किया जाता है, अतः आत्मा सर्वदा ज्ञाता और ज्ञानस्वरूप है। आत्मामें विद्यमान ज्ञातृत्वकी सुषुप्ति आदिमें अनुभूति न होना **पुंस्त्वादिवत्त्वस्य सतोऽभिव्यक्ति-योगात्**(ब्र.सू.२.३.३१) इस सूत्रसे सिद्ध है। स्वयंप्रकाश होनेके कारण आत्मा ज्ञानस्वरूप कही जाती है तथा विषयप्रकाशक धर्मभूतज्ञानका आश्रय होनेसे ज्ञाता कही जाती है। प्रकाशित होनेवाली वस्तु जिस के लिए प्रकाशित होती है, वह ज्ञाता होता है। ज्ञानसे प्रकाशित होनेवाले घट आदि पदार्थ आत्माके लिए प्रकाशित होते हैं और अपनेसे प्रकाशित होनेवाला ज्ञान आत्माके लिये प्रकाशित होता है, इसलिए आत्मा ज्ञाता कही जाती है। आत्माकी ज्ञानरूपता स्वाभाविक है। ज्ञातृत्व विकार(आगन्तुक धर्म) नहीं है क्योंकि ज्ञानगुणाश्रयत्व ही ज्ञातृत्व है। ज्ञान नित्य आत्माका स्वाभाविक धर्म है, इसलिए आत्माका ज्ञानाश्रयत्वरूप ज्ञातृत्व भी स्वाभाविक है।

शंका– सभी ज्ञान सविषयक होते हैं, विषयरहित कोई ज्ञान नहीं होता है। ऐसा होनेपर निर्विषयक आत्मस्वरूपको ज्ञान कैसे कह सकते हैं?

समाधान– आत्माके स्वरूपभूतज्ञानका आत्मा विषय है। इस प्रकार आत्मस्वरूपको सविषयक होनेसे ज्ञान कह सकते हैं।

शंका– ज्ञानका स्वभिन्न विषय भी देखा जाता है। स्वरूपभूतज्ञानका स्वभिन्न विषय नहीं होता है। ऐसी स्थितिमें उसे ज्ञान कैसे कह सकते हैं?

समाधान– ज्ञान दो प्रकारका होता है- एक स्वभिन्न वस्तुको भी विषय करनेवाला, दूसरा स्वको ही विषय करनेवाला। इनमेंसे प्रथम धर्मभूतज्ञान है, दूसरा आत्माका स्वरूपभूतज्ञान है। ज्ञान पदका प्रवृत्तिनिमित्त भासमानत्व है। उसे धर्म और धर्मी आत्मा दोनोंमें विद्यमान होनेसे दोनों ही मुख्यवृत्तिसे ज्ञान कहे जाते हैं।

ज्ञा धातुका अर्थ आत्मरूप ज्ञान नहीं है क्योंकि धातुका अर्थ होता है- क्रिया। सभीके मतमें क्रिया साध्य ही होती है, सिद्ध नहीं होती, आत्मरूप ज्ञान तो सिद्ध अर्थ है। भावप्रत्ययान्त ज्ञान शब्द आत्माका बोधक नहीं है क्योंकि कृत् प्रत्ययके द्वारा कहा गया भाव द्रव्यवत् अर्थात् सिद्धावस्थापन्न क्रियाका बोधक होता है- **कृदभिहितो भावो द्रव्यवत् भवति**।(महा.३.१.६७)। वह द्रव्यका बोधक नहीं होता है। करणप्रत्ययान्त ज्ञान शब्द भी विषयको प्रकाशित करनेवाले ज्ञानका बोधक है, आत्माका बोधक नहीं है। जन्य वृत्तिरूप प्रकाशका साधन धर्मभूतज्ञान है। आत्माको प्रकाशित करनेवाला जो स्वरूपभूतज्ञान है, वह जन्य नहीं है, नित्य है। व्युत्पन्न ज्ञान शब्द तथा संविद् आदि शब्द शक्तिवृत्तिसे विषय(कर्म) और आश्रय(कर्ता) से सम्बद्ध धर्मभूतज्ञानके बोधक हैं तथा स्वयंप्रकाशत्व धर्मका योग

होनेके कारण लक्षणा(निरूढ लक्षणा)से धर्मी आत्मस्वरूपके बोधक हैं। लक्षणासे निर्वाह संभव होनेपर अव्युत्पन्न ज्ञान शब्दकी कल्पना नहीं करनी चाहिए, यह एक मत है। ज्ञा आदि धातुओंको सविषयक अर्थका बोधक होनेके कारण उससे निष्पन्न ज्ञान आदि शब्द धर्मी आत्माके बोधक नहीं हैं किन्तु अव्युत्पन्न ज्ञान शब्द स्वप्रकाश धर्म और धर्मी दोनोंका रूढिशक्तिसे बोधक है, यह द्वितीय पक्ष है। कर्मकर्तृसम्बन्ध ज्ञान शब्दका व्युत्पत्तिनिमित्त तथा भासमानत्व प्रवृत्तिनिमित्त है। इस प्रवृत्तिनिमित्तसे विशिष्ट ज्ञान शब्द दोनोंका शक्तिसे बोधक है, यह तृतीय पक्ष है। इन तीनोंमें द्वितीय और तृतीय पक्ष सूत्रकार और भाष्यकार सम्मत हैं।

शंका- आत्मा तथा उसके धर्मकी ज्ञानरूपता समान होनेपर उन दोनोंमें आश्रय-आश्रयीभाव कैसे संभव है?

समाधान- दोनोंकी ज्ञानरूपता समान होनेपर भी आत्मा प्रत्यक्(स्वस्मै स्वयं भासमान) तथा धर्म पराक्(परस्मै स्वयं भासमान) है। किसी रूपसे समानता होनेपर भी उनमें आश्रय-आश्रयी भाव सम्भव होता है। किञ्चिद् समानताको भी आश्रय-आश्रयीभावका विरोधी मानने पर प्रमेयत्वेन सबकी समानता होनेसे द्रव्य और गुणमें भी आश्रय-आश्रयीभाव सिद्ध नहीं होगा। नैयायिक अवयव और अवयवी दोनोंके द्रव्य होनेपर भी इनमें आश्रय-आश्रयी भाव मानते हैं। वैसे ही स्वरूप और धर्म दोनोंके द्रव्य होनेपर आश्रय-आश्रयी भाव संभव होता है।

शंका- जिस विशिष्टाद्वैतीके मतमें आत्माकी तरह उसका धर्मभूतज्ञान भी नित्य है, उसके मतमें विषयप्रकाशक, नित्य धर्मभूतज्ञानसे ही सभी व्यवहारोंका निर्वाह हो जाता है। इसलिए उस ज्ञानके आश्रय ज्ञाता आत्मा की कल्पना नहीं करनी चाहिये।

समाधान- यदि हमारे मतमें प्रत्यभिज्ञाकी असिद्धि आदि दोषोंके कारण धर्मभूतज्ञान एवं उसके आश्रय आत्माकी कल्पना की जाती तो आपकी शंकाका औचित्य होता। हम तो श्रुतिके अनुसार पदार्थोंको स्वीकार करनेवाले हैं। **नहि विज्ञातुर्विज्ञातेर्विपरिलोपो विद्यते।**(बृ.उ.४.३.३०) इस श्रुतिमें **विज्ञातुर्विज्ञातेः** इस अंशके द्वारा आत्माका ज्ञानाश्रयत्वरूप ज्ञातृत्व कहा जाता है। **विज्ञातुः** यहाँ आयी हुई षष्ठी विभक्तिके द्वारा ज्ञान और ज्ञाताका भेद कहा जाता है और **विपरिलोपो न विद्यते** इस अंशके द्वारा धर्मभूतज्ञानकी नित्यताका प्रतिपादन किया जाता है- **अविनाशी वाऽरे अयमात्मा अनुच्छित्तिधर्मा।**(बृ.उ.४.५.१४) इस श्रुति के द्वारा आत्माकी नित्यताका प्रतिपादन किया जाता है। इस प्रकार हम ज्ञान तथा उसके आश्रय आत्माका नित्यत्व स्वीकार करते हैं। इसका विस्तार धर्मभतूज्ञानविवेचनके नित्यत्व प्रसङ्गमें देखना चाहिए। श्रुतिप्रमाणके अनुसार पदार्थोंको स्वीकार करनेवाले हमारे मतमें लाघव-गौरवको लेकर कोई भी शंका नहीं की जा सकती है।

शंका- **विज्ञानात्मा पुरुषः**(प्र.उ.४.६) (विज्ञानात्मा=विज्ञानस्वरूपः, पुरुषः=आत्मा) इस श्रुतिमें आत्माको ज्ञानरूप कहे जानेके कारण ज्ञानसे अतिरिक्त उसका आश्रय आत्मा सिद्ध नहीं होती है।

समाधान- उक्त श्रुतिमें अन्य श्रुतिसे सिद्ध आत्माके ज्ञातृत्वका निषेध नहीं किया जाता है अपितु आत्माको उद्देश करके श्रुत्यन्तरसे सिद्ध ज्ञान गुणके समान आत्माके ज्ञानत्वका विधान किया जाता है अर्थात् ज्ञाता आत्माको ही इस श्रुतिके द्वारा ज्ञानरूप कहा जाता है। विधान किया जानेवाला ज्ञानत्व धर्मभूतज्ञानके समान आत्माका धर्म है, ज्ञानका आश्रय होनेसे आत्माको ज्ञाता कहा जाता है और ज्ञानत्व गुणका आश्रय होनेसे आत्माको ज्ञानरूप कहा जाता है। ज्ञानरूप आत्माका प्रतिपादन करनेवाली **एष हि द्रष्टा स्प्रष्टा श्रोता घ्राता**

रसयिता मन्ता बोद्धा कर्ता विज्ञानात्मा पुरुषः।(प्र.उ.४.९) यह श्रुति स्पष्ट रूपसे आत्मा को बोद्धा अर्थात् ज्ञाता कहती है। बोद्धाका अर्थ ज्ञानरूप करने पर पुनरुक्ति दोष होगा और 'अहं जानामि' इस अनुभवसे भी विरोध होगा क्योंकि 'अहं जानामि' इस प्रकार होनेवाले प्रत्यक्ष ज्ञानमें अहमर्थ आत्माकी ज्ञानाश्रयत्वेन(ज्ञातृत्वेन) तथा धर्मभूतज्ञानभिन्नत्वेन प्रतीति होती है। यह विषय **व्यतिरेको गन्धवत्तथा च दर्शयति।**(ब्र.सू.२.३.२७) इसमें प्रतिपादित है। धर्मभूतज्ञान आत्मा नहीं है, आत्माके धर्मरूपसे प्रतीयमान होनेके कारण- **धीः न आत्मा तद्धर्मतया प्रतीयमानत्वात्** इस अनुमानके द्वारा भी धर्मभूतज्ञानसे भिन्न आत्मा सिद्ध होती है। जिस प्रकार 'सूर्य तेज है' इस कथनसे सूर्यके आश्रित प्रभा सूर्य सिद्ध नहीं होती है, उसी प्रकार ज्ञानस्वरूप आत्मा है- **विज्ञानात्मा पुरुषः** इस कथनसे ज्ञानस्वरूप आत्माके आश्रित विषयप्रकाशक धर्मभूतज्ञान आत्मा सिद्ध नहीं हो सकता है। निवृत्त उपाधिवाले मुक्तात्माका अपरिच्छिन्न ज्ञान आदित्यकी प्रभाके समान सबको प्रकाशित करता है- **तेषामादित्यवज्ज्ञानं प्रकाशयति तत्परम्**(गी.५.१६) यहाँ तेषाम्(आत्मनाम्) ज्ञानम् इस प्रकार भेद निर्देश होनेसे ज्ञान आत्माका स्वाभाविक धर्म सिद्ध होता है और धर्मी आत्मा ज्ञाता सिद्ध होती है। अर्थप्रकाशकत्वको ज्ञानत्व कहा जाता है। वह धर्मभूतज्ञान और धर्मी आत्मा दोनोंमें विद्यमान रहता है। धर्मी आत्माका स्वरूपभूतज्ञान उसका(धर्मी आत्मस्वरूपका) ही प्रकाशक है किन्तु धर्मभूतज्ञान घटादि विषयोंका प्रकाशक होते हुए अपना भी प्रकाशक होता है। इस प्रकार दोनों ज्ञानोंमें भेद और धर्मभूतज्ञानका आश्रय आत्मा सिद्ध होती है।

शंका- विज्ञानघन एव(बृ.उ.२.४.१२) और **प्रज्ञानघन एव**(बृ.उ.४.५.१३) इन श्रुतियोंमें प्रयुक्त एव पदके द्वारा ज्ञानस्वरूपसे अतिरिक्त

सभी धर्मोंका निषेध होनेके कारण आत्माके ज्ञातृत्वका भी निषेध हो जाता है।

समाधान- उक्त श्रुतियोंमें पठित एव पदके द्वारा ज्ञाता आत्मामें ज्ञानभिन्नत्वरूप जड़त्वका सर्वथा निषेध किया जाता है, ज्ञातृत्वका निषेध नहीं किया जाता है। यहाँ एवकार अयोग(ज्ञानत्वके अयोगरूप जड़त्वका) व्यवच्छेदक है, ज्ञातृत्वका निषेधरूप अन्ययोगव्यवच्छेदक नहीं है। इस प्रकार एवकारके द्वारा आत्माका ज्ञातृत्व स्वीकार करके उसका ज्ञानभिन्नत्वरूप जड़त्व स्वीकार करनेवाले नैयायिक आदिके मतकी व्यावृत्ति की जाती है। एवकारको जड़त्वका निषेधक होनेसे आत्माकी सर्वदा और सर्वथा प्रकाशरूपता ज्ञात होती है, इसलिए आत्मा सुषुप्तिमें भी प्रकाशमान सिद्ध होती है। सुषुप्ति आदिमें आत्माका अनभिव्यक्त ज्ञातृत्व **पुंस्त्वादिवत्त्वस्य सतोऽभिव्यक्तियोगात्** इस(ब्र.सू.२.३.३१) से सिद्ध है। पूर्वोक्त श्रुति **अयमात्मानन्तरोऽबाह्यः कृत्स्नः प्रज्ञानघन एव** (बृ.उ.४.५.१३) में आये अनन्तरः और अबाह्यः पद क्रमशः आत्माके धर्म(प्रत्यक्त्व आदि) और स्वरूप के बोधक हैं। इस प्रकार आत्मा स्वरूपतः तथा धर्मतः ज्ञानस्वरूप सिद्ध होती है। **अत्रायं पुरुषः स्वयं ज्योतिर्भवति**।(बृ.उ.४.३.६) आत्माके स्वयंप्रकाशत्वकी बोधक यह श्रुति पुरुष अर्थात् ज्ञाता आत्माकी स्वयंप्रकाशताका बोध कराती है, ज्ञानमात्रकी स्वयंप्रकाशताका बोध नहीं कराती है। पुरुष शब्द ज्ञानमात्रका बोधक नहीं है क्योंकि **एष हि द्रष्टा स्प्रष्टा श्रोता घ्राता रसयिता मन्ता बोद्धा कर्ता विज्ञानात्मा पुरुषः**।(प्र.उ.४.९), इस श्रुतिमें ज्ञाताके लिए ही पुरुष शब्दका प्रयोग हुआ है तथा लोकमें भी ज्ञाताके लिए पुरुष शब्दका प्रयोग होता है।

आत्मा विज्ञानघन होनेपर भी उसमें श्रुत्यन्तरसे सिद्ध ज्ञातृत्व आदि धर्मोंके होनेमें कोई विरोध नहीं है। जैसे सैन्धवघन(नमकका

टुकड़ा) रसना इन्द्रियसे ज्ञात रसघन होनेपर भी उसमें चक्षु आदि इन्द्रियोंसे ज्ञात रूप तथा कठोरताके होनेमें कोई विरोध नहीं है। रसवाले आम्र आदि फलोंमें त्वक्(छिलका) आदि स्थानभेदसे रसभेद होता है किन्तु जैसे सैन्धवघन सर्वत्र एकरस ही है, वैसे आत्मा सर्वत्र विज्ञानस्वरूप ही है। ज्ञानमात्रको आत्मा स्वीकार करने पर उसका श्रोता भी दुर्लभ होगा क्योंकि ज्ञानमात्रको श्रोता कोई भी नहीं मानता है। अहंकारको श्रोता मानने पर मोक्षमें उसका नाश होनेके कारण स्वनाशक श्रवण आदिमें किसी की भी प्रवृत्ति नहीं होगी। स्वयंप्रकाश आत्मा ज्ञेय भी है। स्वयंप्रकाशत्व और ज्ञेयत्वका अविरोध ब्रह्मविवेचनके अन्तर्गत वेद्यत्वके निरूपणमें कहा जायेगा।

स्वयंप्रकाशत्व– घट आदि पदार्थ कभी भी अपनेसे प्रकाशित नहीं होते हैं क्योंकि जड़(ज्ञानभिन्न) हैं। जड़ पदार्थ ज्ञानसे प्रकाशित होते हैं। ज्ञान स्वयंप्रकाशित होता है। जिस प्रकार दीपक की प्रभा घटादिको प्रकाशित करती हुई स्वयंप्रकाशित होती है, उसी प्रकार ज्ञान भी घट आदिको प्रकाशित करता हुआ स्वयंप्रकाशित होता है। ज्ञानकी अधिकरण आत्मा भी स्वयंप्रकाशित होती है किन्तु यह अपनेसे भिन्न घट आदि विषयोंको प्रकाशित नहीं करती है। धर्मभूतज्ञान अपने लिए प्रकाशित नहीं होता है। यह अपने आश्रय आत्माके लिए प्रकाशित होता है। आत्मा स्वयंके लिए प्रकाशित होती है, अन्य किसीके लिए प्रकाशित नहीं होती है। घटादि ज्ञानके द्वारा आत्माके लिए प्रकाशित होते हैं, ज्ञान आत्माके लिए स्वयं प्रकाशित होता है किन्तु धर्मी ज्ञानरूप आत्मा अपने लिए अपनेको स्वयंप्रकाशित करती है।

प्रमाण– 'मैं हूँ या नहीं' इस प्रकार अपने विषयमें कभी भी किसीको कोई संशय नहीं होता है। इस प्रकार आत्माके विषयमें संशय न होनेका कारण उसकी स्वयंप्रकाशता है। परप्रकाश(परसे

ज्ञात) वस्तुके विषयमें कभी संदेह होता है किन्तु सर्वदा स्वयंप्रकाश(स्वयं ज्ञात) वस्तुके विषयमें कभी भी कोई सन्देह नहीं हो सकता है। सभीका अपना स्वरूप सदा प्रकाशित(ज्ञात) ही रहता है, अप्रकाशित(अज्ञात) कभी भी नहीं रहता। 'अहम्' इस प्रकार अपने स्वरूपका प्रकाश सदा होता रहता है। इस प्रकार आत्माका स्वयंप्रकाश होना प्रत्यक्षसिद्ध है। आत्मा स्वयंप्रकाश है, ज्ञानत्व होनेके कारण धर्मभूतज्ञानके समान- **आत्मा स्वयंप्रकाशो ज्ञानत्वात् धर्मभूतज्ञानवत्** इस अनुमानसे आत्माका स्वयंप्रकाशत्व सिद्ध होता है।

नैयायिक आदि दार्शनिक आत्माको परप्रकाश मानते हैं, स्वयंप्रकाश नहीं मानते। इनके अनुसार आत्मा अपनेसे प्रकाशित नहीं होती है। यह मानस(मनसे होनेवाले) प्रत्यक्ष ज्ञानसे प्रकाशित होती है। 'अहम्' इस प्रकार जो ज्ञान होता है, वह मानस प्रत्यक्ष ज्ञान है। सुषुप्ति आदिमें यह ज्ञान नहीं रहता है, इसलिए उस समय आत्माका प्रकाश नहीं होता है। आत्मा ज्ञानस्वरूप है- **विज्ञानात्मा पुरुषः**(प्र.उ.४.९) इत्यादि श्रुतियाँ आत्माको ज्ञानरूप कहती हैं तथा इस समय यह आत्मा स्वयंप्रकाश है- **अत्रायं पुरुषः स्वयंज्योतिर्भवति।**(बृ.उ.४.३.९) विज्ञान धर्मवाला, हृदयकमलके अन्दर इन्द्रिय और मुख्य प्राणके मध्यमें स्थित प्रकाशरूप जो पुरुष है, वह आत्मा है- **योऽयं विज्ञानमयः प्राणेषु हृद्यन्तर्ज्योतिः पुरुषः।**(बृ.उ.४.३.७) इत्यादि श्रुतियाँ आत्माको स्वयंप्रकाश कहती हैं। ज्ञानरूपता ही स्वयंप्रकाशता है। आत्माको स्वयंप्रकाश न माननेवाले नैयायिक आदिका मत वेदविरुद्ध होनेसे त्याज्य है। स्वयंप्रकाश होनेसे इसका प्रकाश सुषुप्तिमें भी होता रहता है। आत्माकी विज्ञानरूपता **एवमप्युपन्यासात् पूर्वभावाद् अविरोधं बादरायणः**(ब्र.सू.४.४.७) इस सूत्रसे भी सिद्ध है।

आत्मा स्वयंप्रकाश होनेसे ज्ञानरूप कही जाती है। ज्ञान आत्माके स्वरूपका निरूपण करनेवाला धर्म है। किसी वस्तुका निरूपण उसमें विद्यमान प्रधान स्थिर धर्मके द्वारा होता है। प्रधान, स्थिर धर्मको स्वरूपनिरूपक धर्म कहते हैं क्योंकि उस धर्मसे वस्तु के स्वरूपका निरूपण होता है। जैसे गोका स्वरूपनिरूपक धर्म गोत्व है, इसी धर्मसे गोस्वरूपका निरूपण किया जाता है। वैसे आत्माका स्वरूपनिरूपक धर्म ज्ञान है क्योंकि इसीसे आत्मस्वरूपका निरूपण किया जाता है। पूर्वमीमांसाके **आकृत्यधिकरणन्याय**(पू.मी.१.३.११)के अनुसार स्वरूपका निरूपण करनेवाले धर्मबोधक शब्द धर्मी पर्यन्त अर्थके बोधक होते हैं अर्थात् ये शब्द केवल धर्मका बोध नहीं कराते हैं अपितु धर्मका बोध कराते हुए धर्मीका भी बोध कराते हैं। गोस्वरूपका निरूपक गोत्व धर्म है। इस धर्मका बोधक गोशब्द है। जैसे गो शब्द गोत्वधर्मका बोध कराते हुए उसके आश्रय धर्मी गोका बोध कराता है, वैसे ज्ञान शब्द ज्ञानधर्मका बोध कराते हुए उसके आश्रय ज्ञाता आत्माका बोध कराता है। आत्मस्वरूपका निरूपक, धर्मबोधक ज्ञानशब्द ज्ञाता आत्माका बोधक है। इस कारण **यो विज्ञाने तिष्ठन्**(बृ.उ.३.७.२६) इत्यादि श्रुतियोंमें आत्माको ज्ञान कहा गया है। इस अर्थका सूत्रकारने **तद्गुणसारत्वात् तु तद्व्यपदेशः प्राज्ञवत्**(ब्र.सू.२.३.२७) इस सूत्रसे प्रतिपादन किया है। यहाँ पर धर्मवाचक शब्दसे धर्मीका कथन लाक्षणिक है- **गुणवाचिशब्देन गुण्यभिधानं लाक्षणिकम् इत्यत्राह**।(श्रु.प्र.२.३.३०) ऐसी शंका होनेपर **यावदात्मभावित्वाच्च न दोषस्तद्दर्शनात्**(ब्र.सू.२.३.३०) सूत्र बनाया है। इस सूत्रका यह अर्थ है कि आत्माका स्थायी धर्म ज्ञान होनेके कारण ज्ञान शब्दसे आत्माको कहनेमें कोई दोष नहीं है। अतः यहाँ मुख्यवृत्तिके द्वारा ही ज्ञान शब्दसे आत्माका बोध होता है। सूत्रमें पठित चकारका यह अर्थ है कि आत्मा स्वयंप्रकाश है। इस कारण

उसे ज्ञान कहनेमें कोई दोष नहीं है, अतः ज्ञानकी आश्रय आत्मा ज्ञानस्वरूप होनेके कारण भी श्रुतियोंमें ज्ञान शब्दसे कही गयी है।

सिद्धान्तमें धर्मभूत ज्ञानका असाधारण धर्म विषयित्व (सविषयकत्व) माना जाता है। विषयत्व ज्ञानसंयुक्तत्वादिरूप होता है। विषयत्व के घट आदिमें होनेसे उसे प्रकाशित करनेवाले धर्मभूतज्ञानको सविषयक(विषयी) कहा जाता है और इस विषयत्वको ज्ञानरूप आत्मामें न होनेके कारण उसे प्रकाशित करनेवाले स्वरूपभूतज्ञानको सविषयक नहीं कहा जाता है। आत्माका असाधारण धर्म प्रत्यक्त्व है। प्रकाश दोनोंका साधारण धर्म है।

आत्मा स्वयं स्वस्वरूपको स्वयंके लिए ही प्रकाशित करती है। इस प्रकार जो स्वयंके लिए प्रकाशित होना- **स्वस्मै स्वयं भासमानत्व** है, वही **प्रत्यक्त्व** है। आत्मा 'अहम्' 'अहम्' इस प्रकार सदा प्रकाशित होती रहती है। यहाँ पर 'अहम्' यह शब्द का अनुकरण नहीं है, यह तो वाच्यार्थका अनुकरण[१] है। 'अहम्' इस प्रकार आत्मस्वरूपके प्रकाशित होते समय उसका अनुकूलत्व (सुखरूपता) भी सर्वदा प्रकाशित होता है। आत्माका एकत्व भी सदा प्रकाशित होता है। 'अहम्' 'अहम्' इस प्रकार आत्मा प्रत्यक्त्व, एकत्व और अनुकूलत्व इन धर्मोंके सहित प्रकाशित होती है। प्रत्यक्त्व(अहन्त्व)का सदा प्रकाश होनेके कारण 'मैं हूँ या मेरेसे भिन्न कोई है', ऐसा सन्देह कभी नहीं होता है। एकत्वका सदा प्रकाश होनेके कारण 'मैं एक हूँ या अनेक' ऐसा संशय कभी नहीं होता है। अनुकूलत्वका सदा प्रकाश होनेके कारण 'मैं अनुकूल हूँ या प्रतिकूल' ऐसा संशय कभी नहीं होता है।

टिप्पणी१.- कहने का तात्पर्य यह है कि 'अहम्' इस प्रकार होने वाला प्रकाश अहम् शब्द को लेकर नहीं होता है, वह तो वाच्यार्थ अहम् को लेकर होता है।

शंका- सुषुप्त पुरुष अब यह नहीं जानता है कि यह मैं हूँ- **नाह खल्वयमेवं सम्प्रत्यात्मानं जानात्यमहमस्मीति**।(छां.उ.८.११.१) इस श्रुतिसे और सोते समय मैंने अपनेको भी नहीं जाना- **मामप्यहं न ज्ञातवान्** इस परामर्शसे सुषुप्तिमें अहमर्थ आत्माके प्रकाशका अभाव सिद्ध होता है।

समाधान- स्वरूपभूतज्ञानके द्वारा आत्माका प्रत्यक्त्व आदि रूपसे सर्वदा प्रकाश होता रहता है। अणुत्वेन, शेषत्वेन और नित्यत्वेन आत्माका प्रकाश धर्मभूतज्ञानके द्वारा होता है। इसी प्रकार मनुष्यत्व, ब्राह्मणत्व आदि बाह्य धर्मसे विशिष्ट तथा सुख, दुःखादि आन्तरिक धर्मसे विशिष्ट आत्माका धर्मभूतज्ञानके द्वारा प्रकाश होता है। सुषुप्तिमें धर्मभूतज्ञान तमोगुणसे अभिभूत होनेके कारण किसीका भी प्रकाश नहीं करता है। अतः सुषुप्तिमें अणुत्व आदि धर्मसे विशिष्ट तथा सुखादि धर्मसे विशिष्ट आत्माका प्रकाश नहीं होता है। मनुष्य जाग्रत अवस्थामें जिस प्रकार मनुष्यत्व आदिसे विशिष्ट तथा सुखादिसे विशिष्ट अपनेको जानता है, वैसा सुषुप्तिमें नहीं जानता है। यह अर्थ श्रुतिगत 'अयम्' पदसे स्पष्ट होता है। श्रुति "मैं हूँ" इस प्रतीति का निषेध नहीं करती है अपितु "मैं यह हूँ" इस प्रतीतिका निषेध करती है। इसी अर्थ का प्रतिपादक परामर्श भी है। उक्त श्रुति और परामर्श सुषुप्तिमें आत्माकी स्वप्रकाशताका निषेध नहीं करते हैं। जाग्रतकालीन 'मैं सुखसे सोया' इस परामर्शसे ही सुषुप्तिके अनुभवका निर्णय सभी करते हैं। यदि आत्माका 'अहम्' इस प्रकार अनुभव नहीं होता तो जागनेपर उसका अनुसन्धान भी नहीं होता किन्तु जागने पर अनुसन्धान होता है, इससे सिद्ध होता है कि सुषुप्तिमें भी आत्माका प्रकाश अवरुद्ध नहीं होता है, उस समय 'अहम्' इस एक रूपसे आत्माका प्रकाश होता रहता है।

प्रत्यक्त्व आदि सभी आत्माओंके एकरूप धर्म(साधारण आकार) हैं। वैषयिक सुख तथा दुःखादि सभी आत्माओंके एकरूप धर्म नहीं हैं। प्रत्यक्त्वेन, एकत्वेन और अनुकूलत्वेन स्वयं प्रकाशित होनेवाली जो आत्मा है। शेषत्व, नित्यत्व, अणुत्व और नियाम्यत्व धर्मसे विशिष्ट उसी आत्माका शास्त्रजन्य ज्ञान और अनुमानजन्य ज्ञानसे परोक्ष प्रकाश होता है तथा योगाभ्यासजन्य ज्ञानसे प्रत्यक्ष प्रकाश होता है।

सुषुप्ति अवस्थामें भी प्रत्यक्त्वेन, एकत्वेन और अनुकूलत्वेन अपने आत्मस्वरूपका अनुभव(प्रकाश) होता है, वह अनुभव ही जाग्रत कालमें 'मैं सुखसे सोया' इस ज्ञानका हेतु होता है। इस ज्ञानमें प्रत्यक्त्व(अहंत्व), अनुकूलत्व(सुखत्व) और एकत्व प्रकशित होते हैं। अणुत्व, शेषत्व, नित्यत्व, नियाम्यत्व आदि धर्म स्वरूपभूतज्ञानसे प्रकाशित नहीं होते हैं। इन धर्मोंसे विशिष्ट आत्माका सुषुप्तिसे भिन्न कालमें धर्मभूतज्ञानके द्वारा प्रकाश होता है। प्रत्यक्त्व, एकत्व और अनुकूलत्व स्वरूपभूतज्ञानसे प्रकाशित होते हैं- **प्रमाणान्तरावसेयाणुत्वशेषत्वनियाम्यत्वनित्यत्वादिविशिष्टरूपेण ज्ञान (धर्मभूतज्ञान) विषयत्वम् अस्त्येव। अहमिति प्रत्यक्त्वैकत्वविशिष्टतया तु स्वप्रकाशता सर्वदा।**(न्या.सि.जी.प) यह पूर्वमें कहा जा चुका है कि स्वरूपभूत ज्ञानसे प्रकाशित होनेके कारण प्रत्यक्त्व, एकत्व और अनुकूलत्वके विषयमें कभी सन्देह नहीं होता है किन्तु 'मैं अणु हूँ या विभु', 'ईश्वरका शेष हूँ या नहीं', 'नित्य हूँ या नहीं', 'नियाम्य हूँ या नहीं' इस प्रकार अणुत्व, शेषत्व, नित्यत्व तथा नियाम्यत्वके विषयमें संशय उत्पन्न होते हैं। यदि ये भी प्रत्यक्त्वादिके समान आत्मरूप ज्ञानसे सदा प्रकाशित होते तो इनके विषयमें भी कभी संशय नहीं होना चाहिये किन्तु संशय होता है। इससे सिद्ध होता है कि ये स्वयंप्रकाश नहीं हैं। इनका धर्मभूत ज्ञानसे प्रकाश होता है,

धर्मभूत ज्ञानसे अप्रकाशित होते समय इनके विषयमें संशय भी उत्पन्न होता है। यह मत न्यायसिद्धाञ्जन तथा तत्त्वमुक्ताकलाप ग्रन्थमें कहा गया है किन्तु श्रुतप्रकाशिका, शतदूषणी, उपनिषद्-भाष्य तथा तत्त्वमुक्ताकलापकी सर्वङ्कषा व्याख्यामें प्रोक्त मतके अनुसार प्रत्यक्त्व आदि के समान शेषत्वादि धर्म भी स्वयंप्रकाश हैं। जैसे 'अहं जानामि' इस प्रकार ज्ञायमान आत्माका विशेषण धर्मभूतज्ञान स्वयंप्रकाश है, वैसे ही आत्माके प्रत्यक्त्व आदि विशेषण भी स्वयंप्रकाश हैं। इस द्वितीय मतके अनुसार शेषत्वादि स्वयंप्रकाश होनेपर भी जीवके अविद्यात्मक कर्ममूलक(कर्म के कारण) ईश्वरके संकल्पसे तिरोहित रहते हैं, इसलिए इनके विषयमें संशयकी उत्पत्ति होती है। अविद्या ग्रन्थिके शिथिल होनेपर इनके स्वयंप्रकाश होनेका अनुभव होता है। जब तिरोहित होनेके कारण शेषत्वादिका सम्यक प्रकाश नहीं होता है, तब इनके विषयमें संशय उत्पन्न होता है। संशयके कारण इनको अस्वयंप्रकाश मानना उचित नहीं है क्योंकि संशयका कारण तिरोधान ही है।

शंका- यदि आत्माके प्रत्यक्त्व आदि धर्मोंको भी स्वयंप्रकाश मानेगें तो मुक्तावस्थाके समान बद्धावस्थामें भी प्रत्यक्त्व आदि सर्वधर्मविशिष्ट आत्माका अनुभव होना चाहिए और ऐसा होनेपर मुक्तावस्था और बद्धावस्थामें भेद सिद्ध नहीं होगा।

समाधान- जिस प्रकार पित्तरोगयुक्त मनुष्यको मधुर रसका अनुभव नहीं होता है, उसी प्रकार कर्मबन्धनसे युक्त मनुष्यको सभी धर्मोंसे विशिष्ट आत्माका पूर्णतः अनुभव नहीं होता है, लेशतः अनुभव होता है। यह सभीके अनुभवसे सिद्ध है। इस प्रकार बद्धावस्था और मुक्तावस्थामें भेद भी सिद्ध हो जाता है।

अयमात्मानन्तरोऽबाह्यः कृत्स्नः प्रज्ञानघन एव(बृ.उ.४.५.१३) वस्तुके स्वरूपको आन्तररूप कहा जाता है, धर्मको बाह्यरूप कहा जाता है। अनन्तरः का अर्थ है- धर्म और अबाह्यः का अर्थ है- स्वरूप, 'यह आत्मा स्वरूपतः और धर्मतः ज्ञानस्वरूप ही है' यह प्रस्तुत श्रुतिका अर्थ है। इस श्रुतिसे अजड़ आत्माके धर्म भी स्वयंप्रकाश सिद्ध होते हैं। अजड़(स्वयंप्रकाश) आत्मामें जड़(अस्वयंप्रकाश) धर्मके होनेपर अहमर्थ आत्माके जडाजडरूपत्वकी प्रसक्ति होती है- **वस्तुनः आन्तरं रूपम् स्वरूपम्, बाह्यं रूपम् धर्मः; स्वरूपतः धर्मतश्चेत्यर्थः। एतेन अजडस्यात्मनो धर्मा अपि अजडा एवेति प्रत्यक्त्वादिधर्माणाम् आत्मगतानां स्वयंप्रकाशत्वमपि सिद्धम्। अजडे आत्मनि जडधर्माणां सत्त्वे अहमर्थो जडाजडरूपः स्यात्**।(त.मु.क.सर्व.२.५), इसलिए आत्माके धर्मोंको भी स्वयंप्रकाश माना जाता है। स्वयंप्रकाश वस्तु धर्मभूतज्ञानसे भी प्रकाशित होती हैं। यह दोनों मतोंमें समानता है।

वस्तुतः आत्माके सभी धर्म स्वयंप्रकाश ही हैं। सभी लोग अपनी आत्माके अनुभव कालमें उसका प्रत्यक्त्वेन, अनुकूलत्वेन और एकत्वेन अनुभव करते हैं। इस दृष्टिसे न्यायसिद्धाञ्जनमें प्रत्यक्त्वादि धर्मोंका स्वरूपभूत ज्ञानसे प्रकाश कहा गया है। शेषत्वेन, नियाम्यत्वेन, अणुत्वेन और नित्यत्वेन अपने आत्मस्वरूपका सदा अनुभव नहीं होता है, योगकाल में शेषत्वादि धर्मोंको लेकर आत्माका अनुभव होता है। इस दृष्टिसे न्यायसिद्धाञ्जनमें धर्मभूत ज्ञानसे शेषत्वादिका प्रकाश कहा गया है। साधकोंका साधना स्तर भिन्न-भिन्न होनेके कारण आचार्योंके कथनमें भेद है। शेषत्वादिरूपसे आत्मस्वरूपका सदा सभीको अनुभव नहीं होता है। इस अनुभवके अनुसार शेषत्वादिका तिरोधान स्वीकार किया जाता है। इस तिरोधानका हेतु जीवका कर्ममूलक भगवत्संकल्प है। प्रत्येक

आत्मा अपने लिए ही स्वयंप्रकाश होती है, दूसरी आत्माके लिए नहीं। एक आत्मा दूसरी आत्माके ज्ञानका विषय बनकर ही उसके लिए प्रकाशित होती है। इतनेसे आत्मा पराक् नहीं हो सकती है क्योंकि परके लिए ही प्रकाशित होना पराक्त्व है। आत्मा परके लिए ही प्रकाशित नहीं होती है। अतः यह पराक् नहीं है, प्रत्यक् है।

आनन्दरूपता– अनुकूलत्वेन प्रतीत होनेवाला ज्ञान ही सुख या आनन्द कहलाता है। किसीको भी अपनी ज्ञानरूप आत्मा प्रतिकूल प्रतीत नहीं होती है। अपनी आत्मा अपने लिए अनुकूल ही प्रतीत होती है। यह सबके प्रत्यक्ष अनुभवसे सिद्ध है। इस प्रत्यक्षानुभवसे आत्मा आनन्दरूप सिद्ध होती है। अपने लिए सदा अनुकूलत्वेन प्रकाशित होना आत्माका स्वभाव है, इसलिए अपनी आत्मा अपने लिए निरतिशय प्रिय होती है। 'अहम्' इस प्रकार आत्माके प्रकाशित होते समय उसकी सुखरूपता भी सदा प्रकाशित होती है। कभी क्रोधादि आवेशके समय जो अपनी दुःखरूपता प्रतीत होती है, उसका कारण कर्मरूप उपाधि है। कदाचित् प्रतीत होनेवाली दुःखरूपता औपाधिकी है, स्वाभाविकी नहीं है, सुखरूपता ही स्वाभाविकी है।

आत्माका अनुभवरूप कैवल्य होता है। कैवल्यार्थीकी उसके साधनमें प्रवृत्ति होती है। इससे भी आत्माकी आनन्दरूपता सिद्ध होती है क्योंकि दुःखरूप वस्तुको कोई भी नहीं चाहता है, सभी सुखको ही चाहते हैं। आत्मा सुखरूप होनेसे उसका अनुभवरूप कैवल्य भी सुखरूप होता है।

सुषुप्तपुरुष जागने पर 'मैं सुख(आनन्द) से सोया' इस प्रकार समझता है ऐसा समझना ही परामर्श या प्रतिसन्धान है। उक्त ज्ञान आत्मा तथा उसकी सुखरूपता अंशमें स्मरणरूप है। यह

स्मरणात्मक ज्ञान अनुभवके विना संभव नहीं है। आत्माकी सुखरूपताका अनुभव जाग्रतकालका तो है नहीं किन्तु जागनेपर उसका स्मरण अवश्य होता है, इसलिए जाग्रतकालीन स्मरणके बल पर यह स्वीकार करना पड़ता है कि सुषुप्तिमें आत्माकी सुखरूपताका अनुभव हुआ है। यह सुख विषयसुख नहीं है क्योंकि उस समय इन्द्रियोंका विषयके साथ सम्बन्ध नहीं होता है, धर्मभूतज्ञान अत्यन्त संकुचित हो जाता है और सभी इन्द्रियाँ अपने कार्योंसे उपरत हो जाती हैं। धर्मभूतज्ञान इन्द्रियद्वारा ही विषय से संयुक्त होकर विषयका प्रकाश करता है। सुषुप्तिमें यह संभव नहीं है। उस समय मन इन्द्रियके भी उपरत होनेसे धर्मभूतज्ञानद्वारा आत्माका अनुभव नहीं होता है। अतः सुषुप्तिवेलामें जिस सुखका अनुभव हुआ है, वह आत्माका स्वरूपभूत सुख है। इस प्रकार आत्माकी सुखरूपता सिद्ध होती है। जिस प्रकार 'मैं धीरे-धीरे चला- मन्दमगच्छम्', 'मधुर गान किया- मधुरमगायम्' यहाँ पर आना और गाना क्रियाके विशेषण मन्दता और मधुरता क्रियाके समानकालिक ज्ञात होते हैं, उसी प्रकार 'मैं सुखसे सोया' यहाँ सुषुप्ति क्रियाका विशेषण सुख उसके समानकालिक ज्ञात होता है। इस प्रकार सुषुप्तिकालीन आत्मरूप सुखका अनुभव सिद्ध होता है। 'मैं सुखसे सोया' इस परामर्शमें अहमर्थ आत्मा, उसकी सुखरूपता, सुषुप्ति और पूर्वकाल ये चार अर्थ भासित होते हैं।

नैयायिक- 'मैं सुखसे सोया' इस प्रकार जाग्रतकालीन स्मरणके बल पर आत्माको सुखरूप स्वीकार करना उचित नहीं है क्योंकि 'मैं दुःखसे सोया' ऐसा भी जाग्रतकालमें स्मरण होता है। यदि एक मनुष्यके स्मरणके बलसे आत्माको सुखरूप स्वीकार किया जाए तो दूसरे मनुष्यके स्मरणके बलसे आत्माको दुःखरूप क्यों न स्वीकार किया जाय?

वेदान्ती– यह कथन युक्तियुक्त नहीं है क्योंकि सुषुप्तिमें दुःखका अनुभव नहीं होता है। 'मैं दुःखसे सोया' इस स्मरणका जनक सुषुप्तिकालीन अनुभव नहीं है बल्कि सुषुप्तिसे अव्यवहित पूर्वकालमें रोग, चिन्ता, खटमल, मच्छर तथा शय्या आदिकी प्रतिकूलतासे जन्य दुःखका अनुभव होता है। निद्राके साथ उसे मिलाकर 'मैं दुःखसे सोया' यह कहा जाता है। इस स्मरणका जनक सुषुप्तिसे पूर्वमें होनेवाले दुःख हैं। अतः उक्त स्मरणके बल पर आत्माको दुःखरूप सिद्ध नहीं किया जा सकता है, वह तो आनन्दरूप ही है।

नैयायिक– जैसे 'मैं दुःखसे सोया' इस स्मरणका जनक सुषुप्तिसे अव्यवहित पूर्वकालमें होनेवाला दुःख है, वैसे ही 'मैं सुखसे सोया' इस स्मरणका जनक सुषुप्तिके अव्यवहित पूर्वकालमें होनेवाला सुख है। सुषुप्तिके पूर्व अच्छा मौसम तथा शय्या आदि की अनुकूलतासे सुखका अनुभव होता है। सुषुप्तिमें कोई भी अनुभव नहीं होता है, अतः अनुभवजन्य स्मरणके बल पर आत्माको आनन्दरूप नहीं कह सकते हैं। वस्तुतः आत्मा न तो सुखरूप है और न ही दुःखरूप। सुषुप्तिमें दुःखाभाव तो होता है पर सुख सिद्ध नहीं होता है।

वेदान्ती– यह कथन उचित नहीं क्योंकि जब दीर्घकाल तक निद्राके लिए, भोजनके लिए अथवा अन्य सुखदायकविषयके साथ सम्बन्धके लिए अवसर नहीं मिलता है, तब बादमें युगपद् सभीकी प्राप्ति होनेपर सभी लोग विषयसुखका त्याग करके भोजनसुख, भोजन सुखका त्याग करके निद्रासुख, इस क्रमसे ही सुखका चयन करते हैं। भोजन और विषय सब प्राप्त होनेपर भी निद्रा न प्राप्त होनेपर निद्राकी गोलियाँ निगलकर सो जाते हैं। इससे सिद्ध होता है कि विषयसुखकी अपेक्षा प्राणधारणसे जन्य सुखका अधिक महत्त्व है तथा प्राणधारणसे जन्य सुखकी अपेक्षा निद्रासुखका अधिक महत्त्व है। मनुष्य अपनी सुषुप्तिमें बाधा पड़ने पर पहलेसे सुख देनेवाली

स्त्री, पुत्र, संपत्ति आदिका भी तिरस्कार करता है। इसलिए यह नहीं कहा जा सकता है कि सुषुप्तिमें केवल दुःखका अभाव है, सुख नहीं है। सुषुप्तिमें जो सुख है, वह आत्माका स्वरूप है। यह आत्मा आनन्दरूप, ज्ञानरूप तथा निर्मल है- **निर्वाणमय एवायमात्मा ज्ञानमयोऽमलः।**(वि.पु.६.७.२२) यह आत्मा ज्ञानरूप तथा आनन्दरूप है- **ज्ञानानन्दमयस्त्वात्मा।** आत्मा ज्ञानानन्दैक स्वरूप है- **ज्ञानानन्दैकलक्षणम्।**

बाह्येन्द्रिय और अन्तरिन्द्रियसे होनेवाले सभी ज्ञानोंका अभाव ही सुषुप्ति है। सुषुप्तिका सुषुप्तिकालमें अनुभव नहीं होता है। यदि सुषुप्तिकालमें सुषुप्तिका अनुभव होता तो सुषुप्ति ही नहीं होगी क्योंकि उस समय इस अनुभवात्मक ज्ञानके रहनेसे इन्द्रियजन्य समस्त ज्ञानोंकी निवृत्ति नहीं होगी। सुषुप्ति और पूर्वकाल दोनों अनुमेय हैं। सुषुप्तिमें आत्माका ही अनुभव होता है। आत्मासे भिन्न सुषुप्ति एवं पूर्वकालका अनुभव नहीं होता। सोनेसे पहले दिनका अनुभव किया था, जागने पर नूतन दिन प्रतीत होता है और पूर्व दिनका स्मरण होता है। इन दो दिनोंके बीचमें एक रात्रि अवश्य बीती है, जिसमें निद्रा आयी थी। इस प्रकार पूर्व काल(निद्राकाल) रात्रि का अनुमान होता है। निद्राकालमें आत्माको स्वस्वरूपसे अतिरिक्त कुछ भी ज्ञान नहीं था। यदि उस समय ज्ञान होता तो जागने पर अवश्य स्मरण होता। स्मरणके योग्य ज्ञानका जागने पर स्मरण न होनेसे ज्ञानाभावकी अनुमिति होती है। यह ज्ञानाभाव ही निद्रा है। जिस प्रकार क्या प्रातःकाल आपने मैदानमें हाथी देखा था? इस प्रश्नके पश्चात् उत्तरदाता स्मरण होने योग्य अर्थ हाथीका स्मरण न होनेरूप हेतुसे हाथीके अभावकी अनुमिति करता है, पूर्वानुभूत मैदान तो संस्कारकी महिमासे भासता है। वैसे ही यहाँ पूर्वकाल तथा ज्ञानाभावरूप सुषुप्तिकी अनुमिति होती है।

सुषुप्तिकालमें अनुभूत आत्मा तथा उसकी सुखरूपता संस्कारकी महिमासे भासित होती है। सुषुप्तिकालमें आत्मा तथा उसकी सुखरूपताका अनुभव होता है। जागने पर सुषुप्ति तथा सुषुप्तिकालकी अनुमिति होती है। इसके अव्यवहित पश्चात् 'मैं सुखसे सोया' यह प्रतिसन्धान होता है। यह अतिशीघ्रताके कारण सुषुप्तिसे अव्यवहित प्रतीत होता है। पूर्वमें पृथक्-पृथक् अनुभूत अनेक विषय बादमें जिस एक ज्ञानके विषय होते हैं, वह ज्ञान प्रतिसंधान कहलाता है- **प्रतिसन्धिः अर्थद्वयविषयैकबुद्धिः**।(न्या.प.४.२), **प्रत्येकानुभूतार्थद्वयविषयकज्ञानं प्रतिसन्धानम्**(न्या.त.प्र.४.२)। ज्ञानका मुख्य विशेष्य सुषुप्तिकालमें अनुभूत सुखरूप आत्मा ही है।

शंका- जाग्रतकालीन स्मरणके बल पर सुषुप्तिमें आत्माकी आनन्दरूपताका अनुभव स्वीकार करना उचित नहीं है क्योंकि लोकमें अनुभव और स्मरणका आश्रय एक ही देखा जाता है। सुषुप्तिमें अनुभव करनेवाला स्वरूपभूत आत्मा है तथा जागने पर स्मरण करनेवाला ज्ञाता(ज्ञानविशिष्ट) आत्मा है। यहाँ अनुभव और स्मरणके भिन्न भिन्न आश्रय हैं। इसलिए स्मरणके बल पर आनन्दरूपताकी अनुभूति स्वीकार करना उचित नहीं है। संस्कार ही स्मृतिका जनक होता है और स्मृतिके हेतु संस्कारकी उत्पत्ति अनित्यज्ञानसे होती है। सुषुप्तिमें विद्यमान स्वरूपभूत ज्ञान नित्य है, अतः इससे संस्कारोंकी उत्पत्ति नहीं होगी क्योंकि अनुभवकी सूक्ष्मावस्था ही संस्कार कहलाती है। निर्विकार एकरूप आत्माकी सूक्ष्मावस्था नहीं हो सकती है। सुषुप्तिकालीन अनुभव वृत्तिज्ञान नहीं है, वह तो आत्मस्वरूप ही है। संस्कारकी उत्पत्ति न होनेसे आनन्दकी स्मृति भी नहीं होगी, स्मृति न होनेसे आत्माको आनन्दरूप स्वीकार नहीं कर सकते हैं। नित्यज्ञानको भी संस्कारका उत्पादक मानने पर मोक्षमें भी संस्कार मानने पडेंगे जो कि अनिष्ट

है। संस्कार धर्मभूतज्ञानका एक विकार है, इसलिए वह धर्मभूतज्ञानकी स्मृतिरूप अवस्थाका कारण होता है। घटादि पदार्थोंके अनुभव धर्मभूतज्ञानकी अवस्थाएं हैं। अनुभवजन्य संस्कार तथा स्मृति भी ज्ञानकी अवस्थाएं होती हैं। स्वरूपभूतज्ञानके अनुभव करने पर धर्मभूतज्ञानमें संस्कार संभव न होनेसे स्मृति भी संभव नहीं होगी। इस प्रकार असंगति होनेके कारण उक्त स्मृतिके बल पर आत्माको आनन्दरूप स्वीकार नहीं कर सकते हैं।

समाधान– अनुभव करनेवाला ही स्मरण करता है, अनुभव न करनेवाला स्मरण नहीं करता, इसलिए माना जाता है कि अनुभवकर्ताको ही स्मरण होता है। जागनेपर सुखका स्मरण होता है। यह निद्राकालीन अनुभवके विना संभव नहीं है, इसलिए माना जाता है कि स्मर्यमाण सुख निद्रामें अनुभूत आत्माका स्वरूपभूत सुख है। रही बात अनुभव और स्मरणके एक कर्ता होनेकी तथा अनुभव, संस्कार और स्मरणके एक आधार होने की। यह बात तो इन्द्रियजन्य अनुभवके विषयमें मानी जाती है। इन्द्रियनिरपेक्ष स्वरूपभूत अनुभवस्थलमें यह संभव नहीं है। लोकसिद्ध इन्द्रियजन्य अनुभव और स्वरूपभूत अनुभव यदि समान होते तो शंकाको अवकाश मिलता किन्तु वे दोनों समान नहीं हैं, अतः शंका करना व्यर्थ है। मुक्तात्माको सभी पदार्थ सदा प्रत्यक्ष रहते हैं। मुक्तावस्थामें संस्कारका कार्य कुछ भी नहीं है, अतः मोक्षमें संस्कारकी कल्पना करना व्यर्थ है। 'तुष्यतु न्याय'से अनित्य ज्ञानको ही स्मृतिके हेतु संस्कारका उत्पादक मानने पर समाधान दिया जाता है– जाग्रतादि अवस्थामें भोग देनेवाले कर्मोंकी उपरतिरूप आगन्तुक धर्मसे विशिष्ट जो(सुषुप्तिकालीन) आत्मस्वरूप ज्ञान है, वह विशिष्टरूपमें सदा विद्यमान न रहनेसे अनित्य है, इसलिए संस्कारका उत्पादक हो सकता है। यद्यपि निर्विकार आत्मस्वरूपमें संस्कार संभव नहीं हैं,

फिर भी स्मृति होनेके कारण मानना चाहिए कि आत्माके स्वरूपभूतज्ञानसे धर्मभूतज्ञानमें संस्कार उत्पन्न होते हैं। इस प्रकार आत्माकी सुखरूपताकी स्मृति संभव होती है। सुषुप्तिमें धर्मभूत ज्ञानके विना आत्माके द्वारा अनुभूत स्वरूपभूत सुखकी जाग्रतमें स्मृति स्वीकार करना वेदान्तसिद्धान्तका मत है। सर्वार्थसिद्धिकी आनन्ददायिनी व्याख्याके अनुसार सुषुप्तिमें धर्मभूतज्ञानके द्वारा आत्माके स्वरूपभूत सुखकी अनुभूति होती है, **अपरे तु सुषुप्तिर्हि ज्ञानाभावरूपो धर्मभूतज्ञानस्यात्मस्वरूपमात्रगोचरोऽवस्थाविशेषः**(त.मु.क.जी.आ.६)। इस अनुभूतिसे जाग्रतकालमें सुखका स्मरण होनेमें कोई बाधा नहीं है क्योंकि इस मतमें अनुभव, संस्कार और स्मरणका आधार एक ही है। सुषुप्तिमें मनकी भी उपरति हो जानेसे धर्मभूतज्ञानके द्वारा आत्मस्वरूप सुखका अनुभव नहीं हो सकता है। यह शंका यहाँ नहीं करनी चाहिए क्योंकि इस मतमें सुषुप्तिसे भिन्न कालमें ही धर्मभूतज्ञानके द्वारा होनेवाला प्रकाश इन्द्रियोंके अधीन होता है। सुषुप्तिमें धर्मभूतज्ञान मनके विना ही प्रकाशक होता है। इस मतमें सुषुप्तिमें स्वरूपभूत ज्ञान तथा धर्मभूत ज्ञान दोनों ही सुखरूप आत्माके प्रकाशक होते हैं किन्तु स्मृतिका हेतु धर्मभूतज्ञानके द्वारा होनेवाला प्रकाश होता है। सिद्धान्तमें तो बद्धावस्थामें कभी भी इन्द्रियके विना धर्मभूतज्ञानका प्रकाशकत्व मान्य नहीं है।

शंका– आत्माकी सुखरूपता और स्वयंप्रकाशता होनेके कारण लोकमें दुःख किसीको भी नहीं होना चाहिए।

समाधान– सुखरूप आत्मा स्वयंप्रकाश होनेपर भी दुःखके कारण तो पापकर्म हैं। दुःखोंके कारणकी निवृत्ति होनेपर दुःख निवृत्त होते हैं। सद्गुरुके द्वारा शास्त्रोंसे अपनी आत्माके यथार्थ स्वरूपको जानकर निष्काम कर्मयोग आदिके आचरणसे पापोंका नाश होता है। प्रबल पापके कारण बाह्य विषयोंमें सुखप्राप्तिके लिए संसारी जीवोंकी प्रवृत्ति

होती है और विषयसुखमें सुखत्वकी भ्रान्तिके कारण वे बाह्य विषयोंमें आकृष्ट होकर विविध कर्मोंको करके दुःख प्राप्त करते हैं। सुषुप्तिमें विषयसुखका प्रकाश न होनेके कारण आत्मस्वरूप सुख ही प्रकाशित होता है।

अहमर्थत्व- अहं शब्दकी वाच्य आत्मा अहमर्थ है। अहन्त्व विशिष्ट आत्मा अहमर्थ है। अपने प्रति प्रकाशमानता ही अहन्त्व है। अहमर्थ आत्मा ही है क्योंकि आत्मा प्रत्यक् मानी जाती है। अपने लिए प्रकाशित होनेवाली वस्तु प्रत्यक् एवं दूसरेके लिए प्रकाशित होनेवाली वस्तु पराक् कही जाती है। आत्मा अपने लिए प्रकाशित होती है क्योंकि आत्माके प्रकाश का फल 'अहमस्मि' जो व्यवहार है, उसका कर्ता आत्मा ही है। स्वयंप्रकाश आत्माका प्रकाश द्विविध है-

१.'अहम्' 'अहम्' इस प्रकार स्वरूपभूत ज्ञानसे सदा अपने लिए आत्माका प्रकाश होता है।

२.'मैं घट ज्ञानवाला हूँ,' मैं पट ज्ञानवाला हूँ'। इस प्रकार धर्मभूतज्ञानसे अपने(आत्माके) लिए आत्माका प्रकाश होता है। घटादि स्वयंप्रकाश नहीं हैं क्योंकि इनके प्रकाशका फल जो व्यवहार है उसे करनेवाला आत्मा ही होता है। यदि आत्मा अहमर्थ न हो तो इसका प्रत्यक्त्व ही सिद्ध नहीं होगा क्योंकि अहं बुद्धिके द्वारा परागर्थसे प्रत्यगर्थका भेद सिद्ध होता है तथा इदं बुद्धिके द्वारा प्रत्यगर्थसे परागर्थका भेद सिद्ध होता है। आत्माको अहं बुद्धिका विषय न मानने पर उसका प्रत्यक्त्व ही सिद्ध नही होगा। आत्माका प्रत्यक्त्व सभीको मान्य है। अतः अहं बुद्धिका विषय जो प्रत्यग् आत्मा है, वह अहं शब्दका अर्थ है। अहमर्थका प्रत्यक् होना ही उसके आत्मत्वको सिद्ध करनेवाला है। प्रत्यक् होनेके कारण ही स्वप्रकाश

आत्मा 'अहम्' इस प्रकार प्रकाशित होती है। जो 'अहम' इस प्रकार प्रकाशित नहीं होता है, वह प्रत्यक् नहीं होता है, जैसे घट।

'अहम्' 'अहम्' इस प्रकार अपने लिए सदा प्रकाशित होनेवाला जीवात्मा जब दूसरेके धर्मभूतज्ञानका विषय होकर दूसरेके लिए प्रकाशित होता है, तब आत्मा 'यह', 'वह' और 'तुम' इन रूपोंमें प्रकाशित होता है, एक जीवात्मा दूसरी जीवात्माके लिए 'अहम्' इस प्रकार प्रकाशित नहीं होता है किन्तु दूसरा जीवात्मा भी अपनेको 'अहम्' इस प्रकार ही समझता है क्योंकि प्रत्येक आत्मा स्वरूपभूतज्ञानसे अपने लिए प्रत्यक्ष होती है, दूसरेके लिए नहीं।

'मैं इसे सूँघूँ' ऐसा जो जानता है, वह आत्मा है- **अथ यो वेदेदं जिघ्राणीति स आत्मा।**(छा.उ.८.१२.४) इस श्रुतिसे ज्ञाता आत्मा अहमर्थ सिद्ध होता है। तत्त्वज्ञान सम्पन्न मुमुक्षु 'मैं ब्रह्मलोकको प्राप्त कर रहा हूँ'- **ब्रह्मलोकमभिसंभवामि।**(छां.उ.८.१३.१) इस श्रुतिके अनुसार आत्मस्वरूपका अहं शब्दसे निर्देश करते हैं। जीव यदि अपनी आत्माको 'देहादिसे विलक्षण ब्रह्मात्मक मैं हूँ' इस प्रकार जानता है- **आत्मानं चेद् विजानीयादयमस्मीति पूरुषः।**(बृ.उ.४.४.१२) इत्यादि श्रुतियाँ परिशुद्ध आत्मस्वरूपविषयक ज्ञानका अहन्त्वेन निर्देश करती हैं। ब्रह्मात्मभावके साक्षात्कारसे निवत्त हुई अविद्यावाले ऋषि वामदेवका **तद्धैतत् पश्यन्नृषिर्वामदेवः प्रतिपेदेऽहं मनुरभवं सूर्यश्चेति।**(बृ.उ.१.४.१०) इस प्रकार अहन्त्वेन ही आत्मानुभव सुना जाता है। मुक्त पुरुष भी 'मैं अन्न(अनुभाव्य) हूँ, मैं अन्नाद्(अनुभविता) हूँ- **अहमन्नम् अहमन्नादः।** (तै.उ.३.१०.६) इस श्रुतिके अनुसार शुद्ध आत्माका अहं शब्दसे निर्देश करते हैं। सर्वथा भ्रान्तिरहित श्रीकृष्ण गीतामें **यस्मात्क्षरमतीतोऽहम्**(गी.१५.१८), **न त्वेवाहं जातु नासम्**(गी.२.१२), **अहमात्मा गुडाकेश**(गी.१०.२०), **अहं कृत्स्नस्य जगतः प्रभवः**(गी.७.६), **अहं सर्वस्य प्रभवो मत्तः सर्वं**

प्रवर्तते।(गी.१०.८), **तेषामहं समुद्धर्ता**(गी.१२.७), **अहं बीजप्रदः पिता**(गी.१४.७) इस प्रकार स्वस्वरूपका अहं शब्दसे निर्देश करते हैं।

बहु स्यां प्रजायेय(छां.उ.६.२.३), **हन्ताहमिमास्तिस्रो देवताः** (छां.उ.६.३.२) इस प्रकार ईश्वरको अहमर्थ कहा गया है। यहाँ अहन्त्वका आश्रय अन्तःकरणरूप अहंकार नहीं हो सकता है क्योंकि सृष्टिके पूर्वमें उसकी विद्यमानता ही नहीं है। इससे सिद्ध होता है कि परब्रह्म भी अहमर्थ है। उसमें अहन्त्व आरोपित नहीं है, वास्तविक है। इस विवेचनसे यह सिद्ध होता है कि प्रकृतिका परिणामविशेष अहंकार अहमर्थ नहीं है। **हन्ताहमिमाः** इत्यादि श्रुतियोंके अनुसार परब्रह्मकी जो अहं बुद्धि होती है, वह प्रमा है, भ्रम नहीं है क्योंकि सर्वज्ञको भ्रम नहीं हो सकता है।

आत्मा ही अहमर्थ है, देह अहमर्थ नहीं है। यह विष्णुपुराणके निम्न वचनोंसे स्पष्ट है- हे राजन! शिर तथा करचरणादिरूप यह शरीर आत्मासे भिन्न है, अतः मैं अहं बुद्धि किसमें करूँ- **पिण्डः पृथग्यतः पुंसः शिरःपाण्यादिलक्षणः। ततोऽहमिति कुत्रैतां संज्ञां राजन् करोम्यहम्**।।(वि.पु.२.१३.८६) इसका भाव यह है कि देहादिमें अहं बुद्धि करना उचित नहीं है। राजाके द्वारा प्रश्न करने पर जड़ भरत कहते हैं कि हे राजन! आत्माके विषयमें अहं शब्दका प्रयोग करना दोष नहीं है, ऐसा जो आपने कहा। वह सत्य है किन्तु अनात्माको आत्मा समझना भ्रान्ति है तथा अनात्मा देहादिके विषयमें 'अहं' शब्दका प्रयोग भ्रान्तिमूलक है- **शब्दोऽहमिति दोषाय नात्मन्येष तथैव तत्। अनात्मन्यात्मविज्ञानं शब्दो वा भ्रान्तिलक्षणः**।।(वि.पु.२.१३.८६) इस वचनसे सिद्ध होता है कि आत्माको अहं समझना भ्रान्ति नहीं है तथा आत्माके विषयमें अहं शब्दका प्रयोग भी भ्रान्तिमूलक नहीं है। अहमर्थ आत्मा होनेपर

ही आत्माके विषयमें अहंबुद्धि यथार्थ हो सकती है। शरीरादिको विषय करनेवाली अहंबुद्धि अविद्या है- **तद् श्रूयतां चाप्यविद्यायाः स्वरूपं कुलनन्दन। अनात्मन्यात्मबुद्धिर्या**(वि.पु.६.७.१०-११)। शरीरादिको विषय करनेवाली अहम् बुद्धि इसलिए अविद्या मानी जाती है क्योंकि उसका बाधक ज्ञान होता है। बाधक ज्ञानसे रहित जो अहं बुद्धि है, वह साक्षात् आत्माको ही विषय करनेवाली होती है। जड़ भरत परिपूर्ण आत्मज्ञानी हैं। उनके कथनानुसार अहमर्थ आत्मा ही है। आत्मज्ञानी भरतसे विरुद्ध मत अज्ञानमूलक है।

निर्विशेषाद्वैतमतानुसार 'अहम्' इस प्रत्यक्ष प्रतीतिमें आत्माका भान होता है। अहमर्थ अन्तःकरण है, अतः 'अहम्' इस प्रतीतिमें अन्तःकरणगत अहन्त्वका आत्मामें आरोप माना जाता है। आत्मा अहमर्थ नहीं है। इसपर सिद्धान्तीका कहना है कि जब 'अहम्' इस प्रतीतिमें आत्माका भान अनुभवसिद्ध है, तब आत्माको ही अहमर्थ मानना चाहिए। आत्मामें अहन्त्वको आरोपित मानना उचित नहीं है। जपाकुसुम(गुड़हल)से सन्निहित स्फटिकमें रक्त वर्णका आरोप माना जाता है क्योंकि स्फटिकके विना जपाकुसुममें रक्त वर्ण विद्यमान है किन्तु आत्माको छोड़कर अन्तःकरण कभी भी 'अहम्' इस प्रकार प्रतीत नहीं होता है, अतः जब अन्तःकरणमें ही अहन्त्व नहीं है तब आत्मामें उसका आरोप भी नहीं हो सकता है। अन्तःकरण तो 'इदम्' इस प्रतीतके योग्य है। वह अहमर्थ नहीं है। अहमर्थ तो आत्मा ही है।

आत्माका स्वरूपभूत, नित्य प्रकाश सभी अवस्थाओंमें 'अहम्-अहम्' इस प्रकार होता रहता है। वृत्तिज्ञानके द्वारा जो घटज्ञानवान् अहम् इत्यादि प्रकारसे आत्माका प्रकाश होता है, उसका भी ज्ञानाधिकरणरूपसे आत्मा विषय होती है, अन्तःकरण नहीं। वृत्तिज्ञानके द्वारा आत्माके प्रकाशित होते समय अन्तःकरण 'अहम्'

इस प्रतीतिका प्रयोजक है किन्तु वहाँ भी अहम् इस प्रतीतिका विषय नहीं है। 'ज्ञानस्वरूपोऽहम्' इस प्रकार होनेवाले स्वरूपभूत प्रकाशके व्यवहारमें भी अन्तःकरण हेतु है किन्तु आत्माकी स्वयंप्रकाशतामें वह हेतु नहीं है।

सोकर उठा हुआ व्यक्ति 'मैं अब तक सुखसे सोया' ऐसा स्मरण करता है। इससे सिद्ध होता है कि जो अहमर्थ सोया था वही जागकर स्मरण करता है। शांकराद्वैतमतमें अहमर्थ अहंकार है। वह सुषुप्तिमें नष्ट हो जाता है, इसलिए अहमर्थ नहीं हो सकता है। यदि अहमर्थ अहंकार होता तो उसे सुषुप्तिमें नष्ट हो जानेसे वह उक्त प्रकारसे स्मरण नहीं कर सकता है। तब तो 'मैं सुषुप्तिकालमें नहीं था' ऐसा स्मरण होना चाहिए। पूर्वपक्षीके अनुसार जागनेपर दूसरा अहंकार उत्पन्न होता है। वह सुषुप्तिकालमें नहीं था, अतः वह स्मरण भी नहीं कर सकता है। सुषुप्तिके पूर्वोत्तर कालमें विद्यमान आत्मा ही वैसा स्मरण कर सकती है।

जिस प्रकार हरि शब्दको मण्डूक अर्थका बोधक होनेपर भी हरि शब्दके अर्थ सिंह और मण्डूककी एकता नहीं होती है, उसी प्रकार दोनों अहं शब्दोंको पर्याय होनेपर भी अहमर्थ-आत्मा अनात्मा-जड़ अहंकार नहीं हो सकती है। अतः अहं शब्द शक्तिवृत्तिसे ही आत्माको कहता है। यहाँ लक्षणाकी कल्पना अनुचित है। अनन्यथासिद्धप्रयोग शक्तिका ज्ञापक होता है, अन्यथासिद्धप्रयोग शक्तिका ज्ञापक नहीं होता है। शुद्ध आत्मस्वरूपमें अहं शब्दका प्रयोग अनन्यथा सिद्ध है। देहादिमें 'अहम्' शब्दका प्रयोग अनन्यथासिद्ध नहीं है, वह भ्रान्तिसे सिद्ध है। अतः शुद्ध प्रत्यगात्मा ही अहं शब्दका वाच्य है।

पूर्वोत्तरमीमांसा पर वृत्ति लिखनेवाले आचार्य उपवर्ष तथा उनके अनुयायी सविशेषाद्वैती वेदान्ती अहमर्थ आत्माको मानते हैं तथा आत्माको 'अहम्' इस प्रत्यक्षप्रतीतिका विषय मानते हैं- **तत्र प्रत्यक्षमात्मानमौपवर्षाः प्रपेदिरे। अहंप्रत्ययगम्यत्वात् सयूथ्याऽपि केचन्।।**(न्या.म.),अहमर्थको आत्मा स्वीकार न करनेवाला मत गुरुपरम्परासे प्राप्त वेदान्तमत नहीं है। अहमर्थका आत्मत्व बौद्ध तथा विवर्तवादियोंको छोड़कर सभी दार्शनिकों को मान्य है। आत्माको अहमर्थ न माननेवालेके मतमें अहमर्थ कहीं अन्तःकरण, कहीं अन्तकरणावच्छिन्न चैतन्य होता है किन्तु आत्माको अहमर्थ माननेवालेके मतमें अहमर्थ एक ही है। इस प्रकार वादीके मतमें गौरवदोष भी है।

एक अहम् शब्द अस्मद्शब्दसे प्रथमा एकवचनमें निष्पन्न होता है तथा दूसरा अहम् शब्द अव्युत्पन्न है। इनमेंसे प्रथम आत्माका ही बोधक है, प्रकृतिके परिणाम अहंकार या अन्तःकरणका बोधक नहीं है तथा दूसरा अहम् शब्द प्रकृतिके परिणामका ही बोधक है, आत्माका बोधक नहीं है। दोनों अहम् शब्द एक जैसे श्रूयमाण होनेपर भी भिन्न- भिन्न हैं। महत् तत्त्वने अहंकारको उत्पन्न किया- **महत्तत्वम् अहंकारम् अजीजनत्** के समान महत्तत्त्वने मुझे(आत्माको) उत्पन्न किया- **महत्तत्वम् माम्(आत्मानम्) अजीजनत्** ऐसे प्रयोग संभव नहीं हैं। मोक्षमें अहंकार न रहनेपर भी अहमर्थ आत्माका सद्भाव सिद्ध होता है। इन दोनोंको पर्याय मानना व्याकरण शास्त्रके विरुद्ध है। अंहकार शब्दकी भी शक्ति आत्मामें नहीं है। **अथातो अहंकारादेशः** यहाँ पर अहंकार शब्द अहंबुद्धि अर्थात् 'अहम्' इस प्रकारकी जानेवाली उपासनाका बोधक है। इसका वर्णन जड़द्रव्यविवेचन के अहंकार प्रकरणमें किया जा चुका है। शांकराद्वैतमतमें अहम् शब्द चिदचिद्ग्रन्थिका बोधक है।

चिदचिद्की ग्रन्थि ही अहमर्थ है। चिद् अर्थात् आत्मा और अचिद् अर्थात् अहंकाररूप अन्तःकरण। ये दोनों ही अहमर्थके अन्तर्गत हैं। चैतन्य और अहंकारमें परस्पर अभेद अध्यस्त है। 'अहम्' इस प्रतीतिमें चैतन्यसे अभिन्न अहंकार तथा अहंकारसे अभिन्न चैतन्य प्रतीत होता है। यह अहमर्थ सुषुप्ति और मुक्तिमें नहीं रहता है। सुषुप्तिमें यदि अहमर्थ रहता तो उसका प्रकाश होना चाहिए किन्तु प्रकाश नहीं होता है, अतः सुषुप्तिमें अहमर्थका अभाव सिद्ध होता है। यह कथन उचित नहीं है यद्यपि उपनिषत् सिद्धान्तके अनुसार हम सुषुप्तिमें अहमर्थका प्रकाश मानते हैं, नैयायिक सुषुप्तिमें अहमर्थका प्रकाश नहीं मानते किन्तु वे सुषुप्तिमें अहमर्थका अभाव नहीं मानते हैं क्योंकि विद्यमान पदार्थ सदा प्रकाशित होता रहे, यह नियम नहीं है। संसारमें बहुतसे पदार्थ ऐसे हैं, जो विद्यमान हैं किन्तु प्रकाशित नहीं होते। सोकर उठनेवाला मनुष्य यह समझता है कि जिसने पूर्व दिनमें कार्य किया था। वही मैं आज कर रहा हूँ। इस प्रत्यभिज्ञाके द्वारा सुषुप्तिसे पूर्वकालमें, सुषुप्तिकालमें एवं उत्तरकालमें अहमर्थकी विद्यमानता और उसकी एकता सिद्ध होती है। सुषुप्तिमें अहमर्थ नहीं रहता है। यह कथन उन्हींके 'मैं अब तक सुख से सोता रहा' इस कथनसे विरुद्ध है।

मुक्तावस्थामें अहमर्थ नहीं रहता है, यह कथन अनुपपन्न है क्योंकि वैसा होनेपर आत्मनाश ही अपवर्ग है, यह प्रकारान्तरसे स्वीकार करना होगा क्योंकि अहमर्थ धर्ममात्र नहीं है। जिससे अविद्यानिवृत्तिकी तरह उसकी निवृत्ति होनेपर स्वरूपमात्र शेष रहे। अपना स्वरूप ही अहमर्थ आत्मा है। ज्ञान उसका धर्म है क्योंकि 'मैं जानता हूँ'- अहम् जानामि, 'मेरा ज्ञान उत्पन्न हुआ'-ज्ञानं मे जातम्, इस प्रकार आत्माके धर्मरूपसे ज्ञानकी प्रतीति होती है। प्रत्यगात्मा मुक्तिमें भी 'अहम्' इस प्रकार ही प्रकाशित होता है

क्योंकि जो अपने लिए प्रकाशित होता है, वह अहम् इस प्रकार ही प्रकाशित होता हे। 'अहम्' इस प्रकार प्रकाशित होनेसे मोक्षमें भी अज्ञत्व और संसारित्वका प्रसंग होगा, ऐसी शंका नहीं करनी चाहिए क्योंकि अज्ञाननिवृत्ति ही मोक्ष है, अतः मोक्षमें अज्ञत्व आदिका प्रसंग नहीं होता है। 'अहम्' तो स्वयंप्रकाश आत्माका स्वरूप है, अतः इसके प्रकाशमें अज्ञत्व आदि हेतु नहीं हो सकते हैं। मुक्तिमें अहमर्थका अभाव होनेपर **ब्रह्मवेद ब्रह्मैव भवति**।(मु.उ.३.२.९) तथा **सर्वं ह पश्यः पश्यति**।(छां.उ.७.२६.२) इत्यादि श्रुतियोंसे विरोध होगा। इनमें प्रथम श्रुति ब्रह्मवेत्ता अहमर्थकी ब्रह्मभावसे स्थितिका प्रतिपादन करती है तथा दूसरी श्रुति सर्वज्ञभावसे अहमर्थकी स्थितिका प्रतिपादन करती है।

शांकरमत– अहं प्रतीतिका विषय आत्मा नहीं है क्योंकि वह आत्मा है। जो अहं प्रतीतिका विषय होता है, वह अनात्मा होता है। जैसे– 'अहं स्थूलः' इस प्रकार अहं प्रतीतिका विषय देह है। आत्मा अहं प्रतीतिका विषय नहीं है क्योंकि वह अजड़ है। जो अहं प्रतीतिका विषय होता है, वह जड़ होता है, जैसे–देह। आत्मा अहं प्रतीतिका विषय नहीं है क्योंकि वह निर्विकार है। जो अहं प्रतीतिका विषय होता है, वह विकारवाला होता है, जैसे–देह। इन अनुमानोंसे आत्माकी अहमर्थविषयताका निराकरण होनेसे वह अहमर्थ नहीं हो सकती है।

निराकरण– पूर्व में वर्णित प्रत्यक्ष एवं शास्त्रप्रमाणसे आत्मा अहमर्थ सिद्ध होती है। अतः उक्त हेतु बाधित हेत्वाभास है। शांकरमतानुसार आत्मत्व, अजड़त्व तथा निर्विकारत्व आत्मामें ही रहनेवाले धर्म हैं। अतः सपक्ष घटादिमें न रहनेके कारण ये हेतु असाधारण अनैकान्तिक हेत्वाभास हैं, सद्हेतु नहीं हैं। अतः इनके द्वारा निर्विशेषाद्वैतीकी अभीष्ट सिद्धि नहीं होती है। दुःखोंसे संतप्त व्यक्ति

दुःखनिवृत्ति तथा अनन्त अपरिच्छिन्न सुखकी प्राप्ति के लिए मोक्षके साधन श्रवणादिमें प्रवृत्त होता है। मोक्षमें अहमर्थ नहीं रहता है, यदि वह ऐसा जाने तो मोक्षकी चर्चासे भी दूर भागेगा क्योंकि स्वनाशको कोई भी नहीं चाहता है। ऐसा होनेपर मोक्षके अधिकारीका अभाव होनेसे सभी मोक्षशास्त्र अप्रमाणिक होंगे। देहका नाश होनेपर भी स्वर्गफल भोगनेवाली आत्मा रहती है, अतः स्वर्गके साधन यागादिमें प्रवृत्ति होती है। यदि ऐसा कहना चाहें कि ज्ञानरूप आत्मा तथा अहमर्थ अहंकारका भेद न जाननेके कारण अहमर्थ मोक्षके साधनमें प्रवृत्त होता है, इसलिए मोक्षशास्त्रके अधिकारीका अभाव नहीं होता है, तो यह उचित नहीं क्योंकि भेद न जाननेवाला तथा मोक्षमें स्वविनाश जाननेवाला व्यक्ति संविद् का भी नाश मानेगा। उसे अपना विनाश माननेवाला साधक मोक्षके साधनमें प्रवृत्त नहीं होगा। यदि ऐसा कहना चाहें कि मोक्षमें भ्रमसे अपनी स्थितिको समझकर अहमर्थ मोक्षके साधनमें प्रवृत्त होता है, तो यह भी उचित नहीं क्योंकि मोक्षमें भ्रमसे अपनी स्थितिको समझनेवाला वह मोक्षके यथार्थस्वरूपको जानता ही नहीं है, अतः उसका मोक्षके साधनमें अधिकार नहीं है। आपकी रीतिके अनुसार मोक्षमें अहमर्थकी स्थिति चाहनेवालेका नित्य बन्धन ही रहेगा। यद्यपि भ्रमसे मोक्षमें अपनी स्थितिको समझकर उसके साधनमें प्रवृत्त होता है, फिर भी उससे उत्पन्न हुआ अद्वैतज्ञान सबका नाशक है, इसलिए मोक्षमें अहमर्थकी अनुवृत्ति नहीं होती है। यह कथन भी प्रकारान्तर से राज्यकी कामनावाले मनुष्यके शिर कटाने जैसा है क्योंकि इससे स्वरूपनाश ही मोक्ष सिद्ध होता है, अतः मोक्ष के साधनमें प्रवृत्ति नहीं होगी। "जबतक मेरा अहमर्थ स्वरूप रहेगा, तब तक तापत्रय भी अनिवार्यरूपसे रहेंगे, अतः अहमर्थका विनाश आवश्यक है।" तापत्रयसे पीड़ित अहमर्थ यह समझकर मोक्षके उपायमें प्रवृत्त होता

है, यह कहना भी उचित नहीं है क्योंकि जिस प्रकार संसार अनिष्ट होनेसे मृत्यु शब्दसे कहा जाता है। उसी प्रकार स्वविनाश भी अनिष्ट होनेके कारण मृत्यु शब्दसे कहा जायेगा। ऐसा होनेपर **तमेव विदित्वातिमृत्युमेति**।(श्वे.उ.३.८) इस श्रुतिके द्वारा मृत्युतरणके हेतुरूपसे प्रंशसनीय ब्रह्मविद्या अहमर्थके विनाशका हेतु होनेसे मृत्युका ही हेतु होगी।

कर्तृत्व– कृति अर्थात् प्रयत्नके आश्रयको कर्ता कहते हैं– **कृत्याश्रयत्वं कर्तृत्वम्**। प्रयत्नका आश्रय चेतन आत्मा होती है, जड़ पदार्थ नहीं होते हैं, जानता है– जानाति, इच्छा करता है– इच्छति, प्रयत्न करता है– यतते, कार्य करता है– करोति, इस प्रकार सुव्यवस्थित वाक्यप्रयोगके अनुसार ज्ञान तथा चिकीर्षा(करनेकी इच्छा) पूर्वक ही प्रयत्न होता है। अतः ज्ञानचिकीर्षापूर्वक प्रयत्न करनेवालेको कर्ता कहा जाता है– **ज्ञानचिकीर्षापूर्वकप्रयत्नवत्त्वं कर्तृत्वम्।** ज्ञान, इच्छा तथा प्रयत्न पूर्वमें होनेपर सभी कार्य किये जाते हैं। क्रियाकी अपेक्षा प्रयत्न आन्तरिक है, यत्नत्व धर्मभूतज्ञानकी अवस्थाविशेष है। प्रयत्नके पश्चात् क्रिया सम्पन्न होती है। जैसे–ग्रामं गच्छति, यहाँ गमन क्रियाके अनुकूल प्रयत्नका आश्रय चेतन है, इसलिए चेतन आत्मामें ही कर्तृत्व है। 'रथो गच्छति' इत्यादि प्रयोगोंमें धातु(गम् धातु)का अर्थ व्यापार(गमन क्रिया)का आश्रय रथ होनेके कारण अचेतन रथको उपचारसे कर्ता कहा जाता है।

भोक्ता जीवात्मा, भोग्य प्रकृति एवं प्रेरक परमात्माको जानकर सब त्रिविध ब्रह्मको बता दिया– **भोक्ता भोग्यं प्रेरितारं च मत्वा सर्वं प्रोक्तं त्रिविधं ब्रह्ममेतत्**।(श्वे.उ.१.१२) तत्त्वत्रयका निरूपण करनेवाली यह श्रुति चेतन आत्माका भोक्तृत्वरूपसे प्रतिपादन करती है। भोक्तृत्वका अर्थ भोगकर्तृत्व होता है। जीवात्माके भोक्तृत्वमें कर्तृत्व हेतु है। जीव पुण्यपापरूप कर्मोंका कर्ता होनेसे ही उनके फलका

भोक्ता बनता है, अतः आत्माका कर्तृत्व स्वीकार न करने पर उसका भोक्तृत्व ही सिद्ध नहीं होगा। शास्त्रोक्त स्वर्गादि फल कर्मके कर्ताको प्राप्त होते हैं- **शास्त्रफलं प्रयोक्तरि**(मी.सू.३.७.१८) यह नियम है। विद्वानोंने जातकर्म तथा श्राद्धको अपवादका स्थल माना है। कुछ विद्वानोंके अनुसार नियमका निम्न प्रकारसे परिष्कार करने पर संगति लग जाती है, कहीं भी दोष नहीं आता है- जिस फलके उद्‌देश्यसे जिस कर्मका विधान जिस कर्ताके लिये किया जाता है, उस कर्मके कर्ताको उस फलकी प्राप्ति अवश्य होती है। स्वपुत्रकी पवित्रतारूप फलके उद्‌देश्यसे जातकर्मका विधान कर्ता पिताके लिए किया जाता है। अतः जातकर्म करनेवाले पिताको स्वपुत्रकी पवित्रतारूप फलकी प्राप्ति होती है। इसी तरह स्वपिताको स्वर्गप्राप्ति करा देनारूप फलके उद्‌देश्यसे श्राद्ध कर्मका विधान कर्ता पुत्रके लिए किया जाता है। श्राद्धकर्म करनेवाले कर्ता पुत्रको स्वपिताके लिए स्वर्गप्राप्ति करा देनारूप फलकी प्राप्ति होती है।

यह आत्मा देखनेवाली, स्पर्श करनेवाली, सुननेवाली, सूँघनेवाली, रस ग्रहण करनेवाली, मननकरनेवाली, ज्ञाता (जाननेवाली), कर्ता और विज्ञान स्वरूप है- **एष हि द्रष्टा स्प्रष्टा श्रोता घ्राता रसयिता मन्ता बोद्धा कर्ता विज्ञानात्मा पुरुषः**।(प्र.उ.४.९), स्वप्नद्रष्टा पुरुष अपने शरीरमें इच्छानुसार संचरण करता है-**स्वशरीरे यथाकामं परिवर्तते**।(बृ.उ.२.१.१८), आत्मा यज्ञादि शास्त्रीय तथा लौकिक कर्मोंको करता है-**विज्ञानं यज्ञं तनुते, कर्माणि तनुतेऽपि च**।(तै.उ.२.५.१) इत्यादि वचनोंसे आत्माके कर्तृत्वका प्रतिपादन किया जाता है। इस तैत्तिरीय श्रुतिमें आया विज्ञान पद अन्तःकरण(बुद्धि) का वाचक नहीं है क्योंकि करणका वाचक होनेपर 'विज्ञानेन' इस प्रकार तृतीया विभक्ति होनी चाहिए, किन्तु यहाँ प्रथमा विभक्ति है। **यो विज्ञाने तिष्ठन्**(बृ.उ.३.७.२६) इस काण्व

शाखावाले पाठके स्थान पर माध्यन्दिन शाखावाले पाठमें **य आत्मनि तिष्ठन्**(बृ.उ.३.७.२६) है। इससे विज्ञानशब्द कर्ता आत्मा का ही बोधक सिद्ध होता है।

आत्माके कर्तृत्व-भोक्तृत्वकी सिद्धि अहं कर्ता, अहं भोक्ता इस प्रत्यक्ष अनुभवसे भी होती है। अतः प्रकृति कर्ता है, आत्मा अकर्ता है। यह कथन पूर्वोक्त शास्त्रवचनसे तथा 'मैं इसे जानता हूँ'- 'अहमिदं जानामि' इस अनुभव की तरह होनेवाले 'मैं इसे करता हूँ- अहमिदं करोमि, इस प्रत्यक्ष अनुभवसे बाधित है। इस अनुभवसे ज्ञानके समान कर्तृत्व(कृतिमत्व) भी आत्माका धर्म सिद्ध होता है। यहाँ यदि कोई ऐसी शंका करे कि तब तो 'अहं स्थूलः', 'अहं काणः' इस प्रत्यक्ष अनुभवसे आत्माको स्थूल और काना भी मानना होगा। इसका उत्तर यह है कि स्थूलत्व और काणत्व तो अन्वयव्यतिरेकके द्वारा शरीर और नेत्रके धर्म सिद्ध हो जाते हैं। यह बात सभी आस्तिकोंको समान रूपसे मान्य है, इसलिए स्थूलत्व और काणत्व आत्माके धर्म न होनेसे आत्माको स्थूल या काना माननेकी शंका नहीं रहती है।

शंका- कर्तृत्व अन्तःकरणका ही स्वाभाविक धर्म है, आत्माका औपाधिक धर्म है। जिस प्रकार स्फटिक स्वच्छ होनेपर भी जपाकुसुम(गुड़हल)के सन्निहित होनेपर रक्त प्रतीत होती है, उसी प्रकार आत्मा कर्तृत्वादिसे रहित होनेपर भी अन्तःकरण उपाधिके सन्निहित होनेपर कर्ता प्रतीत होती है। स्फटिकमें जैसे रक्त वर्ण आरोपित है, वैसे ही आत्मामें कर्तृत्वादि आरोपित हैं।

समाधान- यह कथन समुचित नहीं है क्योंकि जपाकुसुम उपाधिमें पहलेसे रक्त वर्ण विद्यमान है किन्तु अन्तःकरण उपाधिके जड़ होनेके कारण उसमें कर्तृत्व है ही नहीं। जब उपाधिमें ही कर्तृत्व नहीं है,

तब तो उसके सम्बन्धसे आत्मामें औपाधिक कर्तृत्वको नहीं मान सकते हैं। चेतन आत्माके सम्बन्धके विना अन्तःकरणमें कर्तृत्व स्वीकार करने पर चेतनको माननेकी आवश्यकता नहीं रहेगी और ऐसा होनेपर चार्वाक विजयी होगा क्योंकि उसके मतमें जड़ पदार्थ कर्ता होता है।

शंका- केवल अन्तःकरण कर्ता नहीं है, केवल आत्मा कर्ता नहीं है बल्कि अन्तःकरणविशिष्ट आत्मा उसी प्रकार कर्ता होती है, जिस प्रकार केवल लेखनी लेखक(लेख का कर्ता) नहीं होती है, केवल देवदत्त लेखक नहीं होता है बल्कि लेखनी विशिष्ट देवदत्त लेखक होता है।

समाधान- यह कथन भी अनुचित है क्योंकि विचार करने पर करणत्व लेखनीमें तथा लेखकत्व देवदत्तमें ज्ञात होता है, उसी प्रकार करणत्व अन्तःकरणमें तथा कर्तृत्व आत्मामें ज्ञात होता है। अतः इस दृष्टान्तके द्वारा भी आत्मामें कर्तृत्वका अभाव सिद्ध नहीं होता है।

शंका- जिस प्रकार दाहकत्व अग्निमें है, अयोगोलक(लौहपिण्ड) में नहीं किन्तु अग्निका सम्बन्ध होनेपर 'अयोगोलक जलाता है' ऐसा व्यवहार होता है। उसी प्रकार कर्तृत्व अन्तःकरणमें है, आत्मामें नहीं किन्तु अन्तःकरणका सम्बन्ध होनेपर 'आत्मा कर्ता है' ऐसा व्यवहार होता है। जैसे अयोगोलकमें दाहकत्वका आरोप होता है, वैसे ही आत्मामें कर्तृत्वका आरोप होता है।

समाधान- यह कथन भी पूर्ववत् असिद्ध है क्योंकि जैसे अग्निमें दाहकत्व है, वैसे अन्तःकरणमें कर्तृत्व नहीं है। उपाधिमें कर्तृत्व न होनेसे उसके सम्बन्धसे आत्मामें कर्तृत्वका आरोप नहीं हो सकता है।

शंका- जैसे केवल स्त्री सन्तानको उत्पन्न नहीं करती है, केवल पुरुष सन्तानको उत्पन्न नहीं करता है किन्तु दोनों मिलकर सन्तानको उत्पन्न करते हैं। वैसे ही केवल अन्तःकरण कर्ता नहीं होता है, केवल आत्मा कर्ता नहीं होती है। दोनों मिलकर कर्ता होते हैं।

समाधान- यह कथन भी उचित नहीं है क्योंकि यदि स्त्री और पुरुष दोनों नपुंसक हों अथवा कोई एक नपुंसक हो, तो सन्तान उत्पन्न नहीं कर सकते हैं। जो सन्तानको उत्पन्न करते हैं, उन दोनोंमें सन्तानको उत्पन्न करनेकी योग्यतारूप विशेषता अवश्य रहती है किन्तु यहाँ अन्तःकरण और आत्मा इन दोनोंमें ही कोई योग्यतारूप विशेषता मान्य नहीं है। मानने पर आत्मा सविशेष सिद्ध होगी और ऐसा होनेपर निर्विशेषवाद खण्डित हो जाएगा, अतः आत्माके आरोपित कर्तृत्वका प्रतिपादन नहीं हो सकता है। आत्माका कर्तृत्व स्वाभाविक ही है। आत्मामें कर्तृत्व न स्वीकार करके अन्तःकरण और आत्माको मिलाकर कर्तृत्व स्वीकार करने पर असत्कार्यवाद स्वीकार करना होगा तथा चार्वाक विजयी हो जायेगा क्योंकि जैसे अन्तःकरण और आत्मा इन दोनोंमें कर्तृत्वका सर्वथा अभाव होनेपर भी मिलने पर कर्तृत्व हो सकता है, वैसे ही चारों भूतोंमें अलग-अलग चेतनत्व न होनेपर भी मिले हुए भूतोंमें हो सकता है, ऐसा चार्वाक भी कहता है। विवर्तवादीके मतमें कर्तृत्व कल्पित(कल्पनाजन्य) है। कल्पितपदार्थ कल्पक(कल्पना करनेवाला)की कल्पनाके विना नहीं हो सकता है, अतः इस कर्तृत्वका कल्पक कौन है? इस प्रश्नका उत्तर देना चाहिए यदि वे कहें कि हम तो अनादि कल्पित कर्तृत्व मानते हैं, तो यह उत्तर प्रश्नके अनुरूप नहीं है क्योंकि कर्तृत्व कबसे है, यह प्रश्न हमने नहीं किया फिर भी कर्तृत्वको अनादि कल्पित मानने पर अनादि कल्पक भी मानना

होगा, जड़ कल्पक नहीं हो सकता है, अतः अनादि कल्पनाका कर्ता चेतन ही मानना पड़ेगा।

शंका- कर्म सभी प्रकारसे प्रकृतिके सत्त्वादि गुणोंके द्वारा किये जाते हैं किन्तु अहंकार(देहात्मबुद्धि)से विमूढ़ात्मा(अज्ञात आत्मस्वरूपवाला मनुष्य) 'मैं कर्ता हूँ' इस प्रकार अपनेको कर्ता मान लेता है- **प्रकृतेः क्रियमाणानि गुणैः कर्माणि सर्वशः, अहंकार विमूढात्मा कर्ताहमिति मन्यते।**(गी.३.२७) इस वचनके द्वारा प्रकृतिके गुणोंका ही कर्तृत्व कहा जाता है, आत्माका कर्तृत्व नहीं कहा जाता, अतः आत्माको कर्ता मानना उचित नहीं है।

समाधान- ज्ञानकी तरह कर्तृत्व आत्मा का ही धर्म है। यह कर्तृत्व सभी कर्मोंका साधारण कारण है। सत्त्व आदि गुणोंकी उत्कर्षताके कारण होनेवाले कर्म भिन्न-भिन्न प्रकारके होते हैं। उन कर्मोंके प्रति प्रकृतिके गुणविशेष ही असाधारण कारण होते हैं- **सांसारिकप्रवृत्तिषु जीवस्य कर्तृत्वं सत्त्वादिगुणसंसर्गकृतम्, न स्वरूपप्रयुक्तम्।**(ब्र.सू.आ. भा.२.३.३४) इसलिए प्रकृतिके गुणविशेषके द्वारा किये जानेवाले कर्मोंमें गुणोंकी हेतुताको न समझकर जो केवल आत्माको कर्ता मानता है, उसके प्रति "अहंकार विमूढात्मा" यह वचन प्रवृत्त होता है। गीताके निम्नवचनोंसे यह अभिप्राय प्रकट होता है- मनुष्य मन, वाणी और कर्मके द्वारा जो विहित अथवा निषिद्ध कर्मों को करता है। उनमें अधिष्ठान(शरीर), कर्ता(जीवात्मा), मनसहित कर्मेन्द्रियाँ, विविध प्रकारकी पृथक् पृथक् चेष्टाएं और पाँचवाँ दैव(परमात्मा) ये पाँच हेतु होते हैं। ऐसा होनेपर भी जो केवल आत्माको कर्ता समझता है। वह दुर्मति अकृतबुद्धि होनेके कारण नहीं समझता है- **अधिष्ठानं तथा कर्ता करणं च पृथक्विधम्। विविधाश्च पृथक् चेष्टा दैवं चैवात्र पञ्चमम्।।शरीरवाङ्मनोभिर्यत्कर्म प्रारभते नरः। न्याय्यं वा विपरीतं वा पञ्चैते तस्य हेतवः।। तत्रैवं सति कर्तारमात्मानं**

केवलं तु यः। पश्यत्यकृतबुद्धित्वान्न स पश्यति दुर्मतिः।।(गी.१८.१४-१६) एक कार्यकी निष्पत्तिमें शरीरेन्द्रियादि पाँचों साधनोंकी अनिवार्यताको कहकर केवल आत्मामें कर्तृत्व जाननेवालेको दुर्मति(न जाननेवाला) कहा गया है। लेखनादि कार्यके प्रति कागज, स्याही तथा लेखनी आदिकी अनिवार्यतामात्रसे पुरुषके लेखनकर्तृत्वका निराकरण नहीं किया जा सकता है। इसलिए उक्त श्लोकोंमें आत्माका कर्ता पदसे ही निर्देश किया गया है। इस प्रकार कर्तृत्व आत्माका ही धर्म सिद्ध होता है। शरीरादि पाँचोंकी अपेक्षा रखनेवाले तथा गुणोंके वैषम्यके अनुसार होनेवाले सांसारिक कर्मोंमें जो कारणान्तरकी अपेक्षाको न मानकर केवल आत्माको ही कर्ता मानता है। उस अकृतबुद्धि मनुष्यका विनाश हो जाता है।

प्रकृतिके कार्य, देव, मनुष्य, पशु आदिके भिन्न-भिन्न प्रकारके शरीरों तथा नेत्रादि बाह्येन्द्रियों एवं मनके साथ मिलकर होनेवाली भिन्न-भिन्न प्रकारकी क्रियाओंका कर्तृत्व केवल आत्मामें नहीं है किन्तु प्रकृतिके कार्य शरीर, इन्द्रियादिका होनेसे प्राकृत(प्रकृतिका) है। इस अभिप्रायसे गीता आदि शास्त्रोंमें इस कर्तृत्वको कहीं प्रकृतिका, कहीं गुणोंका और कहीं इन्द्रियोंका धर्म कहा गया है तथा इस कर्तृत्वको केवल आत्मामें मानने वालेकी निन्दा तथा केवल आत्मामें न मानने वालेकी प्रशंसाकी गयी है।

जैसे तेजका प्रकाश धर्म स्वाभाविक होनेपर भी नील, हरित, रक्त आदि प्रकाश स्वाभाविक नहीं हैं किन्तु शीशा आदि उपाधिके कारण हैं। वैसे ही आत्माका स्वरूपानुरूप, इन्द्रियनिरपेक्ष ज्ञानके प्रसारका कर्तृत्व स्वभाविक होनेपर भी पुण्यपापके जनक सांसारिक कर्मोंका कर्तृत्व स्वाभाविक नहीं है। बल्कि पूर्वकर्ममूलक सत्त्वादिगुणमयी प्रकृतिके कार्य देहेन्द्रियप्राणका संसर्गरूप उपाधिके कारण है। यह **प्रकृतेः क्रियमाणानि** इत्यादि श्लोकोंका तात्पर्य है।

बद्धजीवके ज्ञानका प्रसार इन्द्रियद्वारा होता है। इन्द्रियसापेक्ष ज्ञानके प्रसारका कर्तृत्व भी आत्माका स्वरूपतः नहीं है। यह भी कर्मरूप निमित्त(उपाधि)के कारण है- **ज्ञानप्रसरे तु कर्तृत्वम् अस्ति एव तच्च न स्वाभाविकम् अपितु कर्मकृतम्।**(श्रीभा.१.१.१)। सिद्धान्तमें आत्माका लौकिक कर्मों के प्रति जो औपाधिक(नैमित्तिक)कर्तृत्व कहा गया है, वह निर्विशेषाद्वैत सिद्धान्तमें प्रतिपादित औपाधिक कर्तृत्वसे भिन्न है। निर्विशेषाद्वैत मत के अनुसार उपाधिनिष्ठ कर्तृत्व चेतनका संसर्ग होनेपर चेतनमें प्रतीत होता है किन्तु उपाधिमें ही इसे विद्यमान न होनेसे चेतन आत्मामें औपाधिक कर्तृत्वका निराकरण पूर्वमें किया जा चुका है। सिद्धान्तमें उपाधिके कारण आत्मामें होनेवाला कर्तृत्व औपाधिक कहा जाता है। आत्माश्रित धर्मभूतज्ञान कृतिरूप होता है। कृतिका आश्रय आत्मा होती है। इस प्रकार कृत्याश्रयत्वरूप कर्तृत्व आत्माका होता है। आत्मामें पुण्य-पापके जनक कर्मों का तथा इन्द्रियसापेक्ष ज्ञानके प्रसारका कर्तृत्व उपाधि के कारण होनेसे औपाधिक कहलाता है। उपाधिके न होनेपर धर्मभूतज्ञानका विषय ब्रह्मानन्द होता है, इसलिए सिद्धान्तमें आत्मामें विद्यमान ब्रह्मानुभवका कर्तृत्व स्वाभाविक माना जाता है। ब्रह्मसाक्षात्कारसे अविद्यात्मक कर्म निवृत्त हो जानेसे तन्मूलक प्रकृतिके साथ संसर्ग नहीं होता है। इस प्रकार उपाधिके न रहनेसे औपाधिक कर्तृत्व भी नहीं रहता है। ब्रह्मानुभवके प्रति आत्माका जो स्वाभाविक कर्तृत्व है, वह कभी भी निवृत्त नहीं होता है। श्रुतिप्रतिपादित परम पुरुषार्थ ब्रह्मानुभवरूप मोक्षसे वञ्चित रहनेवाले लोग आत्मामें कभी भी कर्तृत्व स्वीकार नहीं कर सकते हैं। आत्मामें कर्तृत्वरूप विकारको मानने पर आत्मा विकारी हो जायेगा। यह शंका भी व्यर्थ है क्योंकि कर्तृत्व विकार नहीं है, वह तो उसका सामर्थ्य

यदि कोई आत्माको मारनेवाली मानता है और आत्माको मरा हुआ मानता हैं, वे दोनों ही नहीं जानते हैं क्योंकि यह आत्मा न तो मारती है और न ही मरती है- **हन्ता चेन्मन्यते हन्तुं हतश्चेन्मन्यते हतम्। उभौ तौ न विजानीतो नायं हन्ति न हन्यते।।**(क.उ.१.२.१९) यह श्रुति आत्माकी नित्यताका प्रतिपादन करनेके लिए 'आत्मा हनन क्रियाका कर्ता और हनन क्रियाका कर्म नहीं है' इस अर्थका बोध कराती है। यह आत्माके कर्तृत्वमात्रके अभावका प्रतिपादन नहीं करती है। इसलिए आत्मामें हनन क्रियाके कर्तृत्व तथा हनन क्रियाके कर्मत्वका 'नायं हन्ति न हन्यते' इस प्रकार निषेध किया जाता है।

शंका- आत्मा सङ्ग रहित है- **असङ्गो ह्ययं पुरुषः**(बृ.उ.४.३.१५) इस श्रुतिके बलसे हम आत्मामें कर्तृत्व स्वीकार नहीं करते हैं। आत्माका कर्तृत्व स्वीकार करने पर उक्त वचनकी क्या गति होगी?

समाधान- आत्मा स्वरूपतः शुद्ध ही है। वह कर्मकृत प्रकृतिसंसर्गके कारण संसरण करता है। इस कारणसे संसरण औपाधिक है। पुरुष स्वरूपतः असंग है- **असङ्गो ह्ययं पुरुषः** इस वचनसे स्वरूपतः शुद्ध आत्मा कही जाती है। श्रुतिसिद्ध स्वाभाविक कर्तृत्वका निषेध नहीं किया जाता है। श्रुतिसिद्ध आत्माके विशेषण उसकी असंगताके विरोधी नहीं हैं। औपाधिक कर्तृत्व, भोक्तृत्व, सुखित्व, दुःखित्व आदिका आत्मामें स्वरूपतः अभाव कहा जाता है।

अन्तःकरणका सम्बन्ध होनेपर 'मैं कर्ता हूँ' , 'मैं भोक्ता हूँ' इस प्रकार आत्माका कर्तृत्व-भोक्तृत्व सबके अनुभवसे सिद्ध है तथा अन्तःकरणका सम्बन्ध न होनेपर सुषुप्ति, मूर्च्छा और समाधिमें आत्माके कर्तृत्व, भोक्तृत्वका अभाव भी सबके अनुभवसे सिद्ध है। दो प्रकारके परस्पर विरुद्ध अनुभवोंके कारण यह संशय उत्पन्न

होता है कि आत्मामें कर्तृत्व-भोक्तृत्व आरोपित हैं, या आरोपित नहीं हैं। अकर्तृत्व-अभोक्तृत्व स्वाभाविक हैं या अन्तःकरण आदि उपाधियोंके अभावके कारण हैं। सुषुप्ति आदि अवस्थाओंमें अन्तःकरणका सम्बन्ध न रहनेके कारण कर्तृत्व-भोक्तृत्वकी प्रतीति न होने मात्रसे कर्तृत्व-भोक्तृत्वको अन्तःकरणमें ही मानना उसी प्रकार उपहासके योग्य है, जिस प्रकार लेखनीरूप साधनका अभाव होनेपर पुरुषमें लेखकत्व न मानकर लेखनीको ही लेखक मान लेना अथवा काष्ठ आदिमें विद्यमान अदृश्य अग्निमें दाहकत्व न देखकर काष्ठ आदि दाह्य पदार्थोंको ही दाहक मान लेना। यदि कहा जाय कि अन्वय-व्यतिरेकसे काष्ठमें दाह्यत्व तथा लेखनीमें करणत्व सिद्ध हो जानेसे काष्ठको दाहक और लेखनीको लेखक नहीं माना जा सकता है, तो यह युक्ति यहाँ भी समानरूपसे चरितार्थ होती है। अन्तःकरणमें करणत्व है, उसमें कर्तृत्व नहीं हो सकता है क्योंकि कर्ता सदा करणसे भिन्न ही होता है। **दृश्यते त्वग्र्यया बुद्धया**(क.उ. १.३.१२), **मनसैवानुद्रष्टव्यम्**।(बृ.उ.४.४.१९), **शरीरवाङ्मनोभिर्यत् कर्म प्रारभते नरः**(गी.१८.१५) ये वचन मनको स्पष्टरूपसे करण कहते हैं, अतः वह कर्ता नहीं हो सकता है। सुषुप्ति तथा समाधिमें कर्तृत्वकी अनुभूति न होनेका कारण बुद्धिरूप साधनका अभाव ही है। अन्यथा यदि बुद्धिके होनेपर कर्तृत्वकी अनुभूति होने और बुद्धिके न होनेपर कर्तृत्वकी अनुभूति न होने मात्रसे यदि कर्तृत्वको बुद्धिका धर्म माना जाय तो विवर्तवादियोंको कूटस्थत्व और ब्रह्मत्व आदिको भी बुद्धिका धर्म मानना होगा क्योंकि बुद्धिके होनेपर ही इनकी अनुभूति होती है, न होनेपर नहीं होती। इस विवेचनसे यह निष्कर्ष निकलता है कि कर्तृत्व-भोक्तृत्व आत्मामें आरोपित नहीं हैं। आत्माका यावत् आत्मभावी कर्तृत्व स्वीकार करने पर ही शास्त्रकी अर्थवत्ता होती है। मुक्त अकर्मवश्य होता है- **स स्वराड् भवति**।(छां.

उ.७.२५.२), मुक्तका सभी लोकोंमें संचरण होता है- **तस्य सर्वेषु लोकेषु कामचारो भवति।**(छां.उ.७.२५.२), संकल्पमात्रसे अभीष्ट पदार्थ मुक्तोंको प्राप्त होते हैं, यह अर्थ **संकल्पादेवास्य**(छां.उ.८.२.१) इस श्रुतिसे ज्ञात होता है। पूर्वोक्त श्रुतिया तथा **संकल्पादेव तच्छ्रुतेः।**(ब्र.सू.४.४.८) यह सूत्र मोक्षावस्थामें भी आत्माके कर्तृत्वके बोधक हैं। ब्रह्मसूत्रके **कर्त्रधिकरण**(ब्र.सू.२.३.५)में भी जीवात्माके ज्ञातृत्वके समान कर्तृत्वको भी स्वाभाविक कहा जाता है। **कर्ता शास्त्रार्थवत्त्वात्** (ब्र.सू.२.३.३३) इस सूत्रसे आत्माके कर्तृत्वरूप साध्यमें शास्त्रार्थवत्त्वरूप हेतु कहकर **उपादानाद् विहारोपदेशाच्च**(ब्र.सू.२.३.३४) इत्यादि सूत्रोंसे पूर्वोक्त विषयका सुदृढ़ प्रतिपादन करके **यथा च तक्षोभयथा** (ब्र.सू.२.३.३९) इस प्रकार दृष्टान्त कहा जाता है। जिस प्रकार तक्षा(बढ़ई) करनेवाला तथा न करनेवाला उभय प्रकारवाला होता है, उसी प्रकार आत्मा करनेवाली तथा न करनेवाली इन दोनों प्रकारकी होती है। स्वाभाविक कर्तृत्व शक्तिसे युक्त आत्माका कभी कर्ता होना और कभी कर्ता न होना कैसे संभव होता है? इस प्रश्नका उत्तर तक्षा दृष्टान्तसे दिया गया है। जैसे स्वाभाविक कर्तृत्व शक्तिसे युक्त तक्षा वसूला आदि साधनोंके होनेपर स्वेच्छासे कभी कर्ता तथा साधनोंके न होनेपर अकर्ता इन दोनों प्रकारवाला होता है। वैसे ही स्वाभाविक कर्तृत्व शक्तिसे युक्त आत्मा स्वेच्छासे कभी कर्ता कभी अकर्ता इन दोनों प्रकारवाली होती है। इस सूत्रमें दिये गये दृष्टान्तसे आत्मामें आरोपित कर्तृत्व कभी भी सिद्ध नहीं हो सकता है क्योंकि तक्षाका कर्तृत्व न तो अज्ञानजन्य है और न ही ज्ञानबाध्य है, केवल साधनसापेक्ष है। कहनेका तात्पर्य यह है कि जैसे व्यक्तिका लेखकत्व लेखनीरूप साधनसापेक्ष होनेपर भी व्यक्तिमें ही है, लेखनीमें नहीं। लेखनी तो करणमात्र है। वैसे ही कर्तृत्व करणसापेक्ष होनेपर भी आत्मामें ही

है। करण(बुद्धि)में नहीं। यदि कहा जाय कि जैसे लेखकसे लेखनीको पृथक् करके दिखाया जा सकता है, वैसे कर्ताके स्वरूपमें प्रविष्ट होनेके कारण कर्तासे पृथक् करके बुद्धिको नहीं दिखाया जा सकता है। अतः दृष्टान्त ठीक नहीं है, तो यह कथन भी ठीक नहीं है क्योंकि पूर्वोक्त विवेचनसे आत्मा ही कर्ता सिद्ध हो चुका है। अतः कर्ताके स्वरूपमें बुद्धिका प्रवेश न होनेसे वह कर्तासे भिन्न करण ही है, कर्ता नहीं है। इस विषयके परिज्ञानके लिए गीताभाष्य ३.२७, ३.२६-३०, ५.८, ५.६-१४, १३.२०, १३.२६, १४.१६, १८.१६ तथा उसकी टीकाओंका मनोयोगपूर्वक अध्ययन करना चाहिए।

परमात्माधीनकर्तृत्व- जीवात्माका कर्तृत्व परमात्माके अधीन है। यह श्रुतिप्रमाणसे सिद्ध होता है- **परात्तु तच्छ्रुतेः**(ब्र.सू.२.३.४०) परमात्मा सभी जीवात्माओंके अन्दर प्रविष्ट होकर उन पर शासन करते हैं, इसलिए सबके आत्मा हैं- **अन्तःप्रविष्टः शास्ता जनानां सर्वात्मा**।(तै. आ.३.११.३), परमात्मा जीवात्माके अन्दर रहकर उसका नियमन करते हैं- **य आत्मानम् अन्तरो यमयति**।(बृ.उ.मा.पा.३.७.२६) इससे सिद्ध होता है कि परमात्मा कारयिता अर्थात् करानेवाले हैं। जीवात्मा कर्ता अर्थात् करनेवाला है। कारयिता होनेसे परमात्मा प्रेरक कहलाते हैं। जीवमें जो कर्तृत्व ज्ञात होता है, वह परमेश्वराधीन है तथा सांसारिक कर्मोंका कर्तृत्व औपाधिक है- **जीवे यत् कर्तृत्वम् आभाति, तत्परमेश्वराधीनम् औपाधिकं च**।(बृ.उ.आ.भा.४.३. ७),**जीवस्य कर्तृत्वम् परमात्मायत्तम् इति सांसारिककर्मकर्तृत्वम् औपाधिकम् इति च दर्शितम्**।(बृ.उ.रं.भा.४.३.७)।

शंका- यदि जीवके द्वारा किये जानेवाले पुण्यपापके जनक कर्मोंका प्रेरक परमात्मा है, तो जीव कठपुतलीके समान सिद्ध होता है। ऐसा होनेपर अत्यन्त परतन्त्र जीवके प्रति विधिनिषेध शास्त्र कैसे सार्थक होंगे?

समाधान- इस शंकाका समाधान करते हुए सूत्रकार व्यासजी कहते हैं- पूर्वजन्ममें किये गये पुण्यपापात्मक कर्मोंकी अपेक्षा रखकर ही परमात्मा जीवोंको नूतनकर्म करनेका सामर्थ्य और शरीरादि साधन प्रदान करके कर्म कराते हैं- **कृतप्रयत्नापेक्षस्तु विहितं प्रतिषिद्धाऽवैयर्थ्यादिभ्यः**(ब्र.सू.२.३.४१) इसलिए विधिनिषेधशास्त्र सार्थक हैं, निरर्थक नहीं हैं। जिस प्रकार सभी कार्योंके प्रति साधारणकारण काल और अदृष्ट जीवात्माके कर्तृत्व(ज्ञान, इच्छा और प्रयत्न)के प्रति कारण होते हैं। उसी प्रकार सभी कार्योंके प्रति साधारण कारण परमात्मा भी जीवके कर्तृत्वके प्रति कारण होते हैं। सामान्य कारण होनेसे ही चेतन परमात्मा प्रेरक कहा जाता है। प्रलयकालमें देहेन्द्रियसे रहित जीव होता है। सृष्टिकालमें उसे देहादि और सामर्थ्य को प्रदान करके उसकी आद्यप्रवृत्तिमें परमात्मा हेतु होते हैं। यहाँ देहादि और सामर्थ्य को प्रदान करना ही आद्यप्रवृत्तिमें परमात्माका हेतुत्व है। परमात्मासे प्राप्त सामर्थ्यवाला जीव भी पूर्ववासनाके अनुरूप इष्ट और अनिष्ट फल तथा उनके साधनको जानकर कार्यमें प्रवृत्त होता है। इस प्रकार अपनी बुद्धि और रुचिपूर्वक प्रवृत्ति करनेके कारण जीवका पराधीन कर्तृत्व सम्भव होता है। इस प्रकार विधिनिषेध शास्त्र सार्थक सिद्ध होते हैं। द्वितीयादि प्रवृत्तियोंमें श्रीभगवान् अनुमन्ता होते हैं। विहित विषयमें प्रवृत्त व्यक्तिका अनुमोदन करते हैं और निषिद्धविषयमें प्रवृत्त व्यक्तिकी उपेक्षा करते हैं। जीव स्वेच्छासे आरम्भिक प्रवृत्ति करता है, उसकी द्वितीयादि प्रवृत्तियों में ईश्वरकी अनुमतिकी अपेक्षा होती है। इस प्रकार विधिनिषेध शास्त्र सार्थक होते हैं।

जैसे भिन्न-भिन्न प्रकारकी योग्यता वाले गेहूँ, चना, धान आदि बीज नूतन अंकुरकी उत्पत्तिमें जल और मिट्टीके अधीन होते हैं क्योंकि जल और मिट्टीकी सहायताके विना वे बीज नूतन अंकुर

उत्पन्न नहीं कर सकते हैं किन्तु भिन्न-भिन्न प्रकारके अंकुर, शाखा, पुष्प तथा फल उत्पन्न करनेमें उनकी भिन्न-भिन्न प्रकारकी योग्यता ही कारण होती है। जल और मिट्टी तो उनमें निमित्तमात्र होते हैं। उसी प्रकार परमपुरुषकी सहायताके विना अर्थात् उनके द्वारा उचित देशकाल तथा शरीरादि साधनरूप सहायता प्राप्त किये विना जीव नूतन कार्य नहीं कर सकता है। इस दृष्टिसे जीव ईश्वरके अधीन ही है, फिर भी भिन्न-भिन्न प्रकारके नूतन कर्म करनेमें जन्मान्तरकृतकर्मजन्य स्वभाव ही कारण है, परमपुरुष तो उनमें निमित्तमात्र है। अतः ईश्वरप्रदत्त शरीरादि साधनके विना जीव कुछ भी करनेमें समर्थ नहीं है। इस दृष्टिसे जीवका कर्तृत्व ईश्वरके अधीन है। ईश्वरके द्वारा शरीरादिसाधनसम्पन्न होनेपर वह कार्य करनेमें स्वतन्त्र है। अतः विधिनिषेधात्मक शास्त्र सार्थक हैं, निरर्थक नहीं हैं। यद्यपि मनुष्य स्वभावके अनुसार ही सभी कार्य करता है, फिर भी रागद्वेषके सहायक होनेपर ही ऐसा कर पाता है। रागद्वेष सहायक न होनेपर स्वभावके अनुसार कार्य नहीं होता है। जैसे सिंहका स्वभाव हिंसा करनेका है, फिर भी वह द्वेषरूप सहायकका अभाव होनेसे तथा ममतारूप बाधक होनेसे भूखा होनेपर भी अपने बच्चेकी हिंसा नहीं करता है, वैसे ही शास्त्रीय विधि-निषेधके ज्ञान द्वारा सहयोगी रागद्वेषके वशमें न होनेसे जीव शास्त्रविहित कर्मोंको करता है तथा निषिद्ध कर्मोंसे उपरत रहता है। इस प्रकार जीव पराधीन होनेपर भी शास्त्रीय मार्गका अनुसरण करके अपना जीवन कृतार्थ कर सकता है।

शंका– जीवका पराधीन कर्तृत्व स्वीकार करने पर **स्वतन्त्रः कर्ता**(अ. सू.१.४.५४) इस पाणिनीय अनुशासनसे विरोध होता है।

समाधान– ऐसी शंका करना उचित नहीं है क्योंकि महर्षि पाणिनिने ही **तत्प्रयोजको हेतुश्च**(अ.सू.१.४.५५) सूत्र बनाया है। इस सूत्रके

द्वारा स्वतन्त्र कर्ताके प्रयोजक(प्रेरक)को हेतु और कर्ता कहा जाता है, अतः पाणिनीय-अनुशासनके अनुसार प्रयोजक कर्ताके द्वारा प्रेरित प्रयोज्य कर्ताकी आपेक्षिक स्वतन्त्रता मानकर कर्ता संज्ञा की गयी है। यही सूत्रकार व्यासजीको भी **परात्तु तच्छ्रुतेः**(ब्र.सू.२.३.४०) इस सूत्रसे अभिमत है, अतः कोई विरोध नहीं होता है। इतरकारकों की अपेक्षा कर्ता की स्वतन्त्रता होती है किन्तु परमात्मा की अपेक्षा कर्ता की परतन्त्रता होती है। जैसे राजा के द्वारा प्रेरित मन्त्री और अधिकारी स्वतन्त्रता से कार्य करते हैं, वैसे ही ईश्वर से प्रेरित जीव भी कार्य करता है। **अन्तःप्रविष्टः शास्ता जनानां सर्वात्मा**(तै.आ.३.११.३), **य आत्मानमन्तरो यमयति।**(बृ.उ.मा.पा.३.७.२६) इत्यादि प्रमाणों से ईश्वर का प्रयोजक कर्तृत्व कहा जाता है। उसी ईश्वर से प्राप्त हुए सामर्थ्य वाले जीवका भी प्रयोज्य कर्तृत्व है। जीवात्मा के इस कर्तृत्व को ही **कर्ता शास्त्रार्थवत्वात्**(ब्र.सू.२.३.३३) इस सूत्र से कहा जाता है।

शंका- जीव का कर्तृत्व परमात्माधीन स्वीकार करने पर पुण्यपाप भी परमात्मा को होने चाहिए। जैसे- धनुषधारी के द्वारा निषिद्ध हिंसा पर उसको ही पाप होता है, बाण को नहीं।

समाधान- यह कहना उचित नहीं है क्योंकि परमात्मा सूर्य के प्रकाश की तरह सबके लिए समान है। मनुष्य बीजांकुरन्याय से अनादिकालसे प्रवृत्त पुण्यपापरूप कर्मों के कारण उस प्रकाश की सहायता से चाहे पुण्य करे या पाप करे, उसमें मनुष्यों की बुद्धि ही नियामिका होती है। मनुष्य बाण की तरह जड़ नहीं है, अतः वह बुद्धि के तारतम्य के अनुसार कर्मों में प्रवृत्त होता है। इस कारण प्रयत्न के तारतम्य से होने वाला फलका तारतम्य मनुष्य की बुद्धि से जन्य होता है, अतः बाणन्याय यहाँ प्रवृत्त नहीं होता है। इस प्रकार परमात्मा को कार्यमात्र के प्रति सामान्यकारण होनेसे

उनमें वैषम्य, नैर्घृण्य(निर्दयता) दोष भी नहीं है। परमात्मा जिसे ऊपर ले जाने की इच्छा करते हैं, उससे शुभ कार्य कराते हैं- **एष ह्येवैनं साधु कर्म कारयति तं, यमेभ्यो लोकेभ्यः उन्निनीषति।**(कौ.उ. ३.६४) तथा जिसे नीचे ले जाने की इच्छा करते हैं, उससे ये ही अशुभ कर्म कराते हैं- **एष ह्येवैनमसाधु कर्म कारयति तं यमधो निनीषति।**(कौ.उ.३.६५) यह श्रुति अधिकारी विशेष के विषय में है। जो जीव श्रीभगवान् की आज्ञा का सर्वथा पालन करते हुए शुभकर्मों में प्रवृत्त होता है, उसे ऊपर ले जाने की इच्छा करते हैं और शुभ कर्म कराते हैं। जो उनकी आज्ञा के विरुद्ध अशुभ कर्मों में प्रवृत्त होता है, उसे वे नीचे ले जाना चाहते हैं और अशुभ कर्म कराते हैं। यहाँ भी ईश्वर की इच्छा जीव के पूर्वकर्ममूलक ही है। मुझमें निरन्तर लगे हुए भजन करने वालों को मैं प्रीतिपूर्वक उस बुद्धियोगको प्रदान करता हूँ, जिससे वे मुझे प्राप्त हो जाते हैं। उन पर अनुग्रह करने के लिए आत्मभावसे स्थित होकर अज्ञानजन्य विषयप्रावण्यरूप तमका नाश कर देता हूँ- **तेषां सततयुक्तानां भजतां प्रीतिपूर्वकम्। ददामि बुद्धियोगं तं येन मामुपयान्ति ते।। तेषामेवानुकम्पार्थमहमज्ञानजं तमः। नाशयाम्यात्मभावस्थो ज्ञानदीपेन भास्वता।।**(गी.१०.१०-११), द्वेषकरने वाले, क्रूर, अशुभ उन नराधमों को संसार में निरन्तर आसुरी योनियों में गिराता हूँ- **तानहं द्विषतः क्रूरान् संसारेषु नराधमान्। क्षिपाम्यजस्रमशुभानासुरीष्वेव योनिषु।।**(गी.१६.१९)।

वेदान्तशास्त्र का विरोधी सांख्यशास्त्र है। इसीका प्रधानता से निराकरण करने के लिए भगवान् बादरायण ने ब्रह्मसूत्र का प्रणयन किया। सांख्यमत में कर्तृत्व प्रकृति का ही धर्म है, आत्मा का नहीं तथा बुद्धि के सान्निध्य से आत्मा में ज्ञातृत्व कल्पित है। इस मत का ब्रह्मसूत्र में **ज्ञोऽत एव**(ब्र.सू.२.३.१९) तथा **कर्ता**

शास्त्रार्थवत्त्वात्(ब्र.सू.२.३.३३) इन दो अधिकरणों के द्वारा निराकरण किया गया है, अतः आत्मा में ज्ञातृत्व और कर्तृत्व न स्वीकार करने वाले निर्विशेषाद्वैती वेदान्तमत के अनुयायी कैसे हो सकते हैं? ज्ञातृत्वादि औपाधिक सिद्ध नहीं होते हैं, अतः वे स्वाभाविक ही हैं। इस विषय को विस्तार से जानने के लिए दर्शनशास्त्रों के मर्मज्ञ, महान् तत्त्ववेत्ता पूज्यगुरुदेव स्वामी शंकरानन्दसरस्वतीविरचित 'साधनविचार' तथा 'पुनविमर्शनीय शांकरभाष्य' का अवलोकन करना चाहिए। कारणत्व तत्त्वत्रय का साधारण धर्म है। कर्तृत्व जीव और ईश्वर का साधारण धर्म है। स्वाधीन कर्तृत्व ईश्वरका असाधारण धर्म है। पराधीन कर्तृत्व जीव का असाधारण धर्म है।

भोक्तृत्व- भोगाश्रय अर्थात् सुख, दुःख के आश्रय को भोक्ता कहा जाता है- **सुखदुःखाश्रयत्वं भोक्तृत्वम्।** ज्ञातृत्व आत्माका स्वाभाविक धर्म है। आत्माका सुखादि के प्रति भोक्तृत्व स्वाभाविक नहीं है, औपाधिक है। उपाधि का अभाव होने पर आत्मा सुखादिका भोक्ता नहीं होता। जीवात्मामें ब्रह्मविषयक अनुभवरूप भोग का कर्तृत्व स्वाभाविक ही है।

अणुत्व- आत्मा का अणु परिमाण श्रुतियों से सिद्ध होता है। यह आत्मा अणु है। विशुद्ध मन से साक्षात्कार करने योग्य है। जिस आत्मा में प्राण अपान आदि पाँच रूपों में विभक्त होकर मुख्य प्राण स्थित है- **एषोऽणुरात्मा चेतसा वेदितव्यो यस्मिन् प्राणः पञ्चधा संविवेश।**(मु.उ.३.१.९) इस श्रुति में परिमाणवाचक अणु शब्द साक्षात् सुना जाता है। स्वरूपतः ही सूक्ष्म केश के सूक्ष्मतर अग्रभाग के सौ भाग करके उनमें भी एक भाग के सौ भाग करने पर उनमें एक भाग जितना छोटा है, उतना छोटा जीवात्मा है। वह मोक्षदशा में धर्मभूतज्ञान के विकास से विभुरूप अनन्त(अपरिच्छिन्न) होता है-

वालाग्रशतभागस्य शतधा कल्पितस्य च। भागो जीवः स विज्ञेयः स चानन्त्याय कल्पते।।(श्वे.उ.५.६), सूई के अग्रभागसे भी सूक्ष्मतम आत्मा श्रुतियों में प्रतिपादित है- **आराग्रमात्रो ह्यवरोऽपि दृष्टः।**(श्वे. उ.५.८) इत्यादि श्रुतियों में अणु के समान वस्तु का उदाहरण देकर उसके समान आत्मा के परिमाण का कथन करने से वह अणु परिमाण सिद्ध होता है। यह विषय **स्वशब्दोन्मानाभ्यां च**(ब्र.सू.२.३. २३) इस सूत्र से प्रतिपादित है। मरणासन्न मनुष्यके हृदयके अग्रभागमें स्थित नाड़ीमुखरूप निकलने का द्वारा ज्ञानप्रभा से प्रकाशित हो जाता है। उसके प्रकाशित होने से यह आत्मा उस नाड़ी से सम्बद्ध चक्षु, ब्रह्मरन्ध्र अथवा शरीर के अन्य स्थानों से उत्क्रमण करती है- **तस्य हैतस्य हृदयस्याग्रं प्रद्योतते, तेन प्रद्योतेनैष आत्मा निष्क्रामति चक्षुषो वा मूर्ध्नो वाऽन्येभ्यो वा शरीरदेशेभ्यः।**(बृ. उ.४.४.२) इस श्रुति से आत्मा की उत्क्रान्ति का वर्णन किया गया है। गतिसे पूर्वकालिक अवस्था उत्क्रान्ति कहलाती है। जो इस लोक से ऊर्ध्व लोकों को जाने वाले होते हैं, वे सब चन्द्रलोक को जाते हैं- **ये वै के चास्माल्लोकात् प्रयन्ति, चन्द्रमसमेव ते सर्वे गच्छन्ति।**(कौ.उ.१.६) इस श्रुति से आत्मा की गति(गमन) प्रतिपादित है। आत्मा कर्म करने के लिए स्वर्गलोक से पुनः इस लोक में आ जाती है- **तस्माल्लोकात् पुनरेत्यस्मै लोकाय कर्मणे।**(बृ. उ.४.४.६) इस श्रुति से आत्मा का आगमन कहा जाता है। आत्मा के विभुत्व पक्षमें श्रुतिप्रतिपादित उत्क्रान्ति आदि संभव नहीं होती हैं, अतः उसका अणुपरिमाण ही स्वीकार करना चाहिए।

हृदय में स्थिति- यह जीवात्मा हृदय स्थान में रहता है- **हृदि ह्येष आत्मा**(प्र.उ.३.६) विज्ञान स्वरूपवाला पुरुष अर्थात् जीवात्मा हृदय के मध्य में विद्यमान है- **हृद्यन्तर्ज्योतिः पुरुषः**(बृ.उ.४.३.७)। जीवात्मा सभी इन्द्रियों के मूलस्थान हृदय में रहता है-

सर्वेन्द्रियकन्दभूते स्थानविशेषे वृत्तिः(ब्र.सू.भा.१.२.१८)। मनुष्य का हृदय अङ्गुष्ठपरिमाण है, इसलिए अणु जीव को अङ्गुष्ठमात्र भी कहा जाता है। जीवात्मा अङ्गुष्ठमात्र है, सूर्य के समान स्वयंप्रकाश है- **अङ्गुष्ठमात्रो रवितुल्यरूपः**(श्वे.उ.५.८)। गले से नीचे तथा नाभि से एक वित्ता ऊपर जो अधोमुख कमलाकार स्थान है, उसे हृदय जानना चाहिए- **अधो निष्ट्या वितस्त्यां तु नाभ्यामुपरि तिष्ठति। हृदयं तद् विजानीयाद्**(तै.ना.उ.६.७)। अपरिच्छिन्न ज्ञान, शक्ति आदि गुणों से युक्त परमात्मा चेतन और अचेतन सम्पूर्ण जगत् को सब प्रकार से व्याप्त करके उपास्य बनने के लिये नाभि से दश अङ्गुल ऊपर हृदय में स्थित है- **स भूमिं सर्वतस्पृत्वात्यतिष्ठद् दशाङ्गुलम्**(शु.य.सं.३१.१)। इन प्रमाणों से नाभि के ऊपर तथा कण्ठ से नीचे हृदय की स्थिति ज्ञात होती है।

प्रश्न- अणु आत्मा शरीर के एक भाग हृदय में रहती है, ऐसा होने पर उसे समग्र शरीर में होने वाले सुखदुःख का अनुभव कैसे होता है?

उत्तर- धर्मभूतज्ञान के द्वारा व्याप्ति- यद्यपि अणु आत्मा हृदय में ही रहती है फिर भी उसका ज्ञानगुण व्यापक है। यह ज्ञान अनादि कर्मरूप अज्ञान के कारण संकुचित होकर देहव्यापी हो जाता है। जिस प्रकार कमरे के एक स्थान में रहने वाले दीपक का प्रकाश सम्पूर्ण कमरे में व्याप्त होता है, उसी प्रकार शरीर के एक स्थान हृदय में रहने वाली आत्मा का ज्ञान गुण सम्पूर्ण शरीर में व्याप्त होता है। इस प्रकार ज्ञान गुण के द्वारा आत्मा की शरीर के सभी अवयवों में व्याप्ति होती है। यह विषय **गुणाद् वालोकवत्**(ब्र.सू.२.३.२६) इस सूत्र में प्रतिपादित है। जिस प्रकार आकाश के एक भाग में स्थित सूर्य अपनी प्रभा से सम्पूर्ण संसार को प्रकाशित करता है, उसी प्रकार शरीर के एक भाग में स्थित आत्मा अपने

ज्ञान गुण के द्वारा पादतल से लेकर मस्तक पर्यन्त सम्पूर्ण शरीर को प्रकाशित करती है- **यथा प्रकाशयत्येकः कृत्स्नं लोकमिमं रविः। क्षेत्रं क्षेत्री तथा कृत्स्नं प्रकाशयति भारत।।**(गी.१३.३३)।

सुख-दुःख का अनुभव- जिस प्रकार दीपक अपनी प्रभा के द्वारा सब ओर पदार्थों को प्रकाशित करता है, उसी प्रकार आत्मा ज्ञानगुण के द्वारा देह के प्रत्येक अवयव में होने वाले सुख, दुःख को प्रकाशित(अनुभव) करती है। शिर में चन्दनादि सुखकर पदार्थ का लेप करने पर मेरे शिर में सुख है तथा पैर में कण्टक लगने पर मेरे पैर में पीड़ा(दुःख) है, ऐसा युगपद् अनुभव होता है। वेदान्त सिद्धान्त में मन का अणु परिमाण माना जाता है, अतः युगपद दो ज्ञान कैसे हुए, यह शंका नहीं करनी चाहिए, क्योंकि मेरे शिर में सुख है तथा पैर में पीड़ा है, यह एक ही समूहालम्बनात्मक ज्ञान है। देहके आरम्भक कर्मों के कारण जीव का ज्ञान एक देहव्यापी होता है, देहान्तरव्यापी नहीं होता है। एक शरीर में आत्मा रहने पर भी धर्मभूतज्ञान की व्याप्ति से ही सौभरि आदि योगी अनेक शरीरों को धारण करते हैं। योगसिद्धि से योगियों के धर्मभूतज्ञान का अनेक शरीरों में प्रसार(व्याप्ति) होता है और वे अनेक शरीरों से सुख-दुःख का अनुभव करते हैं। शरीर के जिस अवयव से भोग होता है, उस अवयव से होने वाले भोग के प्रयोजक(हेतु) कर्म का नाश होने पर उस अवयव में ज्ञान की व्याप्ति नहीं रहती है। इसी अभिप्राय से 'हे सोम्य! जब जीव इस महान् वृक्ष की एक शाखा को छोड़ देता है, तब वह सूख जाती है- **तस्य यदेकां शाखां जीवो जहाति, अथ सा शुष्यति।**(छां.उ.६.११.२) यह वचन प्रवृत्त होता है। ब्रह्मविद्यासे ज्ञानके संकोचके हेतु कर्म का विनाश हो जाता है, इसलिए मुक्तात्मा धर्मभूतज्ञान की व्याप्ति से ही स्वसंकल्पानुसार अनेक शरीरों को धारण करते हैं।

अणु आत्मा मुक्तावस्था में धर्मभूतज्ञान के विकास से विभुरूप अनन्त होती है- **स चाऽनन्त्याय कल्पते**।(श्वे.उ.५.६) इस प्रकार प्रतिबन्धकरहित मुक्तात्मा का धर्मभूतज्ञान व्यापक कहा गया है।

नैयायिकमत- अणु आत्मा को स्वीकार करने पर देहके गमनागमन के साथ आत्मा का भी गमन-आगमन स्वीकार किया जाता है। विभु आत्मा स्वीकार करने पर देह के गमनागमन के साथ आत्मा का गमनागमन स्वीकार नहीं किया जाता है क्योंकि आत्मा पहले से ही वहाँ विद्यमान है। इस प्रकार आत्मा के विभुत्व पक्ष में लाघव एवं अणुत्व पक्ष में गौरव दोष होता है। अतः आत्मा का विभुत्व(विभुपरिमाण) ही स्वीकार करना चाहिए।

वेदान्तमत- यदि हम अनुमान से आत्मा का अणुत्व स्वीकार करते तो हमारे मत में गौरव दोष की प्रसक्ति होती, हम तो श्रुति के अनुसार पदार्थों को स्वीकार करते हैं। श्रुति सिद्ध पदार्थों को स्वीकार करने में कोई भी दोष नहीं है। श्रुतियोंमें जीवका अणुत्व एवं गमनागमन स्पष्ट रूपसे कहा गया है। जीवके उत्क्रमण करने पर प्राण उत्क्रमण करते हैं, उसके पश्चात् सभी इन्द्रियाँ उत्क्रमण करती हैं- **तमुत्क्रामन्तं प्राणोऽनूत्क्रामति प्राणमनूत्क्रामन्तं सर्वे प्राणा अनूत्क्रामन्ति**।(बृ.उ.४.४.२) इत्यादि वाक्योंमें प्राण और इन्द्रियोंकी उत्क्रान्तिके समान आत्माकी पृथक् उत्क्रान्ति कही जाती है और आत्माका अनुसरण करके ही प्राणादिकी उत्क्रान्ति(निर्गमन) कही जाती है। यह आत्माके विभुपरिमाण पक्षमें संभव नहीं है। यह आत्मा निकलती(उत्क्रमण करती) है- **एष आत्मा निष्क्रामति**(बृ.उ.४.४.२) यहाँ आत्माके उत्क्रमणका स्पष्ट कथन होनेसे यह ज्ञात होता है कि आत्माकी उत्क्रान्ति आदिका कथन मुख्य ही है, औपचारिक नहीं है। क्वचित् जीवात्माका व्यापकत्व निरूपित होनेपर भी **एषोऽणुरात्मा**(मु.उ.३.१.६), **वालाग्रशतभागस्य शतधा कल्पितस्य च**

भागो जीवस्स विज्ञेयः(श्वे.उ.५.६),**आराग्रमात्रो ह्यवरोऽपि दृष्टः**।(श्वे. उ.५.८) इत्यादि अनेक प्रमाण होनेसे आत्माका अणुत्व ही सिद्ध होता है।

शंका– जिस प्रकार स्वाभाविक विभु परिमाणवाले परमात्माका अणुत्व औपाधिक माना जाता है, उसी प्रकार जीवात्माका अणुत्व औपाधिक ही मानना चाहिए।

समाधान– परमात्माके अणुत्व कथनमें 'यह आत्मा मेरे हृदयमें है'– **एष म आत्माऽन्तर्हृदये**(छां.उ.३.१४.४) इस प्रकार हृदय उपाधिका निर्देश किया जाता है, इसलिए इसका अणुत्व औपाधिक माना जाता है किन्तु जीवके अणु परिमाणके कथनमें उपाधिका निर्देश नहीं किया जाता है,इसलिए जीवका अणुपरिमाण औपाधिक नहीं मानना चाहिए, स्वाभाविक ही मानना चाहिए। यदि जीवात्माका विभुत्व स्वाभाविक होता तथा अणुत्व औपाधिक होता तो **सः चानन्त्याय कल्पते** के स्थानपर **अनन्तोऽयं कर्मवशाद् अणुत्वाय कल्पते** ऐसा कहना चाहिए किन्तु ऐसा नहीं कहा है। इससे सिद्ध होता है कि जीवका अणुत्व ही स्वाभाविक है।

शंका– आत्मा विभु होनेमें समर्थ होती है– **स चानन्त्याय कल्पते।** (श्वे.उ.५.६) यह श्रुति जीवात्माके विभुत्वका प्रतिपादन करती है, अतः विभुत्वको स्वाभाविक और अणुत्वको औपाधिक मानना चाहिए।

समाधान– यह कहना उचित नहीं है क्योंकि सर्वनाम पूर्वका परामर्शक होता है। पूर्वमें अणुत्वविशिष्ट जीवात्माका प्रतिपादन किया गया है, 'सः' सर्वनाम पद इसीका बोधक है। अणुत्वविशिष्ट जीवको उद्देश्य करके आनन्त्य(विभुत्व)का विधान किया जाता है। यह श्रुति धर्मभूतज्ञानके द्वारा जीवात्माके व्यापकत्वका प्रतिपादन करती है, यह

अर्थ स्वीकार न करने पर उपक्रम वाक्यसे विरोध होता है। जैसे घटका प्रसंग होनेपर मृत्तिकामात्रका परामर्श नहीं होता है अपितु घटत्वविशिष्ट मृत्तिकाका परामर्श होता है, वैसे ही अणु आत्माका प्रसंग होनेपर आत्मामात्रका परामर्श नहीं हो सकता है अपितु अणुत्वविशिष्ट आत्माका परामर्श होता है। शास्त्र अणुत्व और विभुत्व धर्मको लेकर ही जीव और ईश्वरके भेदका वर्णन करते हैं।

आत्माका अणु परिमाण स्वीकार करने पर इसका मानस प्रत्यक्ष नहीं हो सकता है। वैशेषिकोंकी यह शंका निराधार है क्योंकि विभु परिमाण स्वीकार करने पर भी जैसे आकाशका मानस प्रत्यक्ष संभव नहीं है, वैसे ही आत्माका भी मानसप्रत्यक्ष संभव नहीं होगा। यदि वैशेषिक कहना चाहें कि अनुभवके अनुसार हम आत्माका प्रत्यक्ष मानते हैं तो यह समाधान हमारे मतमें भी है। हमारे मतमें तो श्रुतिका समर्थन है।

नैयायिकमत- यदि जीवात्मा अणु परिमाणवाला है, तो शास्त्रोंमें उसे सर्वगत(व्यापक) क्यों कहा गया है?

वेदान्तमत- १.अपने तथा दूसरेके देहमें विद्यमान उस आत्माकी **तस्यात्मपरदेहेषु**(वि.पु.२.१४.३१) इत्यादि वचनोंसे जातित्वेन व्याप्ति कही गई है क्योंकि जीवत्व जातिसे अवच्छिन्न(युक्त) जीव सर्वत्र रहते हैं अर्थात् जीवात्माओंका जो समुदाय है, उसमें विद्यमान कोई न कोई जीव कहीं न कहीं अवश्य रहता है।

२.जीव मुक्तावस्थामें अनन्त(विभु) होनेमें समर्थ होता है- **स चानन्त्याय कल्पते**।(श्वे.उ.५.९) इत्यादि वचन धर्मभूतज्ञानसे जीवका व्यापकत्व कहते हैं क्योंकि मुक्तावस्थामें धर्मभूतज्ञानका सर्वत्र प्रसार होता है।

३.नित्य जीवात्मा सभीमें विद्यमान है- **नित्यः सर्वगतः**(गी.२.२४) इत्यादि वचन जीवात्माकी सभी अचेतन पदार्थोंसे अत्यन्त सूक्ष्मता होनेके कारण उन सभीमें उसका क्रमशः प्रवेश करनेका सामर्थ्य होनेसे सर्वगत कहते हैं अथवा जीवात्मा अत्यन्त सूक्ष्म होनेके कारण शिला आदिमें भी उसके प्रवेशका प्रतिघात(रुकावट) संभव न होनेसे सर्वगत कहते हैं।

शंका- जीवके लिए उत्पन्न होनेवाले भोग्य पदार्थोंके प्रति उसका धर्माधर्म(अदृष्ट) कारण होता है। शास्त्रविहित कर्म करनेसे धर्म होता है और शास्त्रनिषिद्ध कर्म करनेसे अधर्म होता है। यह धर्माधर्मरूप अदृष्ट जीवात्माका गुण है, आत्मामें उत्पन्न होकर उसके आश्रित रहता है। विभिन्न देशोंमें उत्पन्न होनेवाले भोग्य पदार्थ आत्माके अदृष्टसे ही उत्पन्न होते हैं, अदृष्टसे ही उसे प्राप्त होते हैं और अदृष्टसे ही भोगे जाते हैं। जन्मसे लेकर मृत्यु पर्यन्त भोगे जानेवाले भोग्यपदार्थोंकी विभिन्न स्थानोंमें उत्पत्ति तभी संभव है, जब अदृष्टका आश्रय जीवात्मा वहाँ विद्यमान हो। यह जीवात्माको विभु माननेपर ही संभव है क्योंकि विभु माननेपर ही जीवात्मा विभिन्न देशोंमें रह सकता है। अतः जीवात्माको अणु न मानकर विभु ही मानना चाहिए।

समाधान- धर्माधर्मरूप अदृष्ट जीवात्माओंमें उत्पन्न होनेवाला गुण नहीं है किन्तु भगवान् की प्रीति(प्रसन्नता) और कोप ही क्रमशः धर्म और अधर्मरूप अदृष्ट हैं। विहित कर्म करनेवाले पर श्रीभगवान् प्रसन्न होते हैं और निषिद्ध कर्म करने वालेपर कुपित होते हैं। परमात्माके विभु होनेसे प्रीति और कोपरूप अदृष्ट भी सदा उनके साथ सर्वत्र रहते हैं। इस प्रकार विभिन्न देशोंमें जीवके भोग्य पदार्थोंकी उत्पत्ति संभव होती है।

वेदवाक्योंसे ज्ञात होता है कि कर्मोंसे आराधित देवता फलप्रदान करते हैं। ऐसी स्थितिमें अतिरिक्त अपूर्व(अदृष्ट) पदार्थकी कल्पना करनेकी आवश्यकता नहीं होती है। **दर्शपौर्णमासाभ्यां स्वर्गकामो यजेत** इत्यादि विधिवाक्य स्वर्गादि फल चाहनेवाले मनुष्यके लिए दर्श, पौर्णमास आदि कर्मोंका विधान करते हैं। विहित कर्मोंकी प्रशंसाके द्वारा इन कर्मोंमें फलार्थियोंको प्रेरित करके विधिवाक्योंकी सहायता करनेके लिए प्रवृत्त हुए अर्थवाद वाक्य यह बताते हैं कि प्रत्येक कर्म देवताकी आराधनारूप है तथा इन कर्मोंसे आराधित होनेवाले देवता इनसे प्रसन्न होकर कर्मके कर्ताको फल देते हैं। अर्थवाद और विधिवाक्योंकी एकवाक्यता होनेसे यह सिद्ध होता है कि अर्थवाद वाक्योंमें वर्णित अर्थ विधिवाक्यके अनुरूप है। जैसे-ऐश्वर्यकी कामनावाला मनुष्य वायुदेवताको उद्देश्य करके श्वेत पशुसे याग करे- **वायव्यं श्वेतमालभेत भूतिकामः**।(तै.सं. २.१.१.१)। याग क्लेशसाध्य होनेसे फलार्थी पुरुष भी उसे आरम्भ करनेमें प्रमाद करता है, उसे उत्साहित करनेके लिए प्रस्तुत अर्थवाद वाक्य यागकी प्रशंसा करता है। वायु शीघ्रगामी देवता है, जो यजमान अपनी हविष्से वायुदेवकी आराधना करता है, उसे वायुदेवता ही ऐश्वर्यकी प्राप्ति कराते हैं- **वायुर्वै क्षेपिष्ठा देवता, वायुमेव स्वेन भागधेयेनोपधावति स एवैनं भूतिं गमयति**।(तै.सं.२.१. १.१) इस अर्थवाद वाक्यसे स्पष्ट है कि देवता कर्मसे प्रसन्न होकर फल देते हैं। याग देवताकी प्रसन्नताके द्वारा फलप्रद होता है। विनाशी कर्ममें फलसाधनत्व न होनेके कारण कर्मसे जन्य तथा फल पर्यन्त विद्यमान रहने वाले अपूर्वकी अर्थापत्ति प्रमाणके द्वारा कल्पना करना अनुचित है क्योंकि शास्त्र देवताके अनुग्रहसे कर्मको फलप्रद कहते हैं। वाक्यशेषके द्वारा कर्मोंके फलसाधनत्वका प्रकार ज्ञात न होनेसे अर्थापत्ति प्रमाणके द्वारा अपूर्वकी कल्पना करना उचित होता

किन्तु यहाँ अर्थवादरूप वाक्यशेषके द्वारा फलसाधनत्वका यह प्रकार ज्ञात हो जाता है कि कर्म देवताकी प्रीतिके द्वारा फल देते हैं। आराध्य होनेसे मैं ही सभी यज्ञोंका भोक्ता हूँ तथा फलप्रद होनेसे प्रभु भी हूँ- **अहं हि सर्वयज्ञानां भोक्ता च प्रभुरेव च**।(गी.९.२४) इस गीतावचनसे भी भगवान् ही फलप्रद कहे गये हैं। मैं साक्षात् आराध्य होनेसे यज्ञ और तपका भोक्ता तथा सभी लोकोंका महेश्वर हूँ- **भोक्तारं यज्ञतपसां सर्वलोकमहेश्वरम्**।(गी.५.२९), अर्चनाके कारण मेरे द्वारा ही प्रदत्त फलोंको प्राप्त करता है- **लभते च ततः कामान् मयैव विहितान् हि तान्**।(गी.७.२२) इत्यादि वचनोंसे सिद्ध होता है कि सभी कर्म इन्द्रादि देवताओंके अन्तरात्मा श्रीभगवान् की आराधनारूप हैं। वे ही अभिमत फलोंके प्रदाता हैं, अतः अपूर्वको स्वीकार करनेकी आवश्यकता नहीं है। मेरा आश्रय लेकर सदा सभी कर्मोंको करनेवाला पुरुष मेरी प्रसन्नतासे शाश्वत, अव्यय पदको प्राप्त करता है- **सर्वकर्माण्यपि सदा कुर्वाणो मद्व्यपाश्रयः। मत्प्रसादादवाप्नोति शाश्वतं पदमव्ययम्**।।(गी.१८.५६) इत्यादि स्मृतिवाक्य भी भगवत्प्रीतिसे कर्मोंको फलप्रद कहते हैं।

द्वेषरखनेवाले, क्रूर एवं अशुभ नराधमोंको मैं संसारमें आसुरी योनियोंमें बारम्बार डालता रहता हूँ। आसुरीयोनिको प्राप्त किये हुए, जन्म-जन्ममें मूढ़ रहनेवाले वे नराधम मुझे न जानकर उससे भी अधमगतिको प्राप्त होते हैं- **तानहं द्विषतः क्रूरान् संसारेषु नराधमान्। क्षिपाम्यजस्रमशुभानासुरीष्वेव योनिषु।। आसुरीं योनिमापन्ना मूढा जन्मनि-जन्मनि। मामप्राप्यैव कौन्तेय ततो यान्त्यधमां गतिम्**।।(गी.१६.१९-२०) इत्यादि वचन नराधमोंके द्वारा किये जानेवाले निषिद्ध कर्मोंको श्रीभगवान् के कोप द्वारा फलप्रद कहते हैं। उक्त विवेचनसे पुण्यपापरूप अपूर्व ईश्वरकी प्रीति और

कोपरूप सिद्ध होता है, अतः पृथक् अपूर्व स्वीकार करनेकी आवश्यकता नहीं है।

पूर्वमीमांसाके **संदिग्धेषु वाक्यशेषात्**(१.४.२६) इस अधिकरणमें कहा गया है कि विधि वाक्योंमें वर्णित कोई विशेष विषय यदि वाक्यशेषमें वर्णित हो तो उसे स्वीकार करना चाहिए। वेदप्रतिपादित फलसाधनत्वके प्रकारकी उपेक्षा करके अन्य प्रमाणसे अपूर्वके फलसाधनत्वकी कल्पना व्यर्थ है। यह आनन्दमय परमात्मा ही आनन्द प्रदान करता है- **एष ह्येवानन्दयाति**।(तै.उ.२.७.१), ब्रह्मोपासक अभय को प्राप्त होता है- **अथ सोऽभयं गतो भवति**।(तै. उ.२.७.२), उपासनामें विच्छेद करनेवालेको भय प्राप्त होता है- **अथ तस्य भयं भवति**।(तै.उ.२.७.२) इत्यादि श्रुतियाँ भगवदनुग्रहसे इष्टफलकी प्राप्ति तथा उनके निग्रहसे अनिष्ट फलकी प्राप्तिका वर्णन करती हैं।

महर्षि जैमिनिने पूर्वमीमांसाके **देवताधिकरण**(पू.मी.६.१.४) में कर्मको प्रधान एवं देवताको अप्रधान माना है, उनका भाव यह है कि गुरुपरम्परासे वेदान्तका अध्ययन न करनेवाले सामान्य मनुष्य देवताको प्रधान मानकर कर्ममें अश्रद्धा न रखें, उनकी कर्ममें श्रद्धा बढ़े। इसलिए जैमिनिने अतिवाद किया है। उनका देवताके निराकरणमें तात्पर्य नहीं है क्योंकि पूर्वोत्तर मीमांसा एक शास्त्र है, उसमें विरोध नहीं हो सकता है। महर्षि वेदव्यास ने उत्तरमीमांसा के **देवताधिकरण**(१.३.७) में देवताओं का उपासना में अधिकार तथा उनके अनेक शरीरधारण करने आदिका प्रतिपादन किया है।

जैनमत- जैनमतमें जो जिस भोगके आश्रयमें रहता है, वह उसके समान परिमाणवाला होता है- **यो यद् भोगायतनवर्ती सः तत्समपरिमाणः**। इस व्याप्तिके अनुसार आत्मा देहके समान

परिमाणवाली मानी जाती है। वह हाथीकी देहमें हाथीके समान परिमाणवाली तथा चींटीकी देहमें चींटीके समान परिमाणवाली होती है। ऐसा होनेपर 'मैं इस देहमें हूँ', 'मेरे पैरमें पीड़ा है', 'शिरमें सुख है' इत्यादि प्रतीतियाँ संभव होती हैं।

निराकरण- मनुष्यके भोगका आश्रय देहकी तरह गृहादि भी हैं किन्तु उसमें रहनेवाली आत्मा गृहादिके समान परिमाणवाली नहीं होती है। यह सबके अनुभवसे सिद्ध है। अतः 'जो जिस भोगके आश्रयमें रहता है, वह उसके समान परिमाणवाला होता है,' यह व्याप्ति दोषयुक्त है। अतः इसके बलपर आत्माका देहके समान परिमाण नहीं कहा जा सकता है। मध्यम परिमाणवाले घटादि अनित्य होते हैं, आत्माका मध्यम(देहके समान) परिमाण स्वीकार करनेपर उसे घटादिकी तरह अनित्य मानना होगा। हाथी शरीरके बाद चींटी शरीर प्राप्त होनेपर उसमें प्रविष्ट आत्मा अपूर्ण होगी क्योंकि बड़े हाथी शरीरमें विद्यमान बड़ी आत्माका छोटे चींटी शरीरमें प्रवेश नहीं हो सकता है। यह विषय **एवं चात्माऽकात्स्र्यनम्** (ब्र.सू.२.२.३२) इस सूत्रमें प्रतिपादित है। सौभरि आदिकी तरह किसी योगीको नाना देहधारण करनेपर उसकी आत्माको भी नाना मानना होगा तथा नाना देहोंके मध्यमें अन्तराल होनेसे देहमें विद्यमान उसके समान परिमाणवाली आत्माका विभाजन भी मानना पड़ेगा। जैनमतमें मुक्तावस्थामें देहका अभाव स्वीकृत होनेसे आत्माके परिमाणका भी अभाव मानना पड़ेगा। इस मतमें मुक्त आत्माका सतत ऊर्ध्वगमन मान्य होनेसे मुक्तावस्थामें उसे व्यापक भी नहीं मान सकते हैं। इन दोषोंके कारण जैन मत त्याज्य है। जैनमतानुसार मुक्तावस्थामें अशरीरी आत्माका शरीरके समान परिमाण संभव नहीं है किन्तु उस समय भी आत्माका कोई न कोई परिमाण अवश्य होगा, वही आत्माका स्वाभाविक परिमाण होगा और

वह श्रुतिसिद्ध अणुपरिमाण ही है। इस प्रकार आत्मा तथा उसका अणुपरिमाण ये दोनों ही नित्य सिद्ध होते हैं।

नित्यत्व- मेधावी आत्मा न तो जन्म लेती है और न ही मरती है। इसका कोई उत्पादक कारण नहीं है, यह पूर्वमें भी मनुष्यादि रूपसे उत्पन्न नहीं हुई। यह अजन्मा है, नित्य है, शाश्वत(सदा एकरूप रहनेवाली) है, पुराण है और शरीरके मारे जाने पर भी नहीं मरती है- **न जायते म्रियते वा विपश्चिन्नायं कुतश्चिन्न बभूव कश्चित्। अजो नित्यः शाश्वतोऽयं पुराणो न हन्यते हन्यमाने शरीरे।।**(क.उ.१.२.१८), आत्मा न तो मारती है और न ही स्वयं मरती है- **नायं हन्ति न हन्यते।**(क.उ.१.२.१६, गी.२.१६), यह आत्मा नित्योंमें नित्य है- **नित्यो नित्यानाम्**(क.उ.२.२.१३, श्वे.उ.६.१३) यहाँ नित्यानाम् इस पदसे जीवात्माओं का नित्यत्व कहा जाता है। यह आत्मा अविनाशी है- **अविनाशी वाऽरेऽयमात्मा**(बृ.उ.४.५.१४), जिस चेतन तत्त्वसे यह समस्त अचेतन जगत् व्याप्त है, उसे तो अविनाशी जानो एवं कोई भी इस अव्यय आत्माका विनाश नहीं कर सकता है- **अविनाशि तु तद्विद्धि येन सर्वमिदं ततम्। विनाशमव्ययस्यास्य न कश्चित् कर्तुमर्हति।।**(गी.२.१७), नित्य आत्मा के ये शरीर विनाशी हैं- **अन्तवन्त इमे देहा नित्यस्योक्ता शरीरिणः।**(गी.२.१८) इत्यादि शास्त्रवचन आत्माके नित्यत्वका प्रतिपादन करते हैं। जैसे मनुष्य पुराने वस्त्रोंको छोड़कर दूसरे नूतन वस्त्र धारण करता है, वैसे ही आत्मा जीर्णशरीरको छोड़कर अन्य नूतनशरीर धारण करती है- **वासांसि जीर्णानि यथा विहाय नवानि गृह्णाति नरोऽपराणि। तथा शरीराणि विहाय जीर्णान्यन्यानि संयाति नवानि देही।।**(गी.२.२२) यह वाक्य एक आत्माके पूर्व-पूर्व देहके परित्यागपूर्वक उत्तरोत्तर नाना प्रकारके नूतन देहके परिग्रहका वर्णन करता है। देहपातके पश्चात् प्राप्त होनेवाले स्वर्गादि फलके साधनका

विधान करनेवाले वाक्य भोक्ता आत्माके नित्यत्वके विना असिद्ध होते हैं, इसलिए उनसे भी आत्माके नित्यत्वकी अनुमिति होती है।

सदा विद्यमान रहना नित्यत्व है- **सर्वकालवर्तमानत्वं हि नित्यत्वम्**।(श्रीभा.१.१.१), उत्पत्ति और विनाशसे रहित होना नित्यत्व है- **उत्पत्तिविनाशरहितत्वं नित्यत्वम्।** स्वरूपतः और प्रवाहतः के भेदसे नित्यता दो प्रकार की है। जीव और ब्रह्मकी स्वरूपतः नित्यता है तथा प्रकृतिकी प्रवाहतः नित्यता है। स्वरूपतः नित्यताको कूटस्थ नित्यता कहते हैं तथा प्रवाहतः नित्यताको परिणामी नित्यता कहते हैं।

'मैंने जिसे पहले देखा था, उसे ही अब देख रहा हूँ' इस प्रतिसंधानसे पूर्वकालीन तथा वर्तमानकालीन द्रष्टा आत्माकी नित्यता(स्थिरता) सिद्ध होती है। आत्माको अनित्य माननेपर यह प्रतिसन्धान संभव नहीं होगा।

जीवात्मा जीवनपर्यन्त कुछ न कुछ करती ही रहती है। इस जीवनके बाद या प्रलयकालमें इसका नाश स्वीकार करनेपर कृतविप्रणाश दोष उपस्थित होता है। फल भोगे विना ही कर्मोंका नाश होना कृतविप्रणाश दोष है। जीवात्मा पहले नहीं था, फिर उत्पन्न हुआ, ऐसा स्वीकार करनेपर उसे ऐसे कर्मोंका फल भोगना होगा, जिसे उसने किया ही नहीं। इस प्रकार अकृताभ्यागम दोष प्राप्त होता है। विना किये कर्मोंका फल भोगना ही अकृताभ्यागम दोष है। इन दोषोंका निराकरण आत्माका 'नित्यत्व' स्वीकार करने पर ही होता है। यह विषय **नात्मा श्रुतेर्नित्यत्वाच्च ताभ्यः**(ब्र.सू.२.३.१८) इस सूत्रमें प्रतिपादित है।

शंका- आत्माका नित्यत्व स्वीकार करनेपर उसकी उत्पत्ति और मृत्युका वर्णन करनेवाले **यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते**(तै.उ.३.१.२) इत्यादि वाक्योंकी क्या गति होगी?

समाधान- 'आत्माके साथ नूतन देहका संयोग ही उसका जन्म है तथा उसके पूर्व देहका वियोग ही मृत्यु है।' इस अर्थके प्रतिपादक **यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते** इत्यादि वाक्य हैं। ऐसा होनेपर उत्पत्त्यादिके प्रतिपादक श्रुति वाक्योंसे कोई विरोध नहीं होता है।

औपाधिकभेद- शांकरमतानुसार श्रुतिप्रोक्त आत्मभेद औपाधिक है, स्वाभाविक नहीं है। औपाधिक आत्मभेदवादके दो प्रसिद्ध मत प्रस्तुत हैं-

१.नानाजीववाद- चेतन आत्मा एक है, अन्तःकरण उपाधिसे युक्त आत्मा ही जीव कहलाती है। जिस प्रकार आकाश एक है, घटादि उपाधियाँ नाना हैं, इसलिये महाकाश एक होनेपर भी घटावच्छिन्न आकाश नाना हैं। उसी प्रकार चेतन आत्मा एक है, अन्तःकरण उपाधियाँ नाना हैं, इसलिए नाना अन्तःकरण उपाधियोंसे अवच्छिन्न आत्मा नाना हैं। शुद्ध आत्मस्वरूप ही ब्रह्म है। इस प्रकार आत्माओंका भेद स्वाभाविक नहीं है किन्तु औपाधिक है। अतः श्रुतियोंमें जहाँ आत्माओंका भेद प्रदर्शित है, उसे औपाधिक मानना चाहिए। आत्माओंका अभेद ही स्वाभाविक है। निर्विशेषाद्वैतमें स्वीकृत यह वाद नानाजीववाद कहा जाता है।

निराकरण- नाना जीववाद युक्तियुक्त नहीं है क्योंकि दृष्टान्त असंगत है। दृष्टान्तमें आकाश एक कहा गया है। वस्तुतः आकाश एक नहीं है क्योंकि जिस प्राकृत पदार्थकी उत्पत्ति सुनी जाती है, वह स्वरूपतः एक नहीं होता इसलिए आकाश भी स्वरूपतः एक नहीं है। श्रुतिप्रमाणवादी आकाशको कभी भी एक नहीं कह सकते हैं, अतः

आकाश स्वरूपतः ही भिन्न हैं। जिस प्रकार नाना पृथ्वी पृथ्वीत्वेन ही एक हैं, स्वरूपतः भिन्न-भिन्न हैं, उसी प्रकार आकाशको समझना चाहिए। निरवयव वस्तुका विभाग नहीं हो सकता है। पञ्चीकरण प्रक्रियासे आकाशका विभाग कहा जाता है, अतः आकाश सावयव सिद्ध होता है। सावयव पदार्थकी जातित्वेन एकता होती है, स्वरूपतः नहीं। इस प्रकार आकाशको एक समझना श्रुतिविरुद्ध है, अतः आकाश दृष्टान्तसे आत्माओंका औपाधिक भेद नहीं कह सकते हैं, इसलिए श्रुतिकथित 'आत्मभेद' स्वाभाविक ही मानना चाहिए।

'चैत्र,मैत्रादि नाना शरीरोंमें एक ही आत्मा है' ऐसा स्वीकार करनेपर जैसे सौभरि आदि योगी नाना शरीरोंको धारण करके उन सभी शरीरोंसे विषयानुभव करते हैं, इसलिए मैं ही सभी शरीरोंसे विषयानुभव करता हूँ, ऐसा प्रतिसन्धान उनको होता है। वैसे ही नाना शरीरोंमें एक ही आत्मा होनेके कारण चैत्र, मैत्रादि सभीके अनुभवोंका एकाश्रयत्वेन प्रतिसन्धान होना चाहिए तथा एक शरीराऽवच्छेदेन आत्मामें किसी विषयका अनुभव होनेपर अन्य(अन्यशरीराऽवच्छेदेन उसी आत्मा) को उसका स्मरण होना चाहिए किन्तु ऐसा नहीं होता है। इससे सिद्ध होता है कि उपाधिभेद से आत्मा का भेद नहीं है, उनका भेद स्वाभाविक है। यदि ऐसा कहना चाहें कि यद्यपि सभी शरीरोंमें आत्मा एक ही है, फिर भी उन शरीरोंमें अन्तःकरण भिन्न-भिन्न हैं। जिस अन्तःकरणऽवच्छिन्न आत्माने अनुभव किया है, उसीको स्मृति होगी अन्यको नहीं, अतः उक्त शंकाको यहाँ अवकाश नहीं मिल सकता है। यह कहना उचित नहीं है क्योंकि कुछ जातिस्मर(जन्मान्तरका स्मरण करनेवाले) होते हैं। उनको एक कल्पमें अनुभव किये गये विषयकी दूसरे कल्पमें भी स्मृति होती है। कल्पभेदसे इनके

अन्तःकरण भिन्न-भिन्न होते हैं, फिर भी स्मृति होती है। इससे ज्ञात होता है कि अन्तःकरणका भेद उक्त व्यवस्थाका नियामक नहीं है। जैसे शरीर और बाह्येन्द्रियके भेदसे उक्त व्यवस्था संभव नहीं है, वैसे ही अन्तःकरणके भेदसे भी व्यवस्था संभव नहीं होगी। जैसे चक्षु, श्रोत्र, घ्राण, रसना और त्वक् ये पाँचों एक ही आत्माके करण होते हैं, अतः एक ही आत्माको इन सबसे ज्ञान होता है। वैसे ही वादीके अनुसार सभी अन्तःकरण एक ही आत्माके हैं। अतः अन्तःकरण भिन्न-भिन्न होनेपर भी आत्माको सभी अन्तःकरणोंसे ज्ञान होना चाहिए किन्तु ऐसा नहीं होता है, इसलिए अन्तःकरण भिन्न होनेपर भी उक्त व्यवस्था संभव नहीं है। अन्तःकरणके भेदसे व्यवस्था स्वीकार करनेपर बाह्येन्द्रियके भेदसे भी व्यवस्था स्वीकार करनी होगी और ऐसा होनेपर चक्षुके द्वारा किसी विषयका अनुभव होनेके पश्चात् चक्षु नष्ट होनेपर उस अनुभवका प्रतिसन्धान नहीं होना चाहिए किन्तु प्रतिसन्धान होता है, इससे सिद्ध होता है कि बाह्येन्द्रियके भेदसे व्यवस्था नहीं हो सकती है। इसी प्रकार अन्तःकरणके भेदसे भी व्यवस्था संभव नहीं है, अतः आत्मभेद स्वाभाविक ही मानना चाहिए।

२.एकजीववाद- एक ही चिद्रूप आत्मा है। वह शुद्ध, मुक्त तथा ज्ञानस्वरूप है। अविद्या उपाधिसे कल्पित होकर यही जीव कही जाती है। अविद्या एक होनेके कारण अविद्या कल्पित जीव भी एक है। यह वाद एकजीववाद कहलाता है। जैसे कोई स्वप्नद्रष्टा व्यक्ति स्वप्नमें अनेक प्राणियोंको देखता है। कभी-कभी ये नाना प्राणी स्वप्नमें दुःखी दिखाई देते हैं। यहाँ पर स्वप्नद्रष्टा जीव मुख्य है और सभी आभासमात्र हैं। इन सभीकी दुःखनिवृत्तिका एक ही उपाय है- स्वप्नद्रष्टाका स्वप्न भंग होना। इसी प्रकार जगतमें एक ही मुख्यजीव है और सभी जीवाभास हैं। मुख्य जीवके अज्ञानसे ही

सम्पूर्ण प्रपञ्च है, सभीके दुःखोंकी आत्यन्तिकी निवृत्ति तभी होगी, जब मुख्यजीवकी अविद्यानिवृत्ति होगी। यह अविद्यानिवृत्ति मुख्य जीवके ज्ञान द्वारा होगी। अपनी आत्माका ज्ञान होनेपर अविद्या और उसका कार्य समस्त प्रपञ्च ध्वस्त हो जायेगा। अभी तक जगत बना हुआ है, अतः यह स्वीकार किया जाता है कि अभी तक किसी की मुक्ति नहीं हुई। **शुको मुक्तः वामदेवो मुक्तः** इत्यादि वाक्य अर्थवादमात्र हैं। इस विषयको अब विस्तारसे कहा जा रहा है–

ब्रह्म ज्ञानस्वरूप है, अत एव स्वयंप्रकाश है। स्वयंप्रकाश वस्तुका अज्ञान नहीं हो सकता है, इसलिए उसका बन्धन भी नहीं हो सकता है। स्वयंप्रकाश ब्रह्म सदा मुक्त ही है, इसलिए यह मानना पड़ता है कि जीव और ब्रह्म एक ही है क्योंकि 'तत्त्वमसि' इत्यादि अभेदवाक्य जीव-ब्रह्मकी एकताका प्रतिपादन करते हैं। इससे यह सिद्ध होता है कि नित्य, मुक्त, स्वप्रकाश ब्रह्म ही अविद्यासे तिरोहित होकर जीवभावको प्राप्त होता है तथा विविध भेदभ्रमका अनुभव करते हुए संसारबन्धनमें फँस जाता है। वह ब्रह्मात्मैकत्वज्ञानके द्वारा संसारसे मुक्त हो जाता है। यहाँ यह शंका होती है कि जिस प्रकार वेदप्रतिपाद्य होने के कारण जीव और ब्रह्मका अभेद माना जाता है, उसी प्रकार वेदप्रतिपाद्य होनेसे सविशेष ब्रह्म एवं उसके द्वारा नियाम्य चेतनाचेतनप्रपञ्च इत्यादि भेदोंको भी मानना चाहिए। इसका निर्विशेषाद्वैती विद्वान् इस प्रकार समाधान देते हैं कि वेदप्रतिपाद्य भेदोंको मिथ्या मानना चाहिए तभी अभेदप्रतिपादक वाक्योंका प्रामाण्य अक्षुण्ण रहेगा, इसलिए यह अङ्गीकार करना चाहिए कि निर्विशेष, चिन्मात्र ब्रह्मको छोड़कर सम्पूर्ण जगत् मिथ्या है। जिसमें ईश्वर और ईशितव्य आदि अनन्त भेद निहित हैं। शांकरमतमें आत्मा एक मानी जाती है, आत्मभेद नहीं माना जाता है। 'बहुत जीव मुक्त हो गये हैं, बहुत संसारबन्धनमें पड़े हुए हैं'

यह बद्धमुक्त व्यवस्था है, यह शास्त्रसिद्ध है। आत्मभेद माननेपर इस व्यवस्थाकी संगति होती है। आत्मभेद न माननेपर यह व्यवस्था संभव नहीं होगी। इस प्रश्नका उत्तर एकजीववादी इस प्रकार देता है कि कोई जीव बद्ध है, कोई मुक्त है, यह व्यवस्था सर्वथा अमान्य है क्योंकि आत्मैक्य ही सिद्धान्त है। **शुको मुक्तः वामदेवो मुक्तः** इत्यादि वचन सुने जाते हैं, वे अर्थवाद हैं, मिथ्या हैं।

प्रश्न- सभी शरीरोंमें विद्यमान आत्माएं भिन्न-भिन्न हैं। एक सुखी है, दूसरा दुःखी है। एकके सुख, दुःखका ज्ञान दूसरेको नहीं है। इससे सिद्ध होता है कि प्रत्येक शरीरमें पृथक्-पृथक् आत्माएं रहती हैं, ऐसा होनेपर बद्ध-मुक्त व्यवस्था भी सिद्ध हो जाती है।

उत्तर- सभी शरीरोंमें भिन्न-भिन्न आत्माएं स्वीकार करनेमें कोई प्रमाण नहीं है। एक शरीर ही जीववाला है, अन्य सभी शरीर निर्जीव हैं। एक मनुष्य स्वप्नमें अनेक लोगोंको देखता है। वह जिस शरीरमें स्थित होकर स्वप्न को देखता है। वह शरीर जीववाला है, अन्य सभी शरीर निर्जीव हैं। उसी प्रकार ब्रह्म जिस शरीर में स्थित होकर संसार स्वप्न देख रहा है, वह शरीर ही सजीव है। स्वप्नमें दृश्यमान अन्य शरीर निर्जीव हैं। इससे सिद्ध होता है कि वस्तुतः आत्मभेद नहीं है। इस संसारस्वप्नमें ब्रह्मको दिखाई देनेवाले अनेक शरीर मिथ्या हैं, उनमें प्रतीत होनेवाले जीव भी मिथ्या हैं, इसलिए वे सभी शरीर निर्जीव हैं। जिस शरीरमें ब्रह्म जीवरूपसे स्थित होकर संसार स्वप्न को देख रहा है, वह शरीर ही जीववाला है। यही एक जीववाद है। एक ही शरीर सजीव मान्य होनेसे अन्य शरीरोंमें होनेवाले सुख-दुःखका अनुसन्धान क्यों नहीं होता है? यह प्रश्न भी खण्डित हो जाता है क्योंकि जब वह अन्य शरीरोंमें है ही नहीं, तब उक्त अनुसन्धानका प्रश्न ही नहीं उठता है। दृश्यमान अनेक शरीरोंमें किसी एक शरीरमें रहनेवाला जीव संसारस्वप्न देख रहा

है। अन्य शरीर निर्जीव होनेपर भी सजीवके समान स्वप्नदर्शी जीवको दिखाई दे रहे हैं, यह सिद्धान्त है। एक शरीरमें ब्रह्म जीव बनकर स्वप्न देख रहा है। उसको अभी तक अद्वैतज्ञान उत्पन्न नहीं हुआ है, इसलिए संसार स्वप्न बना हुआ है। वह ऐसा भी देखता है कि जीवाभासोंमें(हमको प्रतीत होनेवाले इन जीवोंमें) एक जीव दूसरे जीवको अद्वैत तत्त्वका उपदेश देता है, दूसरा जीव अद्वैतज्ञानको प्राप्त कर रहा है। जब तक वह स्वयं अद्वैतज्ञान प्राप्त नहीं करेगा, तब तक संसार स्वप्न बना ही रहेगा। जीवाभासके ज्ञानसे बन्धन निवृत्त नहीं होगा। संसारस्वप्न द्रष्टा मुख्यजीवको ही ज्ञान होनेपर बन्धन निवृत्त होगा।

निराकरण- इस वादमें यह दोष आता है कि इसके अनुसार मोक्षके साधन श्रवण, मनन, निदिध्यासनमें किसीकी प्रवृत्ति नहीं हो सकती है क्योंकि मुख्यजीव कौन है? इसका निर्णय दुष्कर है। जिस प्रकार अभी तक मोक्षके साधनमें प्रवृत्त होनेवाले शुकदेव और वामदेव जैसे महापुरुष भी मुक्त नहीं हुए, उसी प्रकार आज भी मोक्षसाधनमें लगनेका सभीका प्रयास व्यर्थ ही होगा। मोक्षके साधनमें लगनेवाले मुख्यजीवसे अतिरिक्त उपदेशक गुरु भी जीवाभास ही होगा, अतः उससे ज्ञानार्थ उपदेश प्राप्त करना भी संभव नहीं होगा। फिर भी यदि कोई उससे उपदेश ग्रहण करे तो उससे मुक्ति भी नहीं होगी क्योंकि अज्ञानीसे प्राप्त हुआ ज्ञान कल्याणकारक नहीं हो सकता।

निर्विशेषाद्वैतमतानुसार एक ब्रह्म ही सत्य है, जगत् मिथ्या है- अविद्यासे कल्पित है। जिस प्रकार जागते ही स्वप्नदृष्ट प्रपञ्चका बाध हो जाता है, उसीप्रकार तत्त्वज्ञान से ब्रह्मभिन्न प्रपञ्च का बाध हो जाता है, एक ब्रह्म ही अबाधित रहता है। इस मतसे विरुद्ध उनका एकजीववाद है क्योंकि इस मतके अनुसार ब्रह्मकी जीवभावसे जिस शरीरमें स्थिति मानी गई है, वह शरीर

मिथ्या है, उसमें जीवका ब्रह्मभाव भी मिथ्या है। यह ब्रह्मसे भिन्न होनेके कारण मिथ्या है। तत्त्वज्ञानसे वह शरीर तथा उसमें ब्रह्मका जीवभाव भी बाधित होनेसे यह सिद्ध होता है कि वह शरीर तथा उसमें ब्रह्मका जीवभाव भ्रमसे ब्रह्मको प्रतीत होता है, वास्तवमें वह सब है ही नहीं। इससे यह सिद्ध होता है कि भ्रमसे दिखाई देनेवाला वह शरीर भी निर्जीव है। जिस प्रकार संसार स्वप्नमें ब्रह्मको प्रतीत होनेवाले अन्य शरीर निर्जीव हैं, उसी प्रकार वह शरीर भी निर्जीव है। अतः यह कथन उचित नहीं है कि एक शरीर सजीव है, अन्य शरीर निर्जीव हैं। इससे वादीके अनुसार भले ही निर्जीववाद सिद्ध हो, एकजीववाद सिद्ध नहीं हो सकता है। जागरण दशामें बाधित होनेके कारण स्वप्नदृष्ट शरीर निर्जीव माने जा सकते हैं तथा जिस शरीरमें रहकर मनुष्य स्वप्न देखता है, उसे सजीव माना जा सकता है किन्तु जिस शरीरमें ब्रह्म जीवभावको प्राप्त होकर स्वप्न देखता है, वह शरीर तथा उसमें जीवभाव तथा अन्य सभी शरीर भी बाधित हो जाते हैं, ऐसी स्थिति में सभी शरीर निर्जीव ही सिद्ध होते हैं। इस प्रकार एकजीववाद वादीके सिद्धान्तके अनुसार ही कट जाता है।

जीवात्मा औपाधिक सिद्ध न होनेसे स्वाभाविक ही मानना चाहिए। इनका भेद भी औपाधिक सिद्ध नहीं होता है, अतः शास्त्रोंमें आत्मभेदका प्रतिपादन करनेवाले वचन स्वाभाविक भेद का ही प्रतिपादन करते हैं, ऐसा मानना चाहिए।

स्वाभाविक भेद- प्रत्येक शरीरमें रहनेवाली जीवात्मा भिन्न है। सौभरि आदि योगी इस विषयके अपवाद हैं क्योंकि योगबलसे एक ही जीवात्मा अनेक शरीरोंको धारण करती है। सामान्यतः प्रत्येक शरीरमें अलग-अलग जीवात्माएं रहती हैं।

जीवात्माएं नाना(अनेक) हैं। नाना होनेसे उनका भेद(अनेकत्व या बहुत्व) स्वतः सिद्ध है। नित्य, चेतन परमात्मा असंख्य, नित्य चेतनोंको अभीष्ट पदार्थ प्रदान करते हैं- **नित्यो नित्यानां चेतनश्चेतनानामेको बहूनां यो विदधाति कामान्**।(क.उ.२.२.१३, श्वे.उ.६.१३) इस श्रुतिमें एकवचनान्त पद परमात्माके बोधक हैं तथा बहुवचनान्त पद जीवात्मा के बोधक हैं। चेतनानाम्(जीवानाम्) के विशेषण नित्यानाम् और बहूनाम् पद हैं। यह श्रुति जीवात्माओंके परस्पर भेदका प्रतिपादन करती है। इस परमात्माके एक पाद(भाग) सम्पूर्ण प्राणी हैं- **पादोऽस्य विश्वा भूतानि**(तै.आ.३.१२.३) इस मन्त्रमें **विश्वा भूतानि** इस प्रकार बहुवचनान्त पदोंका प्रयोग होनेसे जीवात्माओंका भेद सिद्ध होता है। आत्माओंका यह पारस्परिक भेद स्वाभाविक ही है, औपाधिक नहीं है क्योंकि शास्त्रवचन मुक्तावस्थामें उपाधि न रहनेपर भी भेद का प्रतिपादन करते हैं। इस ज्ञानका आश्रय लेकर जो मेरी समताको प्राप्त हो गये हैं, वे सृष्टिकालमें उत्पन्न नहीं होते हैं और प्रलयमें व्यथित नहीं होते हैं- **इदं ज्ञानमुपाश्रित्य मम साधर्म्यमागताः। सर्गेऽपि नोपजायन्ते प्रलये न व्यथन्ति च**।।(गी.१४.२) यहाँ मुक्तोंके लिए 'आगताः' 'नोपजायते' 'न व्यथन्ति' इस प्रकार बहुवचनान्त पदोंका प्रयोग होनेसे मुक्तावस्थामें भी जीवात्माओंका भेद सिद्ध होता है। श्रीभगवान् मुक्तोंके परम आश्रय हैं- **मुक्तानां परमागतिः**(वि.स.१५) यहाँ 'मुक्तानाम्' इस बहुवचनान्त पदसे मुक्तोंका भेद सिद्ध होता है। आत्मविषयक ज्ञानसे जिनका आवरणभूत अज्ञान नष्ट हो गया है, उनका असंकुचित ज्ञान आदित्यकी प्रभाके समान सभीको प्रकाशित करता है- **ज्ञानेन तु तदज्ञानं येषां नाशितमात्मनः। तेषां आदित्यवज्ज्ञानं प्रकाशयति तत्परम्**।।(गी.५.१६)। यहाँ 'तेषाम्' इस प्रकार विनष्ट अविद्या उपाधिवाले आत्मस्वरूपके अनेकत्वका कथन

होनेसे आत्माएं अनेक सिद्ध होती हैं। जीवात्माओंका अनेकत्व उपाधिके कारण है, ऐसा नहीं कह सकते हैं क्योंकि अज्ञानके अभाववाली आत्मामें उपाधिका लेश भी नहीं हो सकता है। स्वाभाविक भेदवाद शास्त्रसम्मत है। इसमें बद्ध-मुक्तव्यवस्था तथा सुख-दुःखादिकी व्यवस्था सुगमतासे सिद्ध होती है।

जीवात्माओंमें दो प्रकारके भेद ज्ञात होते हैं-१.देवत्व, मनुष्यत्व आदि बाह्य भेद। २.सुखित्व, दुःखित्व आदि आन्तरिक भेद। इनमें प्रथम प्रकृतिके कार्य देह उपाधिके कारण आत्मामें प्रतीत होता है और दूसरा प्रकृतिके कार्य अन्तःकरण उपाधिके कारण आत्मामें प्रतीत होता है। अतः ये दोनों भेद औपाधिक हैं, स्वाभाविक नहीं हैं क्योंकि उपाधियोंके निवृत्त हो जानेपर ये भेद आत्मामें प्रतीत नहीं होते हैं। देह और अन्तःकरण उपाधिके साथ आत्माके सम्बन्धका कारण कर्म है। ब्रह्मविद्यासे कर्मकी पूर्णतः निवृत्ति हो जानेपर उपाधिके साथ आत्माका सम्बन्ध भी नष्ट हो जाता है। उस समय आत्मामें औपाधिक भेद नहीं रहते हैं। देवत्व, मनुष्यत्व, तिर्यक्त्व तथा स्थावरत्वरूप चार प्रकारके भेद तथा सुखित्व, दुःखित्वरूप आन्तर भेद मिथ्याज्ञान(आत्मविषयक भ्रान्तिज्ञान)के कारण प्रतीत होते हैं। देवत्वादिरूप भेदका नाश होनेपर सुखित्वादिरूप भेद भी नहीं रहते हैं क्योंकि उस समय जीवात्मा कर्मरूप उपाधिसे रहित होती है- **चतुर्विधोऽपि भेदोऽयं मिथ्याज्ञाननिबन्धनः। देवादिभेदेऽपध्वस्ते नास्त्येवानावरणो हि सः।।**(वि.ध.), जो आत्मा प्राकृतधर्मोंसे रहित एवं निर्विकार है, वह प्रकृतिके संगके कारण अहंकार(देहात्मबुद्धि) तथा ममकार(ममता) आदि दोषोंसे दूषित होकर देवत्व आदि तथा सुखित्वादि इन प्राकृत(प्रकृतिसंगके कारण होनेवाले) धर्मोंको अपना धर्म मान लेती है- **तथात्मा प्रकृतेः संगादहंमानादिदूषितः। भजते प्राकृतान्**

धर्मानन्यस्तेभ्यो हि सोऽव्ययः।।(वि.पु.६.७.२४), हे राजन! यह पुरुष अर्थात् प्रत्यगात्मा न देव है, न मनुष्य है, न पशु है, न वृक्ष है। ये भेद शरीरकी आकृति(अवयवसंस्थान)रूप हैं तथा कर्मजन्य हैं- **पुमान् न देवो न नरो न पशुर्न च पादपः। शरीराकृतिभेदास्तु भूपैते कर्मयोनयः।।**(वि.पु.२.१३.९८), यह आत्मा देव नहीं है, मनुष्य नहीं है, तिर्यक् नहीं है, स्थावर नहीं है, वास्तवमें आत्मा ज्ञानानन्दरूप है और परमात्मा की शेष है- **नायं देवो न मर्त्यो वा न तिर्यक् स्थावरोऽपि वा। ज्ञानानन्दमयस्त्वात्मा शेषो हि परमात्मनः।।** यह आत्मा आनन्दरूप, ज्ञानरूप तथा निर्मल है, दुःख, अज्ञान और मल प्रकृतिके धर्म हैं, आत्माके धर्म नहीं हैं- **निर्वाणमय एवाऽयमात्मा ज्ञानमयोऽमलः। दुःखाज्ञानमलाःधर्माः प्रकृतेस्ते तु नात्मनः**(वि.पु.६.७.२२)सभी आत्माएं ज्ञानानन्दस्वरूप हैं,अतः उनमें परस्पर ज्ञानत्वावच्छिन्नप्रतियोगिताकभेद और आनन्दत्वाऽवच्छिन्न-प्रतियोगिताकभेद नहीं रहते हैं अर्थात् आत्माएं स्वरूपतः भिन्न होने पर भी ज्ञान और आनन्दस्वरूप की दृष्टि से उनमें कोई भेद नहीं रहता है। शरीरोंमें रहनेपर भी आत्मा शरीरकृत भेदोंसे रहित है।

देवता, तिर्यक्, मनुष्य और स्थावर भेदसे विभक्त चार प्रकारके शरीर प्रकृतिके परिणाम हैं। जिस प्रकार विभिन्न प्रकारके काष्ठोंसे अग्नि सम्बद्ध रहती है, उसी प्रकार देव, मनुष्य आदि शरीरोंसे आत्मा सम्बद्ध रहती है। जिस प्रकार जपाकुसुममें विद्यमान लालिमा स्फटिकमें प्रतीत होती है, उसी प्रकार शरीरमें विद्यमान देवत्व और मनुष्यत्व धर्म आत्मामें प्रतीत होते हैं। जिस प्रकार वक्रत्व(टेढ़ापन) और ऋजुत्व(सीधापन) अग्निके धर्म नहीं हैं, अग्निका वक्र काष्ठ और ऋजु काष्ठसे सम्बन्धमात्र है, उसी प्रकार देवत्व आदि आत्माके धर्म नहीं हैं, आत्माका देवादि शरीरसे सम्बन्धमात्र है। शरीरके संसर्गके कारण होनेवाले सुख और दुःख

आत्माके औपाधिक धर्म हैं, स्वाभाविक धर्म नहीं हैं। सभी शरीरोंमें विद्यमान जीवात्माका स्वाभाविकरूप ज्ञानानन्दमय है।

देवमें मनुष्यादिका भेद देवत्व(देवताकी आकृति) रूप है तथा मनुष्यमें देवादि का भेद मनुष्यत्व(मनुष्यकी आकृति) रूप है। वस्तुतः देवत्व, मनुष्यत्व आदि भेद आत्माओंमें नहीं रहते हैं, वे शरीरकी आकृतिरूप होनेके कारण शरीरोंमें ही रहते हैं। देहसम्बन्धके कारण होनेवाले वे भेद मुक्तात्मा में भी नहीं रहते हैं क्योंकि उस समय कर्मजन्य देहसम्बन्ध नहीं रहता है। शास्त्रप्रतिपादित आत्माओंका स्वरूपतः भेद मुक्तावस्थामें भी बना रहता है। जिस प्रकार सुवर्णसे बने अनेक घट सुवर्णत्वेन एक होनेपर भी परस्पर भिन्न ही होते हैं, उसी प्रकार सभी आत्माएं ज्ञानत्वेन एक होनेपर भी परस्पर भिन्न ही होती हैं। देव, मनुष्य आदि शब्दोंसे कर्मकृत औपाधिक भेद ही व्यक्त किये जाते हैं। देव, मनुष्य आदि शब्दोंसे स्वाभाविक भेद व्यक्त नहीं किया जा सकता है। स्वाभाविक भेद स्वसंवेद्य है, स्वरूपभूतज्ञानका विषय है तथा ज्ञान आत्मा आदि शब्दोंका वाच्य है। सभी आंत्माओंका ज्ञान ही एकस्वरूप है, ज्ञानत्व ही एक आकार(प्रकार या धर्म) है, इसलिए सभी आत्माओंकी ज्ञानैकाकारत्वेन(ज्ञानत्वेन) समानता है। आकार वस्तुमें विद्यमान धर्म होता है।

जिस प्रकार समान आकारवाले अनेक घट, अनेक ब्रीहि(धान राशि) और अनेक रत्न होने पर यह एक घट है, एक ब्रीहि है और एक रत्न है,ऐसा अभेदव्यवहार होता है, उसी प्रकार अनेक आत्माएं होनेपर आत्मा एक है, ऐसा अभेदव्यवहार होता है। यहाँ ज्ञानत्व आकार(प्रकार या विशेषण) की एकताके कारण भिन्न आत्माओंमें भी एकत्वव्यवहार होता है। यहाँ सादृश्यमूलक एकत्वका व्यवहार है, इसलिए जीवाद्वैतबोधक वचनों को जीवके

प्रकार की एकता का बोधक जानना चाहिए। आत्माओंका स्वरूप-ऐक्य नहीं हो सकता है। उनका साम्य भगवद्गीताके निम्नवचनोंसे स्पष्ट है- अपनी और अन्य की आत्माओंमें ज्ञानरूपत्व समानता के कारण पुत्रजन्मादिसे होनेवाले सुख और उनकी मृत्यु आदि से होनेवाले दुःखका अपनी और अन्य सभी आत्माओंमें असम्बन्ध है। इस असम्बन्धरूप समानताके कारण जो सुख और दुःखको सम देखता है, वह योग की पराकाष्ठा पर पहुँचा हुआ माना जाता है- **आत्मौपम्येन सर्वत्र समं पश्यति योऽर्जुन। सुखं वा यदि वा दुःखं स योगी परमो मतः।।**(गी.६.३२) कोई विद्याविनयसम्पन्न ब्राह्मण है, कोई नाममात्रका ब्राह्मण है, इनमें गुणोंकी दृष्टिसे वैषम्य है, गाय, कुत्ता और हाथीकी आकृतिमें वैषम्य होता है। कुत्ताको पकाकर खानेवाले श्वपचका अन्यसे आजीविकामें भेद है। इस प्रकार अनेक विषमताएं दिखाई देती हैं। इन विषमताओंका कारण शरीर-उपाधि है। आत्माओंमें कोई विषमता नहीं है, विषमतायुक्त शरीरोंमें स्थित आत्माएं एक समान हैं। आत्माके यथार्थ स्वरूपको जाननेवाले महापुरुष इसे समझते हैं- **विद्याविनयसम्पन्ने ब्राह्मणे गवि हस्तिनि, शुनि चैव श्वपाके च पण्डिताः समदर्शिनः।।**(गी.५.१८) जिनका मन आत्माओंकी ज्ञानैकाकारत्वरूप समानतामें स्थित है, उन्होंने साधनकालमें ही संसारको जीत लिया। प्रकृतिके संसर्गरूप दोषसे रहित, समान आत्मा ब्रह्म(शुद्धात्मा) है। इसलिये आत्माकी समता में स्थित व्यक्ति ब्रह्ममें स्थित है। ब्रह्ममें स्थिति होना ही संसारको जीतना है- **इहैव तैर्जितः सर्गो येषां साम्ये स्थितं मनः। निर्दोषं हि समं ब्रह्म तस्माद् ब्रह्मणि ते स्थिताः।।**(गी.५.१९), **मम साधर्म्यमागताः**(गी.१४.२) इस गीतावचनके द्वारा मुक्तावस्थामें परमात्माके साथ परम समता कही

गई है, जब जीवकी परमात्मासे परम समानता है तो जीवोंकी परस्परमें परम समानता अवश्य है।

आत्मभेद लोकसिद्ध नहीं– जीवोंका परस्पर भेद लोकसिद्ध है, इसलिए वह शास्त्रप्रतिपाद्य नहीं हो सकता है, ऐसी शंका नहीं करनी चाहिए क्योंकि 'अहं सुखी, अहं दुःखी' इस प्रकार जीवोंका जो लोकसिद्ध भेद है, वह औपाधिक है। स्वाभाविक भेद लोकसिद्ध नहीं है, वह तो शास्त्रप्रतिपाद्य(अलौकिक) है। मुक्तावस्थामें देवत्वादिरूप भेदक आकारका अभाव होनेपर ज्ञानरूपत्वेन सभीकी एकता होनेपर भी अपनी आत्माका प्रत्यक्त्वेन और दूसरी आत्माका पराक्त्वेन भेद ज्ञात होता है।

निर्विशेषाद्वैती– अपनी तथा परदेहमें विद्यमान सत् आत्माका जो ज्ञानरूप है, वह परमार्थ है, इसलिए द्वैतवादी भ्रान्त होते हैं– **तस्यात्मपरदेहेषु सतोऽप्येकमयं हि यत्। विज्ञानं परमार्थो हि द्वैतिनोऽतथ्यदर्शिनः।।**(वि.पु.२.१४.३१) इस प्रकार आत्माओंका भेद माननेवाले अतथ्यदर्शी(भ्रान्त) कहे गये हैं, अतः आत्माओंका भेद स्वीकार करना उचित नहीं है।

सविशेषाद्वैती– आत्माकी समताके प्रतिपादक वचन इससे पूर्वमें प्रस्तुत किये जा चुके हैं। प्रकृतश्लोकमें भी एक शब्द समान अर्थमें है, उससे मयट् प्रत्यय स्वार्थमें हुआ है अथवा एक शब्द भावप्रधान है, उससे प्रचुरता अर्थमें मयट् हुआ है। उपाधिसे रहित आत्माओंमें अधिक समानता है, उपाधिसे सम्बद्धमें नहीं। सुख–दुःखादि आन्तरिक भेद और देवत्वादिरूप बाह्यभेदके कारण उनमें अधिक समानताका अभाव है। उक्त श्लोकका यह अर्थ है कि सभी(अपने तथा दूसरोंकी) देहमें विद्यमान आत्माओंकी एकता(समानता) का जो ज्ञान है, वह परमार्थ है। देव–मनुष्यादिरूप शरीर होते हैं, ये

प्रकृतिके परिणामविशेष हैं। इनके सम्बन्धके कारण आत्माओंमें देवत्व, मनुष्यत्वादिरूप द्वैतदर्शन करनेवालोंको अतथ्यदर्शी कहा गया है अर्थात् आत्माको देव, मनुष्य आदि जाननेवालेको अतथ्यदर्शी कहा गया है, ऐसे द्वैतदर्शी अतथ्यदर्शी ही हैं। सभी शरीरोंमें रहनेवाली आत्माएं समान हैं, अतः शरीरगत और आत्मगत भेदका भी निषेध नहीं किया जाता है। **तस्यात्मपरदेहेषु**(वि.पु.२.१४.३१) यहाँ पर देहसे भिन्न आत्माके बोधक 'तस्य' और 'पर' शब्दोंसे आत्माओंका भेद कहा गया है। यदि मेरेसे भिन्न कोई होता- **यद्यन्योऽस्ति परः कोऽपि**(वि.पु.२.१३.९०) यहाँ भी आत्माकी एकता प्रतीत नहीं होती है। वहाँ 'पर' शब्द अपनेसे भिन्न आत्माका बोधक है और 'अन्य' शब्द उस आत्माके ज्ञानैकाकारत्वसे भिन्न आकारत्वके निषेधके लिए है। उक्त वचनका यह भाव है कि यदि मेरेसे भिन्न कोई आत्मा मेरे आकार ज्ञानसे भिन्न आकारवाली होती, तो मैं इस आकारवाला हूँ और यह अन्य आकारवाला है, ऐसा कहा जा सकता था किन्तु ऐसा नहीं है क्योंकि ज्ञानत्वेन सबकी समानता है। 'हे राजन्! यदि मुझसे भिन्न कोई आत्मा मेरे आकार(ज्ञानाकार) से भिन्न आकारवाली होती तो यह कहा जा सकता है कि मैं यह(इस आकारवाला)हूँ, यह अन्य(अन्य आकारवाला) है- **यद्यन्योऽस्ति परः कोऽपि मत्तः पार्थिवसत्तम। तदैषोऽहमयं चान्यो वक्तुमेवमपीष्यते।।**(वि.पु.२.१३.९०) जीवात्माके प्रसङ्गमें विधीयमान एकत्व व्यक्तिका एकत्व नहीं है, वह तो प्रकार का एकत्व है। अतः भेदनिषेधका तात्पर्य भिन्न आकारके निषेधमें है अर्थात् सभी आत्माओंकी परस्परमें समानता है और उनके प्रकार(आकार) की एकता है।

निर्विशेषाद्वैती- **द्वैतिनोऽतथ्यदर्शिनः**(वि.पु.२.१४.३१) इस प्रकार सामान्य वचन होनेसे आप आत्माओंमे केवल देवत्वादिरूप भेदका

निषेध क्यों करते हैं? आत्माओंके परस्पर भेदका निषेध क्यों नहीं करते?

सविशेषाद्वैती– उक्त वचनसे सामान्यतः भेदनिषेध प्रतीत होने पर आप केवल आत्माके भेदका निषेध क्यों करते हैं? शरीर और आत्माके भेदका निषेध क्यों नहीं करते?

निर्विशेषाद्वैती– शरीर और आत्माका भेद प्रामाणिक है, इसलिए हम उसका निषेध नहीं करते हैं।

सविशेषाद्वैती– आत्माओंका परस्पर भेद भी प्रामाणिक है, इसलिए हम उसका भी निषेध नहीं करते हैं, हम तो अप्रामाणिक देवत्वादिरूप भेदका निषेध करते हैं। सभी आत्माओंमें जातिकी एकताके कारण बहुत्वके अर्थमें एकवचन का भी प्रयोग होता है, इसलिए उक्त श्लोकमें भी 'सतः' इस प्रकार एकवचनका प्रयोग हुआ है। विभिन्नस्थानोंमें विद्यमान एक आकारवाले ब्रीहियोंको देखकर यह कहा जाता है कि यह ब्रीहि और वह ब्रीहि एक है तथा यह ब्रीहि उस ब्रीहिसे भिन्न नहीं है। यहाँ ब्रीहित्वरूप प्रकार एक होनेसे भिन्न ब्रीहियोंको एक कहा जाता है। घनिष्ठ मैत्रीसम्बन्धको लेकर भी एकता कही जाती है, जैसे–हे देवि! श्रीराम और सुग्रीवमें इस प्रकार एकता हुई– **रामसुग्रीवयोरैक्यं देव्येवं समजायत**(वा.रा.५.३५.५३), दो राजाओंमें विरोध शान्त होनेपर भी यह कहा जाता है कि दोनों राजा एक हो गये। भोग एक होनेपर भी भोक्ताओंकी एकताका व्यवहार होता है। अपृथक् सिद्धि सम्बन्ध होनेपर भी एकताका व्यवहार होता है। कहनेका तात्पर्य यह है कि स्वरूप-एकता न होनेपर भी एकताका व्यवहार होता है। शरीरके सम्बन्धसे रहित जीवात्माओंमें कुछ भी विलक्षणता(असमानता) न होनेके कारण उनकी एकता तथा नानात्वनिषेधका प्रतिपादन संभव होता है।

ब्रह्मसूत्र शांकरभाष्यमें कहा है- अन्यवादी तो जीवात्माका पारमार्थिकरूप ही मानते हैं और कुछ हमारे पक्षके भी ऐसा ही मानते हैं- **अपरे तु वादिनः पारमार्थिकमेव जैवं रूपमिति मन्यन्ते, अस्मदीयाश्च केचित्**(ब्र.सू.शां.भा.१.३.१६) श्रीशंकराचार्यके इस वर्णनसे भी जीवभेदवादकी प्राचीनता स्पष्ट है।

आत्मा और परमात्माका भेद- इस परमात्माके एक अंश सम्पूर्ण प्राणी(जीवात्माएं) हैं- **पादोऽस्य विश्वा भूतानि**(ऋ.सं.८.४.१७) इस मन्त्रसे अंश आत्मा और अंशी परमात्माका भेद स्पष्ट ज्ञात होता है। जो नित्योंमें नित्य है, चेतनोंमें चेतन है, वह एक परमात्मा बहुत आत्माओंको अभीष्ट पदार्थ अनायास प्रदान करता है- **नित्यो नित्यानां चेतनश्चेतनानामेको बहूनां यो विदधाति कामान्**(क.उ.२.२.१३)। यहाँ एकवचनान्त पद परमात्मा और बहुवचनान्त पद जीवात्माओंके बोधक हैं। इस श्रुतिसे जीव और परमात्माका भेद स्पष्ट है। नित्य और असंकुचित ज्ञानवान् परमात्मा तथा संकुचित ज्ञानवान् जीवात्मा ये दोनों अजन्मा हैं। इन दोनोंमें प्रथम नियन्ता है, दूसरा नियाम्य है- **ज्ञाज्ञौ द्वावजावीशनीशौ**(श्वे.उ.१.६), समान गुणवाले, साथ रहनेवाले, पक्षी के समान जीव और ईश्वर वृक्षकी तरह छेदनके योग्य एक शरीरमें रहते हैं। उनमें जीव परिपक्व कर्मफलको भोगता है तथा परमात्मा कर्मफलको न भोगते हुए प्रकाशित होता रहता है- **द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया समानं वृक्षं परिषस्वजाते। तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्ति अनश्नन्नन्योऽभिचाकशीति।।** (ऋ.सं.२.३.१७, मु.उ.३.१.१), सर्वात्मा परब्रह्म सभी जीवात्माओंके अन्दर प्रवेश करके शासन करनेवाले हैं- **अन्तःप्रविष्टः शास्ता जनानां सर्वात्मा'**(तै.आ.३.११.३), जो आत्माके अन्दर रहता है, आत्माके अन्दर रहनेपर भी आत्मा जिसको नहीं जानती है, आत्मा जिसका शरीर है, जो आत्माके अन्दर प्रविष्ट होकर उसके

प्रवृत्ति-निवृत्तिरूप व्यवहारका नियमन करता है, वह निरुपाधिक अमृतस्वरूप, भोग्य परमात्मा तेरा अन्तर्यामी है- **य आत्मनि तिष्ठन् आत्मनोऽन्तरो ग्रमात्मा न वेद, यस्यात्मा शरीरं य आत्मनमन्तरो यमयति, स त आत्माऽन्तर्याम्यमृतः**(बृ.उ.मा.पा.३.७.२६), परमात्मा ही सभी प्राणियोंके सभी प्रकारके ज्ञानका कारण है तथा इन्द्रियोंके अधिष्ठाता(नियन्ता) जीवका भी अधिष्ठाता है- **स कारणं करणाधिपाधिपः**(श्वे.उ.६.९), परमात्मा प्रकृति और पुरुषका स्वामी है तथा गुणोंसे सम्पन्न है- **प्रधानक्षेत्रज्ञपतिर्गुणेशः**(श्वे.उ.६.१६), जीवात्मा और उसके प्रेरक परमात्माको श्रवणादिसे भिन्न-भिन्न जानकरकी गई उपासनासे प्रसन्न हुए परमात्माकी प्रीति का विषय बना हुआ जीव मुक्त हो जाता है- **पृथगात्मानं प्रेरितारं च मत्वा जुष्टस्ततस्तेनाऽमृतत्वमेति** (श्वे.उ.१.६), परमात्मा त्रिगुणात्मक प्रकृतिरूप साधनसे इस जगत्की रचना करते हैं और परमात्माकी आश्रित मायाके द्वारा जीव जगत्-बन्धनको प्राप्त होता है- **अस्मात् मायी सृजते विश्वम् एतद्, तस्मिंश्चाऽन्यो मायया सन्निरुद्धः**(श्वे.उ. ४.९), जीव सुषुप्तिकालमें अपने परमप्रिय, सुहृद् परमात्माके द्वारा गाढ़ आलिंगनको प्राप्त होता है- **प्राज्ञेनात्मना सम्परिष्वक्तः**(बृ.उ.४. ३.२१), जीव सर्वज्ञ परमात्मासे सम्बन्धविशेषको प्राप्तहोकर इस शरीरको छोड़कर जाता है- **प्राज्ञेनात्मनान्वारूढः**(बृ.उ.४.३.३५) इत्यादि श्रुतियोंमें जीवात्मासे भिन्न परब्रह्म कहा जाता है।

जीवसे भिन्न ब्रह्म है क्योंकि श्रुतियोंमें स्पष्टरूपसे उन दोनोंके भेदका कथन है- **अधिकं तु भेदनिर्देशात्**(ब्र.सू.२.१.२२)। काण्व और माध्यन्दिन इन दोनों शाखाओंका अध्ययन करनेवाले वैदिक विद्वान् जीवसे भिन्न परमात्माको अपनी शाखाओंमें पढ़ते हैं- **उभयेऽपि हि भेदेनैनमधीयते**(ब्र.सू.१.२.२१), जीवसे परमात्माके भेदका **अन्यमीशम्**(श्वे.उ.४.७) इस श्रुतिसे स्पष्ट प्रतिपादन होनेसे

यह ज्ञात होता है कि द्युपृथिवी आदिका आधार परब्रह्म ही है, जीव नहीं है- **भेदव्यपदेशात्**(ब्र.सू.१.३.४) इत्यादि वचनोंमें जीवसे भिन्न परमात्माका वर्णन किया गया है।

मुक्तात्माका भी परमात्मासे भेद- इस कर्मकृत शरीरको छोड़कर परब्रह्मको प्राप्त करूँगा- **एतमितः प्रेत्याऽभिसंभवितास्मि**(छां.उ.३.१४.४)। यहाँ मुक्तावस्थामें प्राप्य ब्रह्म और प्रापक जीवात्माका भेद वर्णित है। मुक्तिमें जीव और ब्रह्मके भेदका प्रतिपादन करनेवाली श्रुतियाँ गौणमुक्तिविषयक हैं, परममुक्तिविषयक नहीं हैं, यह शंका निर्विशेषाद्वैतवादीको नहीं करनी चाहिए क्योंकि ब्रह्मवेत्ता परब्रह्म और उसके कल्याणकारक गुणोंका साथ ही अनुभव करता है- **सोऽश्नुते सर्वान् कामान् सह ब्रह्मणा विपश्चितेति।**(तै.उ.२.१.२) जब ब्रह्मदर्शी जगत्के अभिन्ननिमित्तोपादानकारण, नियन्ता, देदीप्यमान दिव्य-मङ्गलविग्रहसे युक्त, पुरुष शब्दके अभिधेय परब्रह्मका साक्षात्कार करता है, तब वह विद्वान् पुण्यपापको त्यागकर प्रकृतिके सम्बन्धसे रहित होकर परब्रह्मके साथ परम समताको प्राप्त करता है- **यदा पश्यः पश्यते रुक्मवर्णं कर्तारमीशं पुरुषं ब्रह्मयोनिम्। तदा विद्वान् पुण्यपापे विधूय निरञ्जनः परमं साम्यमुपैति।।**(मु.उ.३.१.३), समता भिन्न वस्तुओंमें ही होती है। जीव और ब्रह्मकी नित्यत्व और चेतनत्व धर्मसे सर्वदा समानता है किन्तु मुक्तावस्थामें जीवात्माके अपहतपाप्मत्वादि गुणोंका आविर्भाव होनेसे उसकी परब्रह्मके साथ अत्यन्त समानता है। इस ज्ञानका आश्रय लेकर जो मेरी समताको प्राप्त हो गये हैं, सभी प्राणियोंकी सृष्टि होनेपर भी वे उत्पन्न नहीं होते हैं तथा प्रलयकालमें व्यथित नहीं होते हैं- **इदं ज्ञानमुपाश्रित्य मम साधर्म्यमागताः। सर्गेऽपि नोपजायन्ते प्रलये न व्यथन्ति च।।**(गी.१४.२) श्रुतिके उपबृंहणभूत इस वचनमें श्रीभगवान्‌ने ही परम समताके अर्थमें साधर्म्य शब्दका प्रयोग किया है। जैसे अपने

उत्पत्तिस्थानसे निकलकर नीचेकी ओर प्रवाहित होनेवाली गंगादि नदियाँ गंगा, यमुना, सरस्वती आदि नामोंको तथा शुक्लत्व, नीलत्व आदि रूपोंको छोड़कर समुद्रमें लीन हो जाती हैं, वैसे ही विद्वान् जीवनकालमें विद्यमान देवदत्त आदि नाम तथा देवत्व, मनुष्यत्व आदि रूप(आकृति) को छोड़कर परात्पर परब्रह्मको प्राप्त करता है- **यथा नद्यः स्यन्दमानाः समुद्रेऽस्तं गच्छन्ति नामरूपे विहाय। तथा विद्वान्नामरूपाद् विमुक्तः परात्परं पुरुषमुपैति दिव्यम्।।**(मु.उ.३.२.८) इत्यादि श्रुतियोंमें वादीको अभिमत परमुक्तिमें भी जीव-ब्रह्मका भेद प्रतिपादित है। यहाँ मुक्तावस्थामें औपाधिक भेदका ही त्याग कहा गया है, स्वाभाविक भेदका त्याग नहीं कहा है, वह तो सर्वदा बना ही रहता है। जैसे समुद्रमें मिलनेसे पूर्व शुक्लत्वादि रूप तथा गंगा, यमुनादि नामोंसे नदियाँ उपलब्ध होती हैं, वैसे ही ब्रह्मप्राप्तिसे पहले देवत्व, मनुष्यत्वादिरूप तथा देवदत्तादि नामोंसे जीवात्माएं उपलब्ध होती हैं। जैसे समुद्रमें लीन होनेके बाद नदियाँ पूर्व नामरूपोंसे उपलब्ध नहीं होती हैं, वैसे ही परमात्मामें लीन(अपृथक्स्थित) आत्माएं अपने पूर्व नामरूपोंसे उपलब्ध नहीं होती हैं। जैसे पूर्व नामरूपोंको छोड़कर नदी समुद्रमें है ही। नदी समुद्रमें नहीं है, ऐसा नहीं कह सकते हैं, वैसे पूर्व नामरूपको छोड़कर मुक्तात्मा परब्रह्म में है ही, वह परब्रह्ममें नहीं है, ऐसा नहीं कह सकते हैं। नदीका समुद्रसे वैधर्म्य नदीत्व है, समुद्रके संसर्गसे इसका त्याग होकर समुद्रके साथ परम साम्य होता है। आत्माका परमात्मासे वैधर्म्य प्रकृति के साथ सम्बन्ध है। परमात्म-प्राप्तिसे इसका त्याग होकर परमात्माके साथ परम साम्य होता है। यहाँ भेदक नामरूपोंका अभाव ही वर्णित है, स्वरूप-एकता वर्णित नहीं है, परमसमता वर्णित है, इसलिए धर्मराज नचिकेतासे कहते हैं- हे गौतम(नचिकेता)! जैसे शुद्ध जलमें मिलाया शुद्ध जल उसके(शुद्धजल

नहीं सकते हैं क्योंकि **यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते**(तै.उ.३.१.२) इस तैत्तिरीय श्रुतिमें भी 'भूत' पद बद्धजीवका वाचक है। इससे भिन्न मुक्तात्माका वाचक अक्षर पद है। जो अव्यय परमात्मा अचेतन प्रकृति, इससे संसृष्ट बद्धजीव तथा इसके सम्बन्धसे रहित मुक्तात्मारूप तीनों लोकोंमें प्रवेश करके उन्हें धारण करता है- **यो लोकत्रयमाविश्य बिभर्त्यव्यय ईश्वरः**।(गी.१५.१७) इस प्रकार आत्मा और परमात्माका आत्मशरीरभाव तथा नियाम्यनियामकभाव सम्बन्ध गीतामें प्रतिपादित है। अतः आत्मा को ब्रह्मात्मक(ब्रह्म आत्मा नियन्ता यस्य सः)जानना चाहिए। **क्षेत्रज्ञं चापि मां विद्धि**(गी.१३.२) यहाँ पर माम् पद मदात्मक(ब्रह्मात्मक) अर्थका बोधक है।

शंका- ब्रह्मको जाननेवाला ब्रह्म ही हो जाता है- **ब्रह्मवेद ब्रह्मैव भवति**(मु.उ.३.२.६) यह श्रुति स्पष्ट शब्दोंमें ब्रह्मज्ञानीके ब्रह्मभावको कहती है। अतः अविद्यारहित मुक्तात्माकी ब्रह्मके साथ स्वरूप-एकता माननी चाहिए।

समाधान- निष्पन्न उपासनावाला ब्रह्मदर्शी औपाधिक नामरूपोंको छोड़कर परात्पर, दिव्य परमात्माको प्राप्त करता है- **नामरूपाद् विमुक्तः परात्परं पुरुषमुपैति दिव्यम्**।(मु.उ.३.२.८) यह श्रुति मुक्तात्माके प्राकृत नामरूपके अभावका प्रतिपादन करती है। मुक्तात्मा प्रकृतिके सम्बन्धसे रहित होकर परब्रह्मके साथ परम समताको प्राप्त करता है-**निरञ्जनः परमं साम्यम् उपैति**।(मु.उ.३.१.३), यह आत्मा पापरहित, जरारहित, मृत्युरहित, शोकरहित, क्षुधारहित, पिपासारहित,. सत्यकाम और सत्यसंकल्प है- **एष आत्माऽपहतपाप्मा विजरो विमृत्युर्विशोको विजिघत्सोऽपिपासः सत्यकामः सत्यसंकल्पः**।(छां.उ.८.१.५) इस प्रकार दहर विद्यामें अपहतपाप्मत्वादि ब्राह्म(ब्रह्मके) गुण कहे गये हैं तथा **य आत्माऽपहतपाप्मा विजरो विमृत्युर्विशोको विजिघत्सोऽपिपासः**

सत्यकामः सत्यसंकल्पः।(छां.उ.८.७.१) इस प्रकार प्रजापतिविद्यामें आत्माके गुण कहे गये हैं। परमात्माके अपहतपाप्मत्वादि धर्म सदा आविर्भूत रहते हैं किन्तु प्रकृति-संसर्गके कारण बद्धावस्थामें जीवके ये धर्म तिरोहित हो जाते हैं। यह जीवात्मा पर ज्योति(त्रिपाद्विभूतिस्थ परब्रह्म) को पाकर अपहतपाप्मत्वादि ब्राह्मरूपसे आविर्भूत होता है- **परं ज्योतिरुपसंपद्य स्वेन रूपेणाभिनिष्पद्यते**।(छां.उ.८.१२.२) यह श्रुति मुक्तात्माके स्वाभाविक अपहतपाप्मत्वादि गुणोंके आविर्भावको कहती है। अविद्या के पूर्णतः निवृत्त होनेसे मुक्तका ज्ञान गुण भी असंकुचित होता है। इस प्रकार मुक्तात्माके स्वाभाविक अपहतपाप्मत्वादि गुणोंका आविर्भाव होनेसे तथा असंकुचित ज्ञानगुण होनेसे उसकी परब्रह्मके साथ अत्यन्त समता होती है। दोनोकी परम समानता अपहतपाप्मत्वादि गुणोंका आविर्भावरूप तथा असंकुचितज्ञानगुणवत्त्वरूप होती है। ज्ञानरूपत्वेन सभी जीवोंकी परमात्मासे समानता है किन्तु आविर्भूतापहतपाप्मत्वा-दिगुणवत्त्वेन तथा असंकुचितज्ञानगुणवत्त्वेन मुक्तकी परब्रह्मसे परम समानता है, इसलिए यहाँ **ब्रह्मैव भवति** इस प्रकार मुक्तात्माके लिए ब्रह्मशब्दका प्रयोग हुआ है। ब्रह्मका साक्षात्कार करनेवाला मुक्तजीव आविर्भूत-अपहतपाप्मत्वादि ब्राह्मगुणोंवाला होता है, यह उक्त श्रुतिका अर्थ है। आविर्भूत ब्राह्मगुणोंसे युक्त होनेके कारण मुक्तात्माको ब्रह्म कहा जाता है, इसलिए ब्रह्म को जानने वाला ब्रह्म ही होता है- **ब्रह्मवेद ब्रह्मैव भवति** यह श्रुति प्रवृत्त होती है। स्वरूपतः और गुणतः निरतिशय बृहत्त्व[1] ही ब्रह्मशब्दका प्रवृत्तिनिमित्त है, इसलिए स्वरूपतः तथा गुणतः निरतिशय बृहत् परमात्माको ब्रह्म कहा जाता है। प्रवृत्तिनिमित्तका एकदेश गुणतः बृहत्त्व प्रत्यगात्मा में है, अतः

टिप्पणी१-इसका विवरण ब्रह्मविवेचनके अन्तर्गत बृहत्त्व और बृंहणत्व प्रसंगमें द्रष्टव्य है।

गुणतः निरतिशय बृहत् प्रत्यगात्मा भी है, इसलिए इसे भी ब्रह्म कहा जाता है। प्रत्यगात्मा गुणतः बृहत् होनेपर भी उसमें जगत्कारणत्वके अनुकूल गुणतः बृहत्त्व नहीं है तथा स्वरूपतः बृहत्त्व नहीं है- **न हि मुक्तस्यापरिच्छिन्नज्ञानानन्दत्वेऽपि जगत्कारणत्वानुगुणबृहत्त्वं स्वरूप-बृहत्त्वं चास्ति**(श्रु.प्र.१.१.१)। **गङ्गायां घोषः** यहाँ गङ्गापदके प्रवृत्तिनिमित्तका पूर्णतः त्याग होनेसे यह अत्यन्त अमुख्य प्रयोग है। ब्रह्मैव यहाँ ब्रह्मपदके प्रवृत्तिनिमित्तका पूर्णतः त्याग न होनेसे यह अत्यन्त अमुख्य प्रयोग नहीं है, मुख्यके समान है- **गङ्गायां घोषः इति गङ्गापदवत् कात्स्न्येन प्रवृत्तिनिमित्तप्रहाणाभावात् परमात्मनीव प्रवृत्तिनिमित्तपौष्कल्याभावाच्च प्रवृत्तिनिमित्तैकदेशान्वयिनि मुक्तात्मनि मुख्यकोटिरित्यभिप्रायेण मुख्य एवेत्युक्तम्, लाक्षणिकगङ्गापद-वन्नात्यन्तामुख्य इत्यर्थः**(श्रु.प्र.१.१.१), **स यो ह वै तत्परमं ब्रह्म वेद ब्रह्मैव भवति**(मु.उ.३.२.६) यह प्रस्तुत श्रुतिका आकार है। यहाँ पूर्वमें आये ब्रह्मपदका विशेषण 'परमम्' है। बादमें आया हुआ ब्रह्मपद विशेषणरहित है, इससे यह सिद्ध होता है कि ब्रह्मपद गुणतः बृहत् मुक्तात्माका बोधक है। ब्रह्मवेत्ता देहात्मभ्रम तथा स्वतन्त्रात्मभ्रमकी सामग्री अविद्यासे रहित होकर शुद्धब्रह्म(मुक्तात्मा) होता है, यह भी **ब्रह्मैव भवति** का अर्थ है। कहीं पर 'एव' शब्द साम्य अर्थका वाचक होता है- **साम्ये चैव क्वचिच्छब्दः(नि.)** यह निघण्टु वचन है। नानार्थवैजयन्तीके अव्ययपर्याय संग्रहाध्यायमें **साम्ये वद् वैवमेवेव** यह वचन है। इसका अर्थ है- वतिप्रत्यय, वा शब्द, एवं शब्द, एव शब्द और इव शब्द साम्य अर्थके बोधक हैं। अतः ब्रह्मैव यहाँ ब्रह्मशब्दको परमात्माका बोधक होनेपर भी सादृश्य अर्थवाले एव शब्दका प्रयोग होनेसे 'ब्रह्मसदृश होता है' अथवा 'ब्रह्मसदृश नित्य प्रत्यक्षस्वरूप वाला होता है', यह श्रुतिका अर्थ निष्पन्न होता है। आत्मसाक्षात्कारके बाद परमात्मसाक्षात्कार होता है,

अतः परब्रह्मका साक्षात्कार करनेवाली अपनी आत्माके साथ परब्रह्मका भी साक्षात्कार करता है। ब्रह्मदर्शीके परमात्मपर्यन्त स्वरूपका आविर्भाव होता है। ब्रह्मको जाननेवाला आविर्भूत परब्रह्मपर्यन्त स्वरूपवाला होता है अर्थात् वह परब्रह्मपर्यन्त साक्षात्कार करता है। **वैष्णवं वामनमालभेत्** इत्यादि वेदवाक्य एव शब्दका साम्य अर्थ होनेमें प्रमाण हैं। दूसरोंसे स्पर्धा करनेवाला पुरुष विष्णुदेवतावाले वामनपुरुषसे याग करे, स्पर्धा करनेवाला वह पुरुष विष्णु ही बनकर इन लोकोंको जीतता है– **वैष्णवं वामनमालभेत स्पर्धमानो विष्णुरेव भूत्वेमान् लोकानभिजयति**। विष्णुः एव यहाँ एव का साम्य अर्थ है। इससे यह अर्थ फलित होता है कि उस यागको करनेके बाद स्पर्धा करनेवाला वह पुरुष विष्णुके समान बनकर इन लोकोंको जीतता है। यहाँ विष्णुः एव का अर्थ विष्णु ही होना संभव नहीं है क्योंकि याग आदि किसी भी प्रकारसे विष्णुरूप को प्राप्त करना संभव ही नहीं है। उद्धृत वाक्यमें **इमान् लोकान् अभिजयति** इस प्रकार शत्रुजयरूप ऐहिकफलका वर्णन है, वह यागसे प्राप्त हो सकता है। इससे स्पष्ट है कि यहाँ 'एव' शब्द साम्य अर्थमें प्रयुक्त है, वैसे ही प्रस्तुत मुण्डकश्रुतिमें 'एव' शब्द साम्य अर्थमें है, इस श्रुतिका अर्थ है कि जो ब्रह्मको प्रत्यक्ष जानता है, वह ब्रह्मके समान हो जाता है। ऐसा होनेपर **एवे चानियोगे** इस वार्तिकसे यहाँ पररूप एकादेश होनेकी शंका नहीं करनी चाहिए क्योंकि अनवक्लृप्ति (अनवधारण) अर्थमें ही पररूपका विधान है। यहाँ सादृश्य अर्थका बोधक 'एव' पद होनेके कारण उसका अनवधारण अर्थ नहीं है। अतः जीव और ब्रह्मके श्रुतिसिद्ध भेदका निषेध नहीं हो सकता है।

ब्रह्मसे जीवका देवत्व, मनुष्यत्वादिरूप औपाधिक भेदका हेतु कर्मरूप अज्ञानका आत्यन्तिक नाश होनेपर परब्रह्मसे आत्माके अनित्यभेदको कौन करेगा?– **विभेदजनकेऽज्ञाने नाशमात्यन्तिकं गते**।

आत्मनो ब्रह्मणो भेदमसन्तं कः करिष्यति।।(वि.पु.६.७.६६) अर्थात् मुक्तावस्थामें जीव और ब्रह्मका भेद ज्ञात नहीं होता है। मुक्तावस्थामें जीव और ब्रह्मके भेदके अभावका अर्थ है- औपाधिक भेदका अभाव। स्वरूपतः भेद तो बना ही रहता है, वह स्वाभाविक होता है। जीव और ब्रह्मका अभेद व्यवहार तो **अविभागेन दृष्टत्वात्**(ब्र.सू. ४.४.४) इस सूत्रके अनुसार अपृथक्सिद्धिमूलक है। इसीकारण इन दोनोंका शरीरात्मभाव **अंशाधिकरण**(ब्र.सू.२.३.७) से सिद्ध किया गया है, शरीर-आत्मभावके द्वारा भेदश्रुति और अभेदश्रुति दोनोंका मुख्यरूपसे ही सिद्धान्तमें निर्वाह हो जाता है।

शंका- सद्विद्यामें 'श्वेतकेतु! तुम वही हो'- **तत्त्वमसि श्वेतकेतो।**(छां. उ.६.८.७) इस प्रकार जीव और ब्रह्मका अभेदज्ञान परमपुरुषार्थरूप मोक्षका साधन कहा गया है। अतः श्रुतियोंका तात्पर्य जीव और ब्रह्मके अभेदमें ही है, भेदमें नहीं।

समाधान- 'तत्त्वमसि' इस प्रकार अभेदका वर्णन होनेपर भी इसे मोक्षसाधन कहनेवाला वचन स्पष्ट नहीं है, उसकी कल्पना करनी पड़ती है क्योंकि आगे मोक्षफलका वर्णन होनेसे उसे मोक्षसाधन माना जाता है किन्तु **पृथगात्मानं प्रेरितारं च मत्वा जुष्टस्ततस्तेनामृतत्वमेति।**(श्वे.उ.१.६) इस प्रकार भेदज्ञानको स्पष्टरूपसे मोक्षका साधन कहा गया है, अतः श्रुतियोंका तात्पर्य जीव, ब्रह्मके भेदमें ही है, अभेदमें नहीं है।

शंका- भेदज्ञानको मोक्षका उपाय बतानेवाली श्रुतिका अभेदज्ञानको मोक्षका उपाय बतानेवाली श्रुतिसे विरोध है, इसलिए भेदज्ञानको मोक्षोपाय बताने वाली श्रुतिका यह तात्पर्य समझना चाहिए कि यह मिथ्याभेदका वर्णन करती है। भेदज्ञानका फल सगुणब्रह्मकी प्राप्ति है

जो कि निम्नकोटिकी मुक्ति है। परममुक्ति तो अभेद ज्ञानसे ही होती है।

समाधान- यह ऊपर कहा गया है कि अभेदज्ञानके मोक्षोपायत्वकी कल्पना करनी पड़ती है तथा भेदज्ञानका मोक्षोपायत्व स्पष्टरूपसे कहा गया है। यदि दोनोंमें किसी एकको प्रबल मानकर दूसरेका बाध किया जाए तो ऐसा क्यों न माना जाय कि भेदज्ञानका मोक्षोपायत्व स्पष्ट कहा गया है, अतः भेदज्ञान ही परम मुक्तिका साधन है। अभेदज्ञानको मोक्षोपाय कहनेवाला वचन इससे विरोध रखता है, अतः यह वाक्य मिथ्या अभेदका प्रतिपादन करता है। अभेद ज्ञानका फल गौण मोक्ष है। हमें तो यही अभीष्ट है कि किसी भी वाक्यका गौण अर्थ न किया जाय क्योंकि दोनों समान कोटिवाले श्रुतिवचन हैं, अतः विनिगमनाका अभाव होनेसे एकके द्वारा दूसरेका बाध मानना अनुचित है।

वस्तुतः दोनों श्रुतियोंका प्रतिपाद्य विषय भिन्न होनेसे उनमें कोई विरोध नहीं है, दोनोंमें विरोध होनेपर ही बाध्यबाधकभाव होता है। यहाँ तो विरोध है ही नहीं। जीवात्मा अन्तर्यामीरूपसे स्थित परब्रह्मका शरीर है। अतः 'तत्त्वमसि' इस वाक्यमें 'त्वम्' पदके द्वारा जीवात्मशरीरक ब्रह्म कहा जाता है, 'तत्' पदके द्वारा जगत्कारण ब्रह्म कहा जाता है। इस प्रकार जीवात्माके अन्तर्यामी ब्रह्म तथा जगत्कारण ब्रह्मका अभेद ही इस वाक्यके द्वारा कहा जाता है। यह अभेद ही 'तत्त्वमसि' वाक्यका प्रतिपाद्य विषय है। परब्रह्मके शरीररूपसे रहनेवाली जीवात्मासे उसके भी अन्तरात्मारूपसे रहनेवाले परब्रह्म अत्यन्त विलक्षण हैं क्योंकि वे नित्य निर्दोष हैं तथा उत्कर्षताकी चरमसीमामें पहुँचे हुए सत्यसंकल्पत्वादि असंख्यकल्याणकारक गुणोंके आश्रय हैं। जीवात्मा ऐसा नहीं है। इस प्रकार **पृथगात्मानम्** इस वाक्यसे जीवात्मा एवं उसके अन्तरात्माका

भेद कहा जाता है। यह भेद ही **पृथगात्मानम्** इस वाक्यका प्रतिपाद्य विषय है। इस प्रकार उक्त दोनों वचनोंमें कोई विरोध नहीं है।

जीव और ब्रह्मकी स्वरूप-एकताका ज्ञान भ्रान्ति- कुछ विद्वानोंके द्वारा जीवात्मा और परमात्माकी वास्तविक स्वरूप-एकता मानी जाती है, यह भ्रान्ति है क्योंकि एक द्रव्य दूसरा द्रव्य नहीं हो सकता है- **परमात्मात्मनोर्योगः परमार्थ इतीष्यते। मिथ्यैतदन्यद् द्रव्यं हि नैति तद्द्रव्यतां यतः।।**(वि.पु.२.१४.२७)

ब्रह्मात्मकत्व- **तत्त्वमसि श्वेतकेतो**(छां.उ.६.८.७) यह उपनिषद्वाक्य षड्विध तात्पर्यनिर्णायक लिङ्गोंसे युक्त है। यह बताता है कि जीवात्मा ब्रह्मात्मक है। ब्रह्म जिसका आत्मा(अन्तरात्मा अर्थात् नियन्ता) होता है, वह वस्तु ब्रह्मात्मक कही जाती है- **ब्रह्म आत्मा नियन्ता यस्य स ब्रह्मात्मकः तस्य भावः ब्रह्मात्मकत्वम्।** ब्रह्म जीवात्माका भी आत्मा है, इसलिए जीवात्मा ब्रह्मात्मक कही जाती है। जीवका अन्तरात्मा ब्रह्म है। जीव अपनी अन्तरात्माके रूपमें परब्रह्मको सदैव लिये रहता है। अपनी अन्तरात्माके रूपमें ब्रह्मको लिये रहना ही जीवात्माका ब्रह्मात्मकत्व है। इस वाक्यमें श्वेतकेतु नामक जीवविशेषका ब्रह्मात्मकत्व वर्णित है। **अयमात्मा ब्रह्म**(मा.उ.१.२) यह दूसरा वाक्य जीवसामान्य अर्थात् सभी जीवोंके ब्रह्मात्मकत्वका प्रतिपादन करता है। इस प्रकार अभेदबोधक वाक्योंसे जीवोंका ब्रह्मात्मकत्व सिद्ध होता है। अभेदबोधक वाक्योंका जीव और ब्रह्मकी स्वरूप-एकता बतानेमें तात्पर्य नहीं है और वैसा माननेपर जीव और ब्रह्मके भेद का बोध करानेवाली श्रुतियाँ बाधित हो जायेंगी तथा जीवको शरीर और ब्रह्मको आत्मा कहकर इनदोनोंमें शरीर-आत्मभाव सम्बन्धका प्रतिपादन करनेवाली जो

घटक[1] श्रुतियाँ हैं, उनसे विरोधका प्रसङ्ग होगा। इसलिए उक्त रीतिसे जीवको ब्रह्मात्मक बतानेमें ी अभेदश्रुतिका तात्पर्य सिद्ध होता है। 'तत्त्वमसि' इत्यादि दबोधक वेदवाक्य जीवान्तर्यामी और ब्रह्ममें अभेदको बताते हुए यह सिद्ध करते हैं कि जीव ब्रह्मात्मक है। यहाँ एक ही 'त्वं' पदसे जीव विशेषण रूपमें तथा परमात्मा विशेष्य रूपमें कहे जाते हैं।

अविनाभावसम्बन्ध- विनञ्भ्यां नानाञौ न सह(अ.सू.५.२.२७) इस सूत्रसे साथ न रहने अर्थात् पृथक् रहने अर्थमें विद्यमान् वि और नञ् शब्दोंसे क्रमशः ना और नाञ् प्रत्यय होकर विना और नाना शब्द सिद्ध होते हैं। पृथक् रहनेको विनाभाव कहते हैं। विनाभाव, विभाग, युतसिद्धि, पृथक्भाव, पृथक्सिद्धि और पृथक्स्थिति ये सभी शब्द पर्याय हैं। जिन दो पदार्थोंमें एकके विना दूसरा पदार्थ रहता है, वे दोनों पदार्थ विनाभाव(पृथक्सिद्धि) वाले या पृथक्सिद्ध कहलाते हैं। जैसे- घट, पट। पृथक् न रहनेको अविनाभाव कहते हैं- **पृथक्स्थित्यभावः अविनाभावः**। अविनाभाव, अविभाग, अयुतसिद्धि, अपृथक्भाव, अपृथक्सिद्धि और अपृथक्स्थिति ये सभी शब्द पर्याय हैं। जिन दो पदार्थोंमें एक के विना दूसरा पदार्थ नहीं रहता है, वे दोनों पदार्थ अविनाभाव(अपृथक्सिद्धि) वाले या अपृथक्सिद्ध कहलाते हैं। जैसे अग्निके विना धूम नहीं रहता है, इसलिए अग्निके साथ धूमका अविनाभाव सम्बन्ध होता है। वैसे ही

टिप्पणी१- भेदश्रुति और अभेदश्रुतियोंमें विरोध प्रतीत होनेपर उसका निवारण करनेवाली कुछ श्रुतियाँ हैं। ये विरोधको शान्त करके उन श्रुतियोंकी संगतिको बताती हैं, इसलिए **घटक श्रुतियाँ** कही जाती हैं। ये शरीरात्मभावका बोध कराकर उनके विरोधकी निवृत्ति करके संगति बताती हैं। घटक श्रुतियोंका अर्थ यही है कि ब्रह्म अन्तरात्मा है और चेतनाऽचेतन प्रपञ्च उसका शरीर है। इससे प्रपञ्च और ब्रह्मका शरीरात्मभाव सम्बन्ध सिद्ध होता है। इसके द्वारा भेद-श्रुति और अभेद-श्रुतियोंका समन्वय हो जाता है।

ब्रह्मके विना जगत्(जीव और प्रकृति) नहीं रहता है। इसलिए ब्रह्मके साथ जगत्का अविनाभाव सम्बन्ध है। पृथक् व्यवहारके अयोग्य संसर्गविशेषको अविनाभाव कहते हैं- **पृथग्व्यवहारानर्हसंसर्गविशेष अविनाभावः।**

न्यायवैशेषिकदर्शनमें स्वीकृत समवायसम्बन्धको सिद्धान्तमें स्वीकार नहीं किया जाता है। उसके स्थानपर वेदान्तशास्त्रमें अविनाभाव सम्बन्ध स्वीकृत है। शरीर-जगत् और शरीरी-ब्रह्मका अविनाभाव सम्बन्ध है। यह स्वरूपसम्बन्धविशेष है। जो चर अथवा अचर वस्तु मेरेसे पृथक् स्थित हो सकती है, वह नहीं है- **न तदस्ति विना यत्स्यान्मया भूतं चराचरम्**(गी.१०.३६), हे अर्जुन! मेरे शरीररूप सभी प्राणियोंके हृदयमें आत्मा रूपसे मैं ही स्थित हूँ- **अहमात्मा गुडाकेश सर्वभूताशयस्थितः**(गी.१०.२०) इस प्रकार आरम्भ करके **न तदस्ति विना यत्स्यान्मया भूतं चराचरम्** यहाँ पर भी सभी वस्तुओंमें परब्रह्म की अन्तरात्मारूपसे ही स्थिति विवक्षित है। सभी अवस्थावाली सभी वस्तुएं ब्रह्मरूप अन्तरात्मासे युक्त हैं। इससे सिद्ध होता है कि सम्पूर्ण जगत् और परब्रह्मके सामानाधिकरण्यनिर्देशका हेतु परब्रह्मकी अन्तरात्मारूपसे स्थिति ही है। प्रस्तुत वाक्य ब्रह्मसे भिन्न वस्तुके अभावका विधान करता है, ऐसा नहीं कह सकते हैं क्योंकि यहाँ अविनाभावसम्बन्धका प्रतिपादन किया गया है। अविनाभाव शब्दको मिथ्यात्व अर्थका बोधक होनेमें कोई प्रमाण नहीं है, अतः यह वाक्य अब्रह्मात्मक वस्तुका ही निषेध करता है। अग्निके विना धूम नहीं होता है और गुणीके विना गुण नहीं होता है। यह कहनेपर जैसे अग्नि आदि ही परमार्थ हैं, धूमादि मिथ्या हैं तथा अग्नि आदिकी धूमादिसे स्वरूप-एकता है, यह सिद्ध नहीं होता है। वैसे ही शरीरी ब्रह्मके विना शरीर जगत् नहीं है, यह

कहनेपर ब्रह्म ही सत्य है, जगत् मिथ्या है या ब्रह्म और जीवकी स्वरूप-एकता है, यह सिद्ध नहीं होता है।

शंका- जैसे चैत्रके विना कोई भी घरमें नहीं है, रज्जुके विना सर्प नहीं है, यह कहनेपर जैसे एक पदार्थकी सत्ता और दूसरेका अभाव प्रतीत होता है, वैसे ही **न तदस्ति विना यत्स्यान्मया भूतं चराचरम्**(गी.१०.३९) यह कहनेपर ब्रह्म की सत्ता और जगत्का अभाव क्यों नहीं होगा?

समाधान- उपक्रमका विरोधी उसके कालमें उत्पन्न नहीं होता है इसलिए उपक्रमसे विरुद्ध उपसंहार नहीं हो सकता है। यह पूर्वमीमांसाके उपक्रमाधिकरणन्यायसे सिद्ध है। **अहमात्मा गुडाकेश सर्वभूताशयस्थितः**(गी.१०.२०) इस प्रकार उपक्रममें परमात्माको सभीका आत्मा कहा गया है। शरीरके विद्यमान रहने तक उसके आधार, नियन्ता और शेषीको आत्मा कहते हैं- **आत्मा हि नाम शरीरस्य सर्वात्मना आधारो नियन्ता शेषी च**(गी.रा.भा.१०.२०) इस प्रकार उपक्रममें परमात्मा और जगत्का आत्मशरीरभाव या नियाम्यनियामकभाव प्रतिपादित है, इसी अर्थका बोधक **न तदस्ति** यह उपसंहार वाक्य है, इससे विरुद्ध अर्थका बोधक नहीं है। अतः ब्रह्मात्मक जगत्का अभाव सिद्ध नहीं होता है। **नेह नानास्ति किञ्चन**(बृ.उ.४.४.१९) यह श्रुति भी ब्रह्मसे पृथक् वस्तुका निषेध करती है।

शंका- वेदोंमें भेदप्रतिपादक और अभेदप्रतिपादक श्रुतियोंका विभाग प्रसिद्ध है, इसलिए यदि सिद्धान्तमें जीव और ब्रह्मके भेदको स्वाभाविक मानेगें तो अभेदप्रतिपादक श्रुतियोंकी क्या गति होगी?

समाधान-

आत्मशरीरभाव सम्बन्ध- जो परमात्मा जीवात्मामें रहते हुए जीवात्माके अन्दर रहता है, जीव जिसे नहीं जानता है, जीवात्मा जिसका शरीर है तथा जो अन्दर रहकर जीवात्माका नियमन करता है, वही निर्दोष, परम भोग्य अन्तर्यामी तुम्हारा आत्मा है- **य आत्मनि तिष्ठन् आत्मनोऽन्तरो यमात्मा न वेद, यस्यात्मा शरीरं, य आत्मानमन्तरो यमयति स त आत्मा अन्तर्याम्यमृतः**(बृ.उ.मा.पा.३.७.२६) इस घटकश्रुतिसे जीव और ब्रह्ममें शरीरात्मभाव सम्बन्ध सिद्ध होता है। जैसे इस जड़शरीर और जीवात्मामें भेद है, वैसे ही जीवात्मा और ब्रह्ममें भी भेद है। भेदश्रुतियाँ इस भेदका प्रतिपादन करती हैं। शरीर और जीवात्मामें भेद रहनेपर भी लोकमें यह व्यवहार होता है कि मनुष्य जानता है, देवता सुखी है इत्यादि। इन दोनों वाक्योंका क्रमशः यह अर्थ है कि मनुष्य शरीरवाली आत्मा जानती है, देवताशरीरवाली आत्मा सुखी है। इस प्रकारके व्यवहारमें देव, मनुष्यादि शब्द विशेषणके रूपमें शरीरका बोध कराते हुए विशेष्यके रूप में शरीरमें रहनेवाली जीवात्माका भी बोध कराते हैं। जैसे यहाँ अचेतनशरीरके वाचक मनुष्यादि शब्द मनुष्यादिशरीरविशिष्ट आत्माके बोधक हैं, वैसे 'तत्त्वमसि' इस अभेद वाक्यमें जीवात्माका वाचक 'त्वम्' शब्द सामने उपस्थित चेतनजीवात्मविशिष्ट ब्रह्मका बोध कराता है और 'तत्' शब्द **सदेव सोम्य**(छां.उ.६.२.१) इस प्रकार उपक्रममें कहे गये जगत्कारण ब्रह्मका बोध कराता है। अतः अभेदवाक्य जीवात्मशरीरक ब्रह्म और जगत्कारण ब्रह्मके अभेद का बोधक है, जीव और ब्रह्मकी स्वरूप-एकताका बोधक नहीं है। घटक श्रुति के द्वारा जीव और ब्रह्ममें शरीरात्मभाव सम्बन्ध ज्ञात होनेसे भेदश्रुतियों और अभेदश्रुतियोंमें आपाततः प्रतीयमान विरोध निवृत्त हो जाता है।

शेषशेषिभाव सम्बन्ध- दूसरेके अतिशय अर्थात् विशेषता(श्रेष्ठता) को सिद्ध करनेकी इच्छासे जो पदार्थ ग्राह्य होता है,उसे शेष कहते हैं तथा जिसके लिए ग्राह्य होता है,उसे शेषी कहते हैं- **परगतातिशयाधानेच्छया उपादेयत्वमेव यस्य स्वरूपं स शेषः परश्च शेषी**(श्रु.प्र.१.१.१)। जिसप्रकार फलकी उत्पत्ति ही फलका अतिशय अर्थात् विशेषता है। फलको उत्पन्न करनेकी इच्छासे ही याग ग्राह्य होता है, इसलिए याग शेष होता है। यह स्वर्गादिफल के लिए ग्राह्य होता है, इसलिए स्वर्गादिफल शेषी होते हैं। उसी प्रकार ईश्वरके अतिशय अर्थात् विशेषताको सिद्ध करनेकी इच्छासे जड़-चेतन सभी पदार्थ ग्राह्य होते हैं। इसलिए जड़ और चेतन पदार्थ शेष कहे जाते हैं। ये ईश्वरके लिए ग्राह्य होते हैं, इसकारण ईश्वर शेषी कहे जाते हैं। शरीर जीवात्माके लिए है, इसलिए शरीर शेष एवं जीवात्मा शेषी होता है। जीवात्मा भी परमात्माके लिए है, अतः जीवात्मा शेष एवं परमात्मा शेषी है। कहने का तात्पर्य यह है कि उत्कर्षता आदि विशेषताएं अतिशय कही जाती हैं और जिन दो पदार्थोंके मध्यमें जो दूसरेकी उत्कर्षता आदि विशेषताओंको करनेके लिए ही रहता है, वह शेष कहा जाता है तथा जो दूसरेसे किसी न किसी प्रकार उत्कर्षताको प्राप्त करता है, वह शेषी कहा जाता है। शरीर शेष है, जीवात्मा शेषी है। शरीर अतिशय किये विना नहीं रह सकता है। इनमें अतिशय प्राप्त करनेवाला शरीरी आत्मा शेषी तथा अतिशय पहुँचाने वाला शरीर शेष होता है। दूसरेका अतिशय ही परम प्रयोजन है, ऐसे परमप्रयोजनरूप परके अतिशयको सिद्ध करनेवाला शेष होता है- **परमप्रयोजनभूतपरगतातिशयाधायकत्वं शेषत्वम्** यह शेषका परिष्कृत लक्षण है। भगवान् के अतिशयरूप परमप्रयोजन को सिद्ध करनेवाला जीव शेष एवं जिनका परमप्रयोजनरूप अतिशय सिद्ध किया जाता है, वे भगवान् शेषी हैं। परमात्माका अतिशय ही

जीवका परम प्रयोजन है, परमात्माके द्वारा की जानेवाली लीला ही परमात्माका अतिशय है, जगत्‌की उत्पत्ति, स्थिति और लय परमात्माकी लीला है। मुमुक्षुको मोक्षप्रदान करना उनकी लीला है। अविद्यासे विनिर्मुक्त आत्माओंको स्वरूपभूत आनन्दप्रदान करना भी उनकी लीला है। जीवात्माका स्वाभाविक परमप्रयोजन उक्त लीला है, यह जीवके विना निष्पन्न नहीं होती है, जीव अपना परमप्रयोजनरूप परमात्माका अतिशय करनेवाला है, इसलिए जीव शेष है, परमात्मा शेषी है। इच्छानुसार जिसका उपयोग किया जा सके उसे शेष कहते हैं- **यथेष्टविनियोगार्हं शेषः।** वस्त्रादि पदार्थोंका कुछ भी स्वार्थ नहीं है, दूसरोंके उपयोगमें आना ही उनका स्वरूप है। जीव अपने वस्त्र, चन्दन, कुसुमादिका इच्छानुसार उपयोग करता है, इसलिए वस्त्रादि शेष और जीव शेषी है। वैसे ही **श्रीभगवान्** की इच्छानुसार उपयोगके लिए जीवात्मा है, इसलिए जीवात्मा उनका शेष है, वे शेषी हैं।

परमात्माका शेषित्व स्वाभाविक है, जीवात्माका शेषित्व औपाधिक है। शरीरादिके प्रति जीवका शेषित्व तो कर्मरूप उपाधिके कारण है। कर्मबन्धनसे रहित मुक्तात्माका अप्राकृत शरीर होता है। इस शरीरके प्रति मुक्तात्माका शेषित्व कर्म उपाधिके कारण नहीं है। सभीके प्रति ईश्वरका शेषित्व निरतिशय शेषित्व है और अपने शरीरके प्रति मुक्तात्माका शेषित्व सातिशय(ईश्वराधीन) शेषित्व है। यह इन दोनोंमें भेद है। ईश्वर सबको वशमें करनेवाले तथा सब पर शासन करनेवाले हैं- **सर्वस्य वशी, सर्वस्येशानः।**(बृ.उ.४.४.२२), परमात्मा सबके शेषी हैं- **पतिं विश्वस्य**(तै.ना.उ.६२) इन वचनोंसे सबका शेषत्व एवं परमात्माका शेषित्व सिद्ध होता है। पा रक्षणे धातुसे निष्पन्न होनेके कारण पतिशब्द रक्षकका वाचक है, शेषीका वाचक नहीं है, ऐसी शंका नहीं करनी चाहिए क्योंकि पतिशब्द

शेषीमें रूढ है। यहाँ रूढि स्वीकार न करने पर- **गमेर्डोः**(उ.सू.२.६८) इस सूत्रके द्वारा गम् धातुसे निष्पन्न गो शब्दको गतिमान् मनुष्यादि प्राणियोंके वाचक होनेका प्रसङ्ग होगा किन्तु गतिमान् सभी पदार्थोंके लिए गो शब्दका प्रयोग नहीं होता है और बैठी हुई गोके लिए भी गो शब्दका प्रयोग होता है, इसलिए गोशब्दकी पशु विशेषमें रूढि मानी जाती है। वृद्ध मातापिता, साध्वी भार्या और बाल-बच्चोंका किसी भी प्रकार भरण करना चाहिए, ऐसा मनुने कहा है-**वृद्धौ च मातापितरौ साध्वी भार्या सुतः शिशुः। अप्यकार्यशतं भर्तव्या मनुरब्रवीत्।।**(प.पु.१.३८.३४)इस प्रकार पिता-माताके संरक्षक पुत्रमें पिता आदि की अपेक्षा पतिशब्दका प्रयोग न होनेसे तथा गृहादिका रक्षक न होनेपर भी स्वामीमें पति शब्दका प्रयोग होनेसे पतिशब्द शेषी अर्थमें रूढ है। पति आदि शब्दोंका अभाव होनेपर भी **ब्रीहीन् प्रोक्षति** इस वाक्यमें द्वितीया श्रुतिके द्वारा जैसे प्रोक्षण ब्रीहिका शेष ज्ञात होता है, वैसे ही **यस्य आत्मा शरीरम्** (बृ. उ.मा.पा.३.७.२६) इत्यादि वाक्योंसे जगत्को ब्रह्मका शरीर ज्ञात होनेसे और शरीररूप संघात को परके लिए होनेसे जगत् और ब्रह्मका शेषशेषिभाव सिद्ध होता है।

शेषभूत पदार्थकी स्थिति पृथक्सिद्ध और अपृथक्सिद्ध भेदसे दो प्रकारकी होती है। जिन पदार्थोंकी शेषीके साथ ही विद्यमानता और शेषीके साथ ही प्रतीति होती है, वे अपृथक्सिद्ध शेष होते हैं। इनसे भिन्न पृथक्सिद्ध शेष होते हैं। देह आत्माके साथ ही विद्यमान होता है, आत्माके साथ ही प्रतीत होता है, आत्माके विना एक क्षण भी अविकृत होकर नहीं रहता है। आत्मा और देहके सम्बन्धत्यागके कालसे ही उसमें विकार उत्पन्न होने लगते हैं। इसलिए शरीर आत्माका अपृथक्सिद्ध शेष होता है। गृहादि भी आत्माके शेष हैं किन्तु उनकी आत्मासे पृथक् विद्यमानता और पृथक् प्रतीति होती है,

इसलिए वे पृथक्सिद्ध शेष होते हैं। आत्मा भी परमात्माका अपृथक्सिद्ध शेष है, यह परमात्माके साथ ही विद्यमान रहता है और साथ ही प्रतीत होता है। शेषत्व चेतन और अचेतन दोनोंका धर्म है तथा दासत्व केवल चेतनका धर्म है।

नियाम्यनियामकभाव सम्बन्ध- शरीर नियाम्य है, जीवात्मा नियामक है क्योंकि वह जीवात्माकी इच्छाके अनुसार कार्य करता है। इसी प्रकार जीवात्मा नियाम्य है, परमात्मा नियामक है क्योंकि वह परमात्माकी इच्छाके अनुसार कार्य करता है। जो जीवात्मामें स्थित है, आत्माके अन्दर रहनेपर भी आत्मा जिसको नहीं जानती है, आत्मा जिसका शरीर है, जो आत्माके अन्दर प्रविष्ट होकर उसके प्रवृत्तिनिवृत्तिरूप व्यवहारका नियमन करता है, वह निरुपाधिक भोग्य परमात्मा तेरा अन्तर्यामी है- **य आत्मनि तिष्ठन् आत्मनोऽन्तरो यमात्मा न वेद यस्यात्मा शरीरं य आत्मानमन्तरो यमयति, स त आत्मान्तर्याम्यमृतः।**(बृ.उ.मा.पा.३.७.२६)। इस प्रकार श्रुति परमात्माको नियामक तथा जीवात्माको नियाम्य कहती है।

धार्यधारकभाव सम्बन्ध- शरीर धार्य(धारण करनेयोग्य) है, जीवात्मा धारक(धारण करनेवाला) है क्योंकि जीवात्माके विना शरीर रह ही नहीं सकता है। इसी प्रकार जीवात्मा धार्य है, परमात्मा धारक है क्योंकि परमात्माके विना जीवात्मा रह ही नहीं सकता है। परमात्माके स्वरूप और संकल्पके विना जिसकी सत्ता न हो सके वह धार्य कहलाता है- **धार्यत्वं नाम परमात्मस्वरूपसंकल्पव्यतिरेकप्रयुक्तस्वसत्ता-व्यतिरेकयोग्यत्वम्।** आत्मा अपने स्वरूप और संकल्पके द्वारा जड़शरीरको धारण करती है, आत्माके स्वरूप और संकल्पके विना शरीरकी सत्ता नहीं हो सकती है, इसलिए शरीर धार्य है। आत्मा धारक है। परमात्मा भी अपने स्वरूप और संकल्पसे आत्माको धारण करते हैं। परमात्माके संकल्प और स्वरूपके विना आत्माकी

सत्ता नहीं हो सकती है, इसलिए आत्मा धार्य है, परमात्मा धारक हैं। परमात्मा सबको धारण करने वाले सेतु हैं- **एष सेतुर्विधरणः**(बृ. उ.४.४.२२)। परमात्माका धारकत्व स्वाभाविक है, जीवात्माका स्वाभाविक नहीं है। शरीरात्मभावसम्बन्धको ही नियत शेषशेषिभावसम्बन्ध, नियत नियाम्यनियामकभावसम्बन्ध और नियत धार्यधारकभावसम्बन्ध कहा जाता है।

अंशत्व-विशिष्ट वस्तुके एक भागको अंश कहते हैं- **विशिष्टवस्त्वेकदेशत्वम् अंशत्वम्।** विशेष्यके एकभागको अंश नहीं कहते हैं। 'सविशेष(चिदचिद् विशिष्ट) स्वरूप ही ब्रह्मपदका वाच्य होनेसे विशिष्टवस्तुमें विशेषण अंश, विशेष्य अंश ऐसा व्यवहार होता है। अपृथक्सिद्ध प्रकार अंशका लक्षण है- **अपृथक्सिद्धप्रकारत्वम् अंशत्वम्**। इस प्रकार प्रकारी विशेष्यस्वरूपको अंशी कहते हैं। विशिष्ट ब्रह्मका एक भाग आत्मा उसका अंश है-**ममैवांशो**(गी.१५.७) इस प्रकार श्रीभगवान्ने आत्माको अपना अंश कहा है। यह स्वाभाविक अंश है क्योंकि आगे इसे 'सनातनः'अर्थात् सदा रहनेवाला कहा गया है। चेतनसे निरूपित नियत विशेषणभूत अंश ही शरीर पदका अर्थ होता है। 'जैसे सूर्यका अंश उसकी प्रभा है, देहीका अंश देह है, उसी प्रकार परमात्माका अंश जीव है।' इस विषयको **प्रकाशदिवत्तु नैवं परः**(ब्र.सू.२.३.४६) इस सूत्रके भाष्यमें इस प्रकार कहा है- **यथा सूर्यदिः भारूपप्रकाशवान् सूर्यादिरिति विशेषणत्वेनोपपन्नः प्रकाशः सूर्यादीनामंश इत्यभिधीयते। यथा च देहिनो देवमनुष्यादेर्देहोऽंशः। तद्वदेकदेशस्य तद्वस्तुनोंशत्वव्यवहारः। विशिष्टस्य वस्तुनः विशेषणम् अंश एव, एवं जीवस्य परमात्मशरीरत्वेन विशेषणत्वात् परमात्मनोऽंश एव जीवः।**(ब्र.सू.आ. भा.२.३.४६)।

लोकमें दो प्रकारके अंश प्रसिद्ध हैं- १.पृथक्सिद्ध अंश, २.अपृथक्सिद्ध अंश। जैसे- मनुष्यके धनादि पृथक्सिद्ध अंश हैं। प्रभावान्की प्रभा अपृथक्सिद्ध अंश है। विशिष्ट वस्तुके एकदेश होनेसे दोनों अंश कहे जाते हैं। यहाँ यह ध्यान देने योग्य है कि कोई भी वस्तु जीवात्माका स्वाभाविक अंश नहीं है। कर्म उपाधिके कारण ही वह अपनेको अंशी तथा भोग्य पदार्थोंको अपना अंश मानता है। परमात्माके स्वाभाविक अंश सभी पदार्थ हैं, वह सभीका स्वाभाविक अंशी है। स्वाभाविक अंश अपृथक्सिद्ध पदार्थ होता है। इस अपृथक्सिद्ध अंशका ही निरूपण यहाँ प्रस्तुत है। अपृथक्सिद्ध विशेषणको अंश कहा जाता है तथा अपृथक्सिद्ध विशेष्यको अंशी कहा जाता है। यद्यपि विशिष्ट वस्तुका एकदेश विशेष्य भी अंश है। फिर भी विशेष्यकी अपेक्षा विशेषणको अंशी तथा विशेषणकी अपेक्षा विशेष्यको अंश नहीं कह सकते हैं क्योंकि विशिष्टवस्तुके एकदेश अप्रधानको अंश तथा प्रधानको अंशी कहा जाता है। विशिष्ट वस्तुकी अपेक्षा विशेषण और विशेष्य दोनों अंश हैं तथा विशेष्यकी अपेक्षा विशेषण अंश है, विशेष्य अंशी है। **अंशो नानाव्यपदेशाद् अन्यथा चापि दाशकितवादित्वम् अधीयत एके**(ब्र.सू.२.३.४२) इस सूत्रका अर्थ है कि जीवात्मा परमात्माका अंश है क्योंकि उन दोनोंके भेदका प्रतिपादन है, अभेदका भी प्रतिपादन है और वेदकी एक शाखाविशेषके अध्येता ब्रह्मको दाश, कितव आदि भी पढ़ते हैं।

जीव परमात्मासे अत्यन्त भिन्न नहीं है क्योंकि इन दोनोंमें शरीरात्मभाव सम्बन्ध है। शरीरात्मभाव सम्बन्धसे रहित पदार्थ अत्यन्त भिन्न होते हैं। इन दोनोंमें स्वरूप-एकता भी नहीं है क्योंकि जीव और ब्रह्मका कल्पित भेद सिद्ध नहीं होता है। उपनिषदोंमें **पृथगात्मानम्**(श्वे.उ.१.६) इत्यादिवाक्योंसे जीवात्मा और परमात्माका भेद और **तत्त्वमसि**(छां.उ.६.८.७) इत्यादिवाक्योंसे अभेद प्रतिपादित

है। इन दोनोंका मुख्यरीतिसे ही समन्वय करना उचित होता है। जीवको परमात्माका अंश माननेपर दोनों प्रकारके श्रुति वचनोंका समन्वय हो जाता है। जीव और ईश्वरमें विशेषण-विशेष्यभाव है और इनके स्वभावमें विलक्षणता है, इसलिए भेदप्रतिपादक वचन मुख्यरूपसे संगत होते हैं। अपृथक्सिद्ध विशेषणवाचक शब्द विशेष्यपर्यन्त अर्थके बोधक होते हैं, इसलिए अभेदप्रतिपादक वचन भी मुख्यरूपसे संगत होते हैं। जीवका अन्तरात्मा ब्रह्म और जगत्कारण ब्रह्म एक ही है। इस अर्थका बोधक तत्त्वमसि वाक्य है। द्वैतमतमें अभेदप्रतिपादक वचनोंकी संगति नहीं होती है। निर्विशेषाद्वैत मतमें भेदप्रतिपादक वचन मिथ्या अर्थके प्रतिपादक माने जाते हैं तथा तत्त्वमसि आदि वाक्योंका लक्षणासे अर्थ करना पड़ता है। भेद और अभेद प्रतिपादक वचनोंका समन्वय करनेवाले **य आत्मनि तिष्ठन्**(बृ.उ.मा.पा.३.७.२६) इत्यादि वचनोंका अत्यन्त अमुख्य अर्थ करना पड़ता है। इन दोषोंके कारण उक्त मतद्वय समीचीन नहीं हैं। धीवर जातिके लोग ब्रह्म हैं, सेवकगण ब्रह्म हैं और जुआ खेलनेवाले ब्रह्म हैं- **ब्रह्मदाशा ब्रह्मदासा ब्रह्मेमे कितवाः**(अ.सं.) इस प्रकार अत्यन्त नीच धीवर आदिको भी ब्रह्म कहा गया है। यहाँ पर धीवर आदिकी प्रशंसाके लिए उन्हें ब्रह्म नहीं कहा गया है क्योंकि इस प्रकरणमें धीवर आदि प्रतिपाद्य नहीं हैं। ब्रह्मकी निन्दा करनेके लिए भी धीवर आदिको ब्रह्म नहीं कहा गया है क्योंकि वह अनिन्दनीय ही है, इसलिए यह अभेद वास्तविक है, फिर भी यहाँ स्वरूप-एकता नहीं है क्योंकि इनमें औपाधिक भेद नहीं है। अतः अंश और अंशीमें आत्मशरीरभाव होनेसे इनका अभेद निर्देश संगत होता है। इस प्रकार जीव ब्रह्मका अंश ही सिद्ध होता है।

जीवविभाग– जीवात्माका ब्रह्मानन्दरूप निरतिशय सुखका अनुभव करनेमें स्वतः अधिकार है। जिस प्रकार पैतृकसम्पत्तिको प्राप्त करनेमें पुत्रका अधिकार होता है, उसी प्रकार ब्रह्मानन्दरूप सुखका अनुभव करनेमें जीवका अधिकार होता है। ब्रह्मानन्दका अनुभव करना आत्माका स्वाभाविक धर्म है, ऐसा होनेपर भी यह जीवात्मा कर्मरूप उपाधिके कारण संसारमें सुख-दुःख भोगता रहता है। सांसारिक पदार्थोंका अनुभव करना जीवात्माका औपाधिक धर्म है। इन जीवात्माओंके तीन भेद होते हैं– १.बद्ध, २.मुक्त एवं ३.नित्य।

१.बद्ध– संसार(प्रकृति) से सम्बन्ध रखनेवाले जीव बद्ध कहलाते हैं– **बद्धा नाम अनुवृत्तसंसाराः**। पुण्यवाला होना अथवा पापवाला होना बद्धका लक्षण है– **पुण्यवत्त्वं पापवत्त्वं वा बद्धस्य लक्षणम्**। मोक्षपर्यन्त कर्मजन्य सुखदुःख अवर्जनीय होते हैं क्योंकि उनके हेतु रूपसे पुण्यपाप कर्म विद्यमान होते हैं। इस प्रकार लक्ष्यमें लक्षणका समन्वय होता है। **पुण्यपापान्यतरवत्त्वम्** बद्धका लक्षण संभव नहीं है क्योंकि पुण्यमात्रका आश्रय अथवा पापमात्रका आश्रय बद्धजीव नहीं हो सकता है, अतः लक्षणमें **अन्यतरत्व** पदके निवेशका कोई प्रयोजन नहीं है। मोक्षपर्यन्त मोक्षका प्रयोजक(परम्परया कारण) सुकृत और ज्ञानके संकोचका हेतु दुष्कृत अवश्य विद्यमान रहते हैं। संकोच-विकासवाले ज्ञानका आश्रय होना बद्धका लक्षण है– **संकोचविकासशालिज्ञानाश्रयत्वं बद्धस्य लक्षणम्**। अनादि कर्मरूप अज्ञानके कारण बद्धजीवका ज्ञान संकोच-विकासवाला रहता है। मुक्त और नित्य जीव अज्ञानसे रहित होते हैं, इसलिए उनका ज्ञानगुण संकोच-विकासवाला नहीं होता है, वह सदा व्यापक ही रहता है।

परमात्माके नाभिकमलसे ब्रह्मा उत्पन्न हुए, ब्रह्मासे महादेव तथा सनकादि योगी, नारदादि देवर्षि, वसिष्ठादि ब्रह्मर्षि, पुलस्त्य,

मरीचि, दक्ष, कश्यपादि नौ प्रजापति उत्पन्न हुए। इनसे दश दिक्पाल, चतुर्दश इन्द्र, चतुर्दश मनु, असुर, पितर, सिद्ध, गन्धर्व, किन्नर, किम्पुरुष, विद्याधर, वसु, रुद्र, आदित्य, अश्विनीकुमार, दानव, यक्ष, राक्षस, पिशाच, गुह्यकादि विविध प्रकारके देवता, मनुष्य, पशु, पक्षी, सरीसृप, पतङ्ग तथा कीटादि भेदवाले तिर्यक् उत्पन्न हुए। वृक्ष लता तथा तृणादि भेदवाले स्थावर पैदा हुए। इस प्रकार चतुर्दशभुवनात्मक ब्रह्माण्ड में रहनेवाले ब्रह्मादिसे लेकर तृण पर्यन्त जीव बद्ध कहे जाते हैं। इनमेंसे ब्रह्मा, इन्द्र आदि कुछ आधिकारिक(परमात्माके द्वारा कार्यविशेषमें नियुक्त) पुरुष होते हैं। ये निष्पन्न परमात्मज्ञानवाले होनेपर भी प्रारब्धके अनुसार अपने पदोंपर रहते हुए भोगसे प्रारब्धका नाशकरके मुक्तिको प्राप्त करते हैं। जो मुमुक्षु उपासक किसी कारणवशात् उपासना पूर्ण किये विना ही प्रयाण करते हैं, वे पुण्यकर्मवशात् चतुर्मुखके लोकको प्राप्त करते हैं और परमात्मसाक्षात्कार करके प्राकृत प्रलयमें ब्रह्माके साथ मुक्तिको प्राप्त करते हैं- **ब्रह्मणा सह ते सर्वे सम्प्राप्ते प्रतिसञ्चरे, परस्यान्ते कृतात्मानः प्रविशन्ति परं पदम्**।(कू.पु.पू.११.२८४)।

'आत्मा न स्त्री है, न पुरुष है और न ही नपुंसक। यह कर्मवशात् जिस-जिस शरीरको प्राप्त करती है, उस-उस शरीरसे युक्त होकर रहती है'- **नैव स्त्री, न पुमानेष, न चैवायं नपुंसकः। यत् यच्छरीरमादत्ते तेन तेन स युज्यते**।।(श्वे.उ.५.१०) स्त्रीत्व, पुंस्त्व और नपुंसकत्व शरीरमें विद्यमान होते हैं, आत्मामें नहीं। एक ही जीवात्मा कालभेदसे स्त्री होती है और पुरुष भी होती है। इस प्रकार अपृथक्सिद्धशरीरगत स्त्रीत्वादिसे ही 'यह स्त्री है', 'यह पुरुष है', इस प्रकारके व्यवहारका निर्वाह हो जाता है, अतः इन्हें आत्माका धर्म माननेमें कोई प्रमाण नहीं है। माध्वमतमें स्त्रीत्वादिको आत्माका धर्म माना जाता है। वह शास्त्रविरुद्ध है।

अनादि पुण्यपापात्मककर्मोंके कारण आत्माका देहसे सम्बन्ध होता है। ऐसा होनेपर 'यह आत्मा पापरहित, जरारहित, मृत्युरहित, शोकरहित, क्षुधारहित, पिपासारहित, सत्यकाम और सत्यसंकल्प है'- **य आत्माऽपहतपाप्मा विजरो विमृत्युर्विशोको विजिघत्सोऽपिपासः सत्यकामः सत्यसंकल्पः**(छां.उ.८.७.१) इस प्रकार कहा गया आत्माका स्वाभाविक रूप तिरोहित हो जाता है। यह विषय **देहयोगाद् वा सोऽपि**(ब्र.सू.३.२.५) सूत्र में वर्णित है। देहके साथ सम्बन्ध होनेसे ही मिथ्याज्ञान(देहात्मबुद्धि, अस्वकीय पदार्थोंमें स्वकीयत्वबुद्धि, ब्रह्मात्मक पदार्थोंमें स्वातन्त्र्यबुद्धि) उत्पन्न होता है। मिथ्याज्ञान उत्पन्न होनेपर आत्मा मोक्षसाधनमें प्रवृत्त न होकर पुनः पुण्यपापके जनक सांसारिक कर्मोंमें प्रवृत्त होती है। उससे पुनः देहके साथ सम्बन्ध होता है। इस प्रकार चक्रकी तरह चलनेवाला यह संसार अनादि है। पुण्यपापरूप कर्मोंके अनुसार जीवको विविधप्रकारकी विचित्र योनियाँ प्राप्त होती हैं। सत्कर्म करनेवाला अगले जन्ममें सत्कर्मके साधन ब्राह्मणादि उत्तमशरीरसे युक्त होता है, पापकर्म करनेवाला अगले जन्ममें पापके साधन चण्डाल आदि निम्न शरीरसे युक्त होता है- **साधुकारी साधुर्भवति, पापकारी पापो भवति**(बृ.उ.४.४.५)।

जब जीवका मरणकाल आता है, तब सबसे प्रथम आघात वाग् इन्द्रियपर पड़ता है। वह बोलनेमें असमर्थ हो जाता है क्योंकि वाणी मनमें स्थित हो जाती है। उससमय वह थोड़ा देख सकता है, सुन सकता है, फिर चक्षु आदि सभी इन्द्रियाँ भी मनमें स्थित हो जाती हैं और अब देखना सुनना सब बन्द हो जाता है। मन प्राणमें स्थित हो जाता है, प्राण जीवमें स्थित हो जाता है। पृथिवी आदि पञ्चभूतोंके सूक्ष्म सारभाग ही पञ्च भूतसूक्ष्म कहे जाते हैं। जीवको प्राप्त होनेवाले नूतन स्थूलशरीरके आरम्भक ये भूतसूक्ष्म ही

होते हैं। मरते समय शरीरसे इनका कर्षण होता है, इसलिए मृत्युकालमें बहुत पीड़ा होती है। ये पञ्च भूतसूक्ष्म जीवमें स्थित हो जाते हैं। जीव परब्रह्ममें स्थित हो जाता है। शरीरसे उत्क्रमण करनेवाला जीव मनको प्राणमें मिलनेसे पूर्व आगे प्राप्त होनेवाले शरीरका स्मरण करता है- **स विज्ञानो भवति**(बृ.उ.४.४.२) वह स्मरण पूर्व कर्मके अधीन होता है, पुरुषके प्रयत्नसे साध्य नहीं होता है। इस स्मरणके अनुसार ही जीव अगला जन्म प्राप्त करता है। विद्या, कर्म और पूर्वसंस्कार उत्क्रमण करनेवाले पुरुषका अनुसरण करते हैं- **तं विद्याकर्मणी समन्वारभेते पूर्व प्रज्ञा च**(बृ.उ.४.४.२)। विद्या(काम्य उपासना) और कर्मके अनुसार शरीर, इन्द्रिय और भोग्यविषय प्राप्त होते हैं। पूर्ववासना(विषयानुभवजन्य संस्कार) नूतन कर्म करने और फलभोगनेमें उपयोगी होती है। इसके विना न तो कोई कर्म कर सकता है और न ही फल भोग सकता है।

मरणकालमें जीव वायुके वेगसे बाहर फेंके जानेपर कर्मानुसार भिन्न-भिन्न नाड़ियोंसे बाहर निकलते हैं। इनमें से जो पुण्यजनक याग, होम आदि कर्मोंके द्वारा देवाराधनमें तत्पर रहते हैं। वे जीव धूम, रात्रि, कृष्णपक्ष, दक्षिणायन, पितृलोक, आकाश और चन्द्रलोक इस क्रमसे दक्षिणायन(पितृयान) मार्गके द्वारा स्वर्गलोक पहुँचकर देवता बन जाते हैं। वहाँ भोगके द्वारा पुण्यक्षीण होनेपर नीचे आ जाते हैं। स्वर्गसे आकाशमें आता है, आकाशसे वायुमें आता है, वायुसे मिलकर धूममें आता है, धूमसे मिलकर सजल मेघमें आता है, सजल मेघसे मिलकर बरसनेवाले मेघमें आ जाता है, उससे मिलकर वर्षासे पृथ्वीमें आकर धान, जौ, गेहूँ आदि अन्नसे मिल जाता है **-आकाशाद्वायुम्, वायुर्भूत्वा धूमो भवति, धूमो भूत्वाऽभ्रं भवति। अभ्रं भूत्वा मेघो भवति, मेघो भूत्वा प्रवर्षति। त इह व्रीहियवा ओषधिवनस्पतयस्तिलमाषा इति जायन्ते**।(छा.उ.५.१०.

५-६)इस विषयको छान्दोग्य(५.४.१, ५.८.२)में प्रकारान्तरसे कहा है। इसके अनुसार पुण्यकर्म करनेवाला मनुष्य इस शरीरको त्यागकर श्रद्धा (जल) अर्थात् भूतसूक्ष्मके साथ जाता है। यहाँ भूतसूक्ष्म शब्दसे सूक्ष्मशरीरको ग्रहण करना चाहिए। वह स्वर्गलोगमें जाकर दिव्य देवदेहको प्राप्त करता है। पुण्य क्षीण होनेपर मेघमें जाकर वर्षामें मिल जाता है, वहाँ से पृथ्वीपर आकर अन्नमें मिल जाता है, पुरुषके द्वारा खाये जानेपर वीर्यमें स्थित हो जाता है, उसका स्त्रीके साथ संयोग होनेपर गर्भमें जाकर नूतन शरीर प्राप्त करता है। पापकर्मके फलस्वरूप शरीरकी प्राप्तिमें यह क्रम नहीं रहता है। जो जीव परलोकमें कर्मफलको भोगकर इस लोकमें आने वाले होते हैं। जब वे भोगसे शेष बचे परिपक्व पुण्यवाले होते हैं, तब वे पुण्य कर्मकरने योग्य ब्राह्मण, क्षत्रिय, और वैश्य देहको प्राप्त करते हैं और जो भोगसे शेष बचे निकृष्ट कर्मवाले होते हैं, वे निकृष्ट कर्मकरने योग्य कुत्ता, सूकर, और चण्डाल शरीरको प्राप्त करते हैं- **तद् य इह रमणीयचरणा अभ्याशो ह यत्ते रमणीयां योनिमापद्येरन्, ब्राह्मणयोनिं वा क्षत्रिययोनिं वा वैश्ययोनिं वा। अथ य इह कपूयचरणा अभ्याशो ह यत्ते कपूयां योनिमापद्येरन् श्वयोनिं वा सूकर योनिं वा चण्डालयोनिं वा।**(छां.उ.५.१०.७)

ब्रह्मवेत्ता उत्तरायण मार्गसे जाते हैं, पुण्यकर्म करनेवाले दक्षिणायनसे जाते हैं। दोनों मार्गोंकी प्राप्तिके लिए अपेक्षित विद्या और कर्मसे रहित मनुष्य दोनों में से किसी भी मार्गसे नहीं जाते हैं। वे बार-बार संसारमें चक्कर लगानेवाले होते हैं अर्थात् पुनः पुनः जन्म लेते हैं और मर जाते हैं- **अथैतयोः पथोर्न कतरेणचन, तानीमानि क्षुद्राण्यसकृदावर्तीनि भूतानि भवन्ति जायस्व म्रियस्वेति।**(छां.उ.५.१०.८), जैसे बैल शकट(गाड़ी) में रज्जुबन्धनसे युक्त होता है, वैसे ही प्राणके साथ रहनेवाली प्रत्यगात्मा शरीरमें

कर्मबन्धनसे युक्त होती है- **यथा प्रयोग्य आचरणे युक्तः, एवमेवायमस्मिन् शरीरे प्राणो युक्तः ।**(छां.उ.८.१२.३)

कर्म- जीव अनादिकालसे नानाप्रकारके कर्मोंको करता आ रहा है। प्रत्येक जन्ममें किये गए कर्मोंका फल उसी जन्ममें नहीं भोगा जा सकता है क्योंकि उनके भोगके लिए अपेक्षित देश, काल और परिस्थितियाँ उसी जन्ममें नहीं मिल पाती है। ईश्वरसे प्रेरित वे अवसर जब जब मिलते रहते हैं, तब तब कर्मोंका फल भोगा जाता है। इस प्रकार भोगकर कर्म क्षीण होते रहते हैं। ईश्वरकी प्रीति और कोपके जनक जीवके द्वारा किये जानेवाले पुण्य-पापको कर्म कहते हैं। निषिद्ध और काम्य कर्म बन्धनके जनक हैं। इनसे जीव एक योनि से दूसरी योनिमें जाकर विविधप्रकारके सुख-दुःख भोगता रहता है। फलेच्छासे रहित होकर किये गये कर्म अन्तःकरणकी निर्मलताके द्वारा ज्ञानोत्पत्तिमें सहायक होते हैं। कर्म त्रिविध हैं-

क्रियमाण कर्म- वर्तमान जन्ममें किये जानेवाले कर्म क्रियमाण कहे जाते हैं।

संचित कर्म- जिन्होंने फल देना आरम्भ नहीं किया है, ऐसे पूर्वके अनेक जन्मोंमें किये गए कर्म संचित कहलाते हैं।

प्रारब्ध कर्म- जिन कर्मोंका फल भोगनेके लिए वर्तमान शरीर प्राप्त हुआ है, वे प्रारब्ध कहे जाते हैं। मानवयोनि कर्मयोनि है, अन्य योनि भोगयोनि हैं। अतः मानवशरीरसे किये गये कर्मोंको भोगनेके लिए विविध योनिंयाँ प्राप्त होती हैं। कभी-कभी मानव शरीरके पश्चात् पुनः एक बार मानवशरीर प्राप्त होता है, इससे कहा जा सकता है कि प्रारब्ध एक ही शरीरका जनक है किन्तु कभी-कभी बालक उत्पन्न होकर मर जाता है। उसने शुभाशुभ कुछ कर्म किया ही नहीं। फिर भी उसका पुनर्जन्म होता है। इससे सिद्ध होता है

कि कभी-कभी प्रारब्ध अनेक शरीरका भी जनक होता है। परमात्माका साक्षात्कार किये हुए वशिष्ठ आदि कारकपुरुषोंके अनेक जन्म सुने जाते हैं, इससे भी सिद्ध होता है कि प्रारब्ध अनेक शरीरका जनक होता है।

बन्धनका कारण- जीवके बन्धनका कारण पूर्वोक्त पुण्यपापरूप कर्म है। विष्णुरूप शक्ति 'पर' कही जाती है, जीवात्मा नामवाली शक्ति दूसरी कही जाती है तथा कर्म नामवाली अविद्या तीसरी शक्ति कही जाती है-**विष्णुशक्तिः परा प्रोक्ता क्षेत्रज्ञाख्या तथाऽपरा। अविद्या कर्मसंज्ञाऽन्या तृतीयाशक्तिरिष्यते**(वि.पु.६.७.६१)। 'किसी जीवात्माका मानव शरीरसे सम्बन्ध है, किसीका पशुशरीरसे सम्बन्ध है। कोई जन्मसे सुखी है, कोई जन्म से दुःखी है।' इत्यादि वैचित्र्यका कारण उनके कर्म ही हैं। निर्विशेषाद्वैतवादियोंके द्वारा स्वीकृत कर्मसे भिन्न अविद्या और सांख्यवादियोंके द्वारा स्वीकृत अविवेक बन्धनके कारण नहीं हो सकते हैं क्योंकि ये सबके प्रति समान होनेसे जगत्-वैचित्र्यकी संगति नहीं लगती है। जगत्-वैचित्र्यका हेतु कर्म ही सभीको मान्य है। शास्त्रोंमें बन्धनके कारणके प्रसङ्गमें इसे ही अविद्या कहा जाता है।

शास्त्रोंमें ज्ञानसे बन्धनकी हेतु अविद्या की निवृत्ति कही गयी है। कर्मको बन्धनका हेतु माननेपर ज्ञानसे उसकी निवृत्ति नहीं होगी। ऐसी शंका उचित नहीं है क्योंकि मोक्षका हेतु ज्ञान भी मानस कर्म है। स्मृतिसंतानरूप उपासनात्मक ज्ञान पुरुषके प्रयत्न द्वारा साध्य होनेसे कर्म है- **उपासनस्य कर्मत्वं स्मृतिसंततिरूपतया तस्य प्रयत्नसाध्यत्वात्**।(श्रु.प्र.१.१.१) अतः ज्ञानसे कर्मनामक अविद्याकी निवृत्ति होगी। यह अविद्या अनादिकालसे संचित अनन्त पुण्यपापात्मक कर्मराशिरूप है। शंकराद्वैतमतानुसार जीवनकालमें अविद्या न रहनेपर भी प्रारब्ध कर्मसे शरीर रहता है क्योंकि ज्ञान

अज्ञानका ही निवर्तक होता है, कर्मका निवर्तक नहीं होता तथा अविद्या रहनेपर भी प्रारब्ध कर्म न रहनेसे शरीर नहीं रहता है। यदि बन्धनका कारण अज्ञान माना जाए तो ज्ञान होते ही देहपात होना चाहिए किन्तु ऐसा नहीं होता है, इससे सिद्ध होता है कि बन्धनका कारण अज्ञान नहीं है। यदि निर्विशेषाद्वैती कहे कि ज्ञानसे अज्ञान निवृत्त होनेपर भी प्रारब्धकर्मके शेष रहनेसे ज्ञान होते ही देहपात नहीं होता है, तो यह कहना उचित नहीं है क्योंकि वह देहकी उपादान अविद्याको मानता है और उपादानके नाश होनेपर कार्य रहता ही नहीं है, तथापि वैसा माननेपर भी बन्धनका कारण कर्म ही सिद्ध होता है। उनके मतमें ज्ञानसे कार्यसहित अज्ञानका नाश होता है। देह भी अज्ञानका कार्य है। ज्ञानसे बन्धनके कारण अज्ञानका नाश होनेपर भी देहका नाश नहीं होता है। निर्विशेषाद्वैती भी देहकी स्थिति प्रारब्ध कर्मके अधीन मानता है। इस प्रकार बन्धनका कारण कर्म सिद्ध होनेसे निर्विशेषाद्वैतीकी मान्यताके अनुसार वह ज्ञानसे निवृत्त भी नहीं होगा क्योंकि ज्ञान अज्ञानका ही निवर्तक है, कर्मका निवर्तक नहीं हैं। अतः वादीके मतमें ज्ञानप्राप्तिके लिए किया गया वेदान्तश्रवणादि सभी व्यर्थ होगा। जब सबसे बड़े ब्रह्मास्त्र ज्ञानसे ही प्रारब्धकर्मकी निवृत्ति नहीं हुई, तो उसका निवर्तक कोई भी नहीं हो सकता है। अशेष कर्मकी निवृत्ति न होनेसे देहपातके पश्चात् नूतनदेह भी प्राप्त होगा। इस प्रकार कर्मसे अतिरिक्त अज्ञानको बन्धनका कारण मानने पर अनेक दोष प्राप्त होते हैं।

अनादिकर्ममूलक प्रकृतिके साथ सम्बन्ध होनेसे बद्धावस्था होती है। वृक्षकी तरह छेदनके योग्य एकशरीरमें विद्यमान जीवात्मा भोग्यभूता प्रकृतिसे मोहित होकर आध्यात्मिकादि त्रिविध दुःखोंको

भोगता रहता है- **समाने वृक्षे पुरुषो निमग्नोऽनीशया शोचति मुह्यमानः।**(मु.उ.३.१.२)

त्रिविध दुःख-१.आध्यात्मिक दुःख- आध्यात्मिक दुःख दो प्रकारके होते हैं- क.शारीरिक, ख.मानसिक।

क.शारीरिक- वात, पित्त और कफकी विषमताके कारण विविधप्रकारके शारीरिक रोगोंसे जन्य दुःख शारीरिक कहे जाते है।

ख.मानसिक- मनके निमित्तसे होनेवाले काम, क्रोध, लोभ, मोह, ईर्ष्या एवं द्वेष आदि विकारोंसे उत्पन्न दुःख मानसिक कहे जाते हैं।

२.आधिभौतिक दुःख- मनुष्य, पशु, पक्षी, सर्प तथा वृक्षादिसे होनेवाले दुःख आधिभौतिक कहलाते हैं।

३.आधिदैविक दुःख- सर्दी, गर्मी, वर्षा, हवासे होनेवाले तथा प्रेत, यक्ष, राक्षस आदिके आवेशसे होनेवाले दुःख आधिदैविक कहलाते हैं। ये दुःखत्रय देहात्मबुद्धि वाले प्राणियोंको व्यथित करते रहते हैं।

देहात्मबुद्धि- देहको आत्मा समझना ही देहात्मबुद्धि है। यह सभीके अनुभवसे सिद्ध है। यह बन्धनकी कारण है। अग्निका कार्य जलाना है, लोहेका नहीं। अग्निका रंग लाल होता है, लोहेका नहीं। फिर भी लोहा जलाता है, लोहा लाल है, ऐसी प्रतीतियाँ होती हैं। ये प्रतीतियाँ भ्रम हैं क्योंकि अग्नि के दाहकर्त्तृत्व तथा लाल रंगकी लोहामें प्रतीति होती है। इसी प्रकार अग्नि भारी है, अग्नि वक्र है, ये प्रतीतियाँ भी भ्रम हैं क्योंकि लोहेका भारीपन और वक्रत्व अग्निमें प्रतीत हो रहा है। यहाँ अग्निके धर्म लोहामें प्रतीत हो रहे हैं तथा लोहाके धर्म अग्निमें प्रतीत हो रहे हैं। इन भ्रमात्मक प्रतीतियोंका कारण लोहा और अग्निका तादात्म्य(गाढ़ सम्बन्ध) है। इसी प्रकार देह और आत्माके गाढ़ सम्बन्धके कारण देहात्मबुद्धि होती है। 'मैं स्थूल हूँ, मैं कृश हूँ' इस प्रकार देहकी स्थूलता और

कृशताकी आत्मामें प्रतीति होती है, इसलिए ये प्रतीतियाँ भ्रम हैं। दुःखादि धर्मभूतज्ञानके परिणाम हैं। ये शरीररूप उपाधि(निमित्त) के कारण होते हैं, अतः ये आत्माके स्वाभाविक धर्म नहीं हैं, औपाधिक धर्म हैं तथापि इनका अधिकरण आत्मा ही है। 'मेरे शिरमें दुःख है' इस प्रकार आत्मामें विद्यमान दुःख शिरमें प्रतीत होता है, इसलिए यह प्रतीति भी भ्रम है। बाह्य पदार्थोंमें भिन्न-भिन्न प्रकारके रूप, रस तथा गन्धादि होते हैं, इसलिए उनका भेद स्पष्ट ज्ञात होता है किन्तु आत्मामें ये भेदक धर्म नहीं होते हैं। इसलिए आत्मा और देहमें अभेदभ्रम होता है। इसका कारण सादृश्य(समानता) दोष भी है। जिस प्रकार शुक्ति में रजतबुद्धि का कारण सादृश्य दोष है, उसी प्रकार देहात्मबुद्धिका कारण सादृश्य दोष है। शुक्ति और रजतमें चाकचिक्य(चमकीलापन) सादृश्य है। देह और आत्मा में क्रिया सादृश्य है। आत्मा में जानना क्रिया है, अणु होनेसे आना-जाना क्रियाएं भी है तथा उठना-बैठना आदि क्रियाएं शरीरमें हैं, इस सादृश्यके कारण भ्रम होता है।

शंका- यदि आत्मस्वरूपका ज्ञान न होता तो भ्रम संभव होता, वेदान्तीके मतमें आत्मस्वरूप सर्वदा स्वयंप्रकाश है, स्वयंप्रकाश वस्तु कभी अज्ञात नहीं रहती है, ज्ञात ही रहती है, ऐसी स्थितिमें यह देहात्मबुद्धिरूप भ्रम कैसे संभव होता है?

समाधान- भ्रमस्थलमें अधिष्ठानका साधारण आकारसे भान होनेपर ही दोषवशात् भ्रम होता है। असाधारण आकारसे भान होनेपर भ्रम निवृत्त होता है। जिस प्रकार रजतभ्रम-स्थलमें अधिष्ठानका इदन्त्वरूप सामान्याकारसे भान होनेपर ही दोषवशात् रजतका भ्रम होता है, असाधारण आकार शुक्तित्व(नीलपृष्ठ, त्रिकोणत्व) रूपसे भान होनेपर रजतभ्रम निवृत्त होता है। उसी प्रकार आत्मस्वरूप स्वयंप्रकाश होनेपर भी उसका साधारण-आकार(अहन्त्वेन) से सर्वदा

ज्ञान होनेपर ही देहात्मभ्रम होता है। असाधारण आकार ज्ञातृत्वादि रूपसे ज्ञान होनेपर देहात्मभ्रम निवृत्त हो जाता है। इस प्रकार सामान्यरूपसे ज्ञान भ्रमका विरोधी नहीं है, इसलिए आत्मा स्वयंप्रकाश होनेपर भी देहात्मभ्रम संभव होता है।

सभी भ्रमोंमें विशेष्य ज्ञात होता है किन्तु उसमें विद्यमान असाधारणधर्म ज्ञात नहीं होते हैं। आत्मा स्वयंप्रकाश होनेसे सर्वदा ज्ञात है। देहात्मभ्रमस्थलमें विशेष्यत्वेन आत्मा ज्ञात होती है, अतः आत्मस्वरूपमें विप्रतिपत्ति नहीं है किन्तु शास्त्रसे उसका विवेक किया जाता है अर्थात् स्वरूप कभी भी अज्ञात नहीं है, इसलिए आत्मस्वरूपके बोधक वेदवाक्य अज्ञात आत्मस्वरूपका बोध नहीं कराते हैं किन्तु मानसप्रत्यक्षसे सिद्ध आत्माका देहेन्द्रियमनप्राणबुद्धि-भिन्नत्वेन बोध कराते हैं।

जिस प्रकार लोहेमें अग्निकी व्याप्ति होनेसे लोहेमें अग्निबुद्धि होती है, उसी प्रकार देहमें आत्माकी व्याप्ति होनेसे देहमें आत्मबुद्धि होती है। प्रथम आत्माका संक्रमण(सम्बन्ध) बुद्धि(धर्मभूतज्ञान) में होता है, इसलिए आत्माके प्रत्यक्त्व और चेतनत्वरूप आकारसे बुद्धि भासित होती है। फिर बुद्धिके द्वारा आत्मा का संक्रमण प्राणमें, इसी प्रकार बुद्धि और प्राणके द्वारा मनमें, फिर बुद्धि आदिके द्वारा इन्द्रियोंमें तथा बुद्धि, मन, प्राण और इन्द्रियोंके द्वारा देहमें संक्रमण होता है। इसलिए लौकिक मनुष्योंकी प्रथम देहमें ही आत्मबुद्धि होती है। इस प्रकार सबसे अन्दर विद्यमान प्रत्यगात्म तत्त्व बुद्धि और प्राणमें संक्रान्त(व्याप्त) होकर उनमें अहंबुद्धि(प्रत्यगात्मभ्रम) का कारण होता है। इस प्रकार जिसके संक्रमण से इतर पदार्थ भी प्रत्यगात्मा जैसे भासित होते हैं, उसका ही प्रत्यगात्मत्व स्वाभाविक है, अन्यका औपाधिक है। मैं देह नही हूँ, ऐसा निश्चय होनेपर अतीन्द्रिय इन्द्रियोंमें आत्मबुद्धि होती है। मै इन्द्रिय नही हूँ, ऐसा

निश्चय होनेपर मनमें आत्मबुद्धि होती है। मैं मन नहीं हूँ, ऐसा निश्चय होने पर प्राणमें आत्मबुद्धि होती है और मैं प्राण नही हूँ, ऐसा निश्चय होनेपर बुद्धिमें आत्मबुद्धि होती है। इसके बाद मैं बुद्धि नहीं हूँ, ऐसा निश्चय होनेपर प्रत्यगात्मामें आत्मबुद्धि होती है। इस प्रकार प्रत्यगात्मचैतन्य ही सर्वत्र अहं प्रत्ययका हेतु होता है। आत्मा ज्ञानगुणके द्वारा प्राण, मन, इन्द्रिय और देह इन सभीमें व्याप्त है। इसलिए इनमें ज्ञाताबुद्धि भी होती हैं। लोहा जलाता हैं। यह व्यवहार दो प्रकार का होता है- एक लोहा और अग्निका भेद जाननेवाले विवेकी मनुष्योंका व्यवहार और दूसरा भेद न जाननेवाले अविवेकियोंका व्यवहार। प्रथम व्यवहारका जनक ज्ञान आरोप है, इसलिए आरोपजन्य प्रथम व्यवहार औपचारिक है, वह बाधित नहीं होता है। दूसरे व्यवहारका जनक ज्ञान भ्रम है। उससे जन्य व्यवहार बाधित होता है। 'मैं मोटा हूँ'-'स्थूलोऽहं', 'मैं पतला हूँ'-'कृशोऽहम्' इत्यादि व्यवहार ज्ञानी-अज्ञानी सभी करते हैं। ''मैं(आत्मा) स्थूल शरीरवाला हूँ, कृश शरीर वाला हूँ'' इस अभिप्रायसे देह और आत्माका भेद जाननेवाला ज्ञानी व्यवहार करता है। मैं(आत्मा) स्थूल हूँ, मै कृश हूँ, इस अभिप्रायसे भेद न जाननेवाला अज्ञानी व्यवहार करता है। व्यवहारका हेतु अज्ञानीका ज्ञान भ्रम है। यह कहा जा चुका है कि आत्मा स्वयंप्रकाश होनेके कारण अविवेकियोंके लिए भी प्रकाशित होती है और शरीरसे आत्माके भेदक आकार आत्मामें विद्यमान जो नित्यत्व, ज्ञानत्व और सूक्ष्मत्वादि धर्म हैं, उनका प्रकाश न होनेसे आत्माका देहसे पृथक् ज्ञान नहीं होता है। उस कारण उन्हें देह और आत्माकी एकताका भ्रम होता है। ज्ञानीका ज्ञान भ्रम नहीं हैं। वह ज्ञान अपृथक्सिद्धि सम्बन्ध के कारण होता है और प्रमा ही होता है। जैसे- शुक्लः घटः का अर्थ शुक्लरूपवाला घट है, वैसेही स्थूलोऽहं, कृशोऽहम् का

अर्थ मैं स्थूलशरीरवाला हूँ, मैं कृशशरीरवाला हूँ। ये ज्ञान अबाधित व्यवहारके हेतु होनेसे प्रमा ही हैं। ज्ञानियों के व्यवहार तीन प्रकार के होते हैं- 'ब्रह्मात्मकोऽहम्' यह व्यवहार केवल आत्मविषयक है, 'मम शरीरम्' यह व्यवहार शरीरविषयक है और 'अहं वदामि', 'अहं गच्छामि' ये व्यवहार शरीरविशिष्टात्मविषयक हैं।

'अहं देवः', 'अहं मनुष्यः' इत्यादि अज्ञानियोंके ज्ञान देहात्मबुद्धिरूप भ्रम होते हैं तथा 'अहं देवः', 'अहं मनुष्यः' इत्यादि विवेकी मनुष्य के ज्ञान देवादिदेहाधिष्ठानानुगुण देवादिदेहसंयोग-विशेषवत्त्वबुद्धिरूप प्रमा होते हैं। यह शास्त्रप्रमाणसे सिद्ध है। यह आत्मा स्त्री नहीं है, पुरुष नहीं है और नपुंसक भी नहीं है। वह जिस-जिस शरीरको धारण करती है, उस-उस शरीरसे सामानाधिकरण्येन व्यपदेशानुगुण संयोगसम्बन्धविशेषसे युक्त होती है- **नैव स्त्री न पुमानेष न चैवायं नपुंसकः। यद् यच्छरीरमादत्ते तेन तेन स युज्यते।।**(श्वे.उ.५.१०) अब देहात्मबुद्धिवाले बद्ध जीवोंकी परस्परविलक्षण जाग्रत आदि तीन अवस्थाओंका निरूपण किया जाता है-

१.जाग्रत अवस्था- स्वप्नावस्थासे भिन्न, इन्द्रियद्वारा धर्मभूतज्ञानकी विषयाकार वृत्तिको जाग्रत-अवस्था कहते हैं। द्विविध स्वप्नका वर्णन आगे किया जाएगा। मन इन्द्रिय द्वारा धर्मभूतज्ञानकी विषयाकार वृत्ति ही स्मृतिरूपस्वप्न है। इसमें अतिव्याप्ति-निवारणके लिए 'स्वप्न अवस्थासे भिन्न' कहा गया है।

जाग्रत-अवस्थामें आत्माकी नेत्रमें स्थिति जाननी चाहिए, स्वप्नावस्थामें कण्ठमें स्थिति जाननी चाहिए, सुषुप्ति अवस्थामें हृदयमें स्थिति जाननी चाहिए तथा तुरीयावस्थामें मूर्धामें स्थिति जाननी चाहिए- **नेत्रस्थं जाग्रतं विद्यात्, कण्ठे स्वप्नं विनिर्दिशेत्।**

सुषुप्तं हृदयस्थन्तु तुरीयं मूर्धनि स्थितम्।।(ब्र.उ.) यह श्रुति जाग्रत आदि अवस्थाओंमें जीवात्माके स्थानोंका वर्णन करती है। यह परमात्मविषयक नहीं है क्योंकि परमात्माकी जाग्रत आदि अवस्थाएं संभव नहीं हैं। आत्मा जाग्रदवस्थामें स्थूल विषयोंका अनुभव करनेके लिए नेत्र आदि स्थानमें रहती है। प्रस्तुत श्रुतिमें नेत्र शब्द सभी इन्द्रियोंका उपलक्षण है क्योंकि जाग्रत अवस्थामें सभी इन्द्रियोंके कार्य देखे जाते हैं तथा रूप और रूपवान् पदार्थोंके ज्ञानके लिए अणु जीवकी नेत्रमात्रमें स्थिति मानने पर उसे शब्दादिका ज्ञान नहीं होगा। अतः उन इन्द्रियोंमें स्थित होनेका अर्थ है- उन इन्द्रियोंका अधिष्ठाता(नियामक) होना। अणु जीवकी एक इन्द्रियमें स्थिति मानने पर वह युगपद दूसरी इन्द्रियका अधिष्ठाता नहीं हो सकता है, इसलिए देखते समय या सुनते समय चलने और ग्रहण करनेके लिए उपयोगी पाद और हस्त इन्द्रियका अधिष्ठाता संभव न होनेसे यह मानना पड़ता है कि इन्द्रियमें आत्माकी स्थिति नहीं है किन्तु सभी इन्द्रियोंके मूलस्थान हृदयमें स्थित जो आत्मा है, वह धर्मभूतज्ञानके प्रसार द्वारा नेत्र आदि इन्द्रियोंका अधिष्ठाता है। आत्मा हृदयमें स्थित है। हृदयसे सम्बन्ध रखनेवाली नाड़ियोंका सम्बन्ध इन्द्रियोंसे है। मन हृदयमें रहता है। आत्माके आश्रित धर्मभूतज्ञान रहता है। आत्माका धर्मभूतज्ञानके द्वारा मनके साथ सम्बन्ध होता है। मनके द्वारा धर्मभूतज्ञानका चक्षु आदि इन्द्रियोंसे सम्बन्ध होता है, चक्षु आदि इन्द्रियोंके द्वारा धर्मभूतज्ञानका विषयसे सम्बन्ध होता है। इस प्रकार जाग्रतमें आत्मा धर्मभूतज्ञानके द्वारा विषयका प्रकाशक होती है। जाग्रतमें आत्मा वृत्तिके द्वारा स्थूलविषयोंमें स्थित रहती है। जाग्रतमें आत्मा नेत्रके द्वारा बाह्य विषयको देखती है, इसलिए इसकी नेत्रमें स्थिति कही गयी है।

२.स्वप्नावस्था- जाग्रत और सुषुप्तिकी मध्यवर्ती अवस्था स्वप्नावस्था कही जाती है। बाह्य इन्द्रियोंका व्यापार न होनेपर, केवल मनका व्यापार होनेपर जीव जब विषयोंका सेवन करता है, तब स्वप्नावस्था होती है- **इन्द्रियाणां व्युपरमे मनोऽव्युपरतं यदि। सेवते विषयानेव तं विद्यात् स्वप्नदर्शनम्।।**(म.भा.शां.२७५.२४), जाग्रत(जाग्रतकालीन ज्ञान) के समान स्वप्न(स्वप्नकालीन ज्ञान) भी दो प्रकारका होता है- क.स्मृति, ख.अनुभव।

क.स्मृतिरूप स्वप्न- जाग्रतसे सुषुप्तिमें पहुँचनेसे पहले कभी स्मृतिरूप स्वप्न होते हैं। जब चक्षुरादि बाह्य इन्द्रियाँ अपने कार्योंसे उपरत हो जाती है, मनका इनके साथ कार्यानुकूल सम्बन्ध नहीं रहता है, अतः बाह्य इन्द्रियोंके माध्यमसे होनेवाली वृत्तियोंका निरोध हो जाता है, तब संस्कारकी महिमासे मनके द्वारा पूर्व अनुभूत अर्थकी विशद स्मृति होती है। यह स्मृति भी स्वप्न पदका वाच्य है। कभी-कभी जाग्रतमें अनुभूत वस्तुके संस्कारसे गत जन्मके संस्कारको मिलाकर भी स्वप्न होता है। जाग्रतमें अनुभूत मनुष्यशरीरके संस्कारसे गत जन्मके पक्षीशरीरके संस्कारको मिलाकर स्वयं उड़ते रहनेका स्वप्न होता है। स्मृत्यात्मक स्वप्न भी यथार्थ औरं अयथार्थके भेदसे द्विविध होते हैं-

(१)स्वप्नके पदार्थोंको चक्षु आदिसे सम्बद्ध न होने पर भी उनको सम्बद्ध समझना तथा स्वप्नज्ञान चक्षुसे जन्य न होनेपर भी चक्षुजन्य समझना भ्रान्ति है। यथार्थानुभवजन्य स्मृत्यात्मक स्वप्न विषयप्रकाश अंशमें यथार्थ ही होते हैं।

(२)अयथार्थानुभवजन्य स्मृतिरूप स्वप्न अयथार्थ ही होते हैं। स्मृत्यात्मक स्वप्नका उल्लेख **जिज्ञासाधिकरण**(ब्र.सू.१.१.१)के भाष्यकी तत्त्वटीकामें स्मृतिकी प्रत्यक्षसमानाकारताके प्रतिपादनके प्रसङ्गमें

किया गया है। स्थूलशरीर के कार्य जाग्रत में होते हैं, स्वप्नमें नहीं किन्तु मन के कार्य दोनों अवस्थाओंमें एक जैसे होते हैं। जाग्रतमें स्थूलजगत् मनके कार्यका नियन्त्रण करता है। जाग्रतमें कुछ सोचते हुए मार्गमें चलनेवाला व्यक्ति अपनेको भूल नहीं पाता है, सामनेसे आते हुए वाहन आदि इसके मनको खींचते हैं। स्वप्नमें बाह्य इन्द्रियोंके कार्य नहीं होते हैं, इसलिए मनपर नियन्त्रण नहीं रहता है। मन अपनी इच्छासे कार्य करता रहता है।

ख.अनुभवरूप स्वप्न- जाग्रतकालमें इन्द्रियाँ स्थूलशरीरके गोलकोंमें रहकर विषयप्रकाश तथा चलना-फिरना आदि कार्य करती हैं। इससे शनैः-शनैः जीवको थकावट होती है। तब इन्द्रियाँ गोलकोंको छोड़कर अन्दर जानेको उद्यत होती हैं। प्रश्नोपनिषत्(४.२)में कहा गया है कि जिस प्रकार सांयकाल अस्ताचलकी ओर जानेवाले सूर्यकी किरणें प्रसारके विना सूर्यमण्डलमें एकीभूत हो जाती हैं, उसी प्रकार स्वप्नावस्थामें जानेवाले जीवकी इन्द्रियाँ गोलकोंमें स्थितिके विना मनमें एकीभूत हो जाती हैं इसलिए स्वप्नमें जाग्रतकालीन चक्षु आदि बाह्य इन्द्रियोंसे देखना, सुनना, सूँघना आदि कार्य नहीं होते हैं किन्तु मन अपना कार्य करता रहता है। प्रश्नोपनिषत्(४.५)के ही अनुसार जीव जाग्रतमें देखे गए, सुने गये पदार्थोंको स्वप्नमें देखता है, सुनता है और जाग्रतमें न देखे गए, न सुने गए पदार्थोंको भी स्वप्नमें देखता है और सुनता है। इस श्रुतिके भाष्यमें जाग्रतकालीन देह और चक्षु आदि बाह्य इन्द्रियोंके उपरत होनेपर भी स्वप्नमें स्वप्नकालीन शरीर तथा चक्षु आदि इन्द्रियोंकी उत्पत्ति स्वीकार की गयी है। स्वप्नदर्शीका जाग्रतकालीन शरीर एक स्थानपर चेष्टारहित पड़ा रहता है किन्तु वह स्वप्नमें जाग्रतकालीन शरीरसे भिन्न अपने शरीर को देखता है, इससे स्वप्नदेहकी सृष्टि सिद्ध होती है। श्रुति स्वप्नमें मनसे अतिरिक्त जाग्रतकालीन चक्षु आदि इन्द्रियोंके कार्यके

अभावका प्रतिपादन करती है किन्तु स्वप्नदर्शी स्वप्नमें चक्षु, श्रोत्र आदि इन्द्रियोंसे देखना, सुनना आदि कार्य करता है। इतना ही नहीं बल्कि जन्मान्ध व्यक्ति भी स्वप्नमें रूपको देखता है, बधिर शब्दको सुनता है । इससे स्वप्नमें चक्षु, श्रोत्र आदिकी भी सृष्टि सिद्ध होती है। ज्ञानीका धर्मभूतज्ञान संकुचित न होनेके कारण वह उत्क्रमणकालमें मन सहित सभी इन्द्रियोंको आत्मामें स्थित होनेपर भी निर्गमननाड़ीको जानता है किन्तु स्वप्नद्रष्टा अज्ञानी जीव ऐसा नहीं कर सकता है। इसकी चक्षु आदि इन्द्रियोंको मनमें स्थित होनेके कारण इनसे विषयका ज्ञान नहीं हो सकता है। स्वप्नके पदार्थोंके अनुभवके लिए स्वप्नकालमें रचित चक्षु आदि इन्द्रियों द्वारा प्रसरित धर्मभूतज्ञानसे विषयोंका प्रकाश होता है। स्वप्नमें जाग्रतकालीन स्थूल विषय न होनेपर भी केवल स्वप्नद्रष्टाके द्वारा अनुभाव्य ईश्वररचित विषयोंसे व्यवहार चलता रहता है। जाग्रतकालमें सभीके अनुभवके योग्य रथ, रथवाहक घोड़े और मार्ग स्वप्नमें नहीं होते हैं। परमात्मा स्वप्नद्रष्टामात्रके द्वारा केवल स्वप्नकालमें अनुभवयोग्य रथ आदि की रचना करते हैं- **न तत्र रथा न रथयोगा न पन्थानो भवन्ति, अथ रथान् रथयोगान् पथः सृजते।**(बृ.उ.४.३.१०) स्वप्नमें जाग्रतके स्थूल पदार्थोंकी तरह सरोवर, वापी आदि नदियाँ नहीं होती हैं। परमात्मा सरोवर, वापी और नदियोंकी रचना करते हैं- **न तत्र वेशान्ताः पुष्करिण्यः स्रवन्त्यो भवन्ति, अथ वेशान्तान् पुष्करिण्यः स्रवन्त्यः सृजते।**(बृ.उ.४.३.१०)

शंका- स्वप्नद्रष्टा मनुष्य जिस कालमें जिस स्थानपर रथादि पदार्थोंको देखता है, उसी कालमें वहीं स्थित अन्य मनुष्य उनको नहीं देखता है। स्वप्नद्रष्टा भी जागनेके बाद वहाँ उन पदार्थोंको नहीं देखता है। स्वप्नदृश्य पदार्थोंके स्थानान्तरित होने या विनाशके

चिह्न उपलब्ध नहीं होते हैं। ऐसी विचित्र स्वप्नकालीन पदार्थों की सृष्टि कैसे सम्भव होती है?

समाधान– सकलप्रपञ्चरूप नाटकके सूत्रधार सर्वेश्वर परमात्मा ही स्वप्न सृष्टिके कर्ता हैं- **स हि कर्ता**(बृ.उ.४.३.१०)। उन सर्वसमर्थके द्वारा ही ऐसी विचित्र सृष्टि संभव होती है।

शंका– जीव जब स्वप्नके पदार्थों को देखता है–**स यत्र प्रस्वपिति**।(बृ.उ.४.३.९) इस पूर्वश्रुतिके आधारपर **स हि कर्ता** इस श्रुतिमें 'सः' पदके द्वारा जीवको ग्रहण करके स्वप्नके प्रपञ्चका निर्माता जीवको मानना चाहिए, ईश्वरको नहीं?

समाधान– स्वप्नके आश्चर्यमय पदार्थ ईश्वररचित हैं, जीवरचित नहीं हैं क्योंकि उस समय जीवके सत्यसंकल्पत्वादि गुण पूर्णतः आविर्भूत नहीं होते हैं- **मायामात्रं तु कार्त्स्न्येनानभिव्यक्तस्वरूपत्वात्**(ब्र.सू.३.२.३)। जीवोंके स्वप्नावस्थामें जानेपर जो अपने संकल्पसे स्वप्नद्रष्टाके अनुभवके योग्य भोग्य, भोगोपकरण और भोगस्थानरूप विविध, विचित्र पदार्थोंकी सृष्टि करते हुए जागता रहता है। वही सबका प्रकाशक, अमृतस्वरूप ब्रह्म कहा जाता है- **य एष सुप्तेषु जागर्ति कामं कामं पुरुषो निर्मिमाणः, तदेव शुक्रं तद् ब्रह्म तदेवामृतमुच्यते**।(क.उ.२.२.८) यहाँ पर परमात्मा ही स्वप्नके पदार्थोंके कर्ता कहे गये हैं, इस कठश्रुतिके साथ बृहदारण्यक श्रुति **स हि कर्ता** की एकार्थता होनेसे यह बृ.श्रुति भी परमात्माको ही कर्ता कहती है। जीव स्वप्नके पदार्थोंका कर्ता नहीं हो सकता है। मनुष्य सकाम कर्ममें प्रवृत्त होनेपर जब स्वप्नमें स्त्रीको देखता है, तब उस स्वप्नदर्शनके होनेपर फलकी समृद्धि जाननी चाहिए- **यदा कर्मसु काम्येषु स्त्रियं स्वप्नेषु पश्यति, समृद्धिं तत्र जानीयात् तस्मिन् स्वप्ननिदर्शने**।(छां.उ.५.२.९)। जो मनुष्य स्वप्नमें काले दाँतवाले

कालेपुरुषको देखता है, वह स्वप्न उसे मार देता है- **अथ स्वप्ने पुरुषं कृष्णं कृष्णदन्तं पश्यति,स एनं हन्ति।**(ऐ.आ.उ.३.२.४) इस प्रकार शुभाशुभ फलके सूचक स्वप्न शास्त्रोंमें वर्णित हैं। यदि जीव स्वप्नके पदार्थोंका कर्ता होता, तो वह शुभफलके सूचक स्वप्नके पदार्थोंको ही बनाकर देखता किन्तु ऐसा नहीं होता है, इससे सिद्ध होता है कि जीव स्वप्नके पदार्थोंका कर्ता नहीं है! जीव स्वप्नावस्थामें जाते समय भोग्य, भोगोपकरण आदि सबसे युक्त इस जाग्रत प्रपञ्चकी प्रकाशक इन्द्रियसमूहको लेकर उनमें मनसे अतिरिक्त इन्द्रियोंको क्रियारहित करके स्वप्नकालीन देहेन्द्रियादिका स्वयं निर्माण करके अपनी ज्योतिसे स्वप्नका अनुभव करता है- **अस्य लोकस्य सर्वावतो मात्रामुपादाय स्वयं निहत्य स्वयं निर्माय स्वेन भाषा स्वेन ज्योतिषा प्रस्वपिति।**(बृ.उ.४.३.९) यह श्रुति बताती है कि जीव पुण्यपापरूप अदृष्टके द्वारा स्वप्नके पदार्थोंका कर्ता है, साक्षात् कर्ता तो परमात्मा ही हैं। 'स्वयं निर्माय' यह वाक्य जाग्रतकालके परिजन, परिकरकी निरपेक्षताका प्रतिपादन करता है। ईश्वरकी निरपेक्षताका प्रतिपादन नहीं करता है। 'स्वप्नसृष्टि जीवरचित है' इस बात का निषेध **सन्ध्याधिकरण**(ब्र.सू.३.२.१)में किया गया है।

स्वप्नावस्थामें मनसे अतिरिक्त इन्द्रियाँ व्यापारसे रहित हो जाती हैं। आत्मा स्वप्नस्थान हिता नाड़ीमें आ जाती है, मन भी यहीं आ जाता है। यहाँ प्रवेश करनेपर जीवका मनसे अतिरिक्त इन्द्रियोंसे सम्बन्ध नहीं रहता है। जीव स्वप्नावस्थामें कण्ठकी समीपवर्ती नाड़ीमें रहता है- **कण्ठे स्वप्नं विनिर्दिशेत्**(ब्र.उ.), **कदाचिद्**(स्वप्ने) **कण्ठः**(ऐ.उ.आ.भा.३.१२), **स्वप्नदशायाम् अन्तःकरणम्**(ऐ.उ.रं.भा.३.१२)। जीव स्वप्नावस्थामें कण्ठकी समीपवर्ती नाड़ीस्थ मनमें रहता है, हिता नाड़ी कण्ठकी ओर भी

जाती है, अतः मन हिता नाड़ीमें स्थित होनेपर भी कण्ठस्थ(कण्ठकी समीपवर्ती नाड़ीमें स्थित) कहा जाता है। इस समय जीव हिता नाड़ीमें ही रहता है। मनका अधिष्ठाता जीव होनेसे उसकी मनमें स्थिति कही गयी है। जिन सूक्ष्मकर्मोंका फल जाग्रतमें नहीं भोगा जा सकता है, उनको भोगनेके लिए श्रीभगवान् स्वप्नके पदार्थोंकी रचना करते हैं। हृदयस्थ जीवके लिए वहीं पर स्वप्नशरीर तथा अन्य दृश्य पदार्थोंकी सृष्टि होती है। जाग्रतकालीन स्थूल पदार्थोंसे स्वप्नकालीन सूक्ष्म पदार्थोंका प्रतिघात(टकराव) नहीं होता है, इसलिए एक कमरेमें पड़ा हुआ व्यक्ति वहीं पर बड़े-बड़े महल, नदी, पर्वत और सरोवरको भी देखता है। पूर्वशरीरसे आत्मा नहीं निकलती है।

शंका- **बहिष्कुलायादमृतश्चरित्वा**(बृ.उ.४.३.१२) यह श्रुति स्वप्नमें जीवात्माके शरीरसे बाहर निकलनेका प्रतिपादन करती है, तो आप शरीरसे बाहर निकलनेका निषेध क्यों करते हैं?

समाधान- यह श्रुति स्वप्नमें जीवात्माके बाहर जानेका प्रतिपादन नहीं करती है बल्कि जिस प्रकार योगीकी आत्मा एक ही शरीरमें रहनेपर भी धर्मभूतज्ञानके द्वारा तपोबलसे रचित शरीरान्तरको धारण करके व्यवहार करती है, उसी प्रकार स्वप्नद्रष्टाकी आत्मा सोये हुए एक शरीरमें रहनेपर भी ईश्वररचित शरीरान्तरको धारण करके व्यवहार करती है। ऐसा श्रुतप्रकाशिका व्याख्याके **सन्ध्याधिकरण**(ब्र. सू.३.२.१)में कहा गया है। अतः **बहिष्कुलायादमृतश्चरित्वा** यह श्रुति एक शरीरमें रहते हुए ही धर्मभूतज्ञानके द्वारा बाहर जानेका प्रतिपादन करती है, स्वरूपतः आत्माके बाहर निकलनेका प्रतिपादन नहीं करती है। जाग्रतमें विषयके प्रत्यक्षके लिए आदित्यादि ज्योतियोंकी अपेक्षा रहती है, स्वप्नमें चक्षु आदि इन्द्रियोंकी अपने गोलकोंमें स्थिति न होनेके कारण प्रसिद्ध आदित्यादि ज्योतियोंकी अपेक्षा नहीं रहती है। इसलिए आत्माको स्वयं ज्योति कहा जाता

है। स्वप्नावस्थामें यह आत्मा स्वयं ज्योति है- **अत्रायं पुरुषः स्वयं ज्योतिर्भवति**(बृ.उ.४.३.६)। पुरुष जब तक जाग्रत देहमें 'अहम्' ऐसा अभिमान करता है, तब तक जाग्रतके कार्योंमें आसक्त होकर आदित्यादि ज्योतियोंकी अपेक्षा करता है किन्तु जब यह अभिमान निवृत्त हो जाता है, तब देहमें स्थित चक्षु आदि गोलकोंमें चक्षु आदि इन्द्रियोंकी स्थिति न होनेसे आदित्यादि ज्योतियोंकी अपेक्षा नहीं करता है।

अनुभवरूप स्वप्नज्ञान सत्य ही है, वह मिथ्या होता तो जागने पर 'मैंने स्वप्न नहीं देखा' ऐसा अनुभव होना चाहिए किन्तु ऐसा अनुभव नहीं होता है, इससे सिद्ध होता है कि स्वप्नज्ञान मिथ्या नहीं है। स्वप्नके पदार्थ भी मिथ्या नहीं हैं, वे ईश्वररचित हैं। जाग्रत और स्वप्नके पदार्थों में इतना अन्तर है कि जाग्रत पदार्थ दीर्घकालस्थायी होते हैं और स्वप्नपदार्थ अल्पकाल(स्वप्नकालमात्र) स्थायी होते हैं। **रथान् रथयोगान् पथः सृजते**।(बृ.उ.४.३.१०) यह श्रुति स्वप्नके पदार्थोंको ईश्वररचित कहती है। ईश्वररचित पदार्थ मिथ्या नहीं होते हैं, सत्य ही होते हैं।

अदृष्टवशात् होनेवाले स्वप्न शुभाशुभफलके जनक होते हैं। वात, पित्त तथा कफ दोषके वैषम्यसे होनेवाले स्वप्न फलके जनक नहीं होते हैं। वातदोषके आधिक्यवाला मनुष्य स्वप्नमें आकाशगमन, पर्यटन, व्याघ्रादिसे भय और पलायनको देखता है। पित्तदोषकी अधिकतावाला मनुष्य अग्निज्वाला, अग्निमें प्रवेश, वस्तुओंका जलना, सुवर्णमय पर्वत आदिको देखता है। कफदोषकी वृद्धिवाला मनुष्य नदी स्नान, समुद्रतरण, वर्षा तथा रजतमय पर्वत आदि को देखता है। स्मृतिरूपस्वप्न फलके जनक नहीं होते हैं। वातादिदोषोंका वैषम्य न होनेपर अनुभवात्मक स्वप्न फलके जनक होते हैं।

३.सुषुप्ति अवस्था- सभी इन्द्रियोंसे होनेवाले ज्ञानके अभावकी दशा ही सुषुप्ति अवस्था है। जीव जाग्रत तथा स्वप्नावस्थामें शरीर तथा मनसे कर्म करते हुए फल भोगता रहता है, इससे शरीर-इन्द्रियाँ शिथिल हो जाती हैं। अतः जीव विश्राम पानेके लिए सुषुप्ति अवस्थाको प्राप्त होता है। जैसे बहेलियेके हाथमें विद्यमान धागामें बँधा पक्षी सभी दिशाओंमें उड़कर कहीं भी विश्राम न पाकर उस हाथमें ही आ जाता है, इसी प्रकार हे सोम्य! जीवके प्राणसे बंधा मन जाग्रत और स्वप्नमें नानाप्रकारके विषयोंको ग्रहण करके बाहर कहीं विश्राम न पाकर विश्राम पानेके लिए मुख्य प्राणमें ही आ जाता है- **स यथा शकुनिः सूत्रेण प्रबद्धो दिशं दिशं पतित्वाऽन्यत्राऽऽयतनमलब्ध्वा बन्धनमेवोपश्रयते, एवमेव खलु सोम्य तन्मनो दिशं दिशं पतित्वाऽन्यत्राऽऽयतनमलब्ध्वा प्राणमेवोपश्रयते। प्राणबन्धनं हि सोम्य मन इति**(छां.उ.६.८.२)। स्वप्नावस्थामें वाक् आदि इन्द्रियोंके मनमें लीन हो जानेपर मन अपना कार्य करता रहता है किन्तु सुषुप्तिमें मन भी प्राणमें लीन हो जाता है। सुषुप्तिकालमें जीवकी इच्छा और प्रयत्नके विना परमात्माके संकल्पसे प्रेरित प्राण शरीरकी रक्षा करते रहते हैं- **प्राणः शरीरं परिरक्षति** (सु.उ.४)। जैसे बाज या गरुड़ पक्षी आकाशमें चारों ओर उड़कर थक जानेपर पंखोंको फैलाकर विश्रामके लिए घोंसलेमें ही आ जाता है, वैसे ही यह जीवात्मा जाग्रत और स्वप्नमें इधर-उधर संचरण करके थक जानेपर विश्रामके लिए सुषुप्तिस्थान ब्रह्ममें ही आ जाता है- **तद् यथा अस्मिन्नाकाशे श्येनो वा सुपर्णो वा विपरिपत्य श्रान्तः संहत्य पक्षौ सल्लयायैव ध्रियते, एवमेवायं पुरुष एतस्मा अन्ताय धावति**(बृ.उ.४.३.१९)। जिस प्रकार खेतमें गड़ी सुवर्णनिधि को न जाननेवाले मनुष्य खेतके ऊपर प्रतिदिन संचरण करनेपर भी सुवर्णनिधिको नहीं जानते हैं, इसी प्रकार सुषुप्तिकालमें सभी प्रजा

प्रतिदिन ब्रह्मरूप लोकमें जानेपर भी ब्रह्मको नहीं जानती है क्योंकि वह ब्रह्मज्ञानके प्रतिबन्धक कर्मोंसे आच्छादित है- **तद्यथा हिरण्यनिधिं निहितमक्षेत्रज्ञा उपर्युपरि संचरन्तो न विन्देयुः, एवमेवेमाः सर्वाः प्रज्ञा अहरहर्गच्छन्त्य एतं ब्रह्मलोकं न विन्दति, अनृतेन हि प्रत्यूढाः**(छां.उ. ८.३.२)।

जाग्रत अवस्थामें इन्द्रियाँ अपने-अपने गोलकोंमें रहकर कार्यसम्पादन करती हैं, स्वप्नमें आत्माके हिता नाड़ीमें आनेपर मन भी हिता नाड़ीमें आ जाता है। सुषुप्तिमें आत्माका पुरीततूमें प्रवेश होने पर मन भी उसीके साथ पुरीततूमें प्रविष्ट हो जाता है। अब मन भी क्रिया रहित हो जाता है। कौषीतकीश्रुति के अनुसार सुषुप्तिकालमें जीवकी वाक् इन्द्रिय अपने सभी नामोच्चारण कार्योंके साथ परमात्मामें लीन हो जाती है, चक्षु इन्द्रिय अपने रूपादि दर्शनरूप कार्योंके साथ लीन हो जाती हैं, श्रोत्र इन्द्रिय सभी शब्दज्ञानरूप कार्योंके साथ लीन हो जाती है, मन चिन्तनादिरूप सभी कार्योंके साथ लीन हो जाता है- **तदैनं वाक् सर्वैर्नामभिः सहाप्येति, चक्षुः सर्वेः रूपैः सहाप्येति, श्रोत्रं सर्वैः शब्दैः सहाप्येति, मनः सर्वैर्ध्यानैः सहाप्येतीति**(कौ.उ.४.३६)। सुषुप्तिमें विषय बाहर विद्यमान ही होते हैं। बौद्धदर्शनके समान वेदान्तमें इनका अपलाप मान्य नहीं है, इसलिए उक्त श्रुतिमें कथित नामरूपके अप्यय का अर्थ होता है- नामरूपको विषय करनेवाले वाक्, चक्षु आदिके व्यापारोंका लय। हिता नामकी बहत्तर हजार नाड़ियाँ हृदयसे पुरीततूकी ओर स्थित होती हैं। जीव इन हिता नाड़ियोंसे आकर पुरीततूमें विद्यमान ब्रह्ममें सोता है- **हिता नाम नाड्यो द्वासप्तति सहस्त्राणि हृदयात् पुरीततम् अभिप्रतिष्ठन्ते, ताभिः प्रत्यवसृप्य पुरीतति शेते**।(बृ.उ.२.१.१९) जैसे मनोऽनुकूल प्रिया भार्यासे आलिङ्गनको प्राप्त हुआ मनुष्य न तो बाह्य घटादि पदार्थों को

जानता है और न ही आन्तरिक शोक-मोहादि को जानता है, वैसे ही सर्वज्ञ परमात्मासे आलिङ्गित जीव न तो बाह्य घटादिको जानता है और न ही आन्तरिक शोक-मोहादिको जानता है- **तद्यथा प्रियया स्त्रिया संपरिष्वक्तो न बाह्यं किंचन वेद नान्तरम्। एवमेवायं पुरुषः प्राज्ञेनात्मना सम्परिष्वक्तो न बाह्यं किंचन वेद नान्तरम्**(बृ.उ. ४.३.२१)।। बाह्य और आन्तरिक ज्ञानके न होनेमें प्रस्तुत दृष्टान्त है, जैसे प्रिया और पतिका परिष्वङ्ग(आलिङ्गन) तथा तज्जन्य विषयसुख होता है, वैसा दार्ष्टान्तमें नहीं है क्योंकि सुषुप्तिमें जीवके साथ नाम, रूप(शरीर) का सम्बन्ध नहीं रहता है, तब निष्क्रिय रहनेवाला निरवयव जीवात्मा परमात्मामें स्थित हो जाता है। यहाँ अङ्गोंका आलिङ्गन नहीं है। इस समय जीव अपनेसे अतिरिक्त किसीको नहीं जानता है क्योंकि कर्मरूप अज्ञानसे आवृत्त होनेके कारण ज्ञानगुण अत्यन्त संकुचित हो जाता है। स्वयंप्रकाश जीवात्मा अपना प्रकाश करता रहता है। इस समय आत्मस्वरूपका प्रकाश होता है किन्तु ब्रह्मका ज्ञान न होनेसे ब्रह्मात्मकत्वेन अपना ज्ञान नहीं होता है। जीव सुषुप्तिमें अपनेसे अतिरिक्त बाह्य या आभ्यन्तर किसी भी वस्तुको नहीं देखता है- **यद् द्वैतं न पश्यति**(बृ.उ.४.३. २३)। जिस हृदयाकाशमें सुखरूप परमात्माको प्राप्त किया हुआ जीव किसी विषयकी कामना नहीं करता है, स्वप्नके पदार्थोंको भी नहीं देखता है। वह सुषुप्ति स्थान है- **यत्र सुप्तो न कंचन कामं कामयते, न कंचन स्वप्नं पश्यति, तत्सुषुप्तम्**(मा.उ.२.३) यह श्रुति सुषुप्तिअवस्थामें काम आदिके अभावका वर्णन करती है। जब जीवकी इन्द्रियाँ क्रियारहित हो जाती हैं, तब वह बाह्य विषयोंके सम्पर्कके कारण होने वाले काम आदि विकारोंसे रहित होता है तथा स्वप्नके पदार्थोंका भी अनुभव नहीं करता है, उस समय जीव पुरीततमें स्थित ब्रह्ममें जानेके लिए नाड़ियोंमें प्रविष्ट होता है- **तद्**

यत्रैतत् सुप्तः समस्तः संप्रसन्नः स्वप्नं न विजानाति, आसु तदा नाडीषु सृप्तो भवति(छां.उ.८.६.३)। जब जीव सुषुप्तिको प्राप्त होता है, बाह्य और आन्तरिक किसी भी विषयको नहीं जानता है। देहमें जो हिता नाम वाली बहत्तर हजार नाड़ियाँ हैं वे जीवके निवासस्थान हृदयमें प्रवेश करके उसके अन्दर स्थित पुरीततकी ओर जाती हैं। तब जीव उन नाड़ियों से जाकर पुरीततमें विद्यमान ब्रह्ममें सोता है अर्थात् विश्रामको प्राप्त करता है- **अथ यदा सुषुप्तो भवति, यदा न कस्यचन वेद, हिता नाम नाड्यो द्वासप्ततिसहस्त्राणि हृदयात् पुरीततम् अभिप्रतिष्ठन्ते ताभिः प्रत्यवसृप्य पुरीतति शेते**(बृ.उ.२.१.१६)। जिस समय जीव सुषुप्तिको प्राप्त होता है, ऐसा कहा जाता है, उस समय वह सत् शब्दके वाच्य परमात्मासे संश्लिष्ट होता है- **यत्रैतत् पुरुषः स्वपिति नाम सता सोम्य तदा सम्पन्नो भवति**(छां.उ. ६.८.१)। यहाँ उद्धृत तीन श्रुतियोंमें प्रथम श्रुति सुषुप्तिकालमें जीवका आश्रय नाड़ी, द्वितीय पुरीतत् तथा तृतीय परमात्माको कहती है। इन तीनों कथनोंमें कोई विरोध नहीं है। जिस प्रकार भवनमें सोता है, चारपाईपर सोता है, बिस्तरपर सोता है। इन वाक्योंका अर्थ है कि भवनमें चारपाईपर विद्यमान बिस्तरपर सोता है। अतः इन तीनों कथनोंमें विरोध नहीं है। उसी प्रकार नाड़ियोंमें सोता है, पुरीततमें सोता है, परमात्मामें सोता है। इन वाक्योंका अर्थ है कि नाड़ियोंमें पुरीततमें विद्यमान परमात्मामें सोता है। यहाँ भवनके स्थानपर नाड़ी है, चारपाईके स्थानपर पुरीतत् है तथा बिस्तरके स्थानपर परमात्मा है, अतः सुषुप्तिकालमें जीवका साक्षात् आश्रय परमात्मा ही है। इस विषयका निर्णय ब्रह्मसूत्रके **तदभावाधिकरण** (३.२.२) में किया गया है।

जब सोया हुआ जीव किसी स्वप्नको नहीं देखता है, तब प्राणशरीरक परमात्मामें एक होकर स्थित होता है- **यदा सुप्तः स्वप्नं**

न कथंचन पश्यति, अथास्मिन् प्राण एवैकधा भवति(कौ.उ.४.३६)। जाग्रत और स्वप्नावस्थामें देहात्मबुद्धि होती है, इससे रागद्वेषादिरूप कलुष उत्पन्न होते हैं। सुषुप्तिमें देहात्मबुद्धि नहीं होती है, अतः रागद्वेषादिरूप कलुष भी उत्पन्न नहीं होते हैं। जाग्रत और स्वप्नमें जन्य देहात्मबुद्धिके कारण जो रागद्वेषादिरूप कलुष होते हैं, उनसे रहित होकर जीव परमात्मामें स्थित होता है। सुषुप्तिकालमें यही जीवका परमात्मामें एकधा भाव(एक होकर स्थित रहना) है। हृदयके अन्दर जो प्रकाशमान् परमात्मा है, जीव उसमें सोता है- **य एषोऽन्तर्हृदय आकाशः तस्मिञ्छेते**।(बृ.उ.२.१.१७) यहाँ परमात्मामें शयनका अर्थ है- परमात्मामें एकरूप होना। एकरूप होनेका अर्थ है- देवत्वमनुष्यत्व आदि भेदक आकारोंका स्फुरण न होना। आत्मा ज्ञानरूप है, वह न तो देवता है और न ही मनुष्यादि। देवत्व, मनुष्यत्व आदि जो भेदक आकार हैं। वे शरीरके हैं, आत्माके नहीं। जाग्रत और स्वप्नमें देवत्व, मनुष्यत्व आदि भेदक आकारोंकी प्रतीति होती रहती है क्योंकि भेदक आकारोंके प्रकाशक धर्मभूतज्ञानका उस समय प्रसार होता है। सुषुप्तिमें धर्मभूतज्ञानका प्रसार न होनेसे भेदक आकारोंका ज्ञान नहीं होता है। अभिमानकी जनक ज्ञानकी प्रसाररूप कार्यावस्था जाग्रत और स्वप्नमें रहती है। इस अवस्थाकी निवृत्तिसे जीवका कारणावस्थावाले स्वान्तर्यामी ब्रह्ममें रहना ही शयन करना है। जैसे जलमें मिलाया गया जल एक हो जाता है, वैसे ही जलके समान स्वच्छ स्वभाववाले परमात्मामें लीन हुआ यह द्रष्टा जीव सर्वत्र परमात्माके द्वारा किये गये आलिंगनसे एक होता हुआ अद्वैत अर्थात् देवत्वादिरूप भेदक आकारोंसे रहित होता है- **सलिल एको द्रष्टाऽद्वैतो भवति**(बृ.उ.४.३.२२)। यहाँ भेदक आकारोंसे रहित होनेका अर्थ है- भेदक आकारोंमें अभिमानसे रहित होना। जाग्रत और स्वप्नमें इस अभिमानकी जनक इन्द्रियों(करण) का विभागरूप

सामग्री रहती है। सुषुप्तिमें जीव अभिमानके जनक करणके विभागरूप सामग्रीसे रहित होता है। करणके विभागरूप सामग्रीसे रहित होना ही भेदक आकारमें अभिमानसे रहित होना है। सुषुप्तिकालमें परमात्मामें लीन हुए जीवका पिता पिता नहीं होता है, माता माता नहीं होती है, लोक लोक नहीं होते हैं, देव देव नहीं होते हैं, वेद वेद नहीं होते, चोर चोर नहीं होता, भ्रूणहत्यारा भ्रूणहत्यारा नहीं होता, चाण्डाल चाण्डाल नहीं होता, पुल्कस(नीच) पुल्कस नहीं होता, संन्यासी संन्यासी नहीं होता, वानप्रस्थी वानप्रस्थी नहीं होता क्योंकि वह देहके साथ सम्बन्धके जनक पुण्य-पापसे रहित होता है- **अत्र पिताऽपिता भवति, माताऽमाता, लोका अलोकाः, देवा अदेवाः, वेदा अवेदाः। अत्र स्तेनोऽस्तेनो भवति, भ्रूणहाऽभ्रूणहा, चाण्डालोऽचाण्डालः, पौल्कसोऽपौल्कसः, श्रमणोऽश्रमणः, तापसोऽतापसः, अनन्वागतं पुण्येन अनन्वागतं पापेन**(बृ.उ.६.३.२२)। सुषुप्तिमें जाग्रतशरीरसे जीवके सम्बन्ध का उत्पादक कर्म नहीं रहता है इसलिए उस कालमें अशरीरी(शरीर में अभिमानरहित) आत्मा रहती है। इस जीवात्माका कोई उत्पादक नहीं होता है, इसलिए सुषुप्त जीवके माता-पिताका अभाव कहा गया है। इस समय आत्माका परमात्मा ही आश्रय है, लोक आश्रय नहीं हैं, इसलिए लोकको अलोक कहा गया है। वेदोंके द्वारा सुषुप्त व्यक्ति अनुशासनीय नहीं है, इसलिए अनुशासन कर्त्ता वेदको अवेद कहा गया है। सुषुप्तिकालमें विद्यमान परिशुद्ध आत्मस्वरूपमें चोरी आदि का कर्तृत्व संभव न होनेसे चोरको अचोर तथा भ्रूणहाको अभ्रूणहा कहा है। चाण्डालत्व आदि देहके धर्म हैं, आत्माके नहीं। इसलिए सुषुप्तिकालमें चाण्डाल अचाण्डाल है इत्यादि कहा गया है। जैसे राजकुमार, महाराजा, अथवा अपरोक्ष ब्रह्मवेत्ता अतिशय आनन्दसे रहता है, इसी प्रकार सुषुप्तिकालमें जीव अतिशय आनन्दसे

पुरीततूमें विद्यमान ब्रह्ममें सोता है- **स यथा कुमारो वा महाराजो वा महाब्राह्मणो वाऽतिघ्नीमानन्दस्य गत्वा शयीत एवमेवैष एतच्छेते**(बृ.उ. २.१.१९)

बालक हो या वृद्ध, राजा हो या भिक्षुक, विद्वान हो या मूर्ख। इन सबकी सुषुप्ति अवस्था एक समान होती है। सुषुप्तिमें जिसने महाराजत्वको छोड़ा था, वह फिर महाराज बन जाता है। जिसने दरिद्रताको छोड़ा था, वह पुनः दरिद्र बन जाता है। सुषुप्तिकालमें सत् परमात्मामें स्थित हुए जीव सुषुप्तिसे पूर्व जाग्रत अवस्थामें बाघ, शेर, भेड़िया, सुअर, कीट, पतंग, दंश अथवा मच्छर आदि जिस जिस शरीरमें अभिमान करके स्थित होते हैं, वे सुषुप्तिके पश्चात् मैं बाघ हूँ इत्यादि रीतिसे उस उस शरीरमें अभिमान(देहात्मबुद्धि) करके स्थित हो जाते हैं- **त इह व्याघ्रो वा सिंहो वा वृको वा वराहो वा कीटो वा पतङ्गो वा दंशो वा मशको वा यद् यद् भवन्ति तदाभवन्ति।**(छां.उ.६.१०.२) इस प्रकार पूर्ववासनासे युक्त होकर ही जागते हैं, वह नष्ट नहीं होती है।

जाग्रत आदि अवस्थाओंमें जीवके स्थान- मनुष्यका हृदय कमलके आकारका होता है। कमलपुष्पमें चारों ओर दल(पंखुड़ियाँ) होते हैं। मध्यमें केसर होते हैं। केसरके नीचे कर्णिकाएं(बीज) होती हैं। हृदयके अन्दर घनीभूत नाड़ियोंका समूह है, जो कि लाल माँसपिण्ड जैसा प्रतीत होता है। यह कमलकी कर्णिकाके स्थानपर है, इसे पुरीतत् कहते हैं। इसका बृहदारण्यक श्रुति **य एषोऽन्तर्हृदये लोहितपिण्डः**(बृ.उ.४.२.३) इस प्रकार वर्णन करती है। हृदयसे सम्बन्ध रखनेवाली हिता नामकी नाड़ियाँ हृदयसे पुरीततूकी ओर जाती हैं- **हिता नाम हृदयस्य नाड्यो हृदयात् पुरीततम् अभिप्रतिष्ठन्ति।**(कौ.उ.४.३८), पुरीततसम्बन्धी हिता नामक नाड़ियाँ हृदयके अन्दर प्रतिष्ठित होती हैं- **एवमस्यैता हिता नाम नाड्यो**

अन्तर्हृदये प्रतिष्ठिता भवन्ति(बृ.उ.४.२.३)। ये नाड़ियाँ हृदयसे बाहर भी विद्यमान रहती हैं। जीव जाग्रत दशामें हृदयमें केसरायमाण नाड़ीसे ऊपर दल भागमें रहता है। हृदयके दश छिद्र होते हैं, जिनमें इन्द्रियाँ स्थित होती हैं- **हृदयस्य दश छिद्राणि भवन्ति, येषु प्राणाः प्रतिष्ठिताः**(सु.उ.४)। हृदयकी प्रधान दश नाड़ियाँ होती हैं- **अथेमा दश नाड्यो भवन्ति**(सु.उ.४)। इन नाड़ियोंसे सम्बद्ध इन्द्रियाँ गोलकपर्यन्त विद्यमान रहती हैं। जीवका धर्मभूतज्ञानद्वारा मनसे सम्बन्ध होता है, मनका अन्य इन्द्रियोंसे सम्बन्ध होता है। इस प्रकार सभी इन्द्रियाँ अपने गोलकोंमें रहकर कार्य करती हैं। जीव स्वप्नावस्थामें केसरस्थानी हिता नाड़ियों में जाकर रहता है- **तासु तदा भवति**(कौ.उ.४.३८)। अब मन भी इसी हिता नाड़ीमें आ जाता है। यहाँ प्रवेश करनेपर जीवका मनसे अतिरिक्त इन्द्रियोंसे सम्बन्ध नहीं रहता है। जीवात्मा हिता नाड़ियोंसे पुरीततूमें विद्यमान ब्रह्ममें आकर सुषुप्तिको प्राप्त होता है- **ताभिः प्रत्यवसृप्य पुरीतति शेते**(बृ.उ.२.१.१६)। इस समय मन भी हिता नाड़ीसे पुरीततूमें आ जाता है। जीव जाग्रतस्थानसे स्वप्नस्थानमें जाता है, वहाँ से सुषुप्तिस्थानमें जाता है। फिर सुषुप्तिस्थानसे स्वप्नस्थान होते हुए जाग्रतस्थानमें आ जाता है। इस प्रकार जीव तीन अवस्थाओं और तीन स्थानोंमें संचरण करता रहता है।

माध्वमत- माध्वमतमें नित्यसंसारी(नित्यबद्ध) जीव भी स्वीकृत हैं। सदा संसारमें ही रहनेवाले जीव नित्य संसारी कहे जाते हैं। ये मुक्तिके योग्य नहीं होते हैं। जिस प्रकार ये अभी तक मुक्त नहीं हुए हैं, उसी प्रकार आगे भी मुक्त नहीं होंगे। शास्त्रोंमें लीलाविभूति(प्रकृतिमण्डल) को नित्य कहा गया है। यह तभी संभव है, जब नित्य संसारी जीव हों। नित्य संसारी जीव न मानने पर यदि एक-एक करके सभी जीव मुक्त होंगे, तो लीलाविभूतिका

नित्यत्व बाधित हो जायेगा किन्तु शास्त्रकथित नित्यत्व बाधित नहीं हो सकता है। इसलिए नित्य बद्ध जीवोंको स्वीकार करना चाहिए। श्रीभगवान् कहते हैं- 'मैं इन आसुरी प्रकृतिवाले जीवोंको सदा आसुरीयोनियोंमें ड़ालता हूँ'- **क्षिपाम्यजस्रमशुभानासुरीष्वेव योनिषु।** (गी.१६.१६) इत्यादि वचन नित्य संसारियोंके सद्भावमें प्रमाण हैं।

सिद्धान्त मत- कोई भी जीव नित्यसंसारी नहीं है। यदि जीव नित्य संसारी होता तो प्रत्येक मनुष्यको यह संदेह होता कि 'मैं नित्य संसारी हूँ या नहीं'। ऐसा संदेह होनेपर जीव मोक्षसाधनमें प्रवृत्त नहीं होगा। नित्यसंसारी न होने पर ही मोक्षके साधनका विधान सफल होगा। सभी जीव मुक्त होनेके योग्य हैं। जो मोक्षके साधनसे सम्पन्न होगा, वह मुक्त हो जायेगा। एक-एक करके उपासकोंकी मुक्तिसे संसारके उच्छेदका प्रसङ्ग नहीं होगा क्योंकि श्रुति संसारी जीवोंको भी अनन्त कहती है। शत(सौ), सहस्र(हजार), अयुत, न्यर्बुद, असंख्य जीव इस परमात्मामें स्थित हैं- **शतं, सहस्त्रमयुतं न्यर्बुदमसंख्येयं स्वमस्मिन् निविष्टम्**(अ.सं.१०.८.२४)। अनन्तसे कुछ निकालनेपर अनन्त ही बना रहता है। अतः एक-एक करके जीवोंके मुक्त होनेसे प्रकृतिमण्डलका नित्यत्व बाधित नहीं होता है। 'आसुर प्रकृतिवाले मनुष्योंको मोक्षप्राप्त करनेमें बहुत विलम्ब होता है।' यह श्रीभगवान्के उपर्युक्त गीता वचनका तात्पर्य है। उस वचनसे नित्य संसारी जीव सिद्ध नहीं होते हैं।

बद्धजीवोंके भेद- १.शास्त्रके अवश्य, २.शास्त्रके वश्य।

१.शास्त्रके अवश्य- जो प्राणी शास्त्रके वश(नियन्त्रण या आदेश) में रहने योग्य नहीं होते हैं, वे शास्त्रके अवश्य कहे जाते हैं। तिर्यक्, स्थावर आदि प्राणी शास्त्रके अवश्य हैं।

२.शास्त्रके वश्य– जो प्राणी शास्त्रके वशमें रहने योग्य होते हैं, वे शास्त्रके वश्य कहे जाते हैं। मनुष्य शास्त्रद्वारा प्रतिपादित विधि-निषेधके वशमें रह सकता है, इसीलिए मनुष्य शास्त्रके वश्य कहे जाते हैं। शास्त्रके वश्य बननेके लिए ही मानवशरीर प्राप्त होता है। शास्त्रवश्यके दो भेद होते हैं– बुभुक्षु और मुमुक्षु।

बुभुक्षु– धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष ये चार पुरुषार्थ होते हैं, इनमें से मोक्षभिन्न पुरुषार्थको चाहनेवाला मनुष्य बुभुक्षु कहा जाता है। जो शास्त्रीयविधिसे जीवन निर्वाह करके धर्मादि तीन पुरुषार्थोंको चाहते हैं, उनका कल्याण हो सकता है किन्तु जो शास्त्रीय विधिका अतिक्रमण करके अन्यायसे जीवन यापन करते हुए इन्हे चाहते हैं, उनका कल्याण नहीं होता है। इनमें प्रथम बुभुक्षु के दो भेद होते हैं– क.अर्थकामपर, और ख.धर्मपर।

क.अर्थकामपर– जो केवल धन और भोग्य पदार्थोंकी अभिलाषा करनेवाले होते हैं, वे बुभुक्षु अर्थकामपर कहे जाते हैं। वे देहसे भिन्न आत्माको नहीं समझते हैं।

ख.धर्मपर– शास्त्रप्रतिपादित कल्याणके साधनको धर्म कहते हैं– **चोदनालक्षणोऽर्थो धर्मः**।(जै.सू.१.१.२), **अलौकिकश्रेयस्साधनं धर्मः**। (श्रु.प्र.) जिस साधनसे त्रिवर्ग तथा मोक्षकी प्राप्ति होती है, उसे धर्म कहते हैं– **यतो अभ्युदयनिःश्रेयससिद्धिः सः धर्मः**।(वै.सू.१.१.२) इस प्रकार यज्ञ, दान, तप तथा तीर्थयात्रादि धर्म कहे जाते हैं। इन्हें करनेवाले बुभुक्षु मनुष्य धर्मपर कहे जाते हैं। ये देहसे अतिरिक्त आत्मा तथा परलोकको जाननेवाले होते हैं। इनके भी दो भेद होते हैं– १.देवतान्तरपर, २.भगवत्पर।

१.देवतान्तरपर– जो भगवानकी आराधना न करके केवल अग्नि, इन्द्र आदि देवताओंकी आराधनामें तत्पर रहते हैं, वे देवतान्तरपर

कहे जाते है।

२.भगवत्पर– जो भगवानकी ही आराधना करनेवाले होते है, वे भगवत्पर कहे जाते है। इनके दो भेद होते हैं– **क.** आर्त, **ख.** अर्थार्थी।

क.आर्त– नष्ट हुए ऐश्वर्यकी कामना करनेवाले भगवत्पर जीव आर्त कहे जाते हैं।

ख.अर्थार्थी– पूर्वसे अप्राप्त ऐश्वर्यकी भगवानसे ही कामना करनेवाले भगवत्पर जीव अर्थार्थी कहे जाते हैं।

मुमुक्षु– संसारबन्धनसे निवृत्त होनेकी कामनावालेको मुमुक्षु कहते हैं। ये दो प्रकार के हैं– **१.**कैवल्यपर, २.मोक्षपर।

१.कैवल्यपर– कैवल्य चाहने वाले जीवको कैवल्यपर कहते हैं।

कैवल्य– मुक्तिः कैवल्यनिर्वाणश्रेयः(अ.को.१.५.६) इस प्रकार मोक्षका पर्याय कैवल्य शब्द देखा जाता है, फिर भी स्वात्मानन्दानुभवके अर्थमें भी यह शब्द प्रयुक्त होता है। केवल अपने आनन्दरूप आत्मस्वरूपका अनुभव करना कैवल्य कहा जाता है– **स्वस्वरूपमात्रानुभवः कैवल्यम्।** प्रकृतिके सम्बन्धसे विनिर्मुक्त होकर ब्रह्मात्मक अपनी आत्माका अनुभव करना भी कैवल्य कहा जाता है। तापत्रयसे संतप्त मनुष्य 'अपनी आत्मा ज्ञानानन्दस्वरूप है, ब्रह्मात्मक है।' इस प्रकार शास्त्रसे जानकर ज्ञानयोगके अभ्याससे ब्रह्मात्मकत्वेन स्थित ज्ञानानन्दस्वरूप अपनी आत्माका अनुसंधान करते हैं। 'मैं परब्रह्मका शेष हूँ।' इस प्रकार वे अपनी आत्माका ही प्रधानरूपसे अनुसंधान करते हैं, आत्माके विशेषणरूपसे ब्रह्मका अनुसन्धान करते हैं। उपनिषदोंमें इस लोकसे अर्चिरादिमार्गद्वारा जाने वालोंकी ही मुक्ति सुनी गयी है। **कार्याधिकरण**(ब्र.सू.४.३.५) में कहा गया है कि परब्रह्मकी उपासना करनेवाले तथा प्रकृतिके सम्बन्धसे रहित

ब्रह्मात्मक अपनी आत्माकी उपासना करनेवाले जीव अर्चिरादिको प्राप्त होते हैं- **तद् य इत्थं विदुः ये चेमेऽरण्ये श्रद्धा तप इत्युपासते तेऽर्चिषम् अभिसंभवन्ति**(छां.उ.५.१०.१)। यहाँ तथा बृहदारण्यक(८.२.१३)में पठित पञ्चाग्निविद्या ब्रह्मात्मक-आत्मविद्या है। ब्रह्मात्मक-आत्मवेत्ता अर्चिरादिसे जाकर ब्रह्मको प्राप्त करके इस संसारमें नहीं आता है। इस प्रकार परिशुद्ध आत्मस्वरूपकी प्राप्ति भी ब्रह्मप्राप्तिके अन्तर्गत है। जिस प्रकार मधुविद्यानिष्ठ साधक आरम्भमें फलरूपसे वसुदेवता पदको प्राप्त करके उत्तरकालमें उससे विरक्त होकर परब्रह्मको प्राप्त करता है, उसी प्रकार पञ्चाग्निविद्यानिष्ठ ब्रह्मात्मक-आत्माकी उपासना करनेवाला साधक भी आरम्भमें फलरूपसे ब्रह्मात्मक-आत्मानुभवरूप कैवल्यको प्राप्त करके उत्तरकालमें उससे विरक्त होकर परब्रह्मानुभवरूप मोक्षको प्राप्त करता है। ऐसा श्रीवेदान्तदेशिकस्वामीने गीताभाष्य की तात्पर्यचन्द्रिका व्याख्यामें कहा है। प्राणविद्यानिष्ठ साधक आत्माका अनुसन्धान करनेवाला है किन्तु ब्रह्मात्मक-आत्माका अनुसन्धान करनेवाला नहीं है। अतः इसे अर्चिरादि मार्ग प्राप्त नहीं होता है। इसे प्रकृतिमण्डलके ही उच्चलोक प्राप्त होते हैं। कल्पान्तमें हिरण्यगर्भके उपदेशके अनन्तर उपासनासे जिन्हें परतत्त्वका साक्षात्कार हो जाता है, वे मुक्त होकर अप्राकृत लोक जाते हैं और जिन्हें साक्षात्कार नहीं होता है, वे पुनः शरीर धारण करते हैं। परब्रह्मका अनुभव ही मोक्ष है। कैवल्य सुख विषयसुखसे उत्कृष्ट है किन्तु ब्रह्मानन्दरूप मोक्षसुखसे अत्यन्त निकृष्ट है। कैवल्यमें विषयसुख और ब्रह्मानन्दरूप सुख ये दोनों ही नहीं मिलते हैं। कुछ दार्शनिक इस कैवल्यको मोक्ष कहते हैं। वास्तवमें यह मुख्य मोक्ष नहीं है, इसे गौणरूपसे मोक्ष कहा जाता है। इस कैवल्यमें मनुष्य सभी पापोंसे छुटकारा नहीं पाता है। इसमें कमसे कम ब्रह्मानुभवके

प्रतिबन्धक पाप रह ही जाते हैं। जो कैवल्यपदमें पहुँचकर अपने आत्मस्वरूपका अनुभव करते हैं, उनका धर्मभूतज्ञान संकुचित होकर आत्माकार रहता है। ब्रह्मानुभव करनेवालोंका ही ज्ञान विभु रहता है। इस प्रकार कैवल्य ज्ञानका संकोचरूप सिद्ध होता है। आत्मानुभवमें सन्तोष करनेवाले अर्थात् कैवल्यार्थी योगियोंका अमृत स्थान है। अनन्य होकर ब्रह्मका ध्यान करनेवाले योगियोंका वह परम स्थान है, सूरिगण जिसका सदा दर्शन करते रहते हैं- **योगिनाममृतं स्थानं स्वात्मसन्तोषकारिणाम्। एकान्तिनः सदा ब्रह्मध्यायिनो योगिनश्च ये। तेषां तु परमं स्थानं यत् तत् पश्यन्ति सूरयः**(वि.पु.१.६.३६)।। यहाँ पर वर्णित ब्रह्मका ध्यान करनेवाले योगियोंको प्राप्त होनेवाला द्वितीय स्थान परमपद है। इसका **सदा पश्यन्ति सूरयः**(सु.उ.६)। इस प्रकार श्रुति वर्णन करती है, इससे सिद्ध होता है कि आत्मानुभव करनेवालोंका प्राप्य अमृतस्थान परम पद नहीं है। यह ब्रह्माण्डके अन्तर्गत ही है। भूतोंके प्रलयपर्यन्त रहनेवाला स्थान अमृत कहा जाता है- **आभूतसंप्लवं स्थानम् अमृतत्वं विभाव्यते**(वि.पु.२.८.९५)। आर्त, अर्थाथी, जिज्ञासु और ज्ञानी इस प्रकार मेरे भक्तजन चार प्रकारके सुने जाते हैं। उनमें एकमात्र भगवानमें निष्ठा रखनेवाले ज्ञानीभक्त श्रेष्ठ हैं। फलेच्छारहित होकर कर्म करनेवाले ज्ञानीभक्तोंकी मैं ही गति हूँ। जो अन्य तीन प्रकारके भक्त हैं, वे फल चाहनेवाले माने जाते हैं, वे तीनों ही अपमे-अपने फलसे च्युत होते हैं और ब्रह्मोपासक ज्ञानी भक्त ही मोक्षप्राप्त करता हैं- **चतुर्विधा मम जना भक्ता एव हि ते श्रुताः। तेषामेकान्तिनः श्रेष्ठास्ते चैवानन्यदेवताः। अहमेव गतिस्तेषां निराशीः कर्मकारिणाम्। ये तु शिष्टास्त्रयो भक्ताः फलकामा हि ते मताः। सर्वे च्यवनधर्माणः प्रतिबुद्धस्तु मोक्षभाक्।** इस प्रकार स्वतन्त्र

आत्मानुसन्धान करनेवालोंको प्राप्त होनेवाला कैवल्य विनाशी सिद्ध होता है। ज्ञानयोगसे कैवल्यकी प्राप्ति होती है।

२.मोक्षपर– मोक्षकी कामना करनेवाले जीव मोक्षपर कहे जाते हैं।

मोक्ष– सभी बन्धनोंसे विनिर्मुक्त होकर सतत परमानन्दरूप परब्रह्मका अनुभव करना ही मोक्ष है। सर्वबन्धनसे विनिर्मुक्त प्रत्यगात्मा आविर्भूत हुए अपहतपाप्मत्वादि गुणाष्टकसे युक्त होकर सतत परिपूर्ण परमात्माका अनुभव करती रहती है। मोक्षपर जीव दो प्रकारके होते हैं– क. भक्त, ख. प्रपन्न।

क.भक्त–उपनिषद् भागसहित वेदका जो अध्येता पूर्वोत्तरमीमांसाओंके विचारसे सम्पूर्ण चेतनाचेतनविलक्षण, अनवधिकातिशय-आनन्दरूप, निखिलहेयप्रत्यनीक, समस्त कल्याणकारक गुणोंके आश्रय ब्रह्मका निश्चय करता है और उनकी प्राप्तिरूप मोक्षके साधनरूपसे ईश्वरार्पणबुद्धिसे किये जानेवाले नित्यनैमित्तिकादि कर्मरूप अङ्गके सहित भक्तियोगका आचरण करता है, वह भक्त कहा जाता है।

ख.प्रपन्न– प्रपत्तिको स्वीकार करनेवाला साधक प्रपन्न कहलाता है। कुछ प्रपन्न त्रिवर्गकी ही कामना करते हैं। उस त्रैवर्गिकपर प्रपन्नका यहाँ प्रसङ्ग नहीं है। श्रीभगवानसे ही निरतिशय भगवत्प्रीतिरूप मोक्षकी अभिलाषा करनेवाला प्रपन्न मोक्षपर कहा जाता है। इस के दो भेद हैं– **१.**एकान्ती, **२.**परमैकान्ती।

१.एकान्ती– जो मोक्षपर प्रपन्न श्रीभगवान्‌से ही मोक्षके साथ अन्य फलको भी चाहते हैं, वे एकान्ती कहे जाते हैं– **एकस्मिन् भगवत्येव अन्तः सर्वफलप्रदत्वेन निश्चयो येषां प्रपन्नानां ते एकान्तिनः।**

२.परमैकान्ती– जो मोक्षपर प्रपन्न श्रीभगवान्‌से भी उनकी प्रीतिरूप मोक्षसे अतिरिक्त कुछ भी नहीं चाहते हैं, वे परमैकान्ती कहे जाते

हैं- **परमे सर्वोत्कृष्टे भगवत्प्रीतिरूपे फल एवैको मुख्योऽन्तो निश्चयो येषां ते परमैकान्तिनः।** वे वाल्मीकीय रामायण(६.१८.२८) के अनुसार दो प्रकारके होते हैं- क. दृप्त, ख. आर्त।

क.दृप्त- कुछ कालपर्यन्त प्रारब्धकर्मका फल भोगकर उस देहके अवसानकालमें ही जो परमैकान्ती प्रपन्न अनवधिकातिशय भगवत्प्रीतिरूप मोक्षकी अभिलाषा रखते हैं, वे दृप्त कहे जाते हैं।

ख.आर्त- संसाररूप दावानलसे अत्यन्त सन्तप्त जो परमैकान्ती प्रपन्न प्रपत्तिकालमें ही प्रारब्ध कर्मोंके भी विनाशपूर्वक शीघ्र भगवत्प्रीतिरूप मोक्षकी कामना करते हैं, वे आर्त कहे जाते हैं।

प्रपत्तिको साध्यभक्ति कहा जाता है, इसलिए प्रपन्न भी भक्त विशेष हैं।

मोक्षका साधन- भक्ति ज्ञानविशेष है। भक्तिसे प्रसन्न हुए परमात्मा ही मोक्ष प्रदान करते हैं, इसलिए भक्तियोग ही मोक्षका साधन है। कर्मयोग और ज्ञानयोग मोक्षके साक्षात् साधन नहीं हैं। वे भक्ति द्वारा ही मोक्षके साधन होते हैं। जो साधक भक्तियोगको सिद्ध करनेका सामर्थ्य नहीं रखता है, उस साधकको भक्तियोग सिद्ध करनेके लिए परिशुद्ध आत्मस्वरूपका साक्षात्कार आवश्यक है। इसके साधन ज्ञानयोग और कर्मयोग हैं। इनमें ज्ञानयोग आत्मसाक्षात्कारका अन्तरङ्ग साधन है। इसमें भी असमर्थ होनेपर कर्मयोगरूप साधनका आश्रय लेना चाहिए।

कर्मयोग- सद्गुरुके उपदेशसे जीव और ब्रह्मके यथार्थ स्वरूपको जानकर कर्तव्यबुद्धि, आसक्ति और फलके त्यागपूर्वक अपने सामर्थ्यके अनुसार किये जानेवाले शास्त्रविहित कर्मानुष्ठान ही कर्मयोग कहे जाते हैं। देवार्चन, तप, तीर्थयात्रा यज्ञ, दान आदि भिन्न-भिन्नप्रकारके कर्मयोग होते हैं। देवार्चन आदि तथा

कृच्छ्रोपवास, प्राणायाम, वेदाध्ययन आदि शास्त्रीय कर्मोंमें अपनी रुचिके अनुसार किसी एकको अङ्गीरूपसे स्वीकार करके इसके अङ्गरूपसे नित्यनैमित्तिक कर्मको करते हुए अङ्गी कर्म किये जाते हैं। कर्मयोग साक्षात् अथवा ज्ञानयोगद्वारा परिशुद्धात्मस्वरूपके ध्यानमें रुचिको उत्पन्न करके भक्तियोगके अङ्गभूत आत्मसाक्षात्कारका साधन होता है। इस प्रकार यह जीवके पापोंका नाश करके ज्ञानयोगद्वारा अथवा साक्षात् भक्तिका उत्पादक होता है।

ज्ञानयोग– कर्मयोगसे जिसका अन्तःकरण निर्मल हो चुका है, उस साधकके द्वारा परमात्माके शेष रूपसे अपने परिशुद्ध(प्रकृतिके सम्बन्धसे रहित अर्थात् देह, इन्द्रिय, मन, प्राण तथा बुद्धि से भिन्न) आत्मस्वरूपका चिन्तन करना ज्ञानयोग कहा जाता है। यह आत्मसाक्षात्कारका साधन है। इस ज्ञानयोगका साक्षात् भक्तिमें उपयोग है। आत्मा देहादिसे भिन्न, ज्ञानानन्दस्वरूप तथा श्रीभगवान्‌का शेष है, इस प्रकार शास्त्रसे अपने स्वरूपको जानकर ज्ञानयोगद्वारा परमात्माके शेषरूपसे देहादिसे भिन्न ज्ञानानन्दस्वरूप अपनी आत्माका साक्षात्कार होता है।

भक्तियोग– भक्तियोगका अर्थ है– परमात्माका निरन्तर प्रीतिरूप ध्यान। अपनेसे छोटोंके प्रति प्रीतिको करुणा कहा जाता है। अपने समान व्यक्तिके प्रति प्रीतिको मैत्री तथा अपनेसे बड़ोंके प्रति प्रीतिको भक्ति कहा जाता है। विजातीय प्रत्ययोंके व्यवधानसे रहित तैलधारावद् अविच्छिन्न–स्मृतिसंतान(प्रवाह) ही ध्यान है। ध्यान दशामें प्रीति का रहना ही प्रीतिरूप ध्यान है अर्थात् तेलकी धाराके समान बीचमें न टूटने वाली प्रेममयी स्मृतियोंका प्रवाह भक्ति है। ध्यान, उपासना आदि शब्दोंकी वाच्य भक्ति वेदान्तवाक्योंके द्वारा विहित है। स्मृतिसंतानको उपासना कहनेपर घटादिके स्मृतिसंतानको भी उपासना कहना होगा, इसलिए केवल स्मृतिसंतानको उपासना नहीं

कहा जाता है बल्कि उत्कृष्टवस्तुविषयक स्मृतिसंतानको उपासना कहा जाता है। परमात्मा सर्वोत्कृष्ट है, उसको विषय करनेवाली स्मृतिसंतति उपासना है। यही स्मृति(उपासना) प्रीतिरूप होनेपर भक्ति कही जाती है। स्मृतिमात्र भक्ति नहीं है बल्कि प्रीतिपूर्वकस्मृति भक्ति है- **स्नेहपूर्वमनुध्यानं भक्तिरित्युच्यते बुधैः**(लि.पु.)। केवल इतना ही नहीं बल्कि निरतिशय महान परमात्माकी प्रीतिरूप स्मृति भक्ति कही जाती है- **महनीयविषयप्रीतिरेव हि भक्तिः**। मोक्षके साधन बोधक ज्ञान, ध्यान, उपासना तथा दर्शन आदि शब्दोंसे भक्ति ही कही जाती है।

१.मुमुक्षु पुरुष परमात्माको श्रवण, मननसे जानकर निदिध्यासन(ध्यान) करे- **विज्ञाय प्रज्ञां कुर्वीत**।(बृ.उ.४.४.२१)

२.श्रवण और मनन से जानकर निदिध्यासन करता है- **अनुविद्य विजानाति**।(छां.उ.८.१२.६)

३.परमात्माका तद्वाचक प्रणवसे ही 'ओम्' प्रकार ध्यान करना चाहिए- **ओमित्येव ध्यायथ आत्मानम्**।(मु.उ.२.२.६)

४.दर्शनसमानाकार ध्यानसे परमात्माका साक्षात्कार करके भीषण संसारसे मुक्त हो जाता है- **निचाय्य तं मृत्युमुखात् प्रमुच्यते**।(क.उ. १.३.१५)

५.परमात्मस्वरूप फलकी ही उपासना करे- **आत्मानमेव लोकम् उपासीत**।(बृ.उ.१.४.१५)

६.परमात्माका दर्शन करना चाहिए, श्रवण करना चाहिए, मनन करना चाहिए और निदिध्यासन करना चाहिए- **आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्यः**।(बृ.उ.२.४.५)

७.परमात्माको श्रवण, मननसे जानना चाहिए और निदिध्यासन करना चाहिए- **सोऽन्वेष्टव्यः स विजिज्ञासितव्यः**।(छां.उ.८.७.१)

यहाँ उद्धृत आरम्भिक दो वाक्योंके द्वारा मोक्षका साधन ज्ञान तथा तृतीय वाक्यसे ध्यान कहा गया है। ज्ञान शब्द सामान्य अर्थका बोधक है और ध्यान शब्द विशेष अर्थका बोधक हैं। जब सामान्य और विशेष अर्थके बोधक शब्द एक(समान) प्रकरणमें पठित होते हैं, तब सामान्य अर्थके बोधक शब्द विशेष अर्थके बोधक होते है। अतः मोक्ष-प्रसंगमें ज्ञान शब्द ध्यानका वाचक सिद्ध होता है। चतुर्थ वाक्यमें प्रत्यक्षके समान आकारवाला ध्यान कहा गया है। मोक्षका साधन ज्ञान या ध्यान उपासनाशब्दका अर्थ है, यह पञ्चम वाक्यसे सिद्ध होता है। षष्ठ वाक्यमें 'द्रष्टव्यः' और 'निदिध्यासितव्यः' इन दो पदोंका ग्रहण सामान्य और विशेष अर्थका बोधक होनेके कारण है। 'द्रष्टव्यः' शब्द सामान्य अर्थका बोधक है, 'निदिध्यासितव्यः' शब्द विशेष अर्थका बोधक है। 'निदिध्यासितव्यः' और 'द्रष्टव्यः' ये दोनों पद दर्शनसमानाकार[1] ध्यान(चिन्तन या स्मरण)का विधान करते हैं। मोक्षके साधनबोधक उक्त सभी वाक्योंका एक ही विषय है, अतः **विज्ञाय प्रज्ञां कुर्वीत**।(बृ.उ.४.४.२१) और **अनुविद्य विजानाति**।(छां.उ.८.१२.६) ये वाक्य भी ध्यानका ही विधान करते हैं। वाक्यार्थज्ञान ध्यानका उपकारक है, अतः उक्त वाक्य 'विज्ञाय' और 'अनुविद्य' इन पदोंके द्वारा वाक्यार्थज्ञानका अनुवाद करके 'प्रज्ञां कुर्वीत' और 'विजानाति' इस प्रकार ध्यानका विधान करते हैं। मोक्षके साधनरूपसे श्रुतिविहित वेदन

टिप्पणी१- दर्शनसमानाकारत्वं च साक्षात्कारत्वव्यञ्जकविषयितावत्त्वम् ।(सि.सि.पृ.६४)

असकृद्-आवृत्ति अर्थात् ध्यान या उपासनारूप है क्योंकि मुक्तिके साधनका उपदेश करनेवाले वेद वाक्योंमें उपासनाके पर्याय रूपसे विद् धातुका प्रयोग देखा जाता है। मनकी ब्रह्म दृष्टिसे उपासना करें- **मनो ब्रह्मेत्युपासीत्**।(छां.उ.३.१८.१) इस प्रकार उपासना शब्दसे आरम्भ किये गये विषयका 'जो पुरुष इस प्रकार जानता है, वह दानजन्य कीर्तिसे और पराक्रमजन्य यशसे प्रकाशित होता है तथा वेदाध्ययनकी समृद्धिरूप ब्रह्मतेजसे सम्पन्न होकर अपना कार्य करनेमें उत्साहित होता है'- **भाति च तपति च कीर्त्या यशसा ब्रह्मवर्चसेन य एवं वेद**।(छां.उ.३.१८.३) इस प्रकार वेदनसे उपसंहार देखा जाता है। रैक्व जिस वेद्यको जानता है, अन्य विद्वान् उसके अन्तर्गत ही कुछ जानते हैं। वह सर्वज्ञ रैक्व मेरे द्वारा कहा गया- **यस्तद् वेद यत् स वेद स मयैतदुक्तः**।(छां.उ.४.१.४) इस प्रकार उपक्रममें वेदन शब्दसे कहे गये रैक्वके ज्ञानका 'हे भगवन! आप जिस देवताकी उपासना करते हैं, उसका मुझे उपदेश कीजिए'- **अनु म एतां भगवो देवतां शाधि, यां देवताम् उपास्से**।(छां.उ.४.२.२) इस प्रकार उपासना शब्दसे उपसंहार किया जाता है। जो मनुष्य परमात्माका दर्शन न करके इस लोकसे चला जाता है, वह अज्ञात(अनुपासित) परमात्मा उसकी रक्षा नहीं करता है, ... परमात्मारूप लोक (अवलोकनका विषय)की ही उपासना करनी चाहिए- **अथ यो ह वा अस्माल्लोकात् स्वं लोकम् अदृष्टवा प्रैति, स एनमविदितो न भुनक्ति।...आत्मानमेव लोकम् उपासीत**।(बृ.उ.१.४.१५) इस एक ही वाक्यमें 'अदृष्टवा, अविदितः और उपासीत' इन पदोंका प्रयोग होनेसे दर्शन, वेदन और उपासना पदोंका एक अर्थ ज्ञात होता है तथा **ब्रह्मविदाप्नोति परम**।(तै.उ.२.१.१) इत्यादि वाक्योंके समान अर्थवाले **आत्मा वाऽरे दृष्टव्यः श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्यः**।(बृ.उ.२.४.५) तथा निरवयव परमात्माका ध्यान

करते हुए निर्मल अन्तःकरणवाला मनुष्य उनका साक्षात्कार करता है- **ततस्तु तं पश्यति निष्कलं ध्यायमानः**।(मु.उ.३.१.८) इत्यादि वाक्योंमें निदिध्यासन और ध्यान शब्दसे वही वेदन कहा जाता है। सात्त्विक आहारका सेवन करने पर अन्तःकरण शुद्ध होता है, अन्तःकरण शुद्ध होनेपर ध्रुवा स्मृति(विजातीय प्रत्ययके व्यवधानसे रहित सजातीय स्मृतियोंका प्रवाह) होती है। ध्रुवा स्मृति होनेपर अविद्या तथा रागादिका आत्यन्तिक नाश होता है- **आहारशुद्धौ सत्त्वशुद्धिः सत्त्वशुद्धौ ध्रुवास्मृतिः, स्मृतिलम्भे सर्वग्रन्थीनां विप्रमोक्षः**।(छां.उ.७.२६.२) इस श्रुतिसे मोक्षकी साधन ध्रुवास्मृति अर्थात् तैलधारावदविच्छिन्न स्मृति कही जाती है। अतः मोक्षका साधन ध्यान केवल स्मरणरूप नहीं है बल्कि तैलधारावदविच्छिन्न स्मृतिसन्तानरूप है। परावर परमात्माका दर्शन(दर्शन समानाकार ध्यान) करने पर मनकी रागादि ग्रन्थियाँ नष्ट हो जाती हैं, संशय-विपर्ययरूप मोक्षके सभी प्रतिबन्धक नष्ट हो जाते हैं और पुण्यपापरूप सभी कर्म नष्ट हो जाते हैं- **भिद्यते हृदयग्रन्थिश्छिद्यन्ते सर्व संशयाः। क्षीयन्ते चास्य कर्माणि तस्मिन् दृष्टे परावरे**।।(मु.उ.२.२.८) इस श्रुतिसे मोक्षका साधन दर्शन कहा जाता है। छान्दोग्य श्रुति मोक्षका साधन ध्रुवा स्मृति तथा मुण्डक श्रुति मोक्षका साधन दर्शनको कहती है। समान प्रकरणमें पठित होनेसे ध्रुवा स्मृति और दर्शन शब्दोंका एक अर्थ होना चाहिए। गुरुमुखसे वेदान्त वाक्योंका श्रवण तथा मनन करके स्मृतिरूप उपासनाकी जाती है। परोक्षानुभवसे साध्य यह स्मृति परोक्ष ही होगी, अपरोक्ष दर्शनरूप नहीं होगी। अतः स्मृतिका अर्थ दर्शन नहीं हो सकता है, इसलिए दर्शन और स्मृति इन पदोंमें किसीका औपचारिक अर्थ करना ही पड़ेगा। स्मृति पदका स्मृतिके समान यह औपचारिक अर्थ करके इसे दर्शनका विशेषण बनानेपर 'स्मृतिके समान आकारवाला दर्शन' यह

अर्थ होगा, ऐसा होनेपर दर्शनकी निन्दा होगी, अतः इस पक्षको छोड़कर दर्शन पदका दर्शन(प्रत्यक्ष)के समान आकारवाला अतिविशद(अत्यन्त स्पष्ट) ज्ञान यह औपचारिक अर्थ करके इसे स्मृतिका विशेषण बनानेपर दर्शनके समान आकारवाली स्मृति मोक्षका साधन होगी। ऐसा होनेपर स्मृतिकी प्रशंसा होगी। अत्यन्त स्पष्ट ध्रुवास्मृति ही उक्त मन्त्रमें दर्शन पदसे कही गयी है। इस द्वितीय पक्षको स्वीकार करके दर्शनके समान आकारवाली स्मृतिको मोक्षका साधन मानने पर मोक्षके प्रतिपादक वाक्योंका सम्यक् समन्वय हो जाता है। परोक्षज्ञानमें भी वैशद्य(स्पष्टता)की विवक्षासे दर्शन शब्दका प्रयोग श्रुतिमें देखा जाता है। भगवान् सनत्कुमार संसारसे पर परमात्माका स्पष्ट ज्ञान कराते हैं- **तमसः पारं दर्शयति भगवान् सनत्कुमारः।**(छां.उ.७.२६.२)

वस्तुतः दर्शन शब्दका मुख्यार्थ चाक्षुष ज्ञान होता है। श्रावण आदि ज्ञानोंमें दर्शन शब्दका प्रयोग नहीं होता है। परमात्मा चक्षुसे ज्ञात नहीं होता है, वाणीसे ज्ञात नहीं होता है- **न चक्षुषा गृह्यते नापि वाचा।**(मु.उ.३.१.८), श्रवण, मननके पश्चात् विशुद्ध मनसे परमात्माको जानना चाहिए- **मनसैवानुद्रष्टव्यम्।**(बृ.उ.४.४.१९) दर्शनसमानाकार-स्मृति मनोजन्य ज्ञानविशेष है, इसलिए दर्शनशब्दका दर्शनसमानाकार अर्थ किया जाता है। दीर्घकाल तक अभ्यास करने पर स्मृतिका विषय विशद(स्पष्ट) होता है तथा यह स्मृति भी विशद होती है। इस स्मरणात्मक ध्यानसे साध्य जो समाधि होती है, वह दर्शनके समान अत्यन्त विशद होती है तथा उसका विषय भी अत्यन्त विशद होता है, इसलिए इस स्मृतिको दर्शन समानाकार कहते हैं। वह साध्य स्मरणात्मक समाधि ध्रुवास्मृतिरूप है। बार-बार आदरपूर्वक किये गये चिन्तनसे ध्रुवास्मृतिरूप जो समाधि प्रत्यक्षके समानरूपवाली होती है, वह मुमुक्षुके लिए है। इससे भी साध्य

समाधि अपरोक्षरूप होती है, यह मुक्तोंकी होती है। स्मरणकी बार-बार आवृति होनेपर वे इतने विशद हो जाते हैं कि प्रत्यक्षके समान बन जाते हैं। मैं चीर, कृष्णमृगचर्म और धनुषको हाथमें धारण करनेवाले श्रीरामचन्द्रको प्रत्येक वृक्षमें देख रहा हूँ। वे हाथमें पाश लिए हुए यमराजकी तरह मुझे दिखाई दे रहे हैं- **वृक्षे-वृक्षे हि पश्यामि चीरकृष्णाजिनाम्बरम्। गृहीतधनुषं रामं पाशहस्तमिवान्तकम्।।** (वा.रा.३.३९.१५) मारीचके इस कथनसे सिद्ध होता है कि स्मरण प्रत्यक्षके समान आकारवाला बन जाता है। उस समय प्रतीत होता है कि परमात्माका साक्षात्कार हो रहा है।

शंका- जैसे मारीचका वृक्षविशेष्यक रामप्रकारक ज्ञान भ्रान्ति है, वैसे स्मरणात्मक भक्तियोग भी भान्तिरूप होगा।

समाधान- यह कथन अनुचित है क्योंकि मुमुक्षु साधक शास्त्रसे यथार्थ अर्थको जानकर परमात्मस्मृतिमें प्रवृत्त हुआ है, इसलिए उसका स्मरणात्मक भक्तियोग यथार्थ ही है, भ्रान्तिरूप नहीं है। जैसे देहमें आत्मा होनेपर भी आत्मा ही देहकी आधार है, वैसे सभीमें राम होनेपर भी राम ही सभीके आधार हैं, इसलिए रामविशेष्यक सर्वप्रकारक ज्ञान यथार्थ है। यह ज्ञान मोक्षके साधनका अनुसंधान करनेवालेको होता है। यथार्थ ज्ञानसे जन्य होनेके कारण इसका बाध भी नहीं होता है। इस प्रकार असकृद् आवृत्तिरूप ध्रुवास्मृतिकी दर्शनरूपताका अर्थ है- ध्रुवास्मृतिको प्रत्यक्षके समानरूपकी प्राप्ति। प्रत्यक्षके समानरूपको प्राप्त हुई ध्रुवास्मृति मोक्षका साधन है।

यह परमात्मा केवल मननसे, निदिध्यासन(ध्रुवास्मृति या ध्यान)से और बहुत श्रवणसे प्राप्त नहीं होता है किन्तु यह परमात्मा ही जिसका वरण करता है, उसे प्राप्त होता है। यह परमात्मा वरणीय व्यक्तिके लिए अपने स्वरूपको प्रकट कर देता है-

नायमात्मा प्रवचनेन लभ्यो न मेधया न बहुना श्रुतेन। यमेवैष वृणुते तेन लभ्यस्तस्यैष आत्मा विवृणुते तनुं स्वाम्।।(मु.उ.३.२.३) इस मन्त्रमें पूर्वार्धके द्वारा श्रवण, मनन और निदिध्यासनको परमात्मप्राप्तिका उपाय नहीं माना है तथा उत्तरार्धमें 'यमेवैष वृणुते तेन लभ्यः।' इस प्रकार वरणीय(अनुग्राह्य) के द्वारा परमात्माको प्राप्य कहा गया है। प्रियतम व्यक्ति ही वरणीय होता है। जिस उपासकको परमात्मा निरतिशय प्रिय होते हैं, वह उपासक भी परमात्माका प्रियतम होता है। जैसे प्रियतम उपासक श्रीभगवान् को प्राप्त करे, वैसा श्रीभगवान् स्वयं ही प्रयत्न करते हैं, यह उन्होनें स्वयं गीतामें कहा है- मेरा सतत योग चाहनेवाले, भजन करनेवाले भक्तोंको मैं परिपक्व अवस्थाको प्राप्त उस भक्तियोग(दर्शनसमानाकार ध्यान)को प्रीतिपूर्वक देता हूँ, जिससे वे मुझे प्राप्त होते हैं- **तेषां सततयुक्तानां भजतां प्रीतिपूर्वकम्। ददामि बुद्धियोगं तं येन मामुपयान्ति ते।।**(गी.१०.१०), मैं ज्ञानीको अतिशय प्रिय हूँ और मुझे ज्ञानी अतिशय प्रिय है- **प्रियो हि ज्ञानिनोऽत्यर्थमहं स च मम प्रियः।**(गी.७.१७) स्मरणका विषय परमात्मा निरतिशय प्रिय(प्रीतिरूप) होनेसे उसकी दर्शनसामानाकार स्मृति भी स्वयं निरतिशय प्रिय जिस ज्ञानीको होती है, वह प्रीतिरूप दर्शनसमानाकार निदिध्यासन करनेवाला ज्ञानी ही परमात्माके द्वारा वरणीय होता है। प्रीतिके विना श्रवणं, मनन, निदिध्यासन उपाय नहीं हैं। ये प्रीतिरूप होनेपर ही उपाय होते हैं, इनमें प्रीतिरूपापन्न निदिध्यासन(ध्यान) तो वरण(अनुग्रह)के द्वारा उपाय बनता है। प्रीतिरूप ध्रुवास्मृति ही भक्ति शब्दसे कही जाती है। **सेवा भक्तिरुपास्तिः** इस प्रकार निघण्टुकारने उपासनाका पर्याय भक्तिको कहा है। प्रीतिपूर्वक किया जानेवाला चिन्तन भक्ति कहा जाता है। वेदन, उपासना आदि शब्दोंसे भक्तिको ही कहे जानेसे आगामी श्रुतिस्मृतिवाक्य प्रवृत्त होते हैं। उस

परमात्माको ही जानकर उपासना द्वारा संसारसे पार होता है- **तमेव विदित्वाऽति मृत्युमेति**(श्वे.उ.३.८) इस प्रकार उस परमात्माकी उपासना करनेवाला इस जन्ममें ही परमात्माका अनुभव करता है, परमात्मानुभवके लिए उनकी उपासनासे अतिरिक्त उपाय नहीं है- **तमेवं विद्वानमृत इह भवति। नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय।।**(तै.आ.३.१.३)। हे अर्जुन! तुमने जिस प्रकार मेरा साक्षात्कार किया है, इस प्रकार मेरा साक्षात्कार वेदके अध्ययन(अक्षर राशिका ज्ञान), अध्यापन, अर्थज्ञान, तप, दान और यज्ञसे नहीं किया जा सकता है किन्तु हे परन्तप! अनन्य भक्तिके द्वारा इस प्रकार तत्त्वतः मुझे शास्त्रसे जान सकते हैं, अनन्य भक्तिके द्वारा तत्त्वतः मेरा साक्षात्कार कर सकते हैं और अनन्य भक्तिके द्वारा तत्त्वतः मुझे प्राप्त कर सकते हैं- **नाहं वेदैर्न तपसा न दानेन न चेज्यया। शक्य एवंविधो द्रष्टुं दृष्टवानसि मां यथा।। भक्त्या त्वनन्यया शक्य अहमेवंविधोऽर्जुन। ज्ञातुं द्रष्टुं च तत्त्वेन प्रवेष्टुं च परन्तप।।**(गी.११.५३-५४), हे पार्थ! मुमुक्षुओंके द्वारा प्राप्य वह परम पुरुष निरन्तर ध्यानरूप भक्तिसे प्राप्य है- **पुरुषः स परः पार्थ भक्त्या लभ्यस्त्वनन्यया।**(गी.८.२२), मैं स्वरूपतः जो हूँ तथा गुणतः और विभूतितः जितना हूँ, इस प्रकार पराभक्तिसे मेरा तत्त्वतः साक्षात्कार कर लेता है, तत्त्वतः साक्षात्कार करके भक्तिके द्वारा ही मुझे प्राप्त करता है- **भक्त्या मामभिजानाति यावान्यश्चास्मि तत्त्वतः। ततो मां तत्त्वतो ज्ञात्वा विशते तदनन्तरम्।।**(गी.१८.५५) यहाँ अनन्य भक्तिके द्वारा शास्त्रसे परमात्माका तत्त्वतः ज्ञान, अनन्य भक्तिके द्वारा उनका तत्त्वतः साक्षात्कार तथा अनन्य भक्तिके द्वारा तत्त्वतः उनकी प्राप्ति कही गयी है। भिन्न-भिन्न अवस्थाओंवाली भक्ति ज्ञान, दर्शन और प्राप्तिकी हेतु है, इसलिए अन्योन्याश्रय दोष नहीं है। पूर्वजन्मके सुकृतके कारण प्राप्त होनेवाले महात्माओंके संवादसे जन्य

शास्त्रका यथावत् श्रवण तथा धारण करनेका हेतु जो ईश्वरके प्रति प्रीति है, वह प्रीतिरूपा भक्ति तत्त्वतः शास्त्रजन्य ज्ञानका कारण है। मैं भक्तिसे शुद्ध भावको प्राप्त होकर शास्त्रसे जनार्दनको जानता हूँ- **शुद्धभावं गतो भक्त्या शास्त्राद् वेद्मि जनार्दनम्**।(म.भा.) प्रीतिरूपताको प्राप्त होनेवाली तथा दर्शनके समान आकारवाली ध्रुवास्मृतिको ध्यानरूपा परभक्ति कहते हैं। गीता १८.५५ में 'भक्त्या' पदसे पर भक्तिको लिया जाता है क्योंकि **मद्भक्तिं लभते पराम्**।(गी.१८.५४) इस प्रकार पूर्वमें परभक्ति को कहा है। प्रबल साक्षात्कारकी इच्छासे युक्त परभक्ति परिपूर्ण परमात्माके साक्षात्कारका साधन है। इस साक्षात्कारको परज्ञान कहा जाता है। इससे अतिशय प्रीतिरूपा परमभक्ति होती है। यह परिपूर्ण परमात्माका सर्वदा अनुभव करनेके लिए प्रेममय उत्कट त्वरारूप होती है, यह उनकी प्राप्तिका साधन है। परमभक्ति वह ज्ञानविशेष है, जो अत्यन्त प्रिय लगता है। जिसे छोड़कर दूसरा कोई भी प्रयोजन समझमें नहीं आता है। प्रयोजनाभावसे जो स्वयं होता रहता है तथा जो अपनेसे इतर समस्त पदार्थोंमें वैराग्यको उत्पन्न करता रहता है। इस परमभक्तिमें पहुँचनेपर परब्रह्मको प्राप्त किये विना साधकसे रहा नहीं जाता है। इस परमभक्तिरूप ज्ञानविशेषका मूलकारण वह भक्तियोग है, जो प्रतिदिन अभ्याससे बढ़ता जाता है। प्रीतिरूप ध्यानसे दिव्य, निरतिशय-आनन्दरूप परमात्मस्वरूपका निरतिशय प्रिय अनुसन्धान होता है। यह ही साक्षात्काररूप पर ज्ञान है और यह परमात्माके सर्वथा अनुभव करनेकी इच्छाको उत्पन्न करता है। इससे युक्त भक्ति ही परमभक्ति होती है। श्लोकमें 'विशते' पदसे प्रकृतिके बन्धनसे रहित मुक्त पुरुषका अनुभव कहा जाता है- **विशते इति प्रकृतिबन्धविनिर्मुक्तस्यानुभव उच्यते**(ता.दी.)।

परभक्ति भी तत्त्वज्ञानका ही साधन है। वह तत्त्वज्ञान ही मोक्ष(प्राप्ति)का साधन है, भक्ति साधन नहीं है। इस शंकाका परिहार **नाहं वेदैः**(गी.११.५३) इन वचनोंसे हो जाता है। **भक्त्या त्वन्यया शक्यः**(गी.११.५४) इस प्रकार भी प्राप्ति(मोक्ष) के हेतुरूपसे भक्ति कही गयी है। यहाँ गीता(१८.५५)में ततः पदसे प्राप्तिकी हेतु भक्ति ही कही जाती है। यद्यपि यहाँ गीता(१८.५५)में भक्ति शब्द व्यवहित(व्यवधानसे युक्त) है तथा ज्ञान शब्द अव्यवहित है, फिर भी व्यवहित भक्तिको ही ग्रहण करना उचित है अन्यथा 'तत्त्वतो ज्ञात्वा' इस प्रकार ज्ञानका कथन होनेपर भी ततः पदसे पुनः ज्ञानको ग्रहण करने पर पुनरुक्ति दोष उपस्थित होगा। भक्तिकी उत्तरोत्तर अवस्थाओंको लेकर ही उसे परभक्ति, परज्ञान और परमभक्ति कहा जाता है।

ऊपर उद्धृत गीतावचन परभक्तिसे साक्षात्कारात्मक परज्ञानको कहता है तथा छान्दोग्यश्रुति(७.२६.२) ध्रुवास्मृतिसे ग्रन्थिनाशरूप अविद्यानिवृत्तिको कहती है। जैसे सूर्यके द्वारा अन्धकारनिवृत्तिपूर्वक प्रकाश होता है, वैसे ही दर्शनसमानाकार ध्रुवास्मृतिरूप परभक्तिसे ग्रन्थिनाशपूर्वक साक्षात्कार होता है। यह ध्रुवास्मृति ही ग्रन्थिनाशमें हेतु होती है। यदि कहना चाहें कि सूर्यसे अन्धकारनिवृत्ति और प्रकाश दोनों एक साथ होते हैं तो ऐसा भी कहना चाहिए कि ध्रुवास्मृतिसे अविद्यानिवृत्ति और साक्षात्कार दोनों एक साथ होते हैं। इस प्रकार ध्रुवास्मृति ही ग्रन्थिनाशमें हेतु सिद्ध होती है।

शंका– कामातुर व्यक्तिको कामिनीका प्रगाढ़ चिन्तन होनेपर उसे ऐसा प्रतीत होता है कि कामिनी सम्मुख खड़ी है। जिस प्रकार भावनासे जन्य होनेके कारण कामातुर व्यक्तिका कामिनीसाक्षात्कार भ्रम है,

वैसे ही भावनासे जन्य होनेके कारण मुमुक्षुके द्वारा अनुष्ठीयमान ब्रह्मका दर्शनसमानाकार ध्यान भी भ्रम ही होगा।

समाधान- यह कहना उचित नहीं क्योंकि कामिनीसाक्षात्कारके भ्रम होनेका कारण भावनासे जन्य होना नहीं है। वह तो कामिनीरूप विषय विद्यमान न(बाधित) होनेसे भ्रम है। सबमें व्याप्त होकर रहनेवाला ब्रह्म किसी भी प्रमाणसे बाधित नहीं होता है, इसलिए उनका ध्यान कभी भी भ्रम नहीं हो सकता है। शुक्तिरजतज्ञान भावनासे जन्य नहीं है फिर भी विषय बाधित होनेसे भ्रम माना जाता है। व्यवहित कामिनीसाक्षात्कारमें भावना दोष होनेपर भी वह सर्वव्यापक, अव्यवहित ब्रह्मके ध्यानमें दोषरूप नहीं हो सकती है।

श्रुतियोंमें कहीं ब्रह्मज्ञान मोक्षका साधन कहा गया है, कहीं ब्रह्म का ध्यान, कहीं ब्रह्मकी ध्रुवास्मृति और कहीं ब्रह्मका दर्शन मोक्षका साधन कहा गया है। गीतामें भक्ति मोक्षकी साधन कही गयी है। इन सबका समन्वय पूर्वमीमांसा(६.८.१०)में वर्णित **छागपशुन्याय**से हो जाता है, 'पशुना यजेत्' इस प्रकार पशुसे याग करनेके लिए कहा जाता है। वह यागोपयोगी पशु कौन है? ऐसी जिज्ञासा होती है। मन्त्रवर्णमें छागका उल्लेख है। इससे सिद्ध होता है कि वह पशु छाग(बकरा) ही है। छाग ही सामान्य अर्थके वाचक पशु शब्दसे तथा विशेष अर्थके वाचक छाग शब्दसे कहा जाता है। इससे ज्ञात होता है कि समानप्रकरणमें पठित सामान्य अर्थके वाचक शब्द विशेष अर्थको भी कहते हैं। इस न्यायके अनुसार यह मानना चाहिए कि भक्ति ही मोक्षका साधन है। भक्ति शब्द विशेष अर्थका वाचक तथा ज्ञानादि शब्द सामान्य अर्थके वाचक हैं। प्रेमरूप निरन्तरस्मरणधारा ही भक्ति है और स्मरण ज्ञान है। इसलिए यह स्मरणरूप भक्ति ज्ञान शब्दसे कही जाती है। यह भक्ति निरन्तर स्मरणरूप तथा ध्यानरूप होनेके कारण ध्रुवास्मृति एवं ध्यान शब्दसे

कही जाती है। भक्ति निरन्तर बढ़ते-बढ़ते दर्शन(प्रत्यक्ष)के समान आकारवाली हो जाती है, इसलिए उच्च दशामें पहुँची हुई भक्ति दर्शन शब्दसे कही जाती है। इस प्रकार ज्ञान, ध्यान, ध्रुवास्मृति और दर्शन आदि सामान्य शब्द भक्तिरूप विशेष अर्थका बोध कराते हैं। इससे सिद्ध होता है कि भक्तिरूपताको प्राप्त हुआ ज्ञान ही मोक्षका साधन है।

परमात्माको जानकर ही संसारका अतिक्रमण होता है, मोक्ष प्राप्तिके लिए ज्ञानसे अतिरिक्त उपाय नहीं है- **तमेव विदित्वाऽतिमृत्युमेति नान्यः पन्था विद्यते अयनाय।**(श्वे.उ.३.८), जो परमात्माको जानते हैं, वे मुक्त हो जाते हैं- **य एनं[1] विदुरमृतास्ते भवन्ति।**(क.उ.२.३.९)ब्रह्मको जाननेवाला साधक परब्रह्मको प्राप्त करता है- **ब्रह्मविदाप्नोति परम्।**(तै.उ.२.१.१), ब्रह्मको जाननेवाला ब्रह्म ही हो जाता है- **ब्रह्म वेद ब्रह्मैव भवति।**(मु.उ.३.२.९) इत्यादि वाक्योंके द्वारा मोक्षके साधनरूपसे कहा गया ज्ञान भक्तिरूप है। श्रवण, कीर्तन आदि नव प्रकारके कर्म भक्तिके अन्तरङ्ग साधन हैं, इसलिए इन्हें उपचारसे भक्ति कहा जाता है। **आप्रयाणात् तत्रापि हि दृष्टम्**(ब्र.सू.४.१.१२) इस सूत्रमें कहा गया है कि उपासनात्मक ज्ञान मरणपर्यन्त करना चाहिए।

शंका- दर्शनसमानाकार ध्यान परोक्षस्मृतिरूप होनेसे इससे जगत्का बाध नहीं होगा, अतः इसे मोक्षका साधन मानना असंगत है।

समाधान- यदि जगत् रज्जुसर्पके समान मिथ्या होता तो आपका कथन समुचित होता। जगत् श्रुतियोंसे रज्जुसर्पवत् सिद्ध ही नहीं है, अतः शंका निराधार है। अपरोक्ष ज्ञानसे ही भ्रमकी निवृत्ति होती है,

---

टिप्पणी१- एतद् इति पाठान्तरम्।

यह कहना भी उचित नहीं है क्योंकि प्रत्यक्षसिद्ध दीपशिखाकी एकता, देहात्मबुद्धि और चन्दद्वयका क्रमशः अनुमान, शास्त्रप्रमाण और आप्तवाक्यसे बाध होता है। जब दीपक दीर्घकाल तक प्रज्वलित रहता है, तब प्रत्यक्ष प्रमाणसे दीपशिखा(दीपककी ज्वाला)की एकता सिद्ध होती है, किन्तु दीपशिखाके आरम्भक तेल और बत्तीकी क्रमशः न्यूनता होनेके कारण अनुमान प्रमाणसे यह सिद्ध होता है कि भिन्न-भिन्न दीपशिखाके आरम्भक तेल और बत्तीके भिन्न-भिन्न अवयव होते हैं। तेल और बत्तीके ये अवयव प्रतिक्षण नूतन दीपशिखाके उत्पादक होते हैं। इस प्रकार यहाँ प्रत्यक्षसे सिद्ध दीपशिखाकी एकताका अनुमान प्रमाणसे बाध हो जाता है। आरम्भमें व्यक्ति देहको ही आत्मा समझता है, बादमें 'तू देह नहीं है, देहसे भिन्न है।' इस प्रकार शास्त्र प्रमाणके द्वारा प्रत्यक्ष प्रमाणसे सिद्ध देहात्मबुद्धिका बाध होता है। तिमिर रोगसे युक्त मनुष्य आकाशमें दो चन्द्रको प्रत्यक्ष देखता है, इस द्विचन्द्रके प्रत्यक्षज्ञानका 'चन्द्र एक है', इस आप्तवचनसे बाध हो जाता है।

वेदान्तवाक्योंमें कल्याणके साधनरूपसे वर्णित ज्ञान दो प्रकारका है- १.आत्मज्ञान, २.परमात्मज्ञान। इनमें आत्मज्ञानको ज्ञानयोग तथा परमात्मज्ञानको भक्तियोग भी कहा जाता है।

परमात्मज्ञान में आत्मज्ञानकी हेतुता- जिस प्रकार वस्त्रमें तिरोहित मणिके प्रत्यक्षके लिए वस्त्रका 'प्रत्यक्ष अपेक्षित होता है, उसी प्रकार देहादिसे भिन्न अपनी सूक्ष्म आत्मामें स्थित सूक्ष्मतम परमात्माके प्रत्यक्षके लिए अपनी आत्माका प्रत्यक्ष अपेक्षित है, इसलिए उपनिषद् आदि अध्यात्म ग्रन्थोंमें परमात्माके प्रकरणमें जीवका भी निरूपण देखा जाता है। जैसे कठोपनिषद्में कहा है कि विषयोंसे मनको हटाकर अपनी आत्मामें लगाना अध्यात्मयोग(ज्ञानयोग) है। अध्यात्मयोगसे आत्माका साक्षात्कार होता है, ऐसा होनेसे परमात्माका

ध्यान करके धीर पुरुष शोक और मोहको छोड़ देता है- **अध्यात्मयोगाधिगमेन देवं मत्वा धीरो हर्षशोकौ जहाति**।(क.उ.१.२.१२) छान्दोग्य उपनिषत्‌में वर्णित प्रजापतिविद्या प्रत्यगात्मविद्या है, दहरविद्या ब्रह्मविद्या है। दहर विद्याकी अङ्गभूत प्रजापतिविद्या है। प्रजापति वाक्यमें मुक्तात्माके यथार्थज्ञानका उपदेश दहर विद्यामें उपयोगी होनेके कारण किया गया है। यह विषय **अन्यार्थश्च परामर्शः**(ब्र.सू.१.३.१६) इस सूत्रके भाष्यमें वर्णित है। आविर्भूत अपरिच्छिन्न ज्ञानगुण वाली ब्रह्मात्मक आत्माका साक्षात्कार किया हुआ और क्लेश, कर्मादिरूप कलुषसे रहित पुरुष न शोक करता है और न ही इच्छा करता है। सभी भूतोंमें समताको प्राप्त किया हुआ वह आत्मज्ञानी मेरी पराभक्तिको प्राप्त करता है- **ब्रह्मभूतः प्रसन्नात्मा न शोचति न काङ्क्षति। समः सर्वेषु भूतेषु मद्भक्तिं लभते पराम्**।।(गी.१८.५४), **आत्मारामाश्च मुनयो निर्ग्रन्थाः अप्युरुक्रमे। कुर्वन्त्यहेतुकीं भक्तिम् इत्थंभूतगुणो हरिः**।।(भा.१.७.१०) इस प्रकार आत्मज्ञानको परमात्मज्ञानका हेतु कहा जाता है।

ज्ञानाग्निः सर्वकर्माणि भस्मसात् कुरुते तथा।(गी.४.३७) यह भगवद्-वचन आत्माके प्रकरणमें है। इसका अर्थ है कि आत्मज्ञानरूप अग्निसे आत्मसाक्षात्कारके प्रतिबन्धक सभी कर्म नष्ट हो जाते हैं। परमात्मसाक्षात्कारके प्रतिबन्धक कर्म इससे नष्ट नहीं होते हैं, वे तो परमात्मसाक्षात्कारसे ही नष्ट होते हैं। इस लिए परमात्मोपासनारूप भक्तियोग आवश्यक है। परावर परमात्माका साक्षात्कार होनेपर परमात्मसाक्षात्कार के प्रतिबन्धक सभी कर्म नष्ट हो जाते हैं- **क्षीयन्ते चास्य कर्माणि तस्मिन् दृष्टे परावरे**।।(मु.उ.२.२.८) इस प्रकार आत्मज्ञान भक्तियोगमें हेतु होता है। इस विषयको स्वामी रामप्रसादाचार्यजीने गीतातात्पर्यनिर्णयमें **आत्मज्ञानं विना परमात्मज्ञानस्यानुपपद्यमानत्वात्**......। इन शब्दोंमें कहा है।

ज्ञानयोगसे अपनी आत्माका साक्षात्कार होनेके बाद भक्तियोगमें सहज प्रवृत्ति होती है। ज्ञानेश्वरी(१२.१६.१८५-१८६ एवं १२.१६. २१३-२१४) में ज्ञानोत्तर भक्तिका सुन्दर निरूपण किया गया है।

यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान और समाधि ये आठ भक्तियोगके अङ्ग हैं। यहाँ परमात्मविषयक प्रत्याहार आदि विवक्षित हैं। यमादि आठ अङ्गोंसे युक्त अङ्गी समाधि परभक्ति है, इसीको श्रीमद्भागवत में **एतन्मतं समातिष्ठ परमेण समाधिना**(भा.२.९.३६)। इस प्रकार समाधि कहा गया है। ध्यान, अङ्गसमाधि और अङ्गी समाधिरूप परभक्ति ये तीनों उत्तरोत्तर अधिक स्पष्ट होते हैं।

साधनसप्तक- विवेक, विमोक, अभ्यास, क्रिया, कल्याण, अनवसाद और अनुद्धर्ष ये साधनसप्तक कहे जाते हैं। इनसे ध्रुवास्मृतिकी निष्पत्ति होती है।

१.विवेक- जाति, आश्रय और निमित्त इन तीन दोषोंसे रहित अन्नके द्वारा देह और इन्द्रियोंकी शुद्धि करना विवेक कहलाता है- **जात्याश्रयनिमित्तादुष्टाद् अन्नात् कायशुद्धिः विवेकः।** जो खाया जाता है, वह अन्न है- 'अद्यते इति अन्नम्' इस व्युत्पत्तिके अनुसार फल और शाक आदि भी अन्न हैं।

शरीर धारण करने लिए भोजन सबको अपेक्षित होता है। दोषयुक्त भोजनग्रहण करनेसे रजोगुण और तमोगुणकी वृद्धि होनेके कारण बहिर्मुखता आती है। दोषसे रहित भोजनग्रहण करने पर शरीर-इन्द्रिय साधनाके लिए अनुकूल हो जाते हैं। इसलिए दोषरहित आहारके सेवनका विधान किया जाता है। धर्मशास्त्रोंमें अभक्ष्य कहे गये लहसुन, प्याज आदि खाद्य पदार्थ जातिदोषसे युक्त होते हैं। उच्छिष्ट तथा केश, कीट आदिसे युक्त अन्न निमित्तदोषसे युक्त होता

है। चोरी, बेईमानी, असत्य-भाषण, घूसखोरी, व्यापारमें मिलावट, हिंसा-पीड़ा आदि शास्त्रनिषिद्ध कर्म करनेवाले तथा सूतक आदि अपवित्र अवस्थावाले मनुष्यके अन्न और धन आश्रयदोषसे युक्त होते हैं। इन तीनों दोषोंसे रहित अन्नका ही सेवन करने पर सत्त्व गुणकी वृद्धि होती है तथा रज और तम कम होते हैं। सत्त्व गुणकी वृद्धि हुए विना मोक्षके साधन भक्तियोगका आरम्भ ही नहीं हो सकता है, इसलिए साधकको अत्यन्त सावधान रहना चाहिए। साधना मनका कार्य है, मनका पोषण अन्नसे होता है, इसलिए तीनों दोषोंसे रहित अन्न ग्रहण करना चाहिए। आहारकी शुद्धिसे मनकी शुद्धि होती है, मनकी शुद्धि होनेपर ध्रुवास्मृति (परमतत्त्वकी अविचल स्मृतिरूप भक्ति) होती है- **आहारशुद्धौ सत्त्वशुद्धिः सत्त्वशुद्धौ ध्रुवास्मृतिः**(छां.उ.७.२६.२)। बढ़े हुए रज और तम मनकी अशुद्धियाँ हैं। इनकी निवृत्तिपूर्वक सत्त्वगुणकी वृद्धि ही मनकी शुद्धि है। यद्यपि आयुर्वेदमें प्याज, लहसुन आदि पदार्थोंको स्वास्थ्यके लिए हितकारी माना गया है फिर भी धर्मशास्त्रमें उनका निषेध किया गया है क्योंकि वे राजसी और तामसी विचारोंको उत्पन्न करके मनको अशुद्ध कर देते हैं। शान्तिकी प्राप्तिके लिए मनकी स्वस्थता ही मुख्य है, इसलिए धर्मशास्त्रोंने शरीरके लिए स्वास्थ्यकारक पदार्थोंका भी निषेध कर दिया है। शरीरसे पूर्ण स्वस्थ होनेपर भी मनसे अस्वस्थ व्यक्ति अपनेको दुःखी मानता है, इसलिए लौकिक दृष्टिसे भी मानसिक स्वस्थताकी अधिक आवश्यकता है। आहारशुद्धि तो साधनाका प्रथम सोपान है।

२.विमोक- जिस विकारके कारण मनुष्य विषयको विना भोगे नहीं रह सकता है, वह विकार अभिष्वङ्ग कहलाता है। इसके अभावको विमोक कहते हैं- **विमोकः कामानभिष्वङ्गः।** अभिष्वङ्ग(काम) आसक्तिसे जन्य होता है। अभिष्वङ्ग होनेपर तदनुरूप विषयकी

प्राप्ति न होनेपर क्रोध उत्पन्न होता है- **संगात्संजायते कामः कामात्क्रोधोऽभिजायते**(गी.२.६२)। इस प्रकार सभी अनर्थोंका हेतु अभिष्वङ्ग है। क्रोध तथा सम्मोह आदि विकारोंका अभाव भी विमोक पदसे लिया जाता है। मुमुक्षु पुरुष कामना तथा रागद्वेषादिसे रहित होकर ब्रह्मकी उपासना करे- **शान्त उपासीत**।(छां.उ.३.१४.१)। यह श्रुति विमोकका प्रतिपादन करती है।

३.अभ्यास- योगपर आरूढ़ होनेकी इच्छा करनेवाले साधकके चित्तके आलम्बन(ध्येय)को शुभाश्रय कहते हैं। शुभाश्रयका बार-बार अनुकूलत्वेन चिन्तन करना अभ्यास कहलाता है- **आरम्भणसंशीलनं पुनः पुनरभ्यासः**। शुभाश्रय श्रीभगवान् का दिव्यमङ्गल विग्रह ही है।

शंका- ध्येयका बार-बार चिन्तनरूप अभ्यास तो साध्य ध्रुवास्मृति ही है, अतः इसका साधन अभ्यास कैसे हो सकता है ?

समाधान- उचित देशकालमें करनेयोग्य ध्रुवा स्मृतिरूप भक्तियोग साध्य है। योगकालमें किये जानेवाले ध्रुवास्मृतिरूप ध्यानका उपकारक यह अभ्यास है। इसे न करने पर कालान्तरमें विचारित जो विषय हैं, योगकालमें उनकी स्मृति होने लगेगी, ध्येयकी स्मृति नहीं होगी। योगकालमें ध्येयकी अविचल स्मृतिके लिए अभ्यास अपेक्षित है। मुमुक्षु ब्रह्मविद्या और बालस्वभाव(अपनी महिमाको प्रकट न करना)से युक्त होकर शुभाश्रय ध्येयका पुनः पुनः संशीलन करे- **बाल्यञ्च पाण्डित्यञ्च निर्विद्याथ मुनिः**(बृ.उ.३.५.१)। मुमुक्षु मनुष्य मरणपर्यन्त जीवनकालमें ध्रुवास्मृतिके हेतु ध्येयकी भावनासे भावित रहे- **सदा तद्भावभावितः**(गी.८.६)।

४.क्रिया- अपने सामर्थ्यके अनुसार देवयज्ञ, पितृयज्ञ, मनुष्ययज्ञ, भूतयज्ञ और ब्रह्मयज्ञ इन पञ्च महायज्ञ आदि नित्यनैमित्तिक कर्मोंका अनुष्ठान करना क्रिया कहा जाता है- **पञ्चमहायज्ञाद्यनुष्ठानं**

शक्तितः क्रिया। स्वधर्मका पालन करते हुए ब्रह्मविद्याके द्वारा गृहस्थ भी मुक्त हो जाता है। इस अभिप्रायसे 'पञ्चमहायज्ञ' पद ग्रहण किया गया है। यहाँ आदि पदसे सन्ध्योपासन, वेदाध्ययन, याग, दान, होम, तप आदि वर्णाश्रमविहित कर्म ग्रहण किये जाते हैं। सभी मनुष्योंके सभी कर्म समान नहीं हैं। वर्णाश्रमके भेदसे सभीके कर्म नियत हैं। अपने लिए विहित नित्यनैमित्तिक कर्मोंको करना क्रिया है। शास्त्रविहित नित्यनैमित्तिक कर्मोंको करनेवाला व्यक्ति ब्रह्मज्ञानियोंमें श्रेष्ठ होता है- **क्रियावानेष ब्रह्मविदां वरिष्ठः।** (मु.उ.३.१.४) यहाँ पर क्रियाका आचरण करनेवालेको ब्रह्मजिज्ञासुओंमें श्रेष्ठ नहीं कहा है बल्कि ब्रह्मवेत्ताओंमें श्रेष्ठ कहा है क्योंकि शास्त्रज्ञानवाले मुमुक्षुकी क्रियाके आचरणसे चित्तशुद्धि होनेपर उसे ब्रह्मविद्याकी निष्पत्ति होती है। कर्म न करनेवाले ज्ञानीकी चित्तशुद्धि न होनेके कारण उसे ब्रह्मविद्याकी निष्पत्ति नहीं होती है। कर्मके अनुष्ठानसे जैसे जैसे चित्तशुद्धि होती है, वैसे वैसे ब्रह्मविद्या उत्कर्षताको प्राप्त होती है। ब्राह्मण(त्रैवर्णिक) फलाभिसन्धिरहित वेदाध्ययन, यज्ञ, दान और तपसे ब्रह्मको जाननेकी इच्छा करते हैं- **तमेतं वेदानुवचनेन ब्राह्मणाः विविदिषन्ति यज्ञेन दानेन तपसाऽनाशकेन।**(बृ.उ.४.४.२२) यहाँ ब्रह्मविद्याकी निष्पत्तिके लिए वेदाध्ययन आदि क्रियाएं कही गयी हैं।

५.कल्याण- सत्य, आर्जव, दया, दान, अहिंसा और अनभिध्याको कल्याण कहा जाता है।

सत्य- प्राणियोंके लिए हितकर यथार्थ वचन को सत्य कहते हैं। परब्रह्म सत्यवचनसे(उपासना द्वारा) साक्षात्कार करने योग्य है- **सत्येन लभ्यः**(मु.उ.३.१.५)।

आर्जव- मनसे जैसा विचार करें, वाणीसे वैसा बोलें और शरीरसे वैसा ही आचरण करें अर्थात् मन, वाणी और शर्रीरकी एकरूपताको आर्जव कहते हैं- **मनोवाक्कायानाम् ऐकरूप्यम् आर्जवम्।** जिनमें कपट नहीं है, उनके लिए ही यह दोष रहित ब्रह्म है- **तेषामसौ विरजो ब्रह्मलोकः न येषु जिह्मम्**(प्र.उ.१.१६)।

दया- निःस्वार्थ होकर दूसरेके दुःखको दूर करनेकी इच्छा दया कही जाती है।

दान- १.न्यायपूर्वक अर्जित किये गये धनको यथाविधि सत्पात्रको प्रदान करना दान कहा जाता है-**दानं न्यायसिद्धद्रव्यस्य यथाविधि पात्रसात्करणम्**(त.टी.१.१.१)। २.लोभके अभावको दान कहा जाता है- **दानं लोभराहित्यम्**(श्रु.प्र.१.१.१) इनमें प्रथम लक्षण समर्थ गृहस्थोंके लिए है और अन्य सभीके लिए द्वितीय है।

अहिंसा- परिणाममें अहितकारी पीड़ा पहुँचाना हिंसा है। इसके विपरीत मन, वाणी और कर्मसे दूसरेको पीड़ा न पहुँचाना अहिंसा है। यहाँ शास्त्रनिषिद्ध पीडा न पहुँचाना विवक्षित है, इसलिए शिष्य और पुत्रादिको सन्मार्गमें लानेके लिए प्रताड़ित करना हिंसाकी कोटिमें नहीं आता है।

अनभिध्या- दूसरेकी वस्तुको अपना समझना अभिध्या है- **अभिध्या परकीये स्वत्वबुद्धिः**। व्यर्थ विचारको अभिध्या कहते हैं- **अभिध्या निष्फलचिन्ता**। दूसरेके द्वारा किए गये द्रोहकी निरन्तर स्मृतिको अभिध्या कहते हैं- **अभिध्या परकृतद्रोहे निरन्तरस्मृतिः।** दूसरेका अनिष्ट चिन्तन करना अभिध्या है- **अभिध्या परप्रतिकूलचिन्ता।** इन सभीके अभावको अनभिध्या कहते हैं।

६.अनवसाद- देश और कालकी प्रतिकूलतासे, शोकके निमित्त अतीत-पुत्रमरण आदिकी स्मृतिसे, भयके हेतु भावी शत्रुवृद्धि

आदिकी स्मृतिसे तथा बन्धुओंकी दीनता आदिसे जन्य जो मनका विषादरूप दैन्य है, उसे अवसाद कहा जाता है। विषादका विपरीत धर्म अनवसाद कहा जाता है- **देशकालवैगुण्यात् शोकवस्त्वाद्यनुस्मृतेश्च तज्जं दैन्यमभास्वरत्वं मनसः अवसादः, तद्विपर्ययः अनवसादः।** यह परमात्मा मनोबलसे रहित उपासकके द्वारा प्राप्य नहीं है- **नायमात्मा बलहीनेन लभ्यः**(मु.उ.३.२.४)। मनका बल अनवसाद है। इसका अभाव अर्थात् अवसादसे युक्त होना ही मनके बलसे रहित होना है।

७.अनुद्धर्ष- देश और कालकी प्रतिकूलता से, प्रियवस्तुकी स्मृति से और बन्धुओंकी प्रसन्नता आदिसे जन्य सन्तोषको उद्धर्ष कहा जाता है, इसके विपरीत भावको अनुद्धर्ष कहा जाता है- **तद्विपर्ययजा तुष्टिः उद्धर्षः, तद् विपर्ययः अनुद्धर्षः।** सन्तोष सुखद होता है, अतः इसके विपरीत अनुद्धर्षको ध्रुवास्मृतिका उपकारक मानना उचित नहीं है। यह शंका यहाँ नहीं करनी चाहिए क्योंकि जैसे असन्तोष किसी भी कार्यका विरोधी होता है, वैसे ही अतिसंतोष भी विरोधी होता है। मनुष्य अतिसन्तोषके कारण प्रासंगिक कार्यको छोड़कर विषयान्तरमें प्रवृत्त हो जाता है, अतः जीवननिर्वाहके लिए उपयोगी अनिवार्य पदार्थोंमें सन्तोष करना उचित है किन्तु अध्यात्मपथके साधनमें सन्तोष करना उचित नहीं है अन्यथा साधन शिथिल हो जाता है और लक्ष्यकी प्राप्ति नहीं होती है। जो परमात्माके यथार्थ ज्ञानसे सम्पन्न है, जिसका मन शान्त है, जिसकी इन्द्रियाँ विषयोंसे निवृत्त हैं, जो निषिद्ध और काम्य कर्मोंसे उपरत है, जो क्षमाशील है और एकाग्रचित्त ही है, वह अपनी आत्मामें अन्तर्यामी परमात्माको ध्यानयोगसे देखता है- **एवंविच्छान्तो दान्त उपरतस्तितिक्षुः समाहितो भूत्वा आत्मन्येवाऽऽत्मानं पश्येत्**(बृ.उ.४.४.२३)। बीचमें सन्तोष कर लेनेसे परमात्मदर्शन नहीं हो सकता है,

इसलिए सन्तोषके विरोधी अनुद्धर्षको भक्तियोगका साधन कहा गया है।

विवेक आदि सात साधनोंके अन्तर्गत कुछ प्रवृत्तिरूप धर्म हैं और कुछ निवृत्तिरूप धर्म हैं। केवल निवृत्तिरूप धर्म शमादिसे अथवा केवल कर्मसे ब्रह्मविद्या(ध्रुवास्मृति)की निष्पत्ति नहीं हो सकती है। शमादिसे युक्त होकर आश्रमविहितकर्मका अनुष्ठान करनेसे ही ब्रह्मविद्याकी निष्पत्ति होती है। संन्यास आश्रममें अग्निहोत्रादि कर्म नहीं हैं, फिर भी सन्ध्योपासन, जप तथा वेदान्तवाक्योंका श्रवण, मनन आदि कुछ कर्म हैं ही। शम और कर्ममें विरोध होनेके कारण दोनों एक अधिकारीके द्वारा अनुष्ठेय नहीं हो सकते हैं, यह कहना उचित नहीं है क्योंकि विहितसे अतिरिक्त विषयोंमें ही शम किया जाता है। विषयभेद होनेसे दोनोंमें कोई विरोध नहीं है, कालभेदसे दोनोंका अनुष्ठान होता है। कर्मयोग, ज्ञानयोग और भक्तियोग इन तीनोंका अङ्ग नित्य-नैमित्तिक कर्म है। **विद्यां चाविद्यां च यस्तद्वेदोभयं सह। अविद्यया मृत्युं तीर्त्वा विद्ययाऽमृतमश्नुते।।**(ई.उ. ११) यहाँ अविद्याका अर्थ है- विद्यासे भिन्न कर्म। **अविद्या कर्मसंज्ञा**(वि.पु.६.७.६१) इस प्रकार विष्णुपुराणमें भी कर्मको अविद्या कहा गया है। प्रस्तुत मन्त्रमें ज्ञानके संकोचके हेतु कर्मको मृत्यु कहा गया है। इस मन्त्रका यह अर्थ है कि जो मुमुक्षु ब्रह्मोपासनात्मक ब्रह्मविद्या(ब्रह्मज्ञान) तथा उसके अङ्ग कर्मको अङ्ग-अङ्गी भावसे अनुष्ठेय जानता है। वह कर्मसे ज्ञानोत्पत्तिके प्रतिबन्धक प्राचीन पुण्यपापरूप कर्मोंका अतिक्रमण करके विद्यासे मोक्षको प्राप्त करता है। ईशावास्योपनिषत्का ९वाँ मन्त्र अलग-अलग अनुष्ठान करने पर विद्या और अविद्या दोनोंको अनर्थका हेतु कहता है। प्रस्तुत ११वाँ मन्त्र अङ्ग-अङ्गी भावसे अनुष्ठान करने पर मृत्युतरणपूर्वक मोक्षप्राप्तिको कहता है। मोक्षका साधन ब्रह्मविद्या ही

है, कर्म नहीं है। प्रतिबन्धक पुण्यपापरूप कर्मोंके रहने पर ब्रह्मविद्याकी निष्पत्ति नहीं होती है। अतः इनकी निवृत्तिके लिए निष्कामभावसे कर्मका अनुष्ठान करना चाहिए। कर्मके अनुष्ठानसे जैसे जैसे चित्तकी शुद्धि होती है, वैसे वैसे ब्रह्मविद्या उत्कर्षताको प्राप्त होती है। कर्मानुष्ठानसे ज्ञानोत्पत्तिके विरोधी प्राचीन पुण्यपापात्मक कर्मोंकी निवृत्ति होती है और ब्रह्मविद्यासे ब्रह्मप्राप्तिके विरोधी समस्त कर्मोंकी निवृत्ति होती है, यही मोक्ष है।

शंका- क्षीयन्ते चास्य कर्माणि तस्मिन् दृष्टे परावरे।(मु.उ.२.२.८) इत्यादि शास्त्रवचन ज्ञानसे कर्मनाशको कहते हैं किन्तु आपने कर्मसे कर्मका नाश कहा है, वह कैसे संभव है?

समाधान- शुभकर्मसे पापका नाश होता है- **धर्मेण पापम् अपनुदति** (तै.ना.उ.१४४) पापके समान ब्रह्मविद्याका प्रतिबन्धक पुण्य भी है, इसलिए इसे भी पाप कहा जाता है। उक्त शास्त्रवचन शुभ कर्मसे अशुभ कर्मके नाशको कहता है। दुष्कर्म करनेवाला, अशान्त काम-क्रोधके वेगवाला, नानाप्रकारके कार्योंसे विक्षेप होनेके कारण व्यग्र-चित्तवाला तथा अनियन्त्रित मनवाला मनुष्य उपासनासे परमात्माको प्राप्त नहीं कर सकता है- **नाविरतो दुश्चरितान्नाशान्तो नासमाहितः। नाशान्तमानसो वाऽपि प्रज्ञानेनैनमाप्नुयात्।।**(क.उ.१.२. २४) इस प्रकार पापकर्म के रहते भगवत्प्राप्ति नहीं हो सकती है। **सत्त्वात् संजायते ज्ञानम्**(गी.१४.१७) इस प्रकार श्रीभगवान् ने सत्त्वगुणको यथार्थज्ञानका हेतु कहा है और वहीं पर रज, तमको यथार्थज्ञानका आच्छादक कहा है। पाप ज्ञानकी उत्पत्तिके हेतु सत्त्वके विरोधी रज और तमकी वृद्धि करके ज्ञानका विरोधी बनता है। ज्ञानका विरोधी होनेके कारण पापकर्मोंकी निवृत्ति करनी चाहिए। शास्त्रीयकर्मोंसे ज्ञानोत्पत्तिके विरोधी पुण्यपापरूप कर्म निवृत्त होते हैं।

शंका- तमेतं वेदानुवचनेन ब्राह्मणाः विविदिषन्ति यज्ञेन दानेन तपसाऽनाशकेन।(बृ.उ.४.४.२२) यह श्रुति यज्ञादि कर्मोंका विविदिषा(मुमुक्षा)में उपयोग कहती है, अतः जब तक ब्रह्मजिज्ञासा न हो तब तक कर्म करने चाहिए, जिज्ञासा होनेपर कर्म छोड़ देना चाहिए।

समाधान- यह कथन उचित नहीं है क्योंकि जैसे घोड़ासे जानेकी इच्छा करता है- **अश्वेन जिगमिषति**। तलवारसे मारनेकी इच्छा करता है- **असिना हन्तुम् इच्छति**। यहाँ पर अश्वका जानेकी इच्छामें उपयोग नहीं होता है, जानेमें उपयोग होता है। तलवारका मारनेकी इच्छामें उपयोग नहीं होता है, मारनेमें उपयोग होता है। उसी प्रकार कर्मोंका जाननेकी इच्छामें उपयोग नहीं होता है, जाननेमें उपयोग होता है। इस प्रकार कर्म विविदिषाके साधन सिद्ध नहीं होते हैं, ज्ञानके ही साधन सिद्ध होते हैं। कर्म चित्तशुद्धिके द्वारा ज्ञानके साधन होते हैं। विविदिषा उत्पन्न होते ही कर्मोंका त्याग करने पर ब्रह्मविद्याकी निष्पत्ति न होनेके कारण अविद्या निवृत्त नहीं हो सकती है।

उपासनाके भेद

१.प्रतीकोपासना- ब्रह्मसे भिन्न मन आदिको ब्रह्म समझकर अनुसन्धान(ध्यान) करना प्रतीकोपासना कही जाती है- **अब्रह्मणि ब्रह्मदृष्ट्यानुसन्धानम् प्रतीकोपासनम्**। जैसे 'मन ब्रह्म है' इस प्रकार उपासना करनी चाहिए- **मनो ब्रह्मेत्युपासीत**(छां.उ.३.१८.१) इत्यादि। इन उपासनाओंका क्षुद्र सांसारिक फल कहा गया है। ये प्रतीकोपासनाएं मोक्षकी साधन नहीं हैं। ये अयथार्थ ज्ञानरूप हैं।

२.अप्रतीकोपासना- प्रतीकोपासनासे भिन्न उपासना अप्रतीकोपासना कही जाती है। ब्रह्मको ही ब्रह्म समझकर की जानेवाली उपासना

अप्रतीकोपासना है। यह यथार्थज्ञानरूप है, मोक्षकी साधन है। भक्तियोगरूप इस उपासनाका पूर्वमें विस्तारसे निरूपण किया गया है। जैसे–प्रत्यगात्मा(जीवात्मा) अपने शरीरका आत्मा है, वैसे ही परमात्मा प्रत्यगात्माका भी आत्मा है। इसलिए अपनी स्वतन्त्रताकी लेशतः भी प्रतीति न होनेके लिए तथा ब्रह्मके अधीन अपना स्वरूप है, इस ज्ञानकी दृढ़ताके लिए **अहं ब्रह्मास्मि** इस प्रकार उपासना करनी चाहिए।

अहङ्ग्रहोपासना– अहं ब्रह्मास्मि इस प्रकार अहंबुद्धि अर्थात् आत्मबुद्धिसे की जानेवाली परमात्माकी उपासना अहङ्ग्रहोपासना कहलाती है। अहं शब्द और अहम् अर्थ परमात्मपर्यन्त होते हैं। अहं शब्द अपनी आत्मा परमात्मा का भी बोधक होता है, ऐसा समझकर अहंग्रहोपासना की जाती है। वह **अतस्मिन् तद्‌बुद्धिरूप** प्रतीकोपासना नहीं है। वह तो यथार्थज्ञान है। परब्रह्म सबका आत्मा है, इसलिए उसकी आत्मत्वेन उपासना यथार्थज्ञान ही है। जो आत्मामें रहता है, आत्माके अन्दर है, आत्मा जिसे नहीं जानती है, आत्मा जिसका शरीर है, जो अन्दर रहकर आत्माका नियमन करता है, वह अमृतस्वरूप अन्तर्यामी तुम्हारा आत्मा है– **य आत्मनि तिष्ठन् आत्मनोऽन्तरो यमात्मा न वेद यस्यात्मा शरीरं य आत्मानम् अन्तरो यमयति स त आत्माऽन्तर्याम्यमृतः**(बृ.उ.मा.पा.३.७.२६) इस प्रकार अन्तर्यामी ब्राह्मण प्रत्यगात्मा(जीवात्मा)का भी आत्मा ब्रह्मको कहता है तथा प्रत्यगात्माको उसका शरीर कहता है। जैसे शरीरवाचक देव,मनुष्यादि शब्द शरीरका बोध कराते हुए शरीरके अधिष्ठाता जीवात्माका मुख्यवृत्तिसे ही बोध कराते हैं, वैसे ही जीवात्माका वाचक अहं शब्द जीवात्माका बोध कराते हुए उसके भी आत्मा(अन्तर्यामी या शरीरी) परमात्माका मुख्यवृत्तिसे ही बोध कराता है। इस प्रकार **अहं ब्रह्मास्मि**का अर्थ है 'मेरा अन्तरात्मा ब्रह्म है'।

सिद्धान्तमें जीवसे भिन्न ब्रह्म माना जाता है, इसलिए भिन्नत्वेन(शरीरात्मभावके विना) ही ब्रह्मकी उपासना करनी चाहिए, अहंग्रहोपासना नहीं करनी चाहिए, ऐसी शंका उचित नहीं है क्योंकि 'मेरे स्वामी ब्रह्म हैं।' इस उपासनाका वेदान्तसिद्धान्तसे विरोध न होने पर भी पृथक्त्वेन अपने स्वामी ब्रह्मकी उपासना करनेपर राजा और भृत्यके समान ब्रह्म और जीवमें स्वामी-सेवकभाव सम्बन्ध तो सिद्ध होता है किन्तु इतनेसे शरीरात्मभाव और सर्वप्रकारसे परतन्त्रता बुद्धिमें दृढ़तासे आरूढ़ नहीं होती है, इसलिए उसे दृढ़तासे आरूढ़ करनेके लिए अहङ्ग्रहोपासना करनी चाहिए। यह विषय **धर्मोपपत्तेश्च**(ब्र.सू.१.३.८) इस सूत्रके भाष्यमें प्रतिपादित है। जैसे शरीर और प्रत्यगात्माकी भिन्नता होनेपर भी प्रत्यगात्मा अपने शरीरका आत्मा होनेसे 'मैं देवताशरीरवाला हूँ,' 'मैं मनुष्यशरीरवाला हूँ'- देवोऽहम्, मनुष्योऽहम् इस प्रकार आत्मस्वरूपका अनुसन्धान करता है। इस शरीरका स्वामी मैं हूँ, इस प्रकार अनुसन्धान नहीं करता है, वैसे ही प्रत्यगात्मा और परमात्माकी भिन्नता होनेपर भी प्रत्यगात्माका आत्मा परमात्माको होनेसे उसका भी 'अहम्' इस प्रकार ही अनुसन्धान करना उचित है, ऐसा ही शास्त्रवाक्य प्रतिपादन करते हैं। हे भगवन्! ब्रह्मरूप परदेवता! मैं आपसे अभिन्न हूँ(मेरी अन्तरात्मा आप हैं), आप मेरेसे अभिन्न हैं(आप मेरी अन्तरात्मा हैं) - **त्वं वा अहमस्मि भगवो देवते, अहं वै त्वमसि।** (व.उ.२.३४), ''उपास्य देवता अन्य है और मैं अन्य हूँ'' इस प्रकार जो उपासक पुरुष अपनेसे भिन्न उपास्यकी उपासना करता है, वह उपासनाके प्रकारको नहीं जानता है- **अथ योऽन्यां देवताम् उपास्ते, अन्योऽसावन्योऽहमस्मीति न स वेद।**(बृ.उ.१.४.१०), परमात्माकी आत्मत्वेन ही उपासना करनी चाहिए- **आत्मेत्येवोपासीत।** (बृ.उ.१.४.७), जो उपासक सम्पूर्ण जगत् को ब्रह्म से भिन्न तथा

अपनेमें स्थित जानता है, उसे सर्वशरीरक परब्रह्म अपने से दूर कर देता है अर्थात् अपने उपासक रूपसे उसे स्वीकार नहीं करता है- **सर्वं तं परादात् योऽन्यत्रात्मनः सर्वं वेद।**(बृ.उ.४.५.७) इत्यादि श्रुतियाँ परमात्माकी पृथक्त्वेन उपासनाका निषेध करती हैं। संसारचक्रमें घूमनेवाली अपनी आत्मा और उसके अन्दर प्रविष्ट होकर अन्तरात्मारूपसे स्थित होकर घुमानेवाले परमात्माका परस्पर विलक्षण स्वभाव होनेके कारण श्रवण-मननके द्वारा पृथक्त्वेन निश्चय करके उपासनाके द्वारा प्रसन्न हुए परमात्माकी प्रीतिका पात्र बनकर जीवात्मा मोक्षको प्राप्त करता है- **पृथगात्मानं प्रेरितारं च मत्वा जुष्टस्ततस्तेनामृतत्वमेति।**(श्वे.उ.१.६) यह श्रुति अपनेसे पृथक्त्वेन परमात्माके अनुसन्धानका प्रतिपादन करती है। **अहं ब्रह्मास्मि** इस प्रकार उपासना करनेपर विरुद्ध जैसे प्रतीत होने वाले दोनों प्रकारके वचनोंकी संगति हो जाती है। 'अहम्' इस प्रकार अपनी आत्मारूपसे परमात्माकी उपासना करनेपर पृथक्त्वेन उपासनाका निषेध करनेवाले वचन संगत होते हैं। जिस प्रकार अपने शरीरसे अपनी आत्माका श्रेष्ठत्वेन अनुसन्धान होता है, उसी प्रकार अपनी आत्मासे परमात्माका श्रेष्ठत्वेन अनुसन्धान करनेसे पृथक्त्वेन अनुसन्धानका विधान करनेवाले वचन संगत होते हैं। इस प्रकार मोक्षप्रकरणमें सर्वत्र उपासककी आत्मारूपसे ही ब्रह्म उपास्य होता है। परमात्मा सभी उपासक चेतन आत्माओंका भी आत्मा है, इसलिए उपासक **अहं ब्रह्मास्मि** इस प्रकार ही उपास्य परब्रह्मकी उपासना करते हैं और **आत्मेत्येवोपासीत**(बृ.उ.१.४.७) इत्यादि शास्त्र भी इसी अर्थका बोध कराते हैं। **आत्मेति तूपगच्छन्ति ग्राहयन्ति च**(ब्र.सू.४.१.३) ऐसा सूत्रकार व्यासजी कहते हैं। सूत्रमें **आत्मेति तूपगच्छन्ति** वाक्यके द्वारा सम्प्रदाय कहा जाता है और 'ग्राहयन्ति'

इस पदके द्वारा उसमें प्रमाण कहा जाता है। **अहं ब्रह्मास्मि** इस उपासनासे प्रमाण और सम्प्रदाय दोनोंका अनुसरण हो जाता है।

वेदान्तशास्त्रमें स्वरूपतः, चिद्विशिष्टत्वेन तथा अचिद्विशिष्टत्वेन इस प्रकार ब्रह्मके त्रिविध अनुसन्धान(उपासना)का उल्लेख मिलता है। सत्यत्व, ज्ञानत्व आदि, ज्ञान, बल, ऐश्वर्य आदि तथा आदित्यमण्डलान्तर्वर्ती पुण्डरीकाक्षदिव्यमङ्गलविग्रहविशिष्टत्वेन परब्रह्मका अनुसन्धान स्वरूपतः अनुसन्धान है। **सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म**(तै.उ.२.१.१), **आनन्दो ब्रह्म**(तै.उ.३.६) इत्यादि वाक्योंमें ब्रह्मका स्वरूपतः अनुसन्धान प्रतिपादित है। **माम् उपास्स्व**(कौ.उ.३.१४), **मामेव विज्ञानीहि**(कौ.उ.३.८) इत्यादि वाक्योंमें चिद्विशिष्टत्वेन अनुसन्धान प्रतिपादित है। **प्राणोऽस्मि**(कौ.उ.३.१४) इत्यादि वाक्योंमें अचिद्विशिष्टत्वेन परमात्माका अनुसन्धान निरूपित है। तैत्तिरीय श्रुतिमें **तत्सृष्ट्वा तदेवानुप्राविशत्**।(तै.उ.२.६.२) यहाँ से आरम्भ करके **सत्यं चानृतं च सत्यमभवत्** यहाँ तक चिद्विशिष्टत्वेन तथा अचिद्विशिष्टत्वेन परमात्माका अनुसन्धान उल्लिखित है। अनुसन्धानकेलिए श्रवण, मनन अपेक्षित होता है।

श्रवण– श्रोत्रिय, ब्रह्मनिष्ठ आचार्यके मुखसे वेदान्तवाक्योंके युक्तियुक्त अर्थको जानना श्रवण कहलाता है– **श्रवणं नाम न्यायसहकृतस्य तत्त्वार्थस्य गुरुमुखात् ग्रहणम्**। संसाररूप दावानलसे संतप्त मुमुक्षु परब्रह्मको जाननेके लिए श्रोत्रिय, ब्रह्मनिष्ठ गुरुदेवकी ही शरणमें जाए– **तद्विज्ञानार्थं स गुरुमेवाभिगच्छेत् समित्पाणिः श्रोत्रियं ब्रह्मनिष्ठम्**(मु.उ.१.२.१२)। वेदान्तका विद्वान् श्रोत्रिय कहलाता है– **श्रोत्रियं श्रुतवेदान्तम्**(त.टी.१.१.१)। ब्रह्मका साक्षात्कार करनेवाला ब्रह्मनिष्ठ कहलाता है, ऐसे आचार्य समर्पित शिष्यको ब्रह्मविद्याका उपदेश करते हैं।

मनन– 'सुना हुआ अर्थ युक्तियुक्त है या युक्तिरहित' इस प्रकार विचारपूर्वक किया जानेवाला निश्चयात्मक ज्ञान मनन कहलाता है– **श्रुतार्थविषयकयुक्तायुक्तविचारपूर्वकं निर्णयरूपज्ञानं मननम्।**

निदिध्यासन– विजातीय वृत्तियोंके व्यवधानसे रहित तैलकी धाराके समान सजातीय वृत्तियोंका सतत प्रवाह निदिध्यासन कहा जाता है– **विजातीयप्रत्ययान्तराव्यवहिततैलधारावदविच्छिन्नस्मृतिसन्ततिरूपं निदिध्यासनम्।** यही मननसे निश्चय किए गए अर्थका अनवरत ध्यानरूप होता है। इसे ही प्रीतिरूप होने पर भक्ति कहा जाता है, इसका भक्तियोगके व्याख्यानमें स्पष्टीकरण किया जा चुका है। निदिध्यासन शब्दकी वाच्य विद्याएं अनेक प्रकारकी हैं। इनमेंसे कुछ लौकिक फल देने वाली हैं तथा कुछ मोक्षफल देनेवाली हैं। उद्गीथ आदि विद्याएं लौकिक फल देने वाली हैं तथा अन्तरिक्षविद्या, अन्तरादित्यविद्या, दहरविद्या, भूमविद्या, सद्विद्या, मधुविद्या, उपकोसलविद्या, शाण्डिल्यविद्या, पुरुषविद्या, प्रतर्दनविद्या, वैश्वानरविद्या और पञ्चाग्निविद्या आदि मुक्ति देनेवाली हैं। मुक्ति फल देनेवाली विद्याओंको ब्रह्मविद्या कहा जाता है। सभी ब्रह्मविद्याएं सगुणब्रह्मविषयक ही हैं।

शंका– वेदान्तवाक्य श्रवण और मननका भी विधान करते हैं। ऐसा होनेपर भी भक्तियोगके व्याख्यानमें जो निदिध्यासनका ही विधान कहा गया, वह उचित नहीं है।

समाधान– **'स्वाध्यायोऽध्येतव्यः'**(तै.आ.२.१५.५, श.ब्रा.१.५.७) यह वाक्य वेदाध्ययनका विधान करता है। वेदाध्ययनका अर्थ है– वेदाख्य अक्षरराशिका ज्ञान। वेदाध्ययन किया हुआ व्यक्ति सामान्यतः यह समझता है कि वेद स्वर्गादि तथा मोक्षरूप फलके साधन यागादि और उपासनाके बोधक हैं। सामान्यरूपसे होनेवाला ज्ञान संशय,

विपर्ययका निवर्तक नहीं होता है। सामान्यज्ञान ही विशेषतः निर्णयके लिए वेदवाक्योंके श्रवणमें रागको उत्पन्न करता है। इस प्रकार रागतः श्रवणकी प्राप्ति है। कर्मोंका अल्प और अस्थिर फल होनेसे तथा ब्रह्मज्ञानका अनन्त और अक्षय फल होनेसे मुमुक्षुकी वेदान्तश्रवणमें स्वतः प्रवृत्ति होती है। श्रवणकी दृढ़ताके लिए मनन भी स्वतः प्राप्त है, इसलिए **आत्मा वाऽरे द्रष्टव्यः श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्यः।**(बृ.उ.४.५.६) इस मन्त्रसे निदिध्यासनका ही विधान किया जाता है। इससे श्रवण, मननका अनुवादमात्र होता है।

श्रवणमात्रसे साक्षात्कार नहीं होता– कुछ विद्वानोंके अनुसार विशेष अधिकारीको मनन, निदिध्यासनके विना श्रवणमात्रसे साक्षात्कार होता है। पर यह कथन उचित नहीं है क्योंकि जैसे विशेष अधिकारीको मनन, निदिध्यासनके विना श्रवणमात्रसे साक्षात्कारात्मक ज्ञान होना माना जाता है, वैसे ही अतिशय विशेष अधिकारीको श्रवण विना ही ज्ञान मानना होगा, वामदेवको श्रवण विना ही गर्भमें ज्ञान हो गया था। यदि यहाँ पूर्वजन्मके श्रवणकी कल्पना करें तो जहाँ श्रवणमात्रसे ज्ञान माना जाता है, वहाँ भी ज्ञानसे पूर्व मनन, निदिध्यासनकी कल्पना करनी ही पड़ेगी। ऐसा मानने पर ही साधन वाक्योंकी एकरूपता तथा श्रुतिकथित श्रोतव्यः, मन्तव्यः, निदिध्यासितव्यः इन तीनों पदोंकी सार्थकता होगी।

ऊपर जिस भक्तिका वर्णन किया गया, वह साधन भक्ति कहलाती है। 'परब्रह्मकी प्राप्तिमें भक्ति ही साधन है' इस प्रकार साधनबुद्धिसे की जानेवाली भक्ति ही साधनभक्ति या उपायभक्ति कही जाती है। इसका विस्तारसे प्रतिपादन करके अब साध्यभक्तिरूप प्रपत्तिका वर्णन किया जाता है–

प्रपत्ति- परब्रह्मकी प्राप्तिमें परब्रह्म ही साधन हैं, ऐसी जो बुद्धि होती है। वही साध्य भक्ति है। भक्ति प्रीतिरूप होती है, प्रपत्ति भी प्रीतिरूप होती है इसलिए प्रपत्ति भी भक्ति है। इसीको शरणागति, प्रपत्ति, निक्षेप, याञ्चा आदि नामोंसे कहा जाता है। उपनिषदोंमें जिस न्यासविद्या नामक ब्रह्मविद्याका वर्णन किया गया है, वह यही साध्य भक्ति है। मनीषी ब्रह्मविद्यारूपसे मोक्षके साधन न्यासको कहते हैं- **न्यास इत्याहुर्मनीषिणः**।(तै.ना.उ.१४५) यहीं पर **वसुरण्यो विभू**.. ...(तै.ना.उ.१४८) इत्यादि मन्त्रसे न्यासका प्रयोग बताया गया है। **यो ब्रह्माणं ..... शरणम् अहं प्रपद्ये**।(श्वे.उ.६.१८) यह भी न्यासमन्त्र है। यह न्यासविद्या भी ब्रह्मविषयक ज्ञानविशेष है, अतः ज्ञानसे अतिरिक्त मोक्षके उपायका निषेध करनेवाले उपनिषद्‌वचनोंसे विरोध नहीं है। यह ब्रह्मविषयक ज्ञानरूप होनेसे मोक्षकी उपाय है।

जीवको स्वकल्याणार्थ शरणागति करनेके लिए अकिञ्चन और अनन्यगति होना चाहिए। शरणागतके गुण हैं- आकिञ्चन्य और अनन्यगतित्व। कर्मयोग, ज्ञानयोग और भक्तियोग करनेके लिए सामर्थ्य न होना ही आकिञ्चन्य है। भगवत्प्राप्तिरूप मोक्षको छोड़कर दूसरे किसी प्रयोजनको न चाहना ही अनन्यगतित्व है। दूसरे प्रयोजनोंको न चाहनेवाला अवश्य अन्य देवताओंसे विमुख हो जाएगा क्योंकि अन्य देवता मोक्ष नहीं दे सकते हैं, अन्य फल ही दे सकते हैं। जिस साधकको अन्य फलोंकी इच्छा नहीं है, मोक्षकी ही इच्छा है। वह देवतान्तरोंका आश्रय नहीं ले सकता है। शरणागतिके लिए अधिकार आकिञ्चन्य और अनन्यगतित्व ही हैं। ये दोनों जिनमें हों, वे सब शरणागतिके अधिकारी हैं।

अकिञ्चन, अनन्यगति और श्रीभगवान् की कृपापर पूर्ण विश्वास रखनेवाले साधक शरणागतिके अधिकारी माने जाते हैं। शरणागति ६ प्रकार की है- १.आनुकूल्यसंकल्प, २.प्रातिकूल्यत्याग,

३.श्रीभगवान् रक्षा करेंगे ऐसा महाविश्वास, ४.रक्षक होनेके लिए श्रीभगवान् का वरण, ५.आत्मसमर्पण, ६.कार्पण्य अर्थात् आकिञ्चन्य इत्यादिका अनुसन्धान- **आनुकूल्यस्य संकल्पः प्रातिकूल्यस्य वर्जनम्। रक्षिष्यतीति विश्वासो गोप्तृत्वरणं तथा। आत्मनिक्षेपकार्पण्ये षड्विधा शरणागतिः।।**(अ.सं.) इन छः प्रकारोंमें आत्मनिक्षेप अङ्गी(प्रधान) है और शेष पाँच अङ्ग(सहायक) हैं। जैसे भक्ति अष्टांग योग है, वैसे प्रपत्ति पञ्चाङ्ग योग है। 'हे भगवान् ! मैं आजसे आपके अनुकूल होकर रहूँगा' इस संकल्पको आनुकूल्यसंकल्प कहते हैं तथा 'कभी भी प्रतिकूल होकर नहीं रहूंगा' इस संकल्पको प्रातिकूल्यवर्जन कहते हैं। ये दोनों संकल्प शरणागतके अवश्य कर्तव्य हैं क्योंकि शरणागत अपनेको श्रीभगवान् का दास समझता है। दासको स्वामीकी इच्छाके अनुकूल आचरण करना चाहिए तथा प्रतिकूल आचरणका त्याग करना चाहिए। इन संकल्पोंका यह फल है कि शरणागत पापाचरणसे विरत हो जाता है क्योंकि पापाचरण इन संकल्पोंके विरुद्ध है। शरणागतिका तीसरा अङ्ग कार्पण्य है। अपने आकिञ्चन्य अर्थात् साधनहीनताका अनुसन्धान कार्पण्य कहलाता है अर्थात् अपनी दीन-हीन दशाका श्रीभगवान् के सान्निध्यमें निवेदन करना ही कार्पण्य है। अपनी दीनहीन दशाके अनुसन्धानका यह फल है कि शरणागत अन्य उपायोंमें प्रवृत्त होनेकी इच्छाको सर्वदाके लिए छोड़ देता है। "श्रीभगवान् किसी उपायकी अपेक्षा न करके अवश्य रक्षा करनेवाले हैं।" ऐसे निश्चयको महाविश्वास कहते हैं। यह महाविश्वास शरणागतिका चतुर्थ अङ्ग है। यह विश्वास आवश्यक है क्योंकि ऐसा विश्वास करनेवाला पुरुष ही श्रीभगवान् की शरणमें जा सकता है और विश्वासयुक्त पुरुष ही अपने रक्षाभारको श्रीभगवान् के चरणोंमें सौंपनेके बाद निर्भर होकर रह सकता है क्योंकि विश्वासमें

कमी होनेपर "श्रीभगवान् रक्षा करेंगे, इसमें क्या भरोसा?" ऐसा सोचता हुआ साधक अपनेको निर्भर नहीं मानेगा और वह उपायान्तरोंमें प्रवृत्त भी हो जायेगा, इसलिए शरणागतिमें महाविश्वासकी अत्यन्त आवश्यकता समझी जाती है। रक्षक बननेके लिए श्रीभगवान् से प्रार्थना करना ही गोप्तृत्ववरण है। 'मैं अमुक फल चाहता हूँ, आप मुझे दीजिए' अथवा 'मैं अपनी रक्षा चाहता हूँ आप मेरी रक्षा कीजिए' ऐसी प्रार्थना करने पर ही श्रीभगवान् रक्षा करते हैं क्योंकि जीवोंकी प्रार्थनासे जीवोंकी इच्छाको जानकर श्रीभगवान् फल देते हैं, इसलिए वे पुरुषार्थदाता कहलाते हैं। जीवोंकी प्रार्थनाके विना यदि श्रीभगवान् महाफल भी दें, तो वे पुरुषार्थदाता नहीं माने जा सकते क्योंकि जो पुरुषोंसे माँगा जाता है, वही पुरुषार्थ होता है। इसलिए जीवको प्रार्थना द्वारा अपनी इच्छाको व्यक्त करना पड़ता है। अतः गोप्तृत्ववरणकी आवश्यकता समझी जाती है। इस प्रकार पाँच अङ्गोंका निरूपण होता है। शरणागतिमें अङ्गी है-निक्षेप अर्थात् समर्पण। स्वरुप, भर और फल इन तीन वस्तुओंका श्रीभगवान् में समर्पण करना पड़ता है। स्वरूपसमर्पण एक अनुसन्धान है, वह इस प्रकार है कि 'मैं स्वतन्त्र नहीं हूँ, देवतान्तरका नहीं हूँ, श्रीभगवान् का ही हूँ' इस प्रकार अनुसन्धान करना ही स्वस्वरूपका समर्पण करना है। 'मैं अपनी तथा अपनी कही जानेवाली वस्तुओंकी रक्षा नहीं कर सकता हूँ, श्रीभगवान् ही इन सभीकी रक्षा कर सकते हैं', ऐसा समझकर श्रीभगवान् के चरणोंमें रक्षाभारका समर्पण करना ही भरसमर्पण कहलाता है। "रक्षा होनेपर मिलनेवाले फलके प्रधान भोक्ता श्रीभगवान् ही हैं, मैं नहीं" ऐसा समझकर फलको श्रीभगवान् के चरणोंमें समर्पित कर देना फलसमर्पण कहलाता है। इस प्रकार अङ्गी स्वरूपका निरूपण होता है। पाँच अङ्ग तथा तीन प्रकारके

समर्पणका शरणागतिमें समावेश है। इनमें प्रार्थना और भरसमर्पणको मिलानेपर शरणागतिका लक्षण बन जाता है। प्रार्थनायुक्त भरसमर्पण ही शरणागतिका लक्षण है। **सकृदेव प्रपन्नाय तवास्मीति च याचते। अभयं सर्वभूतेभ्यो ददाम्येतद् व्रतं मम।।**(वा.रा.६.१६.३३) इस प्रकार श्रीरामचन्द्रके कथनानुसार शरणागतको एक बार ही शरणागति करनी पड़ती है तथा श्रीभगवान्‌को भी एक बार ही संकल्प करना पड़ता है। इस प्रकार दोनोंको अपना अपना काम एक बार ही करना पड़ता है।

भगवत्प्राप्तिमें साधनबुद्धिसे की जानेवाली भक्ति ही उपाय भक्ति है। प्रीतिसे पूर्ण ध्यान भक्ति होता है। ध्यान उपाय होता है, इसलिए उसमें निहित प्रीति भी उपाय बन जाती है, अत एव वह उपायभक्ति कहलाती है। इसकी निष्पत्तिके लिए कर्मयोग और ज्ञानयोगकी अपेक्षा होती है किन्तु साध्यभक्तिरूप प्रपत्तिकी निष्पत्तिके लिए कर्मयोग, ज्ञानयोग और भक्तियोग इनमें किसीकी भी अपेक्षा नहीं होती है। इन तीनोंको करने में जो अपनेको असमर्थ समझता है, वह शरणागतिका अधिकारी है। शरणागति इतर उपायोंकी अपेक्षा न रखते हुए मोक्षका साधन होती है।

शंका– भक्तियोगी साधक भक्तियोगकी विनिष्पत्तिके लिए भगवत्-शरणागति करके भक्तियोगका अनुष्ठान करते हैं। इस प्रकार शरणागतिका भक्तियोगके साथ समुच्चय कैसे होता है?

समाधान– मोक्षके लिए की जानेवाली शरणागतिसे किसीका समुच्चय नहीं होता है। भक्तियोगी साधकों द्वारा की जानेवाली शरणागति दूसरी है, वह भक्तियोगमें अवरोध उपस्थित होनेपर की जाती है और वह भक्तियोगका अङ्ग बनती है। इस प्रकार शरणागति और भक्तियोगमें अङ्गाङ्गिभाव होता है, यहाँ भी समुच्चय नहीं होता

है। स्वतन्त्र शरणागति भगवत्प्राप्तिके विरोधी पापोंको नष्ट करती है और भक्तिकी अङ्ग शरणागति भक्तियोगके विरोधी पापोंको नष्ट करके भक्तियोगको सतत प्रवाहित करनके लिए की जाती है। यद्यपि दोनों शरणागतिको करनेमें समानता है फिर भी दोनोंके उद्देश्य और फलमें भेद होनेसे दोनों भिन्न हैं। शरीरान्तकालमें परिपक्व अवस्थाको प्राप्त हुआ भक्तियोग मोक्ष प्रदान करता है, इसलिए भक्तियोग मरण पर्यन्त बारम्बार करने योग्य है तथा शरणागति जीवनमें एक बार की जाती है। यद्यपि न्यासविद्यारूप प्रपत्ति एक बार कर्तव्य होनेसे सुगम उपाय प्रतीत होती है और भक्तियोग का बारम्बार अभ्यास कर्तव्य होनेसे एवं अन्य साधनोंकी अपेक्षा रखनेसे दुष्कर उपाय प्रतीत होता है, फिर भी कठिनतासे होनेवाले महाविश्वास आदिकी अपेक्षा रखनेसे न्यासविद्या दुष्कर उपाय प्रतीत होती है और महाविश्वासकी अपेक्षा सरलतासे होनेवाले कर्मयोगादिकी अपेक्षा करनेसे भक्तियोग सरल उपाय प्रतीत होता है। इस प्रकार दोनोंमें दृष्टिभेदसे सरलता एवं कठिनता प्रतीत होती है। महाविश्वासीके लिए तो न्यासविद्या ही सुगम साधन है। साधन भक्ति एवं साध्यभक्तिरूप शरणागति दोनोंका अनुष्ठान करनेवालोंके लिए निषिद्ध कर्मका त्याग समान रूपसे है। शरणागत उपायत्वबुद्धिका त्याग करता है, उपायका त्याग नहीं करता है, इसलिए शरणागति स्वीकार करनेवाले भी नित्य, नैमित्तिक कर्म करते हैं किन्तु उपाय बुद्धिसे नहीं करते हैं। प्रपत्ति करनेवालेके उपाय तो श्रीभगवान् ही हैं, प्रपत्ति स्वयं उपाय नहीं है, इसलिए उसमें निहित प्रीति भी उपाय नहीं है फिर भी वह प्रपत्ति सिद्ध करने योग्य होती है, इसलिए वह साध्य भक्ति कहलाती है। भक्तिका फल जिस प्रपत्तिसे साध्य है- **साध्या भक्तिः= भक्तिजन्यफलं यया** इस व्युत्पत्तिके अनुसार प्रपत्तिको साध्यभक्ति कहा जाता है। प्रपत्ति करनेके बाद

फलरूपसे भक्ति रहती ही है, साधनरूपसे नहीं रहती, इसलिए भी प्रपत्तिको साध्यभक्ति कहते हैं।

भक्ति और प्रपत्तिसे प्रसन्न हुए श्रीभगवान् ही मोक्ष प्रदान करते हैं, इसलिए श्रीभगवान् ही मुक्तिमें परमकारण हैं। भक्ति और प्रपत्ति तो भगवद्-अनुग्रहके द्वारा कारण होती हैं। श्रीभगवान् अव्यवहितकारण हैं, भक्ति और प्रपत्ति व्यवहितकारण हैं। श्रीभगवान् सिद्धोपाय हैं, भक्ति और प्रपत्ति साध्योपाय हैं। इस प्रकार भक्त और प्रपन्न दोनों ही सिद्धोपायनिष्ठ होते हैं फिर भी बहुलता से स्वतन्त्र प्रपत्ति करनेवालेको ही सिद्धोपायनिष्ठ कहा जाता है क्योंकि वह प्रपत्तिसे भर समर्पणके द्वारा अपनी रक्षाका भार परमात्माको सौंप देता है। उत्तरकालमें प्रपत्तिकी अनुवृत्ति नहीं रहती है, उसके स्थान पर परमात्मा ही रहते हैं। शरीरान्तकालमें परिपक्व अवस्थाको प्राप्त हुआ भक्तियोग मोक्षप्रदान करता हैं, इसलिए भक्तियोग मरण पर्यन्त अनुष्ठेय है। इस प्रकार उपासनाकी जीवन पर्यन्त अनुवृत्ति होनेसे उपासकको सिद्धोपायनिष्ठ नहीं कहा जाता है, वस्तुतः वह भी सिद्धोपायनिष्ठ ही है। उपायदशामें भक्ति साधनरूपसे रहती है और मुक्ति दशामें फलरूपसे रहती है। परभक्तिसे परब्रह्मका साक्षात्कार होनेपर साक्षात्कारीकी अवस्थाका वर्णन किया जाता है-

ब्रह्मदर्शीकी जीवनकालिक अवस्था-अज्ञानी व्यक्ति ब्रह्मको नहीं देखता है, जगत्को स्वतन्त्र देखता है किन्तु ब्रह्मज्ञ पुरुष सम्पूर्ण जगत्की आत्मारूपसे ब्रह्मको देखता है और घटपदादिरूप जगत्को ब्रह्मात्मक देखता है, स्वतन्त्र नहीं देखता है अर्थात् भगवद्विभूतिरूपसे जगत्को देखता है। इसी स्थितिका ईशावास्यका मन्त्र इस प्रकार वर्णन करता है कि जब शास्त्रसे स्वतन्त्र ब्रह्म और परतन्त्र जगत्का स्वरूप जाननेवालेको चराचर सम्पूर्ण जगत्से विशिष्ट परमात्माका दर्शन होता है, तब सर्वात्मा ब्रह्मके अभेदका दर्शन करनेवालेको

शोक-मोह नहीं होते हैं- **यस्मिन् सर्वाणि भूतान्यात्मैवाभूद् विजानतः। तत्र को मोहः कश्शोकः एकत्वमनुपश्यतः**(ई.उ.७.)। ब्रह्म चक्षु आदि इन्द्रियोंका विषय नहीं है, इसलिए अज्ञ व्यक्ति उसे नहीं देखता है। **दृश्यते तु अग्र्यया बुद्ध्या**(क.उ.१.३.१२) इस प्रकार ब्रह्मको विशुद्ध मनका विषय कहा गया है। ब्रह्मोपासक ध्यानावस्थामें विशुद्ध मनसे परब्रह्म, उनके सत्यकामत्वादि गुण तथा श्रीविग्रह का भी दर्शन करता है। विशुद्ध अन्तःकरणसे जन्य धर्मभूतज्ञानकी वृत्ति इनको विषय करती है। ध्यानसे अतिरिक्त कालमें परमात्माके श्रीविग्रहका चक्षुसे भी दर्शन होता है। यह भी अन्तःकरणकी विशुद्धिके कारण चक्षुजन्य ज्ञानका विषय होता है। ऐसे चक्षुको दिव्यचक्षु कहा जाता है। ब्रह्मदर्शीको घटादिका ज्ञान घटप्रकारक ब्रह्मविशेष्यक होता है। घटादि पदार्थोंका चक्षु आदि इन्द्रियोंसे प्रत्यक्ष होता है और ब्रह्मका विशुद्ध मनसे प्रत्यक्ष होता है। उसकी दृष्टिमें ब्रह्मसे पृथक् कुछ है ही नहीं, इसी विषयका **नेह नानाऽस्ति किंचन**(बृ.उ.४.४.१९) यह भगवती श्रुति निरूपण करती है।(इह= जगतमें, ब्रह्मसे नाना= पृथक्, किंचन= कुछ भी, न= नहीं है अर्थात् सब ब्रह्मात्मक ही है)

जीवनमुक्ति- सभी बन्धनोंसे विनिर्मुक्त होना मुक्ति है। जीवनकालमें होनेवाली मुक्ति जीवनमुक्ति कही जाती है। यह निर्विशेषाद्वैती विद्वानोंका मत है।

समीक्षा- यह कहना उचित नहीं है क्योंकि अविद्या, कर्म, देह, इन्द्रिय, मन, प्राण ये सभी दुःखके हेतु हैं। दुःखके हेतुओंकी पूर्णतः निवृत्ति ही मुक्ति है। दुःखके कुछ कारणोंकी निवृत्ति मुक्ति नहीं है। दुःखके कुछ कारणोंकी निवृत्ति तो प्राणियोंके जीवनमें कभी-कभी होती ही रहती है। इतनेसे उस कालमें उन्हें कोई भी मुक्त नहीं मानता है। जीवनकालमें ब्रह्मज्ञपुरुष भी प्रारब्धानुसार दुःख पाता है।

जीवनकालमें दुःख और दुःखके हेतुओंके रहते मुक्ति कभी भी नहीं हो सकती है। लेशतः कर्म होनेपर मुक्तिका प्रश्न ही नहीं उठता है।

शंका- प्रकृतिसे पर, आदित्यके समान वर्णवाले परमात्माको जाननेवाला मनुष्य यहाँ पर ही मुक्त हो जाता है- **तमेवं विद्वान् अमृत इह भवति**।(तै.आ.३.१.३) यहाँ पर ही ब्रह्मका अनुभव करता है- **अत्र ब्रह्म समश्नुते**।(क.उ.२.३.१४) इन श्रुतियोंसे शरीरके रहते ही ब्रह्मानुभवरूप मोक्ष कहा गया है, यही जीवनमुक्ति है। विद्वान् भी इस शब्दका प्रयोग करते हैं, इसका निराकरण आप कैसे करते हैं?

समाधान- जीवनकालमें प्राप्त होनेवाली जिस अवस्थाको आप मुक्ति मानते हैं, वह मुक्ति नहीं है, मुक्तिके समान अवस्था है, इसलिए उसमें जीवनमुक्ति पदका प्रयोग औपचारिक ही है। जिस प्रकार गङ्गाकी समीपता होनेसे तीरके लिए गङ्गायां घोषः इत्यादि प्रयोग औपचारिक हैं, उसी प्रकार मुक्ति सन्निहित होनेसे अवस्थाविशेषके लिए जीवनमुक्ति पदका प्रयोग औपचारिक है। आत्मज्ञानसे प्रारब्धव्यतिरिक्त कर्मोंका नाश होता है और शरीरके आरम्भक प्रारब्धकर्मका शरीरत्यागके समय नाश होता है- **भूयश्चान्ते विश्वमायानिवृत्तिः**।(श्वे.उ.१.१०) इस प्रकार देहत्यागके पूर्व ज्ञानीकी जीवनमुक्ति सिद्ध ही है। ऐसा जगन्मिथ्यात्ववादी नहीं कह सकते हैं क्योंकि रज्जुके ज्ञानसे रज्जुसर्पभ्रम कुछ रहता है, कुछ निवृत्त होता है। ऐसा तो उनको भी मान्य नहीं है। शंकाकारके द्वारा उद्धृत श्रुतिके दोनों वाक्य उपासनाकालिक ब्रह्मानुभवका वर्णन करते हैं। इनसे जीवनमुक्ति सिद्ध नहीं होती है।

मुक्त- मोक्षकी साधन ब्रह्मविद्याके द्वारा जिस जीवात्माकी निःशेष अविद्या निवृत्त हो गयी है, वह मुक्त कहा जाता है। अविद्यासे ही

प्रकृतिके साथ संसर्ग होता है। अविद्याध्वंस होनेपर प्रकृतिके साथ संसर्ग नहीं रहता है। जिस आत्माका प्रकृतिसंसर्ग ध्वस्त हो गया है, वह मुक्त कहलाती है- **मुक्तत्वं नाम प्रकृतिसंसर्गप्रध्वंसाऽभाववत्त्वम्**। सभी बन्धनोंसे रहित तथा आविर्भूत हुए आठगुणोंसे युक्त होकर सदा परमात्माका अनुभव करनेवाला प्रत्यगात्मा मुक्त कहा जाता है।

मोंक्षके साधन भक्तियोग तथा उसके अङ्गभूत नित्यादि कर्मोंका अनुष्ठान करनेवाले ब्रह्मज्ञानीके क्रियमाण और संचित कर्म ब्रह्मविद्यासे नष्ट हो जाते हैं। इस शरीरसे निकलकर जाने वाले जीवात्माके साथ इन्द्रिय, प्राणादिसे युक्त सूक्ष्मशरीर नामक एक प्राकृत पदार्थ लगा रहता है। यह जीवके साथ जाता है। कर्म विनष्ट होनेपर भी विद्याके प्रभावसे जीवकी ऊर्ध्व गति होती है।

ब्रह्मज्ञानीके पूर्वोत्तर पापोंका अश्लेष एवं विनाश- ब्रह्मविद्यानिष्ठ साधकोंके कुछ प्राचीन पाप फलभोगनेसे नष्ट हो जाते हैं, कुछ प्रायश्चित्तसे नष्ट हो जाते हैं। प्रारब्ध कर्मोंका नाश फल भोगने पर ही होता है। इस प्रकार जिन कर्मोंका फल भोगा गया, जिन कर्मोंका प्रायश्चित्त किया गया तथा जो प्रारब्ध कर्म हैं, उनको छोड़कर अन्य सभी कर्म ब्रह्मविद्यासे उसी प्रकार नष्ट हो जाते हैं, जिस प्रकार अग्निमें डाली गयी सींकके अग्रभागमें स्थित शुष्क रुई जल जाती है- **तद् यथेषीकातूलम् अग्नौ प्रोतं प्रदूयेत एवं हास्य सर्वे पाप्मानः प्रदूयन्ते**।(छां.उ.५.२४.३), ब्रह्मविद्यारम्भसे उत्तरकालमें प्रमादसे जो कर्म हो जाते हैं। उनसे साधक उसी प्रकार लिपायमान नहीं होता है, जैसे जलसे कमलका पत्ता लिपायमान नहीं होता- **यथा पुष्करपलाश आपो न श्लिष्यन्ते, एवम् एवंविदि पापं कर्म न श्लिष्यत इति**(छां.उ.४.१४.३)। विद्यारम्भसे पूर्वमें किये गये, जिन कर्मोंने फल देना आरम्भ नहीं किया है, ऐसे अनादिकालसे संचित अनन्त पुण्यपापरूप कर्म ब्रह्मविद्यासे विनष्ट हो जाते हैं तथा विद्यारम्भसे

उत्तरकालमें किये गये कर्मोंसे संश्लेष नहीं होता है। इस प्रकार ज्ञानीके पूर्व कर्मोंका नाश एवं उत्तरकर्मोंका अश्लेष होता है। उनमें शेष सभी पुण्यकर्म को ज्ञानीके सुहृद ग्रहण करते हैं और सभी पापकर्म को उसके शत्रु ग्रहण करते हैं। विद्याके प्रभावसे ज्ञानीके जितने अदृष्ट विनष्ट एवं अश्लिष्ट हुए हैं, उनके सजातीय अदृष्टों को श्रीभगवान् के द्वारा शत्रु और मित्रोंमें उत्पन्न करना ही शत्रु और मित्रोंके द्वारा पाप-पुण्यको ग्रहण करना है। ब्रह्मवेत्ता पुण्य-पापका त्याग कर देता है, उसके प्रिय बान्धव पुण्य ले लेते हैं और अप्रिय शत्रु पाप ले लेते हैं- **तत्सुकृतदुष्कृते धूनुते, तस्य प्रिया ज्ञातयः सुकृतम् उपयन्ति अप्रिया दुष्कृतम्**(कौ.उ.१.३७)। ब्रह्मविद्याके आरम्भ होनेसे पूर्व तथा उत्तरमें किये गए जो शुभ कर्म ब्रह्मविद्याकी निष्पत्तिमें उपयोगी होते हैं, वे ब्रह्मविद्याको निष्पन्न कर सफल हो जाते हैं। उपासक भोगसे प्रारब्धकर्म को क्षीण करके ब्रह्मको प्राप्त करता है- **भोगेन त्वितरे क्षपयित्वाऽथ सम्पद्यते**(ब्र.सू.४.१.१६)। कुछ प्रारब्ध कर्म एक शरीरके जनक होते हैं और कुछ प्रारब्धकर्म अनेक शरीरके जनक होते हैं। जो शरणागत इस शरीरसे ही मोक्षकी अभिलाषा करके शरणागति करता है, उसे नूतनशरीर प्राप्त नहीं होता है। उपायभक्तिनिष्ठ साधक प्रारब्धजन्य अन्तिम शरीरका पतन होनेपर मुक्त होता है। जिस शरीरसे विद्याका आरम्भ किया गया है, वह एक ही अन्तिम शरीर हो सकता है और कभी जिस शरीरसे विद्याका आरम्भ किया गया है, उसके पश्चात् प्राप्त होनेवाला प्रारब्धजन्य शरीर भी अन्तिम शरीर हो सकता है। परमपुरुषके द्वारा विशिष्टकर्मोंके कारण अधिकार(कार्य) विशेषमें नियुक्त किये गये जो वसिष्ठादि आधिकारिक पुरुष हैं, उनका अधिकारके समाप्त होने तक प्रारब्ध क्षीण नहीं होता है। इसलिए ज्ञानी होनेपर भी देहपातके पश्चात् इनकी मुक्ति नहीं होती है। ब्रह्मविद्या आरम्भ करनेके बाद

यदि साधकसे बुद्धिपूर्वक कोई कर्म अनुष्ठित हो जाता है, तो प्रायश्चित्त अथवा भोगसे उसका नाश करना ही होगा। विवेकी साधक तो ब्रह्मविद्यासे प्रतिकूल कुछ करता ही नहीं है।

उत्क्रान्ति और अर्चिरादि गति- देहान्तकालमें जीवकी वागिन्द्रिय मनमें स्थित हो जाती है, फिर अन्य नौ इन्द्रियाँ मनमें स्थित हो जाती हैं। अब मनसे एक स्मृति होती है, जिसे अन्तिमस्मृति कहते हैं। सभी इन्द्रियोंके सहित मन प्राणमें स्थित हो जाता है। एकादश इन्द्रियसे संयुक्त प्राण जीवमें स्थित हो जाता है। इन्द्रिय और प्राणसे संयुक्त जीव पञ्चभूतोंमें स्थित हो जाता है। इन्द्रियादिसे संयुक्त जीव परमात्मामें स्थित हो जाता है। इस प्रकारकी घटना मरते समय विद्वान् और अविद्वान् दोनोंकी समानरूपसे होती है। अब विद्वान् पुरुष मूर्धामें स्थित ब्रह्मनाड़ी(सुषुम्ना) के द्वारा सुखपूर्वक शरीरसे निकलकर अर्चि देवता, दिवसाभिमानी देवता, शुक्लपक्ष देवता, उत्तरायण देवता, संवत्सर देवता, वायु देवता, सूर्य देवता, चन्द्र देवता, वैद्युत देवता, वरुण देवता, इन्द्र देवता और प्रजापति देवता इन आतिवाहिक पुरुषों द्वारा अपने-अपने लोककी सीमा तक पहुँचा दिया जाता है। पूर्वमें कहे गए अमानव नामक वैद्युत पुरुषके द्वारा मुक्तात्मा वरुण आदिके समीप पहुँचाया जाता है। प्राकृत और अप्राकृत लोककी सीमामें स्थित विरजामें पहुँचनेपर इन्द्रियादिसे घटित सूक्ष्म शरीर भी निवृत्त हो जाता है। इसके बाद मुक्तपुरुष पूर्वोक्त वैद्युतसंज्ञक अमानवके द्वारा परब्रह्मके समीप पहुँचाया जाता है। इस प्रकार इस लोकसे अर्चिरादि मार्गद्वारा जाने वाले ही मोक्ष प्राप्त करते हैं, यह मार्ग छान्दोग्य(४.१५.५), बृहदारण्यक(५.१०.१) इत्यादिमें वर्णित है। अर्चिरादिको ही उत्तरायणमार्ग, देवयान, देवपथ और ब्रह्मपथ भी कहा जाता है। इसे विशेषरूपसे समझनेके लिए रहस्य ग्रन्थोंका अनुसन्धान करना चाहिए।

रात्रि और दक्षिणायनमें मरनेवालेको भी मोक्षप्राप्ति– ब्रह्मवेत्ता पुरुष प्रारब्धकी निवृत्ति होनेपर दिनमें मरे या रातमें मरे। वह अर्चिरादिसे ही ब्रह्मलोक जाकर ब्रह्मको प्राप्त करता है। रात्रिमें भी सूर्यकी किरणोंका सम्बन्ध रहता ही है, इसीकारण रात्रिमें भी ऊष्माकी उपलब्धि होती है। शीतकालमें शीततासे अभिभूत होनेके कारण दुर्दिनकी तरह रात्रिमें भी ऊष्माकी उपलब्धि नहीं होती है। इस प्रकार रात्रिमें भी अर्चिरादि मार्ग प्राप्त होता है। यह विषय **रश्म्यनुसारी**(ब्र.सू.४.२.१७) तथा **निशि नेति चेन्न सम्बन्धस्य**(ब्र.सू. ४.२.१८) इन सूत्रोंमें कहा गया है। इसी प्रकार ब्रह्मज्ञ पुरुष दक्षिणायनमें मरने पर भी ब्रह्मको प्राप्त करता है। **अथ यो दक्षिणे**(तै.ना.उ.१५०) यह श्रुति दक्षिणायनमें मरनेवाले ब्रह्मज्ञानीका चन्द्रलोकमें विश्राममात्रका प्रतिपादन करती है, इसके अनन्तर उसे ब्रह्मप्राप्ति होती है। 'पिताकी सेवाके द्वारा प्राप्त आशीर्वादसे इच्छामृत्युकी प्राप्ति होती है।' इस बातको लोकोपकारार्थ संसारमें दिखानेके लिए, युधिष्ठिरको निमित्त बनाकर धर्मके सभी रहस्योंके उपदेशसे लोकोपकार करनेके लिए तथा उत्तरायणमें मरणकी प्रशंसाके बोधक शास्त्रोंमें विश्वास करानेके लिए भीष्मपितामहने उत्तरायणकी प्रतीक्षा की थी। वे पूर्वमें वसु देवता थे, उन्होंने उत्तरायणकालमें देहत्यागके पश्चात् वसुदेवतापदको प्राप्त करके ब्रह्मको प्राप्त किया। दक्षिणायन को पितृयान, पितृपथ तथा धूमयान भी कहा जाता है।

शंका– पूर्वमें कैवल्य तथा उत्क्रान्तिके प्रसङ्गमें जो कहा गया है कि इस लोक से अर्चिरादि मार्गद्वारा जानेवालेकी मुक्ति होती है, वह अनुचित है क्योंकि ज्ञानीके उत्क्रमणका श्रुति निषेध करती है। ज्ञानीके शरीरसे प्राणोंका उत्क्रमण नहीं होता है– **न तस्य प्राणाः उत्क्रामन्ति**।(बृ.उ.४.४.६), प्राणादिसे युक्त सूक्ष्मशरीरके उत्क्रमणसे

आत्माका उत्क्रमण कहा जाता है, ज्ञानीकी आत्माके सूक्ष्मशरीरके उत्क्रमणका निषेध होनेसे आत्माके भी उत्क्रमणका निषेध हो जाता है।

समाधान– यह शंका निराधार है। **न तस्य प्राणाः उत्क्रामन्ति**। इस श्रुतिमें तस्य इस सर्वनाम पदसे **योऽकामो निष्काम आत्मकामः**(बृ.उ. ४.४.६) इस प्रकार पूर्वमें कहे गए आत्मज्ञानीका ही ग्रहण होता है, शरीरका नहीं। **नटस्य शृणोति**–नटसे सुनता है। इस प्रयोगकी तरह **तस्य** यहाँ पर अपादानत्वरूप सम्बन्धमें षष्ठी विभक्ति हुई है, इससे यहाँ प्राणोंके सम्बन्धीरूपसे आत्मा निर्दिष्ट है, शरीर निर्दिष्ट नहीं है। अतः उक्त श्रुतिका यह अर्थ है कि आत्मासे प्राण उत्क्रमण नहीं करते हैं अर्थात् आत्मासे प्राणोंका वियोग नहीं होता है। वे आत्माके साथ अर्चिरादिमार्गसे जानेके लिए आत्मामें स्थित हो जाते हैं, इसलिए माध्यन्दिन शाखाके इसी प्रकरणमें **न तस्मात् प्राणाः उत्क्रामन्ति**।(बृ.उ.मा.पा.४.४.६) इस प्रकार स्पष्टरूपसे पञ्चमी विभक्ति सुनी जाती है। देहावसानकालमें ज्ञानीके देहका वियोग प्राप्त होता है। उस कालमें प्राणके वियोगका निषेध किया जाता है। प्राणादिसे युक्त सूक्ष्मशरीर गतिके लिए रहता है। कामनाओंकी निवृत्ति हो जानेपर मनुष्य पूर्वोत्तर पापोंके अश्लेष एवं विनाशरूप अमृतत्वको प्राप्त करता है तथा जीवनकालमें ही ब्रह्मानुभव करता है- **अथ मर्त्योऽमृतो भवत्यत्र ब्रह्म समश्नुते**।(क.उ.२.३.१४)। याज्ञवल्क्यने उत्तर दिया कि आत्मासे प्राण उत्क्रमण नहीं करते हैं। वे उत्क्रमणके लिए आत्मामें ही संयुक्त होकर रहते हैं- **नेति होवाच याज्ञवल्क्यः अत्रैव समवनीयन्ते**।(बृ.उ.३.२.११) इस प्रकार कोई भी श्रुति ज्ञानीके उत्क्रमणका निषेध नहीं करती है। उत्क्रान्तिकी प्रतिपादक श्रुतियाँ विद्यमान हैं, इसलिए ज्ञानीकी उत्क्रान्ति और अर्चिरादिसे त्रिपादविभूतिमें जानेपर मुक्ति श्रुतिसिद्ध है।

अर्चिरादि मार्गसे उपासकोंकी गति होती है। 'तत्त्वमसि' इस वाक्यजन्य अपरोक्षज्ञान वालोंको निर्गुण ब्रह्मकी प्राप्ति होती है, इनका कहीं जाना नहीं होता है, यह कथन निःसार है क्योंकि सगुण-निर्गुणभेद श्रुतिसिद्ध नहीं है, अतः सर्वत्र सगुणब्रह्म ही उपास्य कहा गया है और उसे ही प्राप्य कहा गया है। निर्गुणप्रतिपादक वाक्य ब्रह्मके प्राकृत गुणोंके अभावका प्रतिपादन करते हैं तथा सगुणप्रतिपादकवाक्य उनके अलौकिकगुणोंका प्रतिपादन करते हैं, इसलिए सर्वथा निर्गुण(गुणरहित) ब्रह्मका प्रतिपादक कोई वाक्य नहीं है। साधक प्रवृत्तिधर्मका आचरण करके देवताओंकी समता प्राप्त करता है। निवृत्तिधर्मका आचरण करनेवाला साधक पञ्चभूतोंका अतिक्रमण करता है- **प्रवृत्तं कर्म संसेव्य देवानामेति साम्यताम्। निवृत्तं सेवमानस्तु भूतान्यत्येति पञ्च वै**।।(म.स्मृ.१२.९०) यहाँ 'पञ्च' और 'भूतानि' पद सभी प्राकृततत्त्वोंके उपलक्षक हैं। निवृत्ति-धर्म(उपासनात्मक भक्तियोग) का आचरण करनेवाला मुमुक्षु साधक अर्चिरादिके द्वारा प्रकृतिमण्डलका अतिक्रमणकर ऊपर भगवद्धाम चला जाता है। यह मनुवचन सभी प्राकृत तत्त्वोंके अतिक्रमणका 'बोधक है, उपनिषद्विरुद्ध अर्थका बोधक नहीं है। ब्रह्मविद्यानिष्ठ मुमुक्षु प्रकृतिमण्डलका अतिक्रमण करके मोक्षप्राप्त करता है। इस लोकसे अर्चिरादिके द्वारा जाकर प्राप्त होनेवाली मुक्ति **सद्योमुक्ति** कही जाती है।

इस शरीरसे निकलकर जीवात्माके साथ जानेवाला सूक्ष्मशरीर उसके स्वरूपाविर्भावका प्रतिबन्धक होता है। अतः शरीर रहते समय जीवात्माको होनेवाला ब्रह्मसाक्षात्कार प्रातःकालिक सूर्यके समान है तथा अर्चिरादिसे परमपद जाकर होनेवाला ब्रह्मसाक्षात्कार मध्याह्नकालिक सूर्यके समान है।

स्वाभाविक रूपका आविर्भाव- साधकका चरम शरीर छूटने पर उसके सभी कर्मरूप प्रतिबन्धक निवृत्त हो जाते हैं। अमानवके हाथके स्पर्शसे प्रकृतिसम्बन्धरूप प्रतिबन्धक निवृत्त हो जाता है, जिससे आत्माके स्वाभाविक अपहतपाप्मत्वादि धर्म तिरोहित हो गये थे। वह जीवके कर्ममूलक श्रीभगवान्का संकल्परूप प्रतिबन्धक उनकी सन्निधिमें जानेपर निवृत्त हो जाता है। इस प्रकार सम्पूर्ण प्रतिबन्धक निवृत्त होनेपर ही स्वाभाविक रूपका आविर्भाव होता है, यही मोक्ष है। मोक्ष प्राप्त होनेपर जीव परब्रह्मके समान आविर्भूत हुए अपहतपाप्मत्व और सत्यसंकल्पत्व आदि अष्टगुणोंसे सम्पन्न होता है। यही प्रत्यगात्माका स्वाभाविक रूप है। यह जीवात्मा कर्मकृत शरीरसे निकलकर अर्चिरादिसे जाकर परमात्माको प्राप्तकर अपने ब्राह्मरूपसे आविर्भूत होता है- **एष संप्रसादोऽस्माच्छरीरात् समुत्थाय परं ज्योतिरुपसंपद्य स्वेन रूपेणाभिनिष्पद्यते**(छां.उ.८.१२.२)। इसके पश्चात् सुख-दुख भोगनेके लिए संसार में पुनरावृत्ति नहीं होती है। भले ही भगवद्-इच्छासे उनके समान अवतार लेनेके लिए मुक्तात्मा जगत्में आये।

सर्वज्ञता- ज्ञानके संकोचके हेतु कर्मका सर्वथा अभाव होनेसे मुक्तका धर्मभूतज्ञान सर्वदा विभु ही रहता है। वह इन्द्रियनिरपेक्ष होकर सबका प्रकाश करता है, इसलिए मुक्त आत्मा सर्वज्ञ होती है। वह चेतन तथा अचेतनरूप सर्वप्रकारवाले ब्रह्मका सर्वदा अनुभव करता है। इन्द्रियसापेक्ष ज्ञानवाला संसारी प्राणी किसी विशेषणवाले द्रव्यगुणादिरूप किसी विशेष्यका अनुभव करता है, परब्रह्मका अनुभव नहीं करता है क्योंकि वह इन्द्रियका विषय नहीं है किन्तु इन्द्रियनिरपेक्ष ज्ञानवाला मुक्त सभी विशेषणोंवाले परब्रह्मका अनुभव करता है- **सर्वं ह पश्यः पश्यति**(छां.उ.७.२६.२) सभी विशेषणोंवाले परब्रह्मके अनुभवका अर्थ है कि ब्रह्मात्मक सभीका अनुभव करना

और सर्वात्मा(सर्वशरीरक) रूपसे ब्रह्मका अनुभव करना। अज्ञानी जीवके ज्ञानके विषय घटपटादि विविध विशेष्य होते हैं किन्तु मुक्तके ज्ञानका विषय एक ब्रह्म ही मुख्य विशेष्य होता है। मुक्तके ज्ञानमें चक्षु आदि करण नहीं होते हैं और प्रपञ्चकी प्रधानता नहीं होती है। वह प्रतिकूल दुःखके हेतु कर्मसे सर्वथा रहित होता है, इसलिए उसे कभी भी दुःखानुभव नहीं होता।

मुक्त परब्रह्मके स्वरूप, श्रीविग्रह, गुण, विभूति, लीला आदिका साक्षात्कार करता रहता है। मुक्तको होनेवाला अनुभव परिपूर्ण होता है, उसमें कुछ भी न्यूनता नहीं होती है। इस अनुभवका नाश कभी नहीं होता है। श्रीभगवान् सुखरूप हैं, इसलिए उनको विषय करनेवाला अनुभव भी सुखरूप होता है। यह सब ब्रह्मात्मक है- **सर्वं खल्विदं ब्रह्म**।(छां.उ.३.१४.१), इन्द्रियाँ, मन, बुद्धि, सत्त्व, तेज, बल, धृति, प्रकृति और जीव ये सभी ब्रह्मात्मक हैं- **इन्द्रियाणि मनो बुद्धिः सत्त्वं तेजो बलं धृतिः। वासुदेवात्मकान्याहुः क्षेत्रं क्षेत्रज्ञ एव च**(वि.स.ना.१३६)। संसार दशामें कर्मसे ज्ञानका संकोच होनेके कारण ब्रह्मात्मक जगत्का अनुभव नहीं होता है, इसलिए दुःखका अनुभव होता है। मुक्तिदशामें तो कर्मोंकी पूर्णतः निवृत्ति होनेसे ब्रह्मात्मक जगत्का अनुभव होता है, इस कारण मुक्तको दुःखके लेशकी भी प्रसक्ति नहीं है। उसे भगवद्विभूतिरूपसे नरक भी अनुकूल प्रतीत होता है। ब्रह्मात्मक जगत् दुःखरूप नहीं हो सकता है, प्रतिकूलताकी प्रतीति तो कर्मरूप उपाधिके कारण है। **सर्वं दुःखम्** यह बौद्धमत है, वैदिक मत नहीं है। **दुःखमेव सर्वं विवेकिनः**(यो.सू.२.१५) इस प्रकार योगसूत्रमें जगत्की दुःखरूपता संसारसे वैराग्य बढ़ानेके लिए कही गयी है। परमात्मतत्त्वका साक्षात्कार होनेपर ग्राह्य और त्याज्य ऐसा विभाग होता ही नहीं है।

जगत्की सुख-दुःख और मोहरूपता संसारी जीवकी दृष्टिसे हैं, मुक्तकी दृष्टिसे नहीं है।

परमात्माके साथ परम समता- जगत्की सृष्टि, रक्षा और प्रलय करना, मोक्ष प्रदान करना, मुमुक्षुओंका उपास्य होना तथा शेषी होकर रहना इत्यादि परमात्माके असाधारण धर्म हैं। मुक्त होनेपर भी ये जीवको प्राप्त नहीं होते है। त्रिपादविभूतिमें पहुँचकर सायुज्यमोक्षको प्राप्त करने वाला मुक्त पुरुष स्वरूपाविर्भावको प्राप्तकरके ज्ञान, आनन्द और सत्यसंकल्पत्वादि धर्मोंसे परमात्माके साथ परम समताको प्राप्त होता है, यही सायुज्य मुक्ति है। जीवात्मा मुक्तिमें ईश्वरके समान गुण वाला होता है, इसलिए सयुक् कहलाता है- ईश्वरके समान गुण वाला होना ही सायुज्य है- 'युज्यत इति युक्, युक्छब्दो गुणपरः धर्मिणि हि गुणः सम्बध्यते। समानगुणकः सयुक् तस्य भावः सायुज्यम्' इति। **निरञ्जनः परमं साम्यमुपैति**।(मु.उ.३.१.३), **मम साधर्म्यम् आगताः**।(गी.१४.२) इत्यादि वाक्य इसी अर्थका प्रतिपादन करते हैं।

भगवत्सेवा- मुक्त पुरुष गुण और विभूतिसे विशिष्ट श्रीभगवान्का अत्यन्त अनुकूलत्वेन अनुभव करता है। इस आनन्दानुभवसे मुक्तकी श्रीभगवान्में अत्यन्त प्रीति बढ़ती है। इससे प्रेरित होकर वह श्रीभगवान्की सर्वविध सेवा करता है।

शरीरधारण- कुछ मुक्त आत्माएं शरीरसे युक्त होती हैं, कुछ शरीरसे रहित होती हैं। इसका प्रतिपादन करनेवाला **द्वादशाहवदुभयविधं बादरायणोऽतः**(ब्र.सू.४.४.१२) यह ब्रह्मसूत्र है। मुक्त पुरुष भगवत्सेवाके लिए शरीर धारण करते हैं। मुक्त पुरुष कभी एक शरीर धारण करता है, कभी तीन और कभी पाँच शरीर धारण करता है-**स एकधा भवति, त्रिधा भवति, पञ्चधा**।(छां.उ.७.२६.२)

इस प्राकृत जगत्‌में जैसे श्रीभगवान् अवतार लेते है, वैसे ही उनकी इच्छासे मुक्त भी अवतार लेते हैं। श्रीभगवान् के अवतारोंमें जिस प्रकार अज्ञान और दुःख आदि दोष नहीं होते हैं, उसी प्रकार मुक्तोंके अवतारोंमें भी दोष नहीं होते हैं। ईश्वरसेवा सुखका ही हेतु है। देहसे भिन्न अपनी आत्मा ज्ञानान्दस्वरूप एवं निर्मल है- **आत्मा ज्ञानानन्दमयोऽमलः**।(वि.पु.६.७.२२) परमात्मा सभीके स्वामी हैं- **पतिं विश्वस्य**(तै.ना.उ.६२) इससे सिद्ध होता है कि ज्ञानानन्दरूप आत्मा श्रीभगवान्‌का शेष है, दास है। इस प्रकार मुमुक्षु पुरुष शास्त्रोंसे जानता है कि मैं स्वतन्त्र नहीं हूँ, श्रीभगवान् के अधीन हूँ। मैं अपने लिए नहीं हूँ, ईश्वरके लिए ही हूँ। इस प्रकार जो साधक स्वातन्त्र्याभिमानको छोड़कर स्वयंको श्रीभगवान्‌का दास समझता है, उसके लिए यह सेवा स्वस्वरूपानुभवरूप होनेसे अनुकूल ही होती है। जिस प्रकार अपने शरीरको आत्मा समझना विपरीत ज्ञान है, उसी प्रकार अपनेको स्वतन्त्र आत्मा समझना भी विपरीत ज्ञान है। विपरीत ज्ञान तो विरोधी कर्मके कारण होता है। कर्मबन्धनसे रहित होनेपर मुक्त पुरुष श्रीभगवानकी इच्छानुसार शरीर धारण करता है। ये अकर्मकृत शरीर सुख-दुःखके हेतु नहीं होते हैं। सुख-दुःखके हेतु तो कर्मकृतशरीर ही होते हैं।

अकर्मवश्यत्व- ब्रह्मज्ञ मुक्त पुरुष कर्मके अधीन नहीं होता है। उसका भगवद्विभूतिरूप सभी लोकोंमें इच्छानुसार संचरण होता है- **स स्वराड् भवति, तस्य सर्वेषु लोकेषु कामचारो भवति**।(छां.उ.७.२५.२)। मुक्तकी इच्छा भगवद्-इच्छाके अधीन ही होती है। मुक्तात्मा यदि अपने पूर्वजन्मोंके अनेक पितरोंका दर्शन करना चाहे, तो संकल्पसे ही वे उपस्थित हो जाते हैं- **स यदि पितृलोककामो भवति, संकल्पादेवास्य पितरः समुत्तिष्ठन्ति**।(छां.उ.८.२.१)

अर्चिरादिसे जानेवाले साधक इस संसार चक्रमें नहीं आते हैं- **एतेन प्रतिपद्यमाना इमं मानवम् आवर्तम् नावर्तन्ते नावर्तन्ते**(छां. उ.४.१५.६), मुक्तात्माका संसारचक्रमें पुनः प्रवेश नहीं होता है- **न च पुनरावर्तते, न च पुनरावर्तते**।(छां.उ.८.१५.१), **अनावृत्तिः शब्दाद् अनावृत्तिः शब्दात्**(ब्र.सू.४.४.२२)।

शंका- भगवद्धाम जानेवाला मुक्तात्मा इस संसारमें नहीं आता है, यह कथन असिद्ध है क्योंकि जय, विजयका भगवद्धामसे संसारमें आना प्रसिद्ध है।

समाधान- यह शंका अनुपपन्न है क्योंकि प्राकृत और अप्राकृत भेदसे भगवद्धाम दो प्रकारका होता है। अर्चिरादिसे अप्राकृत त्रिपादविभूति में गया हुआ साधक कर्मफल भोगनेके लिए संसारमें नहीं आता है। हिरण्यगर्भके स्थानसे ऊपर प्राकृत सत्यलोकमें भी भगवद्धाम है। जो अभी इस लोक से अर्चिरादिके द्वारा जाकर सद्योमुक्तिके अधिकारी नहीं हुए हैं। मरने के बाद उनमेंसे कुछ पृथ्वीलोकमें आकर जन्मान्तरमें साधना करते हैं। कुछ प्राकृत भगवद्धाममें जाते हैं। यहाँ भी श्रीभगवान् का सान्निध्य प्राप्त होता है। जिनकी उपासना यहाँ पूर्णताको प्राप्त होती है, वे यहाँ से अप्राकृत त्रिपादविभूति चले जाते हैं। ऊर्ध्वलोकस्थ उपासकोंको अर्चिरादिके क्रमसे अप्राकृत भगवद्धाम जानेका नियम नहीं है। जय, विजय प्राकृत धामके द्वारपाल थे, अप्राकृत धामके नहीं। वहाँ किसीके प्रवेशको रोकना तथा शाप आदि सम्भव नहीं हैं। श्रीमद्भागवत्(५.२०.४० तथा १०.८९.५२) में लोकालोक पर्वतके पार प्रकृति मण्डलके अन्तर्गत ही एक स्वयंप्रकाश भगवद्धामका वर्णन है। यहींसे भगवान् श्रीकृष्णने ब्राह्मण बालकोंको लाकर उनके पिताको अर्पित किया। ब्रह्मविद्याकी निष्पत्ति न होने पर यहाँ से जीवात्मा इस संसारमें आती है। प्राकृत भगवद्धाम में ब्रह्मविद्या की

निष्पत्ति होने पर जीवात्मा वहाँ से भी अप्राकृतधामको जाती है। इसके पश्चात् मुक्तात्मा इस संसार चक्रमें कभी भी नहीं आती है।

क्रममुक्ति– शांकरदर्शनमें सगुण ब्रह्मकी प्राप्तिके पश्चात् निर्गुणब्रह्मकी प्राप्तिको क्रममुक्ति कहा जाता है, वह उचित नहीं है क्योंकि वैसा स्वीकार करनेमें कोई प्रमाण नहीं है। गुणविशिष्ट दहरोपासना सगुणोपासना है। इसके द्वारा परज्योतिकी प्राप्ति श्रुतियोंमें कही गयी है तथा परज्योतिको प्राप्त किए हुए मुक्तका वर्णन किया गया है। परज्योतिकी प्राप्तिसे भिन्न मोक्ष नहीं है। पूर्वमें सगुणोपासनासे चित्तशुद्धि होनेपर निर्गुण-ब्रह्मविद्याकी उत्पत्तिसे होनेवाली मुक्ति क्रममुक्ति कही जाती है, यह कथन भी उचित नहीं है क्योंकि सगुणोपासना निर्गुणविद्याकी वासनासे विपरीत वासनाको उत्पन्न करती है। इस कारण वह निर्गणविद्याकी उत्पत्तिकी विरोधी है, इसलिए सगुणोपासनाके पश्चात् निर्गुणविद्या हो ही नहीं सकती है। अतः इससे मुक्तिकी कल्पना करना व्यर्थ है। यदि कहना चाहें कि सगुणोपासना अदृष्टद्वारा निर्गुणविद्याको उत्पन्न करती हैं, तो यह भी अनुचित है क्योंकि आनन्दादि गुणोंकी सभी विद्याओंमें अनुवृत्ति होनेसे कोई भी विद्या निर्गुणविद्या नहीं हो सकती है। अब विशिष्टाद्वैत वेदान्तसिद्धान्तके अनुसार क्रममुक्तिका वर्णन किया जाता है–

(१)प्राणविद्यानिष्ठ[१] साधकको आत्मस्वरूपकी अनुभूतिके पश्चात् भगवदुपासनासे प्राप्त होनेवाली मुक्ति क्रममुक्ति कही जाती है। (२)मधुविद्यानिष्ठ साधकको कुछ काल वसुपदकी प्राप्तिके पश्चात् होनेवाली भगवत्प्राप्तिरूप मुक्ति भी क्रममुक्ति कही जाती है।

टिप्पणी१– यहाँ भूमाविद्याके अन्तर्गत कही गयी प्राणविद्याको ग्रहण करना चाहिए।

(३)प्राकृत-भगवद्धामसे अप्राकृतभगवद्धाम(त्रिपादविभूति)में जानेवाले की मुक्ति भी क्रममुक्ति कही जाती है।

(४)महाभारत शान्तिपर्व(१९९.१२२-१२४) में वर्णित ब्रह्मकायनिषेवण के पश्चात् प्राप्त होनेवाली मुक्ति क्रममुक्ति है। जापक मुमुक्षु ब्रह्मलोक जाकर ब्रह्मकायनिषेवण करते हैं अर्थात् ब्रह्माजीके शरीरमें प्रविष्ट होकर उनके समान उस शरीरसे प्राप्त होने वाले सुखोंको भोगते हैं और उससे विरक्त होनेपर मोक्ष प्राप्त करते हैं। ब्रह्मकायनिषेवण सबके लिए नहीं है किन्तु जो मुमुक्षु ब्रह्मकायनिषेवणको प्राप्त करके मोक्ष प्राप्त करना चाहते हैं, उनके लिए ही ब्रह्मकायनिषेवण है। जिस प्रकार वसु आदि देवपदकी प्राप्तिपूर्वक मोक्ष सब मुमुक्षुओंके लिए नहीं है, किन्तु वसु आदि पदोंको प्राप्तकरके परब्रह्मको प्राप्तकरने के इच्छुक मधुविद्यानिष्ठ मुमुक्षुओं के लिए है।

(५)पुण्डरीकके शरीरसे प्राणवायुके साथ निकली ज्योति भगवान्के चरणोंमें लीन हो गयी- **पुण्डरीकस्य देहात्तु तेन तत्प्राणवायुना, समं ज्योतिः सुनिर्गत्य गोविन्दपदमाविशत्**(प.पु.उ.ख.२१६.४८)। श्रीचरणों में लीन होनेके पश्चात् त्रिपादविभूतिमें जाना भी क्रममुक्ति है।

(६)वाल्मिकीयरामायण(७.११०.१६)में भगवान् श्रीमद्रामचन्द्रके साथ अयोध्यावासियोंका संतानकलोक जानेका वर्णन है, संतानक लोक त्रिपादविभूति(साकेत) का ही स्थानविशेष है- **साकेते विद्यमानेषु संतानेषु लोकविशेषेषु**(रा.टी.), वहीं पर सुग्रीवादि वानरोंका सूर्यादि देवताओंमें प्रविष्ट होनेका वर्णन किया गया है। देवादिरूपमें प्रविष्ट होनेके पश्चात् सुग्रीव आदिकी मुक्ति क्रममुक्ति है।

नित्य- कर्माख्य अविद्याके अत्यन्ताभाववाला होना अथवा सदा अंसकुचित ज्ञानवाला होना नित्य जीवका लक्षण है-

कर्मात्यन्ताभाववत्त्वं नित्यासंकुचितज्ञानवत्वं वा नित्यस्य लक्षणम्। श्रीभगवान् को अभिमत जो आचरण है, उससे विरुद्ध आचरण कभी भी न करनेके कारण इनके ज्ञानका संकोच कभी भी नहीं होता है, ज्ञानका संकोच होना ही तो बन्धन है। नित्यजीव सदा बन्धनसे रहित रहते हैं। श्रीभगवान्की इच्छा से लोककल्याणार्थ इनके भी अवतार होते हैं। नित्यजीवों को ही नित्यसूरि और नित्य मुक्त भी कहा जाता है। विष्णुका परमस्थान है, सूरिगण उसका सदा दर्शन करते रहते हैं- **तद् विष्णोः परमं पदं सदा पश्यन्ति सूरयः** (तै.सं.१.३.६.२)। जिस स्थानमें साध्यनामक असंकुचित ज्ञानवाले नित्यसूरि सदा रहते हैं- **यत्र पूर्वे साध्याः सन्ति देवाः**।(ऋ.सं.८.४.१६) ये हमेशा मुक्त रहते हैं, इसलिए नित्यमुक्त कहलाते हैं। मुक्तजीव मुक्त होनेके बाद ही परमपद(भगवद्धाम)का दर्शन करते हैं, पहले नहीं करते हैं किन्तु नित्य कभी भी बन्धनमें नहीं आते, इसलिए सदा ही परमपदका दर्शन करते रहते हैं। अनन्त, गरुड, विष्वकसेनादि, श्रीभरत, लक्ष्मण, शत्रुघ्न, हनुमान् आदि तथा श्रीकृष्णके अष्टसखा आदि नित्यसूरि हैं।

विशिष्टाद्वैत वेदान्त का विस्तृत विवेचन

(AN EXTENSIVE STUDY OF VISHISHTADVAITA VEDANTA)
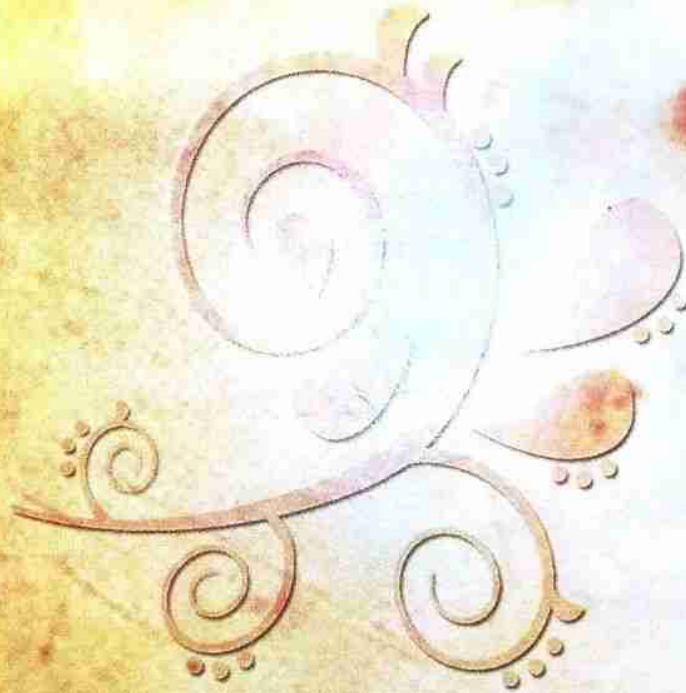
स्वामी त्रिभुवनदास

ब्रह्मविवेचन

प्रत्यक्ष आदि प्रमाणोंसे सिद्ध यह जगत् चेतनाचेतनात्मक है। परब्रह्म परमात्मा ही इसकी उत्पत्ति, स्थिति और लय करते हैं, इसलिए वे जगत्कारण कहे जाते हैं। संसारी चेतनोंको संसारसे छुड़ाकर आनन्दमय मोक्षप्रदान करते हैं, इसलिए वे मोक्षप्रद कहे जाते हैं। श्रीभगवान्‌से व्यतिरिक्त जितने चेतन और अचेतन पदार्थ हैं, वे उन सभीसे अत्यन्त विलक्षण हैं। जगत्‌में जितने अचेतन पदार्थ हैं, उनमें उत्पत्ति आदि षड्-भावविकार[1]रूप दोष रहते हैं तथा इस जगत्‌में जो चेतन जीवात्माएं हैं, उनमें दुःख इत्यादि दोष रहते हैं। ये सभी दोष परमात्मामें रहते ही नहीं हैं। इस प्रकार वे सभीसे अत्यन्त विलक्षण सिद्ध होते हैं। वे अनन्त आनन्दके भण्डार होते हुए अपने आश्रित भक्तोंको अपार आनन्द देनेवाले हैं। अनन्त ज्ञानानन्द ही उनका स्वरूप है। श्रीभगवान्‌के गुण जगत्‌का कल्याण करनेवाले हैं, इसलिए वे गुण कल्याणगुण कहलाते हैं। वे असंख्य तथा पराकाष्ठामें पहुँचे हुए हैं। ऐसे गुणोंके आश्रय होनेसे श्रीभगवान् उपास्य एवं प्राप्य सिद्ध होते हैं। वे ही सम्पूर्ण वेदोंके प्रधान प्रतिपाद्य हैं। उन सर्वाधार परमात्माको परब्रह्म, पुरुषोत्तम, सर्वेश्वर, महापुरुष, विष्णु, वासुदेव, नारायण, राम, कृष्ण आदि शब्दोंसे कहा जाता है।

लक्षण- विभु होते हुए चेतन होना ब्रह्मका लक्षण है- **विभुत्वे सति चेतनत्वं ब्रह्मणो लक्षणम्।** केवल विभुत्व लक्षण करनेपर कालमें

टिप्पणी१- षड् भावविकाराः भवन्तीति वार्ष्यायणिः। जायते, अस्ति, विपरिणमते, वर्धते, अपक्षीयते, विनश्यति।।(नि.१.१.३)

अतिव्याप्ति होती है तथा नित्य, मुक्त और ईश्वर के धर्मभूतज्ञानमें अतिव्याप्ति होती है क्योंकि काल तथा धर्मभूतज्ञान विभु हैं, उसके वारणके लिए लक्षणमें चेतनत्व पदका निवेश किया गया है। काल चेतन नहीं है। चेतनत्वका अर्थ होता है- ज्ञानाश्रयत्व। धर्मभूत ज्ञान किसी ज्ञानका आश्रय नहीं है, इसलिए ज्ञानाश्रयत्वरूप चेतनत्व काल तथा धर्मभूतज्ञानमें न रहनेसे अतिव्याप्ति नहीं होती है। केवल चेतनत्व लक्षण करनेपर जीवमें अतिव्याप्ति होती है क्योंकि जीव भी चेतन है, उसके निवारणके लिए विभुत्व पद दिया गया है। जीव विभु नहीं है, अणु है। विभुत्वका अर्थ है- **स्वभिन्नसर्वद्रव्यसंयोगित्व**। कोई भी वस्तु ऐसी नहीं है, जो सर्वके अन्तर्गत न हो, किसी भी वस्तुका स्वयंके साथ संयोग नहीं होता है। अतः सर्वद्रव्यसंयोगित्वरूप विभुत्व असंभव हो जायेगा। असंभव दोष निवारणके लिए स्वभिन्न पदको जोड़ा गया है। अपनेसे भिन्न सभी पदार्थोंके साथ संयोगवाले काल और ईश्वर हैं। इस प्रकार असंभव दोष निवृत्त हो जाता है। काल विभु होने पर भी चेतन नहीं है। द्रव्य पदको न देने पर पुनः असंभव दोष होता है क्योंकि स्वभिन्न सर्व पदसे द्रव्य और अद्रव्य सभीका ग्रहण होता है तथा अद्रव्यके साथ किसीका भी संयोग नहीं होता है। द्रव्य पदका निवेश करनेपर इस दोषकी प्रसक्ति नहीं होती है। सर्व पदको न देनेसे इस लक्षणकी जीवमें अतिव्याप्ति होती है क्योंकि स्वभिन्नद्रव्य पदसे जीवके शरीरका ग्रहण होता है, उसके साथ संयोगवाला जीव है। सर्व पद देनेसे जीवमें अतिव्याप्ति नहीं होती है क्योंकि अणु जीवका स्वभिन्न सभीके साथ संयोग संभव नहीं है। सभीका शेषी होना ब्रह्मका लक्षण है- **सर्वशेषित्वं ब्रह्मणो लक्षणम्**। केवल शेषित्व लक्षणकी जीवात्मामें अतिव्याप्ति होती है क्योंकि वह भी अपने शरीर आदिका शेषी है। सर्व पद देनेसे उसमें अतिव्याप्ति नहीं होती है क्योंकि जीव सभीका शेषी नहीं है। सबके

शेषी श्रीभगवान् ही हैं, सर्वशेषित्व उनका लक्षण है। सभी कर्मोंके द्वारा सम्यक् आराध्य होना ब्रह्मका लक्षण है- **सर्वकर्मसमाराध्यत्वं ब्रह्मणो लक्षणम्**। शास्त्रविहित सभी कर्मोंके करनेसे भगवान् प्रसन्न होते हैं। सर्वकर्मजन्यप्रीत्याश्रयत्व ही सर्वकर्मसमाराध्यत्व है। सभी कर्मोंका फल प्रदान करना ब्रह्मका लक्षण है- **सर्वकर्मफलप्रदत्वं ब्रह्मणो लक्षणम्।** सर्वकर्मफलप्रदत्वका अर्थ है- सकलफलजनक-संकल्पवत्त्व। कर्म तो जड़ है, वह स्वयं फल नहीं दे सकता है, चेतन भगवान् ही सकल कर्मोंका फल देनेवाले हैं। 'अमुक कर्मका फल इसके कर्ताको प्राप्त हो,' इस प्रकार श्रीभगवान्‌का संकल्प करना ही उनका सकलफलप्रदत्व होना है। सबका नियन्ता होना ब्रह्मका लक्षण है- **सर्वेश्वरत्वं ब्रह्मणो लक्षणम्।** सभीके नियन्ता केवल परमात्मा ही हैं। सबका आधार होना ब्रह्मका लक्षण है- **सर्वाधारत्वं ब्रह्मणो लक्षणम्**। यहाँ अपृथक्‌सिद्धिसम्बन्धसे आधारत्व (अधिकरणत्व)विवक्षित है। भगवान् अपृथक्‌सिद्धिसम्बन्धसे सभीके अधिकरण[1] हैं, इसलिए कालिकसम्बन्धसे सभीके अधिकरण कालमें अतिव्याप्ति नहीं होती है। सभी कार्योंका उत्पादक होना ब्रह्मका लक्षण है- **सर्वकार्योत्पादकत्वं ब्रह्मणो लक्षणम्**। अपने धर्मभूत ज्ञानं और अपने स्वरूपको छोड़कर सभी द्रव्यरूप शरीरोंका आत्मा होना ब्रह्मका लक्षण है- **स्वज्ञानस्वेतरसमस्तद्रव्यशरीरकत्वं ब्रह्मणो लक्षणम्।** परमात्मा सबका आत्मा है। वह सभीको शरीर बनाकर उनमें आत्मरूपसे निवास करता है। आत्मशरीरभाव भिन्नपदार्थोंमें ही होता है, इसलिए ब्रह्म स्वयं शरीर नहीं हो सकता है और उसकी आत्मा भी नहीं हो सकता है, अतः लक्षणमें स्वेतर पद दिया गया है। परमात्मा एक है, उसका धर्मभूतज्ञान भी एक है। परमात्मा

टिप्पणी१- अपृथक्‌सिद्धिसंबन्धावच्छिन्नस्वेतरसर्वनिरूपितम् अधिकरणत्वम् ।(न्या. सि.ई.र.)

धर्मभूतज्ञानके द्वारा जिस पर नियमन करता है, वह उसका शरीर होता है। यदि उसके दो धर्मभूतज्ञान होते तो एकके द्वारा दूसरेपर नियमन करता। ऐसा होनेपर धर्मभूत ज्ञान उसका शरीर होता किन्तु ऐसा नहीं है, अतः धर्मभूत ज्ञान उसका शरीर नहीं है, इसलिए लक्षणमें अपने धर्मभूतज्ञानको छोड़कर कहा है। स्वतः सत्यसंकल्प वाला होना ब्रह्मका लक्षण है- **स्वतः सत्यसंकल्पत्वम्।** मुक्त और नित्यजीव भी सत्यसंकल्पवाले होते हैं किन्तु उनका सत्यसंकल्पत्व स्वतः नहीं होता है। ईश्वरेच्छाके अधीन होता है। समस्त शब्दोंका वाच्य होना ब्रह्मका लक्षण है- **सर्वशब्दवाच्यत्वं ब्रह्मणः लक्षणम्।** इसी प्रकार मुमुक्षूपास्यत्व तथा मुक्तप्राप्यत्व आदि भी ब्रह्म के लक्षण हैं।

सविशेष ब्रह्म- श्रुतिप्रतिपाद्य ब्रह्म सविशेष ही है, निर्विशेष ब्रह्मकी किसी भी प्रमाणसे सिद्धि नहीं होती है। श्रुतियोंके प्रतिपाद्य अर्थका निर्णय करनेके लिए महर्षि वेदव्यासने ब्रह्मसूत्रकी रचना की। उसमें **अथातो ब्रह्मजिज्ञासा**(ब्र.सू.१.१.१) इस प्रथम सूत्रसे ब्रह्मको जिज्ञास्य कहा है। फिर **जन्माद्यस्य यतः**(ब्र.सू.१.१.२) इस प्रकार 'जगज्जन्मादिकारणत्व' जिज्ञास्य ब्रह्मका लक्षण कहा है, इससे जिज्ञास्य ब्रह्म सविशेष ही सिद्ध होता है। यदि निर्विशेषाद्वैती कहना चाहें कि हम अजातवाद को मानते हैं। इस मतके अनुसार जगत्का जन्म(सृष्टि) होता ही नहीं है अतः जगज्जन्मादिकारणत्व धर्मको लेकर ब्रह्मको सविशेष कहना उचित नहीं है। मन्द अधिकारीके लिए ही श्रुतिसूत्रोंमें सृष्टि(जातवाद) का प्रतिपादन किया गया है, तो यह कथन भी उचित नहीं है क्योंकि 'मन्द अधिकारीके लिए श्रुतिसूत्रोंमें जातवादका प्रतिपादन किया गया है' उनके इस वाक्यसे यह अर्थतः सिद्ध हो जाता है कि अजातवादका श्रुतिसूत्रोंमें प्रतिपादन नहीं है। यदि कहें कि श्रुतिसूत्र जातवादको उपाय तथा अजातवादको उपेय कहते हैं, अतः अजातवाद भी श्रुतिसूत्रप्रतिपादित है। यह कथन भी

निराधार है क्योंकि जिन १०उपनिषदों तथा ब्रह्मसूत्रको प्रमाण मानकर आचार्य शंकरने भाष्यरचना की है, उन श्रुतिसूत्रोंमें कहीं भी यह नहीं कहा है कि जातवाद उपाय है और अजातवाद उपेय है। यह कथन तब संभव होता जब श्रुति-सूत्रोंमें अजातवाद वर्णित होता किन्तु श्रुति-सूत्रोंमें कहीं भी अजातवादका वर्णन नहीं है। अतः जिज्ञास्य ब्रह्मका जगज्जन्मादिकारणत्व लक्षण होनेसे वह सविशेष ही सिद्ध होता है।

परमात्मा स्थूल नहीं है, अणु नहीं है, ह्रस्व नहीं है, दीर्घ नहीं है- **अस्थूलमनण्वह्रस्वमदीर्घम्**(बृ.उ.३.८.७)। केवल यही एक श्रुति ऐसी है, जिसमें सभी पद निषेधात्मक हैं, एक भी पद विधेयात्मक नहीं है किन्तु इसी मन्त्रमें कहे गये ब्रह्मको लक्ष्य करके अग्रिम मन्त्र इस प्रकार है- हे गार्गि! इस अक्षर ब्रह्मके शासनमें सूर्य और चन्द्रमा अपना कार्य करते हुए स्थित रहते हैं- **एतस्य वाऽक्षरस्य प्रशासने गार्गि सूर्याचन्द्रमसौ विधृतौ तिष्ठतः**।(बृ.उ.३.८.८)। इस मन्त्रमें अक्षर ब्रह्मको प्रशासकत्व गुणसे युक्त कहा गया है और 'एतस्य' इस सर्वनाम पदसे पूर्व मन्त्रमें कहे ब्रह्मका परामर्श करके उसे प्रशासनकर्तृत्व विशेषणसे युक्त कहा है, अतः मन्त्र निषेधात्मक पदोंके द्वारा भी अस्थूलत्वादिगुणोंसे युक्त सविशेष ब्रह्मका ही प्रतिपादन करता हैं। जिसमें एक भी पद विधेयात्मक नहीं है, ऐसी उक्त श्रुति भी जब सविशेषब्रह्मका ही प्रतिपादन करती है, तब जिन श्रुतियोंमें अनेक विधेयात्मक पद हैं तथा जिनमें विधेयात्मक पद ही हैं, एक भी पद निषेधात्मक नहीं है। उन श्रुतियोंसे सविशेषब्रह्मका ही प्रतिपादन हो, इस विषयमें कहना ही क्या है? 'बहूनाम् अनुपरोधो न्यायः' अर्थात् बहुतोंका उपरोध(बाध) न हो यह न्याय है, इस न्यायकी रक्षाके लिए तथा तात्पर्यनिर्णायक 'अभ्यास' लिङ्गकी सार्थकताके लिए भी यही मानना उचित है कि बहुत

श्रुतियोंसे प्रतिपादित होनेके कारण श्रुतियोंका तात्पर्य सविशेषब्रह्ममें ही है। यदि कहा जाय कि जिस प्रकार बहुसंख्यक सैनिकोंका महत्त्व नहीं होता है किन्तु अल्प(एक) संख्यक राजाका महत्व होता है, उसी प्रकार बहुसंख्यक सविशेषप्रतिपादक श्रुतियोंका महत्त्व नहीं है किन्तु अल्पसंख्यक निर्विशेषप्रतिपादक श्रुतियोंका महत्त्व है, ऐसा कहना तब सार्थक हो सकता है, जब निर्विशेषप्रतिपादक कोई श्रुति सिद्ध हो तथा वह सविशेषप्रतिपादक श्रुति से प्रबल हो किन्तु ऐसा संभव ही नहीं है। इसलिए यह कथन व्यर्थ है।

इस प्रकार जब सभी श्रुतियाँ सविशेष ब्रह्म का ही प्रतिपादन करती हैं, तब इनके आधार पर रचित ब्रह्मसूत्रमें जिज्ञास्य ब्रह्म सविशेष ही सिद्ध होता है। **जन्माद्यस्य यतः**(ब्र.सू.१.१.२) यह लक्षणसूत्र तथा इसकी विषयभूत **यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते**(तै. उ.३.१.२) इत्यादि श्रुतियाँ तो स्पष्ट रूपसे उत्पत्तिस्थितिलयहेतुत्व विशेषणसे युक्त जिज्ञास्य ब्रह्मका कथन करती हैं। ब्रह्मसूत्र(१.१.१) तथा (१.१.२) इन दोनों सूत्रों तथा अन्तिम सूत्रका विषय सविशेष ब्रह्म सिद्ध होनेपर 'इनका तात्पर्य निर्विशेष ब्रह्ममें है' ऐसा कहनेवाले श्रीशंकराचार्यके मतको स्वमत ही कहा जा सकता है, श्रुतिसूत्रमत नहीं कहा जा सकता है। उपक्रममें कथित सविशेष ब्रह्ममें ही समन्वयाध्यायके चारों पादोंमें समन्वय किया जाता है। ऐसी स्थितिमें **आनन्दमयोऽभ्यासात्**(ब्र.सू.१.१.१२) सूत्रमें श्रुति अकथित निर्विशेष ब्रह्मका प्रतिपादन किसी भी प्रकार संभव नहीं है। आनन्दमय अधिकरणके पूर्ववर्ती तथा उत्तरवर्ती सभी अधिकरण जब सविशेष ब्रह्ममें ही श्रुतियोंके समन्वयका प्रतिपादन करते हैं, तब मध्यमें एक अधिकरण निर्विशेषका प्रतिपादन करे, यह कभी भी संभव नहीं हो सकता है। उपक्रम सूत्रके अनुकूल ही **अनावृत्तिःशब्दाद् अनावृत्तिःशब्दात्** (ब्र.सू.४.४.२२) यह उपसंहार सूत्र भी अर्चिरादि

मार्गसे गये हुए सविशेष कारण ब्रह्मको प्राप्त आत्माओंकी अपुनरावृत्तिका ही कथन करता है, वह उचित ही है क्योंकि सविशेष कारण ब्रह्म और उसका ऐश्वर्य अविनाशी है। सविशेष कार्य ब्रह्मका ऐश्वर्य विनाशी है। श्रीशंकरभगवत्पादने सूत्रकी व्याख्या पहले सविशेषपरक की, किन्तु बादमें उसका तात्पर्य निर्विशेष ब्रह्ममें कहा। इस विषयमें पूर्वमें कहा जा चुका है कि यह आचार्यका स्वमत ही है, श्रुतिसूत्रमत नहीं है। इससे यह सिद्ध होता है कि सभी श्रुतिसूत्रोंका तात्पर्य सविशेष ब्रह्ममें ही है। अतः तैत्तिरीयमें अन्नमयादि स्थूलपदार्थोंका निषेध करके अरुन्धतीन्याय या शाखाचन्द्रन्यायसे प्रदर्शित तत्त्व भी सविशेष ही है, निर्विशेष नहीं है।

ब्रह्मको निर्विशेष स्वीकार करनेवालोंसे पूँछना चाहिए कि ब्रह्ममें निर्विशेषत्व धर्म रहता है या नहीं। यदि ब्रह्ममें निर्विशेषत्व धर्म रहता है, तो वह धर्म भी एक विशेष है, इसलिए इससे युक्त ब्रह्म सविशेष सिद्ध हो जायेगा। यदि ब्रह्ममें निर्विशेषत्व धर्म नहीं रहता है तो इसके अभाववाली वस्तु सविशेष ही सिद्ध होगी। इस प्रकार दोनों पक्षोंमें ब्रह्म सविशेष ही सिद्ध होता है।

शंका– हमारे द्वारा स्वीकृत निर्विशेषत्व धर्म ब्रह्मका स्वरूप ही है, उससे अतिरिक्त नहीं हैं, अतः निर्विशेषत्वको लेकर ब्रह्म को सविशेष नहीं कहा जा सकता है।

समाधान– यह शंका उचित नहीं है क्योंकि धर्मको धर्मीका स्वरूप स्वीकार करने पर आपकी बौद्धोंसे समता प्राप्त होती है। बौद्ध विद्वान् अनित्यत्व, अनेकत्व आदि धर्मोंको ज्ञानका स्वरूप मानते हैं और आप भी नित्यत्व, एकत्व और निर्विशेषत्वको ज्ञानका स्वरूप मानते हैं। स्वरूपमें विद्यमान तथा स्वरूपसे अतिरिक्त नित्यत्व और एकत्व धर्म ही बौद्धसम्मत विज्ञानसे वेदान्तसम्मत विज्ञानका भेद कराते हैं। इस प्रकार निर्विशेषत्वको ब्रह्मस्वरूपसे अतिरिक्त मानकर

ही बौद्धमतसे वैलक्षण्य कहा जा सकता है अन्यथा आपके द्वारा स्वीकृत निर्विशेषाद्वैत बौद्धमत ही सिद्ध होता है।

शंका- 'ब्रह्म निर्विशेष नहीं है।' इस प्रकार जो सविशेषाद्वैती (विशिष्टाद्वैती) मानते हैं, वह उचित नहीं है क्योंकि निर्विशेष ब्रह्म ज्ञात होता है या नहीं? यदि ज्ञात होता है, तो उसका निषेध नहीं हो सकता है। यदि ज्ञात नहीं होता है, तो उसका सर्वथा निषेध नहीं हो सकता है क्योंकि निषेध प्रतियोगीके ज्ञानकी अपेक्षा करता है। जब निषेधके प्रतियोगी निर्विशेष ब्रह्मका ज्ञान नहीं हुआ है, तो उसका निषेध भी नहीं हो सकता है। निर्विशेष ब्रह्म किसी शब्दका वाच्य नहीं है, अतः उसका किसी शब्दसे अनुवाद करके निषेध करना भी संभव नहीं है।

समाधान- ज्ञात पदार्थ दो प्रकारका होता है- (१) प्रमाका विषय और (२) भ्रान्तिका विषय। इनमें जो प्रमाका विषय होता है, उस पदार्थका निषेध नहीं हो सकता है। यह अर्थ हमको भी मान्य है किन्तु जो पदार्थ भ्रान्तिका विषय होता है, उसका निषेध होता ही है। 'ब्रह्म निर्विशेष है।' इस प्रकार शांकरमतानुयायियोंके उपदेशसे जो ब्रह्म ज्ञात होता है, वह भ्रान्तिका विषय है क्योंकि ब्रह्म निर्विशेष है, यह ज्ञान भ्रान्ति ही है। इस प्रकार भ्रान्तिसे सिद्ध निर्विशेष ब्रह्मका निषेध करनेमें कोई दोष नहीं है। वादी यह मानता है कि शब्द शक्तिवृत्तिसे निर्विशेष ब्रह्मका प्रतिपादन नहीं करता है, वह लक्षणावृत्तिसे प्रतिपादन करता है, तो इस प्रकार वादीके मतानुसार 'ब्रह्म निर्विशेष है' इन शब्दोंके द्वारा लक्षणासे जो ब्रह्म बताया जाता है, सिद्धान्तमें उसीका निषेध किया जाता है। निर्विशेषाद्वैती यदि कहना चाहें कि 'ब्रह्म निर्विशेष है' यह तो केवल व्यवहार(कथन) है। निर्विशेषत्व धर्मके विना ही ब्रह्मको निर्विशेष कहा जाता है, तब तो हम सविशेषाद्वैतवादियोंका अभीष्ट सिद्ध हो जाता है क्योंकि 'ब्रह्म

निर्विशेष है।' इस वाक्य से वस्तुतः किसी विशेषका निषेध नहीं किया जाता है। शंकाकार जो कहता है कि 'ब्रह्म निर्विशेष है।' यह तो केवल कहना मात्र है। इससे ब्रह्ममें अभिलापगोचरत्व (शब्दव्यवहारविषयत्व) धर्म मानना ही पड़ेगा अन्यथा उक्त कथन भी संभव नहीं होगा। किसी धर्मसे विशिष्ट वस्तुमें ही अभिलापगोचरत्व धर्म रहता है, शुद्ध ब्रह्ममें नहीं रहता है। यह कथन भी उचित नहीं है क्योंकि ऐसा माननेपर ब्रह्मको अवाच्य कहना होगा किन्तु ब्रह्मके अवाच्यत्वकी किसी भी प्रकार सिद्धि नहीं होती है। ब्रह्म को चाहे अवाच्यत्व कहें या वाच्य, वह दोनों प्रकारसे वाच्य ही सिद्ध होता है। प्रथम पक्षमें ब्रह्म अवाच्य शब्दसे कहा जाता है तथा द्वितीय पक्षमें वाच्य शब्दसे कहा जाता है। इस प्रकार दोनों ही पक्षोंमें ब्रह्म अवाच्य सिद्ध नहीं होता है। किसी भी प्रमाणसे जगत् मिथ्या सिद्ध नहीं होता है। सभी प्रमाणोंसे जगत् सत्य ही सिद्ध होता है, इसलिए ब्रह्म जगद्रूप विशेषसे युक्त होनेके कारण सविशेष ही सिद्ध होता है। शास्त्रोंमें कहीं कहीं जो ब्रह्मको निर्विशेष कहा गया है, उसका हेयगुण(हेयविशेष) रहित ही अर्थ होता है। सर्वगुणरहित अर्थ नहीं होता है। सर्वविशेषरहित अर्थ स्वीकार करनेपर प्रत्यक्ष आदि प्रमाणोंसे विरोध होता है। जिसप्रकार आदित्य और यूपमें अभेदका बोधक **'आदित्यो यूपः'** यह वाक्य उनके भेदके बोधक प्रत्यक्ष आदि प्रमाणोंसे विरुद्ध होनेके कारण उनकी समानताका बोधक माना जाता है, उसी प्रकार निर्विशेष शब्दका प्रत्यक्ष आदि प्रमाणोंसे अविरुद्ध अर्थ किया जाता है–

'आज नगरमें कुछ भी विशेष नहीं है।' इस कथनका भाव यह नहीं है कि आज नगर सभी विशेषोंसे रहित है क्योंकि घर, जनता और मार्ग आदि तो वहाँ रहते ही हैं। उस नगरमें नूतन समाचारके निषेधमें ही उस कथनका तात्पर्य है। इसी प्रकार शास्त्रोंमें

यदि कहीं ब्रह्मको निर्गुण कहा गया हो तो उसका यह भाव नहीं है कि ब्रह्म सभी विशेषोंसे रहित है क्योंकि उसमें निर्दोषत्व और अनन्त कल्याणगुण रहते हैं। ब्रह्ममें अचेतनके उत्पत्त्यादि विकार और चेतनमें प्रतीत होनेवाले सुख-दुःख आदि गुणोंके निषेधमें ही तात्पर्य है। वे हेय गुण ब्रह्ममें नहीं होते हैं।

निर्विशेषाद्वैतमत- निर्विशेषाद्वैतियोंके अनुसार ब्रह्म स्वगत, सजातीय एवं विजातीय इन तीन भेदों(विशेषों) से रहित चिन्मात्र है। हे सोम्य! सृष्टिके पूर्वमें यह ब्रह्म स्वगत, सजातीय एवं विजातीय भेदसे रहित था- **सदेव सोम्येदम् अग्र आसीदेकमेवाद्वितीयम्**(छां.उ.६.२.१)। वृक्षके शाखा आदि अवयवोंका जो वृक्षमें भेद रहता है, उसे स्वगत भेद कहते हैं। वृक्षका सजातीय वृक्ष होता है। एक वृक्षमें अन्य वृक्षका जो भेद रहता है, उसे सजातीय भेद कहते हैं। वृक्षके विजातीय शिला आदि होते हैं। वृक्षमें शिला आदिका जो भेद रहता है, उसे विजातीय भेद कहते हैं। ब्रह्मका कोई अवयव नहीं होता है, इसलिए वह स्वगत भेदसे रहित है। सत् ब्रह्मके सजातीय कुछ हैं ही नहीं, अतः वह सजातीय भेदसे रहित है। ब्रह्मसे विजातीय असत् पदार्थ हैं ही नहीं, अतः वह विजातीय भेदसे रहित हैं।

सविशेषाद्वैतमत- उक्त मत समीचीन नहीं है क्योंकि जीव, ईश्वर, शुद्ध ब्रह्म, जीव और ईश्वरका भेद, अविद्या तथा अविद्याका शुद्धचेतनके साथ सम्बन्ध ये छः पदार्थ निर्विशेषाद्वैत मतमें अनादि माने जाते हैं- **'जीव ईशो विशुद्धा चित् तथा जीवेशयोर्भिदा। अविद्या तच्चितोर्योगः षडस्माकम् अनादयः।। सदेव** श्रुतिको निर्विशेष अर्थका बोधक माननेपर **षडस्माकम् अनादयः** यह कथन असिद्ध होगा और छः अनादि माननेपर उक्त श्रुतिका निर्विशेषपरक अर्थ असिद्ध होगा। यदि कहना चाहे कि इनमें पाँच अनादि भावपदार्थ मिथ्या हैं, एक निर्विशेष चिन्मात्र ब्रह्म ही सत्य है। सत्य ब्रह्मका मिथ्या पदार्थसे

कोई विरोध नहीं होता है, तो यह कथन भी उचित नहीं है क्योंकि ऐसा स्वीकार करने पर सृष्टिके पूर्वकालका बोधक श्रुतिका 'अग्रे' पद व्यर्थ होता है। शंकाकारके मतमें ब्रह्मेतर पाँच पदार्थ सदा मिथ्या हैं, अतः सृष्टिके पूर्वमें उन्हें मिथ्या माननेपर 'अग्रे' पद व्यर्थ होता है। 'अग्रे' पद अविवक्षित है, यह कथन असंगत है क्योंकि आगे सृष्टिका वर्णन किया गया है। इससे स्पष्ट होता है कि सृष्टिके पूर्व प्रलयकालको बतानेके लिए 'अग्रे' पदका प्रयोग किया गया है। अतः कारणत्वप्रतिपादक इस वाक्यसे सिद्ध होता है कि कालादिरूप विजातीय भेद, जीवरूप सजातीय भेद तथा सृष्टिके लिए उपयोगी सर्वज्ञता तथा सर्वशक्तिरूप स्वगत भेदसे विशिष्ट होकर ही ब्रह्म रहता है। यह श्रुति 'एकमेव' शब्दसे ब्रह्मको जगत्का उपादान कारण तथा 'अद्वितीयम्' शब्दसे उसे ही निमित्तकारण कहती है। इस प्रकार यह श्रुति भी सविशेष ब्रह्मका ही प्रतिपादन करती है, अतः भेदके निरसनमें प्रस्तुत श्रुतिका तात्पर्य नहीं है।

श्रीशंकराचार्यने प्रस्तुत श्रुतिके भाष्यमें एकमेवका अर्थ कार्य कोटिमें आनेवाली द्वितीय वस्तुका अभाव- **स्वकार्यपतितम् अन्यन्नास्ति** किया है और अद्वितीयम् पदका अर्थ निमित्तकारणान्तरका अभाव किया है। इस प्रकार आचार्य शंकरके अनुसार उक्त श्रुतिसे विशेषका निषेध नहीं होता है। विशेषका निषेध तो शांकरमतके परवर्ती आचार्योंके अनुसार है। यहाँ उसीका निराकरण जानना चाहिए।

सृष्टि आदि कार्योंके लिए उपयोगी इस परमात्माकी स्वाभाविक पराशक्ति विविध प्रकारकी सुनी जाती है। स्वाभाविक सर्वविषयक ज्ञान, जगत्को धारण करनेका सामर्थ्य और जगत्का नियमनरूप कार्य विविधप्रकारका सुना जाता है- **परास्य शक्तिर्विविधैव श्रूयते, स्वाभाविकी ज्ञानबलक्रिया च**(श्वे.उ.६.८)।

जिस प्रकार अग्नि विलक्षण वस्तु होनेके कारण जल आदिमें न दीखनेवाली उष्णता उसमें होती है, उसी प्रकार परब्रह्म सबसे विलक्षण वस्तु होनेके कारण अन्य किसीमें भी न दीखने वाली सर्वशक्तियाँ उसमें होती हैं। परमात्मा अव्याहत संकल्पवाला है- **सत्यसंकल्पः** ।(छां.उ.८.१.५) इत्यादि श्रुतियाँ परब्रह्ममें शक्ति, ज्ञान बल, नियामकत्व तथा सत्यसंकल्पत्व आदि गुणोंका प्रतिपादन करती हैं। परमात्मा साक्षी-साक्षात् द्रष्टा, चेता-जगत्का निर्माता है, निर्गुण-गुणत्रयके वशमें नहीं रहता है, इसलिए तथा उसका फलेच्छापूर्वक कर्तृत्व न होनेसे केवल-उदासीन है- **साक्षी चेता केवलो निर्गुणश्च** ।(श्वे.उ.६.११), परमात्मा अवयवरहित है, कृतकृत्य है तथा क्षुधा-पिपासा, शोक-मोह, जरा-मृत्यु इन छः उर्मियोंसे रहित है। शरणागतको आश्रय न देना आदि दोषोंसे रहित है तथा असंगस्वभाव वाला है- **निष्कलं निष्क्रियं शान्तं निरवद्यं निरञ्जनम्** ।(श्वे.उ.६.१९) इत्यादि श्रुतियाँ परमात्माके गुणोंका निषेध करती हैं। यहाँ पर यह शंका होती है कि गुणोंका प्रतिपादन एवं निषेध परस्परविरुद्ध है, वह ब्रह्ममें नहीं हो सकता है। 'ब्रह्म सगुण हो अथवा निर्गुण हो' इस प्रकार विकल्प भी नहीं हो सकता है क्योंकि 'चाहे ऐसा करो अथवा वैसा करो।' इस प्रकार साध्य कर्मके ही विषय में विकल्प हो सकता है। ब्रह्म सिद्ध पदार्थ है। अतः ब्रह्मके विषयमें ऐसा विकल्प संभव नहीं है, इसलिए वह सगुणत्व और निर्गुणत्व इन दो विरुद्धरूपोंमें किसी एक से ही युक्त होकर रहेगा। इस प्रकार इन दो रूपोंमें किसी एक का त्याग करनेमें कोई नियामक प्रमाण भी नहीं है।

निर्विशेषाद्वैतमत- पूर्वमीमांसामें वर्णित अपच्छेदन्यायसे निर्गुणत्वकी प्रबलता होनेसे सगुणत्वका त्याग हो सकता है। जैमिनिसूत्र के **अपच्छेदाधिकरण** (६.५.१९) में किया गया विचार इस प्रकार है-

अपच्छेदन्याय– ज्योतिष्टोम याग कर्मके अन्तर्गत प्रातःसवन कर्ममें बहिष्पवमान स्तोत्रपाठ करनेवाले ऋत्विक् एक दूसरेके कटिवस्त्र(लाँग) को पकड़कर चलते हैं। कटिवस्त्रके त्यागको ही अपच्छेद कहा जाता है। किसी ऋत्विक्के द्वारा प्रमादसे अपच्छेद होनेपर प्रायश्चित्त कहा जाता है। 'यदि उद्गाता गृहीत कटिवस्त्रका अपच्छेद करता है, तो आरम्भ किये गये यागको दक्षिणा दिये विना ही समाप्त कर देना चाहिए। इसके बाद पुनः वही याग करना चाहिए। उसमें वही दक्षिणा दें, जो पहले यागमें दी जानी थी। यदि प्रतिहर्ता कटिवस्त्रका अपच्छेद करता है, तो उस यागमें ही सर्वस्व दक्षिणा में देना चाहिए।' वहीं यह भी कहा गया है कि यदि कोई एक ऋत्विक् अपच्छेद करता है, तो उसके लिए विहित प्रायश्चित्त करणीय है तथा यदि दो ऋत्विक् एक कालमें अपच्छेद करते हैं, तो वहाँ कोई एक प्रायश्चित्त करणीय होता है। यदि एक ऋत्विक् पूर्वकालमें अपच्छेद करता है, दूसरा बादमें करता है तो वहाँ क्या पूर्वापच्छेदनिमित्तक प्रायश्चित्त करना चाहिए? अथवा उत्तरापच्छेद-निमित्तक प्रायश्चित्त करना चाहिए? ऐसा संशय होनेपर पूर्वपक्षी कहता है कि वहाँ पूर्वापच्छेदनिमित्तक प्रायश्चित्त ही करना चाहिए क्योंकि इस प्रायश्चित्तशास्त्रके प्रवृत्त होते समय उसका विरोधी प्रायश्चित्तशास्त्र उपस्थित ही नहीं होता है, इसलिए वह प्रबल है। उत्तरापच्छेदनिमित्तक प्रायश्चित्तशास्त्र प्रवृत्त होते समय उसका विरोधी प्रायश्चित्तशास्त्र पहलेसे ही उपस्थित होता है, इसलिए वह दुर्बल है। इस प्रकार पूर्वपक्ष प्रस्तुत होनेपर **पौर्वापर्ये पूर्वदौर्बल्यं प्रकृतिवत्**(जै. सू.६.५.५४)। इस सूत्रसे सिद्धान्त कहा गया है कि पूर्वापच्छेदनिमित्तक प्रायश्चित्तशास्त्रके उपस्थित होते समय उत्तरापच्छेदनिमित्तक प्रायश्चित्तशास्त्र उपस्थित ही नहीं होता है। ऐसी स्थितिमें वह अनुपस्थित शास्त्रका बाध कर ही नहीं सकता है

किन्तु उत्तरापच्छेदनिमित्तक प्रायश्चित्तशास्त्रकी उपस्थितिके समय पूर्वापच्छेदनिमित्तक प्रायश्चितशास्त्र पहले से ही उपस्थित रहता है, इसलिए पूर्व प्रायश्चित का बाध करके ही उत्तर प्रायश्चित्त संभव होता है। इस अपच्छेदाधिकरण न्यायके अनुसार सगुणशास्त्रसे पूर्व उपस्थित सगुणत्वका निर्गुणशास्त्र के द्वारा बादमें उपस्थित निर्गुणत्वसे बाध हो जाता है। अभावज्ञानमें प्रतियोगी का ज्ञान कारण होता है। इस नियमके अनुसार निर्गुणके प्रतियोगी गुणका सगुण शास्त्रसे प्रतिपादन होनेपर ही निर्गुणशास्त्रसे ब्रह्ममें गुणोंके अभावका प्रतिपादन होता है, इसलिए भी ब्रह्मको निर्गुण-निर्विशेष ही मानना चाहिए।

सविशेषाद्वैतमत- अपच्छेदन्याय वहाँ प्रवृत्त होता है, जहाँ विरोध अनियत होता है अर्थात् कभी विरोध होता है, कभी नहीं होता है तथा जहाँ पौर्वापर्य भी अनियत होता है अर्थात् यह शास्त्र पूर्व प्रवृत्त हो, यह उत्तर प्रवृत्त हो, ऐसा नियम नहीं होता है। इस प्रकार अनियत विरोध तथा अनियत पौर्वापर्यवाले शास्त्रोंके विषयमें ही अपच्छेदन्याय प्रवृत्त होता है। प्रकृतमें सगुणशास्त्र एवं निर्गुणशास्त्रमें विरोध नियत है। अभावज्ञानमें प्रतियोगिज्ञान कारण होता है, इसलिए सगुणशास्त्रकी प्रवृत्ति होनेके बाद ही निर्गुणशास्त्रकी प्रवृत्ति होती है। इस कारण इनमें पौर्वापर्य भी नियत है। नियत विरोध तथा नियत पौर्वापर्यवाले इन सगुण-निर्गुण शास्त्रोंमें अपच्छेदन्यायकी प्रवृत्ति नहीं होती है किन्तु विरोधाधिकरण न्याय और उपक्रमाधिकरण न्यायकी प्रवृत्ति होती है।

विरोधाधिकरणन्याय- पूर्वमीमांसाके प्रथम अध्यायके तृतीयपादमें **विरोधाधिकरण**(जै.सू.१.३.२) न्याय वर्णित है। इस अधिकरणका प्रधान सूत्र है- **विरोधे त्वनपेक्ष्यं स्यादसति ह्यनुमानम्**(जै.सू.१.३.३)। उद्गाता गूलरवृक्ष की शाखा का स्पर्श करके उद्गान करे- **औदुम्बरीं**

स्पृष्ट्वोद्गायेत् यह प्रत्यक्ष श्रुति है। सम्पूर्ण औदुम्बरीको वस्त्रसे ढक देना चाहिए- **औदुम्बरी सर्वा वेष्टयितव्या** यह स्मृति है। यहाँ श्रुति और स्मृतिमें विरोध है क्योंकि सम्पूर्ण औदुम्बरीको वस्त्रसे ढकने पर उसका स्पर्श करके उद्गान करना संभव नहीं है। यहाँ संशय होता है कि प्रत्यक्ष श्रुतिसे विरुद्ध स्मृतिवचन प्रमाण है या नहीं। इस पर पूर्वपक्षी कहता है कि स्मृतिवचन प्रमाण ही है। जिस प्रकार अन्य स्मृतियाँ श्रुतिमूलक होनेसे प्रमाण होती हैं, उसी प्रकार यह स्मृति भी प्रमाण है। इसका भी मूल कोई श्रुति होगी। इस स्मृतिके अनुसार इसकी मूलश्रुतिका अनुमान करना चाहिए। अनुमित-श्रुतिमूलक होनेसे यह स्मृति भी प्रमाण है। इस प्रकार पूर्वपक्ष उपस्थित होनेपर वहाँ यह सिद्धान्त प्रतिपादित हुआ है कि श्रुति शीघ्र ही यथार्थ ज्ञान कराती है क्योंकि वह निरपेक्ष प्रमाण है किन्तु स्मृति विलम्बसे ज्ञान कराती है क्योंकि वह अपनी मूलश्रुतिकी अपेक्षा करके प्रमाण होती है। यदि स्मृतिके अनुसार सम्पूर्ण औदुम्बरीका वेष्टन किया जाय तो प्रत्यक्ष श्रुतिसे विहित औदुम्बरीका स्पर्श करके उद्गान करना असंभव होगा। इस कारण प्रत्यक्ष श्रुति तथा स्मृतिका विरोध है। प्रत्यक्षश्रुतिसे विरोध न होनेपर ही स्मृतिसे श्रुतिका अनुमान होता है। श्रुति निरपेक्ष प्रमाण होनेसे पहले ही अर्थका बोध करा देती है। स्मृति स्वमूलभूत श्रुतिकी अपेक्षा रखनेके कारण विलम्बसे अर्थका बोध कराती हैं। इस प्रकार यहाँ दोनोंमें पौर्वापर्य भी नियत होता है। अतः यहाँ विरोधाधिकरण न्यायकी प्रवृत्ति होती है। 'शीघ्र ज्ञानको उत्पन्न करनेवाला प्रमाण विलम्बसे ज्ञान उत्पन्न करनेवाले प्रमाणकी अपेक्षा बलवान होता है।' यह अर्थ विरोधाधिकरण न्यायसे सिद्ध होता है। सगुण और निर्गुण-बोधक शास्त्रोंमें विरोध तथा पौर्वापर्य दोनों ही नियत हैं। सगुणशास्त्र पहले अर्थका बोध कराता है तथा प्रतियोगीकी अपेक्षा करनेसे निर्गुणशास्त्र

बादमें अर्थका बोध कराता है। ऐसी स्थितिमें निर्गुणशास्त्र उसी प्रकार बाधित होते हैं, जिस प्रकार श्रुतिविरुद्ध स्मृति बाधित होती है।

उपक्रमाधिकरणन्याय- पूर्वमीमांसा में उपक्रमाधिकरण न्याय पठित है। जब उपक्रमवाक्य और उपसंहारवाक्योंका पौर्वापर्य नियत होता है तथा दोनों वाक्योंका वाच्यार्थ लेने पर विरोध भी नियत होता है, तब उपक्रमाधिकरण न्यायसे यह ज्ञात होता है कि उपक्रम वाक्य ही प्रबल है क्योंकि उसका विरोधी उत्पन्न ही नहीं हुआ है तथा उपसंहार वाक्य दुर्बल है क्योंकि उसका विरोधी उत्पन्न हो चुका है, इसलिए उपक्रम वाक्यसे विरोध न रखनेवाला अर्थ ही उपसंहार वाक्यका होना चाहिए। उपक्रमाधिकरण न्यायसे पूर्वमें प्रवृत्त होनेवाले सगुणवाक्योंकी प्रबलता तथा बादमें प्रवृत्त होनेवाले निर्गुणवाक्योंकी निर्बलता ज्ञात होती है, इसलिए सगुणवाक्योंसे निर्गुणवाक्य बाधित हो जाते हैं।

वस्तुतः उत्सर्गापवादन्याय और सामान्यविशेषन्यायके द्वारा सगुण और निर्गुण वाक्योंके विरोधका सरलतासे परिहार हो जाता है। इसलिए इस स्थलमें अन्यतरके अत्यन्त बाधक अपच्छेदन्याय और उपक्रमाधिकरण न्यायकी प्रवृत्ति ही नहीं होती है। इस प्रकार विशिष्टाद्वैत वेदान्तसिद्धान्त यह मानता है कि सगुणवाक्य परमात्माके कल्याणकारक गुणोंका प्रतिपादन करते हैं तथा निर्गुणवाक्य उनमें त्याज्य प्राकृत गुणोंका निषेध करते हैं, इसलिए उभयवाक्योंका प्रतिपाद्य विषय भिन्न-भिन्न होनेसे कोई विरोध नहीं रहता है किन्तु शांकरवेदान्तमें जो सगुण और निर्गुण वाक्योंका विरोध मानकर सगुणवाक्योंसे निर्गुणवाक्य प्रबल माने जाते हैं, उस पर यह कहा गया है कि विरोध होनेपर विरोधाधिकरण और उपक्रमाधिकरण न्यायके अनुसार सगुणवाक्य ही प्रवृत्त होते हैं, निर्गुणवाक्य प्रवृत्त

नहीं होते हैं। जिस प्रकार उत्सर्गापवाद न्यायसे **अग्निषोमीयं पशुमालभेत** इत्यादि उत्सर्गवाक्योंके द्वारा विहित यज्ञीय हिंसाको छोड़कर अन्य हिंसाका **मा हिंस्यात् सर्वाभूतानि** यह अपवाद वचन निषेध करता है, उसी प्रकार सगुण वाक्योंसे विहित कल्याणकारक गुणोंको छोड़कर अन्य गुणोंका निर्गुणवाक्य निषेध करता है। जिस प्रकार सामान्यविशेष न्यायके अनुसार **अग्निषोमीयं पशुमालभेत** यहाँ पर पशुसामान्य अर्थके वाचक पशु शब्दका **छागस्य वपायाः** इस प्रकार मन्त्रवर्णमें प्रतिपादित छागरूप विशेष अर्थमें पर्यवसान होता है, उसी प्रकार सामान्यरूपसे गुणोंका निषेध करनेवाले निर्गुण शब्दका **अपहतपाप्मा**(छां.उ.८.१.५) आदि वाक्यों द्वारा प्रतिपादित पापादि दुर्गुणोंके निषेधमें पर्यवसान होता है। यह परमात्मा पापसे रहित है, जरावस्थासे रहित है, मृत्युसे रहित है, शोकसे रहित है, खानेकी इच्छासे रहित है और प्याससे रहित है- **एष आत्मा अपहतपाप्मा विजरो विमृत्युर्विशोको विजिघत्सोऽपिपासः**।(छां.उ.८.१.५) इस प्रकार यह श्रुति परमात्माके हेय गुणोंका निषेध करके **सत्यकामः सत्यसंकल्पः**।(छां.उ.८.१.५) इस प्रकार उनके कल्याणकारक गुणोंका विधान करती है। **निर्गता निकृष्टाः प्राकृता गुणा यस्मात्तन्निर्गुणमिति व्युत्पत्तेर्निकृष्टगुणराहित्यमेव निर्गुणत्वम्। तथैव च 'सत्त्वादयो न सन्तीशे यत्र च प्राकृता गुणाः। स शुद्धः सर्वशुद्धेभ्यः पुमानाद्यः प्रसीदतु।' 'योऽसौ निर्गुणः प्रोक्तः शास्त्रेषु जगदीश्वरः। प्राकृतैर्हेयसत्त्वाद्यैर्गुणैर्हीनत्वम् उच्यते।।'इत्यादौ प्रतिपादितत्वात् प्राकृतसत्त्वादिगुणनिषिद्धे सति ब्रह्मणो दिव्यगुणाश्रयत्वसिद्धेः। तादृशदिव्यगुणानाञ्च पराऽस्य शक्तिर्विविधैव श्रूयते स्वाभाविकी ज्ञानबलक्रिया च इत्यादौ स्वाभाविकत्वाभिधानात् प्राकृतहेयगुणरहितत्वेन निर्गुणत्वम्, दिव्यगुणवत्त्वेन च सगुणत्वमित्युभयथैकस्यैव ब्रह्मणो निर्देश इति न किञ्चिदनुपपन्नम्**(ब्र.

सू.आ.भा.१.१.१) इस प्रकार शास्त्रकथित निर्गुण आदि शब्दोंके अर्थोंको स्वीकार करके सविशेष-ब्रह्मवादी आचार्योंने विधेयात्मक तथा निषेधात्मक दोनों प्रकारकी श्रुतियोंको समान प्रमाण मानकर समान आदर दिया। निर्विशेष-ब्रह्मवादियोंने निषेधात्मक श्रुतियोंको प्रबल प्रमाण मानकर उन्हींको अधिक आदर दिया तथा उनसे प्रतिपादित ब्रह्मको सत्य कहा। विधेयात्मक श्रुतियोंको निर्बल मानकर उनको समान आदर नहीं दिया तथा उनसे प्रतिपादित सविशेष ब्रह्म(ईश्वर) को और उनके सर्वज्ञत्वादि गुणोंको असत्य(मिथ्या) कहा। इन दोनोंमें कौन सच्चा ईश्वरवादी आस्तिक है? तथा सच्चा श्रुति प्रमाणवादी है? इसका निर्णय सुधी जन स्वयं कर सकते हैं।

निर्विशेषाद्वैतियोंके अनुसार **तत्त्वमसि**(छां.उ.६.८.७) इस वाक्यमें आए तत् पदसे निर्गुण ब्रह्म विवक्षित है, वह उचित नहीं है क्योंकि 'तत्' यह सर्वनाम शब्द पूर्व का बोधक है। पूर्ववर्णित ब्रह्म सगुण है, निर्गुण नहीं है। इसमें दो हेतु हैं-

(१)उसने संकल्प किया कि मैं व्यष्टिसृष्टिके रूपमें बहुत हो जाऊँ, उसके लिए समष्टिसृष्टिके रूपमें उत्पन्न होऊँ- **तदैक्षत बहु स्यां प्रजायेय**।(छां.उ.६.२.३) और हे सोम्य! ये सभी प्राणी सद्वस्तुसे उत्पन्न हुए हैं, सत्में स्थित हैं तथा सत्में लीन होनेवाले हैं- **सन्मूलाः सोम्येमाः सर्वाः प्रजाः सदायतनाः सत्प्रतिष्ठाः**।(छां.उ.६.८.४) ये दोनों वाक्य **तत्त्वमसि** के पूर्वमें पठित हैं। इनमें ब्रह्मका संकल्पकर्तृत्व तथा जगदुत्पत्तिस्थितिलयकारणत्व कहा गया है। **तत्त्वमसि** वाक्यमें तत् पदके द्वारा इन विशेषणोंसे विशिष्ट ब्रह्मका ही ग्रहण होता है, निर्विशेषका ग्रहण नहीं होता है।

(२)वेदकी सभी शाखाओंमें वर्णित अर्थ एक है। यह **सर्वशाखाप्रत्ययन्याय**(पू.मी.)से सिद्ध होता है। इसके अनुसार सभी उपनिषदोंमें प्रतिपादित ब्रह्म एक ही है, अतः जिस ब्रह्मका वर्णन

सद्विद्यामें होता है, उसीका अन्य विद्याओंमें होता है। वहाँ ब्रह्मके विविध गुणोंका वर्णन है, वे सभी एक ही ब्रह्मके गुण हैं। जो स्वरूपतः सबको जानता है और प्रकारतः सबको जानता है- **यः सर्वज्ञः सर्ववित्।**(मु.उ.१.१.१०) इस श्रुतिसे ब्रह्मका सर्वज्ञत्व गुण सिद्ध होता है। इस परमात्माकी विविध पराशक्ति सुनी जाती है- **परास्य शक्तिर्विविधैव श्रूयते।**(श्वे.उ.६.८) इस श्रुतिसे उनका सर्वशक्तिमत्त्व गुण सिद्ध होता है। परब्रह्म इस जगत् पर सदा शासन करनेवाले हैं- **स ईशोऽस्य जगतो नित्यमेव।** उनके शासन करनेमें अन्य कोई कारण नहीं है- **नान्यो हेतुर्विद्यते ईशनाय**(श्वे.उ.६.१७) इन वाक्योंसे परमात्माका सर्वेश्वरत्व गुण सिद्ध होता है। यह सब जगत्शरीरक ब्रह्म ही है- **सर्वं खल्विदं ब्रह्म**(छां.उ.३.१४.१) इसके द्वारा सभी पदार्थ ब्रह्मके विशेषण और इन सभीसे विशिष्ट ब्रह्म सिद्ध होता है। परब्रह्मके समान कोई नहीं हैं तथा उनसे अधिक कोई नहीं है- **न तत्समश्चाभ्यधिकश्च दृश्यते।**(श्वे.उ.६.८) इसके द्वारा ब्रह्मका समानता तथा अधिकतासे रहित होनारूप धर्म सिद्ध होता है। परब्रह्म अनन्त भोग्यपदार्थोंसे युक्त हैं तथा अव्याहतसंकल्प वाले हैं- **सत्यकामः सत्यसंकल्पः।**(छां.उ.८.१.५) इस श्रुतिसे परमात्माके सत्यकामत्व और सत्यसंकल्पत्व गुण सिद्ध होते हैं। परमात्माके तेजसे सम्पूर्ण जगत् प्रकाशित होता है- **तस्य भासा सर्वमिदं विभाति।**(मु.उ.२.२.१२) इससे परमात्माका सर्वावभासकत्व गुण सिद्ध होता है। परमात्मा पापरहित, जरारहित, मृत्युरहित, शोकरहित, क्षुधारहित तथा पिपासारहित है- **एष आत्मा अपहतपाप्मा विजरो विमृत्युर्विशोको विजिघत्सोऽपिपासः।**(छां.उ.८.१.५) इस वाक्यसे परमात्मा दोषरहित सिद्ध होते हैं। सर्वज्ञता, सर्वशक्तिमत्त्व, सर्वेश्वरत्व, सर्वप्रकारत्व, समानता तथा अधिकताका अभाव, सत्यकामत्व, सत्यसंकल्पत्व, सर्वावभासकत्व इत्यादि उच्चकोटिके

असंख्यकल्याणकारक गुण एवं निर्दोषत्व ब्रह्मके जगत्कारणत्वके समर्थक हैं। अतः **तत्त्वमसि** इस वाक्यमें वर्णित ब्रह्म सगुण एवं निर्दोष है। निर्विशेषाद्वैतियोंके अनुसार **तत्त्वमसि** यह वाक्य लक्षणासे निर्विशेष चिन्मात्र ब्रह्मका बोधक है, ऐसा स्वीकार करनेपर सद्विद्यामें वर्णित ब्रह्मका सत्यसंकल्पत्व, जगत्कारणत्व तथा उपनिषदोंमें अन्यत्र वर्णित असंख्यकल्याणकारक गुण एवं निर्दोषत्व बाधित हो जाते हैं।

एकके विज्ञानसे सबके विज्ञानकी प्रतिज्ञा-

निर्विशेषाद्वैतमत- पूर्वमीमांसामें वर्णित उपक्रमाधिकरण न्यायके अनुसार अर्थ करना हमें भी इष्ट है किन्तु हम मध्यमें स्थित **तदैक्षत** को उपक्रमवाक्य नहीं मानते हैं। हम तो इस प्रकरणमें सर्वप्रथम स्थित **येनाश्रुतं श्रुतं भवति, अमतं मतम् अविज्ञातं विज्ञातमिति।**(छां.उ.६.१,३) इस वाक्यको उपक्रम वाक्य मानते हैं। इसमें एकके ज्ञानसे सबका ज्ञान होनेकी प्रतिज्ञा की गयी है। जगत्के कारण ब्रह्मको जाननेसे सभी कार्य पदार्थ जाने जाते हैं। इस प्रतिज्ञाका यह तात्पर्य है कि कारण वस्तु ही सत्य है, कार्य पदार्थ मिथ्या हैं। इस अर्थको श्रुति मृत्तिका दृष्टान्तसे कहती है। लोकमें मृत्पिण्डसे घट और शराव(कटोरा) आदि अनेक पदार्थ बनते हैं। श्रुतिके अनुसार कार्य पदार्थ वाणीका आलम्बनमात्र है। घट और शराव आदि नाममात्र हैं, वस्तुतः नहीं हैं। मृत्तिका ही सत्य है। इस दृष्टान्तसे सिद्ध होता है कि सभी कार्य पदार्थ मिथ्या हैं, कारण ही सत्य है। इससे यह स्पष्ट होता है कि कार्य होनेसे सम्पूर्ण जगत् मिथ्या है, जगत्का कारण ब्रह्म ही सत्य है। उसीको **सदेव सोम्येदमग्रासीदेकमेवाद्वितीयम्।**(छां.उ.६.२.१) यह श्रुति निर्विशेष कहती है। उसीके ज्ञानसे सबका ज्ञान होता है।

सविशेषाद्वैतमत– यह प्रतिज्ञा निर्विशेषाद्वैतमतमें संभव ही नहीं है क्योंकि इस मतमें ब्रह्म जगत्का विवर्तोपादान कारण है। उसमें जगत् आरोपित होकर उसी प्रकार भासता है, जिस प्रकार शुक्तिमें रजत आरोपित होकर भासती है। अधिष्ठान शुक्तिके अज्ञानकालमें अध्यस्त रजत भासती है। अधिष्ठानका ज्ञान होनेपर कार्यसहित अज्ञानका नाश हो जाता है, इसलिए जब अधिष्ठान ब्रह्मका ज्ञान होनेपर अध्यस्त सब जगत् रहता ही नहीं है, तो एकके ज्ञानसे सबके ज्ञानकी प्रतिज्ञा असंभव ही है। यदि विवर्तवादी कहना चाहे कि अधिष्ठानका ज्ञान होनेपर अध्यस्त कार्य उससे अलग नहीं है। यह प्रतिज्ञा वाक्यका अर्थ है, तो यह भी संभव नहीं है क्योंकि यह प्रतिज्ञा वाक्यका अर्थ ही नहीं है। श्रुति एकके विज्ञानसे सबके विज्ञानको कहती हैं। जब शक्तिवृत्तिसे ही प्रतिज्ञा वाक्यके अर्थका सम्यक् निर्वाह हो जाता है तो प्रकारान्तरसे अर्थ करना उचित नहीं है। यदि जगत् और ब्रह्मका अभेद मानकर प्रतिज्ञाका निर्वाह किया जाए तो सत्य और मिथ्या पदार्थकी एकता माननी पड़ेगी। ऐसा होनेपर 'जगत् सत्य है, ब्रह्म मिथ्या है।' यह भी आपको कहना चाहिए। शुक्ति ज्ञात होनेपर रजत ज्ञात हो ही जाता है क्योंकि वहाँ शुक्तिसे अतिरिक्त रजत रहता ही नहीं है। इसी प्रकार ब्रह्म ज्ञात होनेपर जगत् ज्ञात हो जाता है क्योंकि ब्रह्मसे अतिरिक्त जगत् है ही नहीं। वादीका यह कथन भी उचित नहीं है क्योंकि परमार्थ वस्तु अपरमार्थरूप नहीं हो सकती है। आपके मतमें सत्य पदार्थका ज्ञान होनेपर सभी मिथ्या पदार्थोंका ज्ञान मानना पड़ेगा। वस्तुतः सत्य पदार्थका ज्ञान होनेपर मिथ्या पदार्थका ज्ञान नहीं होता है किन्तु सत्य पदार्थका ज्ञान होनेपर मिथ्या पदार्थके ज्ञानका अभाव होता है, इसलिए शुक्ति ज्ञात होनेपर रजत ज्ञात हो गयी। यह व्यवहार भी नहीं होता है। वैसे ही आपके मतमें 'ब्रह्म ज्ञात होनेपर जगत् ज्ञात

हो गया।' यह व्यवहार नहीं हो सकता है।

विशिष्टाद्वैत वेदान्तसिद्धान्तमें जगत्‌के उपादान कारण ब्रह्म एवं जगत् कार्य इन दोनोंको सत्य माना जाता है तथा जगत्‌को ब्रह्मात्मक माना जाता है, इसलिए इस मतमें 'एक को जाननेसे सब कुछ जाना जाता है।' यह प्रतिज्ञा अच्छी प्रकार लग जाती है। प्रलय अवस्थामें ब्रह्म सूक्ष्म चेतनाचेतनसे युक्त होकर रहता है। सृष्टिकालमें प्रकृतिशरीरक परमात्मा महत्, अहंकार, पञ्चतन्मात्रा, एकादश इन्द्रिय और पञ्चमहाभूत इन त्रयोविंशति तत्त्वशरीरक हो जाता है। फिर वह अनन्त ब्रह्माण्डरूप होता है। वह देव, मनुष्य, तिर्यक् और स्थावरशरीरक हो जाता है। इस प्रकार परमात्मा स्थूलचेतनाचेतनशरीरक हो जाता है। विविध प्रकारकी रचनावाले सभी कार्य पदार्थ ब्रह्म ही हैं क्योंकि ब्रह्मने इनके अन्दर अन्तरात्माके रूपमें विराजमान होकर इनको अपनाया है। इस प्रकार कारण ब्रह्म और कार्य जगत् दोनों एक ही हैं, इसलिए एक कारण ब्रह्मको जाननेसे सभी कार्य पदार्थ जाने जाते हैं।

शंका– यदि एकके ज्ञानसे सबका ज्ञान होता है तो ब्रह्मवेत्ता सर्वविद्(सबको विशेषरूपसे जाननेवाला) होना चाहिए।

समाधान– यह शंका उचित नहीं है क्योंकि कार्य-कारणका अभेद होनेसे 'एक कारणका ज्ञान होनेपर सभी कार्य वह कारण ही है।' इस प्रकार श्रुति एक कारणके ज्ञानसे सभी कार्यके ज्ञानको कहती है। वह ज्ञान कारणतावच्छेदक रूपसे होता है, विशेषरूपसे नहीं होता है, इसलिए ब्रह्मवेत्ता सबको विशेषरूपसे नहीं जानता है। जैसे एक मिट्टी कारणका ज्ञान होनेपर उसके सभी घटादि कार्य मिट्टी ही हैं, इस प्रकार एक मृत्तिकाके ज्ञान से सभी घटादि कार्योंका ज्ञान होता है। वैसे ही एक कारण ब्रह्मका ज्ञानहोने पर उसका कार्य सम्पूर्ण जगत् ब्रह्म ही है, इस प्रकार एक ब्रह्मके ज्ञानसे सभी

जगत्का ज्ञान होता है, अन्य प्रकारसे ज्ञान नहीं होता। ब्रह्मवेत्ताको सबके ब्रह्म होनेमें कोई संदेह कभी भी नहीं होता है। संसारकी वस्तुओंके कौन-कौन विशेष गुण हैं? ब्रह्मवेत्ताका ऐसी बातोंसे कोई प्रयोजन ही नहीं रहता है। इस प्रकार उसके सर्वविद् होनेकी शंकाका निराकरण हो जाता है।

वाचारम्भण श्रुतिका अर्थ–

निर्विशेषाद्वैतमत– हे सोम्य! जिस प्रकार एक मृत्पिण्डका ज्ञान होनेसे उसके घट, शराव आदि सभी विकार(कार्य) ज्ञात हो जाते हैं, घटादि विकार वाणीके आलम्बनमात्र हैं, नाममात्र हैं, मृत्तिका ही सत्य है। उसी प्रकार एक परब्रह्मका ज्ञान होनेपर सम्पूर्ण जगत्का ज्ञान हो जाता है। यह सम्पूर्ण जगत् वाणीका आलम्बनमात्र है, नाममात्र है, एक ब्रह्म ही सत्य है– **यथा सोम्यैकेन मृत्पिण्डेन सर्वं मृन्मयं विज्ञातं स्यात्, वाचारम्भणं विकारो नामधेयं मृत्तिकेत्येव सत्यम्** ।(छां.उ.६.१.४)। **वाचारम्भणो विकारो नामधेयम्**[1] इस श्रुतिके द्वारा ब्रह्ममें सभी विशेषोंका निषेध हो जाता है। यहाँ कारण रूपसे लक्षित निर्विशेष ब्रह्मको ही सत्य कहा गया है। नाममात्रका मिथ्या जगत् वास्तवमें नहीं होता है, इसलिए ब्रह्ममें सभी विशेषोंका निषेध जानना चाहिए तथा जैसे **मृत्तिकेत्येव सत्यम्** यहाँ पर 'एव' पद के द्वारा मृत्तिकासे अतिरिक्त सभी विशेषोंका निषेध ज्ञात होता है, वैसे ही ब्रह्मसे अतिरिक्त सभी विशेषोंका निषेध जानना चाहिए।

सविशेषाद्वैतमत– यह कथन उचित नहीं है। यह वाक्य सद्विद्या का है। सद्विद्याके आरम्भमें एकके ज्ञानसे सबके ज्ञानकी प्रतिज्ञा वर्णित है, इस प्रतिज्ञाको सुनकर शिष्यने विचार किया कि जगत्में विविध

टिप्पणी१– वाचारम्भणम्= वागालम्बनमात्रम्, नामधेयम् स्वार्थे धेयट् प्रत्ययःनामैव केवलम्, न विकारो नाम वस्तु अस्ति।

पदार्थ हैं, उनमें एकको जाननेसे दूसरे पदार्थोंको नहीं जाना जा सकता है। शिष्यके इस अभिप्रायको समझकर गुरुने इस भावसे उत्तर दिया कि जगत्का मूल कारण एक वस्तु है। वह कारणावस्थामें एक रूपमें रहती है और विविध कार्यावस्थाओंको प्राप्त करके विविध रूपोंमें रहती है। वे दोनों रूप सत्य हैं। इनमें एक कारण ब्रह्मको जानने पर सब कुछ जाना जाता है, इसलिए यहाँ मृत्तिका दृष्टान्तका वर्णन हुआ है। **वाचारम्भणम्** यहाँ 'वाचा' यह तृतीयान्त पद है। प्रयोजनकी हेतुत्वेन विवक्षा होनेसे **अध्ययनेन वसति** इस प्रयोगके समान तृतीया विभक्ति हुई है। यह शब्द अजहद्लक्षणासे वागादिके व्यवहारका बोधक है। **आरभ्यते= आलभ्यते= स्पृश्यते इति आरम्भणम्।**(श्रीभा.२.१.१५) आरम्भण शब्द कर्ममें ल्युट् प्रत्यय करनेसे बना है। वाचा= व्यवहार(वाचिक व्यवहार तथा जल लाना आदि कायिक व्यवहार)के लिए मृत्पिण्डसे विकार= घटत्व, शरावत्व आदि रूप(विकार) तथा नामधेय= घट आदि नाम सम्बन्धित होते हैं अर्थात् मिट्टी ही नामरूपवाली होती है। इसी प्रकार ब्रह्म ही सभी नामरूपोंवाला होता है। विकार शब्द पुल्लिंग और नामधेय शब्द नंपुसकलिंग है। 'आरम्भणम्' शब्द इन दोनोंका विशेषण है। यहाँ एकशेषसे एकवचन तथा लिङ्गसामान्यकी विवक्षासे नपुंसकलिंगका प्रयोग हुआ है। यद्यपि मृत्तिका और उसके कार्य घटादिके अभेदका प्रतिपादन **वाचारम्भणम् विकारः** इतनेसे ही हो जाता है। फिर भी 'संज्ञाके भेदसे उपादान और उपादेयमें भेदकी शंकाका निराकरण करनेके लिए नाम भी मिट्टीसे सम्बद्ध होता है।' यह कहा जाता है। अब कार्य और कारणके एक द्रव्य होनेमें प्रमाण कहा जाता हैं- **मृत्तिकेत्येव सत्यम्** मिट्टी के विकार घटादि मृत्तिका= मिट्टी हैं, इत्येव= यह कथन ही, सत्यम्= प्रमाणसे सिद्ध है अथवा मिट्टीके विकार घटादि मृत्तिका= मिट्टी हैं। इत्येव= यह

वाक्य ही, सत्यम्= अबाधित अर्थवाला है। ऐसा होनेपर उपादान मिट्टी और उपादेय घट आदिका अभेद होनेसे एक उपादान मिट्टी ज्ञात होनेपर सभी उपादेय 'मिट्टी हैं।' इस प्रकार ज्ञात होते हैं। यह अर्थ सिद्ध हो जाता है। कारणावस्थामें मृत्तिकाका मृत्पिण्ड नाम होता है तथा उससे लीपना और घट आदि कार्य होते हैं। कार्यावस्थामें मृत्तिकाके घट और शराव आदि नाम होते हैं तथा उनसे जललाना आदि कार्य होते हैं। दोनों अवस्थाओंमें मिट्टीके नाम भिन्न-भिन्न होते हैं और कार्य भी भिन्न-भिन्न होते हैं, पर इनसे कारण द्रव्य मिट्टीमें भेद नहीं होता है। वह दोनों अवस्थाओंमें एक ही होता है। इसलिए एक मृत्पिण्डके ज्ञानसे घटादि सकल मिट्टी ही हैं, इस प्रकार घट आदि कार्योंका ज्ञान होता है। जैसे लोकमें मिट्टीको जाननेवाला कोई घट, शराव आदिको देखकर समझता है कि ये पहले मिट्टी ही थे, अभी भी मिट्टी ही हैं। उसी प्रकार ब्रह्मवेत्ता जगत्को देखकर यह समझता है कि यह पहले ब्रह्म था, अभी भी ब्रह्म ही है।

विशिष्ट वस्तु कारण होती हैं और विशिष्ट वस्तु ही कार्य होती है। इसलिए कार्य-कारणका अभेद कहा जाता है। जैसे पिण्डत्वविशिष्ट मिट्टी कारण होती है और घटत्वादिसे विशिष्ट वही मिट्टी कार्य होती है, वैसे ही सूक्ष्मचिदचिद्विशिष्ट ब्रह्म कारण होता है और स्थूलचिदचिद्विशिष्ट वही ब्रह्म कार्य होता है। जिस प्रकार मृत्पिण्डके ज्ञानसे उसके घटादि सभी कार्योंका ज्ञान होनेपर भी मृत्पिण्डगत रूपादि का निषेध नहीं होता है, उसी प्रकार ब्रह्मके ज्ञानसे सभी जगत् कार्यका ज्ञान होनेपर भी ब्रह्मके शास्त्रसिद्ध किसी भी विशेषका निषेध नहीं होता है। जैसे **मृत्तिकेत्येव** यहाँ पर एवकार का प्रयोग होने पर भी मृत्तिकाके रूप, रस, गन्ध, स्पर्श आदि किसी

भी विशेषका निषेध नहीं होता है, वैसे ही ब्रह्मके शास्त्रसिद्ध किसीभी विशेषका निषेध नहीं हो सकता है।

शंका- अभी कार्यावस्थामें कार्य(स्थूलचिदचिद्विशिष्ट) ब्रह्मका ही अनुभव हो सकता है। कारण ब्रह्मका अनुभव नहीं हो सकता है, तो एक कारण ब्रह्मके ज्ञानसे सबके ज्ञानकी प्रतिज्ञा कैसे संभव होगी?

समाधान- यह शंका निराधार है क्योंकि वेदान्त वाक्योंसे कारणब्रह्मका परोक्ष अनुभव होता है, इसलिए सब जगत् ब्रह्म है। यह परोक्ष रूपसे जाना जाता है फिर साधनाके बलसे उस कारण ब्रह्मका प्रत्यक्ष अनुभव होता है। इसलिए सब जगत् ब्रह्म है, यह प्रत्यक्ष जाना जाता है।

शांकरमतमें वाचारम्भण श्रुतिके अर्थकी असंगति- वाचारम्भण शब्दका वाणीका आलम्बन अर्थ करनेमें कोई प्रमाण नहीं है, ऐसा अर्थ करनेपर भी नामधेय पदका अतिरिक्त अर्थ न करके वही अर्थ करनेसे पुनरुक्ति दोष होता है, इसलिए नामधेय पद अनर्थक होता है। श्रुतिमें कार्यको कहीं भी मिथ्या नहीं कहा जाता है। **वाचारम्भण** के बल पर कार्यके मिथ्यात्वकी कल्पना अश्रुत-कल्पना होती है। यह भी एक दोष है। मृत्तिकाके सत्यत्वमात्रकी विवक्षा होनेपर 'इति' पद व्यर्थ होता है। इन दोषोंके कारण शंकरसम्मत अर्थ विद्वानोंके द्वारा ग्राह्य नहीं हो सकता है।

अब वाचारम्भण पदके अन्य अर्थोंका विचार किया जाता है- 'वाचारम्भण' पदका वाक् इन्द्रियके द्वारा उत्पन्न किया जानेवाला अर्थ करनेपर इसका नामधेयके साथ ही अन्वय होता है, विकारके साथ अन्वय नहीं होता है क्योंकि विकार वाग् इन्द्रियसे उत्पन्न नहीं किया जाता है। यदि वाचारम्भण पदका कुलालके द्वारा व्यवहारके

लिए उत्पन्न किया जानेवाला यह अर्थ किया जाय तो वाचारम्भण का नामधेयके साथ अन्वय नहीं होता है क्योंकि नाम कुलालके द्वारा उत्पन्न नहीं किया जाता है। इन दोषोंके कारण उक्त अर्थोंका त्याग किया जातो है तथा सिद्धान्तमें 'मृत्‌पिण्ड' पदका अध्याहार करके 'व्यवहारके लिए नामरूप मृत्‌पिण्डसे सम्बन्धित होते हैं।' यह अर्थ किया जाता है। मृत्‌पिण्डसे नामरूपका सम्बन्ध न होनेपर लोकव्यवहार ही सिद्ध नहीं होगा। इस व्यवहाररूप प्रयोजनका कथन करनेवाला 'वाचा' पद है।

ब्रह्मके गुण अनन्त होनेसे वह वाणी और मनका अविषय- मनके सहित वाणी जिस ब्रह्मानन्द की इयत्ता(सीमा या परिच्छेद) को न पाकर जहाँसे लौट आती है, उस ब्रह्मानन्दको जाननेवाला व्यक्ति कभी भी संसार भयको प्राप्त नहीं होता है- **यतो वाचो निवर्तन्ते, अप्राप्य मनसा सह। आनन्दं ब्रह्मणो विद्वान् न विभेति कदाचन।**(तै. उ.२.४.१) 'यतो वाचो निवर्तन्ते' यहाँ पर 'यतः' शब्दसे निर्दिष्ट अर्थका 'आनन्दं ब्रह्मणो विद्वान्' इस वाक्यमें आनन्द शब्दसे निर्देश करके वह ब्रह्मका गुण है, इसका निर्देश 'ब्रह्मणः' इस पदमें व्यतिरेक षष्ठीसे किया गया है। यदि इसे वाणी और मनका अविषय माना जाय, तो 'आनन्दं ब्रह्मणो विद्वान्' इस वाक्यका अर्थ होगा- 'वाणी और मनके अविषय ब्रह्मानन्दको जाननेवाला' इस प्रकार अविषय ब्रह्मानन्दको विषय कहनेपर व्याघात दोष उपस्थित होगा और यह श्रुति अनर्थक होगी। इसलिए सौ गुना उत्तरोत्तर ब्रह्मानन्दकी अतिशय इयत्ता को कहने के लिए उद्यत होकर श्रुति उसकी इयत्ता का अभाव होने से ही इयत्ता को न पाकर वाणी और मन की वहाँ से निवृत्ति को कहती है। सूक्ष्मदर्शी महापुरुषों के द्वारा एकाग्रतासे युक्त, शुद्ध(बाह्य और आन्तरिक विषयोंमें प्रवृत्तिसे रहित, सूक्ष्म अर्थको जाननेमें समर्थ) मनसे परमात्मा जाना जाता

है- **दृश्यते त्वग्र्‍यया बुद्‍ध्या सूक्ष्मया सूक्ष्मदर्शिभिः**।(क.उ.१.३.१२), विशुद्ध मनसे परमात्माका साक्षात्कार होता है- **मनसा तु विशुद्धेन**।(व्या.स्मृ.) ये वाक्य परमात्माको विशुद्ध मनका विषय कहते हैं। अतः तैत्तिरीयश्रुतिका अर्थ यह है- अनन्त(इयत्तारहित) ब्रह्मानन्दकी इयत्ता न पानेके कारण मनके सहित वाणी जहाँसे लौट आती है। उस ब्रह्मानन्दको जाननेवाला व्यक्ति कभी भी संसार भयको प्राप्त नहीं होता है। **यतो वाचो निवर्तन्ते** यह वाक्य यदि वाङ्–मनकी ब्रह्मसे सर्वथा निवृत्तिको कहे तो इससे निर्विशेष वस्तुका बोध नहीं होगा बल्कि वाणी(शास्त्र) और मन उसके विषयमें प्रमाण नहीं होगें, ऐसा बोध होनेपर निर्विशेषके तुच्छत्व की सिद्धि होगी। **ब्रह्मविदाप्नोति परम**।(तै.उ.२.१.१.) यहाँ से आरम्भ करके ब्रह्मका विपश्चित्त्व(सर्वज्ञता), जगत्कारणत्व, ज्ञानानन्दैकतानता, दूसरोंको आनन्द प्रदान करना, संकल्पसे ही सम्पूर्ण संसारका कर्तृत्व, रचित् पदार्थोंमें अनुप्रवेश करके सबका अन्तरात्मा होना, भय और अभयका कारणत्व, वायु तथा आदित्यादिका प्रशासकत्व, शतगुणित उत्तरोत्तर आनन्दके क्रमसे निरतिशय आनन्दत्व तथा अन्य अनेक गुणों का कथन होता है। ऐसा होने पर भी 'वाक् और मनकी ब्रह्ममें प्रवृत्ति न होनेसे वह निर्विशेष है।' यह कथन भ्रान्तिसे सिद्ध है। इस विदरणसे यह स्पष्ट ज्ञात होता है कि ब्रह्म निर्विशेष होनेसे उसे वाक्, मनका अविषय नहीं कहा गया है बल्कि ब्रह्मके गुणोंकी इयत्ता न होनेसे इयत्ताको वाक् मनका अविषय कहा गया है। अपरिच्छिन्न(इयत्ता रहित) रूप से ब्रह्मानन्द वाक् और मनका विषय होता ही है, इसलिए **आनन्दं ब्रह्मणो विद्वान्** ऐसा श्रुति कहती है।

जगत् कल्पित होनेपर भी निर्विशेष ब्रह्मकी असिद्धि– यदि पूर्ण ब्रह्मस्वरूप सदा स्वयंप्रकाशित होता रहे, तो उसमें किसी भी धर्मका आरोप नहीं हो सकता है इसलिए निर्विशेषाद्वैतवादीके मतमें

ब्रह्मस्वरूपको आच्छादित करनेवाली अविद्या स्वीकार की जाती है। इससे ब्रह्मस्वरूपका ठीकसे प्रकाश नहीं होता है, इसलिए उसमें ज्ञातृत्व-ज्ञेयत्व आदि नाना धर्मोंका आरोप होता रहता है। जब आरोपकी हेतु अविद्या शास्त्रजन्य तत्त्वज्ञानसे निवृत्त हो जायेगी, तब यह आरोप नहीं होगा। इस पर विद्वानों का कहना है कि आच्छादित ब्रह्मके विशेष धर्मको विषय करनेवाला तत्त्वज्ञान ही अविद्याका नाश कर सकता है। जिस प्रकार शुक्तिका सामान्य इदन्त्व(चाकचिक्य) रूपसे प्रकाश होनेपर उसमें रजतका भ्रम होता है, विशेष शुक्तित्व(नीलपृष्ठ, त्रिकोणत्व) रूपसे ज्ञान होनेपर रजतभ्रमकी निवृत्ति होती है। जगत्‌को शुक्तिरजतके समान ब्रह्ममें कल्पित माननेपर ब्रह्ममें सामान्य और विशेष इन दो अंशोंको मानना होगा। जिससे ब्रह्म सविशेष सिद्ध होगा, निर्विशेष सिद्ध नहीं होगा। इन दो अंशोंके न मानने पर जगत् कल्पित(अविद्याका कार्य) सिद्ध नहीं होगा, सत्य ही सिद्ध होगा। ऐसा होनेपर अधिष्ठान ब्रह्मके ज्ञानसे जगत्‌की निवृत्ति भी नहीं होगी। जगत्‌को कल्पित् सिद्ध करनेके लिए यदि ब्रह्ममें कोई एक विशेष स्वीकार करते हैं, तो वह सविशेष ही हो जाता है। ऐसी स्थितिमें सभी श्रुतियोंसे प्रतिपादित सभी विशेषणोंसे विशिष्ट ही ब्रह्मको मानना उचित होगा।

निर्विशेषके वस्तुत्वकी असिद्धि- ब्रह्मको निर्विशेष ज्ञानमात्र स्वीकार करनेपर उसकी ज्ञानरूपता का भी प्रतिपादन नहीं किया जा सकता है क्योंकि अपने और दूसरेमें व्यवहारयोग्यताको करनेवाली वस्तुविशेष ज्ञान कही जाती है। निर्विशेषवस्तुमें ऐसी व्यवहारयोग्यताको करनारूप गुण न होनेसे वह घटादिकी तरह जड़ ही सिद्ध होती है। व्यवहारयोग्यताको करनारूप वैसा गुण न होने पर भी उसमें वैसा सामर्थ्य रहता है, ऐसी शंका भी नहीं करना चाहिए क्योंकि सामर्थ्य भी एक गुण है। उसे स्वीकार करनेपर ब्रह्म

सविशेष सिद्ध होता है, निर्विशेष सिद्ध नहीं होता। श्रुति प्रमाणके बलपर हम उसमें वैसा एक विशेष(गुण) स्वीकार करेंगे तो ऐसा भी नहीं कह सकते हैं, क्योंकि तब तो श्रुतिके बलसे ही उसमें सर्वज्ञता, सर्वशक्तिमत्त्व, सर्वेश्वरत्व, सर्वकल्याणकारकगुणाश्रयत्व, हेयप्रत्यनीकत्व इत्यादि सभी गुण स्वीकार करने चाहिए, कोई भी गुण स्वीकार न करनेपर वह तुच्छ ही सिद्ध होगा। सामर्थ्य(शक्ति) कार्य विशेषका जनक होता है और उसका कार्यविशेषके द्वारा ही निरूपण किया जाता है। कार्यविशेष अप्रमाणिक होनेपर एक मात्र उसके द्वारा निरूपणीय सामर्थ्यमें भी कोई प्रमाण नहीं होगा। निर्विशेषवादीके मतमें ब्रह्मके वस्तुत्वमें कोई प्रमाण नहीं है क्योंकि सभी प्रमाण सविशेष वस्तुका ही निरूपण करते हैं।

तात्पर्यनिर्णायक लिङ्गोंसे सविशेषब्रह्मकी सिद्धि- उपक्रम-उपंसहार, अभ्यास, अपूर्वता, फल, अर्थवाद और उपपत्ति इन छः लिंगोंके द्वारा प्रकरणके तात्पर्यका निर्णय किया जाता है- **उपक्रमोपसंहारा-वभ्यासोऽपूर्वताफलम्। अर्थवादोपपत्ती च लिङ्गं तात्पर्यनिर्णये।।** इन लिङ्गोंसे अद्वैत ब्रह्मकी सिद्धि होती है किन्तु निर्विशेषाद्वैत ब्रह्मकी सिद्धि न होकर सविशेषाद्वैत ब्रह्मकी सिद्धि होती है।

१.उपक्रम-उपसंहार- जिस अर्थके प्रतिपादनमें प्रकरणका तात्पर्य होता है, उसीसे प्रकरणका उपक्रम(आरम्भ) करते हैं और उसी अर्थमें प्रकरणका उपसंहार(समाप्ति) करते हैं। अतः उपक्रम-उपसंहारकी एकवाक्यता प्रकरणके तात्पर्यनिर्णयमें हेतु मानी जाती है। जैसे- हे सोम्य! यह जगत् सृष्टिके पूर्वकालमें सत् ही था- **सदेव सोम्येदम् अग्र आसीत्।**(छां.उ.६.२.१) यह छान्दोग्यकी सद्विद्याका उपक्रमवाक्य निमित्तकारणत्व, उपादानकारणत्व तथा इनके लिए उपयोगी सर्वज्ञता, सर्वशक्तिमत्त्व आदि का बोधक होनेके कारण सविशेषाद्वैत ब्रह्मका ही प्रतिपादन करता है। इससे भी पूर्वमें

पठित **उत तमादेशमप्राक्ष्यः**(छां.६.१.३) इसे उपक्रमवाक्य माननेपर भी 'आदेश' शब्दसे सविशेष ब्रह्मकी ही सिद्धि होती है, निर्विशेषकी नहीं होती है क्योंकि आदेश शब्दका अर्थ होता है- प्रशासन(आज्ञा) का कर्ता। प्रशासन अर्थ वाली आङ् पूर्वक दिश् धातुसे कर्तामें घञ् प्रत्यय करने पर आदेश शब्दकी निष्पत्ति होती है। **अकर्तरि च कारके संज्ञायाम्**(अ.सू.३.३.१९) इस सूत्रके अनुसार कर्तामें घञ् प्रत्यय नहीं हो सकता है, ऐसा नहीं कहना चाहिए क्योंकि **उपदेशेऽजनुनासिक इत्**(अ.सू.१.३.२) इस सूत्रके भाष्यमें कहा गया है कि जैसे **कृत्यल्युटो बहुलम्**(अ.सू.३.३.११३) इस सूत्रमें बहुलग्रहणके सामर्थ्यसे संज्ञा न होनेपर भी घञ् प्रत्यय होता है। उसी प्रकार बहुल ग्रहणके सामर्थ्यसे कर्तामें भी घञ् प्रत्यय होता है अथवा भावमें घञ् प्रत्यय करके आदेश शब्द निष्पन्न होनेपर **अर्श आदिभ्योऽच्**(अ.सू.५.२.१२७) सूत्रसे अच् प्रत्यय करनेपर आदेश शब्द निष्पन्न होता है। आदेश शब्दका प्रशासक अर्थ श्रुतिस्मृतिसे प्रमाणित है। हे गार्गि! इस अक्षर ब्रह्मके शासनमें सूर्य और चन्द्रमा अपना कार्य करते हुए स्थित रहते हैं- **एतस्य वा अक्षरस्य प्रशासने गार्गि सूर्याचन्द्रमसौ विधृतौ तिष्ठतः।**(बृ.उ.३.८.८), सब पर शासन करनेवाले परमात्माकी उपासना करनी चाहिए- **प्रशासितारं सर्वेषाम्**(म.स्मृ.१२.१२२), **तत्त्वमसि**(छां.उ.६.८.७) यह उपसंहार वाक्य जगत्कारणत्व और जीवान्तरात्मत्व से विशिष्ट ब्रह्मकी एकताका बोध करानेसे सविशेषाद्वैत ब्रह्मका ही प्रतिपादन करता है।

२.अभ्यास- जिस अर्थमें प्रकरणका तात्पर्य होता है, उसकी बार-बार आवृत्ति ही अभ्यास लिङ्ग कहा जाता है। सद्विद्यामें विशिष्ट ब्रह्मकी एकार्थताके बोधक **तत्त्वमसि** इस वाक्य की नौ बार आवृत्ति की गयी है। इससे भी विशिष्टाद्वैतमें ही प्रकरणका तात्पर्य सिद्ध होता है।

३.अपूर्वता– प्रकरणके प्रतिपाद्यविषयकी शास्त्रसे अतिरिक्त प्रमाणके द्वारा सिद्धि न होना ही अपूर्वता लिङ्ग कहा जाता है। सद्विद्यामें जगत्कारणत्व, जगदन्तरात्मत्व आदि जो ब्रह्मके विशेषण कहे गये हैं, वे अन्य प्रमाणसे सिद्ध नहीं हैं। इस प्रकार अपूर्वता लिङ्गके द्वारा भी सविशेष ब्रह्मकी ही सिद्धि होती है।

४.फल– प्रतिपाद्य वस्तुको विषय करनेवाला फल भी तात्पर्यके निर्णयमें हेतु माना जाता है। ब्रह्मवेत्ताको मोक्षप्राप्तिमें उतना ही विलम्ब है, जब तक वह प्रारब्धजन्य इस शरीरसे छूट नहीं जाता है। इसके बाद वह सद्रूप ब्रह्मको प्राप्त कर लेता है– **तस्य तावदेव चिरं यावन्न विमोक्ष्ये अथ संपत्स्ये।**(छां.उ.६.१४.२) यहाँ सविशेष ब्रह्मके ज्ञानका फल मोक्ष कहा गया है। इससे भी सविशेष ब्रह्ममें ही प्रकरणके तात्पर्यका निश्चय होता है।

५.अर्थवाद– प्रशंसाबोधक अथवा निन्दाबोधक वाक्यको अर्थवाद कहा जाता है। यह भी प्रतिपाद्य अर्थके निर्णयमें हेतु होता है। छान्दोग्यमें सविशेष ब्रह्मकी प्रतिपादक सद्विद्या पिता और पुत्रका संवादरूप है। अनादि अपौरुषेय वेदमें आये ये संवाद प्रशंसात्मक अर्थवाद हैं। इनसे भी सविशेष ब्रह्ममें ही प्रकरणके तात्पर्यका निश्चय होता है।

६.उपपत्ति– तात्पर्य अर्थकी सिद्धिके लिए प्रस्तुत किये गये तर्कको उपपत्ति कहते हैं। प्रतिपाद्य अर्थकी सिद्धिके लिए जो मृत्पिण्डादि दृष्टान्त कहा गया है। वह सविशेषब्रह्मकी सिद्धि में उपपत्ति है। जिस प्रकार मृत्पिण्डके ज्ञानसे उसके घटादि सकल विकारोंका ज्ञान होनेपर भी मृत्पिण्डके रूपादि किसी विशेषका निषेध नहीं होता है, उसी प्रकार ब्रह्मके ज्ञानसे सकल जगत्का ज्ञान होनेपर भी ब्रह्मके किसी भी विशेषका निषेध नहीं होता है।

उपर्युक्त विवरणसे यह स्पष्ट होता है कि श्रुतियोंका तात्पर्य

सविशेष ब्रह्ममें ही है। इतरवादियों द्वारा स्वीकृत निर्विशेष पदार्थ तो शशविषाणके समान है। निर्विकल्पक प्रत्यक्ष द्वारा निर्विशेष वस्तुकी सिद्धि नही होती है। निर्विकल्पक का प्रत्यक्ष प्रकरण में निरूपण किया जायेगा।

शंका– मायावादी तथा बौद्ध विद्वानोंके अनुसार निर्विकल्पक ज्ञानका विषय निर्विशेष वस्तु होती है तो आप कैसे कहते हैं कि किसी भी प्रकार निर्विशेष वस्तुकी सिद्धि नहीं होती है?

समाधान– 'यह वही है' यह सविकल्पक प्रत्यक्षज्ञान संस्कारसहकृत् इन्द्रियसे जन्य है। इस प्रत्यक्षमें 'यह' अंशके ज्ञानका कारण इन्द्रिय है तथा 'वह' अंश के ज्ञानका कारण संस्कार है। यदि पूर्वके निर्विकल्पक प्रत्यक्षमें जातिरूप प्रकारसे विशिष्ट वस्तुका अनुभव नहीं होता तो उससे संस्कार नहीं होते। संस्कार न होने से 'यह वही है' इस प्रकारसे विशिष्ट वस्तुकी प्रतीति नहीं होती किन्तु प्रतीति होती है, इससे सिद्ध होता है कि पूर्वके निर्विकल्पक ज्ञानमें भी प्रकारसे विशिष्ट वस्तुका ही अनुभव होता है, अतः निर्विशेष वस्तुकी सिद्धि नहीं होती है। यह कथन उचित ही है।

शब्दप्रमाणसे भी निर्विशेष वस्तुका प्रतिपादन संभव नहीं– पदके दो भाग होते हैं– (१)प्रकृति और (२)प्रत्यय। इन दोनोंके भिन्न-भिन्न अर्थ होते हैं और ये परस्परमें अन्वित(सम्बद्ध) होते हैं। प्रकृति प्रत्ययके अर्थसे अन्वित अपने अर्थका प्रतिपादन करती है और प्रत्यय प्रकृतिके अर्थसे अन्वित अपने अर्थका प्रतिपादन करता है। इस प्रकार पद प्रकृत्यर्थसे विशिष्ट प्रत्ययार्थका प्रतिपादन करता है, इससे सिद्ध होता है कि पद विशेषणसे विशिष्ट प्रत्ययार्थ का प्रतिपादन करता है, निर्विशेष पदार्थका प्रतिपादन नहीं कर सकता है। ज्ञप्तिशब्द 'ज्ञा अवबोधने' धातु से क्तिन् प्रत्यय करके बनता है। ज्ञा धातुका अर्थ है– ज्ञान। इस ज्ञानरूप क्रियाका हमेशा कर्ता और

कर्म होता है। अहमर्थके आश्रित रहनेसे ज्ञान सकर्तृक होता है तथा विषयका प्रकाशक होनेसे सकर्मक होता है अर्थात् जाननेवाला पुरुष ज्ञानका कर्ता होता है और ज्ञानके विषय घटादि पदार्थ उसके कर्म होते हैं। इस प्रकार इस ज्ञानक्रियाका असाधारण स्वभाव परप्रकाशक होते हुए स्वयंप्रकाश होना है। इस प्रकार प्रकृतिके द्वारा कर्ता, कर्म तथा विलक्षणस्वभावसे विशिष्ट ज्ञानरूप क्रियाविशेष कही जाती है। प्रत्यय भागसे लिङ्ग, संख्या आदि कही जाती हैं। इस प्रकार ज्ञप्तिशब्द सविशेष ज्ञानका ही बोध कराता है। वाक्यमें अनेक पद होते हैं, इसलिए वाक्य अनेकपदोंके अर्थोंके पारस्परिक संसर्गका प्रतिपादन करता है। इस प्रकार वाक्य संसर्गविशिष्ट अर्थका प्रतिपादक होता है। संसर्ग भी एक विशिष्ट वस्तु है क्योंकि वह पदार्थोंसे सम्बद्ध होता है। इससे सिद्ध होता है कि वाक्य भी विशिष्ट वस्तुका प्रतिपादन करता है, निर्विशेषका प्रतिपादन नहीं करता है। इस प्रकार पदवाक्यरूप सभी शब्द सविशेष वस्तुका ही प्रतिपादन करते हैं, निर्विशेषका प्रतिपादन नहीं करते हैं।

शंका– जिस प्रकार घटशब्द घट अर्थका प्रतिपादन करता है, पट अर्थका प्रतिपादन नहीं करता है। उसी प्रकार निर्विशेष शब्द निर्विशेष अर्थका ही प्रतिपादन करता है, सविशेषका प्रतिपादन नहीं करता, अतः 'सभी शब्द सविशेष अर्थका ही प्रतिपादन करते हैं' यह पूर्वोक्त कथन अनुचित है।

समाधान– निर्विशेष शब्द भी सविशेष अर्थका ही बोधक होता है। जैसे– आज नगरमें क्या विशेष है? इस प्रश्नका उत्तर कोई इस प्रकार देता है कि आज नगर विशेषरहित अर्थात् निर्विशेष है। क्या इस उत्तरका यह अभिप्राय हो सकता है कि आज नगर, घर, मार्ग, जनता, बाजार और वाहनादिरूप विशेषसे रहित है? यह भाव नहीं हो सकता है क्योंकि नगरमें ये सभी विशेष सदा विद्यमान रहते हैं।

निर्विशेष कहनेका भाव यह है कि आज नगरमें कोई विशेष समाचार नहीं है। अन्य पदार्थोंमें जो विशेष देखा जाता है, उसे अनेक विशेषसे युक्त किसी पदार्थमें न रहनेके कारण ही उस पदार्थको निर्विशेष कहा जाता है। इस विवेचनसे यह स्पष्ट होता है कि किसी पदार्थमें अनेक विशेष होनेपर भी विवक्षित विशेष न होनेसे उसके लिए निर्विशेष शब्दका प्रयोग होता है, अतः सभी शब्द सविशेष अर्थका ही प्रतिपादन करते हैं। यह कथन समुचित है।

शंका– हम शब्द प्रमाणसे निर्विशेष ब्रह्मकी सिद्धि नहीं करते हैं। ब्रह्म स्वयंसिद्ध पदार्थ है, अत एव उसे किसी प्रमाणसे सिद्ध करनेकी आवश्यकता नहीं होती है। ब्रह्म ज्ञानस्वरूप है, ज्ञान स्वयंप्रकाश है। घटादि विषयोंको प्रकाशित करनेवाला ज्ञान अपनेको भी प्रकाशित करता है। घटादि स्वयंप्रकाश नहीं होते हैं, ज्ञानसे ही उनका प्रकाश होता है, इसलिए ज्ञान होनेके पूर्व उनके अस्तित्वके विषयमें सन्देह होता है। 'हमें इस समय ज्ञान है या नहीं।' इस प्रकार ज्ञानके अस्तित्वके विषयमें कभी भी किसीको संदेह नहीं होता है क्योंकि ज्ञान स्वयंको प्रकाशित कर रहा है। स्वयंप्रकाशको ही स्वयं सिद्ध कहते हैं, उसे दूसरेसे सिद्ध(प्रकाशित) होनेकी आवश्यकता नहीं है। 'ज्ञानस्वरूप ब्रह्म स्वयं सिद्ध है, उसे सिद्ध करनेके लिए अन्य किसीकी अपेक्षा नहीं है, अतः वेदान्तशास्त्र निरर्थक हो जायेगा।' यह शंका करना व्यर्थ है क्योंकि वेदान्तशास्त्र ब्रह्मको सिद्ध करनेके लिए है ही नहीं। वह तो ब्रह्ममें आरोपित ज्ञातृत्व आदि विशेषका निषेध करनेके लिए है। इन विशेषोंका निषेध करनेपर स्वयंसिद्ध निर्विशेष ब्रह्मस्वरूप शेष रहता है। इस प्रकार वेदान्त शास्त्र सफल होता है।

समाधान– ब्रह्म जिस रूपमें स्वतः सिद्ध है, निर्विशेषाद्वैतमतमें उस रूपमें ब्रह्मका ज्ञान अध्यारोपका निवर्तक नहीं है तथा जिस रूपमें

ब्रह्मका ज्ञान अध्यारोपका निवर्तक है, उस रूपमें ब्रह्म स्वतः सिद्ध नहीं है, शास्त्रप्रमाणसे ही सिद्ध है। ब्रह्मका सत्त्वेन, चित्त्वेन सदा प्रकाश होता रहता है। अतः ब्रह्मके विषयमें इस रूपमें शास्त्र अज्ञातज्ञापकत्वेन प्रमाण नहीं है। इस रूपमें ब्रह्मका ज्ञान अध्यारोपका निवर्तक भी नहीं है। जिस अद्वितीय, सच्चिदानन्द, अकर्त्ता, अविक्रियरूपमें ब्रह्मका ज्ञान अध्यारोपका निवर्तक है, उस रूपमें अज्ञात ब्रह्मका ज्ञान श्रुतिप्रमाणसे ही होता है। इस विषयमें यह भी विचारणीय है कि अध्यारोपकी निवृत्ति तभी हो सकती है, जब अद्वितीय, अकर्ता, अविक्रिय रूपसे अज्ञात ब्रह्मरूप अधिष्ठान का प्रथम शास्त्रद्वारा ज्ञान हो अन्यथा नहीं क्योंकि सर्वत्र अज्ञात अधिष्ठानके ज्ञानसे ही अध्यारोपकी निवृत्ति होती है। इसके विपरीत अध्यारोप की निवृत्तिसे अज्ञात अधिष्ठानका ज्ञान नहीं होता है। अकर्त्तृत्वादिरूपसे भी शास्त्रका अज्ञातज्ञापकत्वेन प्रमाण स्वीकार न करनेपर कर्तृत्वादिका भ्रम निवृत्त ही नहीं होगा। इस विवरणसे सिद्ध होता है कि जिस रूपमें ब्रह्मका ज्ञान अध्यारोपका निवर्तक है, उस रूपमें पूर्वपक्षीके मतमें भी शब्दप्रमाणसे ही ब्रह्मकी सिद्धि होती है तथा जिस रूपमें ब्रह्म स्वतः सिद्ध है, उस रूपसे युक्त स्वतःसिद्ध ब्रह्म भी सविशेष ही सिद्ध होता है। यह इसी प्रकरणमें कहा गया है कि ब्रह्मके धर्मोको उसका स्वरूप मानने पर बौद्ध मत प्रसक्त होता है। उपर्युक्त विवेचनसे यह सिद्ध होता है कि निर्विशेष वस्तु अप्रमाणिक है।

शंका– विशिष्ट वस्तुमें कोई विशेष होता है किन्तु विशेषमें कोई विशेष नहीं होता है। इस प्रकार निर्विशेष वस्तु सिद्ध होती है, तो आप कैसे कहते हैं कि निर्विशेष वस्तु अप्रमाणिक है?

समाधान– धर्मके द्वारा धर्मी(विशेष्य) सविशेष होता है तथा धर्मीके द्वारा धर्म सविशेष होता है। जो वस्तु किसीका धर्म नहीं होती है

अथवा धर्मी नहीं होती है, वह अप्रमाणिक होती है। इस प्रकार अन्यवादियों द्वारा स्वीकृत निर्विशेष वस्तु अप्रमाणिक ही है।

सत्यत्व, ज्ञानत्व, अनन्तत्व, आनन्दत्व और अमलत्व ये ब्रह्मके स्वरूपनिरूपक धर्म कहे जाते हैं। जगत्कारणत्व, सर्वज्ञत्व, सर्वशक्तिमत्त्व, पराक्रम, ऐश्वर्य तथा करुणादि ये निरूपितस्वरूपके धर्म कहे जाते हैं।

जगत्कारण- सांख्य स्वतन्त्र प्रधानको ही जगत्का कारण मानते हैं, वह उचित नहीं है क्योंकि प्रधान अचेतन होनेसे जगत्का कारण नहीं हो सकता है, जीव कर्माधीन होनेसे जगत्कारण नहीं हो सकता है। ब्रह्मा आदि देवताओंकी सृष्टि और संहार सुने जाने से वे भी जीव ही सिद्ध होते हैं। जगत्का कारण ब्रह्म ही है। जिससे ये सभी प्राणी उत्पन्न होते हैं, उत्पन्न हुए प्राणी जिसके द्वारा जीवन धारण करते हैं और प्रयाणको प्राप्त करते हुए जिसमें लीन हो जाते हैं, उसे जानो, वह ब्रह्म है- **यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते। येन जातानि जीवन्ति। यत् प्रयन्त्यभिसंविशन्ति। तद् विजिज्ञासस्व। तद् ब्रह्मेति**(तै.उ.३.१.१)। उपादान, सहकारी और निमित्त भेदसे तीन कारण माने जाते हैं -

१.उपादानकारण- कार्यरूपसे परिणत(परिणामको प्राप्त) होनेवाली वस्तु उपादान कारण कही जाती है- **कार्यरूपेण परिणममानं वस्तु उपादानम्**। जैसे- घटका उपादान कारण मिट्टी है, पटका उपादान कारण तन्तु है।

२.निमित्तकारण- उपादानकारणका कार्यरूपसे परिणाम करनेवाली वस्तु निमित्तकारण कही जाती है- **कार्यतया परिणामयितृ निमित्तकारणम्।** निमित्तकारण चेतन कर्ता होता है। जैसे- घट का निमित्तकारण कुलाल है, पट का निमित्तकारण जुलाहा है।

३.सहकारी कारण- कार्यकी उत्पत्तिके सहयोगी कारण सहकारी कारण कहे जाते हैं- **कार्योत्पत्त्युपकरणं वस्तु सहकारिकारणम्।** जैसे घटके सहकारी कारण दण्ड, चक्र तथा कालादि हैं।

परमात्मा सूक्ष्मचिदचिद्विशिष्ट रूपसे उपादानकारण है। **बहु स्याम्।**(छां.उ.६.२.३) इस प्रकार कथित संकल्पविशिष्टरूपसे निमित्त कारण है और कालके अन्तर्यामीरूपसे सहकारी कारण है। नैयायिक समवायी, असमवायी और निमित्त भेदसे तीनप्रकारके कारण स्वीकार करते हैं किन्तु सिद्धान्तमें समवाय सम्बन्ध और समवायिकारण मान्य नहीं हैं, इसलिए उपादान, निमित्त और सहकारी भेदसे तीन प्रकारके कारण कहे गये हैं। अब प्रकारान्तरसे कारणके दो भेद कहे जाते हैं-

१.उपादानकारण- उत्तरावस्थासे विशिष्ट जो द्रव्य कार्य होता है, उसकी अपेक्षा अव्यवहित पूर्वावस्थासे विशिष्ट वही द्रव्य उपादान कारण होता है- **उत्तरोत्तरावस्थाविशिष्टस्वरूपापेक्षया तदनुगुणनियतपूर्वभाव्यवस्थाविशिष्टं यत् तद् उपादानम्।** मिट्टीकी उत्तरावस्था घटत्व है तथा उस अवस्था से अव्यवहित पूर्वावस्था पिण्डत्व है। घटत्वास्थासे विशिष्ट मिट्टी द्रव्य कार्य है और उसकी अपेक्षा पिण्डत्वावस्थासे विशिष्ट वही मिट्टी उपादान कारण है।

२.निमित्तकारण- कार्यरूपसे परिणामको प्राप्त होनेके लिए उन्मुख आकारकी अपेक्षा अतिरिक्त आकारसे जो कारण अपेक्षित होता है, वह निमित्तकारण होता है- **परिणामौन्मुख्यातिरिक्ताकारेणापेक्षितं कारणं निमित्तकारणम्।** इसके होनेपर उपादानकारण परिणामको प्राप्त होनेके लिए तैयार रहता है। परिणामको प्राप्त होनेके लिए तैयार रहना ही परिणामौन्मुख्य है, यह उपादानका एक आकार है। इससे अतिरिक्त ज्ञान, इच्छा और प्रयत्न आदि आकार होते हैं। ये

आकार उपादानसे भिन्न निमित्तकारण के होते हैं।

दो कारण स्वीकार करनेवाले पक्षमें सहकारी कारणका निमित्तकारण में अन्तर्भाव होता है। इस प्रकार त्रिविध कारण माननेवाले पक्षमें और द्विविध कारण माननेवाले पक्षमें कारणके लक्षणसे युक्त परब्रह्म ही अखिल जगत्के कारण होते हैं।

असमवायिकारणका निराकरण– नैयायिक और वैशेषिक असमवायिकारण नामक एक अन्य कारणकी कल्पना करते हैं किन्तु वह विचारकों द्वारा मान्य नहीं है। उनके अनुसार कार्य द्रव्यके साथ उसके अधिकरणमें समवाय सम्बन्धसे रहनेवाला कारण असमवायिकारण होता है– **कार्येण सह एकस्मिन् अर्थे समवेतं सत् कारणम् असमवायिकारणम्**। जैसे– पटकार्यके साथ उसके अधिकरण तन्तुमें समवायसम्बन्धसे रहनेवाला जो कारण तन्तुसंयोग है, वह असमवायिकारण है। इस असमवायिकारण तन्तुसंयोगसे पटकी उत्पत्ति होती है। यह कथन उचित नहीं है क्योंकि तन्तुसंयोगके कारण होनेका अर्थ है– संयोगविशिष्ट तन्तुका कारण होना। संयोग(संयोगविशेष) से विशिष्ट तन्तु(तन्तुसमूह) ही पट हैं, संयोगसे विशिष्ट तन्तुओंसे अतिरिक्त पट अवयवी सिद्ध नहीं होता है। यह सत्कार्यवादके प्रसङ्गमें कहा जा चुका है। अतः तन्तुसंयोग(संयोगसे विशिष्ट तन्तुओं) से पट उत्पन्न होता है, यह कथन हास्यास्पद है। संयोगकी कारण जो क्रियाएं होती हैं, वे निमित्तकारण ही होती हैं, असमवायिकारण नहीं होती हैं।

अभिन्ननिमित्तोपादानकारण– जगत् के उपादान और निमित्त कारण एक परमात्मा ही हैं। लोकमें घटादि कार्योंके उपादानकारण और निमित्तकारण भिन्न-भिन्न देखे जाते हैं। जैसे– घटका उपादान कारण मृत्तिका होती है और निमित्त कारण कुलाल होता है। पटका उपादान कारण तन्तु होता है और निमित्त कारण जुलाहा होता है

किन्तु जगत्‌के उपादान और निमित्तकारण दोनों भिन्न- भिन्न नहीं हैं। अभिन्ननिमित्तोपादानकारणत्वका अर्थ उपादान कारण और निमित्त कारण की एकता नहीं है किन्तु उपादानकारणत्व और निमित्तकारणत्वके आश्रयकी एकता है। लोकदृष्ट कार्योंके उपादान और निमित्त पृथक्-पृथक् सिद्ध हैं किन्तु जगत्‌का उपादान और निमित्त पृथक्-पृथक् सिद्ध नहीं है। श्रुतियाँ सृष्टिके पूर्व एक ब्रह्मके ही सद्‌भावका वर्णन करती हैं। हे सोम्य! सृष्टिके पूर्वकालमें एक सद् ब्रह्म ही था- **सदेव सोम्येदेम् अग्र आसीत्**।(छां.उ.६.२.१), **ब्रह्म वा इदमग्र आसीत्**।(बृ.उ.१.४.१०), **आत्मा वा इदमेक एवाग्र आसीत्**। (ऐ.उ.१.१) इत्यादि श्रुतियाँ पूर्वमें विद्यमान उस ब्रह्मसे ही जगत्‌की उत्पत्ति बताती हैं। सृष्टिसे पूर्व प्रलयकालमें ब्रह्म कारणावस्थामें पहुँचे हुए सूक्ष्मचेतनाचेतनसे विशिष्ट होकर रहता है। सृष्टिकालमें वह कार्यावस्थामें पहुँचे हुए स्थूलचेतनाचेतनसे विशिष्ट होकर रहता है। इससे सिद्ध होता है कि सूक्ष्मचेतनाचेतनविशिष्ट ब्रह्म ही सृष्टिकालमें स्थूलचेतनाचेतनविशिष्ट बन जाता है। यह स्थूल चेतनाचेतनविशिष्ट ब्रह्म ही जगत् है। ब्रह्म(सूक्ष्मचिदचिद्‌विशिष्ट) ने स्वयंको जगद्(स्थूलचिदचिद्‌विशिष्ट) रूपमें किया- **तदात्मानं स्वयमकुरुत**।(तै.उ.२.७.१) यह श्रुति ब्रह्मको ही कारण तथा कार्य कहती है। इससे कार्य जगद् रूपमें परिणामको प्राप्त होनेवाला ब्रह्म ही उपादानकारण सिद्ध होता है। 'हे सोम्य! प्रत्यक्ष दिखाई देने वाला यह जगत् सृष्टि के पूर्वकालमें निमित्तान्तरसे रहित एक सद् ब्रह्म ही था- **सदेव सोम्येदम् अग्र आसीद् एकमेवाद्वितीयम्**। यह श्रुति 'इदम्' पदसे जगत् का निर्देश करती है। जगत्= नामरूपके विभागसे युक्त बहुत्व अवस्थावाला स्थूलचिदचिद्‌विशिष्ट ब्रह्म। एकम्= नामरूपके विभागसे रहित एकत्व अवस्थावाला सूक्ष्म चिदचिद्‌विशिष्ट ब्रह्म। नामरूपके विभागवाली अवस्था स्थूलावस्था कही जाती है।

सृष्टिके पूर्वमें नामरूपका विभाग न होनेसे एकत्व अवस्था होती है। एकमेव पदसे नामरूपविभागसे रहित ब्रह्म कहा जाता है। सृष्टि के पूर्व यह जगत् सत्(सूक्ष्मचिदचिद्विशिष्ट ब्रह्म) ही था। इससे एकत्व अवस्थावाला सद् उपादानकारण तथा बहुत्व अवस्था वाला जगत् कार्य सिद्ध होता है। लोकमें घट कार्यकी उत्पत्तिके लिए उपादान कारणसे अतिरिक्त निमित्तकारणकी अपेक्षा होती है। यहाँ पर सद् वस्तु उपादान कारण है तो निमित्तकारण कौन है? इस शंकाके समाधानके लिए 'अद्वितीयम्' पद कहा गया है। इसका भाव यह है कि जगत् का निमित्तकारण भी सद् ब्रह्म ही है, दूसरी कोई वस्तु नहीं है। उपादान कारण जो मृत्पिण्ड है, वह संकल्पका आश्रय न होनेसे निमित्तकारण नहीं हो सकता है। कार्य की उत्पत्तिके लिए जड़ उपादान कारण अपनेसे भिन्न निमित्तकारण चेतनकी अपेक्षा करते हैं। उपादानकारण ब्रह्म चेतन है। अतः उसे अपनेसे भिन्न निमित्तकारणकी अपेक्षा नहीं होती है। ब्रह्ममें सब प्रकारकी शक्तियाँ निहित हैं, इसलिए वह संकल्पमात्रसे अपनेको जगद्रूपमें परिणत करता है। कार्यरूपमें परिणत होनेका सामर्थ्य कुलालमें नहीं है, इसलिए वह केवल निमित्तकारण है। इस प्रकार सकल इतर पदार्थोंसे विलक्षण ब्रह्म जगत्का अभिन्ननिमित्तोपादान कारण है।

पातञ्जलयोगमत, न्यायवैशेषिकमत, माध्वमत तथा शैवमतमें ईश्वरको जगत्का केवल निमित्तकारण माना जाता है। उक्तरीतिसे जगत्का अभिन्ननिमित्तोपादानकारण सिद्ध होनेसे वे मत निरस्त हो जाते हैं।

प्रकृतिश्च प्रतिज्ञादृष्टान्तानुपरोधात्(ब्र.सू.१.४.२३) इस ब्रह्मसूत्रका यह अर्थ है कि ब्रह्म जगत्का उपादान कारण है क्योंकि उपनिषदोंमें इस प्रतिज्ञाका वर्णन किया गया है कि एक को जाननेसे सब कुछ जाना जाता है। इस प्रतिज्ञाके समर्थक मृत्तिका और उसके

कार्यको दृष्टान्त कहा जाता है। उपादानकारण ही अवस्थान्तरको प्राप्त होकर कार्य कहा जाता है। जैसे- मिट्टी ही घटत्व आदि अवस्थाओंको प्राप्त होकर घट आदि कार्य कही जाती है। उपादानकारण मिट्टी ही घट आदि कार्य पदार्थोंके रूपमें परिणत होती है, इसलिए मिट्टी और घटादि पदार्थ एक ही वस्तु है। अतः मिट्टीरूप कारणको जाननेसे घटादि मिट्टी ही हैं, इस प्रकार घटादि सभी कार्य जाने जाते हैं। मृत्तिका घटादिका उपादान कारण है। उसी प्रकार यहाँ समझना चाहिए कि उपादानकारण ब्रह्म जगत्के रूपमें परिणत होता है, अतः ब्रह्म और जगत् एक ही वस्तु है। इसलिए उपादानकारण ब्रह्मको जाननेसे जगत् ब्रह्म ही है। इस प्रकार सम्पूर्ण जगत् कार्य जाना जाता है, इस प्रकार प्रतिज्ञा और पूर्वोक्त दृष्टान्तसे ब्रह्म जगत्का उपादानकारण सिद्ध होता है। इसलिए एकके विज्ञानसे सबके विज्ञानकी प्रतिज्ञा करके मृदादि दृष्टान्त कहा जाता है।

नामरूपविभागसे रहित अवस्था सूक्ष्मावस्था है। नामरूपविभागसे युक्त अवस्था स्थूलावस्था है। चेतनाचेतनमें रहनेवाली ये अवस्थाएं उनसे विशिष्ट ब्रह्ममें कही जाती हैं। जैसे शरीर में रहनेवाले बालत्व, युवत्व आदि धर्म शरीरविशिष्ट जीवमें कहे जाते हैं। यह कथन औपचारिक नहीं है क्योंकि अन्य मुख्य कथन यहाँ संभव नहीं है। घट, पट आदि नाम तथा घटत्व, पटत्वादि रूप सृष्टिके पूर्वकालमें नहीं रहते हैं। अर्थका बोधक शब्द नाम कहा जाला है तथा आकृतिको रूप कहा जाता है। इन नामरूपोंका विभाग(पार्थक्य) सृष्टि के पूर्वमें नहीं रहता है। सूक्ष्मावस्थावाला ब्रह्म कारण होता है तथा स्थूलावस्थावाला ब्रह्म कार्य होता है। द्रव्य नित्य होनेपर भी अवस्थाभेदसे वही कारण होता है और वही कार्य होता है।

कार्य बननेवाले उत्पत्तिरहित प्रधान और पुरुषका कारण ईश्वर है- **प्रधानपुंसोरजयोः कारणं कार्यभूतयोः**(वि.पु.१.६.३७) इस श्लोकमें जीव और प्रकृतिको अजन्मा(नित्य) कहनेसे सृष्टिके पूर्व कारणावस्थामें भी इनकी विद्यमानता सिद्ध होती है। इस वाक्यमें इन दोनोंको कार्य भी कहा गया है। ये दोनों नित्य तत्त्व जब सूक्ष्मावस्थासे स्थूलावस्थाको प्राप्त करते हैं, तब कार्य कहे जाते हैं। इससे सिद्ध होता है कि एक ही द्रव्यको पूर्वावस्था होनेसे कारण एवं उत्तरावस्था होनेसे कार्य कहा जाता है।

सूक्ष्मचिदचिद्विशिष्टत्वेन परमात्मा जगत्के कारण होते हैं। सूक्ष्मचिदचिद्विशिष्टत्व का अर्थ है- सूक्ष्मावस्थावाले चिदचिद् का नियमन करना। स्थूलचिदचिद्विशिष्टत्वेन परमात्मा कार्य जगत् होते हैं। स्थूलचिदचिद्विशिष्टत्वका अर्थ है- स्थूलावस्थावाले चिदचिद्का नियमन करना। अन्य विकारोंको विशेषण अंशमें विद्यमान होनेपर भी उक्त विशिष्टत्वरूप अवस्थाएं(विकार) साक्षात् परमात्मामें रहती हैं। इस कारण ही विशेष्य परमात्मस्वरूपको भी साक्षात् कार्य और कारण कहा जाता है। सभी जगत् परमात्मासे अपृथक्सिद्ध है, इसलिए जगत् परमात्मा ही है। इस व्यवहारका हेतु भी विशिष्टत्व है। अव्याकृतनामरूपवत्त्वावस्था(नामरूपविभागसे रहित सूक्ष्मावस्था) कारणावस्था है। यह कारणव्यवहारकी प्रयोजक है। व्याकृतनाम-रूपवत्त्वावस्था(नामरूपविभागसे युक्त स्थूलावस्था) कार्यावस्था है। यह कार्यव्यवहारकी प्रयोजक है। ये सद्वारक अवस्थाएं हैं। पूर्वमें कही गयी अवस्थाएं अद्वारक(साक्षात्) अवस्थाएं हैं।

चेतन-अचेतन सर्वदा ब्रह्मके शरीर बनकर रहनेके कारण उनके प्रकार होते हैं। ब्रह्म कदाचित् नामरूपविभागके अयोग्य सूक्ष्मावस्थाको प्राप्त चेतनाचेतनसे विशिष्ट होकर रहता है, उसे कारणावस्थावाला ब्रह्म कहते हैं और कभी नामरूपविभागके योग्य

स्थूलावस्था को प्राप्त चेतनाचेतनसे विशिष्ट होकर रहता है, उसे कार्यावस्थावाला ब्रह्म कहते हैं। शब्दादिसे रहित अचेतनप्रकृतिको भोग्य बननेके लिए शब्दादिके आश्रयरूपसे उसके स्वरूपका अन्यथाभावरूप विकार होता है। प्रलयकालमें चेतन जीवोंका ज्ञानगुण अत्यन्त संकुचित रहता है। श्रीभगवान् सृष्टिकालमें उन्हें शरीर-इन्द्रिय प्रदान करते हैं, जिससे कर्मफल भोगनेके अनुरूप उनके ज्ञानगुणका विकासरूप विकार होता है। दोनों प्रकारोंसे विशिष्ट नियन्ता ब्रह्ममें विकारसे विशिष्ट चिदचिद्की विशिष्टतारूप विकार(अवस्था) होता है। कारणावस्थावाले ब्रह्मको जो अवस्थान्तरकी प्राप्तिरूप विकार होता है, वह दोनों प्रकारों चेतनाचेतन तथा प्रकारी ब्रह्ममें समानरूपसे होता है। अचेतन प्रकृतिका परिणाम तथा चेतनको शरीरेन्द्रियप्रदानपूर्वक उनके ज्ञानका विकास ही ईश्वरकी सृष्टि है।

साक्षात् अथवा परम्परया अवस्थाका आश्रय उपादान कहलाता है। आगन्तुक, अपृथक्सिद्ध धर्म अवस्था कहलाता है। जैसे मिट्टी चूर्णत्व, पिण्डत्व, घटत्व आदि अवस्थाओंकी साक्षात् आश्रय है। वैसे ब्रह्म अपने विशेषण चेतन और अचेतनके द्वारा सूक्ष्मत्व और स्थूलत्व अवस्थाका आश्रय होता है। सूक्ष्मचेतनाचेतनसे विशिष्ट ब्रह्म जगत्का उपादान कारण होता है। उसमें अचेतन अंश साक्षात् अवस्थान्तरका आश्रय है तथा चेतन अंश संकोच-विकासवाले ज्ञानगुणके द्वारा अवस्थान्तरका आश्रय है। ये दोनों ही अवस्थाएं परम्परा सम्बन्धसे ब्रह्ममें रहती हैं, इसलिए ब्रह्म उपादानकारण है। **बहु स्यां प्रजायेय**(छां.उ.६.२.३) इस प्रकार कहे गये बहुत होनेके संकल्पसे विशिष्ट ब्रह्म निमित्तकारण है। श्रीभगवान् सदा चेतन और अचेतनसे विशिष्ट ही रहते हैं। विशिष्ट भगवान्में रहनेवाला वैशिष्ट्य धर्म दोनों अवस्थाओंमें स्थित चेतन-अचेतनका

नियमन करनारूप है। सूक्ष्म चेतनाचेतनका नियमन करनेवाले श्रीभगवान् कारण कहे जाते हैं, स्थूलचेतनाचेतनका नियमन करनेवाले वही श्रीभगवान् कार्य कहे जाते हैं। ये अवस्थाएं(वैशिष्ट्य) श्रीभगवान्को साक्षात् कार्य और कारण कहनेकी हेतु हैं। सूक्ष्मचेतनाचेतनका नियमन करनारूप अवस्था होनेसे श्रीभगवान्को कारण कहा जाता है तथा स्थूलचेतनाचेतनका नियमन करनारूप अवस्था होनेसे उनको कार्य कहा जाता है।

श्रुतिमें वर्णित अव्याकृतनामरूपवत्त्व तथा व्याकृतनामरूपवत्त्व जो कारणावस्था और कार्यावस्था है, वह उन्हें परम्परया कार्य और कारण कहनेका हेतु है। प्रकृतिके स्वरूपका अन्यथाभावरूप तथा जीवके धर्मभूतज्ञानका संकोचविकासरूप जो परमात्माकी सद्वारक अवस्थाएं हैं, वे परमात्माकी मुख्य अवस्थाएं ही हैं, गौण अवस्थाएं नहीं हैं। जैसे पूर्वमीमांसक मतमें फलका जनक परमापूर्व[1] होता है, वह यागसे जन्य होता है। इस प्रकार परमापूर्वका साक्षात् शेष याग होता है, ब्रीहि आदि द्रव्य तो यागके साक्षात् शेष होते हैं और यागके द्वारा परमापूर्वके शेष होते हैं। अवघात, प्रोक्षण आदि ब्रीहिके साक्षात् शेष होते हैं। वे ब्रीहि आदिके द्वारा परमापूर्वके शेष होते हैं। जिस प्रकार परमापूर्वके सद्वारक शेष भी मुख्य शेष ही माने जाते हैं, उसी प्रकार परमात्माकी सद्वारक अवस्था भी मुख्य अवस्था ही मानी जाती है।

टिप्पणी१– स्वर्गादिफलकी प्राप्तिके लिए यागादि कर्म किये जाते हैं। स्वर्गादिके कारण यागादि होते हैं। कारणको कार्यके अव्यवहित पूर्व तक रहना चाहिए किन्तु यागादि क्षणिक होनेसे शीघ्र नष्ट हो जाते हैं, अतः ये फलके जनक नहीं हो सकते हैं, इसलिए पूर्वमीमांसक कर्म से जन्य अपूर्वकी कल्पना करते हैं। वह फलका जनक होता है। अपूर्व अनेक प्रकारके होते हैं। इनमें फलका साक्षात् जनक परमापूर्व होता है।

शंका- लोकमें कार्यके उपादान एवं निमित्त कारण भिन्न-भिन्न देखे जाते हैं। ऐसी स्थितिमें एक ही ईश्वरको जगत्‌का उपादान एवं निमित्त कारण स्वीकार करना उचित नहीं है।

समाधान- लोकमें भी किसी कार्यका उपादान और निमित्तकारण एक ही देखा जाता है। जैसे घट उत्पन्न होनेपर उसका विभु ईश्वरके साथ संयोग हो जाता है। यह संयोग ईश्वरमें समवाय सम्बन्धसे उत्पन्न होता है, इसलिए इस संयोगका समवायिकारण ईश्वर है। नैयायिकमतानुसार कार्यमात्रके प्रति कर्ता ईश्वर निमित्त कारण है। इस प्रकार यहाँ नैयायिकमतमें भी ईश्वर अभिन्ननिमित्तोपादान कारण सिद्ध होता है। यदि कार्यमात्रका कर्ता ईश्वरको न माना जाय तो क्षिति, अंकुरादि सकर्तृक(कर्तृजन्य) हैं, कार्य होनेसे- **क्षित्यंकुरादिकं सकर्तृकं कार्यत्वात्** इस अनुमानमें व्यभिचार दोष उपस्थित होगा क्योंकि घटेश्वरसंयोगका ईश्वर कर्ता न होनेसे उसमें सकर्तृकत्व साध्य नहीं रहता है, कार्यत्व हेतु तो रंहता है। इस प्रकार साध्याभावके अधिकरणमें हेतुके रहनेसे व्यभिचार दोष होनेके कारण ईश्वरसाधक अनुमान व्यर्थ हो जायेगा। जब जीवात्मा अपनेमें बुद्धिपूर्वक ज्ञान और सुखको उत्पन्न करता है, तब बुद्धिपूर्वक उत्पन्न करने के कारण वह ज्ञान और सुखका निमित्त कारण तथा जीवात्मामें ही उत्पन्न होनेके कारण समवायी कारण भी होता है। 'रथ जाता है' इत्यादि स्थलोंमें गमनक्रिया का कर्तारूप निमित्तकारण तथा उपादान दोनों एक ही रथ होता है, ऐसा नैयायिकोंको भी मान्य है। **मायां तु प्रकृतिं विद्यात् मायिनन्तु महेश्वरम्**।(श्वे.उ.४.१०) यह श्रुति प्रकृतिको उपादान कारण तथा ईश्वरको निमित्तकारण कहती है। ऐसी शंका करना उचित नहीं है क्योंकि यह श्रुति विकारका आश्रय जो प्रकृति है, तद्‌शरीरक ईश्वरको जगत्‌का उपादान कहती है तथा उसके नियमन द्वारा ईश्वरको निमित्तकारण

कहती है, अतः उपादान और निमित्त भिन्न-भिन्न ही होते हैं, यह कथन भ्रान्तिमूलक है।

शंका- ब्रह्मको जगत्‌का उपादान कारण माननेपर उसमें परिणामरूप विकार भी मानना होगा, ऐसा होनेपर उसके विनाशी होनेका प्रसङ्ग होगा तथा **अविकाराय शुद्धाय**(वि.पु.१.२.१) इत्यादिं निर्विकारत्वके प्रतिपादक शास्त्रवचनोंसे विरोध होगा, अतः उसे उपादानकारण स्वीकार करना उचित नहीं है।

समाधान- विशिष्टब्रह्ममें चेतन और अचेतन विशेषण हैं, उनके अन्तर्यामी रूपसे रहनेवाला ब्रह्म विशेष्य है। सूक्ष्मचिदचिद् विशेषणसे विशिष्ट परमात्माका जगद्‌रूपसे परिणाम होनेपर भी उसके विशेष्यस्वरूपमें कोई विकार नहीं होता है। विशेषण अंशमें ही विकार होता है। जैसे- मकड़ीको जालेका उपादानकारण होनेपर भी उसके विशेष्यस्वरूपमें विकार नहीं होता है विकार तो उसके विशेषणभूत शरीरमें होता है। शरीर विशेषणके द्वारा मकड़ीका विकार होता है। ब्रह्मका विशेषणके द्वारा जगद्‌रूपमें परिणाम(विकार) होता है। बृहदारण्यकके अन्तर्यामी ब्राह्मणमें **यस्य पृथिवी शरीरम्**(बृ. उ.३.७.७) इत्यादि प्रकारसे चेतन और अचेतन सभीको ब्रह्मका शरीर कहा गया है। इन शरीररूप विशेषणोंमें ही विकार होते हैं, विशेष्य ब्रह्ममें नहीं होते हैं। इस प्रकार चेतनाचेतनके द्वारा ब्रह्म उपादानकारण होते हैं, अतः उनमें विकारकी प्रसक्ति नहीं होती है। यद्यपि बालत्व, युवत्व आदि धर्म शरीरमें रहते हैं, आत्मामें नहीं रहते। फिर भी जैसे बालक युवक होता है, ऐसा कथन होने पर शरीरद्वारा जीवात्माका उपादानत्व मान्य है, वैसे ही चेतनाचेतनरूप विशेषणोंके द्वारा एक ही ब्रह्मका उपादानत्व मान्य है। ऐसा स्वीकार न करके केवल शरीरको उपादान स्वीकार करनेपर शरीरमें जीवात्मा न रहनेपर भी 'बालक युवक होता है', यह व्यवहार होना चाहिए

किन्तु यह व्यवहार नहीं होता है इससे सिद्ध होता है कि केवल शरीर उपादान नहीं है, बल्कि शरीरविशिष्ट आत्मा उपादान है। निर्विकारत्वप्रतिपादक शास्त्र विशेष्य ब्रह्मस्वरूपको निर्विकार कहते हैं। विशिष्ट ब्रह्ममें विकार मानना सिद्धान्तमें इष्ट है। जिस प्रकार स्वरूपतः निर्विकार जीवात्मा मनुष्यादि शरीरसे विशिष्ट होनेपर बालत्व, युवत्व और वृद्धत्वरूप विकारको प्राप्त करती है, उसी प्रकार स्वरूपतः निर्विकार ब्रह्म चेतनाचेतनविशिष्टरूपसे विकारको प्राप्त करता है। चेतन और अचेतन पदार्थोंका नियमन करनेवाले श्रीभगवान् हैं। सूक्ष्मचिदचिद्का नियमन करना श्रीभगवान्में है, वह उनकी साक्षात् अवस्था(विकार) है। इसलिए श्रीभगवान् साक्षात् कारण भी कहे जाते हैं। इसी प्रकार जो स्थूलचिदचिद्का नियमन करना भगवान्में है, वह उनकी साक्षाद् अवस्था है। कार्यावस्थावाले चेतनाचेतनका नियमन करनारूप विकार भगवान्में रहता है, वही उनकी कार्यावस्था होती है। इस प्रकार श्रीभगवान् साक्षात् कार्य कहे जाते हैं। अवस्थान्तरकी प्राप्तिरूपविकार विशेषण तथा विशेष्य ब्रह्म दोनोंमें समानरूपसे होता है। पूर्वरूपके उपमर्दनपूर्वक जो अन्यथाभावरूप विकार होता है, उसके होनेसे वस्तु विनाशी होती है। वह विकार ब्रह्ममें नहीं है। निर्विकारत्वप्रतिपादक शास्त्र ब्रह्ममें पूर्वरूपके उपमर्दनपूर्वक होनेवाले विकारके अभावका प्रतिपादन करते हैं।

शंका– शास्त्रमें कहीं-कहीं ब्रह्मके विशेषण जीव और प्रकृतिको जगत्कारण कहा गया है, अतः ब्रह्मको जगत्का मुख्य कारण न मानकर गौण कारण ही मानना चाहिए।

समाधान– कार्य और कारण दोनों अवस्थाओंवाले जीव और प्रकृति उसी प्रकार परमात्माके विशेषण होते हैं। जिस प्रकार जाति व्यक्तिका विशेषण होती है और गुण द्रव्यका विशेषण होता है।

जाति और गुणकी तरह सदा विशेषण बनकर रहनेके कारण जीव और प्रकृति अपृथक्सिद्ध विशेषण कहलाते हैं। जिस प्रकार अपृथकसिद्ध विशेषण जाति और गुणके वाचक शब्द मुख्यवृत्तिसे ही अपने आश्रय द्रव्य तकका बोध कराते हैं, उसी प्रकार अपृथक्सिद्ध विशेषण जीव और प्रकृतिके वाचक शब्द मुख्यवृत्तिसे ही अपने आश्रय परमात्मा तकका बोध कराते हैं। इसलिए कारणत्वेन कहे गये जीव और प्रकृतिके वाचक शब्द मुख्यवृत्तिसे ही परमात्माको कारण कहते हैं, गौणरूपसे नहीं कहते हैं।

शंका- चिदचिद् और ब्रह्मका भेद स्वीकार करने पर उनमें कार्य-कारण(उपादान-उपादेय) भाव संभव नहीं होगा तथा इनका अभेद स्वीकार करने पर आत्मशरीरभाव संभव नहीं होगा।

समाधान- उक्त शंका उचित नहीं है क्योंकि वेदान्तसिद्धान्तमें विशेषण और विशेष्यका भेद स्वीकार किया जाता है। ब्रह्म के विशेषण चिद्, अचिद् हैं तथा विशेष्य ब्रह्म है। कार्य-कारणभाव विशिष्टमें स्वीकार किया जाता है। ऐसा नहीं माना जाता है कि ब्रह्म कारण है, जीव और प्रकृति कार्य हैं बल्कि 'ब्रह्म ही कारण है, ब्रह्म ही कार्य है' ऐसा माना जाता है। सूक्ष्मचिदचिद्विशिष्ट ब्रह्मको कारण तथा स्थूलचिदचिद्विशिष्ट ब्रह्मको कार्य माना जाता है। कारण ब्रह्म ही अवस्था विशेषसे विशिष्ट होनेपर कार्य होता है। इस प्रकार विशेषण चिद्- अचित् और विशेष्य ब्रह्मका भेद होनेपर भी विशिष्ट ब्रह्ममें कार्यकारणभाव संभव होता है। कार्यकारणका अभेद होनेपर भी विशेषण और विशेष्यमें परस्परभेद होनेसे आत्मशरीरभाव (शरीरशरीरीभाव)संभव होता है। भेद श्रुतियाँ आत्मशरीरभाव का प्रतिपादन करनेके लिए उपयोगी चिद्, अचिद् और ब्रह्मके भेदका प्रतिपादन करती हैं। इस प्रकार भेदश्रुतियाँ भी आत्मशरीरभाव प्रतिपादनके लिए होती हैं। आत्मशरीरभाव तथा

उपादान-उपादेयभावके ज्ञानका फल सविशेष अद्वैत ब्रह्मका ज्ञान है। उसका प्रतिपादन करनेवाली अभेदश्रुतियाँ हैं। इस प्रकार सभी वेदान्तवाक्योंका उपादान ब्रह्मके ज्ञानमें ही उपयोग होता है। **कारणं तु ध्येयः**(अ.शि.उ.२.१७) इस प्रकार श्रुति जगत्कारणको ध्येय कहती है। ध्यान साक्षात्कारात्मक होकर मोक्षफल देनेवाला होता है। इस प्रकार जगत्‌के अभिन्ननिमित्तोपादानकारणत्वका प्रतिपादन ध्येयके ज्ञानमें उपयोगी होता है।

शंका- सूक्ष्मचिदचित्‌शरीरक ब्रह्म जगत्‌का कारण है। सूक्ष्मका अर्थ होता है- नामरूपविभागके अयोग्य। नामरूप विभागकी अयोग्य वस्तुके लिए सूक्ष्म चिदचित् शब्दका प्रयोग कैसे संभव होता है?

समाधान- जगद्(स्थूलचिदचित्‌शरीरक ब्रह्म)रूपसे परिणामके योग्य सूक्ष्मावस्थारूपसे सब कुछ सृष्टिके पूर्वकालमें रहता है। इस प्रकार भावी दृष्टिसे सूक्ष्म चिदचित् शब्दका प्रयोग संभव होता है। उस समय चिदचित् पदार्थ परब्रह्मसे अविभक्त होकर रहते हैं। इस रूपमें रहनेवालेको भावी दृष्टिसे सूक्ष्म कहा जाता है।

'कार्य और कारण दोनों अवस्थाओंवाले चेतन और अचेतन शरीररूपसे परमात्माके प्रकार हैं। उन प्रकारोंसे विशिष्ट परमात्मा ही कार्य और कारण रूपसे स्थित हैं।' इस अर्थकी बोधक कुछ श्रुतियाँ कार्यावस्थावाला और कारणावस्थावाला जगत् परमात्मा ही है, ऐसा कहती हैं- हे सोम्य! पृथक्-पृथक् नामरूप होनेसे बहुत्व अवस्थावाला यह जगत् सृष्टिके पूर्वकालमें नामरूपविभाग न होनेसे एकत्व अवस्थावाला था, अन्य निमित्तकारणसे रहित सत् ही था- **सदेव सोम्येदमग्र आसीदेकमेवाद्वितीयम्।** (छां.उ.६.२.१), परब्रह्मने संकल्प किया कि चेतनाचेतनात्मक व्यष्टि जगद्रूपसे मैं ही बहुत हो जाऊँ, उसके लिए तेज, अप आदि समष्टिरूपसे उत्पन्न होऊँ। उसने तेजको उत्पन्न किया- **तदैक्षत, बहु स्यां, प्रजायेयेति।**

तत्तेजोऽसृजत्।(छां.उ.६.२.३) इस प्रकार आरम्भकरके आगे कहा जाता है 'हे सोम्य! अचित्से संसृष्ट ये सभी जीव सत् शब्दके वाच्य ब्रह्मसे उत्पन्न होते हैं, ब्रह्मके द्वारा धारण किये जाते हैं तथा ब्रह्ममें ही लीन हो जाते हैं'- **सन्मूलाः सोम्येमाः सर्वाः प्रजाः सदायतनाः सत्प्रतिष्ठाः।**(छां.उ.६.८.४), प्रमाणसे ज्ञात यह चेतनाऽचेतनात्मक जगत् उपादान और अन्तर्यामी ब्रह्मसे व्याप्त है, वह इन सबका नियन्ता है, हे श्वेतकेतु! तुम्हारा अन्तरात्मा जगत्कारण ब्रह्म है- **ऐतदात्म्यमिदं सर्वं, तत्सत्यं[1], स आत्मा तत्त्वमसि श्वेतकेतो।**(छां.उ. ६.८.७) परमात्माने संकल्प किया कि मैं देवमनुष्यादि रूपसे बहुत हो जाऊँ, उसके लिए आकाशादि रूपसे उत्पन्न होऊँ। उसने रचे जानेवाले पदार्थोंका संकल्परूप तप किया। उसने तप करके सम्पूर्ण जगत्की रचना की- **सोऽकामयत। बहुस्यां प्रजायेयेति। स तपोऽतप्यत। स तपस्तप्त्वा इदं सर्वमसृजत्।**(तै.उ.२.६.२) यहाँ से आरम्भ करके 'सत्य परमात्मा ही अविकारी चेतन तथा विकारी अचेतनरूप हो गया'- **सत्यं चाऽनृतं च सत्यमभवत्।**(तै.उ.२.६.३) इत्यादि कहा गया है। अब आगे छान्दोग्य और तैत्तिरीयमें श्रुत्यन्तरसे सिद्ध चेतन, अचेतन और परमपुरुषके स्वरूपका विवेचन किया जाता है- मैं अभिमानी देवताओंसे अधिष्ठित तेज, जल तथा पृथ्वी इन तीन भूतोंमें जीवके अन्तर्यामी रूपसे अनुप्रवेश करके नामरूपको व्यक्त करूँ- **हन्ताऽहमिमास्तिस्रो देवता अनेन जीवेनाऽऽत्मनानुप्रविश्य नामरूपे व्याकरवाणि**(छां.उ.६.३.२)। चराचर जगत्को उत्पन्न करके उसमें अनुवृत्तरूपसे प्रवेश कर गया। ब्रह्म उनमें अनुप्रवेश करके निर्विकार चेतन तथा विकारी अचेतनरूप हो गया तथा गोत्वादि जाति और शुक्लत्वादि गुणोंका आश्रय अचेतन

टिप्पणी१- सत्यं-प्रमाणप्रतिपन्नं, तदिदं सर्वम्- जगत्, ऐतदात्म्यम्- अनेन ब्रह्मणा व्याप्तम् इत्यर्थः।

तथा इनसे रहित चेतनरूप हो गया। अचेतन वर्गका आधार चेतन तथा आश्रित अचेतनरूप हो गया। अजड़स्वरूप चेतन तथा जड़स्वरूप अचेतन हो गया। सत्य परमात्मा ही सत्य चेतन तथा अनृत अचेतनरूप हो गया- **तत्सृष्ट्वा तदेवानुप्राविशत्। तदनुप्रविश्य सच्च त्यच्चाभवत्। विज्ञानं चाविज्ञानं च, सत्यञ्चानृतञ्च सत्यमभवत्**(तै.उ.२.६.२)। यहाँ पर उद्धृत **अनेन जीवेनात्मनानुप्रविश्य** यह छान्दोग्य वाक्य तथा **तदनुप्रविश्य सच्च त्यच्चाभवत्** यह तैत्तिरीय वाक्य एक ही विषयका प्रतिपादन करता है, अतः **अनेन जीवेनात्मनानुप्रविश्य** इस श्रुतिसे कहा गया जीवका ब्रह्मात्मकत्व आत्मशरीरभावमूलक है। इसी प्रकार नामरूपका विभाग बृहदारण्यकमें कहा जाता है। स्त्रीपुरुषादिरूप यह सम्पूर्ण जगत् नामरूपविभागके अभाववाला अव्याकृत(सूक्ष्मचिदचित्) शरीरक ब्रह्म था। वही नामरूपसे व्याकृत(विभक्त) हुआ- **तद्धेदं तर्ह्यव्याकृतमासीत्। तन्नामरूपाभ्यामेव व्याक्रियत**(बृ.उ.१.४.७)। इसलिए कार्यावस्थावाला स्थूलचिदचिद्वस्तुशरीरक तथा कारणावस्थावाला सूक्ष्मचिदचिद्वस्तुशरीरक ब्रह्म ही है। इस प्रकार कार्य और कारण का अभेद है, इसलिए एक कारण ब्रह्मके ज्ञानसे सभी कार्य ज्ञात हो जाते हैं। इस प्रकार एकके ज्ञानसे सभीके ज्ञात होनेकी प्रतिज्ञा संभव होती है। **अहमिमास्तिस्रो देवता अनेन जीवेनात्मनानुप्रविश्य नामरूपे व्याकरवाणि।**(छां.उ.६.३.२) यहाँ **तिस्रो देवता** इस प्रकार सभी अचिद् वस्तुओंका निर्देश करके उसमें ब्रह्मात्मक जीवके अनुप्रवेशसे नामरूपका विभाग कहा जाता है। इसलिए नामरूपवाले कार्य और इनके अभाववाले कारणके वाचक शब्द अचेतनका बोध कराकर उससे विशिष्ट जीवका बोध कराते हुए जीवविशिष्ट ब्रह्म का बोध कराते हैं, इस प्रकार कारणावस्थावाले ब्रह्मके वाचक शब्दका और कार्यावस्थावाले ब्रह्मके वाचक शब्दका

सामानाधिकरण्य मुख्यवृत्तिसे ही होता है। इसलिए स्थूलसूक्ष्म-चिदचित्प्रकारक ब्रह्म ही कार्य है और ब्रह्म ही कारण है। इस प्रकार जगत्का उपादान ब्रह्म ही सिद्ध होता है।

अवस्थान्तरसे युक्तहोना ही अचेतनकी उत्पत्ति है तथा ज्ञानके विकासका जनक नूतनदेहके साथ संयोग ही जीवकी उत्पत्ति है। जगत्की उत्पत्तिके कारण श्रीभगवान् हैं। देहका वियोग ही जीवकी मृत्यु है। इस प्रकार जीवकी उत्पत्ति और मृत्युप्रतिपादक **प्रजापतिः प्रज्ञा असृजत।**(ग.पू.उ.१.२) इत्यादि श्रुतियाँ चरितार्थ होती हैं। अचेतनकी तरह चेतन जीवके स्वरूपका अन्यथाभावरूप विकार नहीं होता है, इस अभिप्रायसे जीवकी उत्पत्तिका निषेध करनेवाली **न जायते म्रियते।**(क.उ.१.२.१८) इत्यादि तथा जीवके नित्यत्वकी प्रतिपादक **नित्यो नित्यानाम्**(क.उ.२.२.१३) इत्यादि श्रुतियाँ चरितार्थ होती हैं।

स्थितिकारण- जिस प्रकार जल पेड़-पौधे, लता आदिके अन्दर प्रवेश करके वहीं स्थित होकर उनको जीवनप्रदान करता है, उसी प्रकार परमात्मा अपने रचे गए पदार्थोंमें प्रवेश करके वहीं स्थित होकर उनको जीवनप्रदान करते हैं। इस प्रकार चराचर जगत्को जीवन प्रदान करना ही स्थिति करना है। स्थितिके कारण श्रीभगवान् हैं। उत्पन्न हुए प्राणी जिससे स्थिति(जीवन) प्राप्त करते हैं, वह ब्रह्म है- **येन जातानि जीवन्ति।**(तै.उ.३.१.१) इस प्रकार तैत्तिरीयमें स्थितिका कारण ब्रह्म कहा गया है।

लयकारण- जिस प्रकार हितैषी पिता कुमार्गगामी उद्दण्ड पुत्रको कुमार्गसे विरत करनेके लिए रस्सीसे बाँध देता है, उसी प्रकार परमहितैषी परमात्मा विषयोन्मुख, पतित जीवको विषयोंसे विरत करानेके लिए देह, इन्द्रिय और सभी भोग्यपदार्थोंका संहार कर देते हैं। यह संहार ही लय कहा जाता है। संहार करनेवाले श्रीभगवान्

लयके कारण कहे जाते हैं। लयका प्रकृतिविवेचन में विस्तारसे वर्णन किया गया है। 'ज़ीव इसबार सुधर जायेगा' यह समझकर श्रीभगवान् मनुष्य जन्म देते हैं। इसी प्रकार 'आगे भी सुधर जायेगा' इस आशासे प्रलय पर्यन्त यथासमय मनुष्य जन्म देते रहते हैं किन्तु जीव दुराचरण करके अपनी वासनाओंको बढ़ाता ही रहता है, तब भगवान् इसके दुराचरण और दुर्वासनाओंको दबानेके लिए प्रलय कर देते हैं।

शंका– जगत्का उपादान और निमित्तकारण ईश्वर ही है। इस विषयका प्रतिपादन करनेके लिए मुण्डकोपनिषत्(१.१.८)में जो ऊर्णनाभि(मकड़ी) दृष्टान्त कहा है, वह समुचित नहीं है क्योंकि उपादानके नाशसे कार्यका नाश होता है इसलिए जालका उपादान यदि मकड़ी होती तो उसके नाशसे जालका नाश हो जाना चाहिए किन्तु नहीं होता है, अतः अचेतन मकड़ी केवल निमित्तकारण है, उसका जड़शरीर(उदरस्थ पदार्थ) उपादान कारण है।

समाधान– उपादान और निमित्तकारणके भेदका दृष्टान्त घट है। यहाँ उपादान मृत्तिका है और निमित्त कुलाल है। ये दोनों भिन्न हैं किन्तु ऊर्णनाभि दृष्टान्तमें उपादान शरीरकी निमित्तकारण चेतनसे पृथक् स्थिति नहीं है। श्रुतिमें शरीरविशेषसे विशिष्ट जीवको ऊर्णनाभि कहा गया है। जैसे मृत्तिका कुलालसे पृथक् रहती है, वैसे शरीर निमित्तकारण चेतनसे पृथक् नहीं रहता है। जैसे कुलाल घट निर्माणके लिए अपनेसे भिन्न मृत्तिकाकी अपेक्षा करता है, वैसे ऊर्णनाभि अपनेसे भिन्न किसी उपादानकी अपेक्षा नहीं करती है। जिस प्रकार कुम्भकार मृत्तिकासे अलग रहकर मृत्तिकाको घटरूपमें परिणत कर देता है, उसी प्रकार परब्रह्म चिदचिद्से अलग रहकर उसे जगद् रूपमें परिणत कर देते हों, ऐसी बात नहीं है क्योंकि परब्रह्म प्रकृतिसे अलग नहीं रहते हैं और प्रकृति भी उनसे अलग

नहीं रहती है, प्रकृति परमात्माका आश्रय लेकर ही रहती है, वह परमात्माका आश्रय लेते हुए जगद्रूपमें परिणत होती है। प्रकृति एवं उसमें होनेवाले सभी विकार परमात्माका आश्रय लेकर ही स्वरूपको प्राप्त करते हैं। प्रकृतिका अन्तरात्मा ही उनसे होनेवाले कार्योंका अन्तरात्मा है।

स्वभावका असंकर- सूक्ष्मचेतनाचेतनशरीरक ब्रह्म ही जगत्का उपादान कारण है। इस प्रकार जगत्का उपादान ब्रह्म होनेपर भी समुदाय उपादान है, इसलिए चेतनाचेतन और ब्रह्मके स्वभावका असंकर(मिश्रणका अभाव) सिद्ध होता है। जैसे शुक्ल, कृष्ण और रक्त तन्तुओंके समुदायको चित्रपटका उपादान होनेपर भी उस पट कार्यके उन-उन तन्तुस्थानोंमें ही शुक्लत्वादि रंगका सम्बन्ध होता है और इस प्रकार कार्यावस्थामें भी रंगका संकर नहीं होता है, वैसे ही भोक्ता चेतन, भोग्य अचेतन और नियन्ता ईश्वरके समुदायको जगत्का उपादान होनेपर जगत्की कार्यावस्थामें भी भोक्तृत्व, भोग्यत्व तथा नियन्तृत्व आदि धर्मोंका संकर नहीं होता है। पृथक्-पृथक् रहनेकी योग्यतावाले तन्तु ही कर्ताकी इच्छासे कभी मिलाये जानेपर कारण और कार्य होते हैं किन्तु यहाँ सभी अवस्थाओंवाले चेतनाचेतन परमपुरुषका शरीर होनेके कारण उनके विशेषण होकर ही रहते हैं, इसलिए उनसे विशिष्ट परमपुरुष ही कारण और कार्य होते हैं। वे ही सदा सभी शब्दोंके वाच्य होते हैं। यह दृष्टान्त और दार्ष्टान्तिकमें भेद है किन्तु स्वभावका भेद और उनका अमिश्रण दोनोमें समान है।

जगत्कारणत्वका उपलक्षणत्व और विशेषणत्व- ये सम्पूर्ण प्राणी जिससे उत्पन्न होते हैं, उत्पन्न हुए प्राणी जिससे जीवित रहते हैं अर्थात् स्थिति प्राप्त करते हैं, प्रयाणको प्राप्तहोते हुए जिसमें लीन हो जाते हैं, वह ब्रह्म है, उसे सावधान होकर जानो- **यतो वा**

इमानि भूतानि जायन्ते। येन जातानि जीवन्ति। यत् प्रयन्त्यभिसंविशन्ति। तद् विजिज्ञासस्व। तद् ब्रह्मेति।(तै.उ.३.१.१) इस वाक्यसे ब्रह्मका लक्षण जगज्जन्मस्थितिकारणत्व कहा जाता है। यह ब्रह्मका उपलक्षण होकर लक्षण बनता है अथवा विशेषण होकर लक्षण बनता है? यह विचार यहाँ प्रस्तुत है-

लक्षण दो प्रकारके होते हैं- १. उपलक्षण, २. विशेषण।

१.उपलक्षण- जो लक्षण ज्ञाप्यसे बहिर्भूत होते हुए ज्ञाप्यकी प्रतीतिका उपाय होता है, उसे उपलक्षण कहा जाता है- **ज्ञाप्यबहिर्भूतो ज्ञाप्यप्रतीत्युपायः उपलक्षणम्।**(श्रु.प्र.१.१.२) जैसे-देवदत्तका क्षेत्र(खेत) कौन है? इस प्रकार प्रश्न करनेपर कोई उत्तर देता है कि जहाँ पर यह सारस पक्षी बैठा है, वह देवदत्तका क्षेत्र है। यहाँ पर देवदत्तक्षेत्र लक्ष्य है, सारसका सम्बन्ध लक्षण है। सारससम्बन्ध सदा ज्ञाप्य क्षेत्रमें नहीं रहता है, इसलिए यह ज्ञाप्यसे बहिर्भूत होकर ज्ञाप्यकी प्रतीति का उपाय बनता है। अतः यह लक्षण उपलक्षण कहा जाता है।

२.विशेषण- जो लक्षण ज्ञाप्यके अन्तर्गत होते हुए ज्ञाप्यकी प्रतीतिका उपाय बनता है, उसे विशेषण कहा जाता है- **ज्ञाप्यान्तर्भूतो ज्ञाप्यप्रतीत्युपायः विशेषणम्।**(श्रु.प्र.१.१.२)। जैसे पृथ्वीका लक्षण गन्धवत्त्व है। यह ज्ञाप्य पृथ्वीमें रहकर उसकी प्रतीतिका उपाय बनता है, अतः यह लक्षण विशेषण कहलाता है। एक ही वस्तुके ज्ञाप्य और ज्ञापक होनेमें विरोध नहीं है। जैसे- घटादि इन्द्रियसंयोगके हेतु होनेसे ज्ञापक होते हैं तथा विषय होनेसे ज्ञाप्य होते हैं।

पूर्वपक्ष- जगज्जन्मादिकारणत्व ब्रह्मका उपलक्षणरूप लक्षण नहीं हो सकता है क्योंकि उपलक्षण स्थलमें तीन आकार अपेक्षित होते हैं-

१.उपलक्षणाकार, २.उपलक्ष्याकार और ३.पूर्वविदिताकार। सारसपक्षीवाला देवदत्तका क्षेत्र है। यहाँ पर सारससम्बन्ध उपलक्षणाकार है, यह लक्ष्यका बोधक होता है। देवदत्तक्षेत्रत्व उपलक्ष्याकार है, यह लक्षणके द्वारा ज्ञात होनेवाला लक्ष्यका धर्म होता है। क्षेत्रत्वसामान्य पूर्वविदित आकार है, यह प्रत्यक्ष प्रमाणसे विदित है किन्तु यहाँ ब्रह्ममें जगज्जन्मादिकारणत्व उपलक्षणाकार है। निरतिशय बृहत्त्व उपलक्ष्याकार है। यह ब्रह्म शब्दका अर्थ है। यहाँ पूर्वविदिताकार ज्ञात नहीं होता है। ब्रह्म केवल शास्त्रगम्य है, अतः पूर्वविदिताकार प्रमाणान्तरसे विदित नहीं हो सकता है, इसलिए जन्मादिकारणत्व उपलक्षण बनकर ब्रह्मका लक्षण नहीं हो सकता है।

जगज्जन्मादिकारणत्व ब्रह्मका विशेषण होकर भी लक्षण नहीं हो सकता है क्योंकि विशेषण भिन्न होनेपर विशेष्य भी भिन्न-भिन्न होते हैं। इस प्रकार जन्मकारणत्व, स्थितिकारणत्व और लयकारणत्व इन तीन विशेषणोंके होनेसे विशेष्य ब्रह्म भी तीन हो जायेंगे। जैसे- गाय खण्डित सींगवाली, विनासींगवाली और पूर्णसींगवाली होती है- खण्डो मुण्डः, पूर्णशृङ्गो गौः, ऐसा कहनेपर तीन विशेषणवाली तीन गायें प्रतीत होती हैं क्योंकि उक्त तीन विशेषणोंसे युक्त एक गाय नहीं हो सकती है, इससे सिद्ध होता है कि विशेषण अपने आश्रय विशेष्यकी दूसरेसे व्यावृत्ति कराता है। व्यावर्तकत्व(भेदक होना) विशेषणोंका स्वभाव है। जहाँ प्रत्यक्षप्रमाणसे विशेष्यकी एकता सिद्ध होती है, वहाँ विशेषण विशेष्यके भेदक नहीं होते हैं। ब्रह्म प्रत्यक्षप्रमाणका विषय नहीं है, अतः यहाँ तीन विशेषण होनेसे ब्रह्म भी तीन हो जायेंगे किन्तु एक ही ब्रह्म सबको अभिमत है, अतः जन्मादिकारणत्वको विशेषणरूप लक्षण माननेसे उसकी सिद्धि नहीं होगी। इस प्रकार जन्मादिकारणत्व विशेषण होकर भी ब्रह्मका लक्षण नहीं हो सकता है।

सिद्धान्तपक्ष– 'जन्मादिकारणत्व उपलक्षण होकर ब्रह्मका लक्षण नहीं हो सकता है।' यह कथन असंगत है क्योंकि बृहत्त्व सामान्य पूर्वविदिताकार है। सर्वज्ञत्व और सर्वशक्तिमत्त्व धर्म ही बृहत्त्व सामान्य हैं। ब्रह्मकी जगत्कारणताका श्रवण होते ही यह ज्ञात होता है कि ब्रह्म सर्वज्ञ है, सर्वशक्तिमान् है। सर्वज्ञताके विना वह विविध-विलक्षण जगत्का निमित्त कारण नहीं हो सकता है तथा सर्वशक्तिमत्त्वके विना वह जगत्के रूपमें परिणत नहीं हो सकता है। इस प्रकार पूर्वविदिताकार सिद्ध होनेसे जन्मादिकारणत्व उपलक्षण होकर ब्रह्मका लक्षण होता है। इसी प्रकार "जन्मादिकारणत्व विशेषण होकर ब्रह्मका लक्षण नहीं हो सकता है।" यह कथन भी असंगत है क्योंकि विशेषणके भेदसे विशेष्यमें भेद वहाँ होता है, जहाँ विरुद्ध विशेषण होते हैं। जैसे- खण्डत्व, मुण्डत्व और पूर्णशृङ्गत्व विरुद्ध विशेषण हैं क्योंकि वे एक गायमें विद्यमान नहीं रहते हैं, अतः यहाँ विशेषणके भेदसे विशेष्यमें भेद स्वीकार करना युक्तिसंगत होता है किन्तु अविरुद्ध विशेषण अपने विशेष्य के भेदक नहीं होते हैं। जैसे- श्याम वर्णवाला, लाल आँखोंवाला, युवावस्थावाला देवदत्त है- **श्यामो युवा लोहिताक्षो देवदत्तः**। यहाँ पर श्यामवर्ण, युवावस्था और लाल आँखें एक देवदत्तमें विद्यमान होती हैं,अतः ये अविरुद्ध विशेषण होते हैं, इसलिए ये अपने आश्रय विशेष्यके भेदक नहीं होते हैं। इसी प्रकार **नीलम् उत्पलम्** यहाँ पर नीलत्व विशेषण अपने विरुद्ध रक्तत्व धर्मके आश्रयसे अपने आश्रय उत्पलका भेदक होता है किन्तु वह अपने अविरुद्ध दीर्घत्व, गन्ध आदिके आश्रयसे अपने आश्रयका भेदक नहीं होता है। वैसे ही जन्मकारणत्व, स्थितिकारणत्व और लयकारणत्व ये तीनों अविरुद्ध विशेषण हैं, ये एक ही ब्रह्ममें विद्यमान होते हैं। एक ही ब्रह्म कालभेदसे जन्मादिका कारण होता है। **तद् ब्रह्म**।(तै.उ.३.१.१) इस

प्रकार एकवचनके प्रयोगसे ब्रह्मका एकत्व ज्ञात होता है और ये धर्म उसी एकके ही ज्ञात होते हैं। अतः जन्मादिकारणत्वको विशेषण बनकर ब्रह्मका लक्षण होनेमें कोई आपत्ति नहीं है।

शंका- जगत्कारणत्वको परस्परविरुद्ध विशेषण और उपलक्षण कैसे माना जा सकता है?

समाधान- प्रकृति, पुरुष तथा कालसे विशिष्ट ब्रह्मका लक्षण जगत्कारणत्व है। विशेष्य ब्रह्मस्वरूपका लक्षण आनन्दादि है। विशिष्टके अनुसंधानमें कारणत्व अनुसंधेय है, विशेष्यके अनुसंधानमें कारणत्व अनुसंधेय नहीं है। जगत्कारणत्व चिदचिद्विशिष्ट ब्रह्ममें रहता है और शुद्धस्वरूप(विशेष्यमात्र) में नहीं रहता है, इसलिए वह शुद्धस्वरूपका उपलक्षण माना जाता है। विशेष्य ब्रह्मस्वरूपमें न रहनेवाले जगत्कारणत्वको उसका उपलक्षण कैसे माना जा सकता है? यह शंका नहीं करनी चाहिए क्योंकि जैसे लक्ष्य चन्द्रमें अविद्यमान शाखाका अग्रभाग चन्द्रका उपलक्षण होता है, वैसे ही विशेष्य ब्रह्ममें अविद्यमान जगत्कारणत्व ब्रह्मका उपलक्षण होता है। चन्द्रमाका बोध करानेके लिए 'शाखाके अग्रभागमें चन्द्र है' ऐसा कहा जाता है। यहाँ चन्द्र उपलक्ष्य है, शाखाग्र उपलक्षण है। शाखाग्रको चन्द्रस्वरूपका स्पर्श न करनेसे तटस्थलक्षण कहा जाता है किन्तु इन दोनोंका ऋजुभावरूप(तत्समरेखान्तः पातित्वरूप) सम्बन्ध है ही। फिर भी ज्ञाप्यसे बहिर्भूत होनेके कारण शाखाग्रको उपलक्षण कहा जाता है। ब्रह्मसे उत्पन्न होनेके कारण, उसमें लीन होनेके कारण तथा उससे जीवनप्राप्त करनेके कारण इस सम्पूर्ण जगत्का आत्मा ब्रह्म है, ऐसा जानकर शान्त होकर ब्रह्मोपासना करें- **सर्वं खल्विदं ब्रह्म तज्जलान् इति शान्त उपासीत।**(छां.उ.३.१४.१) इत्यादि वाक्योंसे विहित जिन उपासनाओंमें ब्रह्मके जगत्कारणत्वका अनुसंधान किया जाता है, उनमें ज्ञाप्यकोटिके अन्तर्गत होनेसे

जगत्कारणत्व ज्ञाप्य ब्रह्मका विशेषण होता है और जिन उपासनाओंमें जगत्कारणत्वका अनुसंधान नहीं किया जाता है, उनमें ज्ञाप्यके अन्तर्गत न होनेसे जगत्कारणत्व उपलक्षण होता है। अभिन्ननिमित्तोपादानकारणत्वके प्रतिपादनमें विशिष्ट ब्रह्मको कारण स्वीकार करके विशेष्य ब्रह्मस्वरूपको भी कारण स्वीकार किया गया है, इसलिए 'पाराशर्यविजय' ग्रन्थमें विशेष्यमें रहनेवाले जगत्कारणत्वको ब्रह्मका उपलक्षण कहा गया है तथा विशेष्यमें न रहकर प्रपञ्चमें रहनेवाले जन्मादिको ब्रह्मका उपलक्षण कहा गया है।

'जन्मकारणत्व, स्थितिकारणत्व और लयकारणत्व इनमें से प्रत्येक इतरकी व्यावृत्ति करानेमें समर्थ है, इसलिए 'ये तीनों पृथक्-पृथक् ब्रह्मके लक्षण हैं' ऐसा कुछ आचार्योंका मत है किन्तु 'हे भगवन्! मुझे ब्रह्मका उपदेश कीजिए- **अधीहि भगवो ब्रह्मेति**।(तै. उ.३.१.१) इस प्रकार मुमुक्षुके द्वारा जिज्ञास्य ब्रह्मके विषयमें प्रश्न किये जानेपर यदि ''जो जगत्के जन्मका कारण है, वह ब्रह्म है।'' ऐसा उत्तर दिया जाता तो ''स्थितिका कारण कोई दूसरा है।'' ऐसी शंका होती तथा उस दूसरेके भी जिज्ञास्य होनेकी शंका होती। 'यही ब्रह्म जिज्ञास्य है।' ऐसा निश्चय नहीं होता। अतः एक ही जिज्ञास्य ब्रह्मका बोध करानेके लिए श्रुति तीन बार यत् शब्दका प्रयोग करनेपर भी एक ही बार तद् शब्दका प्रयोग करती है, इसलिए प्रत्येक लक्षण न हो कर जन्मस्थितिलयकारणत्व इस प्रकार समुदाय लक्षण होता है।

शंका- जिस प्रकार शाखाग्र ब्रह्मका तटस्थलक्षण है, उसी प्रकार जन्मकारणत्व आदि भी ब्रह्मके तटस्थ लक्षण ही हैं, विशेषणभूत लक्षण नहीं हैं क्योंकि ब्रह्म समस्त विशेषणोंसे रहित है। जिस प्रकार शाखाग्रसे उपलक्षित चन्द्रमाके स्वरूपमें प्रकृष्ट प्रकाशत्वादि धर्म रहते

हैं, उसी प्रकार जगत्कारणत्वसे उपलक्षित ब्रह्ममें सर्वज्ञत्व आदि धर्म रहते हैं। ऐसा कहना प्रासंगिक नहीं है क्योंकि चन्द्रमामें प्रत्यक्ष प्रमाणसे सिद्ध होनेके कारण तथा अबाधित होनेके कारण प्रकृष्टप्रकाशत्व धर्मको स्वीकार किया जाता है किन्तु यहाँ निर्विशेष ब्रह्ममें किसी भी प्रमाणसे सिद्ध न होनेसे तथा **सत्यं ज्ञानम्** इस सामानाधिकरण्य श्रुतिके द्वारा निर्विशेष अर्थका प्रतिपादन होनेसे सर्वज्ञत्वादि कोई भी धर्म स्वीकार नहीं किया जा सकता है।

समाधान– भिन्न प्रवृत्तिनिमित्तवाले शब्दोंका एकार्थबोधकत्व सामानाधिकरण्य कहा जाता है– **भिन्नप्रवृत्तिनिमित्तानां शब्दानां एकस्मिन् अर्थे वृत्तिः सामानाधिकरण्यम्।**(महा.प्र.१.२.४२) **सत्यं ज्ञानम् अनन्तं ब्रह्म** यह वाक्य सत्य, ज्ञान और अनन्त पदोंके अर्थके अभेदका प्रतिपादन करता है। इन तीनों पदोंके प्रवृत्तिनिमित्त क्रमशः सत्यत्व, ज्ञानत्व और अनन्तत्व हैं। इस प्रकार **सत्यं ज्ञानम्** यह वाक्य सत्यत्व, ज्ञानत्व, अनन्तत्व धर्मोंसे विशिष्ट एक ब्रह्मका प्रतिपादन करता है। विशेषणरहित एक अर्थका प्रतिपादन नहीं करता है।

ब्रह्मको जगत्कारण स्वीकार करनेपर यह शंका होती है कि जिस प्रकार लोकमें कारण बननेवाले पदार्थोंमें बद्धत्व, अल्पज्ञत्व तथा परिच्छिनत्वादि दोष(विकार) होते हैं, क्या जगत्कारण ब्रह्ममें भी ये दोष हैं? इस शंकाको दूर करनेके लिए **सत्यं ज्ञानम्** यह शोधकवाक्य प्रवृत्त होता है। वह ब्रह्मको सबसे विलक्षण पदार्थ बताकर शंकाको दूर कर देता है, जिससे ब्रह्म निर्दोष सिद्ध होता है।

सत्यम् ज्ञानम् अनन्तं ब्रह्म– ब्रह्म सत्य है, ज्ञान है और अनन्त है– **सत्यं ज्ञानम् अनन्तं ब्रह्म।**(तै.उ.२.१.१) जगत्कारण ब्रह्म निर्विकार है, इसलिए सत्य कहलाता है। स्वयंप्रकाश एवं ज्ञानवाला होनेसे ज्ञान

कहलाता है तथा अपरिच्छिन्न होनेसे अनन्त कहा जाता है। इस प्रकार यह वाक्य सत्यत्व, ज्ञानत्व और अनन्तत्व गुणसे विशिष्ट एक ब्रह्मका प्रतिपादन करता है।

सत्य- श्रुतिमें आया हुआ सत्य पद निरुपाधिक सत्तावाले ब्रह्मको कहता है। ऐसा होनेसे स्वरूपतः विकारवाले अचेतन एवं उससे सम्बद्ध बद्ध जीवकी व्यावृत्ति हो जाती है- **तत्र सत्यपदं निरुपाधिकसत्तायोगि ब्रह्माह। तेन विकारास्पदमचेतनं तत्संसृष्टश्चेतनश्च व्यावृत्तः।**(श्रीभा.१.१.२) चेतन और अचेतनकी सत्ता ब्रह्मके अधीन है और ये देशकाल आदि उपाधियोंसे अवस्थान्तरको प्राप्त होते हैं। किसी परिणामविशेषके कारण भिन्न-भिन्न अवस्थावाले पदार्थकी सत्ता सोपाधिक सत्ता कही जाती है। सोपाधिक सत्ताका अर्थ है- विकारित्व और निरुपाधिक सत्ताका अर्थ है- निर्विकारत्व। निरुपाधिक सत्तावाली वस्तु स्वरूपतः और धर्मतः निर्विकार होती है, इसलिए, सत्यपदसे स्वरूपतः विकारवाले अचेतन एवं उससे सम्बद्ध चेतन बद्धजीवका ग्रहण नहीं हो सकता है। कार्यावस्था होनेसे चेतनाऽचेतनको स्थूल एवं कारणावस्था होनेसे सूक्ष्म कहा जाता है। कार्यावस्थाको स्थूलावस्था तथा कारणावस्थाको सूक्ष्मावस्था भी कहते हैं। इस प्रकार भिन्न-भिन्न नामोंसे कहने योग्य इनकी दो अवस्थाएं होती हैं। अवस्थान्तरवाले होनेसे ये सोपाधिक सत्तावाले अर्थात् विकारी होते हैं। प्रकृतिका कार्यावस्थामें महत्से लेकर भूत-भौतिक पदार्थोंके रूपोंमें परिणाम होता है। इस प्रकार प्रकृतिके स्वरूपका परिणाम होता है। कार्यावस्थामें बद्धजीवके धर्मभूतज्ञानका कामना आदिके रूपमें परिणाम होता है। जीवका स्वरूपभूतज्ञान सदा एकरूप ही रहता है, उसका कोई परिणाम नहीं होता है। इस प्रकार जीवका प्रकृति जैसा स्वरूपतः परिणाम नहीं होता है किन्तु धर्मतः परिणाम होता है। सत्य पद स्वरूपतः और

गुणतः विकारसे रहित ब्रह्मका बोध कराता है। सभी विकारोंसे रहित होनेके कारण ब्रह्म सत्यस्वरूप है- **सत्यपदं स्वरूपतो गुणतश्च विकारराहित्यं बोधयति। सर्वविकाररहितत्वात् सत्यस्वरूपं ब्रह्म**(तै.उ. आ.भा.२.१.१)। परमात्माके धर्मभूतज्ञानका भी सिसृक्षा आदिके रूपमें परिणाम होता है तो परमात्मा भी धर्मतः विकारी है, ऐसी शंका करना उचित नहीं है क्योंकि यहाँ पर कर्मकृत धर्मतः परिणाम विवक्षित है। उसे परमात्मामें न होनेसे वह धर्मतः अविकारी कहा जाता है। जगत् रज्जुसर्प जैसा मिथ्या नहीं है बल्कि सत्य है। प्रकृतिका स्वरूपतः परिणाम होता है। जीवात्माका स्वरूपतः परिणाम नहीं होता है, इसलिए प्रकृतिकी अपेक्षा जीवात्मा सत्य है। जीवात्माका धर्मतः परिणाम होता है, परमात्माका धर्मतः भी परिणाम नहीं होता है, इसलिए जीवात्माकी भी अपेक्षा परमात्मा सत्य है। **सत्यस्य सत्यम्**(बृ.उ.२.३.६) इस प्रकार श्रुति ही सत्यपदार्थोंके तारतम्यको कहती है। ब्रह्मका नाम 'सत्य का सत्य है'। जीवात्मा सत्य है, उससे भी बढ़कर ब्रह्म सत्य है- **अथ नामधेयं सत्यस्य सत्यं प्राणा वै सत्यं तेषामेष सत्यम्**(बृ.उ.२.३.६)। जड़ प्रकृतिके स्वरूपमें विकार होता रहता है। जीवके धर्मभूतज्ञानमें विकार होनेपर भी स्वरूपमें विकार नहीं होता है, इसलिए जीव सत्य कहा जाता है। ब्रह्मके स्वरूपमें विकार नहीं होता है और धर्ममें भी विकार नहीं होता है, इसकारण जीवसे बढ़कर ब्रह्म सत्य(निर्विकार) सिद्ध होता है, इसलिए ब्रह्मको सत्यका सत्य कहा जाता है। इस प्रकार विशेष्य परमात्मा अविकारी होता है। सत्य परमात्मा ही सत्य निर्विकार चेतन जीव तथा अनृत विकारी अचेतनरूप हो गया- **सत्यं चानृतं च सत्यमभवत्**(तै.उ.२.६.३)। यह जगत्कारण सूक्ष्म चेतनाचेतनसे विशिष्ट ब्रह्म है। इस श्रुतिमें द्वितीय सत्य पदसे तीनोंको सत्य कहा गया है। प्रथम सत्य पदसे जड़ जगत्की अपेक्षा

जीवात्माको सत्य कहा गया है तथा जीवकी अपेक्षा प्रकृतिको अनृत कहा गया है। इस प्रकार श्रुतियोंसे ही सत्यत्वमें तारतम्य सिद्ध है। जगत् मिथ्या नहीं है, फिर भी यदि मिथ्या शब्दका परिणामी(विकारी) अर्थमें प्रयोग किया जाय तो इससे हमारा कोई विरोध नहीं है। संसारमें आसक्ति न हो, इसलिए कुछ विद्वान् भी उसे मिथ्या कह देते हैं। वस्तुतः आसक्तिका हेतु सुखप्रदत्वबुद्धि है, सत्यत्वबुद्धि नहीं है। ब्रह्म निरुपाधिक सत्य है, जगत् ब्रह्म जैसा सत्य नहीं है। सत्यपदका प्रवृत्तिनिमित्त अबाधितत्व है। देशकालकी अपेक्षा ब्रह्मसे भिन्न जगत्का भी अबाधितत्व है। अतः ब्रह्मसे भिन्न जगत्का सत्यत्व सोपाधिक सत्यत्व है, ब्रह्मका ऐसा सोपाधिक सत्यत्व नहीं है। इसलिए जगत् ब्रह्म जैसा सत्य नहीं है, इस दृष्टिसे उसे असत्य कह सकते हैं। इस प्रकार ब्रह्मकी अपेक्षा जगत्का जो असत्यत्व है वह ब्रह्मविलक्षत्वरूप है, मिथ्यात्वरूप नहीं है।

जगत्के मिथ्यात्वका निराकरण– जगत्को मिथ्या कहना श्रुतिसम्मत नहीं है क्योंकि जिन उपनिषदोंको परम प्रमाण मानकर आचार्योंने उनपर भाष्य लिखकर स्वमतकी स्थापना की है। उनमें जगत्को मिथ्या कहीं भी नहीं कहा गया है। इस विषयमें उपनिषदोंके समान ही गीता और ब्रह्मसूत्र हैं। इतना ही नहीं किन्तु मिथ्या, कल्पित, अध्यारोपित, विवर्त आदि शब्दोंका तथा रज्जुसर्प आदि दृष्टान्तोंका भी उनके अभिमत अर्थमें कहीं उल्लेख नहीं मिलता है। जिस प्रकार अधिष्ठान रज्जु अज्ञानसे सर्परूप प्रतीत होती है। वहाँ रज्जु ही सत्य है, सर्प सत्य नहीं है, वह तो मिथ्या है। उसी प्रकार अधिष्ठान ब्रह्म अज्ञानसे जगद्रूप प्रतीत होता है। वहाँ ब्रह्म ही सत्य है, जगत् सत्य नहीं है, जगत् मिथ्या है। इस प्रकार जगत्को रज्जुसर्पके समान मिथ्या नहीं कह सकते हैं क्योंकि जिसमें सर्पका भ्रम होता है, वह रज्जु सत्य होती है। रज्जुमें जिस सर्पका भ्रम

होता है, वह सर्प भी अन्यत्र सत्य होता है। यदि कहीं भी सत्य सर्प नहीं होगा तो रज्जुमें सर्पका भ्रम नहीं होगा। सर्पका भ्रम न होनेसे जगत्को रज्जुसर्पके समान मिथ्या नहीं कहा जा सकता है। भ्रमकी सिद्धिके लिए कहीं न कहीं सत्य सर्पको मानना ही होगा। जिस पुरुषको भ्रम होता है, वह भी अधिष्ठान रज्जु से भिन्न होता है और सत्य होता है। इस प्रकार रज्जुसर्पस्थलमें तीन सत्य पदार्थ स्वीकार करने पड़ते हैं। इसी प्रकार ब्रह्ममें जिस जगत्का भ्रम होता है, उस जगत्को कहीं न कहीं सत्य मानना होगा। यदि कहीं भी सत्य जगत्को स्वीकार नहीं करेंगे तो 'ब्रह्ममें प्रतीयमान जगत् मिथ्या है' इस प्रकार जगत् को मिथ्या नहीं कह सकते हैं। यदि कहीं सत्य जगत् स्वीकार करते हैं तो 'ब्रह्म सत्यं जगन्मिथ्या' यह सिद्धान्त खण्डित हो जायेगा। जिसे रज्जुमें सर्पका भ्रम होता है, वह रज्जुसे पृथक् होता है। इसी प्रकार जिसे ब्रह्ममें जगत्का भ्रम होता है, उसे ब्रह्मसे भिन्न मानना होगा और ऐसा होनेपर जैसे भ्रमित पुरुषको अधिष्ठान रज्जुका ज्ञान होनेपर, सर्पभ्रमके निवृत्त होनेपर भी वह पुरुष रज्जुसे पृथक् बना रहता है, वैसे ही भ्रमित पुरुषको ब्रह्मका ज्ञान होनेपर जगद्भ्रमकी निवृत्ति होनेपर भी वह पुरुष ब्रह्मसे पृथक् बना रहेगा। ऐसा होनेपर जीव और ब्रह्मकी एकता भी सिद्ध नहीं होगी। अधिष्ठानके सामान्य अंशका ज्ञान, विशेष अंशका अज्ञान आदि भ्रमकी सामग्री होनेपर ही भ्रम होता है। यह सब मायावादियोंके यहाँ संभव नहीं है क्योंकि वे अधिष्ठानरूप चेतनको अंशरहित मानते हैं। अध्यस्त पदार्थका ज्ञान करानेवाली इन्द्रियसे अधिष्ठानका ज्ञान होना भी आवश्यक होता है, जो कि जगत्के अधिष्ठान ब्रह्मका नहीं मानते हैं। आकाशका इन्द्रिय-अग्राह्यत्व सर्वसम्मत न होनेके कारण तथा आकाश पञ्चीकरण प्रक्रियाजन्य

होनेसे सांश(सावयव) होनेके कारण उसे दृष्टान्तरूपसे नहीं कहा जा सकता है।

किसी अध्यारोपक(कल्पनाका कर्ता) के न होनेके कारण भी जगत्‌को मिथ्या नहीं कहा जा सकता है क्योंकि निर्विशेषाद्वैतीके मतमें ब्रह्म सर्वथा कूटस्थ निर्विकार होनेके कारण अध्यारोपक नहीं हो सकता है, अविद्या-उपहित ब्रह्मको भी अध्यारोपक नहीं कह सकते क्योंकि ऐसा मानने पर चेतन ब्रह्मको ही अध्यारोपक मानना होगा, अविद्या तो अध्यारोपमें द्वारमात्र होगी। सभी अध्यारोप स्थलमें चेतन देवदत्त आदि ही सर्प आदिके अध्यारोपक होते हैं। अविद्या तो अध्यारोपमें द्वारमात्र होती है। किसी प्रकार ब्रह्मको अध्यारोपक स्वीकार करनेपर उसमें अध्यारोपकत्व(अध्यारोपकर्तृत्व) रूप विकार भी मानना होगा। इससे निर्विशेषाद्वैत सिद्धान्त भंग हो जायेगा। यदि कहा जाय की अविद्या, अविद्याजन्य कल्पना तथा सुखदुःख आदि कल्पित विकारोंका अधिष्ठान ब्रह्म मान्य होनेके कारण वह विकारी नहीं होता है। जैसे कल्पित सर्पसे अधिष्ठान रज्जु विकारी नहीं होती है, तो दृष्टान्त विषम होनेसे यह कथन भी उचित नहीं है क्योंकि रज्जु अधिष्ठानसे भिन्न देवदत्त आदि सर्पके कल्पक होनेके कारण अधिष्ठान रज्जुमें विकार नहीं होता है। मायावादमें ब्रह्मसे भिन्न सब कल्पित होनेके कारण वे कल्पक नहीं हो सकते, इसलिए ब्रह्मको ही कल्पक मानने पर वह विकारी ही होगा। इस प्रकार रज्जुसर्प दृष्टान्तसे जगत्‌को मिथ्या नहीं कहा जा सकता है। वस्तुतः रज्जुसर्प दृष्टान्त और स्वप्न दृष्टान्तसे जगत्‌के मिथ्यात्वकी कल्पना बौद्धोंका ही अनुकरण है क्योंकि वे ही उन दृष्टान्तोंसे जगत्‌को मिथ्या स्वीकार करते हैं।

मिथ्यात्वका अर्थ सदसद्विलक्षणत्वरूप अनिवर्चनीयत्व करना भी उचित नहीं है क्योंकि जगत्‌में सदसद्विलक्षण पदार्थ ही

अप्रसिद्ध है। कोई पदार्थ सत् होता है, कोई पदार्थ असत् होता है। सदसद्विलक्षण कोई भी पदार्थ होता ही नहीं है। जैसे सत्त्व और असत्त्व इन विरुद्ध धर्मोका एक आश्रयमें रहना संभव नहीं है, वैसे ही सद्विलक्षणत्व और असद्विलक्षणत्व इन विरुद्ध धर्मोंका भी एक आश्रयमें रहना संभव नहीं है। अतः मिथ्यात्वका अर्थ सदसद्विलक्षणत्व नहीं हो सकता है। निर्विशेषाद्वैतियोंके अनुसार जगत् सदसद्विलक्षण है। इससे सदसद्विलक्षणरूपमें जगत् सत् होता है तथा उन्हींके अनुसार **नेह नानास्ति किंचन**(बृ.उ.४.४.१६) इत्यादि श्रुतियोंसे जगत् असद् सिद्ध होता है। इस प्रकार निर्विशेषाद्वैतवादीको जो जगत् सदसद्विलक्षणरूपमें मान्य है, वह सदसद्रूप सिद्ध होता है, अतः जगत्को सदसद्विलक्षणरूप मिथ्या मानना उचित नहीं है।

ब्रह्मने संकल्प किया कि मैं बहुत हो जाऊँ- **तदैक्षत बहु स्याम्** (छां.उ.६.२.३), **सोऽकामयत बहु स्याम्**।(तै.उ.२.६.२), ब्रह्मने स्वयंको जगद्रूपमें किया- **तदात्मानं स्वयमकुरुत**।(तै.उ.२.७.१) इन श्रुतियोंसे तथा **आत्मकृतेः**(ब्र.सू.१.४.२६) और **परिणामात्**(ब्र.सू.१.४.२७) इन सूत्रोंसे परमात्माका संकल्पपूर्वक बहुरूप अर्थात् जगद्रूप होना सिद्ध है। एक ब्रह्म बहुत रूपोंमें कैसे होता है? इस प्रश्नका 'ब्रह्म अपने संकल्पसे नानारूप धारण करता है'- **इन्द्रो मायाभिः पुरुरूप ईयते**।(बृ.उ.२.५.१६) यह श्रुति उत्तर देती है। **माया वयुनं ज्ञानम्**।(नि.ध.२२) इस प्रकार वैदिक निघण्टुमें माया शब्दका अर्थ ज्ञान किया गया है। ऐसा होनेपर भी प्रस्तुत श्रुतिमें आये माया शब्दका अविद्या अर्थ करना शास्त्रसम्मत नहीं है। ब्रह्मका जगद्रूप होना उनके सत्यसंकल्पसे सिद्ध है, इसलिए जगत् सत्य है। वह अविद्यासे सिद्ध नहीं है, इसलिए मिथ्या नहीं है।

शंका- बृहदारण्यकमें **द्वे वाव ब्रह्मणो रूपे**।(बृ.उ.२.३.१) इस प्रकार प्रकरणका आरम्भ करके 'पृथिवी, जल और तेज मूर्त हैं, वायु और आकाश अमूर्त हैं।' ऐसा वर्णन करके उन मूर्त और अमूर्त पदार्थोंको परमात्माका रूप कहकर **अथात आदेशो नेति नेति**।(बृ.उ. २.३.६) इस प्रकार दोनोंका निषेध करनेसे वह मूर्तामूर्तात्मक प्रपञ्च मिथ्या सिद्ध होता है।

समाधान- यह शंका उचित नहीं है क्योंकि मूर्तामूर्त प्रपञ्च तो प्रत्यक्षसे ज्ञात है किन्तु 'मूर्तामूर्त प्रपञ्च ब्रह्मका रूप है', इस प्रकार कही जानेवाली प्रपञ्चकी ब्रह्मरूपता श्रुतिको छोड़कर और किसी प्रमाणसे ज्ञात नहीं है, केवल श्रुतिसे ज्ञात है। अज्ञात अर्थका ज्ञापन करनेवाली श्रुति अपने कहे अर्थका निषेध नहीं कर सकती है। कोई उन्मत्त पुरुष ही अपने कहे अर्थका निषेध कर सकता है, इसलिए **अथात आदेशो नेति नेति** यह श्रुति मूर्तामूर्तप्रपञ्चका निषेध नहीं करती है। वहाँ 'नेति नेति' के पश्चात् भी परमात्माको 'सत्यका सत्य- **सत्यस्य सत्यम्**(बृ.उ.२.३.६) कहा गया है। इस से सत्यत्वमें तारतम्य होनेपर भी किसीको मिथ्या नहीं कहा जा सकता है। निरुपाधिक सत्य एक परब्रह्म ही है, अन्य पदार्थ सोपाधिक सत्य हैं।

शंका- अथात आदेशो नेति नेति यह श्रुति यदि प्रपञ्चका निषेध नहीं करती हैं तो किसका निषेध करती हैं?

समाधान- ब्रह्मसूत्रकार भगवान् वेदव्यास **प्रकृतैतावत्त्वं हि प्रतिषेधति ततो ब्रवीति च भूयः**(ब्र.सू.३.२.२१) इस प्रकार स्वयं ही उक्त शंकाका समाधान करते हैं। सूत्रका अर्थ इस प्रकार है कि मूर्त और अमूर्त पदार्थोंको ब्रह्मका रूप कहनेपर 'ब्रह्मके इतने रूप हैं।' इस प्रकार ब्रह्मके रूपोंकी जो इयत्ता(परिच्छिन्नता) प्राप्त होती है, उस इयत्ताका निषेध करनेवाला **नेति नेति** यह श्रुति वाक्य है। ब्रह्म इन्हीं दो रूपोंवाला है, यह बात नहीं है किन्तु इनसे भी अधिक रूपोंवाला

है। श्रुति वाक्य इस प्रकार है- **अथात आदेशो नेति नेति। न ह्येतस्मादिति नेत्यन्यत् परमस्ति। अथ नामधेयं सत्यस्य सत्यम् इति। प्राणा वै सत्यं तेषामेष सत्यम्।**(बृ.उ.२.३.६) यहाँ 'इति' शब्द इयत्तारूप प्रकारका वाचक है। मूर्तामूर्त रूपोंसे प्राप्त इयत्तारूप प्रकारसे युक्त ब्रह्म नहीं है। यह **अथात आदेशो नेति नेति** का अर्थ है। अब **न ह्येतस्माद् इति** इत्यादि वाक्यका अर्थ किया जाता है। नेति= इति न= इस प्रकार इयत्तारहित जिस ब्रह्मका प्रतिपादन किया गया है, उससे भिन्न वस्तु पर नहीं है अर्थात् ब्रह्मसे अन्य कोई वस्तु स्वरूपतः और गुणतः उत्कृष्ट नहीं हैं। यहाँ ब्रह्मसे अन्यके परत्व अर्थात् उत्कृष्टताका निषेध किया जाता है। अन्यमात्रका निषेध नहीं किया जाता है क्योंकि अन्यमात्रका निषेध मानने पर अन्यत् और परम् इनमेंसे अन्यतर पद व्यर्थ होने लगेगा क्योंकि वह निषेध तो इनमें किसी एक पदके द्वारा हो सकता है किन्तु श्रुति दोनों पदोंका प्रयोग करती है। ब्रह्मको इयत्तारहित उत्कृष्ट माननेपर ही दोनों पद सार्थक होते हैं। **अथ नामधेयं सत्यस्य सत्यम्** यह वाक्य इसी अर्थका दृढ़तासे प्रतिपादन कर रहा है। यहाँ प्राण शब्दसे चेतन जीवको कहा जाता है। उसे प्रकृतिके समान स्वरूपविकारसे रहित होनेके कारण सत्य कहा जाता है। परमात्माके ज्ञानादिका कभी भी संकोच न होनेसे उसे सत्यका सत्य कहा जाता है। जीव सत्य है, उससे भी बढ़कर ब्रह्म सत्य है। सत्यका अर्थ होता है- निर्विकार वस्तु। जड़ पदार्थके स्वरूपमें विकार होता रहता है। जीवके स्वभाव बननेवाले धर्मभूतज्ञानमें संकोच-विकासरूप विकार होता है किन्तु उसके स्वरूपमें विकार नहीं होता है, इसलिए जीवको सत्य कहा जाता है। ब्रह्मके स्वरूप और स्वभाव दोनोंमें विकार नहीं होता है, इसलिए उसे सत्यका सत्य कहा जाता है। इस विवरणसे यह सिद्ध होता है कि **अथात्**

आदेशो नेति नेति यह श्रुति जगत्का निषेध नहीं करती हैं, जिससे जगत्को मिथ्या माना जाए। यह तो ब्रह्मकी इयत्ताका निषेध करती है। श्रुति तथा सूत्रसे विरुद्ध होनेके कारण सिद्धान्तमें रज्जुसर्पवत् जगत्का मिथ्यात्व मान्य नहीं है।

यह चराचर जगत् ब्रह्म ही है- **पुरुष एवेदं सर्वम्**(ऋ.सं.८.४.१७, य.सं.३१.२), इस ब्रह्मके एक अंश सभी प्राणी हैं- **पादोऽस्य विश्वा भूतानि**(ऋ.सं.८.४.१७, य.सं.३१.३), हे परंतप! मेरी दिव्य विभूतियोंका अन्त नहीं है- **नान्तोऽस्ति मम दिव्यानां विभूतीनां परंतप।**(गी.१०.४०) विष्णुसहस्रनाम में परमात्माका एक नाम 'अनन्तरूप' कहा गया है। इसलिए 'नेति नेति' श्रुति मूर्तामूर्त प्रपञ्चका निषेध नहीं करती है। वह तो इयत्ताका ही निषेध करती है।

शंका- प्रकृतिको माया जानो तथा महेश्वरको मायापति जानो- **मायां तु प्रकृतिं विद्यात् मायिनं तु महेश्वरम्।**(श्वे.उ.४.१०) यह श्रुति जगत्की उपादान कारण मिथ्या मायाको कहती हैं, अतः उसका कार्य जगत् भी मिथ्या है।

समाधान- यह शंका भी उचित नहीं है क्योंकि मायापति ईश्वर प्रकृति नामवाली मायासे जगत्की सृष्टि करते हैं- **अस्मान्मायी सृजते विश्वमेतत्।**(श्वे.उ.४.९) इस वाक्यमें 'अस्मात्' पदके द्वारा उपादान मायासे अचेतन जगत्की सृष्टि प्रस्तुत है। माया क्या है? जगत्का रचयिता मायी कौन है? ऐसी अपेक्षा होनेपर **मायां तु** यह वाक्य प्रस्तुत होता है। इसके द्वारा माया शब्दके वाच्य त्रिगुणात्मक पदार्थको उद्देश्य करके उसका प्रकृतित्व विधेय है और मायी(मायापति) को उद्देश्य करके उसका सर्वेश्वरत्व ही विधेय है। जगत्के उपादानका मिथ्यात्व विधेय नहीं है। विचित्र पदार्थकी प्रतीति मात्रके साधन मन्त्रादिको लोकमें माया कहा जाता है।

साधनानुष्ठानके अधीन मन्त्रकी सिद्धिवाले किसी अपूर्ण जीवको मायी कहा जाता है। इस प्रकार असत्य पदार्थकी प्रतीतिमात्रके साधनको श्रुति माया शब्दसे नहीं कहती है किन्तु आश्चर्यमय, विविध, सत्य पदार्थोंको उत्पन्न करनेवाली त्रिगुणात्मिका प्रकृतिको माया शब्दसे कहती है। मायी शब्दके द्वारा कोई अपूर्ण जीव नहीं कहा गया है किन्तु सर्वेश्वर ही मायी शब्दके द्वारा कहे गये हैं। महेश्वर शब्दसे यह सूचित होता है कि मुक्त भी जगत्की सृष्टि नहीं कर सकता है। रामायणमें वर्णित मारीचके द्वारा रचित मायामृग भी मिथ्या नहीं है क्योंकि श्रीरामचन्द्रके बाणके द्वारा वह मारा गया। यदि वह मिथ्या होता तो श्रीलक्ष्मणके **नायं मृगः** इस वाक्यजन्य ज्ञानसे ही निवृत्त हो जाता, तब बाणसे मारनेकी आवश्यकता नहीं होती। वह मिथ्या नहीं था, अतः वाक्य जन्य ज्ञानसे निवृत्त न होनेके कारण बाणसे मारा गया।

शंका– मायामृग तो वाक्यजन्य ज्ञानसे ही बाधित हो गया था। बादमें उसकी प्रतीतिमात्र हो रही थी। उसकी निवृत्तिके लिए ही बाणका प्रयोग किया गया।

समाधान– यह शंका उचित नहीं है क्योंकि 'बाधितानुवृत्ति' होनेपर भी अध्यस्त पदार्थ दग्धपटके समान किसी कार्यका जनक नहीं हो सकता है। यहाँ पर तो मायामृगका दौड़ना, श्रीरामचन्द्रको बहुत दूर ले जाना, जोरसे बोलना आदि बहुतसे कार्य 'नायं मृगः' इस बाधक ज्ञानके पश्चात् भी होते हैं। इससे सिद्ध होता है कि वह मिथ्या नहीं था। इस प्रकार निर्विशेषाद्वैतसम्मत मिथ्यात्वका कोई भी उदाहरण उपलब्ध नहीं होता है।

शंका– विकार वाणीका आलम्बन मात्र है, नाममात्र है। मृत्तिका ही सत्य है– **वाचारम्भणं विकारो नामधेयं मृत्तिकेत्येव सत्यम्** ।(छां.उ.६.१.४) यह श्रुति जगत्को वाचारम्भण अर्थात् व्यावहारिक कहती है

और उसके कारणको ही सत्य कहती है, अतः इससे जगत्के सत्यत्वका निषेध होता है। वह व्यावहारिक जगत् मिथ्या ही है, सत्य नहीं है।

समाधान- उक्त श्रुतिके पूर्व ''जिसके श्रवणसे अश्रुत विषय श्रुत हो जाता है''- **येनाश्रुतं श्रुतं भवति।**(छां.उ.६.१.३) यह प्रतिज्ञा वाक्य है। यदि इस श्रुतिके द्वारा कारण ब्रह्मसे भिन्न जगत्के मिथ्यात्वकी प्रतिज्ञाकी गयी हो तो यह माना जा सकता है कि 'वाचारम्भणम्' यह श्रुति जगत्के मिथ्यात्वका वर्णन करती है। पूर्व श्रुति तो एकविज्ञानसे सर्वविज्ञानकी प्रतिज्ञा करती है। यह तभी संभव है, जब सब जगत् सत्य हो। जगत्का सत्यत्व स्वीकार न करनेपर प्रतिज्ञा ही असिद्ध हो जाती है। वाचारम्भणम् श्रुति जगत्के मिथ्यात्वका वर्णन कर ही नहीं सकती है क्योंकि वहाँ घटादि दृष्टान्त कहे गये हैं। यदि वह श्रुति मिथ्यात्वका वर्णन करती तो जिसका मिथ्यात्व निश्चित है, उसे ही दृष्टान्तरूपसे कहना चाहिए। श्रुति उसका कथन न करके **यथा सोम्यैकेन मृत्पिण्डेन**(छां.उ.६.१.४) इस प्रकार घटादि विकारोंका कथन करती है। इससे दृष्टान्त साध्यके अभाववाला हो जाता है। यह दृष्टान्तानुपपत्ति बहुत बड़ा दोष है। यहाँ जगत् पक्ष है, मिथ्यात्व साध्य है, विकारत्व हेतु है और मिट्टीके विकार घटादि दृष्टान्त हैं। जिसमें पहलेसे साध्यका निश्चय होता है, उसे दृष्टान्त कहते हैं। श्वेतकेतु जिस प्रकार रज्जुसर्पको मिथ्या समझता है, वैसे घटादि कार्योंको कभी भी मिथ्या नहीं समझ सकता है। यदि घटादि विकारोंको भी मिथ्या कहना इष्ट हो तो रज्जुसर्पका दृष्टान्तरूपसे वर्णन करना चाहिए। मिट्टीके विकार घटादिका दृष्टान्त रूपसे वर्णन नहीं करना चाहिए किन्तु श्रुति उनका दृष्टान्त रूपसे वर्णन करती है। इससे सिद्ध होता है कि 'वाचारम्भणम्' श्रुति भी जगत्के

मिथ्यात्वका निरूपण नहीं करती है। इस श्रुतिका विस्तृत विवेचन सविशेष ब्रह्मके प्रसङ्गमें देखना चाहिए।

शंका- जो पदार्थ प्रतीत होता है किन्तु वस्तुतः नहीं होता है। वह मिथ्या माना जाता है। ब्रह्मभिन्न जगत् प्रतीत तो होना है किन्तु **सदेव सोम्येदमग्र आसीदेकमेवाद्वितीयम्।**(छां.उ.६.२.१) इस श्रुतिके अनुसार वह नहीं होता है, इसलिए जगत्को मिथ्या मानना चाहिए।

समाधान- यह शंका उचित नहीं है क्योंकि उक्त श्रुति जगत्का निषेध करती ही नहीं है। वह तो अग्रे पदसे पूर्वकाल को कहती है। उक्त श्रुतिमें आया सत् शब्द विशेष्य परमात्माका वाचक होनेपर भी जगत्कारणत्व प्रसङ्गमें होनेसे जगत्कारण होनेके लिए उपयोगी गुणोंसे विशिष्ट तथा प्रकृतिपुरुषकालशरीरक परमात्माका बोध कराता है। आगे **तदैक्षत, बहु स्यां प्रजायेयेति।**(छां.उ.६.२.३) इस प्रकार परमात्माके संकल्प तथा बहुतरूप होनेका वर्णन है। परमात्मा सर्वज्ञ होनेसे सत्यसंकल्प करता है और सर्वशक्तिमान् होनेसे बहुत रूपवाला होता है। इस प्रकार सत् शब्दसे कहा गया परब्रह्म सर्वज्ञत्व और सर्वशक्तिमत्त्व गुणोंसे विशिष्ट सिद्ध होता है। जो चेतन जीव मुक्त नहीं हुए हैं, वे तथा अचेतन प्रकृति सूक्ष्मावस्थाको प्राप्त होकर सृष्टिके पूर्वकालमें विद्यमान रहती हैं। इदम्- नामरूपके विभागसे युक्त प्रत्यक्ष दृश्यमान बहुत्व अवस्थावाला जगत्, अग्रे-सृष्टिके पूर्व, एकमेव-नामरूपविभाग से रहित होनेके कारण एकत्व अवस्थाको प्राप्त होकर ही, अद्वितीयम्-अन्य निमित्तकारणसे रहित, सदेव- सद् शब्दका वाच्य एक ब्रह्म ही था। 'सदेव' यहाँ पर एव पदसे उत्पत्तिके पूर्व जगत्के असत्(अविद्यमान) होनेका निराकरण किया जाता है। 'एकमेव' यहाँ पर एव पदसे सृष्टिके पूर्व ब्रह्मकी बहुत्व अवस्थाका निराकरण किया जाता है। इसके पश्चात् **तदैक्षत, तत् तेजोऽसृजत।**(छां.उ.६.२.३) इस प्रकार तत् पदसे सत्

शब्द के वाच्यको ही निमित्तकारण कहा जाता है। 'अद्वितीयम्' पदके द्वारा अन्य निमित्तकारणका निषेध किया जाता है। 'सदेव' श्रुति यह प्रतिपादन करती है कि सृष्टिके पूर्व कार्य जगत् एक ब्रह्मरूपसे विद्यमान था, वह जगत्के अभावका प्रतिपादन नहीं करती है। सृष्टिके पूर्वकालमें द्वितीयका अभाव माननेपर भी सृष्टिके पश्चात् उसका अभाव न होनेसे जगत्के मिथ्यात्वकी सिद्धि नहीं होती है। जिस प्रकार 'घट, शराव आदि सभी उत्पत्तिसे पहले एक अद्वितीय मृत्पिण्ड ही थे। यह कथन घट, शराव आदिके मिथ्यात्वका प्रतिपादक नहीं होता है, उसी प्रकार 'यह सम्पूर्ण जगत् उत्पत्तिके पूर्व एक अद्वितीय ब्रह्म ही था।' यह कथन जगत्के मिथ्यात्वका प्रतिपादन नहीं करता है। सृष्टिके पूर्व जगत्के असत्त्वके प्रतिपादनसे उसकी अनित्यतामात्र सिद्ध होती है, मिथ्यात्व सिद्ध नहीं होता है।

शंका- नेह नानास्ति किंचन्(क.उ.२.१.११, बृ.उ.४.४.१६) इस वाक्यके द्वारा सृष्टिके उत्तरकालमें भी जगत्के असत्त्वका प्रतिपादन होनेसे जगत्का मिथ्यात्व सिद्ध हो जाता है।

समाधान- उक्त शंका उचित नहीं है क्योंकि नानात्वका निषेध करनेवाली श्रुति ब्रह्मके नानात्व(भेद) का निषेध करती है। ब्रह्ममें भेद जैसा कुछ नहीं है- **नेह नानास्ति किंचन**। ब्रह्म एक ही है, अतः उसमें भेद हो ही नहीं सकता है। इससे पूर्वके कठमन्त्रोंमें परमात्मा सब पर अनुग्रह करनेवाले, मनुष्यों तथा देवताओंके आराध्य कहे गये हैं। देशभेदसे और कालभेदसे परमात्मा भिन्न-भिन्न होंगे। इस शंकाका निराकरण करनेके लिए **यदेवेह** यह पूर्व मन्त्र प्रवृत्त होता है। इसे जगत्के मिथ्यात्वका बोधक मानना तो सभी प्रमाणोंसे विरुद्ध है। उक्त नानात्वनिषेधक श्रुति जगत्के असत्त्वका प्रतिपादन नहीं करती है, अतः उससे जगत्का मिथ्यात्व सिद्ध नहीं हो सकता है। उक्त श्रुति कठोपनिषत् और बृहदारण्यकमें पढ़ी गयी हैं। इस

लोक में जो परमात्मा हम सब का आत्मा है, वह ही लोकान्तर में स्थित प्राणियोंका भी आत्मा है, इस प्रकार सभीका आत्मा एक परमात्मा होनेपर भी जो उस परमात्मामें भेद जैसा देखता है, वह संसारसे संसारको प्राप्त होता है- **यदेवेह तदमुत्र यदमुत्र तदन्विह। मृत्योः स मृत्युमाप्नोति य इह नानेव पश्यति।।**(क.उ.२.१.१०) इसके पश्चात् "हम सबका आत्मभूत एक परमात्मा विशुद्ध मनसे ग्राह्य है"- **मनसैवेदम् आप्तव्यम्।**(क.उ.२.१.११) ऐसा कहकर पूर्वोक्त अर्थको ही दृढ़ करनेके लिए आगे **नेह नानास्ति किंचन, मृत्योस्स मृत्युं गच्छति य इह नानेव पश्यति।**(क.उ.२.१.११) यह श्रुति उपस्थित होती है। **नेह नानास्ति किंचन** यह वाक्य जगत्का निषेध नहीं करता है, यदि करता तो इसके पश्चात् 'तीनों कालोंमें विद्यमान प्रशासक परमात्मा उपासकके शरीरमें अङ्गुष्ठमात्र परिमाणवाला होकर रहता है। भूतभविष्य का शासक होनेके कारण अतिशय वात्सल्य होनेसे जीवके दोषोंसे घृणा नहीं करता है'- **अङ्गुष्ठमात्रः पुरुषो मध्य आत्मनि तिष्ठति, ईशानो भूतभव्यस्य ततो न विजुगुप्सते।**(क.उ.२.१.१२) इस प्रकार उपदेश नहीं होता। **विनञ्भ्यां नानाञौ न सह**(अ.सू.५.२.२७) इस सूत्रके द्वारा नञ् शब्दसे ना प्रत्यय होकर नाना शब्दकी सिद्धि होती है। पृथक् अर्थमें विद्यमान वि और नञ् शब्दोंसे क्रमशः ना और नाञ् प्रत्यय होते हैं- **विनञ् इति एताभ्याम् असहवाचिभ्यां नानाञौ भवतः।**(महा.५.२.२७) इस प्रकार नानाका अर्थ होता है-पृथक्। तब इस श्रुतिका 'जगत्में ब्रह्मसे पृथक्(स्वतन्त्र) कोई वस्तु नहीं है।' यह अर्थ होता है। चेतनाऽचेतन सब पदार्थ ब्रह्मके अधीन ही हैं। अतः ब्रह्मसे भिन्न अब्रह्मात्मक स्वतन्त्र वस्तुका निषेध किया जाता है। **मृत्योः स मृत्युम् आप्नोति** यह श्रुति स्वतन्त्र भेददर्शनकी ही निन्दा करती है। वेदार्थसंग्रहमें कहा है कि **नेह नानास्ति किञ्चन** इस श्रुतिसे सभीके

निषेध की शंका नहीं करनी चाहिए क्योंकि आगे **सर्वस्य वशी, सर्वस्येशानः, सर्वस्याधिपतिः, एष सेतुर्विधरणः।** (बृ.उ.४.४.२२) इस प्रकार ब्रह्मके सत्यसंकल्पत्व, सर्वेश्वरत्व, स्वामित्व और धारकत्व गुणोंका वर्णन किया गया है। यदि श्रुति सबका निषेध करती तो इनका वर्णन व्यर्थ होता, अतः वह अब्रह्मात्मक अर्थात् स्वतन्त्र वस्तुका निषेध करती है। चेतनाऽचेतन सभी पदार्थ उसके शरीर हैं। इन सभी शरीररूप प्रकारों वाला एक परमात्मा ही सभी रूपमें स्थित है। ब्रह्मात्मक भेद इस एकताका विरोधी नहीं है, अब्रह्मात्मक भेद विरोधी है, इसलिए श्रुति इसका ही निषेध करती है, **हिरुङ् नाना च वर्जने**(अ.को.३.४.३) इस कोशवचनके अनुसार नानाका अर्थ वर्जन अर्थात् विना होता है। तब प्रस्तुत श्रुतिका अर्थ होता है- इस जगत्में ब्रह्मके विना कोई वस्तु नहीं है। सब जगत् ब्रह्मका अविनाभूत है, इसलिए ब्रह्मके विना अर्थात् ब्रह्मको छोड़कर स्वतन्त्ररूपमें कोई वस्तु रह ही नहीं सकती है। भेदनिषेधक और भेदबोधक शास्त्र वचनोंकी संगति आगे 'सिद्धान्त' शीर्षकमें देखनी चाहिए।

जगत्को मिथ्या माननेपर शाब्दबोधकी असिद्धि- श्रुतियाँ शब्दरूप हैं। शक्तिज्ञानके विना शब्द अर्थका बोधक नहीं हो सकता हैं। लोकमें व्यवहारसे ही शक्तिज्ञान होता है। जगत्का मिथ्यात्व स्वीकार करनेपर लोकव्यवहारका विषय मिथ्या होनेसे उसके अधीन शक्तिज्ञान भी भ्रम ही होगा, इसलिए श्रुतिवाक्यसे प्रमारूप शाब्दबोध नहीं होगा, अतः जगत्को मिथ्या मानना उचित नहीं है। श्रुति अपने प्रामाण्यमें अन्यप्रमाणकी अपेक्षा नहीं करती है पर शक्तिज्ञानमें तो अन्यकी अपेक्षा होती ही है। लौकिक शब्दोंके समान वैदिक शब्द भी शक्तिज्ञानके विना शाब्दबोध उत्पन्न नहीं कर सकते हैं।

अनुमानप्रमाणसे भी जगद्मिथ्यात्वकी असिद्धि– प्रपञ्च मिथ्या है, दृश्य होनेसे और प्रपञ्च मिथ्या है, व्यावर्तमान होनेसे स्वप्नके पदार्थोंके समान– **प्रपञ्चो मिथ्या दृश्यत्वात्, प्रपञ्चो मिथ्या व्यावर्तमानत्वात्, स्वाप्नादिवत्** इत्यादि अनुमान प्रयोग करते समय पक्ष, साध्य और हेतुका ज्ञान अति आवश्यक होता है। इन अनुमानोंमें पक्ष, साध्य और हेतुको विषय करनेवाले ज्ञान प्रमात्मक हैं या भ्रमात्मक? यह प्रश्न उपस्थित होता है। यदि ज्ञान प्रमात्मक हैं तो पक्षविषयक ज्ञानका विषय प्रपञ्च सत्य ही सिद्ध होगा, तब उसमें मिथ्यात्वको सिद्ध करने पर बाध दोष उपस्थित होगा। यदि वे ज्ञान भ्रमात्मक हैं तो पक्षादि अप्रमाणिक होंगे, ऐसा होनेपर आश्रयासिद्धि आदि दोष उपस्थित होंगे। यदि ऐसा कहना चाहें कि सबको मिथ्या माननेवालेको बाध, आश्रयासिद्धि आदि दोष इष्ट ही हैं तो ऐसा भी नहीं कह सकते हैं क्योंकि दोषोंको स्वीकार करनेसे उन दोषोंसे युक्त हेतु साध्यकी अनुमिति नहीं कर सकता है। मिथ्यात्ववादी पक्षमें हेतु और साध्यको मिथ्या मानते हुए पक्षमें हेतु और साध्यका सद्भाव कहते हैं। इस प्रकार स्ववचनविरोध दोष भी उपस्थित होता है।

ब्रह्मभिन्न सभीको मिथ्या माननेवाले विद्वान् जो यह प्रतिज्ञा करते हैं कि ब्रह्मभिन्न सब मिथ्या है। इस प्रतिज्ञासे सिद्ध होनेवाला मिथ्यात्व इसी प्रतिज्ञामें रहता है या नहीं। यदि रहता है तो प्रतिज्ञा मिथ्या होनेसे प्रतिज्ञाका विषय मिथ्यात्व भी मिथ्या सिद्ध होता है, इस प्रकार ब्रह्मभिन्न प्रपञ्चका भी सत्यत्व ही सिद्ध होता है। यदि मिथ्यात्व प्रतिज्ञामें नहीं रहता है तो प्रपञ्चका मिथ्यात्व मिथ्या सिद्ध नहीं हो सकता है। प्रपञ्चमिथ्यात्व भी पक्षके अन्तर्गत हैं। उसमें साध्य न रहनेपर हेतुके रहनेसे व्यभिचार दोष उपस्थित होता है।

शंका– 'जिस प्रकार मिथ्यात्वमें मिथ्यात्व है या नहीं' ऐसे विकल्प करके मिथ्यात्वका खण्डन किया जाता है, उसी प्रकार सत्यत्वमें सत्यत्व है या नहीं, ऐसे विकल्प करके सत्यत्वका भी खण्डन किया जा सकता है। इस प्रकार जगत्को सत्य नहीं माना जा सकता है, अतः मिथ्यात्वखण्डनरीति अनुचित है।

समाधान– मिथ्यात्वका मिथ्यात्व मानने और सत्यत्वका सत्यत्व माननेमें अत्यन्त भेद है। मिथ्यात्वका मिथ्यात्व माननेपर प्रथम मिथ्यात्व खण्डित हो जाता है और सत्यत्वका सत्यत्व माननेपर प्रथम सत्यत्वकी दृढ़ता होती है। अतः उक्त विकल्प करके जगत्के सत्यत्वका खण्डन नहीं हो सकता है। इस कारण मिथ्यात्वखण्डनरीति उचित ही है।

शंका– प्रपञ्चमिथ्यात्व सद् ब्रह्म ही है।

समाधान– इस प्रकार प्रपञ्चमिथ्यात्व सद्ब्रह्मरूप होनेसे सत् अर्थात् सत्य ही सिद्ध होता है, तब ब्रह्मभिन्न सभीको मिथ्या नहीं कहा जा सकता है।

शंका– सभीको सद्ब्रह्मरूप माननेवाले हमारे मतमें वह दोष नहीं है।

समाधान– **सर्वं खल्विदं ब्रह्म**(छां.उ.३.१४.१) इस श्रुतिके अनुसार प्रपञ्च भी सद् ब्रह्मरूप सिद्ध होता है। तब तो प्रपञ्चको सत्य ही मानना चाहिए।

शंका– प्रपञ्च जड़ होनेसे ब्रह्मभिन्न है, अतः वह ब्रह्मस्वरूप नहीं हो सकता है। इसलिए **सर्वं खल्विदं ब्रह्म** इस श्रुतिका अर्थान्तरमें तात्पर्य है।

समाधान– प्रपञ्चमिथ्यात्व भी जड़ होनेसे ब्रह्मभिन्न है, अतः वह भी ब्रह्मस्वरूप नहीं हो सकता है। अतः जगतद्मिथ्यात्व पक्षमें उक्त दोष बने ही रहते हैं, उनका निवारण नहीं हो सकता है।

सूत्रकार महर्षि बादरायणने ही स्वप्न दृष्टान्तसे जगत्को मिथ्या सिद्ध करनेवाले अनुमानोंको ''वैधर्म्य होनेसे जगत् स्वप्नादिके समान नहीं है''- **वैधर्म्याच्च न स्वप्नादिवत्**(ब्र.सू.२.२.२८) यह कहकर निरस्त कर दिया है। स्वप्नके पदार्थ और जाग्रतके पदार्थोंमें अत्यन्त विलक्षणता होनेके कारण स्वप्नके दृष्टान्तसे जगत्को मिथ्या सिद्ध नहीं किया जा सकता है। दृष्टान्त मात्रसे यदि वस्तुकी सिद्धि होती तो जाग्रत दृष्टान्तसे स्वप्नके पदार्थ सत्य क्यों नहीं हो सकते हैं? यदि कहें कि जाग्रतकालमें बाध होनेसे स्वप्नके पदार्थ सत्य नहीं हो सकते हैं तो यह कहना भी उचित नहीं है क्योंकि जाग्रतकालमें भी 'मैंने स्वप्नका अनुभव नहीं किया।' ऐसा कोई नहीं कहता है। स्वप्नका अनुभव तो किया था किन्तु उसमें देखे गये पदार्थ नहीं हैं। ऐसा ही सबको अनुभव होता है। इससे स्वप्नके पदार्थोंका मिथ्यात्व सिद्ध होता है। यह कथन भी उचित नहीं है क्योंकि इसका अर्थ यह है कि स्वप्नके पदार्थ जाग्रतकालमें नहीं हैं। स्वप्नमें स्वप्नके पदार्थोंका अभाव नहीं हो सकता है। जो यह मानते हैं कि ब्रह्मज्ञान होनेपर व्यवहार ही नहीं होता। उनका यह विचार ही अत्यन्त हास्यास्पद है कि ज्ञानसे व्यवहारके विषयका बाध होता है या नहीं।

प्रपञ्च सत्य है, भासमान होनेसे- **प्रपञ्चः सत्यः भासमानत्वात्।** प्रपञ्च सत्य है, असद्भिन्न होनेसे- **प्रपञ्चः सत्यः असद्भिन्नत्वात्।** जिस प्रकार आत्मा भासमान और असद्से भिन्न होनेके कारण सत्य है, उसी प्रकार प्रपञ्च भी भासमान और असत्से भिन्न होनेके कारण सत्य है। प्रपञ्चको शंकाकार भी असद्विलक्षण मानता है, अतः उसे भी पक्षमें असद्भिन्नत्व हेतु मान्य है। इन अनुमानोंसे जगत्का सत्यत्व सिद्ध होता है।

वेदोंमें ब्रह्मसे जगत्की उत्पत्ति आदि सुनी जाती है। ब्रह्म कारणत्वेन और जगत् कार्यत्वेन सुना जाता है, मृद्घटादि दृष्टान्त

भी सुने जाते हैं किन्तु लोकमें कार्यकारण-भावका निरूपण करना ही कठिन है, इसलिए वास्तविकता यह है कि **ब्रह्म सत्यं जगत् मिथ्या** इस सिद्धान्तको किसी भी रीतिसे समझानेके लिए श्रुति रज्जुसर्पादि दृष्टान्तके अभिप्रायसे मृद्‌घटादि दृष्टान्तों को कहती है, ऐसा जगत्‌मिथ्यात्ववादियोंका मत है। उपनिषदोंको ऊषरभूमि प्रायः कहनेवाले पूर्वमीमांसकोंसे अहसमति व्यक्त करके सम्पूर्ण वेदोंके प्रामाण्यस्थापनमें प्रवृत्त हुए निर्विशेषाद्वैती विद्वान् उपनिषद्‌वाक्योंके व्याख्यानके बहाने यह सब असत्य है, इस प्रकार स्वयं बौद्धमत प्रचारित करते हैं। श्रीशंकरभगवत्पादसे पूर्व श्रीगौड़पादाचार्यने बौद्धविद्वानोंसे जगत्-मिथ्यात्ववादको ग्रहण करके प्रचारित किया। श्रीगौड़पादाचार्यसे ही आरम्भ होकर कुछ वैदिक अद्वैतियोंमें भी जगद्‌मिथ्यात्ववाद स्वीकृत हुआ। इसे गौड़पादकी कारिकाओं द्वारा आसानीसे समझा जा सकता है। जिस माण्डूक्य उपनिषद्‌की व्याख्यारूपमें कारिकाएं प्रवृत्त हुई हैं, उसमें जगत्‌के मिथ्यात्वका बोधक एक भी पद विद्यमान नहीं है। अल्प कलेवरवाली इस उपनिषद्‌में चारपादवाले प्रणवमें चार प्रकारकी ब्रह्मदृष्टि करनेसे फलनिर्देशपूर्वक उपासनाका निरूपण हुआ है। अन्य उपनिषदोंमें जगद्‌मिथ्यात्ववाद अत्यन्त दुर्लभ है। तत्वबोधक गीतादि ग्रन्थोंमें कहीं भी मिथ्यात्वका निरूपण नहीं है। सभी उपनिषदोंमें ब्रह्मका परिणामरूप जगत् कहा गया है। उनमें कहीं भी जगत्‌के मिथ्यात्वका बोधक शब्द नहीं है। जगत् मिथ्यात्ववादी विद्वान् 'प्रमाणत्वेन इष्ट वेदशास्त्र मिथ्या हैं, शिष्याचार्य उपदेशपरम्परा मिथ्या है, उपदिष्ट मोक्षका उपाय और उससे साध्य मोक्ष भी मिथ्या है' ऐसे कहने में कोई संकोच नहीं करते हैं। इस प्रकार स्वसिद्धान्तप्रचारके बहाने सम्प्रदाय, सिद्धान्त और शिष्याचार्य-परम्परा आदि भेदोंका ही आश्रय लेने वाले वे सदा प्रवृत्ति में ही लगे रहते हैं, निवृत्तिपथका

आलम्बन नहीं कर पाते हैं। इस प्रकार उनके वचन और आचरणमें एकरूपता नहीं होती है। श्रीयादवप्रकाशाचार्यने इसी विषयमें कहा है– वेद मिथ्या हैं, बौद्धोंके शास्त्र मिथ्या हैं। वेद और बौद्धशास्त्रोंका प्रामाण्य मिथ्या है, ज्ञाता मिथ्या है, ज्ञान और मोक्ष मिथ्या हैं। ऐसा माननेवाले जगत् मिथ्यात्ववादी निर्विशेषाद्वैती तथा बौद्ध एकसभामें बैठने योग्य हैं– **वेदोऽनृतो बुद्धकृतागमोऽनृतः प्रामाण्यमेतस्य च तस्य चानृतम्। बोद्धाऽनृतो बुद्धिफले तथानृते यूयं च बौद्धाश्च समानसंसदः।** यह मिथ्यात्ववाद सर्वानुभवविरुद्ध है।

ओङ्कार प्रणवकी आत्म(ब्रह्म)दृष्टिसे उपासना और प्रणवके समान आत्माके चारपादोंके वर्णनपूर्वक उपासकोंको प्राप्त होनेवाले फलविशेषका कथन करनेवाली माण्डूक्यश्रुति आत्माकी जाग्रत, स्वप्न आदि अवस्थाओंका वर्णन करती हुई किसी भी अक्षरसे उन अवस्थाओंको मिथ्या नहीं कहती है बल्कि उन उपासनाओंके फलविशेषको कहती है। ऐसा होनेपर जगन्मिथ्यात्व माण्डूक्य श्रुतिसे कैसे समर्थित हो सकता है? आत्माके जागरितस्थान, स्वप्नस्थान और सुषुप्तिस्थान आदि भेदोंका वर्णन करनेवाली माण्डूक्य श्रुतिके समान कठ श्रुति इस प्रकार है– **स्वप्नान्तं जागरितान्तं चोभौ येनानुपश्यति**(क.उ.२.१.४) इत्यादिके द्वारा कठ श्रुति आत्मस्वरूपका सुन्दररीतिसे प्रतिपादन करके बहुत बार **एतद् वै तत्** इस प्रकार अन्तमें सबका ब्रह्मसे तादात्म्य निरूपण करते हुए किसीका भी मिथ्यात्व नहीं कहती है। मध्यमें अनेक बार **तदेतत्सत्यम्**(मु.उ.१.२.१ तथा २.१.१) इस प्रकार कहकर प्रकरणोंका आरम्भ करनेवाली मुण्डक श्रुति **मन्त्रेषु कर्माणि**(मु.उ.१.२.१) और **यथा सुदीप्तात् पावकात्** (मु.उ.२.१.१) इत्यादि वाक्योंसे अपूर्व विविध सृष्टि आदि भेदोंका विस्तारसे वर्णन करते हुए उन सबको सत्य ही कहती है, मिथ्या नहीं कहती है। श्रुतिमें ब्रह्मेतरका मिथ्यात्व कहीं भी नहीं

कहा गया है, बल्कि **तदेतत्सत्यम्** इस प्रकार सृष्टिका सत्यत्व ही कहा गया है।

शंका- मृत्तिकेत्येव सत्यम्(छां.उ.६.१.४) इस वाक्यसे ही जगत् का मिथ्यात्व सिद्ध होता है। यह वाक्य कार्यका मिथ्यात्व सिद्ध करके एकमात्र कारणकी सत्यताको सिद्ध करता है। इस प्रकार सबका कारण ब्रह्म सत्य एवं तद्भिन्न जगत् मिथ्या सिद्ध होता है।

समाधान- यदि ऐसा है तो छान्दोग्यमें तीनों दृष्टान्त वाक्योंसे निर्दिष्ट मृत्तिका, लोहमणि और कार्ष्णायस इन कारणोंको भी सत्य कहनेसे एक ब्रह्म ही कैसे सत्य हो सकता है?

शंका- मृत्तिका आदिमें व्यावहारिक सत्यत्व हम मानते हैं।

समाधान- तदेतत्सत्यम् इस प्रकार बहुत बार श्रुतिके द्वारा कहा गया जगत्का सत्यत्व भी व्यावहारिक सत्यत्व है, यह मत श्रद्धेय नहीं है। आपने बौद्धदर्शनमें 'सांवृत्तिक' इस नामान्तरसे कहे गये व्यावहारिक सत्यत्वको बौद्धोंसे मिथ्यात्वके समान भिक्षामें प्राप्त किया है क्योंकि लोकमें तथा आर्ष ग्रन्थोंमें सत्यत्वके ऐसे त्रिविध भेद उपलब्ध नहीं होते हैं। आपके मतमें **जन्माद्यस्य यतः**(ब्र.सू.१.१.२) इस प्रकार सूत्रकारके द्वारा वर्णित ब्रह्मका **जगत्कारणत्व** लक्षण भी मिथ्या ही है तथा **कारणं तु ध्येयः**(अ.शि.उ.२.१७) इस प्रकार श्रुतिसे कहा गया मुक्तिका साधन ब्रह्मका ध्यान भी मिथ्या ही है। इस प्रकार सभी वेदान्तवाक्योंको कल्पित अर्थका बोधक मानकर उनका अन्य अर्थ करना हठधर्मिता ही है। श्रीगौड़पादाचार्यने बौद्धसिद्धान्तका वेदान्तमें आरोप करके कारिकाओंमें जो कहा है, वह सब विचारणीय ही है।

माण्डूक्यकारिकाके अलातशान्ति प्रकरणमें जगद्मिथ्यात्वाद तथा ज्ञानात्मवादका निरूपण होनेपर बौद्धमतसे तुम्हारा क्या भेद है? इस शंकाका **नैतद् बुद्धेन भाषितम्**(मा.का.अला.९९) यह कहकर

समाधान दिया गया है। वहाँ का शांकरभाष्य इस प्रकार है-'यद्यपि बाह्यवस्तुका निराकरण और ज्ञानमात्रकी कल्पना जो कि अद्वैत वस्तुके समीपवर्ती है, ऐसे विषयका उपदेश बुद्ध ने किया है किन्तु परमार्थ तत्त्व अद्वैत तो वेदान्तवाक्योंके द्वारा ही ज्ञेय है'- **यद्यपि बाह्यार्थनिराकरणं ज्ञानमात्रकल्पना चाद्वयवस्तुसामीप्यम् उक्तम्। इदं तु परमार्थतत्त्वम् अद्वैतं वेदान्तेषु एव विज्ञेयम्।** इस प्रकार श्रीशंकराचार्यने अपने अद्वैतसिद्धान्तकी बाह्यार्थनिराकरण और ज्ञानात्मवाद विषयमें बौद्धसे समीपताका स्वयं ही निरूपण किया है। हमारे मतमें ज्ञानस्वरूप ब्रह्मको अधिष्ठान माना जाता है, यह हमारी विशेषता है। यह कथन तो अपने में नास्तिकत्वभ्रमके निराकरणके लिए वैदिकताका चोला पहनना जैसा है। यही वस्तु स्थिति है क्योंकि 'विज्ञानवादीने जिसे स्वीकार किया था कि घटादिके अविद्यमान होने पर ही चित्तको घटादिका ज्ञान होता है। विज्ञानवादीके द्वारा स्वीकृत यह मत हमारे द्वारा अनुमोदित ही है'- **यस्माद् असत्येव घटादौ घटाद्याभासता चित्तस्य विज्ञानवादिना अभ्युपगता, तद् अनुमोदितम् अस्माभिरपि।**(मा.का.अला.२८) इस प्रकार कहनेवाले आचार्य शंकरने स्वयं बौद्धके साथ स्वसिद्धान्तकी समता स्वीकारकी है। गौड़पादीय कारिकाएं बौद्धसिद्धान्तके प्रतिपादक 'लंकावतार' ग्रन्थके श्लोकोंसे शब्दतः और अर्थतः समानता रखती हैं। **न च वाच्योऽस्ति न मोक्षो न बन्धनम्** इत्यादि लंकावतार ग्रन्थसे समानता रखनेवाली माण्डूक्यकारिकाओं के वैतथ्य प्रकरणकी **न निरोधो न चोत्पत्तिर्न बद्धो न च साधकः। न मुमुक्षुर्न वै मुक्त इत्येषा परमार्थता।।**(मा.का.वै.३२) यह कारिका है। **गन्धर्वनगरस्वप्नमायानिर्माणसदृशाः**(लं.) इत्यादि लङ्कावतार ग्रन्थसे समानता रखनेवाली वैतथ्य प्रकरणकी **स्वप्नमाये**(मा.का.वै.३१) इत्यादि कारिका है। जब आचार्य स्वयं बौद्धसिद्धान्त से

स्वसिद्धान्तकी समानता कहते हैं तो ऐसी समानता लिखना व्यर्थका ही विस्तार होगा।

गौड़पादीय कारिकाओंके व्याख्यानमें उक्त दृष्टिवाले श्रीशंकराचार्यकी **वैधर्म्याच्च न स्वप्नादिवत्**(ब्र.सू.२.२.२६) के व्याख्यानमें दूसरी दृष्टि(मत) परिलक्षित होती है, वहाँ उन्होनें सूत्रका अनुसरण करते हुए स्वप्नदृष्टान्तपूर्वक जाग्रतप्रपञ्चके मिथ्यात्वका निराकरण किया है। स्वप्न और जाग्रत अवस्थाके ज्ञानोंमें वैधर्म्य है। पुनः वह वैधर्म्य क्या है? हम कहते हैं- बाध और अबाध है। स्वप्न अवस्थामें उपलब्ध वस्तु जाग्रत मनुष्यको बाधित होती है। इस प्रकार जाग्रत अवस्थामें उपलब्ध स्तम्भ आदि वस्तुएं किसी अवस्थामें बाधित नहीं होती हैं- **वैधर्म्यं हि भवति स्वप्नजागरितयोः। किं पुनः वैधर्म्यम्? बाधाबाधाविति ब्रूमः। बाध्यते हि स्वप्नोपलब्धं वस्तु प्रतिबुद्धस्य ....नैवं जागरितोपलब्धं वस्तु स्तम्भादिकं कस्यांचिदपि अवस्थायां बाध्यते**(ब्र.सू.शां.भा.२.२.२६)। कारिकाओंके भाष्यमें बौद्धमतका आश्रय लेकर बाह्य अर्थका निराकरण और ज्ञानमात्रकी कल्पना करनेवाले आचार्य शंकर बौद्धमत-निराकरणके प्रसङ्गमें **नाभाव उपलब्धेः**(ब्र.सू.२.२.२८) इस सूत्रके भाष्यमें ज्ञानसे अतिरिक्त बाह्य पदार्थका प्रतिपादन करते हैं।

शास्त्रों का सत्यत्व- जगत्-मिथ्यात्ववादियोंका मत है कि शास्त्र अविद्यासे कल्पित हैं, इसलिए मिथ्या हैं। शास्त्र सम्पूर्ण प्रपञ्चके मिथ्यात्वका निरूपण करके एकमात्र निर्विशेष ब्रह्मका प्रतिपादन करते हैं। शास्त्रप्रतिपाद्य इस अर्थका उत्तरकालमें बाध(निषेध) नहीं होता है, इसलिए यह ब्रह्म ही सत्य सिद्ध होता है। यह मत उचित नहीं है क्योंकि "शून्य ही तत्त्व है" इस माध्यमिक बौद्धके कथनसे ब्रह्मका भी बाध हो जाता है, उत्तरकालमें ब्रह्मका निषेध नहीं होता है, ऐसी बात नहीं है, इसलिए ब्रह्म कैसे सिद्ध होगा? इसपर

निर्विशेषाद्वैती कहते हैं कि माध्यमिकका वाक्य भ्रान्तिमूलक है, इसलिए वह ब्रह्मका बाध नहीं कर सकता है। यह कथन उचित नहीं है क्योंकि निर्विशेषाद्वैतीके अनुसार शास्त्र भी भ्रान्तिकल्पित हैं, इसलिए शास्त्रसे ब्रह्मकी सिद्धि नहीं हो सकती है। यदि भ्रान्तिमूलक शास्त्र से ब्रह्म की सिद्धि हो सकती है, तो माध्यमिकके भ्रान्तिमूलक वाक्यसे ब्रह्मका बाध भी हो सकता है। माध्यमिक सिद्धान्तका ही उत्तरकालमें बाध नहीं होता हैं, इसलिए सर्वशून्यवाद ही सबको काटनेवाला अन्तिमवाद होगा और वही विजयी हो जाएगा। इस विवेचनसे यह सिद्ध होता है कि सत्य शास्त्रसे ही ब्रह्म सिद्ध होगा, भ्रान्तिकल्पित शास्त्रसे सिद्ध नहीं होगा। शास्त्रका प्रामाण्य स्वीकार करनेवाले विद्वानोंको शास्त्र सत्य ही स्वीकार करने चाहिए।

निर्विशेषाद्वैतियोंका वाद(शास्त्रार्थ)में अनधिकार- माध्यमिक और निर्विशेषाद्वैतियोंका शास्त्रार्थमें अधिकार नहीं है। माध्यमिक बौद्ध सबको शून्य मानते हैं, इसलिए वे अपने पक्षके साधक प्रमाणको भी शून्य मानते हैं। निर्विशेषाद्वैती विद्वान ब्रह्मेतर सभीको मिथ्या मानते हैं, इसलिए वे अपने पक्षके साधक प्रमाणको भी मिथ्या मानते हैं। इस प्रकार ये दोनों ही प्रमाणको सत्य नहीं मानते हैं, अतः इनका वादमें अधिकार नहीं हैं। वाद भी संग्रामके समान है। जिस प्रकार आयुधधारियोंका ही युद्धमें अधिकार है, उसी प्रकार प्रमाण और तर्कको सत्य माननेवालोंका ही वादमें अधिकार है। उक्त दोनों प्रकारके विद्वानोंको अपने मतके अनुसार मानना पड़ता है कि मेरे पास प्रमाण और तर्क नामक कोई पदार्थ है ही नहीं। जिस प्रकार मध्यस्थ पुरुष शस्त्रधारियोंको ही युद्ध करनेकी अनुमति दे सकता है, उनके साथ शस्त्ररहित पुरुषोंको युद्ध करनेकी अनुमति नहीं दे सकता है। उसी प्रकार मध्यस्थपुरुष प्रमाण और तर्क सत्य माननेवाले विद्वानोंको ही शास्त्रार्थ करनेकी अनुमति दे सकते हैं।

प्रमाण और तर्क सत्य न माननेवालोंको शास्त्रार्थ करनेकी अनुमति नहीं दे सकते हैं। इसी विषयमें कुमारिल भट्ट कहते हैं कि शास्त्रार्थके साधन सत्य प्रमाण और तर्क माननेवालोंका ही शास्त्रार्थमें अधिकार है, सत्य प्रमाण और तर्कसे रहित विद्वानोंका शास्त्रार्थमें अधिकार नहीं है- **सर्वदा सदुपायानां वादमार्गः प्रवर्तते। अधिकारोऽनुपायत्वान्न वादे शून्यवादिनः।।** यद्यपि यहाँ शून्यवादीका ही उल्लेख है फिर भी यह व्यवस्था निर्विशेषाद्वैतियोंके प्रति भी चरितार्थ होती है।

सत्यं ज्ञानम् अनन्तं ब्रह्म(तै.उ.२.१.१) इस श्रुतिके व्याख्यानमें प्रसङ्गतः जगद्मिथ्यात्व का निराकरण किया गया। अब श्रुतिमें आए ज्ञानपदका व्याख्यान प्रस्तुत है-

ज्ञान- 'सत्यं ज्ञानम्' इस तैत्तिरीयश्रुतिमें आया ज्ञान पद कभी भी संकुचित न रहनेवाले ज्ञान स्वभाववाले ब्रह्मको कहता है। ऐसा होनेसे मुक्तकी व्यावृत्ति हो जाती है क्योंकि मुक्त होनेके पहले उसका धर्मभूतज्ञान संकुचित रहता है।

शंका- ज्ञानपदका विषयप्रकाशकत्वरूप ज्ञानत्व(सविषयकत्च) प्रवृत्तिनिमित्त स्वीकार करनेपर धर्मभूतज्ञानका ग्रहण होगा क्योंकि यही विषयका प्रकाशक है तथा स्वरूपभूतज्ञानका ग्रहण नहीं होगा क्योंकि यह केवल अपना प्रकाशक है, अपनेसे भिन्न किसी भी विषयका प्रकाशक नहीं है। यदि ज्ञान पदका स्वयंप्रकाशत्वरूप ज्ञानत्व प्रवृत्तिनिमित्त स्वीकार करते हैं तो ज्ञानमात्र स्वस्वरूपका ग्रहण होगा क्योंकि यही स्वयंप्रकाश है। ज्ञानगुणाश्रयका ग्रहण नहीं होगा क्योंकि यह स्वयंप्रकाश नहीं है। श्रुति तथा सूत्र ज्ञानगुणाश्रयत्वेन तथा ज्ञानस्वरूपत्वेन दोनों प्रकारसे परमात्माका भी प्रतिपादन करते हैं किन्तु किसी भी रीतिसे उभयतः परमात्माका ग्रहण नहीं होता है।

समाधान- स्वयंप्रकाशत्वरूप ज्ञानत्वको प्रवृत्तिनिमित्त स्वीकार करनेपर समाधान हो जाता है क्योंकि स्वरूपभूत ज्ञान तो स्वयंप्रकाश है ही तथा धर्मभूत ज्ञान विषयका प्रकाशक होनेके साथ स्वयंप्रकाश भी है, इसलिए स्वयंप्रकाशत्वरूप ज्ञानत्व स्वरूप और धर्म दोनोंमें रहता है। इस प्रकार ज्ञानपदसे ज्ञानाश्रयत्वेन तथा ज्ञानस्वरूपत्वेन दोनों प्रकारोंसे ब्रह्मका ग्रहण होता है। जैसे ब्रह्म स्वरूपतः बृहत् है और गुणतः बृहत् है, वैसे ही वह स्वरूपतः ज्ञान है और धर्मतः भी ज्ञान है। परमात्माके स्वरूपभूतज्ञान और धर्मभूतज्ञान दोनों अविकारी हैं।

वस्तुतः ज्ञानम् यह पद अन्तोदात्त[१] होनेके कारण अर्श आद्यजन्त[२] है। इसलिए ज्ञानगुणाश्रय ही अर्थ है। इस प्रकार ज्ञानपद निरुपाधिक ज्ञाताको कहता है। जीवका निरुपाधिक ज्ञातृत्व नहीं है, उसका ज्ञातृत्व ब्रह्मके अधीन है, इसलिए ज्ञानपदसे जीवकी व्यावृत्ति हो जाती है। ब्रह्म विज्ञानरूप है, आनन्दरूप है- **विज्ञानम् आनन्दं ब्रह्म**(बृ.उ.३.६.२८), **प्रज्ञानघन एवानन्दमयः**(रामो.उ.३) इत्यादि श्रुतियोंसे ब्रह्मकी ज्ञानरूपता भी सिद्ध है।

<u>सिद्धान्तमें स्वरूपभूतज्ञानका प्रवृत्तिनिमित्त प्रत्यक्त्व (स्वयंप्रकाशत्व अर्थात् स्वस्मै स्वयंभासमानत्व) तथा धर्मभूतज्ञानका प्रवृत्तिनिमित्त सविषयकत्व(विषयप्रकाशकत्व) माना जाता है।</u> परमतमें ज्ञानका प्रवृत्तिनिमित्त स्वयंप्रकाशत्व प्रसिद्ध है, उससे हमारे सिद्धान्तका विरोध नहीं है।

अनन्त- अन्तका अर्थ होता है- परिच्छेद, इसीको इयत्ता या सीमा कहते हैं। जिस वस्तुका अन्त नहीं होता है, वह अनन्त कही जाती

टिप्पणी१- चितः (अ.सू.६.१.१६३) इस सूत्रसे अन्तोदात्त होता है।

टिप्पणी२- अर्शआदिभ्योऽच्।(अ.सू.५.२.१२७)

है- **न विद्यते अन्तः परिच्छेदः यस्य तद् अनन्तम्।** देश, काल और वस्तु भेदसे परिच्छेद तीन प्रकारका होता है।

१.देशपरिच्छेद- एक स्थानमें रहनवाले पदार्थका दूसरे स्थानमें न रहना देशपरिच्छेद होता है। घटादि एकस्थानमें रहते हुए दूसरेस्थानमें नहीं रहते हैं, अतः ये देशपरिच्छेदवाले होते हैं। जीवात्मा भी अणु होनेके कारण एक स्थानमें रहता है, दूसरे स्थानमें नहीं रहता है। अतः यह भी देशपरिच्छेदवाला होता है। परिच्छेदवा!ली वस्तु परिच्छिन्न कही जाती है। परब्रह्म सभी स्थानोंमें व्याप्त होनेके कारण देशपरिच्छेदसे रहित है।

२.कालपरिच्छेद- एक कालमें रहनेवाले पदार्थका दूसरेकालमें न रहना कालपरिच्छेद होता है। घटादि कार्य उत्पत्तिकालके पूर्व और विनाशके पश्चात् नहीं रहते हैं, अतः वे कालपरिच्छेदवाले होते हैं। परमात्मा सर्वकालमें रहता है, इसलिए कालपरिच्छेदसे रहित है।

३.वस्तुपरिच्छेद- 'यह यह नहीं है' इस प्रकार व्यवहारके योग्य होना वस्तुपरिच्छेद कहलाता है- **इदम् इदं न भवति इति व्यवहारार्हत्वं वस्तुपरिच्छेदः।** एकवस्तु दूसरी वस्तु नहीं हो सकती है। 'घट पट नहीं है', ' पट घट नहीं है' इस प्रकार किए जानेवाले व्यवहारके योग्य घटादि हैं। ऐसे व्यवहारकी योग्यतारूप वस्तुपरिच्छेद घटादिमें रहता है। परब्रह्म अन्तर्यामीरूपसे सभीमें विद्यमान होनेके कारण सभी शब्दोंसे कहे जाते हैं। सब कुछ ब्रह्म है- **सर्वं खल्विदं ब्रह्म**(छां.उ.३.१४.१), सब कुछ वासुदेव है- **वासुदेवः सर्वम्**(गी.७.१९) इसलिए घट ब्रह्म नहीं है, इत्यादि प्रकारसे व्यवहारके योग्य ब्रह्म नहीं है। इस प्रकार व्यवहारकी योग्यताका अभाव ही वस्तु-अपरिच्छेद है। वह ब्रह्ममें विद्यमान है, इसलिए ब्रह्म घटादि शब्दोंका भी वाच्य है। सर्वात्मत्व अर्थात् सबका आत्मा होना ही

वस्तु-अपरिच्छेद है। सबके आत्मा परब्रह्म हैं। वे वस्तुपरिच्छेदसे रहित हैं।

जिस प्रकार देशका अभाव होनेसे देश-अपरिच्छेद नहीं होता है, कालका अभाव होनेसे काल-अपरिच्छेद नहीं होता है, उसी प्रकार वस्तुका अभाव होनेसे वस्तु-अपरिच्छेद नहीं होता है। यहाँ पर यह भी ध्यातव्य है कि जिस प्रकार किसी देशविशेषसे सम्बन्ध न रखना देशपरिच्छेद है तथा किसी कालविशेषसे सम्बन्ध न रखना कालपरिच्छेद है, उसी प्रकार किसी वस्तु विशेषसे सम्बन्ध न रखना ही वस्तुपरिच्छेद है। ऐसा होनेसे सभी वस्तुओंसे सम्बन्ध रखना अर्थात् सर्ववस्तुसम्बन्धित्व ही वस्तु-अपरिच्छेद होता है। ईश्वरके ईश्वरत्वके अनुरूप शेषित्व, आधारत्व तथा नियन्तृत्वादि धर्म हैं। इन धर्मोंके कारण ईश्वरका सभी वस्तुओंसे सम्बन्ध रहता है। सभी पदार्थ शेष, आधेय एवं नियाम्य आदि हैं। ऐसा होनेपर परमात्माका सबसे भेद एवं सबसे उत्कर्षता सिद्ध होती है। इस प्रकार अनन्त कहनेसे प्रपञ्चका मिथ्यात्व सिद्ध नहीं होता है।

सभी देश और सभी कालमें विद्यमान श्रीभगवान्‌के गुण भी सभी देश और सभी कालमें विद्यमान होते हैं, इसलिए वे देशपरिच्छेद तथा कालपरिच्छेदसे रहित होते हैं किन्तु उनके गुण उक्त लक्षणवाले वस्तुपरिच्छेदसे रहित नहीं होते हैं। अब प्रकारान्तरसे भगवद्गुणोंमें वस्तु परिच्छेदके अभावका निरूपण किया जाता है। 'यह वस्तु इतनी है' इस प्रकार कही जानेवाली वस्तुकी परिच्छिन्नता(अपकर्षता, सीमितपना) वस्तुपरिच्छेद होती है। श्रीभगवान्‌के गुण असंख्य हैं, उनमें किसी भी गुणकी अवधि नहीं है। इसलिए श्रीभगवान् के गुणोंके विषयमें 'यह इतना है' इस प्रकार कहा जानेवाला वस्तुपरिच्छेद नहीं है। यह वस्तुपरिच्छेदका अभाव ही वस्तु-अपरिच्छेद है। श्रीभगवान् के गुणोंका पार नहीं पा सकते हैं,

इस कारणसे वे अव्यय परमात्मा अनन्त कहे जाते हैं- **नान्तं गुणानां गच्छन्ति तेनानन्तोऽयमव्ययः**।(वि.पु.२.५.२४)। श्रीभगवान् स्वरूपतः और गुणतः दोनों प्रकारसे वस्तुपरिच्छेदरहित सिद्ध होते हैं, इसलिए नित्यसूरियोंकी व्यावृत्ति हो जाती है। उनका स्वरूप अणु होनेके कारण सातिशय(अपकर्षतासे युक्त) है। ऐश्वर्यादिगुण जगद्व्यापारके अयोग्य होनेके कारण सातिशय हैं। ज्ञानगुण नित्य तथा व्यापक होनेपर भी परमात्माकी नित्य इच्छाके अधीन होनेसे सातिशय है। श्रीभगवान्के समान कोई नहीं है तथा उनसे अधिक कोई नहीं है। इस प्रकार कही जानेवाली समानता तथा अधिकताके अभावका कारण गुणोंके द्वारा निरतिशय प्रकर्षता है, यह वस्तु-अपरिच्छेद है।

घटादि पदार्थ देश, काल और वस्तु इन तीनों परिच्छेद वाले होते हैं। जीवात्मा देश और वस्तु इन दो परिच्छेदोंवाला है। काल वस्तुपरिच्छेदवाला है। तीनों परिच्छेदोंसे रहित केवल ब्रह्म है। जगज्जन्मादिके कारणरूपसे ज्ञात वस्तुकी सकल इतरसे विलक्षणता **सत्यं ज्ञानम् अनन्तम् ब्रह्म**(तै.उ.२.१.१) इस श्रुतिसे ज्ञात होती है।

निर्विशेषाद्वैतमत- सत्यं ज्ञानम् अनन्तं ब्रह्म यह वाक्य ब्रह्मके निर्विशेष स्वरूपमात्रका बोध कराता है। इसका अर्थ यह है कि ब्रह्म सत्य अर्थात् असत्यसे भिन्न है, ज्ञान अर्थात् जड़से भिन्न है एवं अनन्त अर्थात् परिच्छिन्नसे भिन्न है। सत्य पद असत्यसे व्यावर्तक(भेदक) है, ज्ञान पद जड़से व्यावर्तक है, अनन्त पद परिच्छिन्नसे व्यावर्तक है। ब्रह्म असत्य नहीं है, जड़ नहीं है, परिच्छिन्न नहीं है, इस प्रकार ब्रह्मके स्वरूपमात्रका बोधक उक्त वाक्य है।

'यह वाक्य सत्यत्व आदि गुणोंसे विशिष्ट ब्रह्मका बोधक है।' ऐसा नहीं कहना चाहिए क्योंकि यहाँ सामानाधिकरण्य होनेसे एक

अर्थकी प्रतीति होती है। अनेक गुणसे विशिष्ट एक ब्रह्मका बोध होनेपर भी एक अर्थ सिद्ध हो जाता है, ऐसा भी नहीं कहना चाहिए क्योंकि एकार्थत्वका अर्थ सभी पदोंके अर्थकी एकता होती है। विशिष्ट ब्रह्मका बोधक स्वीकार करनेपर एक अर्थकी सिद्धि नहीं होगी, अनेक अर्थोंकी सिद्धि होगी क्योंकि विशेषणोंमें पारस्परिक भेद तथा इनका विशेष्यसे भेद होता है। सत्य, ज्ञान आदि पदोंको सत्यत्व, ज्ञानत्व आदिका बोधक न होनेसे तथा स्वरूपमात्रका बोधक होनेसे सभी पद पर्याय हो जायेंगे क्योंकि ये सभी एक ही अर्थका बोध कराते हैं। पर्याय शब्दोंमें एक ही पर्याप्त होता है, अन्यका प्रयोग व्यर्थ होता है। ऐसा कहना भी उचित नहीं है क्योंकि ये पद भिन्न-भिन्न रूपोंसे एक अर्थके बोधक होते हैं। सत्यपद अनृतभिन्नत्वेन ब्रह्मके स्वरूपमात्रका बोधक है, ज्ञानपद जडभिन्नत्वेन तथा अनन्तपद परिच्छिन्नभिन्नत्वेन ब्रह्मके स्वरूपमात्रका बोधक है। ऐसा होनेसे सभी पदोंकी सार्थकता होती है। वे पर्याय भी नहीं होते हैं। स्वरूप लक्षणसे जानने योग्य ब्रह्म सम्पूर्ण इतर पदार्थोंसे व्यावृत्त है। इन तीन पदोंके द्वारा इतर सम्पूर्ण अर्थका निराकरण किया जाता है। सत्यपद विकारी असत्य पदार्थसे व्यावृत्त ब्रह्मका बोधक है। ज्ञानपद जड़ पदार्थसे व्यावृत्त अर्थका बोधक है। अनन्तपद देश, काल और वस्तु-परिच्छेदवाले पदार्थसे व्यावृत्त अर्थका बोधक है।

सविशेषाद्वैतमत- उक्त वाक्य निर्धर्मक ब्रह्मका प्रतिपादन नहीं करता है। वह तो शक्ति वृत्तिसे ही सत्यत्व आदि गुणवाले ब्रह्मका प्रतिपादन करता है। इस वाक्यको असत्यसे भिन्न आदि अर्थका प्रतिपादक माननेसे पदोंमें लक्षणा माननी होगी जो कि दोष है। ऐसा होनेपर भी ब्रह्ममें असत्यादि तीन पदार्थोंके तीन भेद स्वीकार करने होंगे, जिससे ब्रह्म सविशेष सिद्ध होगा, निर्विशेष सिद्ध नहीं होगा। प्रतियोगी भिन्न-भिन्न होनेसे भेद भी भिन्न-भिन्न होते हैं। ये तीनों

भेद ब्रह्ममें रहनेवाले धर्म हैं। यदि निर्विशेषाद्वैती कहना चाहें कि तीनों भेद ब्रह्मस्वरूप ही हैं, ब्रह्मके धर्म नहीं हैं तो यह कहना उचित नहीं हैं क्योंकि भेद अधिकरणका स्वरूप वहीं माना जाता है, जहाँ स्वरूपका ज्ञान होनेपर प्रतियोगीका अध्यास नहीं होता है। जहाँ स्वरूपका ज्ञान होनेपर प्रतियोगीका अध्यास होता है, वहाँ पर भेद अधिकरणस्वरूप नहीं होता है, अधिकरणसे भिन्न ही होता है। जैसे- मनुष्यको रज्जुमें सर्पका भ्रम(अध्यास) होता है। यहाँ रज्जु अधिष्ठान है, उसमें सर्पका अध्यास होता है। सर्पसे भिन्न उसके अधिकरण रज्जुको जाननेपर वह भ्रम नहीं होता है। यहाँ सर्पभेदको रज्जुस्वरूप नहीं माना जाता है क्योंकि 'यह' इस रूपमें ज्ञान होनेपर भी सर्पभ्रम होता रहता है। वह भेद रज्जुत्वरूप(अधिकरणका असाधारणधर्म) है क्योंकि रज्जुत्वको जाननेपर सर्पका भ्रम बन्द हो जाता है। अधिष्ठानके रूपमें ब्रह्मका ज्ञान होनेपर भी असत्य, जड़ एवं परिच्छिन्न जगत्का अध्यास चलता रहता है। यह अर्थ निर्विशेषाद्वैतियोंको मान्य है। यदि उक्त भेद ब्रह्मस्वरूप होते तो अधिष्ठानके रूपमें ब्रह्मस्वरूपका ज्ञान होनेपर जगत्का अध्यास नहीं होना चाहिए किन्तु होता है। इससे सिद्ध होता है कि ये भेद ब्रह्मस्वरूप नहीं हैं, ब्रह्मके धर्म हैं। अध्यास होते समय अधिष्ठानके रूपमें ब्रह्ममात्रका ज्ञान होता है। भ्रम के विराधी धर्मोंका ज्ञान नहीं होता है, इसलिए भ्रम बना रहता है। जब इन धर्मोंकी प्रतीति होगी तभी भ्रम निवृत्त होगा। इससे सिद्ध होता है कि ये भेद ब्रह्मस्वरूप नहीं हैं, ब्रह्मके धर्म हैं। इस प्रकार सत्य आदि पदोंकी लक्षणा मानकर असत्यादिसे भिन्न अर्थ करनेपर भी ब्रह्म सधर्मक ही सिद्ध होता है।

ज्ञाता तथा ज्ञानरूप ब्रह्म- विज्ञानरूप आत्मा है- **विज्ञानात्मा पुरुषः** (प्र.उ.४.९) इत्यादि श्रुतियोंके अनुसार शांकरमतमें ब्रह्मको

ज्ञानस्वरूप ही माना जाता है किन्तु बोधायनमतानुयायी वेदान्ती ब्रह्मको ज्ञाता तथा ज्ञानरूप दोनों ही मानते हैं क्योंकि श्रुतियाँ दोनोंप्रकारसे ब्रह्मका निरूपण करती हैं। जो परमात्मा सबको सामान्यरूपसे जाननेवाला है तथा विशेषरूपसे जाननेवाला है- **यः सर्वज्ञः सर्ववित्**(मु.उ.१.१.१० तथा २.२.७), जाननेवाले ब्रह्मको पूर्वोक्त ध्यानसे अतिरिक्त किस साधनसे जानें- **विज्ञातारम् अरे केन विजानीयात्**(बृ.उ.२.४.१४), इस परब्रह्मकी विविधप्रकारकी पराशक्तियाँ सुनी जाती हैं, स्वाभाविक ज्ञान, बल और क्रिया भी सुनी जाती है- **परास्य शक्तिर्विविधैव श्रूयते स्वाभाविकी ज्ञानबलक्रिया च।**(श्वे.उ.६.८) इत्यादि श्रुतियोंसे परमात्माको ज्ञाता अर्थात् ज्ञानका आश्रय कहा जाता है। इसे स्वाभाविक कहा गया है। इससे ज्ञातृत्व अविद्यासिद्ध है, यह शांकरवेदान्तकी मान्यता भी खण्डित हो जाती है। स्वाभाविक ज्ञातृत्व सिद्ध करनेवाली युक्तियाँ जीवात्मविवेचनके कर्तृत्वप्रसङ्गमें देखनी चाहिए। श्रुतियोंसे ब्रह्मका ज्ञातृत्व सिद्ध होनेपर उसे केवल ज्ञानरूप मानना उचित नहीं है। लोकमें यह सभी जानते हैं कि ज्ञान आत्माका धर्म है, यह आत्माके आश्रित ही रहता है, स्वतन्त्र नहीं रहता है। इसलिए इसके आश्रयको ब्रह्म मानना चाहिए। स्वरूपभूत ज्ञान और धर्मभूत ज्ञान ये दोनों भिन्न वस्तुएं हैं। स्वरूपभूत ज्ञान तो ब्रह्मस्वरूपको प्रकाशित करता है तथा धर्मभूत ज्ञान ब्रह्मस्वरूप और अन्य सभीको प्रकाशित करता है। ये दोनों ही स्वयंप्रकाश हैं। जिस धर्मके विना वस्तुके स्वरूपका निरूपण नहीं हो सकता है, उसे स्वरूपनिरूपक धर्म कहते हैं। जैसे गोका स्वरूपनिरूपक धर्म गोत्व है, वैसे ही ब्रह्मका स्वरूपनिरूपक धर्म ज्ञान है। स्वरूपका निरूपण करनेवाले धर्मबोधक शब्द धर्मका बोध कराते हुए धर्मीका भी बोध कराते हैं। जैसे गोके स्वरूपका निरूपण करनेवाला गोत्व धर्मका बोधक गोशब्द गोत्वका

बोधकराते हुए धर्मी गो स्वरूपका भी बोधक होता है, वैसे ही ब्रह्मके स्वरूपका निरूपण करनेवाला ज्ञान धर्मका बोधक ज्ञान शब्द ज्ञान धर्मका बोधकराते हुए धर्मी ब्रह्मस्वरूपका भी बोधक होता है। इस प्रकार ब्रह्मस्वरूप तथा उसके धर्म इन दोनोंको ही ज्ञान कहा जाता है। ज्ञानस्वरूप वस्तु ज्ञानका आश्रय होती है, इस विषयका विशद विवेचन जीवात्मविवेचनमें 'ज्ञाता तथा ज्ञानरूप आत्मा' और 'स्वयंप्रकाशत्व' शीर्षकमें देखना चाहिए।

स्वयंप्रकाशत्व– परब्रह्म स्वयंप्रकाश है। इसका धर्मभूतज्ञान भी स्वयंप्रकाश है। धर्मभूतज्ञानके समान प्रत्यक्त्व, अनुकूलत्व, एकत्व, विभुत्व, नियामकत्व तथा शेषित्व आदि सभी धर्म स्वयंप्रकाश हैं। परमात्माके स्वरूपकी तरह उसके किसी भी धर्मका तिरोधान कभी भी नहीं होता है। स्वयंप्रकाशताका विशदनिरूपण जीवात्मविवेचनमें किया जा चुका है। अपने लिए स्वयंप्रकाशित होनेवाला परमात्मा अपने धर्मभूतज्ञानका विषय बनकर भी अपने लिए प्रकांशित होता है तथा दूसरेके धर्मभूतज्ञानका विषय बनकर दूसरेके लिए प्रकाशित होता है।

आनन्दका आश्रय तथा आनन्दरूप ब्रह्म– परमात्मा ज्ञानरूप है, अनुकूलत्वेन प्रतीत होनेवाला ज्ञान ही आनन्द कहा जाता है। परमात्माको अपना स्वरूप कभी भी प्रतिकूल प्रतीत नहीं होता है। सदा अनुकूल ही प्रतीत होता है, इसलिए परमात्मस्वरूपको आनन्दरूप कहा जाता है। 'अहम् अहम्' इस प्रकार परमात्मस्वरूप प्रकाशित होते समय उसकी आनन्दरूपता भी सदा प्रकाशित होती है। आनन्दरूप विज्ञान ब्रह्म है– **विज्ञानम् आनन्दं ब्रह्म**(बृ.उ.३.९.२८), ब्रह्म आनन्दस्वरूप है– **आनन्दो ब्रह्म**(तै.उ.३.६)। विज्ञान शब्दका प्रवृत्तिनिमित्त स्वयंप्रकाशत्व तथा आनन्दशब्दका प्रवृत्तिनिमित्त अनुकूलत्व होता है। इस प्रकार प्रवृत्तिनिमित्तका भेद होनेसे श्रुतिमें

दोनों शब्दोंका एक साथ प्रयोग किया गया है। ज्ञानरूप परमात्माके आश्रित जो धर्मभूत ज्ञान रहता है, वह भी सदा अनुकूल ही प्रतीत होता है, इसलिए आनन्द कहा जाता है। आनन्दको जाननेवाला कभी भयको प्राप्त नहीं होता है- **आनन्दं ब्रह्मणो विद्वान् न बिभेति कुतश्चनेति।**(तै.उ.२.६.१), वह एक ब्रह्मका आनन्द है- **स एको ब्रह्मणः आनन्दः।**(तै.उ.२.८.४) इन श्रुतियोंमें ब्रह्मका आनन्द गुण कहा गया है। इस प्रकार परमात्मा आनन्दस्वरूप तथा आनन्दगुणवाला सिद्ध होता है। परमात्मस्वरूप कभी भी किसीको प्रतिकूलरूपसे ज्ञात नहीं होता है। यदि कहना चाहें कि पापियोंको प्रतिकूलरूपसे ज्ञात होता है तो यह कथन भी उचित नहीं है क्योंकि पापकर्म तथा उसके कार्य क्रोध आदि विकारोंके रहते परमात्मा ज्ञात होता ही नहीं है, वह तो निर्मल मनसे ही ज्ञात होता है।

परमात्माका प्रधान गुण आनन्द है, इसलिए **तद्गुणसारत्वात् तु तद्व्यपदेशः प्राज्ञवत्**(ब्र.सू.२.३.२६) इस न्यायसे उसे आनन्द कहा जाता है तथा परमात्मा अनुकूलत्वेन अनुभूत होनेके कारण भी आनन्द कहा जाता है।

अहमर्थत्व- ब्रह्मस्वरूप अपने लिए सदा 'अहम् अहम्' इस प्रकार ही प्रकाशित होता रहता है। अहं शब्दका वाच्य अहमर्थ यह ब्रह्म है, इसलिए शास्त्रोंमें 'अहम्' इस प्रकार ब्रह्मके स्वरूपका कथन किया जाता है। मैं देवताओंसे अधिष्ठित इन तीन भूतोंमें अनुप्रवेश करके नामरूपका विभाग करूँ- **हन्ताहमिमास्तिस्रो देवताऽनेन जीवेनात्मनाऽनुप्रविश्य नामरूपे व्याकरवाणि**(छां.उ.६.३.१)। क्योंकि मैं क्षरसे अतीत तथा अक्षरसे भी उत्तम हूँ- **यस्मात् क्षरमतीतोऽहमक्षरादपि चोत्तमः**(गी.१५.१८)। हे अर्जुन! सभी प्राणियोंके हृदयमें रहनेवाली आत्मा मैं हूँ- **अहमात्मा गुडाकेश सर्वभूताशयस्थितः**(गी.१०.२०)। स्वयंप्रकाश परमात्माका प्रकाश

द्विविध है- (१)'अहम् अहम्' इस प्रकार स्वरूपभूतज्ञानसे सदा अपने लिए परमात्माका प्रकाश होता है।

(२)मैं सर्व विषयको जाननेवाला हूँ। इस प्रकार धर्मभूतज्ञानसे अपने लिए परमात्माका प्रकाश होता है। छान्दोग्योपनिषत्‌में भूमविद्याके अन्तर्गत **अथातोऽहंकारादेशः**(छां.उ.७.२५.१), **अथात् आत्मादेशः**(छां. उ.७.२५.२) इस प्रकार पृथक् व्यवहार किये जानेसे 'आत्मा अहमर्थ नहीं है।' ऐसी शंका नहीं करनी चाहिए क्योंकि वहाँ भूमा, अहमर्थ और आत्माके सर्वात्मत्वका उपदेश किया जाता है। इसके लिए भूमा और आत्माके मध्यमें अहमर्थका उपदेश किया गया है। प्रथम भूमा विद्याके विषय भूमा पुरुषके और अन्तमें आत्माके सर्वात्मत्वका उपदेश करके मध्यमें जो अहंकारादेशका कथन किया गया है। उससे भूमा, अहमर्थ और आत्माका अभेद ज्ञात होता है। ऐसा न माननेपर भूमासे अतिरिक्त आत्मा सिद्ध होगी किन्तु ऐसा किसीको इष्ट नहीं है, इसलिए तीनोंका अभेदज्ञान करानेके लिए श्रुति उक्तरीतिसे उपदेश करती है। 'अहमर्थ' के विषयमें जीवात्मविवेचनमें पर्याप्त प्रकाश डाला गया है। उसे परमात्माके विषयमें भी समझना चाहिए।

कर्तृत्व- जगत्‌की उत्पत्ति आदि कार्योंके प्रति परमात्माका साक्षात् कर्तृत्व होता है। इसका विशद विवेचन 'जगत्कारण' प्रसङ्गमें किया गया है। जीवोंके द्वारा किये गये कार्योंके प्रति परमात्माका प्रयोजक कर्तृत्व होता है। कर्तृत्वका विस्तृत विवेचन जीवात्मप्रकरणमें देखना चाहिए।

आराध्यत्व तथा फलप्रदत्व- इन्द्र आदि देवताओंके सम्बन्धीरूपसे प्रतीत होनेवाले, अभी तक किये गये तथा आगे किये जानेवाले विविधप्रकारके श्रौत-स्मार्त सभी कर्मोंको श्रीभगवान् अपनी आराधनारूपसे स्वीकार करते हैं और इष्टफल देकर लोकके आश्रय

होते हैं- **इष्टापूर्तं बहुधा जातं जायमानं विश्वं बिभर्ति भुवनस्य नाभिः**(तै.ना.उ.६)। यह मन्त्र श्रीभगवान्‌को सभी कर्मोंसे आराध्य तथा सभी कर्मोंका फलप्रदाता कहता है। सभी कर्मोंके द्वारा समाराध्य वे परमात्मा ही अग्नि हैं, वे वायु हैं, वे सूर्य हैं, वे चन्द्रमा हैं- **तदेवाग्निस्तद्वायुस्तत् सूर्यस्तदु चन्द्रमाः**(तै.ना.उ.७)। यहाँ पर अग्नि आदि देवताओंको श्रीभगवान् का शरीरहोनेके कारण अग्नि आदि शब्दोंसे श्रीभगवान् ही कहे गये हैं। जो जो भक्त मेरे शरीररूप जिस जिस देवताकी श्रद्धापूर्वक अर्चना करना चाहता है, मैं उस उस भक्तकी उस श्रद्धाको अचल कर देता हूँ। वह उस श्रद्धासे युक्त होकर उस देवताकी आराधनामें प्रवृत्त होता है और उस आराधनाके कारण मेरे द्वारा ही प्रदत्त फलोंको प्राप्त करता है- **यो यो यां यां तनुं भक्तः श्रद्धयार्चितुमिच्छति। तस्य तस्याचलां श्रद्धां तामेव विदधाम्यहम्। स तया श्रद्धया युक्तस्तस्याराधनमीहते। लभते च ततः कामान् मयैव विहितान् हि तान्।।**(गी.७.२१-२२), मैं सभी यज्ञोंके द्वारा आराध्य हूँ और सर्वकर्मफल प्रदाता हूँ- **अहं हि सर्वयज्ञानां भोक्ता च प्रभुरेव च।**(गी.९.२४), हे सर्वदेवमय! हे अच्युत! आप सभी देवताओंके आराधनरूप यज्ञोंसे सदा आराधित होते हो- **यज्ञैस्त्वमिज्यसे नित्यं[1] सर्वदेवमयाच्युत।**(वि.पु.५.२०.९७), हे नाथ! आप जिन स्वधर्मनिष्ठ मनुष्योंके द्वारा आराधित होते हैं, वे अपनी मुक्तिके लिए इस मायाको पूर्णतः पार कर जाते हैं- **यैस्स्वधर्मपरैर्नाथ! नरैराराधितो भवान् ते तरन्त्यखिलामेतां मायामात्मविमुक्तये।**(वि.पु.५.३०.१६), जिस परमात्मासे प्राणियोंकी उत्पत्ति आदि कार्य होते हैं, जिससे यह जगत् व्याप्त है; मनुष्य अपने कर्मोंसे उसकी आराधना करके उसकी प्राप्तिरूप सिद्धिको

टिप्पणी१- 'अचिन्त्यः' इति पाठान्तरम्।

प्राप्त करता है- **यतः प्रवृत्तिर्भूतानां येन सर्वमिदं ततम्। स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य सिद्धिं विन्दति मानवः।।**(गी.१८.४६), यज्ञ और तपके द्वारा आराध्य मैं हूँ- **भोक्तारं यज्ञतपसाम्**(गी.५.२६), इन्द्र आदि देवताओंमें अन्तर्यामी रूपसे श्रीभगवान् के निवास करनेपर चार होताओंसे सम्पन्न होनेवाले यागादि सभी कर्म देवताओंसे सम्बन्धको प्राप्त होते हैं- **चतुर्होतारो यत्र संपदं गच्छन्ति देवैः।**(तै.आ.३.११.३) इस विवेचनसे सिद्ध होता है कि सभी कर्म इन्द्र आदि देवताओंके अन्तरात्मा श्रीभगवान्की आराधनारूप हैं। श्रीभगवान् सर्वज्ञ हैं, इसलिए भक्तोंके द्वारा की गयी अपनी सभी आराधनाओंको जानते हैं। वे सर्वसमर्थ हैं, इसलिए फलदेनेका सामर्थ्य भी रखते हैं। जिस प्रकार स्वामी अपने शरीरकी सेवा करनेवाले सेवकोंपर प्रसन्न होता है, उसी प्रकार श्रीभगवान् अपने शरीररूप इन्द्रादि देवताओंकी आराधना करनेवालों पर प्रसन्न होते हैं। इस प्रकार देवाराधनरूप कर्मोंके द्वारा उनके अन्तर्यामी श्रीभगवान् स्वयं आराधित होकर उनके द्वारा अभीष्टफल प्रदान करते हैं। अतः शास्त्रोक्त ईश्वरके फलप्रदत्वकी उपेक्षा करके अपूर्वको स्वीकार करनेवाले मीमांसककी वह स्थिति होती है, जैसे अपने घरमें सुवर्णनिधिको रखकर कृपणसे कोदों माँगनेवाले किसी लोभी मनुष्यकी होती है। कर्मोंकी भगवदाराधनरूपता जाने विना कर्म करनेवालोंको भी श्रीभगवान् ही फल प्रदान करते हैं, जानकर कर्म करनेवालोंके कर्म ब्रह्मविद्याके द्वारा मोक्षके हेतु बन जाते हैं। विना जाने कर्म करनेवालोंके कर्म केवल विनाशी फलके हेतु बनते हैं। फलेच्छात्यागपूर्वक किये गए विहित कर्म भगवदाराधनरूप होते हैं- **अनभिसंहितफलकर्मणां हि भगवदाराधनरूपता।**(श्रु.प्र.२.१.१)। जिस प्रकार आराधना(उपासना) से श्रीभगवान् प्रसन्न होते हैं, उसी प्रकार शास्त्रविहित

निष्कामकर्मोंसे भी प्रसन्न होते हैं, इसलिए वे कर्म आराधनारूप कहे जाते हैं।

प्रश्न- पूर्वकल्पमें कर्मोंके द्वारा आराधित देवता उस कल्पके अन्तमें अपने अधिकारसे च्युत हो जाते हैं। अन्य कल्पमें उस पदमें स्थित जो देवताविशेष होते हैं, वे पूर्वकल्पमें आराधित नहीं होते हैं। आराधित देवता ही फलप्रदान करनेवाले होते हैं, यह नियम है। अतः पूर्वकल्पमें किये गये कर्मके फलकी उत्तर कल्पमें कैसे प्राप्ति हो सकती है?

उत्तर- श्रुति और स्मृति मेरी ही आज्ञा हैं- **श्रुतिस्स्मृतिर्ममैवाज्ञा** इस प्रकार श्रुतिस्मृतियाँ जिनकी नियत आदेशरूप शास्त्रोंमें कही गयी हैं, वे एक परमात्मा ही सभी कर्मोंमें प्रधानतः समाराध्य हैं, पूर्वोत्तर कल्पोंमें विद्यमान सभी देवताओंके अन्तर्यामी हैं, वे कभी भी अपने अधिकारसे च्युत नहीं होते हैं। वे सदा सर्वज्ञ और सर्वसमर्थ होते हैं। ऐसे सर्वाधिपति सर्वात्मा श्रीभगवान् ही पूर्वोत्तरकल्पमें रहनेवाले अधिकारीको फल प्रदान करते हैं।

प्रश्न- कर्मोंसे आराध्य इन्द्रादिदेवता होनेपर वे कर्म भगवदाराधनरूप कैसे हो सकते हैं अथवा भगवदाराधनरूप होनेपर वे देवताराधनरूप कैसे हो सकते हैं?

उत्तर- जैसे श्राद्धमें ब्राह्मणोंके भोजन करनेपर पितर और देवता भोजन करके प्रसन्न होते हैं, वैसे ही कर्मोंसे देवता आराधित होनेपर श्रीभगवान् आराधित होकर प्रसन्न होते हैं। इस प्रकार देवताराधनरूप कर्म भगवदाराधनरूप होते हैं अथवा भगवदाराधनरूप कर्म देवताराधन रूप होते हैं। कर्मोंके द्वारा मुख्य आराध्य श्रीभगवान् ही होते हैं। देवता तो उनके विशेषण होकर आराध्य होते हैं। जैसे लोकमें प्रजा विधानके अनुसार द्रव्यसे राजाकी साक्षात्

अथवा अधिकारीके द्वारा आराधना करती है और आराधित राजा उनको फलप्रदान करते हैं, वैसे ही प्रजा विधानके अनुसार यागादि कर्मोंसे श्रीभगवान्‌की साक्षात् अथवा देवताओं द्वारा आराधना करती है और आराधित हुए श्रीभगवान् उनको भोग और अपवर्गरूप सभी फल प्रदान करते हैं। सभी प्रकारके फल चाहनेवाले मनुष्योंके आराध्य श्रीभगवान् हैं, ऐसा उन्होंने स्वयं गीतामें कहा है- हे भरतश्रेष्ठ अर्जुन! आर्त, अर्थार्थी, जिज्ञासु और ज्ञानी ये चारप्रकारके पुण्यात्मा मनुष्य मेरा भजन करते हैं- **चतुर्विधा भजन्ते मां जनाः सुकृतिनोऽर्जुन। आर्तो जिज्ञासुरर्थार्थी ज्ञानी च भरतर्षभ।।**(गी.७.१६)। नष्ट हुए भोगोंको पुनः चाहनेवाला भक्त आर्त कहलाता है। अप्राप्त भोगोंकी कामना करनेवाला भक्त अर्थार्थी कहलाता है। प्रकृतिके सम्बन्धसे रहित आत्मस्वरूपके अनुभव करनेकी इच्छावाला जिज्ञासु भक्त कहलाता है। ब्रह्मात्मक आत्मस्वरूपको जाननेवाला और उसे ही पर्याप्त न मानकर श्रीभगवान् को परम प्राप्य माननेवाला ज्ञानी भक्त कहलाता है। चारोंको श्रीभगवान् ही फल प्रदान करते हैं। श्रीभगवान् सकाम कर्म करनेवालोंको अभीष्ट विविधफलोंकी प्राप्ति कराते हैं, निष्काम कर्म करनेवालोंको अन्तःकरणकी निर्मलतारूप फलप्रदान करते हैं। जिज्ञासुभक्तको ज्ञानयोगका फल आत्मानुभूति प्रदान करते हैं और ज्ञानी भक्तको भक्तियोगका फल मोक्ष प्रदान करते हैं। इस प्रकार कर्म, ज्ञान और उपासनाका फलप्रदान करनेवाले श्रीभगवान् ही हैं। भगवान् ही लौकिक और अलौकिक सभी प्रकारके आनन्द प्रदान करते हैं- **एष ह्येवानन्दयाति**(तै.उ.२.७.१) यह श्रुति अलौकिक आनन्दरूप मोक्षके दाता श्रीभगवान् को कहती है। **फलमत उपपत्तेः**(ब्र.सू.३.२.३७) यह सूत्र सर्वफलप्रदाता श्रीभगवान् का वर्णन करता है।

विभुत्व- सभी द्रव्योंके साथ संयुक्त होकर रहना ही विभुत्व(व्यापकत्व) कहलाता है- **सर्वद्रव्यसंयोगित्वं विभुत्वम्।** परमात्मा सभी द्रव्योंके साथ संयुक्त होकर रहते हैं, इसलिए वे विभु कहे जाते हैं। देशपरिच्छेदसे रहित वस्तु ही सभी द्रव्योंसे संयुक्त होकर रह सकती है। परमात्मा देशपरिच्छेदसे रहित हैं, इसलिए वे सभीसे संयुक्त होकर रहते हैं। इस प्रकार विभुत्वका अर्थ देशपरिच्छेदका अभाव है। सर्वव्यापक परब्रह्म चेतनाऽचेतनात्मक सभी वस्तुओंके अन्दर रहता है और सभी वस्तुओंके बाहर भी रहता है- **तदन्तरस्य सर्वस्य तदु सर्वास्यास्य बाह्यतः**(ई.उ.५)। वस्तुका कोई भी भाग ऐसा नहीं है, जिसमें परब्रह्म न रहता हो। वह तिलमें तैलकी तरह समग्र वस्तुओंके अन्दर व्याप्त होकर रहता है। परमात्मा जैसे पदार्थोंके अन्दर रहते हैं, वैसे ही उनके अभाव स्थानमें भी रहते हैं। इसे तैत्तिरीय श्रुति भी स्पष्टरूपसे कहती है। इस जगत्में जो कुछ पदार्थ दिखाई देता है या सुनाई देता है, उस सभीको अन्दर और बाहरसे व्याप्त करके नारायण स्थित हैं- **यच्च किंचिज्जगत्यस्मिन् दृश्यते श्रूयतेऽपि वा। अन्तर्बहिश्च तत्सर्वं व्याप्य नारायणः स्थितः**(तै.ना.उ.६४)।। घरके अन्दर रहनेवाले घटादि पदार्थ उसी कालमें घरके बाहर नहीं रहते हैं और बाहर रहनेवाले घटादि पदार्थ अन्दर नहीं रहते हैं किन्तु परमात्मा युगपद् सभी पदार्थोंके अन्दर और बाहर रहते हैं। यह परमात्माकी विलक्षणता है। 'कोई भी स्थान ऐसा नहीं है, जिसमें परमात्मा न हो।' इस अभिप्रायसे अणु आत्मामें भी उनका रहना संभव होता है। उनका बाहर रहना तो अविभु(परिच्छिन्न) द्रव्यकी अपेक्षासे कहा गया है। सभी वस्तुओंमें अन्दर और बाहरसे परमात्माकी व्याप्तिका अर्थ है- परमात्मासे अव्याप्त प्रदेशका अभाव। इस प्रकार अन्दर और बाह्य प्रदेशके अभाववाले निरवयव, अणु जीव और विभु काल

में भी उनकी व्याप्ति संभव होती है।

परमात्मा आत्मामें रहते हैं, आत्माके अन्दर रहते हैं, जिन्हें आत्मा नहीं जानती है, आत्मा जिनका शरीर है, जो आत्माके अन्दर रहकर उसका नियमन करते हैं; वे निरतिशय-भोग्य परमात्मा तुम्हारे अन्तर्यामी हैं- **य आत्मनि तिष्ठन् आत्मनोऽन्तरो यमात्मा न वेद, यस्यात्मा शरीरं य आत्मानमन्तरो यमयति। स त आत्माऽन्तर्याम्यमृतः।**(बृ.उ.मा.पा.३.७.२६) यह श्रुति अणु प्रत्यगात्मामें परमात्माकी व्याप्तिको कहती है। यहाँ **य आत्मनि तिष्ठन्** इस प्रकार पूर्वमें कहकर **आत्मनोऽन्तरः** यह पुनः कथन प्रत्यगात्मामें परमात्माकी बहिर्व्याप्तिमात्रका निराकरण करनेके लिए है। यहाँ पर ही प्रत्यगात्मामें अन्दर प्रवेशकरके परमात्माकी नियन्तारूपसे स्थितिका प्रतिपादन करके प्रत्यगात्मा और परमात्माके शरीरशरीरिभावका प्रतिपादन करनेसे भी अणु प्रत्यगात्मामें परमात्माकी अन्तर्व्याप्ति सिद्ध होती है। परमात्मा अपनेसे भिन्न सभी वस्तुओंसे सूक्ष्म हैं, इसलिए उनकी सभीमें अन्तर्व्याप्ति सिद्ध होती है। सभीमें अन्तर्व्याप्तिका हेतु परमात्माका सूक्ष्मतमत्व है।

जैसे दर्पणादि स्वच्छद्रव्यमें पृथिवी, जलका प्रवेश न होनेपर भी तेजका प्रवेश होता है, वैसे ही आत्मा और काल सहित सभी पदार्थोंमें परमात्माका प्रवेश होता है। इससे उसी प्रकार आत्माका छेदन और भेदन नहीं होता है, जिस प्रकार दर्पणादि द्रव्योंमें आलोक आदिके प्रवेशसे उनका छेदन और भेदन नहीं होता है। जैसे सूर्यादिका प्रकाश अपनी व्याप्तिका अवरोध न होनेसे स्वच्छद्रव्यको अन्दर और बाहरसे व्याप्त करके रहता है; इससे प्रकाश और स्वच्छद्रव्यकी कोई क्षति नहीं होती है, यह प्रत्यक्षप्रमाणसे स्वीकार किया जाता है। वैसे ही परमात्मा भी अपनी व्याप्तिका अवरोध न होनेसे प्रत्यगात्माको अन्दर और बाहरसे व्याप्त

करके रहते हैं। इससे परमात्मा और प्रत्यगात्माके नित्यत्वादिकी क्षति नहीं होती है, यह श्रुतिप्रमाणसे स्वीकार किया जाता है। जैसे एक स्थानमें स्थित अनेक मणि, दीप आदिकी प्रभाओंकी परस्परमें व्याप्तिका प्रतिघात न होनेसे उनका अन्दर प्रवेश प्रत्यक्षप्रमाणसे सिद्ध है। जैसे नैयायिकमतमें विभुत्वेन स्वीकृत काल, दिशा और आत्माका परस्परमें प्रतिघात न होनेसे उनकी सर्वत्र व्याप्ति सिद्ध है; और जैसे एक स्थानमें स्थित स्वप्न और जाग्रतके पदार्थोंके पारस्परिक अन्तःप्रवेशका अपलाप नहीं किया जा सकता है, वैसे ही प्रत्यगात्माके अन्दर नियन्तारूपसे परमात्माकी स्थिति तथा परमात्माके अन्दर और उनके ही अधीन अन्यपदार्थोंकी स्थिति शास्त्रप्रमाणसे सिद्ध है। इसका अपलाप नहीं किया जा सकता है।

शंका– विभु द्रव्य सर्वत्र विद्यमान होनेसे उसके बर्हिदेशका ही अभाव होता है। अतः विभु द्रव्यमें परमात्माकी बहिर्व्याप्तिका कथन कैसे संभव होता है?

समाधान– परब्रह्म महान्(विभु) से भी महान् है– **महतो महीयान्** (क.उ.१.२.२०) इत्यादि श्रुतियोंके द्वारा अपनेसे इतर सभी महान् द्रव्योंकी अपेक्षा परमात्माकी महानताका प्रतिपादन किया गया है, इसलिए उससे विरुद्ध कोई भी द्रव्य परमात्माके समान महान् सिद्ध नहीं होता है। इसकारण उससे अपकृष्ट महानतावाले द्रव्योंकी अपेक्षा परमात्माकी बहिर्व्याप्तिका कथन संभव होता है। अथवा अर्जुन! इस बहुत ज्ञानसे तेरा क्या प्रयोजन है? मैं इस सम्पूर्ण जगत्को अपने एक अंशसे धारण करके स्थित हूँ– **अथवा बहुनैतेन किं ज्ञातेन तवार्जुन। विष्टभ्याहम् इदं कृत्स्नमेकांशेन स्थितो जगत्**।(गी.१०.४२), अर्जुन! तू आज यहाँ मेरे शरीरके एकभागमें स्थित सम्पूर्ण जगत्को देख तथा और भी जो देखना चाहता है, उसे देख– **इहैकस्थं जगत् कृत्स्नं पश्याद्य सचराचरम्। मम देहे**

गुडाकेश यच्चान्यद् द्रष्टुमिच्छसि।।(गी.११.७), तब अर्जुनने वहाँ देवदेव श्रीकृष्णके शरीरके एकभागमें स्थित अनेकप्रकारसे विभक्त चराचर जगत्को देखा- **तत्रैकस्थं जगत्कृत्स्नं प्रविभक्तमनेकधा। अपश्यद् देवदेवस्य शरीरे पाण्डवस्तदा।।**(गी.११.१३), जिसके दस हजार भागमें एकभागके फिर दस हजार भाग करनेपर शेष अंशमें समस्त विश्व शक्ति स्थित है, उस अव्यय परब्रह्मको हम सब प्रणाम करते हैं- **यस्यायुतायुतांशांशे विश्वशक्तिरियं स्थिता। परब्रह्मस्वरूपं यत्प्रणमामस्तमव्ययम्।।**(वि.पु.१.९.५३) इत्यादि शास्त्रप्रमाणसे परमात्मभिन्न सभी वस्तुएं उनसे अपकृष्ट परिमाणवाली सिद्ध होती हैं। भगवान्से भिन्न कुछ पदार्थोंके लिए जो विभुत्वका व्यवहार है, वह उनसे भिन्न कुछ पदार्थोंकी अपेक्षा अपकृष्ट परिमाणके अभावके कारण है।

वेदान्तसिद्धान्तमें आकाश विभु नहीं माना जाता है। वह तो महदादिकी अपेक्षा भी अपकृष्ट परिमाणवाला है। पृथ्वी आदिकी अपेक्षा से उसका विभुत्व व्यवहार होता है। काल विभु होनेपर भी ईश्वराधीन है। इससे उसकी अपकृष्टता स्वतः सिद्ध है। परमात्मा सभीमें रहता है और सम्पूर्ण जगत् परमात्मामें रहता है, इसलिए विद्वान् परमात्माको वासुदेव कहते है- **सर्वत्रासौ समस्तं च वसत्यत्रेति वै यतः। ततस्स वासुदेवेति विद्वद्भिः परिपठ्यते।।**(वि.पु. १.२.१२) सभी भूतोंमें परमात्माकी व्याप्तिमात्र है। वह सभी भूतोंसे धारण नहीं किया जाता है। शरीरका आधार जीव है, सम्पूर्ण जगत्का आधार ईश्वर है। जैसे 'शरीरका आधार जीव शरीरमें रहता है', यह व्यवहार संभव होता है। वैसे ही 'सभीका आधार परमात्मा सभीमें रहता है', यह व्यवहार भी संभव होता है। जैसे ईश्वरके विना सभी वस्तुओंकी सत्ता संभव नहीं है, वैसे सभी वस्तुओंके विना ईश्वरकी सत्ता संभव नहीं है, ऐसा नहीं कहा जा

सकता है। इसलिए भगवान् ने कहा है कि वह कोई भी चराचरवस्तु नहीं है, जो मेरे विना हो- **न तदस्ति विना यत्स्यान् मया भूतं चराचरम्**(गी.१०.३६)। चेतनका वियोग होनेपर शरीर नष्ट हो जाता है, वह चेतनके विना रहता ही नहीं है, इसलिए जैसे चेतन आत्माका स्वरूप शरीरकी सत्ताके अधीन नहीं है क्योंकि चेतन ही शरीरको धारण करनेवाला आधार है, वैसे ही परमात्माका स्वरूप जगत्की सत्ताके अधीन नहीं है क्योंकि परमात्मा ही जगत्को धारण करनेवाला आधार है। वह अपने संकल्पसे सबको धारण करता है। जैसे ऊपर स्थित घटादि पदार्थोंका नीचे स्थित भूतल आधार होता है, वैसे परमात्मा सबका आधार नहीं होता है बल्कि सम्पूर्ण जगत्की सत्ता इसके अधीन है, इसलिए सर्वव्यापक परमात्मा सबका आधार होता है। परमात्माकी त्रिविध व्याप्ति होती है-

(१)ब्रह्मस्वरूप सर्वव्यापक है, उनका सबमें व्याप्त होकर रहना ही स्वरूपतः व्याप्ति है।

(२)ब्रह्मका धर्मभूत ज्ञान भी सर्वव्यापक है। धर्मभूतज्ञानके द्वारा उनकी सबमें व्याप्ति धर्मभूतज्ञानतः व्याप्ति है।

(३) ब्रह्मका विराट विग्रह भी सर्वव्यापक है। विराट विग्रहके द्वारा उनकी सबमें व्याप्ति विग्रहतः व्याप्ति है।

वह परमात्मा व्यापक है और अजन्मा है- **स वा एष महानज आत्मा।**(बृ.उ.४.४.२२), यह परमात्मा महान्(बड़ा)से भी महान् है- **महतो महीयान्**(क.उ.१.२.२०), यह सम्पूर्ण जगत् मेरेसे व्याप्त है- **मया ततमिदं सर्वम्**(गी.६.४), जो अव्यय ईश्वर तीनों लोकोंमें प्रवेशकरके उन्हें धारण करता है- **यो लोकत्रयमाविश्य बिभर्त्यव्यय ईश्वरः।**(गी.१५.१७), जैसे सर्वव्यापक विष्णु को- **यथा सर्वगतं विष्णुम्**(वि.पु.१.१८.४१) इत्यादि वचन ब्रह्मके विभुत्वमें

प्रमाण हैं। क्वचिद् परमात्माका जो अणुत्व और सूक्ष्मत्व सुना जाता है, वह उपासनाके लिए हृदयरूप अल्पस्थानमें स्थितिके कारण है। जैसे आकाश बड़ा होनेपर भी सुईकी छिद्ररूप उपाधिमें स्थित होनेसे अल्प कहा जाता है, वैसे ही परमात्मा व्यापक होनेपर भी अल्प हृदयरूप उपाधिमें स्थित होनेसे अल्प कहा जाता है। जिस प्रकार सुईकी छिद्ररूप उपाधिके कारण आकाशमें प्रतीत होनेवाला औपाधिक अल्पत्वका आकाशके स्वाभाविक महत्त्वसे विरोध नहीं होता है, वैसे ही अल्पस्थान हृदयरूप उपाधिके कारण परमात्मामें प्रतीत होनेवाले औपाधिक अणुत्वका परमात्माके स्वाभाविक विभुत्वसे विरोध नहीं होता है।

शंका- अणु, महत, ह्रस्व और दीर्घ ये चार प्रकारके परिमाण प्रसिद्ध हैं। परब्रह्म स्थूल(महत्) नहीं है, अणु नहीं है, ह्रस्व नहीं है, दीर्घ नहीं है- **अस्थूलमनण्वह्रस्वमदीर्घम्**(बृ.उ.३.८.७) यह श्रुति ब्रह्ममें सभी परिमाणोंका निषेध करती है, तो आप ब्रह्ममें महत्(विभु) परिमाण क्यों स्वीकार करते हैं? परिमाण शब्द परिमिति(परिच्छेद) का बोधक होता है। श्रुतियाँ ब्रह्मको अनन्त अर्थात् अपरिमित कहती हैं, इसलिए ब्रह्ममें परिमाणका अभाव स्वीकार करना चाहिए।

समाधान- यह कथन उचित नहीं है क्योंकि उक्तश्रुतिसे चतुर्विध परिमाणोंका निषेध होनेपर भी 'ब्रह्म महान्से भी महान् है'- **महतो महीयान्**(क.उ.१.२.२०), ब्रह्म नित्य है और विभु है- **नित्यं विभुम्** (मु.उ.१.१.६) इत्यादि श्रुतियाँ स्पष्टरूपसे ब्रह्मके सर्वोत्कृष्ट महत् परिमाणका प्रतिपादन करती हैं, इसलिए उसका विभुत्व स्वीकार किया जाता है। निषेधकी प्रवृत्ति विहितसे भिन्न विषयमें होती है। अतः उक्त बृहदारण्यक श्रुतिमें जो ब्रह्मकी स्थूलताका अभाव कहा गया है, वह पर्वतादिके तुल्य स्थूलताका अभाव है। सर्वव्यापकत्वरूप

परिमाणका अभाव नहीं है। जैसे परिच्छिन्न द्रव्योंमें जो परिच्छिन्नत्व धर्म रहता है, वही उनका परिमाण है, वैसे ब्रह्ममें परिच्छिन्नत्व न होनेसे उसमें परिमाणाभाव स्वीकार करना चाहिए। यह कथन उचित नहीं है क्योंकि अपरिच्छिन्न ब्रह्ममें जो अपरिच्छिन्नत्व रहता है, हम उसीको विभु परिमाण कहते हैं। एकमतमें विभुत्व भावरूप है क्योंकि यह सर्वद्रव्यसंयोगित्वरूप है। अन्यमतमें विभुत्व अभावरूप है। विशिष्टाद्वैतवेदान्तसिद्धान्तमें तो अभाव भावान्तररूप माना जाता है, अतः परिच्छेदका अभावरूप विभुत्व भी भावरूप धर्म ही सिद्ध होता है। ब्रह्मस्वरूपमें विद्यमान बृहत्त्व ही विभुत्व है।

अखिलहेयप्रत्यनीक– (१)परमात्मस्वरूप हेयप्रत्यनीक कहलाता है। पुरुषार्थप्राप्तिके इच्छुक जन जिसे दूर करना चाहते हैं, उसे हेय कहा जाता है। मोक्षके साधन परब्रह्मस्वरूपका चिन्तन करनेवाले मुमुक्षु उस चिन्तनके विघटक जिन क्लेशादिको दूर करना चाहते हैं, वे क्लेशादि हेय कहे जाते हैं। सभी हेय पदार्थोंके अत्यन्ताभावका अधिकरण अखिलहेयप्रत्यनीक(निखिलहेयप्रत्यनीक) कहा जाता है अथवा श्रीभगवान्‌के आश्रित मुमुक्षुओंके द्वारा पुरुषार्थके साधनका अनुष्ठान करनेपर उनकी इच्छासे मुमुक्षुके हेयका निवर्तक उनका स्वरूप अखिलहेयप्रत्यनीक कहलाता है– **अखिलहेयप्रत्यनीकत्वम्– अखिलहेयात्यन्ताभाववत्वम् अथवा हेयप्रत्यनीकत्वम् आश्रितानां यथोपायं स्वेच्छया हेयनिवर्तकत्वम्**(श.ग.)। क्लेशादि हेयविकार सभी पुरुषार्थोंके विरोधी हैं। इनका भी प्रत्यनीक(विरोधी) परब्रह्मस्वरूप हेयप्रत्यनीक कहलाता है। अनीकका अर्थ होता है– सेना। अपनी अनीक अपनेलिए अनुकूल होती है और शत्रुके लिए प्रत्यनीक(प्रतिकूल या विरोधी) होती है। विरोधी हेयविकारोंके विरोधी परब्रह्मस्वरूपका निरन्तर अनुसन्धान करनेसे साधकके चित्तमें हेय दोष रहते ही नहीं हैं।

(२)'निखिलहेयप्रत्यनीक' यहाँ पर निखिल शब्दसे अचित् पदार्थमें विद्यमान छः भाव पदार्थ तथा चेतन जीवमें विद्यमान क्लेश, कर्म, विपाक और आशय विवक्षित होते हैं- **निखिलशब्देन अचिद्गतहेयाः षड्भावविकाराः चिद्गतहेयाः क्लेशकर्मविपाकाशयाश्च विवक्षिताः।**(श्रु.प्र.१.१.२), **षड्भावविकृतिश्चास्ति जायते वर्धतेऽपि च। परिणामं क्षयं नाशं षड्भावविकृतिं विदुः।।**(व.उ.१-८) १.जायते- उत्पत्ति। २. अस्ति- उत्पन्नावस्थारूप अस्तित्व। ३.वर्धते- वृद्धि। ४.विपरिणमते- परिणाम। ५.अपक्षीयते- क्षीण होना। ६.विनश्यति- विनाश। ये जड़ भावपदार्थोंमें रहनेवाले छः विकार हैं। अविद्या, अस्मिता[1], राग, द्वेष और अभिनिवेश ये पञ्च क्लेश हैं। पुण्य पाप कर्म हैं। जन्म, आयु और भोग ये विपाक हैं। वासनाएं आशय हैं। यहाँ पर प्रत्यनीकका अर्थ है- विरोधी। परमात्मस्वरूप उक्त सभी हेयगुणोंका विरोधी होनेके कारण हेय उसमें रहते ही नहीं हैं, इसलिए परमात्मस्वरूप निखिलहेयप्रत्यनीक कहलाता है। उसका निखिलहेयप्रत्यनीकत्व ही नित्य निर्लेपत्व है। यहाँ पर अद्वारक हेयसम्बन्धका ही निराकरण किया जाता है। वे सत्यसंकल्प होनेके कारण आश्रित जीवोंमें हेयका सम्बन्ध एवं उसका वियोग करनेमें समर्थ हैं। ईश्वरके लिए कोई भी पदार्थ हेय नहीं है। आश्रित जीवोंके हेयपदार्थोंको वे लीलासे निवृत्त कर देते हैं।

अपहतपाप्मत्वादि- यह परमात्मा पापसे रहित है, जरासे रहित है, मृत्युसे रहित है, शोकसे रहित है, क्षुधासे रहित है और पिपासासे रहित है। सत्यकाम तथा सत्यसंकल्प है- **एष आत्माऽपहतपाप्मा विजरो विमृत्युर्विशोको विजिघत्सोऽपिपासः सत्यकामः**

टिप्पणी१- अनात्मनि आत्मबुद्धिः अस्मिता।(भा.प्र.१.१.२)

सत्यसंकल्पः।(छां.उ.८.१.५) यहाँ परमात्माके प्रकरणमें पाप शब्द पापपुण्य दोनोंका बोधक है। परमात्मामें पुण्य नहीं है, पाप नहीं है, सभी पाप इससे निवृत्त हो जाते हैं- **न सुकृतं न दुष्कृतं, सर्वे पाप्मानः अतो निवर्तन्ते**।(छां.उ.८.४.१) इस श्रुतिमें पुण्यके लिए भी पाप शब्दका प्रयोग किया गया है। मुमुक्षुको स्वर्गादिफल अनिष्ट होते हैं, अतः उनके साधन पुण्यको भी पाप कहा जाता है। अपहतपाप्मत्वादि ये गुणाष्टक कहे जाते हैं। इनमें आरम्भके छः निषेधरूप हैं, अन्तके दो विधिरूप हैं।

पाप-पुण्यसे रहित परमात्मा अपहतपाप्म कहे जाते हैं। उनका धर्म है- अपहतपाप्मत्व। वह परमात्मा सभी पापोंसे रहित है- **स एष सर्वेभ्यः पाप्मभ्य उदितः**(छां.उ.१.६.७)। यहाँ अहपतपाप्मत्वका अर्थ पापका प्रध्वंस नहीं है क्योंकि पाप होनेपर ही उनका प्रध्वंस संभव है। परमात्माके पाप होते ही नहीं हैं, अतः उनका प्रध्वंस भी संभव नहीं है, इसलिए यहाँ अपहतपाप्मत्वका अर्थ है- पापके श्लेषसे सर्वथा रहित। अकृतकर्म सम्बन्धसे रहित सभी आत्माएं हैं किन्तु कर्म करनेपर भी उनके सम्बन्धसे रहित परमात्मा है, अतः ईश्वरके कर्म करनेपर भी कर्मकी फलोत्पादकशक्तिका विरोधित्वरूप उनका कोई स्वभाव विशेष ही निरुपाधिकापहतपाप्मत्व कहा जाता है। परिशुद्ध आत्माके अपहतपाप्मत्व गुणका भी यही अर्थ है किन्तु वह तिरोधानके योग्य होता है, प्रतिबन्धकी निवृत्ति होनेपर आविर्भूत होता है। ईश्वरका अपहतपाप्मत्व तिरोधानके अयोग्य होता है, वह नित्य आविर्भूत ही रहता है। नित्यजीवोंके अपहतपाप्मत्वका नित्य आविर्भाव ईश्वरकी इच्छाके अधीन है, इसलिए वह निरुपाधिक नहीं है।

सत्यकामत्व, सत्यसंकल्पत्व- यहाँ पर सत्यकाम शब्द कामनाके सत्यत्वका बोधक नहीं है क्योंकि सत्यसंकल्प पदसे ही वह अर्थ

सिद्ध है। 'काम्यते' इस व्युत्पत्तिसे गुणमात्रका भी बोधक नहीं है क्योंकि अन्य गुण पृथक् वर्णित हैं। अतः सत्यकाम शब्दका अर्थ है-भोग्य, भोगोपकरण तथा भोगस्थानरूप नित्यपदार्थोंवाला परब्रह्म। सत्यसंकल्पत्वका अर्थ है- अप्रतिहतसंकल्प। उनके संकल्पका कभी कोई भी प्रतिघात(अवरोध) नहीं कर सकता है। अप्रतिहत संकल्पवाले परमात्माको सत्यसंकल्प कहा जाता है।

१.ज्ञान- परब्रह्म अतीत, वर्तमान और भविष्यकालिक समस्त पदार्थोंको युगपद जानते हैं। जगत्में कोई भी पदार्थ उनके द्वारा अज्ञात नहीं होता है। सर्वपदार्थों को सर्वकालमें युगपद् जानना ही उनका ज्ञान गुण है। इसे ही सर्वज्ञता कहते हैं। परमात्माकी पर, विविध और स्वाभाविक शक्ति सुनी जाती है। ज्ञान, बल और क्रिया भी पर, विविध और स्वाभाविक हैं- **परास्य शक्तिर्विविधैव श्रूयते, स्वाभाविकी ज्ञानबलक्रिया च।**(श्वे.उ.६.८) यह श्रुति उनकी स्वाभाविकी सर्वज्ञताकी बोधक है। इन्द्रियनिरपेक्ष और कर्मनिरपेक्ष होनेसे उनका ज्ञान स्वाभाविक है। विषयकी विविधता होनेसे विविध है। यथार्थत्व और अपरोक्षत्वरूप उत्कर्ष होनेसे वह पर है। यहाँ स्वाभाविकका अर्थ नित्य और अनन्याधीन है। यद्यपि मुक्तात्मा भी सर्वज्ञ होता है किन्तु वह पहले संसारावस्थामें अल्पज्ञ होता है अतः उसकी सर्वज्ञता स्वाभाविक नहीं है। नित्यसूरियोंकी सर्वज्ञता ईश्वेरच्छाके अधीन होती है, वह भी स्वाभाविक नहीं है। जो सबको स्वरूपतः जानता है और प्रकारतः जानता है- **यः सर्वज्ञः सर्ववित्**(मु.उ.१.१.१०) तथा ब्रह्मदर्शी सर्वज्ञ ब्रह्मके साथ उसके सभी कल्याणगुणोंका अनुभव करता है- **सोऽश्नुते सर्वान् कामान् सह ब्रह्मणा विपश्चितेति**(तै.उ.२.१.२) इत्यादि श्रुतियाँ भी ब्रह्मकी सर्वज्ञतामें प्रमाण हैं।

वेदान्तसिद्धान्तमें धर्माधर्म जीवात्माके धर्मभूतज्ञानके परिणाम

नहीं माने जाते हैं। वे जीवात्मस्वरूपके भी गुण नहीं माने जाते हैं। वे ईश्वरकी प्रीति और कोपरूप होते हैं। वे ईश्वरके धर्मभूतज्ञानके परिणाम होते हैं, इसलिए ईश्वर जीवके धर्माधर्मका प्रत्यक्ष करता है।

शंका- जो वस्तु आगे उत्पन्न होनेवाली है, वह भविष्यत्वेन ज्ञात होती है। जो वस्तु भविष्यत्वेन ज्ञात होती है, वही बादमें वर्तमान होती है। इसके पश्चात् वही अतीत(भूत) हो जाती है, इस प्रकार एक ही वस्तुका तीनों कालोंमें सम्बन्ध रहता है। सर्वज्ञ ईश्वरका संकोचविकासरहित नित्य ज्ञान उस वस्तुको क्या भिन्न-भिन्न रूपसे विषय करता है? अथवा एक ही रूपसे विषय करता है? इनमें प्रथम पक्ष स्वीकार करने पर ईश्वरके करणसे अजन्य ज्ञानकी सतत एकरूपता(संकोचविकासका अभाव) सिद्ध नहीं होती है। द्वितीय पक्षके अनुसार ज्ञेय वस्तुको सदा भविष्यत्वेन विषय करनेपर ईश्वरका ज्ञान भ्रम होगा क्योंकि वस्तुके वर्तमान होनेपर उसका भविष्यत् काल नहीं रहता है, तब उसे भविष्यत्वेन विषय करनेवाला ज्ञान भ्रम ही होगा। इसी प्रकार वस्तुके अतीत होनेपर भविष्यत्काल नहीं रहता है तब उसे भविष्यत्वेन विषय करनेवाला ज्ञान भी भ्रम होगा। इन दोषोंके कारण परमात्मा सर्वज्ञ नहीं हो सकता है।

समाधान- पदार्थ जब जिस रूप में रहता है, ईश्वरका ज्ञान तब उसे उसी रूपमें प्रकाशित करता है। यद्यपि परमात्माका ज्ञान सदा असंकुचित और करणनिरपेक्ष होता है, फिर भी उसके विषय बननेवाले पदार्थ आगमापायी होते हैं, इसलिए पदार्थके वर्तमानकालमें ही ज्ञान उससे संयुक्त होकर उस पदार्थको वर्तमानत्वेन प्रकाशित करता है। कार्य पदार्थकी भूतत्व दशामें ज्ञान उसे भूतत्वेन प्रकाशित करता है। भविष्यत् दशामें भविष्यत्वेन प्रकाशित करता है, इसलिए ईश्वरका ज्ञान कभी भी भ्रम नहीं होता है और उक्त प्रकार से पदार्थ को विषय करने पर ज्ञानकी एकरूपता तथा

संकोचविकासरहितता भी भंग नहीं होती है। जैसे खेतमें स्थित जल उसमें विद्यमान सभी पेड़-पौधोंके आकारका होता है। उसमें उत्पन्न होनेवाले नूतन पेड़-पौधोंके भी आकारका होता है, वैसे ही ईश्वरका ज्ञान जगत् में स्थित सभी पदार्थोंके आकारका होता है। नूतन उत्पन्न होनेवाले पदार्थोंके भी आकार का होता है। इस प्रकार ज्ञान तो सदा संकोचविकाससे रहित होकर एक सर्वविषयकरूपसे ही रहता है। उसके विषय बननेवाले कार्य पदार्थ ही आगमापायी होते हैं। वेदान्तसिद्धान्तके अनुसार कार्य उत्पत्तिसे पहले कारणरूपसे रहता है, उत्पन्न होनेपर अपने रूपसे रहता है, विनष्ट होनेपर भी किसी रूपसे रहता है। इस प्रकार वस्तुके भविष्यत्वेन प्रत्यक्षका अर्थ है- भविष्यमें उत्पन्न होनेवाले कार्यका कारण रूपसे प्रत्यक्ष। वर्तमानत्वेन प्रत्यक्षका अर्थ है- कार्यका अपने रूपसे प्रत्यक्ष। भूतत्वेन प्रत्यक्षका अर्थ है- कार्य जिस रूपान्तरको प्राप्त हो गया है, उस रूपसे प्रत्यक्ष। इसीलिए कहा जाता है कि श्रीभगवान् सर्वदा सभी वस्तुओंको प्रत्यक्ष जानते हैं। इस प्रकार यहाँ अनित्य पदार्थोंको लेकर होनेवाली शंकाका समाधान किया जाता है। नित्य पदार्थ तो सदा ही प्रकाशित होते रहते हैं।

शंका- मनुष्यका भविष्यत्कालिक वस्तुका ज्ञान अनुमितिरूप होता है। भूतकालिक वस्तुका ज्ञान स्मृतिरूप होता है। 'परमात्मा अतीत, अनागत सभी पदार्थोंको प्रत्यक्ष जानते हैं।' ऐसा स्वीकार करनेपर उनके अनुमिति तथा स्मृतिरूप ज्ञानका अभाव सिद्ध होता है।

समाधान- यद्यपि ईश्वरका ज्ञान अनादि एवं करणनिरपेक्ष होता है, फिर भी उनकी इच्छासे उन्हें अनुमिति तथा शाब्दबोधरूप ज्ञान भी होते हैं। अतीत विषयके पूर्वरूपमें न रहनेसे उस विषयकी स्मृति भी संभव होती है। इस प्रकार ईश्वरमें नित्य ज्ञानके समान अनित्य ज्ञान भी होता है।

२.बल- परमात्मा विना किसी श्रमके चेतनाऽचेतनात्मक सम्पूर्ण जगत्‌को धारण करते हैं। श्रमके विना सबको धारण करनेका सामर्थ्य ही उनका बल है। परमात्मा सबको धारण करनेवाला सेतु है- **एष सेतुर्विधरणः** (बृ.उ.४.४.२२), जो अव्यय ईश्वर तीन लोकोंमें प्रवेश करके उन्हें धारण करता है- **यो लोकत्रयमाविश्य बिभर्त्यव्यय ईश्वरः**(गी.१५.१७)।

३.ऐश्वर्य- परमात्मा सम्पूर्ण जगत्‌का नियमन करते हैं। उनका नियमन करनेका सामर्थ्य ही ऐश्वर्य गुण है। परमात्मा सबका नियमन करनेवाला है- **एष सर्वेश्वरः**(बृ.उ.४.४.२२)।

४.वीर्य- परमात्मा सबके उपादान होते हुए, सबको धारण और सबका नियन्त्रण करते हुए भी सदा निर्विकार बने रहते हैं। सदा निर्विकार बने रहनेका सामर्थ्य ही वीर्य गुण कहा जाता है।

५.शक्ति- जो कार्य अन्यसे किसी प्रकार घटित नहीं हो सकता है, श्रीभगवान् उस कार्यको अपने सामर्थ्यसे सहज ही कर देते हैं। यह अघटितघटनासामर्थ्य ही शक्ति गुण है।

६.तेज- श्रीभगवान् किसी कारणकी अपेक्षा न करके बड़े-बड़े बलवानोंको भी पराभूत कर देते हैं। दूसरोंको पराभूत करने(दबाकर रखने) का सामर्थ्य ही उनका तेज गुण है।

ज्ञान, बल, ऐश्वर्य, वीर्य, शक्ति, तेज, सौशील्य, वात्सल्य, मार्दव, आर्जव, सौहार्द, साम्य, करुणा, माधुर्य, गाम्भीर्य, औदार्य, चातुर्य, स्थैर्य, धैर्य, शौर्य और पराक्रम आदि श्रीभगवान् के अनन्त कल्याणगुण हैं। इनमें ज्ञानादि षड्गुण प्रधान हैं। अनन्त कल्याणगुणोंमें कुछ गुण ज्ञानके विस्ताररूप हैं और कुछ शक्तिके विस्ताररूप हैं।

ज्ञानत्व, आनन्दत्वादि अनन्तकल्याण गुण- आनन्दका भाव आनन्दत्व कहलाता है। जो अपने लिए अनुकूल हो, उसे आनन्द कहते हैं। **आनन्दत्वम् स्वानुकूलत्वम्**(श्रु.प्र.१.१.२) आनन्दत्वादिमें आदि शब्दसे सत्यत्व और अनन्तत्व विवक्षित हैं। दूसरे अनुभव करनेवालों के लिए भी जो अनुकूल हो, उसे कल्याण कहा जाता है- **कल्याणत्वम् अन्येषां अनुभवितृणामपि अनुकूलत्वम्**(श्रु.प्र.१.१.२)। परमात्मस्वरूप के ज्ञानत्व आदि कल्याणकारक गुण हैं। जैसे प्रभाके आश्रय तथा प्रभासे भिन्न दीपमें चतुरङ्गुलत्व, रूपवत्त्व तथा उज्ज्वलत्व गुण रहते हैं, उसी प्रकार ब्रह्मके स्वरूपमें ज्ञानत्व आदि गुण रहते हैं। जैसे दीपाश्रित प्रभामें भी रूपवत्त्व आदि गुण रहते हैं, वैसे ब्रह्मके आश्रित धर्मभूतज्ञानमें भी ज्ञानत्वादि गुण रहते हैं। इस प्रकार धर्म और धर्मी ब्रह्म दोनोंके ज्ञानत्व, आनन्दत्व आदि सामान्य गुण हैं। आश्रय व्यक्तिका भेद होनेसे दोनोंमें ज्ञानत्वकी विद्यमानतामें कोई विरोध नहीं है। जैसे- मानव राजाके मानव सेवक होते हैं। मानवत्व दोनोंका सामान्य गुण है। आश्रयव्यक्तिका भेद होनेसे दोनोंमें मानवत्वकी विद्यमानतामें कोई विरोध नहीं है।

वाच्यत्व, वेद्यत्व- वेदके आदिमें जो प्रणव(ओंकार) कहा जाता है तथा जो वेदके अन्तमें भी रहता है। अपनी प्रकृति अकारमें लीन हुए उस प्रणवका जो वाच्य है, वह महेश्वर है- **यद् वेदादौ स्वरः प्रोक्तो वेदान्ते च प्रतिष्ठितः। तस्य प्रकृतिलीनस्य यः परस्सः महेश्वरः।।**(तै.ना.उ.८९), परमात्माका नाम सत्यका सत्य है- **अथ नामधेयं सत्यस्य सत्यम्।** (बृ.उ.२.३.६), परमात्माका नाम उत् है- **तस्योदिति नाम।**(छां.उ.१.६.७) इत्यादि श्रुतियाँ परब्रह्म को प्रणव, सत्य तथा उत् पद का वाच्य कहती हैं। सम्पूर्ण वेद जिस प्राप्य का वर्णन करते हैं- **सर्वे वेदाः यत्पदम् आमनन्ति**(क.उ.१.२.१५), जो हृदय गुहा में स्थित परमात्मा का साक्षात्कार करता है- **यो वेद**

निहितं गुहायां परमे व्योमन्।(तै.उ.२.१.१), परमात्मा का श्रवण, मनन और निदिध्यासन करना चाहिए- **श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्यः**।(बृ.उ.२.४.५), उपनिषत्प्रतिपाद्य पुरुष को पूँछता हूँ- **औपनिषदं पुरुषं पृच्छामि**।(बृ.उ.३.६.२६), जिस ब्रह्मविद्या के द्वारा स्वरूपतः विकाररहित तथा गुणतः विकाररहित परब्रह्म को तत्त्वतः जाना जाता है। उस ब्रह्मविद्याका उपदेश कीजिए- **येनाक्षरं पुरुषं वेद सत्यं प्रोवाच तां तत्त्वतो ब्रह्मविद्याम्**।(मु.उ.१.२.१३), सभी शब्दोंका श्रेष्ठ वाच्य परब्रह्म है- **वचसां वाच्यमुत्तमम्**। सम्पूर्ण वेदोंकेद्वारा वेद्य मैं ही हूँ- **वेदैश्च सर्वैरहमेव वेद्यः**।(गी.१५.१५) इत्यादि शास्त्रवचन ब्रह्मको वेद्य(ज्ञेय) कहते हैं। **ब्रह्मविदाप्नोति परम्**।(तै.उ.२.१.१) यहाँ ब्रह्मविद् पद ही ब्रह्मके वेद्यत्वका प्रतिपादन करता है। ब्रह्मको वेद्य न माननेपर ब्रह्मवित् पद व्यर्थ होता है। ब्रह्मको वेद्य(जिज्ञास्य) मानकर ही **अथातो ब्रह्म जिज्ञासा**(ब्र.सू.१.१.१) इस प्रकार ब्रह्ममीमांसा शास्त्र का आरम्भ होता है। वेद्य न मानने पर यह सूत्र भी निर्विषयक होता है। स्वयंप्रकाश परब्रह्मका वाच्यत्व और वेद्यत्व श्रुतियोंसे ही सिद्ध होनेके कारण स्वयंप्रकाशत्व और वेद्यत्वमें कोई विरोध नहीं है।

प्रश्न- मनके सहित वाणी जिसे विना प्राप्त किये लौट आती है- **यतो वाचो निवर्तन्ते अप्राप्य मनसा सह**।(तै.उ.२.६.१) यह श्रुति 'वाणीका अविषय अर्थात् शब्दका वाच्य परमात्मा नहीं है तथा मनका अविषय अर्थात् परमात्मा वेद्य नहीं है।' यह कहती हैं। ऊपर परमात्माको वाच्य एवं वेद्य कहा गया है, ऐसी स्थितिमें इस श्रुतिके अर्थकी क्या संगति होगी?

उत्तर- उक्त श्रुति परमात्माको अवाच्य एवं अवेद्य नहीं कहती है, वह तो परमात्माकी अपरिच्छिन्नताका प्रतिपादन करती है। अपरिच्छिन्न परमात्मा का परिच्छेद नहीं होता है, इसलिए वाणीसे

उसके परिच्छेदका प्रतिपादन नहीं कर सकते हैं तथा मनसे उसके परिच्छेदको नहीं जान सकते हैं। अपरिच्छिन्न ब्रह्म तो वाच्य है और वेद्य भी है। उसकी परिच्छिन्नता वाच्य और वेद्य नहीं है। ब्रह्मको सर्वथा अवेद्य माननेपर वेद्यत्वनिरूपणमें उक्त श्रुतियाँ और **यतो वाचो** श्रुतिसे पूर्वपठित ब्रह्मवेत्ता परको प्राप्त करता है- **ब्रह्मविदाप्नोति परम्।**(तै.उ.२.१.१) तथा उत्तरपठित **आनन्दं ब्रह्मणो विद्वान् न बिभेति कुतश्चन।**(तै.उ.२.६.१) इत्यादि वाक्योंसे विरोध होता है। यदि कहें कि अज्ञाननाशके लिए केवल वृत्तिव्याप्ति ब्रह्म में होती है, फलव्याप्ति नहीं होती है। अतः ब्रह्म वेद्य नहीं होता है, तो यह कथन भी उचित नहीं है क्योंकि केवल वृत्ति जड़ होनेके कारण उससे अज्ञानका नाश नहीं होता है, ज्ञानसे ही अज्ञानका नाश होता है। फल(ज्ञान) से युक्त हुए विना वृत्ति किसी वस्तुके आकारकी नहीं हो सकती है, अतः वृत्तिको ब्रह्मके आकारकी होनेसे उसमें फलव्याप्ति स्वतः सिद्ध हो जाती है, इस प्रकार ब्रह्म वेद्य ही सिद्ध होता है। ब्रह्मको अवेद्य माननेपर एकविज्ञानसे सर्वविज्ञानकी प्रतिज्ञा भी व्यर्थ होती है। ब्रह्मको अवेद्य माननेपर ब्रह्म वेद्य नहीं है, इस वचनसे भी विरोध होता है क्योंकि वेद्यत्वाभावके ज्ञानमें वेद्यत्व ज्ञान कारण होता है। अतः वेद्यत्वका ज्ञान न होनेपर उसके अभावका भी ज्ञान नहीं हो सकता है। 'ब्रह्म अवाच्य है।' ऐसा कहने पर ब्रह्मपदसे किसी अर्थका बोध होता है या नहीं? यदि बोध नहीं होता है तो उसके वाच्यत्वका निषेध करना व्यर्थ है, यदि बोध होता है तब तो वह वाच्य ही सिद्ध हो जाता है। ब्रह्मको अवाच्य मानने पर उसे प्रणव आदिका वाच्य कहनेवाली पूर्वोक्त श्रुतियोंसे विरोध होता है तथा 'तत्त्वमसि' यह वाक्य ब्रह्मका बोधक है, वादीके इस कथनसे भी विरोध होता है। ब्रह्मको अवाच्य और अवेद्य माननेपर सम्पूर्ण उपनिषदोंसे भी विरोध होता है। ब्रह्मको अवाच्य स्वीकार करनेपर

उसके वाचक शब्दरूप उपनिषद्से विरोध होता है। उपनिषत् शब्दका मुख्य अर्थ ब्रह्मविद्या ही है। उसे अवेद्य(ज्ञानका अविषय) माननेपर ब्रह्मविद्यारूप उपनिषत्से विरोध होता है। इसलिए शास्त्रप्रमाणके अनुसार ब्रह्मको वाच्य और वेद्य स्वीकार करना चाहिए।

शंका- ब्रह्म अवाच्य है, स्वयंप्रकाश होनेसे- **ब्रह्म अवाच्यं स्वयंप्रकाशत्वात्।** ब्रह्म वेद्य नहीं है, स्वयंप्रकाश होनेसे- **ब्रह्म अवेद्यं स्वयंप्रकाशत्वात्।** इन अनुमान वाक्योंसे ब्रह्मको अवाच्य और अवेद्य सिद्ध किया जाता है।

समाधान- उक्त अनुमान वाक्योंमें प्रयुक्त ब्रह्म शब्दसे ब्रह्म अर्थका बोध होता है या नहीं? यदि बोध होता है तो पक्षबोधक ब्रह्म शब्दसे ब्रह्म वाच्य होनेपर एवं विशुद्ध मनसे वेद्य होनेपर उससे विरुद्ध अवाच्यत्व और अवेद्यत्व साध्यकी सिद्धि नहीं हो सकती है और 'मम माता वन्ध्या' इस वाक्यके समान वे अनुमान वाक्य होते हैं। ब्रह्म शब्दसे ब्रह्म अर्थका बोध न होनेपर आश्रयासिद्धि आदि दोष प्रसक्त होते हैं। उक्त विवरणसे स्पष्ट होता है कि किसी भी प्रकार ब्रह्मके अवाच्यत्व एवं अवेद्यत्वकी सिद्धि नहीं हो सकती है। जैसे एक छोटी चक्षु इन्द्रियके द्वारा विशाल पर्वत और महासागर वेद्य होता है, वैसे ही शुद्ध मनके द्वारा परमात्मा वेद्य होता है। यदि कहना चाहें कि पर्वत और सागर सावयव होनेके कारण उनके एक भागके साथ इन्द्रियसंयोग होनेसे वे ज्ञात होते हैं किन्तु परमात्मा निरवयव होनेसे कैसे ज्ञात होगा? ऐसी शंका उचित नहीं है क्योंकि परमात्मा सर्वत्र है, इसलिए वह मनके साथ भी संयुक्त है, अतः विशुद्ध मनसे उसे वेद्य होनेमें कोई बाधा नहीं है। संसारी जनोंका प्रसिद्ध दूषित मन ब्रह्मसाक्षात्कारका साधन नहीं है, यह **यन्मनसा न मनुते**(के.उ.१.५) इत्यादि श्रुतियोंका प्रतिपाद्य है तथा उपासकोंका विशुद्ध मन ब्रह्मसाक्षात्कारका साधन है, **मनसा तु विशुद्धेन**(व्या.स्मृ.)

और **दृश्यते त्वग्र्यया बुद्ध्या**(क.उ.१.३.१२) इत्यादि श्रुतियाँ परमात्माको शुद्ध मनसे वेद्य कहती हैं।

शंका– ब्रह्मबोधकत्वेन अभिमत ब्रह्मादि सभी शब्द लक्षणासे ही निर्विशेष ब्रह्मका बोध कराते हैं। अतः ब्रह्म शब्द लक्षणासे ब्रह्मका बोधक है। शब्दकी मुख्य वृत्तिका विषय ब्रह्म नहीं है।

समाधान– यह शंका उचित नहीं है। यहाँ यह प्रश्न उपस्थित होता है कि ब्रह्म शब्दका कोई मुख्यार्थ(शक्यार्थ) है या नहीं? यदि मुख्यार्थ है तो उसका त्याग करके लक्ष्यार्थ ग्रहण करनेकी क्या आवश्यकता? तात्पर्यकी असिद्धि होनेपर लक्ष्यार्थको ग्रहण किया जाता है। जैसे– 'गङ्गायां घोषः' यहाँ पर गंगा पदके मुख्यार्थ गंगाप्रवाहको ग्रहण करनेपर तात्पर्यकी सिद्धि नहीं होती है क्योंकि गंगापदके मुख्यार्थ गंगाप्रवाहमें घोष(पशुपालककी झोपड़ी) संभव नहीं है, इसलिए गंगा पदके मुख्यार्थका त्याग करके लक्ष्यार्थ तीरको ग्रहण किया जाता है। यहाँ पर ब्रह्म पदके शक्यार्थका त्याग करनेमें कोई भी असिद्धि दिखाई नहीं देती है, अतः मुख्यार्थका त्याग उचित नहीं है। यदि ब्रह्म पदका कोई शक्यार्थ नहीं है तो लक्षणा भी नहीं कर सकते हैं क्योंकि शक्यसे सम्बन्ध रखनेवाले पदार्थमें ही लक्षणा की जाती है– **शक्यसम्बन्धो लक्षणा।** इस प्रकार मुख्यवृत्ति(शक्तिवृत्ति) स्वीकार न करनेपर ब्रह्म शब्दका साधुत्व भी नहीं हो सकता है क्योंकि शक्तिमूलक अनादि प्रयोगके विषय जो शब्द होते हैं, वे ही साधु माने जाते हैं। शक्तिका अभाव होनेपर तन्मूलक अनादि प्रयोगका विषय शब्द नहीं हो सकता है। यदि कहना चाहें कि लक्ष्य निर्विशेष ब्रह्मको ही हम काल्पनिक वाच्य स्वीकार करते हैं तो यह भी उचित नहीं है क्योंकि एक ही वस्तु शक्य और लक्ष्य नहीं हो सकती है। आपके मतमें तो काल्पनिक वाच्यत्व ब्रह्मसे इतर वस्तुओंमें भी रहता है, इस प्रकार अन्य पदार्थोंके समान ही ब्रह्म सिद्ध होता है।

शंकाकारके मतमें **यतो वाचो निवर्तन्ते**।(तै.उ.२.९.१) इस श्रुतिका विरोध परिहार करने लिए ब्रह्मको वाच्य न मानकर लक्ष्य माना जाता है किन्तु इससे भी परिहार नहीं होता है क्योंकि ब्रह्मको वाच्य मानें या लक्ष्य, वह दोनों ही पक्षोंमें शब्दसे वेद्य ही सिद्ध होता है। 'बृहत्त्व गुणसे विशिष्ट शक्य है एवं इससे भिन्न निर्विशेष लक्ष्य है' ऐसा भी नहीं कह सकते हैं क्योंकि लक्ष्यताऽवच्छेदकके आश्रयमें ही लक्षणा होती है। लक्ष्यताऽवच्छेदक धर्मका आश्रय स्वीकार करनेपर ब्रह्म सविशेष ही सिद्ध होता है। इस धर्मको भी न माननेपर उसमें लक्षणा नहीं हो सकती है। **यतो वाचो निवर्तन्ते** इस श्रुतिसे वाणी और मनकी निवृत्ति प्रतीत होती है, सम्बन्धविशेषकी निवृत्ति प्रतीत नहीं होती है। इसप्रकार सम्बन्धविशेषका आश्रय ब्रह्म सविशेष ही सिद्ध होता है, निर्विशेष सिद्ध नहीं होता। निर्विशेषाद्वैतवादी इस श्रुतिके अनुसार शब्दकी शक्तिवृत्तिकी निवृत्ति कहता है किन्तु इस में प्रमाण नहीं है, इसलिए लक्षणा वृत्तिकी ही निवृत्ति क्यों न स्वीकार की जाय? यहाँ कोई विनिगमना नहीं है।

लक्ष्य किसी न किसी पदका वाच्य अवश्य होता है। जैसे गङ्गा पदका लक्ष्य तीर है, वह तीर पदका वाच्य है। जो किसी पदका वाच्य नहीं होता है, वह लक्ष्य भी नहीं हो सकता है। वादीके मतमें निर्विशेष ब्रह्म किसी पदका वाच्य नहीं है, इसलिए वह कभी भी किसी पदका लक्ष्य नहीं हो सकता है, इस प्रकार **ब्रह्मादिपदं न ब्रह्मलक्षकं ब्रह्मवाचकपदरहितत्वात्, विगीतं शब्दान्तरवाच्यं लक्ष्यत्वात्** ये अनुमान प्रवृत्त होते हैं।

बृहत्त्व और बृंहणत्व– ब्रह्म शब्द स्वभावतः सभी दोषोंसे रहित, अनवधिकातिशय(सर्वोत्कृष्ट), असंख्य, कल्याणकारक गुणसमूह वाले पुरुषोत्तमको मुख्य वृत्तिसे कहता है। बृहत्त्व गुणके सम्बन्धके कारण जीव और प्रकृति लिए भी ब्रह्म शब्दका प्रयोग होता है किन्तु

स्वरूपतः और गुणतः जिसमें अनवधिकातिशय(उत्कर्षताकी सीमासे रहित) बृहत्त्व रहता है, वह सर्वेश्वर ही ब्रह्म शब्दका मुख्य अर्थ होता है। स्वरूपतः और गुणतः अनवधिकातिशय बृहत्त्व ब्रह्मशब्दका प्रवृत्तिनिमित्त होता है। ब्रह्मका स्वरूपभूत ज्ञान बृहत्(विभु) है, उसमें रहनेवाला बृहत्त्व स्वरूपतः(साक्षात्) बृहत्त्व कहा जाता है। उसका धर्मभूत ज्ञान भी बृहत् है, उसमें रहनेवाला बृहत्त्व गुणतः(सद्वारक) बृहत्त्व कहा जाता है। स्वरूपगत उत्कर्ष बृहत्त्व(बड़ा होना) कहलाता है और गुणगत उत्कर्ष बृंहणत्व(बड़ा बनाना) कहलाता है। इसलिए साक्षात् और परम्परया निरतिशयबृहत्त्वविशिष्ट बृहत् वस्तु ब्रह्म शब्दका वाच्यार्थ होती है। सबसे बड़ा(व्यापक) है और अन्यको भी बड़ा बनाता है, इसलिए परब्रह्म कहा जाता है- **बृहति बृंहयति च सर्वं तस्माद् उच्यते परं ब्रह्म**।(शां.उ.३), बड़ा होने और बड़ा बनानेके कारण परमेश्वर परब्रह्म कहा जाता है- **बृहत्त्वाद् बृंहणत्वाच्च तद् ब्रह्मेत्यभिधीयते**।(वि.पु.१.१२.५५) इस प्रकार श्रुति स्मृतिके द्वारा बृहत्त्व और बृंहणत्व ये दोनों ही प्रवृत्तिनिमित्तरूपसे ज्ञात होते हैं। महर्षि यास्कने कहा है कि ब्रह्म सबमें व्याप्त होकर रहनेवाला है- **ब्रह्म परिवृढं सर्वतः**(नि.१.३.८)। सृष्टिकालमें स्वाश्रित सूक्ष्म अचेतनके बहुत नामरूप करना, चेतनके धर्मभूतज्ञानका विकास करना और मुक्तावस्थामें उनके धर्मभूतज्ञानकी अपरिच्छिन्न विकासरूप अनन्तताको करना ही भगवान् का बृंहणत्व गुण है। इस प्रकार बृहत्त्वका अर्थ है-सबमें व्याप्त होकर रहना और बृंहणत्वका अर्थ है- व्यापक करना। ऊपर कहे गये गुणतः बृहत्त्वमें बृंहणत्व अन्तर्भूत होता है। ज्ञानरूप जीवात्मा स्वरूपतः अणु है। उसका धर्मभूतज्ञान विभु होनेपर भी अनादि कर्मरूप अविद्यासे संकुचित रहता है। जिससे जीवात्मा बद्धावस्थाको प्राप्त होता है। ब्रह्मविद्याके अनुष्ठानसे प्रसन्न हुए परमात्मा उसकी अविद्याको नष्ट कर देते हैं,

जिससे उसका ज्ञान गुण व्यापक हो जाता है। इस प्रकार अविद्यानाशके द्वारा ज्ञान गुणको व्यापक करनेवाला ब्रह्म होता है।

मुक्तावस्थामें अणु जीवात्मा धर्मभूतज्ञानके विकाससे व्यापकरूप अनन्त(अपरिच्छिन्न) होनेमें समर्थ होता है- **स चानन्त्याय कल्पते**।(श्वे.उ.५.६) इस प्रकार मुक्तावस्थामें ज्ञानके संकोचकी हेतु अविद्याकी पूर्णतः निवृत्तिपूर्वक निरवधिक ज्ञानके विकासरूप विभुत्व(आनन्त्य) को करना ब्रह्मका बृंहणत्त्व गुण है। ब्रह्म स्वरूपतः निरवधिकातिशय बृहत् है। गुणतः भी निरवधिकातिशय बृहत् है और वह मुक्तावस्थामें जीवात्माके ज्ञानगुणको निरवधिकातिशय बृहत् करता है। परब्रह्मके ज्ञान, बल और क्रिया स्वाभाविक हैं- **स्वाभाविकी ज्ञानबलक्रिया च**(श्वे.उ.६.८)। इस श्रुतिसे परब्रह्मके स्वाभाविक गुण स्वीकार करनेपर गुण अविद्याकल्पित हैं, यह पक्ष निरस्त हो जाता है। **ते ये शतम्**(तै.उ.२.८.२) इस प्रकार तैत्तिरीयमें पूर्वपूर्व गुणोंसे उत्तरोत्तर गुणोंका जो सावधिक अतिशय कहा जाता है, अनवधिकातिशय कहनेसे उसकी व्यावृत्ति हो जाती है। नित्य और मुक्त आत्माओंके गुण जगत्की सृष्टि आदि कार्योंके लिए उपयोगी न होनेसे सातिशय(साक्षेप श्रेष्ठतासे युक्त) हैं तथा श्रीभगवान् की इच्छाके अधीन होनेसे भी सातिशय हैं।

बृंहेर्नोऽच्च(उ.सू.४.१४७) इस उणादि सूत्रके द्वारा वृद्धि अर्थवाली बृहि धातुसे मनिन् प्रत्यय, अनुस्वारको अकार तथा यण् करनेपर ब्रह्म शब्दकी सिद्धि होती है। यहाँ स्वरूपतः और गुणतः दोनों प्रकारसे बृहत्त्व विवक्षित है। इसलिए बृंहणत्वरूप गुणतः बृहत्त्व भी धातुके अर्थके अन्तर्गत है। यह कहा जा चुका है कि स्वरूपतः और गुणतः बृहत्त्वको लेकर ब्रह्म शब्दका परमात्मामें ही मुख्यरूपसे प्रयोग होता है। बृहत्त्वमात्र प्रवृत्तिनिमित्तको लेकर ब्रह्म शब्दका

मूलप्रकृति और जीवमें प्रयोग होता है, यह प्रयोग लक्षणासे नहीं होता है क्योंकि इनमें प्रवृत्तिनिमित्तके एकदेशका ग्रहण होता है, अतः यह लाक्षणिक प्रयोग नहीं है। अत्यन्त मुख्यप्रयोग भी नहीं है अपितु मुख्यके समान है, इसलिए इसे भी औपचारिक कहा जाता है। **गङ्गायां घोषः** और **सिंहोऽयं माणवकः** ये औपचारिक प्रयोग हैं। इनमें गङ्गा और सिंह पदकी लक्षणाकी जाती है क्योंकि इनके प्रवृत्तिनिमित्तका त्याग होता है। इस विवरणसे स्पष्ट होता है कि कहींपर लक्षणावृत्तिके कारण औपचारिक प्रयोग कहा जाता है और कहींपर प्रवृत्तिनिमित्तके एक भागको लेकर मुख्य के साथ तुल्यताके कारण औपचारिक प्रयोग कहा जाता है। जैसे- ब्राह्मणपदका प्रवृत्तिनिमित्त ब्राह्मणत्व शरीरके विना संभव नहीं है, इसलिए ब्राह्मण पद शरीरविशिष्टका बोधक होता है, वैसे ही ब्रह्म पदका प्रवृत्तिनिमित्त बृंहणत्व चिदचिद्के विना संभव नहीं है, इसलिए ब्रह्मपद चिदचिद्विशिष्ट ब्रह्मका बोधक होता है। चिद् वस्तुका स्वरूपतः बृहत्त्व नहीं होता है और अचिद् वस्तुका आपेक्षिक बृहत्त्व होता है। निरतिशय बृहत्त्व और निरतिशय बृंहणत्वके चिद् और अचित्में न रहनेसे चिदचिद्विशिष्ट पदार्थ ब्रह्म शब्दका वाच्य नहीं हो सकता है। अतः ब्रह्म शब्दका वाच्य विशेष्य स्वरूपको ही मानना चाहिए। यह कथन उचित नहीं है क्योंकि जैसे घट शब्द और ब्राह्मण शब्दके प्रवृत्तिनिमित्त घटत्व और ब्राह्मणत्वके घटत्व और ब्राह्मणत्वमें न रहनेपर भी घटत्वविशिष्ट घट और ब्राह्मणत्वविशिष्ट ब्राह्मण क्रमशः घट और ब्राह्मण पदके वाच्य होते हैं। वैसे ही ब्रह्मपदका प्रवृत्तिनिमित्त निरतिशय बृहत्त्व और बृंहणत्वको चिदचिद्में न रहनेपर भी चिदचिद्से विशिष्ट ब्रह्म ब्रह्मपदका वाच्य होता है।

"ब्रह्म शब्दका प्रकृति आदि अर्थोंमें भी प्रयोग देखा जाता है, इसलिए प्रकृति आदि अर्थोंमें ही ब्रह्म शब्द की मुख्यवृत्ति हो,

निर्विशेष में लक्षणा हो।'' यह कथन असंगत है क्योंकि जो साक्षात् वाच्य है और अपरोक्ष है, वह ब्रह्म है- **यत् साक्षाद् अपरोक्षाद् ब्रह्म**(बृ.उ.३.४.१)। सर्वेश्वरमें ही ब्रह्म शब्द मुख्यवृत्तिसे प्रयुक्त होता है- **तस्मिन्नेव ब्रह्मशब्दो मुख्यवृत्तः।**(ग.पु.) जगत्कारण परमात्मा में ही ब्रह्मशब्द मुख्यवृत्तिसे प्रयुक्त होता है, अन्यमें ब्रह्म शब्दका उपचारसे प्रयोग होता है- **तत्रैव मुख्यवृत्तोऽयम् अन्यत्र ह्युपचारतः।**(ग.पु) इत्यादि प्रमाण ब्रह्म शब्दका वाच्य परब्रह्मको ही कहते हैं, प्रकृति आदिमें तो ब्रह्म शब्दका उपचारसे प्रयोग कहते हैं। उक्त श्रुतिमें आये साक्षात् पदका अर्थ है- मुख्यवृत्तिसे वाच्य। यह अर्थ करनेपर ही उक्त स्मृतिवचन प्रस्तुत श्रुतिके उपबृंहण होते हैं। शब्दके साधुत्वके लिए उसका प्रवृत्तिनिमित्त भी आवश्यक होता है। जैसे गो शब्दका प्रवृत्तिनिमित्तक गोत्व होता है, वैसे ही ब्रह्म शब्दका प्रवृत्तिनिमित्त निरतिशय बृहत्त्व और बृंहणत्त्व होता है। इनसे विशिष्ट सविशेष ब्रह्म ही ब्रह्ममीमांसाके प्रथमसूत्रस्थ ब्रह्मपदसे कहा जाता है। निर्विशेष ब्रह्ममें तो कोई वृत्ति संभव नहीं है। यह वाच्यत्वके प्रसङ्गमें वर्णित है। कुछ विद्वान् साक्षात्त्वका अन्वय ब्रह्मके साथ न करके अपरोक्षत्वके साथ करते हैं और साक्षात्का अर्थ अन्यनिरपेक्षत्व करते हैं। इस प्रकार 'ब्रह्मका अन्यनिरपेक्ष अपरोक्षत्व' यह श्रुतिका अर्थ करते हैं। यह भी समुचित नहीं है क्योंकि साक्षात्त्वका ब्रह्मके साथ अन्वय होनेपर साक्षात्त्व ब्रह्मपदार्थका विशेषण होता है और अपरोक्षत्वके साथ अन्वय होनेपर साक्षात्त्व पदार्थताऽवच्छेदकका विशेषण होता है। साक्षात्त्व पदार्थका विशेषण संभव होनेपर उसे पदार्थताऽवच्छेदकका विशेषण मानना उचित नहीं है। साक्षात्(इन्द्रियनिरपेक्ष) और व्यवहित(इन्द्रियसापेक्ष) भेदसे अपरोक्षत्व दो प्रकारका होता है। साक्षात्को अपरोक्षत्वका विशेषण माननेपर जो अर्थ निष्पन्न होता है, वही अर्थ 'अपरोक्षात्' इस

निरुपाधिक(विशेषणरहित) निर्देशसे निष्पन्न होता है। ऐसी स्थितिमें साक्षात् पद व्यर्थ होता है किन्तु श्रुतिका कोई भी पद व्यर्थ नहीं हो सकता है, अतः साक्षात्त्वको ब्रह्मका ही विशेषण मानना उचित है। इस पक्षमें ही **तस्मिन्नेव ब्रह्मशब्दो मुख्यवृत्तः** इत्यादि स्मृति तथा **परं जैमिनिर्मुख्यत्वात्**(ब्र.सू.४.३.११) यह सूत्र भी संगत होता है। अर्चिरादि मार्गसे प्राप्य सगुण कारण ब्रह्म ही विचार का विषय है। महर्षि जैमिनि उसे ही ब्रह्मशब्दका मुख्यार्थ मानते हैं। इस प्रकार शतभूषणीकारके अनुसार सूत्रमें आये मुख्य शब्दका मुख्यतात्पर्यविषय ही अर्थ है, मुख्यवृत्तिसे वाच्य अर्थ नहीं है, यह कथन भी निरस्त हो जाता है। मुख्य पदका मुख्य तात्पर्यविषय अर्थ तो प्रकृतसूत्रके शांकरभाष्य से भी विरुद्ध है। वहाँ गौण पदके साथ पढ़े जानेसे मुख्यत्व शक्यत्वरूप ही कहा जाता है। ब्रह्मसूत्रके कार्याधिकरणमें जैमिनिके अनुसार अर्चिरादिके द्वारा जगत्कारण सविशेष परब्रह्म प्राप्य है। व्यापक वस्तु सर्वत्र होनेसे उसे अर्चिरादिके द्वारा प्राप्य कहनेमें कोई अनुपपत्ति नहीं हैं। बादरिके अनुसार अर्चिरादिसे कार्य ब्रह्म प्राप्य है। यहाँ पर जैमिनिका मत ही सूत्रकार महर्षि बादरायणको मान्य है, बादरिका मत मान्य नहीं है। इस अधिकरणका शांकरभाष्य सूत्रानुसारी नहीं है। इसकी विस्तृत जानकारीके लिए इस सूत्रकी श्रुतप्रकाशिका व्याख्याको देखना चाहिए। **यत् साक्षाद् अपरोक्षाद् ब्रह्म**(बृ.उ.३.४.१)। आत्मा ज्ञानस्वरूप है। उससे अतिरिक्त कुछ भी साक्षात् अपरोक्ष नहीं है। ब्रह्मातिरिक्त सब वृत्तिके द्वारा वेद्य है। ब्रह्म तो स्वयंप्रकाश होनेसे साक्षात् अपरोक्ष है। यह शांकरमतानुसारी अर्थ हमें सर्वथा अमान्य नहीं है। शांकरमतमें वृत्ति भी वृत्तिसे वेद्य नहीं है, अतः साक्षात् पदसे उसके ब्रह्मत्वका कैसे वारण होता है? इस प्रश्न का उत्तर यह होता है कि वृत्ति साक्षिभास्य है, ब्रह्म तो स्वयंप्रकाश है। उनके इस

उत्तरसे ही 'ब्रह्मेतर सब वृत्तिवेद्य है।' यह उनका उक्त कथन निरस्त हो जाता है। ब्रह्मेतर जीव तथा धर्मभूतज्ञानकी भी बहुत प्रमाणोंसे स्वयंप्रकाशता सिद्ध है। केवल ब्रह्मकी ही निरपेक्ष प्रकाशता नहीं होती है, इसलिए विशिष्टाद्वैतवेदान्ती प्रस्तुत श्रुतिका अर्थान्तर स्वीकार करते हैं- "जो साक्षात् और अपरोक्ष ब्रह्म है।" साक्षात् ब्रह्मका अर्थ है- ब्रह्मपदसे साक्षात् अर्थात् मुख्यवृत्तिके द्वारा प्रतिपाद्य। ऐसा अर्थ करनेपर ही **तस्मिन्नेव ब्रह्म शब्दो मुख्यवृत्तः।** इस स्मृतिके प्रति प्रकृत श्रुति मूल सिद्ध होती है।

आत्मत्व- वे सबके आत्मा हैं, इसलिए सर्वात्मा कहलाते हैं। **अत सातत्यगमने** इस धातुसे **सातिभ्यां मनिन्मनिणौ**(उ.सू.४.१५४) सूत्र द्वारा कर्तामें मनिण् प्रत्यय करनेपर आत्मा शब्दकी सिद्धि होती है तथा **आप्लृ व्याप्तौ** इस धातुसे भी **उणादयो बहुलम्**(अ.सू.३.३.१) सूत्र द्वारा कर्तामें मनिण् प्रत्यय तथा पकारको तकार आदेश करनेपर आत्मा शब्दकी सिद्धि होती है। जो सबको व्याप्त करता है, जो ग्रहण करता है, जो जगद्रूप विषयका संहार करता है और जो इसकी सदा विद्यमानता है, उस कारण उसे आत्मा कहा जाता है- **यच्चाप्नोति यदादत्ते यच्चात्ति विषयान् इह। यच्चास्य संततो भावः तस्मादात्मेति कीर्त्यते।**(लिं.पु.७०.९६) जो सभीको स्वरूपतः तथा ज्ञानगुणरूप शक्तिकेद्वारा व्याप्त करता है, उस सर्वव्यापक परब्रह्मको आत्मा कहा जाता है- **आप्नोति व्याप्नोति सर्वम् इत्यात्मा स्वज्ञानशक्त्या स्वरूपतश्च सर्वव्यापकः**(ऐ.उ.आ.भा.१.१)। सबको ग्रहण करनेवाला परब्रह्म आत्मा कहा जाता है। यहाँ पर अव्याकृत(सूक्ष्म अर्थात् नामरूपविभागसे रहित) प्रकृतिको नामरूपात्मक करनेके लिए ग्रहण करना ही आदान करना है- **आदत्ते वा सर्वम् इति आत्मा। आदानम् इह अव्याकृतेभ्यः नामरूपकरणाय ग्रहणम्।**(ऐ.उ.आ.भा.१.१) सम्पूर्ण जगत्का संहार

परमात्मामें ही प्रयुक्त होता है। जैसे- सृष्टिके पूर्वकालमें यह एक आत्मा ही था- **आत्मा वा इदमेक एवाग्र आसीत्**।(ऐ.उ.१.१.१) आत्मासे आकाश उत्पन्न हुआ- **आत्मन आकाशः संभूतः**।(तै.उ.२.१.२)। व्याप्त करनेवालेको आत्मा कहा जाता है- आप्नोतीति आत्मा। आत्मा शब्द केवल व्याप्त करनेवाले अर्थका बोधक नहीं है अपितु व्याप्त करनेवाले विशेष अर्थ का बोधक है क्योंकि योगरूढ है। व्याप्त करनेवाले आकाश आदिमें आत्मा शब्दका प्रयोग नहीं होता है, अतः यह नियन्तारूपसे व्याप्त करनेवाले विशेष अर्थका बोधक है- **आत्मशब्दः न व्याप्तृमात्रवाची किन्तु व्याप्तृविशेषवाची, योगरूढत्वात् न हि गगनादिषु आत्मशब्दप्रयोगः। अतः नियन्तृरूपव्याप्तृविशेषवाचीत्यर्थः**।(श्रु.प्र.१.३.१) इस प्रकार अपनेसे भिन्न सभीके नियन्ता रूपसे परमात्माकी ही सभी पदार्थोंमें व्याप्ति संभव होती है। इसलिए आत्मा शब्दकी परमात्मामें ही मुख्यवृत्ति होती हैं। आत्माशब्द के प्रवृत्तिनिमित्तका एक भाग तद्तद्शरीरमात्रके नियमनको जीवात्मामें होनेसे जीवात्मामें आत्मा शब्दका प्रयोग मुख्यके समान होता है। 'गङ्गायां घोषः' इस प्रयोगके समान प्रवृत्तिनिमित्तका पूर्णतः त्याग न होने से जीवात्मामें आत्मा शब्दकी लक्षणा नहीं होती है।

उपनिषदोंमें भेदश्रुतियोंसे यह ज्ञात होता है कि चेतन, अचेतन और ब्रह्म ये तीन पदार्थ हैं। घटक श्रुतियोंसे यह ज्ञात होता है कि चेतन और अचेतन तत्त्व परमात्माके शरीर हैं। परमात्मा इनकी आत्मा हैं। इस प्रकार चेतनाऽचेतनात्मक जगत् और परमात्मामें शरीरात्मभाव-सम्बन्ध होता है। चेतनाऽचेतनात्मक जगत् ईश्वरपर आधारित है, उसके नियमनमें रहनेवाला है और उनके लिए ही हैं। इसलिए यह ईश्वरका शरीर होता है। ईश्वर उनके आधार, नियामक और स्वामी हैं। अतः वे सबकी आत्मा

करता है, इसलिए सभी जगत्‌के संहारकर्त्ता परब्रह्मको आत्मा कहा जाता है- **अत्ति सर्वं जगत् इति आत्मा सर्वसंहरणकर्ता इति।** (ऐ.उ.आ.भा.१.१), **सन्ततो भावः** सदा विद्यमान रहनेवाले और भक्तपरित्राणके लिए सदा अवतरित होनेवाले परब्रह्मको आत्मा कहा जाता है- **अतति- सततमस्ति, नित्य इति सर्वदा रक्षणाय अवतरति वा इति आत्मा परमात्मा**(ऐ.उ.भा.प.१.१)। अब उक्त श्लोकका जीवपरक अर्थ इस प्रकार किया जा सकता है- जो अपने शरीरमात्रको नियन्तारूपसे व्याप्त करता है, भोग्य पदार्थोंको ग्रहण करता है, उनका प्रयोग करता है और मुक्तावस्थामें ज्ञानगुण व्यापक होता है, इसलिए अणु जीवको आत्मा कहा जाता है।

गुहां प्रविष्टावात्मानौ हि तद्दर्शनात्(ब्र.सू.१.२.११) इस सूत्रके अनुसार वेदान्तसिद्धान्तमें आत्मा शब्दका जीव और परमात्मा दोनों अर्थोंमें समान प्रयोग देखा जाता है, फिर भी वह परमात्मा अर्थमें ही अत्यन्त मुख्य है, जीव अर्थमें तो मुख्यके समान है, लाक्षणिक नहीं है। अन्यमतानुसार 'मृदात्मक घट है।' इत्यादि प्रयोगोंके अनुसार आत्मा शब्द स्वरूपका वाचक है। इस विषयमें वेदान्त सिद्धान्तका अभिप्राय इस प्रकार है- जैसे गो शब्द अनेक अर्थका वाचक होनेपर भी सास्नादिवाले प्राणीमें ही उसकी प्रसिद्धि होती है, वैसे ही आत्मा शब्द शरीरसे सम्बन्ध रखनेवाले चेतनमें ही प्रसिद्ध होता है। सर्वात्मा परब्रह्म सभीके अन्दर प्रविष्ट होकर शासन करता है- **अन्तःप्रविष्टः शास्ता जनानां सर्वात्मा।** (तै.आ.३.११.३) ऐसा श्रुति कहती है। अन्दर प्रविष्ट होकर शासन करनेवाला- **अन्तःप्रविष्टः शास्ता** यह सर्वात्मा शब्द का व्याख्यान है। आत्मा शब्दका सबके अन्दर प्रवेश करके नियमन करना अर्थात् सर्वान्तः प्रविश्य नियन्तृरूप प्रवृत्तिनिमित्त है। इसकी पूर्णता परमात्मामें ही होती है, इसलिए आत्मा शब्द अत्यन्त मुख्यरूपसे

परमात्मामें ही प्रयुक्त होता है। जैसे- सृष्टिके पूर्वकालमें यह एक आत्मा ही था- **आत्मा वा इदमेक एवाग्र आसीत्।**(ऐ.उ.१.१.१) आत्मासे आकाश उत्पन्न हुआ- **आत्मन आकाशः संभूतः।**(तै.उ.२.१.२)। व्याप्त करनेवालेको आत्मा कहा जाता है- आप्नोतीति आत्मा। आत्मा शब्द केवल व्याप्त करनेवाले अर्थका बोधक नहीं है अपितु व्याप्त करनेवाले विशेष अर्थ का बोधक है क्योंकि योगरूढ है। व्याप्त करनेवाले आकाश आदिमें आत्मा शब्दका प्रयोग नहीं होता है, अतः यह नियन्तारूपसे व्याप्त करनेवाले विशेष अर्थका बोधक है- **आत्मशब्दः न व्याप्तृमात्रवाची किन्तु व्याप्तृविशेषवाची, योगरूढत्वात् न हि गगनादिषु आत्मशब्दप्रयोगः। अतः नियन्तृरूपव्याप्तृविशेषवाचीत्यर्थः।**(श्रु.प्र.१.३.१) इस प्रकार अपनेसे भिन्न सभीके नियन्ता रूपसे परमात्माकी ही सभी पदार्थोंमें व्याप्ति संभव होती है। इसलिए आत्मा शब्दकी परमात्मामें ही मुख्यवृत्ति होती हैं। आत्माशब्द के प्रवृत्तिनिमित्तका एक भाग तद्तद्शरीरमात्रके नियमनको जीवात्मामें होनेसे जीवात्मामें आत्मा शब्दका प्रयोग मुख्यके समान होता है। 'गङ्गायां घोषः' इस प्रयोगके समान प्रवृत्तिनिमित्तका पूर्णतः त्याग न होने से जीवात्मामें आत्मा शब्दकी लक्षणा नहीं होती है।

उपनिषदोंमें भेदश्रुतियोंसे यह ज्ञात होता है कि चेतन, अचेतन और ब्रह्म ये तीन पदार्थ हैं। घटक श्रुतियोंसे यह ज्ञात होता है कि चेतन और अचेतन तत्त्व परमात्माके शरीर हैं। परमात्मा इनकी आत्मा हैं। इस प्रकार चेतनाऽचेतनात्मक जगत् और परमात्मामें शरीरात्मभाव-सम्बन्ध होता है। चेतनाऽचेतनात्मक जगत् ईश्वरपर आधारित है, उसके नियमनमें रहनेवाला है और उनके लिए ही हैं। इसलिए यह ईश्वरका शरीर होता है। ईश्वर उनके आधार, नियामक और स्वामी हैं। अतः वे सबकी आत्मा

होते हैं। वे सबसे श्रेष्ठ तत्त्व हैं, इस कारण परतत्त्व कहे जाते हैं। वे सबके अन्दर रहनेवाले अन्तरात्मा हैं, उनके अन्दर रहनेवाला दूसरा कोई नहीं है, अतः परमात्मा कहे जाते हैं। वे सदा विद्यमान रहते हैं, इसलिए सत् कहलाते हैं, वे निर्दोष होते हुए षड्गुणोंसे सम्पन्न रहते हैं, इसलिए भगवान् कहे जाते हैं। प्राकृत तथा अप्राकृत लोक एवं उनमें विद्यमान सभी चेतनाऽचेतनात्मक पदार्थ 'नार' कहे जाते हैं। इनके आधार नियामक एवं स्वामी होनेके कारण परमात्माको 'नारायण' कहा जाता है। वे बद्ध और मुक्त पुरुषोंसे अत्यन्त विलक्षण हैं, इसलिए पुरुषोत्तम कहे जाते हैं। वे सभीको आनन्द प्रदान करनेसे राम कहे जाते हैं- **रमयति आनन्दयति सर्वान् इति रामः।** अपने आश्रित भक्तोंके कामादि विकारोंको नष्ट करनेसे कृष्ण कहलाते हैं-**कर्षति विकारान् स्वाश्रितानाम्**। वे सबके अन्दर रहकर उनका नियमन करते रहते हैं, इसलिए सर्वेश्वर और सर्वान्तर्यामी कहे जाते हैं। इस प्रकार शास्त्रोंमें विविध शब्दोंके द्वारा परमात्मा वर्णित हैं।

अनुप्रवेश- ब्रह्म सभी पदार्थोंमें अन्दर और बाहरसे व्याप्त होकर रहता है- **अन्तर्बहिश्च तत्सर्वं व्याप्य नारायणः स्थितः**(तै.ना.उ.६४)। कोई वस्तु कभी भी ब्रह्मकी व्याप्तिके विना नहीं रहती है। उसके सभीमें व्याप्त होकर रहनेपर भी सृष्टिकालके पूर्व पदार्थोंके नामरूपका विभाग नहीं होता है। परमात्माका अनुप्रवेश होनेपर ही नामरूपका विभाग होता है। इसके पश्चात् विभक्त नामरूपके सहित पदार्थोंकी प्रतीति होती है। इस प्रतीतिको पुष्कल प्रतीति कहते हैं। जिस प्रकार गोके उदरमें विद्यमान् बछड़ेमें गोत्व जातिकी स्थिति होती है, उसी प्रकार नामरूपविभागके सहित प्रत्येक पदार्थकी प्रतीतिका जनक सभी पदार्थोंमें ब्रह्मकी जो स्थितिविशेष होती है,

उसे अनुप्रवेश कहा जाता है- **गोजठरगतवत्से गोत्वजातिवत्[1] सर्वव्याप्तस्य ब्रह्मणः प्रत्येकं सर्ववस्तुषु पुष्कलप्रतीत्यर्हस्थितिविशेष एवानुप्रवेशः।**(तै.उ.रं.भा.२.६.२) इस प्रकार नामरूपविभागके संकल्पसे विशिष्ट परमात्माकी स्थिति ही उनका अनुप्रवेश है।

देवताओंसे अधिष्ठित इन तीनों भूतोंमें जीवशरीरक मैं अनुप्रवेश करके नामरूपको व्यक्त करूँ- **हन्ताहमिमाः तिस्रो देवता अनेन जीवेनाऽऽत्मनानुप्रविश्य नामरूपे व्याकरवाणि।**(छां.उ.६.३.२) यह श्रुति अनुप्रवेशपूर्वक नामरूपव्याकरण(सृष्टि) को कहती है तथा उस(जड़चेतनात्मक जगत्) की रचना करके उसमें अनुप्रविष्ट हो गया- **तत् सृष्ट्वा तदेवानुप्राविशत्।**(तै.उ.२.६.२) यह श्रुति नामरूपव्याकरणपूर्वक अनुप्रवेश को कहती है। इसलिए यहाँ क्रम विवक्षित नहीं है, बल्कि अनुप्रवेश और नामरूपव्याकरणका एक कर्ता विवक्षित है। परमात्मा जगत्में अनुप्रवेश करते हुए नामरूपका विभाग करते हैं- **तस्य त्वष्टा विदधद् रूपमेति।**(वा.सं.३१.२१) यह श्रुति भी अनुप्रवेश और सृष्टिको समानकालिक कहती है। जैसे घटादिकार्योंमें मृत्तिकाकी अनुवृत्ति और नामरूपका विभाग एक साथ होता है, वैसे ही जगत्में ब्रह्मका अनुप्रवेश और नामरूपका विभाग एक साथ होता है। अतः अनुवृत्तरूपसे प्रवेश अनुप्रवेश कहलाता है। जैसे- लोकमें पिता पुत्रका नाम रखते हैं, वैसे ही श्रीभगवान् सृष्टिकरके सभी पदार्थोंके नाम रखते हैं, यही नामव्याकरण है। जैसे कुम्भकार मृत्तिकाकी घटत्व अवस्था कर देता है, वैसे श्रीभगवान् अपनी स्थूल अवस्थाकर देते हैं। स्थूलावस्थाको करना ही रूपव्याकरण है। रूपशब्दका अर्थ पदार्थकी आकृति या अवस्था होता है। **अनुप्रविश्य** यह ल्यपूप्रत्ययान्त शब्द अनुप्रवेश और व्याकरण

टिप्पणी१- 'गोत्वादिवत्' इति पाठान्तरम्।

कर्मकी भिन्नताका प्रतिपादन करता है। दोनों भिन्न होनेपर भी एक कालमें ही होते हैं। केवल अचेतनमें परमात्माका अनुप्रवेश होता हो, ऐसी बात नहीं है, चेतनमें भी उनका अनुप्रवेश होता है। यह जो कुछ जड़ चेतनात्मक जगत् है, उसकी रचना करके उसमें प्रवेश कर गया- **यदिदं किञ्च, तत्सृष्ट्वा तदेवानुप्राविशत्।**(तै.उ.२.६.२) यह श्रुति अचेतनके समान चेतनमें भी परमात्माका अनुप्रवेश कहती है।

अनेन जीवेनात्मना यहाँ पर आत्मशब्दको परमात्माका बोधक माननेपर तीनों पदोंकी सार्थकता होती है। अनेन इस प्रकार किया गया पराक्त्वेन निर्देश परमात्मासे जीवके भेदका प्रतिपादक है। जीव पदसे परमात्मपर्यन्त अर्थ ग्रहण करना चाहिए, इस अभिप्रायका प्रतिपादक आत्मपद है, जीव भी आत्मा ही है, इसलिए जीवमात्रका अनुप्रवेश स्वीकार करनेपर 'आत्मना' पद व्यर्थ होता है। जीव और परमात्माकी एकता है, इसलिए केवल परमात्माका अनुप्रवेश स्वीकार करनेपर 'जीवेन' पद व्यर्थ होता है। अतः जीव और परमात्माका भेद होनेपर ही सामानाधिकरण्यके बलसे दोनों पदोंका एक अर्थ भी स्वीकार करना चाहिए। जीव और परमात्मा दोनोंका अनुप्रवेश होनेसे यह ज्ञात होता है कि नामरूपका सम्बन्ध अचेतन प्रकृति, चेतन जीव और परमात्मा इन तीनोंमें होता है।

शांकरमतमें अनुप्रवेश श्रुतिकी असिद्धि- कुछ वादी जीवको अनुप्रवेशका कर्ता तथा परमात्माको नामरूपव्याकरणका कर्ता मानते हैं। वह उचित नहीं है क्योंकि तत् सृष्ट्वा यहाँ पर **समानकर्तृकयोः पूर्वकाले**(अ.सू.३.४.२१) इस व्याकरणानुशासन से क्त्वा प्रत्ययके द्वारा नामरूपव्याकरण तथा अनुप्रवेशका एक ही कर्ता ज्ञात होता है। इसी प्रकार 'अनुप्रविश्य' श्रुतिमें भी ल्यप् प्रत्ययके द्वारा दोनोंका एक कर्ता ज्ञात होता है। अतः प्रस्तुत मत उचित नहीं है। यदि वादी

कहना चाहे कि जीव और ईश्वरका वास्तविक अभेद होनेसे दोनों क्रियाओंका एक कर्ता संभव होता है। तो यह भी उचित नहीं है क्योंकि जिस प्रकार 'एक कालमें भी घट और पटको बनानेवाले कुलाल और तन्तुवाय(जुलाहा)को एक कर्ता नहीं कहा जाता है, उसी प्रकार यहाँ अनुप्रवेश और नामरूप व्याकरण करनेवाले जीव और ईश्वरको एक कर्ता नहीं कहा जा सकता है।

सर्वज्ञतादि गुणवाले ईश्वरकी उसके विपरीत गुणवाले जीवके साथ स्वरूपतः एकता नहीं हो सकती है। इसलिए जैसे-'सिंह होकर मैंने बहुतोंको खाया', 'व्याघ्र होकर बहुतोंको खाया'- सिंहेन भूत्वा बहवो मयात्तः, व्याघ्रेण भूत्वा बहवो मयात्तः। यहाँ पर सिंह होनेका अर्थ है- सिंहशरीरक आत्मा होना, वैसे ही **अनेन जीवेनात्मनानुप्रविश्य** यहाँ जीवेनका अर्थ है- जीवशरीरक आत्मा(परमात्मा)। इस प्रकार इस श्रुतिसे परमात्माका अनुप्रवेश सिद्ध होता है। **यस्यात्मा शरीरम्**(बृ.उ.मा.पा.३.७.२६) तथा **तदनुप्रविश्य**(तै.उ.२.६.२)। इन श्रुतियोंसे अचेतनकी तरह चेतन जीवमें भी परमात्माका अनुप्रवेश सुना जाता है। इस प्रकार जीवका भी शरीरी आत्मा परमात्मा सिद्ध होता है। अतः शरीरवाचक शब्द मुख्यवृत्तिसे शरीरी आत्माका बोध कराते हैं, इसलिए यहाँ 'जीवेन' पद का मुख्यवृत्तिसे ही जीवशरीरकेन अर्थ होता है।

शंका- अनुप्रवेश[1] भी एक प्रकारकी गति ही है, इसलिए अणु जीवका ही अनुप्रवेश होता है, विभु परमात्माका नहीं होता है।

समाधान- जीवका गतिविशेषरूप अनुप्रवेश होनेपर भी उसे परमात्माके प्रयत्नसे जन्य होनेके कारण उसका कर्त्ता परमात्मा होता

टिप्पणी१- अनुप्रवेशो हि अन्तस्संयोगावच्छिन्नक्रियारूपो गतिविशेषः।

है। जिस प्रकार नैयायिक मतमें जीवात्मा विभु होनेके कारण गमन क्रियाका आश्रय नहीं होता है। गमनक्रिया शरीरमें होनेपर भी गमन क्रियाका जनक प्रयत्न जीवात्मामें होता है, इसलिए जीवात्मा गमनक्रियाका कर्ता होता है। उसी प्रकार वेदान्तमतमें परमात्मा विभु होनेके कारण गमन क्रियाका आश्रय नहीं होता है। अनुप्रवेश क्रिया परमात्माके शरीरभूत जीवात्मामें होनेपर भी अनुप्रवेश क्रियाका जनक प्रयत्न परमात्मामें होता है। जिस प्रकार एक तैजस पदार्थ दूसरे तैजस पदार्थके प्रवेशका अवरोधक नहीं होता है, उसी प्रकार ज्ञानस्वरूप जीव ज्ञानस्वरूप परमात्माके प्रवेशका अवरोधक नहीं होता है। सावयव पदार्थ प्रवेशका अवरोधक हो सकता है, निरवयव जीवात्मा ऐसा नहीं हो सकता है। जब तैजस पदार्थ सावयव होनेपर भी दूसरेके प्रवेशका अवरोधक नहीं है, तब निरवयव आत्मा प्रवेशका अवरोधक कैसे हो सकती है? अतः जीवात्मामें परमात्माका स्वरूपतः अनुप्रवेश है। इस प्रकार परमात्मा अनुप्रवेश क्रियाका कर्ता होता है। व्यापक परमात्माका उससे अपृथक्सिद्ध सभी वस्तुओंमें सर्वदा स्वरूपतः प्रवेश होनेपर भी नामरूपविभागके पूर्व जीवके द्वारा प्रवेश न होनेसे अनुप्रवेश कथन सार्थक होता है। **आरम्भणाधिकरणके**(ब्र.सू.२.१.६) श्रीभाष्य में **अनेन जीवेन आत्मना** का अर्थ मदात्मकजीवेनात्मतया किया गया है। यहाँ जीवका अर्थ जीव ही है। आत्माका अर्थ शरीर है, आत्मतया यहाँ हेतुमें तृतीया है। अतः इस वाक्यका यह अर्थ होता है- (जीवको) अपना शरीर बनाने के लिए मैं परमात्मा मदात्मक जीवके द्वारा अनुप्रवेश करके नामरूपको व्यक्त करूँ। परमात्माका अन्दर प्रवेश होनेपर उनके द्वारा नियाम्य वस्तु ही उनका शरीर होती है। इससे परमात्माका नियन्तारूपसे प्रवेश सिद्ध होता है अथवा **जीवेन आत्मना** का अर्थ जीवात्माके द्वारा करनेपर उक्त वाक्यका अर्थ होता है- मदात्मक

जीवात्माके द्वारा अनुप्रवेश करके। इन दोनों पक्षोंमें नामरूपव्याकरण अंशमें परमात्माका साक्षात् कर्तृत्व होता है तथा सर्वव्यापक परमात्माका प्रवेश संभव न होनेसे प्रवेशमें उनका साक्षात् कर्तृत्व नहीं होता है किन्तु प्रयोजक कर्तृत्व होता है।

प्रश्न- शरीरकी प्रकृति बीजादिमें जीवका पहलेरो ही संश्लेष रहता है। बीजादिका शरीररूपमें परिणाम होनेपर वही जीव उससे संश्लिष्ट रहता है। इसी प्रकार बीजादिमें परमात्माका पहलेसे संश्लेष रहता है। बीजादिका शरीररूपमें परिणाम होनेपर भी वह उससे संश्लिष्ट रहता है। अतः अचेतनशरीरमें जीवका अनुप्रवेश तथा इन दोनोंमें परमात्माके अनुप्रवेशका क्या अर्थ है?

उत्तर- बीजादिमें जीवका सम्बन्ध होनेपर भी उसका शरीराकार परिणाम पहले नहीं होता है, अतः पहले शरीरके साथ जीवका सम्बन्ध भी नहीं रहता है। बीजादिका शरीररूप परिणाम होनेपर उसके साथ जीवका जो सम्बन्ध होता है, वही जीवका अनुप्रवेश होता है। इसी प्रकार अचेतन शरीरमें तथा उससे युक्त जीवमें जो परमात्माका सम्बन्ध होता है, वही परमात्माका अनुप्रवेश कहा जाता है। व्यष्टिसृष्टिके समान समष्टिसृष्टिमें भी नामरूपव्याकरण होता है। उसने 'भू' ऐसा उच्चारण किया, भूलोककी रचना की- **स भूरिति व्याहरत्, भुवम् असृजत**।(तै.ब्रा.२.२.४)। जीव धर्मभूतज्ञानके द्वारा अपने शरीरका नियमन करता है। परमात्मा जब व्यष्टिसृष्टिमें देवादिशरीरकी रचना करते हैं, तब उस शरीरमें जीवको (नियमनके लिए उपयोगी) धर्मभूतज्ञानके द्वारा व्याप्तिवाला कर देते हैं। इस प्रकार जीव शरीरका नियमन करने लिए धर्मभूतज्ञानके द्वारा व्याप्त होकर शरीरमें रहता है और परमात्मा स्वयं अचेतन और जीवके नियमनके लिए उपयोगी अपने धर्मभूतज्ञानका विलक्षण परिणाम कर लेते हैं। ऐसे परिणामसे विशिष्ट जो धर्मभूतज्ञान उससे विशिष्ट

जीवका सृष्टिकालमें अचेतनके साथ जो सम्बन्ध होता है, वही जीवका अनुप्रवेश होता है तथा ऐसे परिणामसे विशिष्ट जो धर्मभूतज्ञान उससे विशिष्ट परमात्माका सृष्टिकालमें अचेतन तथा जीवके साथ जो सम्बन्ध होता है, वही परमात्माका अनुप्रवेश होता है। इससे सिद्ध होता है कि जीवकी तरह परमात्मा भी शरीरका साक्षात् नियन्ता होता है- **अनेन जीवेनात्मना** यहाँ पर जीवशरीरक अर्थके बोधक जीव पदसे यह सिद्ध होताा है कि देवमनुष्यादि शब्द अचिद्विशिष्टजीवविशिष्ट परमात्माके बोधक होते हैं। इसलिए चेतनाचेतन सभीका आत्मा ब्रह्म होनेके कारण सब ब्रह्मके शरीर होते हैं, इसी अनुप्रवेश का बृहदारण्यक श्रुति वर्णन करती है- परमात्मा इस शरीरमें नखके अग्रभावसे लेकर शिर तक प्रविष्ट है- **स एष इह प्रविष्ट आनखाग्रेभ्यः।**(बृ.उ.१.४.७)। परमात्माका समष्टिसृष्टिमें उन द्रव्योंके नियमनके लिए उपयोगी धर्मभूतज्ञानकी व्याप्तिरूप अनुप्रवेश करना ही रूपव्याकरण है। रूपशब्द आकृति अर्थमें प्रसिद्ध है। अब इस विषय में सूक्ष्म विचार प्रस्तुत हैं-

नामरूपकी उत्पत्तिके जनक व्यापार(कार्य) को नामरूपव्याकरण कहा जाता है- **व्याकरणं नामरूपनिष्पत्त्यनुकूल-व्यापारः।** यह उपादानमें होनेवाली एक क्रिया है, इसीको सृष्टि कहा जाता है। इस नामरूपव्याकरणके उत्तरक्षणमें नामरूपकी उत्पत्ति होती है। उक्त अनुप्रवेश नामरूपनिष्पत्तिके समानकालमें होता है। अतः उसकी सृष्टि करके उसमें अनुप्रवेश कर गया- **तत् सृष्ट्वा तदेवानुप्राविशत्।**(तै.उ.२.६.२) इस प्रकार नामरूपव्याकरणके पश्चात् नामरूपनिष्पत्तिके समकालमें अनुप्रवेश कथन सार्थक होता है। 'नामरूपकी उत्पत्तिके पश्चात् अनुप्रवेश कर गया' यह उक्त श्रुतिका अर्थ नहीं है। छान्दोग्यमें 'अनुप्रवेश करके नामरूपको व्यक्त करूँ'- **अनुप्रविश्य नामरूपे व्याकरवाणि**(छां.उ.६.३.२) इस प्रकार सृष्टिके

पूर्व अनुप्रवेश कहा गया है। वह उत्पन्न होनेवाले शरीरका प्रकृतिके साथ सम्बन्धरूप है। यहाँ पर सूक्ष्मशरीरविशिष्ट जीवका सम्बन्ध ही जीवका अनुप्रवेश है तथा सृष्टिका जनक सामर्थ्यविशिष्ट जो परमात्माका सम्बन्ध है, वह परमात्माका अनुप्रवेश है। सृष्टिके पूर्वमें होनेवाला अनुप्रवेश सृष्टि करने के लिए होता है। सृष्टिके पश्चात् होनेवाला अनुप्रवेश स्थिति करने के लिए होता है। इसी प्रकार 'मैं पृथ्वीमें प्रवेश करके स्वसामर्थ्य से चराचर सभी प्राणियोंको धारण करता हूँ'- **गामाविश्य च भूतानि धारयाम्यहम् ओजसा**(गी.१५.१३)। इत्यादि प्रकारसे प्रवृत्त्यादि कार्योंके लिए श्रीभगवान् का अनुप्रवेश सुना जाता है। वह कार्योपधायकशक्तिविशिष्ट परमात्मसम्बन्धरूप होता है। शक्ति तथा विग्रहविशेषसे विशिष्ट परमात्माका सम्बन्धरूप अनुप्रवेश उपासनाके लिए होता है। जैसे- तेजशरीरक परमात्मा जलका संकल्प करते है, बादमें जलकी उत्पत्ति होती है, वैसे ही व्यष्टिशरीरके प्रकृति(उपादान) द्रव्यमें अनुप्रवेश करके नामरूपका व्याकरण करते हैं, बादमें व्यष्टिशरीरकी उत्पत्ति होती है। इस प्रकार प्रकृतिद्रव्यमें ही अनुप्रवेशका कथन शरीरमें प्रथमक्षणसे ही जीवविशिष्ट परमात्माके सम्बन्धका ज्ञापक होता है, इससे यह स्पष्ट होता है कि परमात्मपर्यन्त सभी नामरूप होते हैं। परमात्मपर्यन्त नामव्याकरण का अर्थ है- अचिद्विशिष्टचिद्विशिष्ट परमात्माको नामका वाच्य होना। परमात्मपर्यन्त रूपव्याकरणका अर्थ है- अचेतनमें जीवसहित परमात्माके अनुप्रवेशसे देहविशिष्ट जीवके द्वारा परमात्माका रूप होना।

सृष्टिके पूर्व यह जगत् नामरूपविभागसे रहित ही था। उसने अपनेको ही नामरूपके द्वारा व्यक्त किया- **तद्धेदं तर्ह्यव्याकृतमासीत्। तन्नामरूपाभ्यामेव व्याक्रियत**(बृ.उ.१.४.७)। परमेश्वर संकल्पसे बहुत शरीरवाला होता है- **इन्द्रो मायाभिः पुरुरूप ईयते**।(बृ.उ.२.५.१९)

धीरपुरुष अपने सभी स्थावर-जंगम रूपोंकी रचना करके उनका नामकरण करके प्रजापति आदि आधिकारिक पुरुषोंके समक्ष उनका वर्णन करता है- **सर्वाणि रूपाणि विचित्य धीरः नामानि कृत्वाऽभिवदन् यदास्ते**(तै.आ.३.१२.१६) इत्यादि श्रुतियोंसे परमात्मा के सभी नामरूप सिद्ध होते हैं।

नामरूपव्याकरण- सत् शब्दके वाच्य परमात्माने संकल्प किया- अपने-अपने अभिमानी देवताओंसे अधिष्ठित तेज, जल और पृथिवी इन तीन भूतोंमें मदात्मक जीवके द्वारा अनुप्रवेश करके नामरूपका विभाग करूँ- **हन्ताहमिमाः तिस्रो देवताः अनेन जीवेनात्मानुप्रविश्य नामरूपे व्याकरवाणि।**(छां.उ.६.३.२) इस श्रुतिमें तीन भूतोंका उल्लेख अन्यके उपलक्षणके लिए हैं। ब्रह्माण्डनिर्माणके पूर्व महदादिसे लेकर पञ्चभूतपर्यन्त जो सृष्टि होती है, वह समष्टि सृष्टि कहलाती है। ब्रह्माण्डोंमें अनन्त भोगस्थान, भोगोपकरण एवं भोगस्थानकी जो सृष्टि होती है तथा चौरासी लाख योनियोंमें जो विविध भोक्ता जीवोंकी सृष्टि होती है, वह व्यष्टि सृष्टि कहलाती है। इस व्यष्टि सृष्टिको ही प्रस्तुत श्रुतिमें नामरूप-व्याकरण कहा जाता है। जैसे- लोकमें पिता पुत्रका नाम रखता है, यह नामव्याकरण है तथा कुम्भकार मृत्तिकाको घटरूप देता है अर्थात् मृत्तिकाको घटाकारमें परिणत करता है। यह रूपव्याकरण है। परमात्माने व्यष्टि सृष्टि करनेके पूर्व जीवात्माओंके द्वारा प्रविष्ट होकर नामरूपव्याकरणका संकल्प क्यों किया? यह एक विचारणीय विषय है। पिता पुत्रके अन्दर प्रविष्ट होकर नामकरण नहीं करते हैं, बाहर रहकर ही नामकरण करते हैं। कुम्भकार मृत्तिकाके अन्दर प्रविष्ट होकर मृत्तिकाको घटरूपमें परिणत नहीं करता है। वह बाहर रहकर उसे घटरूपमें परिणत करता है। क्या भगवान् पिता और कुम्भकारके समान बाहर रहकर नामरूपका विभाग नहीं कर सकते हैं? इन

प्रश्नका उत्तर यह है कि यद्यपि परमात्मा सब कुछ कर सकते हैं तथापि सभी शब्दों के वाच्य होने एवं समस्त पदार्थोंको सत्ता प्रदान करनेके लिए सबके भीतर प्रवेश करके ही नामरूप-व्याकरण करते हैं। उपर्युक्त प्रकारसे परमात्माके संकल्पका तात्पर्य यह है कि जीवोंको इन रूपों अर्थात् अचेतन शरीरोंको प्राप्त करके कर्मफल भोगना है, इसलिए उनको इन पदार्थोंमें प्रविष्ट होना अनिवार्य है। जीवात्मा और ये रूप(शरीर) परमात्माका आश्रय लेकर ही रह सकते हैं, उनके विना नहीं रह सकते हैं, इसलिए जीवोंके द्वारा परमात्मा भी उन पदार्थोंमें अनुप्रविष्ट होते हैं और नामरूपव्याकरण करते हैं। ऐसा होनेपर ही जीवों तथा उनके द्वारा धारण किये गये शरीरोंका अस्तित्व होता है। इस प्रकार परमात्मा अन्तर्यामी रूपसे जीवोंके अन्दर स्थित होकर जीवोंके द्वारा इन रूपोंको धारण करते हैं तथा रूपोंके बोधक शब्दोंके द्वारा स्वयं भी अभिहित होते हैं। जीव प्रत्येक जड़ पदार्थके अन्दर रहकर जड़ पदार्थको धारण करता है। परमात्मा जीवके अन्दर अन्तर्यामी रूपसे रहकर जीव और उसके शरीरको धारण करते हैं। अचेतन पदार्थ जीवका शरीर होता है, अचेतन और जीव ये दोनों ही परमात्माके शरीर होते हैं। अचेतन शरीरके बोधक शब्द उन शरीरोंका बोध कराते हुए उसके अन्दर रहनेवाले जीव और जीवके भी अन्दर रहनेवाले परमात्माके बोधक होते हैं। इस प्रकार सभी शब्दोंसे परमात्मा कहे जाते हैं।

शरीर आत्माका आश्रय लेकर रहता है तथा आत्मा शरीरका आधार बनकर रहती है। इनमें शरीर विशेषण होता है तथा आत्मा विशेष्य होती है क्योंकि यह मनुष्य है, इस वाक्यका यही अर्थ है कि यह मनुष्यशरीरवाला है। इस प्रतीतिमें मनुष्यशरीर विशेषण(प्रकार) रूपसे ज्ञात होता है और आत्मा विशेष्यरूपसे ज्ञात होती है। यह घट शुक्ल है, इस प्रतीतिका अर्थ है कि यह घट

शुक्लरूपवाला है। इस प्रतीतिमें आधार घट विशेष्यरूपमें ज्ञात होता है और उसके आश्रित रहनेवाला शुक्लरूप विशेषणरूपमें ज्ञात होता है। 'यह गौ है।' इस प्रतीतिमें आधार गो व्यक्ति विशेष्यरूपमें ज्ञात होती है तथा उसके आश्रित रहनेवाली गोत्व जाति विशेषणरूपमें ज्ञात होती है। जिसका आत्मा शरीर है, जो आत्माके अन्दर रहकर उसका नियमन करता है। वह निरुपाधिक अमृतस्वरूप परमात्मा तुम्हारा अन्तर्यामी है – **यस्यात्मा शरीरं य आत्मानमन्तरो यमयति, स त आत्माऽन्तर्याम्यमृतः।**(बृ.उ.मा.पा.३.७.२६) यह श्रुति जीवको परमात्माका शरीर तथा परमात्माको जीवका अन्तर्यामी कहती है, इससे जीव ब्रह्मात्मक सिद्ध होता है। जीवात्मा सदा परमात्माको अपने अन्तर्यामी रूपसे लेकर ही रहता है। ये ब्रह्मात्मक जीव उन शरीरोंके अन्दर आत्माके रूपमें रहते हैं। जो शरीर देव, मनुष्य आदि शब्दोंसे कहे जाते हैं और आत्माके विशेषण होते हैं। शरीरवाचक देव, मनुष्य आदि शब्द उन शरीरोंमें ही विश्रान्त न होकर देव, मनुष्य आदि शरीरों वाली आत्मा तक का प्रतिपादन करते हैं। जड़ पदार्थ परमात्माके शरीर हैं, जीवात्मा भी परमात्माका शरीर है। जिस प्रकार जीवात्मा ब्रह्मात्मक है, उसी प्रकार जड़ पदार्थ भी ब्रह्मात्मक हैं। जिस प्रकार गो शब्द गोरूप जड़ पदार्थ और उस पदार्थके अन्दर रहनेवाले जीव एवं उसके अन्दर रहनेवाले अन्तर्यामी परमात्मा तकका प्रतिपादन करता है, उसी प्रकार प्रकृति और प्रत्ययसे युक्त होकर विभिन्न अर्थोंका प्रतिपादन करनेवाले देव, मनुष्य, यक्ष, राक्षस, पशु, पक्षी, वृक्ष, लता, काष्ठ, शिला, तृण, घट, पट आदि शब्द लोकप्रसिद्ध विचित्र सन्निवेशवाले अपने अर्थका प्रतिपादन करते हुए, उनके अन्दर रहनेवाले जीवोंका प्रतिपादन करके उन जीवोंके अन्दर रहनेवाले परमात्मा तक का प्रतिपादन करते हैं। इसी प्रकार सभी शब्द जड़पदार्थ, जीव एवं परमात्माका

प्रतिपादन करें, इसलिए ईश्वर जीवोंके द्वारा समष्टि तत्त्वोंमें प्रविष्ट होकर नामरूपव्याकरण करते हैं।

सभी पदार्थोंका ब्रह्मात्मकत्व और सभी शब्दोंका ब्रह्मबोधकत्व- 'चेतन और अचेतन सभी पदार्थ ब्रह्मात्मक हैं तथा सभी शब्द ब्रह्मपर्यन्त अर्थके बोधक हैं।' ऐसा विशिष्टाद्वैतवेदान्तमें माना जाता है। किसी विषयके यथार्थज्ञानका साधन प्रमाण ही होता है। वह प्रत्यक्ष, अनुमान और आगम भेदसे तीन प्रकार का होता है। इन प्रमाणोंका कार्यक्षेत्र पृथक्-पृथक् होता है। कुछ प्रमाण द्रव्यके आश्रित रहनेवाले गुणधर्मोंका ही ज्ञान कराते हैं, उनके आश्रय द्रव्यका ज्ञान नहीं कराते हैं। जैसे- घ्राण, रसना और श्रोत्र। इनमें घ्राण गन्धका ज्ञान कराती है, उसके आश्रय द्रव्यका ज्ञान नहीं कराती है। रसना रसका ज्ञान कराती है, उसके आश्रय द्रव्यका ज्ञान नहीं कराती है। इसी प्रकार श्रोत्र इन्द्रिय शब्दका ज्ञान कराती है, उसके आश्रय द्रव्यका ज्ञान नहीं कराती हैं। कुछ प्रमाण गुणधर्मोंके साथ ही उनके आश्रय द्रव्यका भी ज्ञान कराते हैं। जैसे- चक्षु और त्वक्। इनमें चक्षु रूपका ज्ञानकराते हुए उसके आश्रय पृथिवी, जलादिका भी ज्ञान कराती है। त्वक् इन्द्रिय स्पर्शका ज्ञान कराते हुए उसके आश्रय पृथ्वी आदि द्रव्योंका भी ज्ञान कराती है। घ्राण, रसना और श्रोत्रमें द्रव्यका ज्ञान करानेकी सामर्थ्य नहीं है। इससे उन घ्राणादि इन्द्रियोंके द्वारा ज्ञात होने वाले गुण स्वतन्त्र ज्ञात होते हैं, द्रव्यके आश्रित ज्ञात नहीं होते हैं। चक्षु और त्वक् गुण और द्रव्य दोनोंका ज्ञान करानेमें समर्थ हैं। इसलिए उनसे ग्राह्यगुण रूप और स्पर्श द्रव्यके आश्रित ज्ञात होते हैं। कहनेका अभिप्राय यह है कि धर्म सदा धर्मी द्रव्यका आश्रय लेकर ही रहता है, स्वतन्त्र कभी भी नहीं रहता है। जो प्रमाण धर्म और धर्मी दोनोंका ज्ञान कराता है, उससे धर्म धर्मीके अधीन ज्ञात होता है और जो प्रमाण केवल धर्मका ज्ञान कराता है,

उससे धर्म स्वतन्त्र ज्ञात होता है। धर्ममें स्वतन्त्रताकी प्रतीति तो भ्रम ही है। भ्रमात्मक ज्ञानसे उन्हें स्वतन्त्र नहीं माना जा सकता है। ऐसे ही प्रकृतमें समझना चाहिए। हमारे प्रत्यक्ष और अनुमान प्रमाणोंमें लौकिक पदार्थोंका ही ज्ञान करानेका सामर्थ्य है, सभी पदार्थोंके अन्तरात्मा ब्रह्मका ज्ञान करानेका सामर्थ्य नहीं है। अतः वे पदार्थ स्वतन्त्र ज्ञात होते हैं, ब्रह्मात्मक ज्ञात नहीं होते हैं। हमारे पास वेदादि शास्त्ररूप शब्द ही एक ऐसा प्रमाण है, जो इन पदार्थोंका ज्ञान कराते हुए इनके अन्तरात्मा ब्रह्मका भी ज्ञान कराता है। उस शब्दप्रमाण से वे सभी पदार्थ ब्रह्मात्मक ज्ञात होते हैं, इसलिए सभी पदार्थोंको ब्रह्मात्मक ही मानना चाहिए। पदार्थोंका वास्तविक आकार ब्रह्मात्मकत्व ही है। वह शास्त्रसे जाना जाता है। जैसे- चक्षुसे गन्धका ज्ञान न होनेसे गन्धका अभाव नहीं माना जा सकता है। गन्धज्ञान न होनेका कारण गन्धज्ञानकी सामग्रीका अभाव है। वैसे ही लौकिक प्रमाणसे पदार्थके ब्रह्मात्मकत्वका ज्ञान न होनेसे उसे अब्रह्मात्मक अर्थात् स्वतन्त्र नहीं माना जा सकता है। स्वतन्त्र ज्ञात होनेका कारण वेदान्तश्रवणरूप सामग्रीका अभाव है। वे पदार्थ स्वतन्त्र होनेसे स्वतन्त्र ज्ञात नहीं होते हैं। शास्त्रसे यह भी विदित होता है कि सभी शब्द लोकप्रसिद्ध अर्थोंका बोध कराते हुए उनके अन्तरात्मा ब्रह्मका भी बोध कराते हैं। वेदान्त श्रवण न करनेवाले मनुष्य चेतन और अचेतन सभी पदार्थोंको ब्रह्मात्मक नहीं जानते हैं तथा सभी शब्दोंको केवल लोकप्रसिद्ध अर्थोंका ही बोधक समझते हैं। वे यह समझनेमें असमर्थ रहते हैं कि सभी शब्द लोकप्रसिद्ध अर्थोंका बोधकराते हुए उनके अन्तरात्मा ब्रह्मका भी बोध कराते हैं। वेदान्तश्रवणसे वे यह समझते हैं कि चेतन और अचेतन सभी पदार्थोंके अन्दर परब्रह्म अन्तर्यामीरूपसे अवस्थित हैं और सभी कार्य ब्रह्मसे उत्पन्न हुए हैं। इन दोनों कारणोंसे सभी पदार्थ

ब्रह्मात्मक ही हैं और सभी शब्द अचेतन जड़पदार्थ और चेतन आत्माका बोध कराते हुए उनके अन्तर्यामी ब्रह्मके बोधक होते हैं।

शंका– सभी शब्द ब्रह्मके भी बोधक हैं ऐसा स्वीकार करनेपर लोकव्युत्पत्ति(लोकप्रसिद्ध शक्तिज्ञान) से विरोध होता है। लोकव्यवहारसे यह निश्चित होता है कि घटशब्द घट अर्थका बोधक है, पट शब्द पट अर्थका बोधक है। यदि इन शब्दोंको ब्रह्मका भी बोधक माना जाय तो लोकव्युत्पत्ति बाधित होती है, इसलिए चेतन और अचेतनके बोधक शब्दोंको ब्रह्मका बोधक नहीं मानना चाहिए।

समाधान– सभी शब्दोंको ब्रह्मका बोधक माननेपर लोकव्युत्पत्तिसे कोई विरोध नहीं है। **नामरूपे व्याकरवाणि**(छां.उ.६.३.२) इस श्रुतिका व्याख्यान करते समय कहा गया है कि सभी शब्द देवमनुष्यादि जड़शरीरोंको धारण करनेवाले जीवोंसे विशिष्ट ब्रह्मके बोधक हैं। वे केवल ब्रह्मके बोधक नहीं हैं। गो शब्दका लोकप्रसिद्ध अर्थ सास्नादिमान् शरीरविशेष और उसके अन्दर रहनेवाला जीव है। इस अर्थको स्वीकार करके आगे यह भी स्वीकार किया जाता है कि गो आदि शब्द उन शरीरविशिष्ट जीवोंका बोध कराते हुए उनके अन्तर्यामी परब्रह्मका भी बोध कराते हैं। यदि ऐसा माना जाता कि वे शब्द लोकप्रसिद्ध अर्थोंको त्यागकर केवल परमात्माका बोध कराते हैं, तो लोकव्युत्पत्तिसे अवश्य विरोध होता किन्तु वैसा नहीं माना जाता है। अतः लोकव्युत्पत्तिसे विरोधकी संभावना ही नहीं है। यद्यपि सभी शब्द लोकप्रसिद्ध अर्थोंको लेकर ब्रह्म तक बोध करानेका सामर्थ्य रखते हैं, फिर भी लौकिक मनुष्य गो आदि शब्दोंको अचेतन शरीर और उनमें रहनेवाले चेतन जीवका ही बोधक मानते हैं, ब्रह्मका बोधक नहीं मानते हैं। उनकी यह धारणा है कि सभी शब्दोंकी शक्ति अचेतन पदार्थ और चेतन जीवका बोध कराकर समाप्त हो जाती है। उनकी यह धारणा अपूर्ण है। परमात्मा प्रत्यक्ष

और अनुमान प्रमाणसे ज्ञेय नहीं है, इसलिए वे वेदान्त-अध्ययनके पूर्व इन शब्दोंका प्रयोग करते समय और सुनते समय शब्दोंके प्रधान प्रतिपाद्य परमात्माको नहीं जानते हैं। परमात्माको न जाननेके कारण ही वे यह नहीं समझ पाते हैं कि वे शब्द जड़शरीरधारी जीवसे विशिष्ट परमात्माके बोधक हैं। वास्तवमें जड़ शरीर और उसे धारण करनेवाले जीव जिस जड़शरीरधारी जीवसे विशिष्ट परमात्माके एकभाग हैं। वह परमात्मा चेतन और अचेतनके वाचक शब्दोंका वाच्य है। परमात्माको न जाननेके कारण ही वे एक भाग को ही वाच्य अर्थ मानकर उसमें शब्द शक्तिकी परिसमाप्ति मानते हैं। वेदान्तशास्त्रको सुनने पर वे यह जानते हैं कि सभी शब्द लोकप्रसिद्ध अर्थके बोधक होते हुए उनके अन्तर्यामी परमात्माके भी बोधक होते हैं। इस प्रकार सम्प्रदायपरम्परासे वेदान्तश्रवण करनेपर उनकी व्युत्पत्ति लोकप्रसिद्ध अर्थमें ही विश्रान्त न होकर आगे परमात्मा तक बढ़कर पूर्ण हो जाती है- **वेदान्तश्रवणेन च व्युत्पत्तिः पूर्यते**(वे.सं.)। व्युत्पत्तिसे वेदान्तश्रवण होता है और वेदान्तश्रवणसे व्युत्पत्तिकी पूर्ति होती है, इस प्रकार यहाँ अन्योन्याश्रय दोषकी शंका होनेपर **वेदान्तश्रवणेन च व्युत्पत्तिः पूर्यते** यह उक्त उत्तर दिया जाता है। एक भागकी व्युत्पत्तिसे वेदान्तश्रवण होता है और वेदान्तश्रवणसे व्युत्पत्तिकी पूर्ति होती है, इस प्रकार यहाँ अन्योन्याश्रयदोष नहीं होता है।

शंका- 'वेदों से यह ज्ञात होता है कि सभी शब्द लोकप्रसिद्ध अर्थका बोधकराते हुए उनके अन्तर्यामी परमात्मा तकका बोध कराते हैं।' ऐसा अभी प्रतिपादन किया गया है। इसके अनुसार वैदिक शब्दोंको परमात्मपर्यन्त अर्थका बोधक होना चाहिए और लौकिक शब्दोंको परमात्मपर्यन्त अर्थका बोधक नहीं होना चाहिए।

समाधान- वैदिक शब्द ही लौकिकव्यवहारमें आनेके कारण लौकिक कहे जाते हैं। इस प्रकार वैदिक और लौकिक सभी शब्द परमात्माका बोध करानेकी सामर्थ्य रखते हैं। लौकिक शब्द भी वेदराशिसे ही निकालकर उन उन अर्थोंमें प्रयुक्त हुए हैं, इसलिए सभी शब्द वैदिक ही हैं। इस कारण सभी शब्द परमात्मपर्यन्त अर्थके बोधक हैं। श्रीभगवान् वेदराशिसे ही शब्दोंको लेकर उनका पृथक्-पृथक् उच्चारण करके उनके अर्थका स्मरण करके सभी पदार्थोंकी पूर्वकल्पके अनुसार सृष्टि करते हैं और स्वपर्यन्त (परमात्मपर्यन्त) अर्थमें उन शब्दोंका प्रयोग करते हैं। परमात्माने ज्ञापक वेदशब्दोंके अनुसार सभी पदार्थोंके अलग-अलग नामरूपोंकी रचना की और प्राणियोंके पृथक्-पृथक् कर्मोंका विधान किया- **सर्वेषां तु स नामानि कर्माणि च पृथक् पृथक्। वेद शब्देभ्य एवादौ पृथक् संस्थाश्च निर्ममे।।**(म.स्मृ.१.२१), परमात्माने कल्पके आदिमें ज्ञापक वेदशब्दोंके अनुसार देव आदि जीवोंके नामरूपका निर्माण किया और उनके विस्तृत कर्मोंको बताया- **नामरूपं च भूतानां कृत्यानां च प्रपञ्चनम्। वेदशब्देभ्य एवादौ देवादीनां चकार सः।।**(वि. पु.१.५.६३), परमात्माने दिन और रात्रिका विभाग करनेके लिए पूर्वकल्पके अनुसार इस कल्पमें भी सूर्य और चन्द्रमाकी सृष्टि की- **सूर्याचन्द्रमसौ धाता यथापूर्वमकल्पयत्।**(तै.ना.उ.४४) यह श्रुतिवचन भी उक्त अर्थका पोषक है।

शंका- यदि वैदिक और लौकिक शब्द एक ही हैं तो वेदमें शब्दका यह रूप होता है, लोकमें शब्दका यह रूप होता है। इस प्रकार व्याकरणशास्त्रके द्वारा कहा गया वैदिक और लौकिक शब्दोंका भेद कैसे सिद्ध होता है?

समाधान- वैदिक और लौकिक शब्द एक होनेपर भी कहीं कहीं आनुपूर्वीविशेषके होनेसे शब्द वैदिक कहे जाते हैं अन्यथा लौकिक

कहे जाते हैं। उनकी आनुपूर्वीमें जो स्वल्पभेद होता है, उस भेदका प्रतिपादक व्याकरणशास्त्र है। वह दोनों शब्दोके भेदको नहीं कहता है। वैदिक और लौकिक शब्दोंकी एकता ऊपर उद्धृत शास्त्रवचनोंसे ही सिद्ध है। इस विवरणसे यह सिद्ध होता है कि लौकिक शब्द भी वैदिक ही हैं और वे परमात्मपर्यन्त अर्थके बोधक हैं। इस प्रकार 'तत्त्वमसि' इस वाक्यमें त्वं पद जीवके अन्तरात्मा ब्रह्मका बोधक है। यह वाक्य जीवान्तरात्मा और जगत्कारण ब्रह्मके अभेदको बताता है, जीव और ब्रह्मके अभेदको नहीं बताता है।

ऐतदात्म्यम् इदं सर्वम्- हे सोम्य ! यह सभी प्रजा सत् शब्दके वाच्य ब्रह्मसे उत्पन्न होती है, ब्रह्ममें स्थित होती है और ब्रह्ममें ही लीन होती है- **सन्मूलाः सोम्येमाः सर्वाः प्रजाः सदायतनाः सत्प्रतिष्ठाः।**(छां. उ.६.८.४) इस श्रुतिमें शरीरसहित जीव प्रजा शब्दसे कहा जाता है। शरीर अचेतन है, जीव चेतन है। यह चेतनाचेतनात्मक प्रपञ्च सत्से उत्पन्न हुआ है। सत् इसका उपादान एवं निमित्तकारण होनेसे मूल है। सत् इस प्रजाका आयतन अर्थात् आधार है, यह प्रजा सत्में स्थित है। सत् परमात्मा नियामक होकर इसका आधार होता है, इसलिए प्रपञ्च सत्के द्वारा नियाम्य है और सत्का शेष है। सत् इसकी प्रतिष्ठा अर्थात् लयस्थान है। श्रुति इस विषयका वर्णन करके आगे कहती है- **ऐतदात्म्यम् इदं सर्वं तत्सत्यं स आत्मा तत्त्वमसि श्वेतकेतो**(छां.उ.६.८.७.)। अब इस श्रुतिकी व्याख्या प्रस्तुत है-

(१) एष आत्मा यस्य सः एतदात्मा। एतदात्मा एव ऐतदात्म्यम्। यह चेतनाचेतनात्मक जगत् ब्रह्मात्मक(सद् ब्रह्मरूप आत्मावाला) है। वह ब्रह्मात्मक जगत् सत्य(प्रमाणसे सिद्ध) है, वह सद् ब्रह्म जगत्का आत्मा(नियन्ता) है, हे श्वेतकेतु! तुम वही हो। इस पक्षमें **ऐतदात्म्यम् इदं सर्वम्** और **स आत्मा** इन दोनों वाक्योंको एक अर्थका बोधक

होनेसे पुनरुक्तिकी शंका नहीं करनी चाहिए क्योंकि जैसे **रामानुजं लक्ष्मणपूर्वजातम्**[१](वा.रा.सु.२८.१०) यहाँ अतिशय आदर होनेके कारण दो शब्दोंका प्रयोग किया गया है, वैसे ही आत्मशरीरभावमें श्रुतिका अतिशय आदर होनेसे उस अर्थके बोधक दो वाक्योंका प्रयोग किया गया है।

ऐतदात्म्यम् इदं सर्वम् इस वाक्यमें **इदं सर्वम्** इन पदोंके द्वारा चेतनाऽचेतन जगत्का निर्देश करके उस जगत्के आत्मा सद्ब्रह्मका **ऐतदात्म्यम्** इस पदसे प्रतिपादन किया जाता है अर्थात् जगत्को उद्देश्य करके उसके ब्रह्मात्मकत्वका विधान किया जाता है। यहाँ पर यह विचार उपस्थित होता है कि प्रपञ्चका जो ब्रह्मात्मकत्व कहा जाता है, क्या वह जगत् और ब्रह्ममें शरीरात्मभावके कारण हैं अथवा जगत् और ब्रह्ममें स्वरूप-एकताके कारण है? इनमें दूसरा पक्ष संभव नहीं है क्योंकि चेतनाचेतन जगत् और ब्रह्मका स्वरूप-ऐक्य माननेपर उपक्रममें **तदैक्षत** वाक्यसे वर्णित ब्रह्मके सत्यसंकल्पत्वादि गुण बाधित हो जायेंगे। अचेतनके साथ ब्रह्मकी स्वरूप-एकता माननेपर ब्रह्मको अचेतन मानना होगा और अचेतन संकल्प कर ही नहीं सकता है। चेतन जीवके साथ ब्रह्मकी स्वरूप-एकता माननेपर ब्रह्मको जीव मानना होगा। कर्माधीन जीव ऐसा संकल्प कर ही नहीं सकता है। इस प्रकार चेतनाऽचेतन जगत् और ब्रह्मकी स्वरूप-एकता माननेपर ब्रह्म सत्यसंकल्पवाला नहीं हो सकता है। इसलिए जीव और ब्रह्मकी स्वरूप-एकताके कारण जगत्को ब्रह्मात्मक नहीं माना जा सकता है। अतः शरीर-आत्मभावके कारण ही जगत् को ब्रह्मात्मक मानना चाहिए। यह चेतनाऽचेतन जगत् ब्रह्मका शरीर है और ब्रह्म उस जगत्की

टिप्पणी१- 'लक्ष्मणपूर्वजम्' इति पाठान्तरम्।

आत्मा है, इसलिए जगत् ब्रह्मात्मक है अर्थात् जगत् ब्रह्मरूप आत्मासे मुक्त है। यही अर्थ दूसरी श्रुतियोंके द्वारा विशेषरूपसे विदित होता है। परमात्मा शासकके रूपमें सभी जीवोंके अन्दर प्रविष्ट है, इसलिए वह सर्वात्मा है- **अन्तःप्रविष्टः शास्ता जनानां सर्वात्मा।**(तै.आ.३.११.३.)। जो परमात्मा जीवात्मामें रहता है, जीवात्माके अन्दर है, जिसे जीवात्मा नहीं जानता है, जीवात्मा जिसका शरीर है, जो अन्दर रहकर जीवात्माका नियमन करता है, वह अमृतस्वरूप परमात्मा तेरा अन्तर्यामी है- **य आत्मनि तिष्ठन् आत्मनोऽन्तरो यम् आत्मा न वेद यस्यात्मा शरीरं य आत्मानमन्तरो यमयति स त आत्मा अन्तर्याम्यमृतः** (बृ.उ.मा.पा.३.७.२६), इस सद्विद्यामें भी **अनेन जीवेन**(छां.उ.६.३.२) इस प्रकार जीवका अन्तरात्मा होकर जड़ पदार्थोंमें ब्रह्मका प्रवेश करना बताया गया है। इस कारण यहाँ भी ब्रह्म और जीवात्मामें आत्मशरीरभाव ज्ञात होता है। इस विवरणसे यह सिद्ध होता है कि शरीरात्मभाव सम्बन्धके कारण ही प्रपञ्चका ब्रह्मात्मकत्व है। यहाँ **तत्सत्यम्** इस प्रकार प्रपञ्चके ब्रह्मात्मकत्वको सत्य कहनेसे उसकी स्वतन्त्रता सत्य नहीं है, ऐसा जानना चाहिए। **ऐतदात्म्यम्** यहाँ पर आत्मा शब्द शरीरसे सम्बन्ध रखनेवाले चेतनका वाचक है, स्वरूपका वाचक नहीं है क्योंकि स्वरूप अर्थका निर्वाह केवल **एतद् इदं सर्वम्** कहनेसे संभव हो जाता है, अतः स्वरूपका वाचक माननेपर आत्मा पद व्यर्थ होता है। इससे आत्मा शब्दको शरीरके नियन्ता चेतनका ही वाचक मानना उचित है।

(२)इदं सर्वम्= यह चेतनाऽचेतनात्मक जगत्, **ऐतदात्म्यम्**= उपादान और अन्तर्यामी ब्रह्मसे व्याप्त है, उससे व्याप्त जगत् सत्य है, वह ब्रह्म सबका आत्मा है। इसलिए 'हे श्वेतकेतु! तुम वही हो।' असत्य रज्जुसर्प अथवा तुच्छ शशशृंगादि किसीसे व्याप्त नहीं होते हैं किन्तु

प्रमाणसे ज्ञात सम्पूर्ण जगत् ब्रह्मसे व्याप्त होता है। जैसे- 'मिट्टीसे घटादि व्याप्त हैं।' इस वाक्यमें उपादान कारणका व्यापक होना प्रसिद्ध है, वैसे ही प्रकृतमें उपादान कारण(सूक्ष्मचिदचिद्विशिष्ट ब्रह्म)का कार्यमें व्यापक होना कहा जाता है। उससे व्याप्त जगत् (स्थूलचिदचिद्विशिष्ट ब्रह्म) कार्य है। इस प्रकार यहाँ जगत् और ब्रह्ममें कार्यकारण भाव कहा जाता है। **स आत्मा** इस प्रकार दोनोंमें शरीरात्मभाव कहा जाता है। कार्य विशिष्ट है और कारण भी विशिष्ट है। ब्रह्मके चेतन और अचेतन ये दोनों विशेषण, उसके शरीर हैं तथा विशेष्य ब्रह्म इन दोनोंका आत्मा है। इस प्रकार विशिष्टका परस्पर कार्यकारणभाव सम्बन्ध तथा विशेषण और विशेष्यका परस्पर शरीरात्मभाव सम्बन्ध होता है। केवल कार्यकारणभाव होनेसे शरीरात्मभाव सिद्ध नहीं होता है। मृत्तिका और घटमें कार्यकारणभाव है किन्तु शरीर-आत्मभाव नहीं है। केवल धारण और केवल नियमन से भी शरीर-आत्मभाव सिद्ध नहीं होता क्योंकि आत्माके द्वारा कभी शरीरसे भिन्न पदार्थ भी धार्य और नियाम्य होता है, अतः उपादानत्वसे विशिष्ट धारकत्व शरीरात्मभावको सिद्ध करनेवाला है। कार्यकारणभाव और सार्वकालिक धार्यधारकभाव ये दोनों **सन्मूला सोम्येमाः सर्वाः प्रजाः सदायतनाः सत्प्रतिष्ठाः।**(छां.उ.६.८.४) इस श्रुतिसे सिद्ध हैं। कार्यकारणभाव सम्बन्ध होनेसे जगत् ब्रह्म ही है, यह सिद्ध होता है तथा शरीररात्मभाव सम्बन्ध होनेसे **तत् सत्यम्** इस वचनके द्वारा 'जगत्का ब्रह्मात्मकत्व ही सत्य है।' यह कहा जाता है। **सैव हि सत्यादयः**(ब्र.सू.३.३.३७) इस सूत्रके भाष्यमें **ऐतदात्म्यमिदं सर्वं तत्सत्यं स आत्मा।**(छां.उ.६.८.७) इस श्रुतिकेद्वारा वर्णित परमात्माके सत्यत्व, आत्मत्व आदि गुणोंका प्रतिपादन किया गया है। प्रस्तुत सूत्रके बलसे **ऐतदात्म्यम् इदं सर्वं तत्सत्यम्** यहाँ पर सत्य पद

इदं सर्वम्का विशेषण नहीं है, वह तो सत् परमात्माके सत्यत्व का विधायक है। विधेयकी प्रधानता होनेसे **तत् सत्यम्** यहाँ नपुंसकलिङ्ग तथा **स आत्मा** यहाँ पुल्लिङ्ग हुआ है। 'तत् सत्यम्' इस वाक्यसे यह कहा जाता है कि सत् परब्रह्म मिट्टी आदिके समान उपादान कारण होनेपर भी निर्विकार है तथा कुलाल आदिसे विलक्षण स्वतन्त्र अधिष्ठाता होनेसे कर्तृत्वके कारण प्राप्त होनेवाले विकारोंसे रहित है। इस प्रकार पूर्वसे सिद्ध जगदुत्पत्तिलयहेतुत्वके प्रतिपादक सत्यत्व, आत्मत्व और अन्तर्यामित्वरूप उपास्यके गुण कहे जाते हैं।

तत्त्वमसि- चेतन-अचेतन सभी पदार्थ ब्रह्मके शरीर हैं। ब्रह्म आत्मा बनकर इन सबको धारण करता है। शरीर अपने आधार आत्माके प्रति विशेषण अर्थात् प्रकार बनकर रहता है, सभी प्रकारवाला ब्रह्म ही है। शरीरवाचक सभी शब्दोंके द्वारा प्रधानरूप(विशेष्यरूप)से ब्रह्म ही कहा जाता है। इसलिए 'तत्त्वमसि' इस सामानाधिकरण्य श्रुतिमें प्रयुक्त 'तत्'शब्दके अर्थ और 'त्वम्' शब्दके अर्थमें अभेद बतानेवाले 'तत् और त्वम्' पदोंके द्वारा वह ब्रह्म ही कहा जाता है, जो जीवात्मारूप शरीरको धारण करके उससे विशिष्ट होकर रहता है तथा जगत्का कारण है। जीव ब्रह्मका शरीर होनेसे विशेषण है, ब्रह्म विशेष्य है। जीव आश्रित वस्तु है, ब्रह्म उसका आश्रय है। लोकव्यवहारसे यह ज्ञात होता है कि दृश्यमान अचेतन शरीरका अधिष्ठाता जीव 'त्वम्' शब्दका अर्थ है। अध्यात्मशास्त्रसे यह ज्ञात होता है कि ब्रह्मका शरीर जीव ब्रह्मके आश्रित होकर उसी प्रकार ब्रह्मका विशेषण बन जाता है, जिस प्रकार शुक्ल इत्यादि रूप द्रव्यके आश्रित होकर द्रव्यके विशेषण बन जाते हैं तथा जिस प्रकार गोत्व आदि जातियाँ व्यक्तिके आश्रित होकर उसका विशेषण बन जाती हैं। जिस प्रकार द्रव्यकी सत्ता(अस्तित्व)से गुणकी सत्ता होती है और व्यक्तिकी सत्तासे जाति(आकृति) की सत्ता होती है, उसी प्रकार

ब्रह्मकी सत्तासे जीवकी सत्ता होती है। जिस प्रकार गुण द्रव्यको छोड़कर पृथक् स्थिति और प्रवृत्तिके योग्य नहीं होते हैं और जाति व्यक्तिको छोड़कर पृथक् स्थिति और प्रवृत्तिके योग्य नहीं होती है। उसी प्रकार जीव परमात्माको छोड़कर पृथक् स्थिति और प्रवृत्तिके योग्य नहीं होता है। जीवकी स्थिति और प्रवृत्ति परमात्माके ही अधीन होती है। यहाँ गुण और जाति विशेषणरूपमें कहे गये हैं। वे पराश्रित ही होते हैं। गुण और जातिके समान द्रव्य भी विशेषण होते हैं। दण्ड और कुण्डलादि मनुष्यके पृथक्सिद्ध विशेषण होते हैं। वे चेतनकी इच्छासे धारण किये जानेपर उसके आश्रित होकर रहते हैं। शरीर जीवात्माका अपृथक्सिद्ध विशेषण होता है। वह अपनी सत्तापर्यन्त जीवात्माके आश्रित होकर रहता है। जैसे शरीर जीवात्माका अपृथक्सिद्ध विशेषण होता है, वैसे ही जीवात्मा परमात्माका अपृथक्सिद्ध विशेषण होता है। इससे यह सिद्ध होता है कि जीवको अपने आश्रित रखकर जो उसके अन्तर्यामीरूपसे स्थित परमात्मा है। 'त्वम्' इत्यादि जीववाचक शब्द उस परमात्माका उसी प्रकार बोध कराते हैं, जिस प्रकार गुणवाचक शुक्ल आदि शब्द शुक्लरूपवाले द्रव्यका बोध कराते हैं तथा जातिवाचक गो आदि शब्द गोत्वजातिवाले गो व्यक्तिका बोध कराते हैं। जैसे लोकमें गो शब्दका अर्थ गोत्वमात्र नहीं है, वैसे ही 'त्वम्' शब्दका अर्थ देहका अधिष्ठाता जीवमात्र नहीं है। जैसे गो शब्दका अर्थ गोत्वविशिष्ट गोपर्यन्त हैं, वैसे ही 'त्वम्' शब्दका अर्थ देहके अधिष्ठाता जीवके अन्तर्यामी ब्रह्मपर्यन्त है। 'तत्त्वमसि' इस वाक्यमें 'तत्' और 'त्वम्' ये दोनों समानाधिकरण अर्थात् एकार्थके बोधक समान विभक्तिवाले पद हैं, इसलिए वे दोनों पद विभिन्न रूपोंसे अपने वाच्यार्थोंके अभेदको कहते हैं। इनमें 'तत्' पद जगत्कारण सकलकल्याणगुणनिधि, निर्दोष एवं निर्विकार ब्रह्मका वाचक है।

'तत्'पद पूर्वका परामर्शक होनेके कारण **सदेव सोम्येदम्**(छां.उ.६.२.१), **तदैक्षत्**(छां.उ.६.२.३) इत्यादि वाक्योंमें कहे गये जगत्कारण सद् ब्रह्मका बोधक है और **यः सर्वज्ञः सर्ववित्**(मु.उ.१.१.१०) इत्यादि श्रुतियोंसे सिद्ध ब्रह्मके निमित्तकारणत्वका बोधक है। इसी प्रकार 'तत्' पद **परास्य शक्तिर्विविधैव श्रूयते**(श्वे.उ.६.८) इत्यादि श्रुतियोंसे सिद्ध सकलकल्याणगुणाश्रयत्व, **विजरो विमृत्युः**(छां.उ.८.१.५) इत्यादि श्रुतियोंसे सिद्ध निखिलहेयप्रत्यनीकत्व और **सत्यं ज्ञानम्**(तै.उ.२.१.१) इत्यादि श्रुतियोंसे सिद्ध निर्विकारत्वका बोधक है। 'त्वम्' पद भी समक्ष विद्यमान शरीरके अधिष्ठाता जीवके अन्तर्यामी ब्रह्मका बोधक है। 'तत्'पद जगत्कारणत्वेन जिस ब्रह्मका प्रतिपादन करता है, त्वं पद भी जीवान्तर्यामित्वेन उसी ब्रह्मका प्रतिपादन करता है। इस प्रकार दोनों पदोंके प्रवृत्तिनिमित्त भिन्न होनेपर भी दोनों पद शक्तिवृत्तिसे एक ही ब्रह्मका प्रतिपादन करते हैं। इसलिए 'तत्त्वमसि' इस वाक्यका यह अर्थ है कि 'तेरा अन्तरात्मा जगत्कारण सद् ब्रह्म है।' इस श्रुतिसे जीवान्तर्यामी और जगत्कारण ब्रह्मका अभेद सिद्ध होता है। इस रीतिसे प्रवृत्तिनिमित्तके भेदसे दोनों पदोंका एकार्थबोधकत्वरूप सामान्याधिकरण्य सिद्ध हो जाता है अर्थात् जगत्कारणत्व और जीवान्तर्यामित्वरूप प्रवृत्तिनिमित्तके भेदसे दोनों पद एक अर्थके बोधक होते हैं। इस प्रकार प्रवृत्तिनिमित्तके भेदसे एक ब्रह्मरूप विशेष्यमें 'तत्' और 'त्वम्' इन दोनों पदों की वृत्ति कही जाती है। **भिन्नप्रवृत्तिनिमित्तजगत्कारणत्वजीवान्तर्यामित्वनिष्ठप्रकारता-निरूपिता या ब्रह्मनिष्ठविशेष्यता तन्निरूपिता वृत्तिः शक्तिः तत्त्वंपदनिष्ठेति सामानाधिकरण्यम्**।(वे.सं.च.)इससे जीव और ब्रह्मका अभेद (स्वरूप-ऐक्य) सिद्ध नहीं होता है। **तत्त्वमसि** वाक्यका वेदान्तसिद्धान्तसम्मत उक्त अर्थ करनेपर ब्रह्मके निर्दोषत्व, निर्विकारत्व, सर्वकल्याणगुणनिधित्व इत्यादि विशेषणोंका बाध नहीं

होता है। शरीरात्मभाव होनेके कारण **ऐतदात्म्यम् इदं सर्वम्** इस व्यधिकरण वाक्यसे सम्पूर्ण जगत्का ब्रह्मात्मकत्व कहा गया है। सामान्यरूपसे कहे गये इस ब्रह्मात्मकत्वका 'तत्त्वमसि' इस सामानाधिकरण्य वाक्यके द्वारा समक्षस्थित जीवविशेषमें उपसंहार किया जाता है। 'तत्त्वमसि' यह वाक्य किसी नूतन अर्थका प्रतिपादन करनेके लिए प्रवृत्त नहीं होता है, तथापि सामान्यरूपसे कहे गये अर्थका विशेषमें उपसंहार अपेक्षित होता है, इसलिए यह पूर्वमें सामान्यरूपसे कहे गये ब्रह्मात्मकत्वका जीवविशेषमें उपसंहार करता है।

शंका– 'युष्मद्' शब्दका अर्थ जीवात्ममात्र होनेपर 'तत्त्वमसि' इस वाक्यमें **युष्मद्युपपदे समानाधिकरणे स्थानिन्यपि मध्यमः**(अ.सू.१.४.१०५) इस सूत्रसे 'युष्मद्' उपपदके योगमें मध्यम पुरुष होता है, इसलिए धात्वर्थाश्रयवाचक ('अस्'धातुके अर्थ सत्ताके आश्रय 'युष्मद्' अर्थका वाचक) 'असि' यह मध्यम पुरुष जीवात्ममात्रका बोधक होता है। यदि 'त्वम्' शब्दसे 'युष्मद्' अर्थ जीवका अन्तरात्मा परमात्मा विवक्षित है, तो 'त्वम्' पदके साथ 'असि' इस मध्यम पुरुषका अन्वय कैसे संभव होगा?

समाधान– यहाँ 'असि' पद भी आत्माके अन्तरात्मा परमात्माका बोधक है। इस प्रकार 'त्वम्' और 'असि' ये दोनों पद परमात्माके बोधक होते हैं। इसलिए 'त्वम्' शब्दके साथ 'असि' इस मध्यमपुरुषका अन्वय होता है।

शंका– यदि 'त्वम्' शब्दका अर्थ जीवात्मा न होकर जीवात्माका अन्तर्यामी परमात्मा है तो यहाँ मध्यम पुरुष नहीं होना चाहिए अपितु **शेषे प्रथमः**(अ.सू.१.४.१०८) इस सूत्रसे प्रथम पुरुष ही होना चाहिए।

समाधान– यहाँ पर मध्यमपुरुषविधायक **युष्मद्युपपदे समानाधिकरणे स्थानिन्यपि मध्यमः** यह सूत्र प्रवृत्त हुआ है। उद्देश्यविषयक 'युष्मद्' शब्द उपपद होनेपर मध्यम पुरुष होता है, यह सूत्रका अर्थ है। 'जीवात्ममात्रका वाचक युष्मद्शब्द उपपद हो' ऐसा इस सूत्रको अपेक्षित नहीं है किन्तु 'युष्मद्' शब्दका उपपद मात्र होना अपेक्षित है। स्वाभिमुख जीव द्वारा उसके अन्तर्यामी परमात्माका बोधक 'युष्मद्' शब्द होनेपर मध्यम पुरुषकी निवृत्तिको सूत्र नहीं कहता है। जब 'त्वम्' शब्द जीवके अन्तरात्मा परमात्माका बोधक होता है, तब 'असि' शब्द भी उसीका बोधक होता है। धात्वर्थका युष्मदर्थ उद्देश्य होनेपर मध्यम पुरुष होता है। धात्वर्थका अस्मदर्थ उद्देश्य होनेपर उत्तम पुरुष होता है। उक्त दोनोंसे भिन्न उद्देश्य होनेपर प्रथम पुरुष होता है। ऐसा स्वीकार करनेपर सब कुछ संगत हो जाता है। यहाँ युष्मदर्थ उद्देश्य है, इसलिए 'युष्मद्' शब्द उपपद होनेपर मध्यमपुरुष ही होता है, प्रथमपुरुष नहीं होता है।

शांकरमतमें मध्यमपुरुषकी असिद्धि– शांकरमतमें 'तत्त्वमसि' इस वाक्यमें पठित 'तत् और त्वम्' ये दोनों पद अपने अपने वाच्यार्थको छोड़कर लक्ष्यार्थ चिन्मात्रका बोध कराते हैं, इसलिए 'त्वम्' शब्दके वाच्यार्थका त्याग होनेके कारण 'असि' पदसे बोध कराने योग्य कोई रहता ही नहीं है। इसकारण, इस मतमें मध्यमपुरुष सिद्ध नहीं होता है और 'युष्मद्' शब्दके प्रवृत्तिनिमित्तका त्याग होता है। यह दोष विशिष्टाद्वैत मतमें नहीं होता है। इसलिए विशिष्टाद्वैतमतानुसार प्रवृत्तिनिमित्तका त्याग न करके 'युष्मद्' शब्दके योगमें मध्यम पुरुष स्वीकार करना ही उचित है।

शंका– अहं त्वम् अस्मि, त्वम् अहम् असि इत्यादि औपचारिक अर्थवाले लौकिक वाक्योंमें 'युष्मद-अस्मद्' शब्दोंका साथ प्रयोग होनेपर किसके अनुसार पुरुषकी व्यवस्था होती है?

समाधान- 'मैं तेरे समान हूँ' यह **अहं त्वम् असि** इस वाक्यका अर्थ है तथा 'तुम मेरे समान हो' यह **त्वम् अहम् असि** इस वाक्यका अर्थ है। इन वाक्योंमें भी उद्देश्यके अनुसार ही पुरुषकी व्यवस्था होती है। प्रथम वाक्यमें 'अस्मद्' अर्थ उद्देश्य होनेपर उत्तम पुरुष हुआ है। वहाँ अस्मदर्थके साथ युष्मदर्थका अभेद विधान किया गया है। द्वितीय वाक्यमें युष्मदर्थ उद्देश्य होनेपर मध्यम पुरुष हुआ है। वहाँ युष्मदर्थके साथ अस्मदर्थका अभेद विधान किया गया है। हे भगवन्! ब्रह्मरूप परदेवता! मैं आपसे अभिन्न हूँ(मेरी अन्तरात्मा आप हैं), आप मेरेसे अभिन्न हैं(आप मेरी अन्तरात्मा हैं)। **त्वं वा अहमस्मि भगवो देवते, अहं वै त्वमसि।**(व.उ.२.३४) ये मुख्य अर्थवाले वैदिक वाक्य हैं। यहाँ उपासक जीव और उपास्य परब्रह्मका आत्मशरीरभाव होनेसे अभेद कहा जाता है।

शंका- श्रीभाष्यके महासिद्धान्त प्रकरणमें 'तत्त्वमसि' इस वाक्यका अर्थ निरूपण करते समय कहा गया है- 'तत्त्वमसि' यहाँ पर उद्देश्य-विधेयका विभाग किस प्रकार होता है? क्योंकि यहाँ किसीको उद्देश्य करके किसीका भी विधान नहीं किया जाता है, ऐतदात्म्यम् इदं सर्वम् इस वाक्यसे ही उद्देश्य-विधेयका विभाग प्राप्त है- **तत्त्वमसीत्यत्र उद्देश्योपादेयविभागः कथमिति चेत् नात्र किंचिद् उद्दिश्य किमपि विधीयते। ऐतदात्म्यमिदं सर्वम् इत्यनेनैव प्राप्तत्वात्**(श्रीभा.१.१.१)। आपने उक्त शंकाओंका समाधान करते समय 'तत्त्वमसि' इस वाक्यमें युष्मदर्थको उद्देश्य कहा है, जब कि भगवान् भाष्यकार उक्त वाक्यमें किसी अर्थको उद्देश्य नहीं मानते हैं। इस प्रकार आपका कथन श्रीभाष्यकारके वचनसे विरुद्ध है। भाष्यकारके अनुसार युष्मदर्थ उद्देश्य नहीं है, इसलिए मध्यमपुरुष कैसे होगा? यह प्रश्न तो बना ही रहता है।

समाधान- 'असि' इस मध्यमपुरुषकी दृष्टिसे जो युष्मदर्थका उद्देश्यत्व कहा जाता है, भाष्यमें उसका निषेध विवक्षित नहीं है। अतः यहाँ मध्यमपुरुष होनेमें कोई बाधा नहीं है। **तदैक्षत्** इस वाक्यसे 'तद्'शब्दका अर्थ जगत्-कारण सद्ब्रह्म ज्ञात है। **अनेन जीवेनात्मना** इस वाक्यसे आत्मशरीरभाव तथा शरीरवाचक शब्दोंका आत्मपर्यन्तबोधकत्व ज्ञात है। **ऐतदात्म्यम् इदं सर्वम्**(छां.उ.६.८.७) इस वाक्यसे प्रपञ्चका ब्रह्मात्मकत्व ज्ञात है। अज्ञात अर्थके ज्ञापक वाक्योंमें उद्देश्य-विधेय विभाग होता है, निगमन वाक्योंमें नहीं होता है। किसी अर्थका विधान करनेके लिए ही किसीको उद्देश्य किया जाता है। पूर्वसे ज्ञात होनेके कारण 'तत्त्वमसि' इस वाक्यसे किसी का विधान नहीं किया जाता है, अतः इस वाक्यसे किसीको उद्देश्य भी नहीं किया जाता है। **ऐतदात्म्यम् इदं सर्वम्** इस वाक्यमें **इदं सर्वम्** इन शब्दोंसे चेतनाचेतन जगत्को उद्देश्य करके **ऐतदात्म्यम्** इस पदसे उसके ब्रह्मात्मकत्वका विधान किया जाता है। इस प्रकार अज्ञात अंशका ज्ञापनरूप विधेयत्व **ऐतदात्म्यमिदं सर्वम्** इस पूर्ववाक्यसे ही प्रतिपादित है। वह 'तत्त्वमसि' इस वाक्यसे विधेय(अपूर्व प्रतिपाद्य) नहीं है। इस प्रकार जगत्के ब्रह्मात्मकत्वरूप विधेयका भाष्यमें निषेध विवक्षित है। प्राप्त अर्थका ही उपसंहार किया जाता है। पूर्वसे प्राप्त सर्वके ब्रह्मात्मकत्वका 'तत्त्वमसि' इस निगमन वाक्यके द्वारा जीवविशेष श्वेतकेतुमें उपसंहार किया गया है। उपसंहार करनेके लिए 'त्वम्' को उद्देश्य किया ही गया है। अतः 'असि' शब्दगतमध्यमपुरुषनिरूपितोद्देश्यकत्वके निरासमें भाष्यका तात्पर्य नहीं है अर्थात् अज्ञातज्ञाप्यत्वरूपविधेयत्व का प्रतियोगी जो उद्देश्यत्व है, उसका श्रीभाष्यमें निषेध किया गया है किन्तु 'असि' शब्दगत मध्यमपुरुषनिरूपित उद्देश्यत्वका निषेध नहीं किया गया है। यह समाधानका सार है।

शंका- श्रोता और वक्ता दोनों राजाके अधीन होते हैं, इसलिए जैसे उपचारकी विवक्षासे 'तुम राजा हो, मैं राजा हूँ'- 'त्वं राजासि, अहं राजास्मि' इत्यादि वाक्योंमें मध्यम और उत्तम पुरुषकी व्यवस्था संभव होती है, वैसे ही जीवको ब्रह्मके अधीन होने के कारण उपचारकी विवक्षासे 'तत्त्वमसि' और 'अहं ब्रह्मास्मि' इन वाक्योंमें मध्यम और उत्तम पुरुषकी व्यवस्था संभव हो जायेगी, इसलिए 'तत्त्वमसि' वाक्यकी सिद्धान्तसम्मत व्याख्या तथा उसके आधार पर किया गया शंका-समाधान सब व्यर्थ होता है।

समाधान- 'तत्त्वमसि' आदि वैदिकवाक्योंको औपचारिक मानना उचित नहीं है क्योंकि मुख्यार्थ संभव न होनेपर ही उपचार की विवक्षा होती है। यहाँ मुख्यार्थसे ही समानाधिकरण वाक्यके द्वारा किये गये अभेदनिर्देशका निर्वाह हो जाता है। इसीसे मध्यम और उत्तम पुरुषकी व्यवस्था संभव हो जाती है, अतः 'तत्त्वमसि' वाक्यका सिद्धान्तसम्मत प्रतिपादन सार्थक ही है। उपचार पक्षमें तो शब्दोंके वाच्यका अभेद संभव होता ही नहीं है। लोक और वेदमें देव, मनुष्य आदिके वाचक शब्द देव, मनुष्य आदि शरीरोंका बोध कराते हुए उनमें रहनेवाली चेतन आत्माका भी मुख्यवृत्तिसे ही बोध कराते हैं। इसी प्रकार जैसे जाति और गुणवाचक शब्द अपने अर्थ जाति और गुणका बोध कराते हुए उनके आश्रय व्यक्ति और द्रव्यका भी मुख्यवृत्तिसे ही बोध कराते हैं, वैसे ही जीववाचक 'त्वम्' शब्द जीवका बोध कराते हुए उसके अन्तरात्मा ब्रह्मका भी मुख्यवृत्तिसे ही बोध कराता है, इसलिए यहाँ उपचारकी कल्पना सर्वथा अनुचित है।

शंका- 'तत्त्वमसि श्वेतकेतो' यहॉ पर 'श्वेतकेतो' यह शब्द सम्बोधन का रूप है। समक्ष विद्यमान संबोधनके योग्य व्यक्तिको ही संबोधित किया जाता है। असंबोध्यको संबोधित नहीं किया जाता है। अतः

समक्ष विद्यमान श्वेतकेतु ही संबोधनके योग्य है, परमात्मा नहीं है। इसलिए 'त्वं' शब्दसे समक्ष विद्यमान जीवात्माका ही बोध होगा, परमात्माका बोध नहीं होगा। 'त्वम्' शब्द संबोध्यसे भिन्नका बोधक है' ऐसा कहीं नहीं देखा जाता है। 'त्वं' शब्दसे श्वेतकेतुशरीरक परमात्माका बोध होनेपर समक्ष उपस्थित श्वेतकेतुको लक्ष्य करके उपदेश करना संभव नहीं होगा। 'त्वं' पदसे जीवमात्रको लेनेपर लक्षणाके विना 'तत्त्वमसि' वाक्यके अर्थकी संगति नहीं होती है।

समाधान- ऐतदात्म्यमिदं सर्वम् इस वाक्यसे कहे गये जगत्के ब्रह्मात्मकत्वका 'तत्त्वमसि' इस वाक्यसे जीवविशेषमें उपसंहार (अनुवाद) होता है- **ऐतदात्म्यमिदं सर्वमित्युक्तस्य तत्त्वमसीति विशेषे उपसंहारः**।(श्रीभा.१.१.१) ऐसा श्रीभाष्यमें कहा गया है, इसलिए 'सर्व' शब्दके स्थानमें प्रयुक्त 'त्वं' शब्द संबोध्य जीवमात्रका ही बोधक है और 'ऐतदात्म्यम्' शब्दके स्थानमें प्रयुक्त 'तत्' शब्द उसके तदात्मकत्व अर्थात् ब्रह्मात्मकत्वका बोधक है, अतः 'त्वम् तत् असि- तुम ब्रह्मात्मक हो' यह अर्थ निष्पन्न होता है। यहाँ पर 'तत्' शब्दकी ब्रह्मात्मकत्वमें लक्षणा नहीं है क्योंकि 'ऐतदात्म्यम्' इस शब्दसे निर्दिष्ट ब्रह्मात्मकत्वका ही 'तत्' पदसे ग्रहण होता है। यदि 'सत्' शब्दसे निर्दिष्ट ब्रह्मका 'तत्'पदसे ग्रहण होता तो 'तत्'पदकी लक्षणा होती किन्तु ऐसा नहीं है। इस प्रकार 'त्वम्' शब्दसे परमात्मपर्यन्त अर्थ लेनेपर श्वेतकेतुको लक्ष्य करके उपदेश करना संभव नहीं है, फिर भी 'त्वम्' शब्दसे जीवमात्र अर्थ लेनेपर श्वेतकेतुको लक्ष्य करके उसके ब्रह्मात्मकत्वका उपदेश संभव होता है, अतः यहाँ लक्षणाके विना ही अर्थकी संगति हो जाती है।

वस्तुतः 'तत्त्वमसि' इस वाक्यमें 'तत्' शब्दके द्वारा **स आत्मा** इस प्रकार पूर्वमें निर्दिष्ट जगत्कारण ब्रह्मका ही ग्रहण होता है। इस प्रकार 'सत्' शब्दका वाच्य जगत्कारण ब्रह्म ही 'तत्' शब्दसे कहा

जाता है। 'त्वम्' पद तो अपर्यवसान वृत्तिके द्वारा जीवके अन्तरात्मा ब्रह्मका बोध कराता है। 'श्वेतकेतो' इस प्रकार संबोधित किये गये जीवका ही 'त्वम्' पदसे बोध होता है, परमात्माका बोध नहीं होता है, ऐसी जो शंका ऊपरकी गयी है, वह उचित नहीं है क्योंकि देवदत्तके पुत्रके द्वारा किसी कार्यके सम्पन्न होनेपर 'हे देवदत्त!' इस प्रकार देवदत्तको संबोधित करके 'त्वमेव कृतवान् असि' ऐसे वाक्य देखे जाते हैं। इसी प्रकार श्वेतकेतुको संबोधित करके उसके अन्तरात्माको जगत्कारण ब्रह्म कहना सर्वथा उचित है। यहाँ दृष्टान्त और दार्ष्टान्तिकमें इतना भेद अवश्य है कि वहाँ दृष्टान्तमें मुख्यवृत्ति संभव न होने से 'त्वम्' पदकी पुत्रमें लक्षणाकी गई है और यहाँ अपर्यवसान वृत्तिसे 'त्वम्' पदका अन्तर्यामीपर्यन्त अर्थ लिया गया है। अपर्यवसानवृत्ति मुख्यवृत्ति ही है। इसका शब्दप्रमाणके प्रसंगमें वर्णन किया जाएगा।

'तत्त्वमसि' इस वाक्यमें 'त्वम्' पद समक्ष विद्यमान अचेतन-शरीरक जीवके अन्तर्यामीको कहता है, वह अपरोक्ष है। नामरूपविभागवाले अचेतन शरीर और उसका अधिष्ठाता जीव दोनों ही स्थूल कहे जाते हैं। इस प्रकार 'त्वम्' पद स्थूल चेतनाचेतनको कहते हुए उनसे विशिष्ट उनके अन्तर्यामी ब्रह्मको कहता है और 'तत्' पद जगत्कारण अर्थात् सूक्ष्मचिदचिद्विशिष्ट ब्रह्मको कहता है, वह परोक्ष है। इस प्रकार यह वाक्य स्थूलचिदचिद्विशिष्ट और सूक्ष्मचिदचिद्विशिष्ट ब्रह्मके अभेदका प्रतिपादन करता है। पूर्वमें इस वाक्यको जीवके अन्तर्यामी तथा जगत्कारण ब्रह्मके अभेदका प्रतिपादक कहा गया है। इन दोनोंके तात्पर्यमें कोई विरोध नहीं है।

शंका- यहाँ 'तत्' और 'त्वम्' पदोंके सामानाधिकरण्यसे ही अर्थबोध हो जाता है, तो 'असि' इस पदका प्रयोग क्यों किया जाता है? तथा **अहं ब्रह्मास्मि** इस वाक्यमें 'अहम्' और 'ब्रह्म' पदोंके

सामानाधिकरण्यसे ही अर्थ बोध हो जाता है तो 'अस्मि' इस पदका प्रयोग क्यों किया जाता है?

समाधान- 'अस्' धातुका सत्ता अर्थ होता है। सत्ताका अर्थ अस्तित्व या औचित्य होता है, इसलिए 'तत्' और 'त्वम्' पदके वाच्यार्थका तादात्म्य उचित है। यह 'असि' पदसे ज्ञात होता है तथा 'अहम्' और 'ब्रह्म' पदके वाच्यार्थका तादात्म्य उचित है। यह 'अस्मि' पदसे ज्ञात होता है- **अस्तिधातोः सत्ता ह्यर्थः तेनेदं तादात्म्यं युक्तमिति दर्शितं भवति।**(श्रु.प्र.४.१.३)

शंका- 'तुम्हारा अन्तरात्मा जगत्कारण ब्रह्म है'। यह 'तत्त्वमसि' वाक्यका अर्थ कहा गया है किन्तु विशिष्टाद्वैतवेदान्त ग्रन्थोंमें कहीं कहीं 'तुम ब्रह्मात्मक हो'- **त्वं ब्रह्मात्मकोऽसि** यह अर्थ भी देखा जाता है। यहाँ उल्लिखित प्रथम अर्थमें जीवात्मा प्रकार और परमात्मा विशेष्य है किन्तु द्वितीय अर्थमें परमात्मा प्रकार और जीवात्मा विशेष्य है। ये दोनों अर्थ कैसे संभव होते हैं?

समाधान- 'तेरा अन्तरात्मा जगत्कारण ब्रह्म है' यही 'तत्त्वमसि' वाक्यका अर्थ है। 'तुम ब्रह्मात्मक हो' यह द्वितीय अर्थ भी प्रथम अर्थके अन्तर्गत ही आ जाता है। प्रथम अर्थमें जीवात्माका अन्तरात्मा ब्रह्म कहा जाता है। जिसका अन्तरात्मा ब्रह्म होता है, वह ब्रह्मात्मक होता है। जीवात्माका अन्तरात्मा ब्रह्म है, इसलिए जीवात्मा ब्रह्मात्मक है। इस प्रकार द्वितीय अर्थ भी सिद्ध होता है। जैसे- 'चैत्रका पिता मैत्र है' यह कहनेपर चैत्रका पुत्रत्व अर्थतः सिद्ध है, वैसे ही 'त्वम्' पदसे समक्ष अवस्थित जीवशरीरक ब्रह्मको कहनेपर उस जीवका ब्रह्मात्मकत्व अर्थतः सिद्ध है। 'तत्त्वमसि' इस वाक्यसे जीवात्मप्रकारक ब्रह्मविशेष्यक उपासना कही जाती है। पञ्चाग्निविद्या ब्रह्मात्मकजीवात्मोपासना अर्थात् ब्रह्मप्रकारक

प्रत्यगात्मविशेष्यक उपासना है। पञ्चाग्निविद्यासे अतिरिक्त सभी ब्रह्मविद्या चेतनाचेतनप्रकारक ब्रह्मविशेष्यक उपासनाएं हैं।

शांकरमत- 'तत्त्वमसि' वाक्य जीव और ब्रह्मकी स्वरूप-एकताका प्रतिपादन करता है। यहाँ 'तत्'पदका वाच्यार्थ सर्वज्ञत्वादिसे विशिष्ट चेतन तथा 'त्वम्'पदका वाच्यार्थ अल्पत्वादिसे विशिष्ट चेतन है। सर्वज्ञत्वादि विशेषणोंसे विशिष्ट चेतनको ईश्वर त अल्पज्ञत्व आदि विशेषणोंसे विशिष्ट चेतनको जीव कहा जाता है। 'तत्'पद और 'त्वम्'पदके वाच्यार्थोंकी एकता संभव नहीं है क्योंकि वे भिन्न विशेषणोंसे युक्त हैं। विशेषणका भेद होनेसे विशेष्य भी भिन्न-भिन्न होते हैं, एक नहीं होते हैं। इन विशेषणोंसे विशिष्टकी एकता माननेपर विशेषणोंकी भी एकता माननी पड़ेगी, जो कि सम्भव नहीं है। इस प्रकार यहाँ दोनों पदोंके वाच्यार्थोंकी एकता नहीं हो सकती है किन्तु यह वाक्य एकताका प्रतिपादन करता है। अतः यहाँ भागत्याग लक्षणाके द्वारा चेतनके सर्वज्ञत्वादि तथा अल्पज्ञत्वादि विशेषणोंका त्याग करके चेतनमात्रका ग्रहण करनेपर दोनोंकी एकता संभव होती है। उपाधिके भेदसे सर्वज्ञत्वादि तथा अल्पज्ञत्वादि विशेषण भिन्न हो गये हैं। विशेषणके भेदसे वस्तु भिन्न प्रतीत होती है। विशेषणोंको छोड़नेपर चेतन तो एक ही रहता है। जैसे यह वही देवदत्त है- सोऽयं देवदत्तः, इस वाक्यमें भागत्याग लक्षणा होती है, वैसे ही 'तत्त्वमसि' इस वाक्यमें होती है। यहाँ 'सः' पदका वाच्यार्थ है- अतीतकाल और दूरदेशमें रहनेवाला अर्थात् तत्काल तद्देशविशिष्ट देवदत्त और 'अयम्' पदका वाच्यार्थ है- वर्तमानकाल और इस देशमें रहनेवाला अर्थात् एतत्काल और एतद्देशविशिष्ट देवदत्त। यह वाक्य तद्देश और तत्काल-विशिष्ट देवदत्तकी तथा एतद्देश और एतत्कालविशिष्ट देवदत्तकी एकता बतानेमें प्रवृत्त हुआ है किन्तु दोनों पदोंके उक्त वाच्यार्थोंको लेनेपर एकता संभव नहीं

होती है क्योंकि एक ही देवदत्तका दूरदेश और इस देशसे एक साथ संबन्ध नहीं हो सकता है तथा एक ही देवदत्तका अतीतकाल एवं वर्तमानकालसे एक साथ सम्बन्ध नहीं हो सकता है क्योंकि एक मनुष्यका एक साथ दो देशोंसे सम्बन्ध रखना विरुद्ध है तथा एक मनुष्यका एक साथ दो कालोंसे सम्बन्ध होना विरुद्ध है किन्तु प्रस्तुत वाक्य एकताका प्रतिपादन करता है, इसलिए भागत्यागलक्षणासे 'सः' और 'अयम् 'ये दोनों पद तद्देश और तत्काल तथा एतद्देश और एतत्काल इन विशेषणोंका त्याग करके देवदत्तमात्रका बोध कराते हैं। इस प्रकार दोनों पदोंका लक्ष्यार्थ देवदत्त एक ही है। जैसे यहाँ वाक्यके तात्पर्यसे सिद्ध एकताका निर्वाह करनेके लिए दोनों पदोंकी लक्षणा की जाती है, वैसे ही 'तत्त्वमसि' यहाँ पर वाक्यके तात्पर्यसे सिद्ध एकताका निर्वाह करनेके लिए दोनों पदोंकी लक्षणा की जाती है। इस प्रकार 'तत्त्वमसि' यह वाक्य जीव और ब्रह्मके अभेदका प्रतिपादन करता है।

निराकरण- सोऽयं देवदत्तः इस वाक्यमें लक्षणाकी गन्ध भी नहीं हैं। वाच्यार्थ के अन्वयमें बाधा होनेपर लक्षणा की जाती है किन्तु यहाँ वाच्यार्थके अन्वयमें कोई बाधा नहीं है, अतः यहाँ लक्षणाकी आवश्यकता ही नहीं है। बौद्धसिद्धान्तमें पदार्थ क्षणिक माने जाते हैं, इसलिए उनके अनुसार कोई भी पदार्थ दो कालमें नहीं रहता है, दो कालमें न रहनेसे वह दो स्थानमें नहीं रह सकता है। एक स्थानपर पदार्थ जिस कालमें है, उस कालसे अतिरिक्त कालमें भी पदार्थकी विद्यमानता होनेपर ही वह दूसरे कालमें अन्य स्थानसे सम्बद्ध हो सकता है। बौद्धमतानुसार पदार्थ क्षणिक होनेसे दूसरे कालमें रहता ही नहीं है, इसलिए एक स्थानमें रहनेवाला पदार्थ दूसरे स्थानमें नहीं रह सकता है। वैदिक सिद्धान्तमें पदार्थ क्षणिक नहीं माने जाते

हैं, इसलिए एक देवदत्तका दो कालोंमें सम्बन्ध होता है। एक देवदत्तका दो देशोंसे कैसे सम्बन्ध होता है? इस प्रश्नका यह उत्तर है कि यद्यपि देवदत्तका एक कालमें दो देशोंसे सम्बन्ध नहीं हो सकता है तथापि भिन्न कालमें दो देशोंसे सम्बन्ध होता ही है। भूतकालमें देवदत्तका दूरदेशसे सम्बन्ध था और वर्तमानकालमें देवदत्तका सन्निहित देशसे सम्बन्ध होता है। इस प्रकार काल भेदसे देवदत्तका दो स्थानोंसे सम्बन्ध होता है और ऐसा माननेमें कोई भी विरोध नहीं है, इसलिए पदार्थोंको स्थिर माननेवाले विद्वान् 'यह वही है'- सोऽयम् इस प्रत्यभिज्ञाके द्वारा दो कालोंसे सम्बन्ध रखनेवाले पदार्थकी एकताका प्रतिपादन करते हैं, अन्यथा सभी पदार्थोंका क्षणिकत्व ही सिद्ध होगा और बौद्धमत विजयी होगा। प्रत्यक्षप्रमाणसे देवदत्तका उभयकाल में सम्बन्ध तथा भिन्नकाल में देवदत्तका दो देशोंमें सम्बन्ध ज्ञात होता है। प्रत्यक्ष प्रमाणसे सिद्ध यह अर्थ ही 'सोऽयम् देवदत्तः' इस वाक्यसे कहा जाता है। देवदत्तका दो कालसे एक साथ सम्बन्ध हुआ हो, ऐसा नहीं बताता है तथा देवदत्तका दो देशोंसे एक साथ सम्बन्ध हुआ हो, ऐसा भी नहीं बताता है। स्थिर होनेके कारण अतीतकालसे सम्बन्ध रखनेवाले एवं वर्तमानकालसे सम्बन्ध रखनेवाले देवदत्तकी एकता होती है। इसी प्रकार अतीतकालमें दूरदेशसे सम्बन्ध रखनेवाले तथा वर्तमानकालमें सन्निहित देशसे सम्बन्ध रखनेवाले देवदत्तकी एकता होती है। अतीतकालमें दूसरेदेशमें विद्यमान देवदत्त वर्तमानकालमें इस देशमें है, यह 'सोऽयं देवदत्तः' इस वाक्यका अर्थ है। इस प्रकार यहाँ मुख्यार्थसे ही काम चल जाता है, लक्षणाकी आवश्यकता ही नहीं है। **'तुष्यतु दुर्जनन्याय'**से लक्षणाकी आवश्यकता होनपर भी किसी एकपदकी लक्षणा मानने पर कार्य चल सकता है। अतः दोनों पदोंमें लक्षणाकी आवश्यकता ही नहीं होती है। वस्तुतः जैसे यहाँ लक्षणाकी

आवश्यकता नहीं है, वैसे ही 'तत्त्वमसि' इस वाक्यमें भी लक्षणाकी आवश्यकता नहीं है। यह पूर्वमें कहा जा चुका है कि जगत्कारण ब्रह्म 'तत्' शब्दका अर्थ है और जीवका अन्तर्यामी ब्रह्म 'त्वम्' शब्दका अर्थ है। जगत्कारण ब्रह्म जीवके अन्तर्यामीरूपसे जीवका आत्मा होकर रहता है, अतः सिद्धान्तसम्मत अर्थमें कोई विरोध नहीं है। इस प्रकार 'तत्त्वमसि' वाक्यमें लक्षणाकी आवश्यकता नहीं है। बौद्धोंके अनुसार पदार्थ स्थिर न होनेके कारण ही सोऽयं देवदत्तः इस वाक्यमें लक्षणाकी आवश्यकता होती है। इस विवरणसे यह भी सिद्ध होता है कि जैसे सोऽयं देवदत्तः इस वाक्यमें लक्षणा होती है, वैसे ही 'तत्त्वमसि' इस वाक्यमें लक्षणा होती है, यह कथन प्रच्छन्नरूपसे बौद्धमत स्वीकार करनेके कारण है। वेदान्तवेत्ता तो यहाँ लक्षणाकी आवश्यकता ही नहीं समझते हैं। नैयायिक और माध्व विद्वान् 'तत्त्वमसि' इस वाक्यमें एक पदकी लक्षणा करते हैं, इसलिए उभयपदकी लक्षणा करनेवाले शांकरमतकी अपेक्षा नैयायिक और माध्व मत श्रेष्ठ हैं किन्तु विशिष्टाद्वैतवेदान्त मतमें किसी भी पदकी लक्षणा नहीं की जाती है, इसलिए यह सर्वश्रेष्ठ है। 'विशेषणके भेदसे विशेष्यमें भी भेद होता है।' पूर्वपक्षीका यह कथन अविचारित-रमणीय है। जैसे सुन्दर, युवा, श्याम और लाल नेत्रोंवाला देवदत्त है। यहाँ देवदत्तके सुन्दरता, युवत्व, श्यामत्व और लालनेत्र ये चार विशेषण हैं, ये चारों भिन्न हैं किन्तु इन विशेषणोंसे विशिष्ट देवदत्त एक ही है, इसलिए विशेषणके भेदसे विशेष्यका भेद होनेमें सार्वत्रिक नियम नहीं है। पृथिवीमें रूप, रस, गन्ध, स्पर्श आदि अनेक विशेषण होनेपर भी इनसे विशिष्ट पृथिवी एक ही होती है। अतीतकालमें दूरदेशमें विद्यमान देवदत्त वर्तमानकालमें सन्निहित देशमें है। यह सोऽयं देवदत्तः इस वाक्यका मुख्यार्थ है, इसे स्वीकार करनेमें कुछ भी विरोध नहीं है। इससे सिद्ध होता है

कि विशेषणके भेदसे विशेष्यमें भेद नहीं होता है। भेदपरक और अभेदपरक वाक्योंका विरोधपरिहार करनेके लिए श्रुति स्वयं ही शरीरात्मभावका प्रतिपादन करती है, अतः 'तत्त्वमसि' वाक्य जीवके अन्तरात्मा और जगत्कारण ब्रह्मके अभेदका प्रतिपादन करता है, इसलिए 'त्वम्' पदके वाच्य और 'तत्'पदके वाच्यकी एकता नहीं हो सकती है। यह कहना भी उचित नहीं है क्योंकि 'त्वम्'पद भी जीवके अन्तर्यामी ब्रह्मको ही कहता है, अतः यहाँ लक्षणा श्रुतिके तात्पर्यके अनुकूल नहीं है। यदि निधर्मक ब्रह्म समानाधिकरण वाक्यसे प्रतिपाद्य होता तो उसके अनुरूप लक्षणा प्रबल होती किन्तु समानाधिकरण वाक्य निधर्मक वस्तुका प्रतिपादन करता ही नहीं है। तात्पर्य से विरुद्ध मुख्यवृत्ति होनेपर लक्षणा बलवान होती है, किन्तु यहाँ तात्पर्यसे विरुद्ध मुख्यवृत्ति नहीं है, इसलिए लक्षणा बलवान नहीं है।

सामानाधिकरण्य– भिन्न प्रवृत्तिनिमित्तवाले शब्दोंका एकार्थबोधकत्व सामानाधिकरण्य है– **भिन्नप्रवृत्तिनिमित्तानां शब्दानाम् एकस्मिन् अर्थे वृत्तिः सामानाधिकरण्यम्।**(महा.प्र.१.२.४२) इस प्रकार व्याकरण-शास्त्रवेत्ता समानाधिकरणका लक्षण करते हैं। शब्द जिस निमित्त(माध्यम या द्वार)से अपने अर्थका बोध कराता है, उसे प्रवृत्तिनिमित्त कहते हैं। वह शब्दका शक्यताऽवच्छेदकरूप होता है– **प्रवृत्तेः शब्दानामर्थबोधनशक्तेः निमित्तं प्रयोजकम् इति। तच्च शक्यताऽवच्छेदकं भवति।**(त.चि.), **प्रवृत्तेः निमित्तं द्वारम्**(श्रु.प्र.)। घट शब्द घटत्व निमित्तसे घट अर्थका बोध कराता है, इसलिए घट शब्दका प्रवृत्तिनिमित्व घटत्व है। जिस अर्थमें घटत्व नहीं होता है, घट शब्द उसका बोध नहीं कराता है तथा पट शब्द पटत्व निमित्तसे पट अर्थका बोध कराता है, इसलिए पट शब्दका प्रवृत्तिनिमित्त पटत्व है। जिस अर्थमें पटत्व नहीं होता है, पट शब्द उसका बोध नहीं

कराता है। नील शब्द नीलत्व निमित्तसे नील अर्थका बोध कराता है, इसलिए नीलशब्द का प्रवृत्तिनिमित्त नीलत्व गुण है। उत्पल शब्द उत्पलत्व निमित्तसे उत्पल अर्थका बोध कराता है, इसलिए उत्पल शब्दका प्रवृत्तिनिमित्त उत्पलत्व जाति है। नीलत्व और उत्पलत्व भिन्न धर्म हैं। भिन्न प्रवृत्तिनिमित्तवाले नील शब्द और उत्पल शब्द नीलत्व और उत्पलत्वसे विशिष्ट एक अर्थका बोध कराते हैं, इसलिए 'नीलम् उत्पलम्' यह समानाधिकरण वाक्य है। यह वाक्य नीलम् और उत्पलम् इन शब्दोंसे ज्ञात विभिन्न प्रवृत्तिनिमित्तोंको लेकर ही अपने अर्थका बोध कराता है। समानाधिकरण स्थलमें सभी पद विशिष्ट अर्थकी एकताका प्रतिपादन करते हैं। यह पूर्वमीमांसाके **अरुणाधिकरणन्याय**(पू.मी.३.१.६) से सिद्ध है। जिन धर्मोंसे विशिष्ट रहनेवाले दो पदार्थोंका अभेद समानाधिकरण वाक्य(अभेदप्रतिपादक वाक्य)से कहा जाता है, उन धर्मोंको छोड़कर पदार्थके स्वरूपमात्रका अभेद उस वाक्यसे नहीं कहा जा सकता है। यदि किसी वाक्यके शब्द अपने प्रवृत्तिनिमित्तोंको छोड़कर अर्थका बोध कराएं तो उस वाक्यमें समानाधिकरणका लक्षण न घटनेसे वह समानाधिकरण वाक्य ही नहीं हो सकता है, इसलिए प्रवृत्तिनिमित्तरूपसे जो विशेषण अपेक्षित होता है, उस विशेषणके परित्यागमें सामानाधिकरण्यका तात्पर्य ही नहीं है बल्कि उस विशेषणको स्वीकार करना ही सामानाधिकरण्यको अपेक्षित होता है। निर्विशेषाद्वैती विद्वान् 'तत्त्वमसि' इस वाक्यमें आये 'तत्' शब्दसे बोधित सर्वज्ञत्वादि धर्मों तथा 'त्वम्'शब्दसे बोधित अल्पज्ञत्वादि धर्मोंको छोड़कर उस वाक्यका स्वरूपमात्रके अभेदमें जो तात्पर्य कहते हैं, वह उचित नहीं है क्योंकि वह समानाधिकरणके लक्षणसे विरुद्ध है। इसलिए दोनों पदोंसे बोधित प्रवृत्तिनिमितोंको लेकर ही इस वाक्यका अभेदमें तात्पर्य मानना चाहिए। विशिष्टाद्वैत वेदान्तसिद्धान्तमें ही इस

प्रक्रियाका सम्यक् निर्वाह होता है। 'तत्' शब्दका प्रवृत्तिनिमित्त जगत्कारणत्व है तथा 'त्वम्' शब्दका प्रवृत्तिनिमित्त जीवान्तर्यामित्व है। इसप्रकार भिन्न प्रवृत्तिनिमित्त वाले 'तत्' और 'त्वम्' शब्द जीवान्तर्यामित्व और जगत्कारणत्व धर्मोंसे विशिष्ट एक ब्रह्मका बोध कराते हैं। जीवान्तर्यामी तथा जगत्कारण ब्रह्मका अभेद उक्त वाक्यका तात्पर्य है। निर्विशेषाद्वैतसिद्धान्तमें वैयाकरणों द्वारा वर्णित समानाधिकरणका लक्षण ही नहीं घटता है।

सामानाधिकरण्य स्थलमें दोनों पद क्रमसे एक धर्मीका बोध कराते हैं, ऐसा नहीं है किन्तु जैसे दोनों नेत्र सम्मुख विद्यमान अर्थको एक साथ प्रकाशित करते हैं, वैसे ही समानाधिकरण स्थलमें दोनों पद अर्थको एक साथ प्रकाशित करते हैं। दो पद एकधर्मीका युगपद् दो धर्मसे विशिष्टरूपमें बोध कराते हैं। 'नीलम् उत्पलम्' इस प्रकार एक धर्मीका एक साथ नीलत्वविशिष्टत्वेन तथा उत्पलत्वविशिष्टत्वेन ज्ञान होता है।

'नीलम् उत्पलम्' यहाँ **मुख्य सामानाधिकरण्य** है। मुख्य सामानाधिकरण्य वस्तुस्वरूपकी एकतासे होता है। धन सम्पत्ति अधिक होनेपर यह पुरोहित राजा है- पुरोहितोऽयं राजा, यहाँ **गौण सामानाधिकरण्य** है। गौण सामानाधिकरण्य तो गुणोंकी समानतासे होता है।

यदि कहा जाय कि 'तत्त्वमसि' आदि वाक्य लक्षणासे निर्विशेष वस्तुके बोधक हैं, समानाधिकरणवाक्यत्व होनेसे, 'यह वही देवदत्त है' इस वाक्यके समान- **तत्त्वमस्यादिवाक्यं निर्विशेषलक्षकं समानाधिकरणवाक्यत्वात् सोऽयं देवदत्तः इति वाक्यवत्**। इस अनुमानसे भी समानाधिकरण वाक्य निर्विशेष वस्तुका साधक नहीं हो सकता है क्योंकि 'तत्त्वमसि' वाक्य मुख्यवृत्तिसे सविशेष ब्रह्मका बोधक है। इस प्रकार वेदान्तियोंके अनुभवसे निर्विशेषलक्षकत्व

साध्यका बाध हो जाता है और निर्विशेषलक्षकत्व साध्यके अभावके अधिकरण नीलम् उत्पलम्, दण्डी पुरुषः आदि वाक्योंमें हेतुके रहनेसे व्यभिचार दोष होता है।

शंका- यद्यपि 'नीलम् उत्पलम्' इत्यादि वाक्य वस्तुके बोधक हैं किन्तु प्रवृत्तिनिमित्तभूत नीलत्व और उत्पलत्व धर्मोंका ग्रहण करनेसे उनके अधिकरण(विशेष्य) भिन्न हो जायेंगे। व्यावर्तकको विशेषण कहा जाता है। दो पदोंसे एक अर्थका कथन माननेपर उनके प्रवृत्तिनिमित्त भिन्न होंगे और ऐसा होने पर विशेषणोंका सांकर्य अनिवार्य हो जाएगा अथवा दोनों पदोंके प्रवृत्तिनिमित्त भिन्न होनेसे उनके अर्थ भिन्न हो जायेंगे। विशेषण भिन्न होनेपर भी विशेष्य एक ही होता है, ऐसा नहीं कह सकते हैं क्योंकि विशेषणके भेदसे विशेष्यमें भेद होता है। जैसे टूटी सींगवाली, बिना सींगवाली और पूर्णसींगवाली गाय है- खण्डो, मुण्डः, पूर्णशृंगः गौः। यहाँ पर खण्डत्व, मुण्डत्व और पूर्णशृंगत्व इन विशेषणोंके भेदसे विशेष्य गोमें भेद होता है। इसी प्रकार नीलत्व और उत्पलत्व एकमें नहीं हो सकते हैं, अतः नीलत्व रक्तसे विशेष्यकी व्यावृत्ति कराता है और उत्पलत्व घटसे नीलकी व्यावृत्ति कराता है, इतना ही दोनों धर्मोंका फल है, दोनोंकी एकाधिकरणमें विद्यमानता नहीं है। **भिन्न प्रवृत्ति निमित्तानाम्** इत्यादि समानाधिकरणका लक्षण पदोंकी प्रवृत्तिमें निमित्तके भेदको कहता है। एक अधिकरणमें दो धर्मोंकी विद्यमानताको नहीं कहता है। लक्षणके घटक 'एकस्मिन् अर्थे' इस अंशसे एकत्वमात्र अर्थ ज्ञात होता है, अतः प्रवृत्तिनिमित्तके त्यागसे द्रव्यकी एकतामात्रका बोध कराना ही समानाधिकरण वाक्यका फल है। इस प्रकार सामानाधिकरण्यके द्वारा एक निर्विशेष वस्तु ज्ञात होती है।

समाधान- यह कथन भी उचित नहीं है। लक्ष्यका ज्ञान कराना ही लक्षणका प्रयोजन है, इसलिए जैसे लक्ष्यका ज्ञान हो सके, वैसा लक्षण बनाया जाता है। लक्षणके अनुसार लक्ष्यको अन्यथा नहीं किया जा सकता है। लोकमें नियमसे लक्षणका आश्रय लक्ष्य होता है। नीलम् उत्पलम् इत्यादि स्थलोंमें विशेषणविशिष्ट ही लक्ष्य सिद्ध होता है। लक्ष्यतावच्छेदकके समनियतको लक्षण कहा जाता है- **लक्ष्यतावच्छेदकसमनियतं हि लक्षणमुच्यते**। जहाँ गोत्व है, वहाँ सास्नादिमत्त्व है। जहाँ सास्नादिमत्त्व है, वहाँ गोत्व है, ऐसा होने पर सास्नादिमान् गौः इस समानाधिकरण वाक्यसे क्या गोत्वरहित और सास्नादिरहित कोई लक्ष्य ज्ञात होता है? कभी भी ज्ञात नहीं होता है। 'विशेषणोंका व्यावर्तक स्वभाव होनेके कारण वे विशेष्यको भिन्न कर देते हैं।' ऐसा कहनेवाले अत्यन्त भ्रान्त होते हैं। नील पद नीलभिन्न रक्तादिसे व्यावृत्तिको कहता है। उत्पल पद उत्पलभिन्न घटादिसे व्यावृत्तिको कहता है। व्यावृत्ति कहनेका यह अर्थ नहीं है कि वह विशेष्य पदार्थको ही भिन्न कर देता है। व्यावृत्ति कहनेका यही अर्थ है कि वह इतरपदार्थविलक्षणत्वेन बोध कराता है। उत्पल पद नीलोत्पल और रक्तोपलका बोध कराता है। नीलम् इस विशेषणके कहनेपर रक्तसे विलक्षण उत्पल सिद्ध होता है। उत्पलम् इस विशेष्यके कहनेपर घटादिसे विलक्षण नीलरूपका आश्रय सिद्ध होता है। नीलत्वविशिष्टमें उत्पलत्व रहता है अथवा उत्पलत्वविशिष्टमें नीलत्व रहता है। ऐसा होनेपर कुछ भी सांकर्य दोष नहीं है। ऐसे स्थलोंमें अल्पज्ञ व्यक्ति ही सांकर्य दोष कह सकता है। अर्थ, ज्ञान और शब्दव्यवहार यह क्रम है। पदार्थ होनेपर ही उसका ज्ञान होता है और ज्ञान होनेपर ही उसके लिए शब्दव्यवहार होता है। शब्द, अर्थ और प्रत्ययमें भेद न समझनेवाले विचारकोंको ऐसे स्थलमें सांकर्य भ्रम होता है। शब्द, अर्थ और

उनके सम्बन्धके यथार्थ ज्ञानसे ही तत्त्वनिर्णय होता है, केवल शब्दपरायण होनेसे निर्णय नहीं होता है। इस विवरणसे सिद्ध होता है कि अविरुद्ध विशेषण एक अधिकरणमें रहते हैं, विरुद्ध विशेषण एक अधिकरणमें नहीं रहते हैं। जहाँ विशेषणोंका सामानाधिकरण्य विरुद्ध होता है, वहाँ विशेषणके भेदसे विशेष्यमें भेद होता है, जैसे- खण्डो मुण्डः पूर्णशृङ्गः गौः। इसलिए अविरुद्धविशेषणबोधक शब्द अनेक विशेषणसे विशिष्ट एक धर्मीका बोध कराते ही हैं, ऐसा स्वीकार करनेमें कोई विरोध नहीं है।

पूर्वमीमांसामे वर्णित उपक्रमाधिकरण न्याय बताता है कि उपक्रम वाक्यके अनुसार ही उपसंहार वाक्यका अर्थ करना चाहिए, उपक्रमवाक्यके विरुद्ध उपसंहार वाक्यका अर्थ नहीं करना चाहिए। सद्विद्यामें 'उसने संकल्प किया कि मैं बहुत हो जाऊँ'- **तदैक्षत बहु स्यां प्रजायेय**।(छां.उ.६.२.३) यह वाक्य है। इससे ब्रह्ममें सत्यसंकल्पत्व, सर्वज्ञत्व और जगत्कारणत्व ये धर्म सिद्ध होते हैं। इस प्रकार सद्विद्याके उपक्रम वाक्यमें कहा गया ब्रह्म इन विशेषणोंसे विशिष्ट सिद्ध होता है। सद्विद्यामें 'तत्त्वमसि' यह उपसंहार वाक्य है। इस वाक्यसे जीव और ब्रह्मका अभेद माननेवाले निर्विशेषाद्वैती विद्वान् ब्रह्ममें अज्ञान मानते हैं क्योंकि अज्ञानमें फँसकर ही ब्रह्म जीवभावको प्राप्त हो सकता है। ब्रह्ममें अज्ञान माननेपर उस उपक्रम वाक्यसे विरोध होता है, जो ब्रह्मको सत्यसंकल्प एवं सर्वज्ञ बताता है। उपक्रमाधिकरणके अनुसार विचार करनेसे यह सिद्ध होता है कि 'तत्त्वमसि' वाक्यका जीव-ब्रह्मके अभेदमें तात्पर्य नहीं हो सकता है, जिससे ब्रह्ममें अज्ञान मानना पड़े किन्तु 'तत्त्वमसि' वाक्यका वही अर्थ होना चाहिए जिससे ब्रह्ममें अज्ञान न मानना पड़े तथा उपक्रमवाक्यसे प्रतिपादित सर्वज्ञत्वादि

गुण भी अक्षुण्ण बने रहें। विशिष्टाद्वैतवेदान्तसिद्धान्तमें इनका सम्यक् निर्वाह हो जाता है।

'तत्त्वमसि' वाक्यको जीव-ब्रह्मकी स्वरूप-एकताका बोधक माननेपर चार प्रधान अकाट्य दोष प्राप्त होते हैं। (१)'तत्'शब्दके द्वारा बोधित सर्वज्ञत्व और सत्यसंकल्पत्वादि गुणोंका त्याग, (२)दोनों पदोंमें लक्षणा, (३)वैयाकरण विद्वानोंके द्वारा वर्णित समानाधिकरणके लक्षणका न घटना और (४)उपक्रम वाक्यसे विरोध।

अखण्डार्थबोधक सामानाधिकरण्यका निराकरण- विशेषण-विशेष्यभाव से रहित स्वरूपमात्रको अखण्डार्थ कहा जाता है। **सत्यं ज्ञानम् अनन्तं ब्रह्म** आदि वाक्य स्वरूपमात्रके बोधक हैं, लक्षणवाक्य होनेसे प्रकृष्ट प्रकाशवाला चन्द्र है, इस वाक्यके समान- **सत्यादिवाक्यं स्वरूपमात्रपरं लक्षणवाक्यत्वात् प्रकृष्टप्रकाशश्चन्द्रः इति वाक्यवत्**। यहाँ पूर्वपक्षीका यह आशय है कि आकाशमें नक्षत्र आदिको देखनेवाला और उनके मध्यमें विद्यमान चन्द्रमाको न जाननेवाला मनुष्य 'चन्द्रमा कौन है'- चन्द्रः कः? यह पूँछता है। उन नक्षत्रादिमें जो प्रकृष्ट प्रकाशवाला है, वह चन्द्र है। ऐसा कोई आप्त मनुष्य उत्तर देता है। यहाँ प्रश्नकर्ताका चन्द्रस्वरूपविषयक ही प्रश्न है, इसलिए उसका उत्तर भी चन्द्रस्वरूपविषयक ही होना चाहिए। अतः यहाँ प्रकृष्टप्रकाश पदसे प्रकृष्टप्रकाशत्व विवक्षित नहीं है, वह चन्द्रस्वरूपका परिचायकमात्र है, उसी प्रकार सत्यज्ञानादि पद ब्रह्मस्वरूपमात्रके परिचायकमात्र हैं, उनका स्वार्थमें तात्पर्य नहीं है। इसलिए वह वाक्य ब्रह्मके निर्विशेष स्वरूपमात्रका बोध कराता है। यह कथन भी उचित नहीं है क्योंकि उक्त अनुमानमें लक्षणवाक्यत्व हेतु है। **सत्यं ज्ञानम्** आदि वाक्य लक्षणवाक्य हैं। लक्ष्यवृत्ति असाधारण धर्मको लक्षण कहते हैं। लक्षणवाक्य असाधारण धर्मसे विशिष्ट लक्ष्यका बोध कराता है, जो वाक्य असाधारणधर्मविशिष्ट

लक्ष्यका बोध नहीं कराता है, उसे लक्षणवाक्य ही नहीं कहा जा सकता है। उसे लक्षण वाक्य कहना तथा निर्विशेष स्वरूपमात्रका बोधक कहना परस्पर विरुद्ध है। 'ब्रह्मके शक्ति, ज्ञान, बल आदिको स्वाभाविक बतानेवाली **परास्य शक्तिर्विविधैव श्रूयते, स्वाभाविकी ज्ञानबलक्रिया च।**(श्वे.उ.६.८) इस श्रुतिसे उक्त अनुमानमें बाध दोष होता है। **सत्यज्ञानादिवाक्यं सविशेषपरं लक्षणवाक्यत्वात्** इस प्रकार उक्त अनुमानमें सत्प्रतिपक्ष दोष भी होता है। चन्द्रमामें प्रकृष्टप्रकाशत्व विवक्षित न होनेपर इतर नक्षत्र आदिसे व्यावृत्त चन्द्रका ज्ञान कैसे हो सकता है? इनमें चन्द्रमा कौन है? ऐसा प्रश्न है। चन्द्रमाके सविशेषत्व अथवा निर्विशेषत्वकी जिज्ञासा प्रश्नकर्ता को नहीं है। निर्विशेष वस्तु शशशृंगके तुल्य है। प्रश्नकर्ता आकाशमें चन्द्रको देखता है और नक्षत्रोंको भी देखता है। इनमें चन्द्रमा कौन है? यह ही उसकी जिज्ञासा है। इसके द्वारा चन्द्र संज्ञासे संज्ञिविषयक प्रश्न सिद्ध होता है। प्रकृष्टप्रकाशः कहनेसे संज्ञीका निर्णय होता है। अतः यहाँ प्रकृष्टप्रकाशत्व विवक्षित ही है, इसलिए यह लक्षणवाक्य निर्विशेष वस्तुका बोधक नहीं है।

पूर्वपक्ष- श्यामवर्णवाला, युवावस्थावाला तथा सुन्दर देवदत्त है- श्यामो युवा सुन्दरः देवदत्तः। इस वाक्यसे यदि श्यामत्व, युवत्व तथा सुन्दरत्व धर्मसे विशिष्ट धर्मी देवदत्तका बोध होता है तो क्या श्यामादि पदोंके द्वारा देवदत्तके श्यामत्व, युवत्व और सुन्दरत्व धर्मसे वैशिष्ट्यका क्रमसे बोध होता है? अथवा युगपद् बोध होता है? इन दोनों विकल्पोंमें प्रथम विकल्प उचित नहीं है क्योंकि देवदत्त पदसे देवदत्तत्व धर्मसे विशिष्ट विशेष्य कहा जाता है, तब उसमें श्यामत्ववैशिष्ट्य फिर युवत्ववैशिष्ट्य इसके बाद सुन्दरत्ववैशिष्ट्यको जानना चाहिए। ऐसा बोध होनेपर श्यामत्वादिका सांकर्य न होनेपर भी देवदत्तत्वविशिष्टमें श्यामत्वका अन्वय होनेपर ...

श्यामत्वके अन्वयका प्रसङ्ग होता है। जैसे- नील घटको देखा- नीलो घटो दृष्टः। ऐसा कहनेपर दर्शन क्रियाका कर्मत्व घट, घटत्व और नीलत्वमें प्रतीत होता है, वैसे ही श्यामत्वका देवदत्त और देवदत्तत्वमें भी अन्वय प्राप्त होता है। इसी प्रकार युवत्वका श्याम देवदत्तमें अन्वय होनेपर युवत्व का देवदत्तत्व और श्यामत्व में भी अन्वय प्राप्त होता है और इसी प्रकार सुन्दरता का भी देवदत्तत्व, श्यामत्व और युवत्व में अन्वय प्राप्त होता है। इस प्रकार सभी विशेषणोंकी एक धर्मीमें विद्यमानता स्वीकार करनेपर सांकर्य दोष प्राप्त होता है। द्वितीय विकल्पमें तो सभी धर्मोंका सांकर्य स्पष्ट ही है।

सिद्धान्तपक्ष- श्याम, युवा और सुन्दर पदोंके द्वारा श्यामत्व, युवत्व और सुन्दरत्व इन विभिन्न धर्मोंको लेकर विशेष्यकी एकताका निश्चय होनेपर विशेषणोंके परस्पर आधार-आधेयभाव और उनके सांकर्य दोषका प्रसङ्ग ही नहीं है। योग्य अर्थका बोध करानेके लिए ही वाक्यकी प्रवृत्ति होती है, इसलिए विशेषणोंके परस्पर आधार-आधेयभावका बोध करानेमें वाक्यका तात्पर्य ही नहीं है। जिसका जिसके साथ अन्वय होनेकी योग्यता होती है, उसका उसीके साथ अन्वयबोध करानेके लिए वाक्यकी प्रवृत्ति होती हैं, जैसे नीलघटवाला भूतल है, ऐसा कहनेपर नीलरूप वैशिष्ट्य घटमें और घटवैशिष्ट्य भूतलमें ज्ञात होता है किन्तु भूतलत्वमें नीलरूपवैशिष्ट्य तथा घटत्ववैशिष्ट्य किसी को भी ज्ञात नहीं होता है, इसलिए ऐसे स्थलोंमें सांकर्य दोषकी आशंका नहीं होती है। अन्यथा एक ही पुष्पमें रूप, रस, गन्ध और स्पर्श आदि विशेषणोंका भिन्नत्वेन अनुभव ही नहीं होगा।

शंका- यदि शब्दसे विशेषणविशिष्ट अर्थका ही बोध होता है, निर्विशेषका बोध होता ही नहीं, तो विशेषण और विशेष्यमें भेद

होनेसे द्विवचन और बहुवचन ही होने चाहिए, एकवचन नहीं होना चाहिए।

समाधान– अनेक विशेषणोंसे विशिष्ट एक धर्मीका बोध होनेके कारण ही एकवचनविधायक सूत्रसे एकवचन होता है। नीलत्व, उत्पलत्व विशेषणोंके नाना होनेपर भी 'नीलोत्पलम्' इस प्रकार एकवचन ही होता है। नीलोत्पले इस प्रकार द्विवचन नहीं होता है क्योंकि विशेष्य द्रव्य एक ही है। विशिष्ट द्रव्यके द्वित्व और बहुत्वकी विवक्षा होनेपर नीलोत्पले और नीलोत्पलानि इस प्रकार द्विवचन और बहुवचन होते हैं।

शंका– चेतनवाचक शब्दोंके साथ सामानाधिकरण्य वाले **तत्त्वमसि** आदि वाक्य अखण्डार्थ का बोध कराते हैं। ब्रह्म ही उपाधिके संसर्गसे जीवभावको प्राप्त होता है, इसलिए ब्रह्म और जीवमें अभेद होनेसे इन वाक्योंका अखण्डार्थसामानाधिकरण्य होता है। जगद्वाचक पदोंके साथ सामानाधिकरण्यवाले '**सर्वं खल्विदं ब्रह्म**' आदि वाक्य बाधार्थसमानाधिकरण हैं। मिथ्या जगत्के साथ ब्रह्मका अभेद माननेपर ब्रह्मको भी मिथ्या मानना होगा, इसलिए यहाँ अखण्डार्थसामानाधिकरण्य स्वीकार न करके बाधार्थसामानाधिकरण्य स्वीकार किया जाता है। जैसे स्थाणुमें चोरका भ्रम होनेसे भयभीत होनेवाले मनुष्यके भ्रमकी निवृत्तिके लिए ''चौरः स्थाणुः'' यह कहा जाता है। इसका अर्थ है कि तुम्हारे द्वारा चोर समझी गयी वस्तु स्थाणु है। उक्त कथनसे स्थाणुमें चोरत्वका अभाव ज्ञात होता है। इस प्रकार चोरत्वका बाध(अभाव) होनेसे यहाँ बाधार्थसामानाधि-करण्य होता है। इसी प्रकार **'सर्वं खल्विदं ब्रह्म'** यहाँ पर 'इदं ब्रह्म' इस कथनसे जगत्का अभाव ज्ञात होता है। इसलिए यहाँ भी 'बाधार्थसामानाधिकरण्य' होता है, इससे निर्विशेष ब्रह्म ही सत्य सिद्ध होता है।

समाधान- 'चोरः स्थाणुः' यह बाधार्थसामानाधिकरण्य भी निर्विशेष वस्तुको नहीं कहता है। यहाँ पर चोरपद चोरत्वप्रतीतियोग्य आकृतिविशिष्टत्व अर्थात् चोरत्वप्रतीतिके विषय को कहता है। स्थाणु पद स्थाणुत्वविशिष्ट वस्तुको कहता है। स्थाणु चोरसे भिन्न है। स्थाणुमें जो चोरका भेद रहता है, वह स्थाणुत्व रूप है। चोरभेदरूप स्थाणुत्व धर्मका ज्ञान न होनेसे 'चोरः स्थाणुः' यह भ्रम होता है और उसके ज्ञानसे भ्रमकी निवृत्ति होती है। इस प्रकार चोर और स्थाणु ये दोनों पद सविशेष वस्तुके ही बोधक होते हैं, निर्विशेष वस्तुके बोधक नहीं होते हैं। चोरत्वप्रकारक ज्ञानका विषय स्थाणु है। इस प्रकार यहाँ भी सामानाधिकरण्यसे विशेषणविशेष्यभाव ज्ञात होता है। निर्विशेष वस्तु ज्ञात नहीं होती है। स्थाणु पदसे निर्विशेष स्थाणु अर्थका बोध स्वीकार करनेपर स्थाणुमें आरोपित चोरत्वका बाध हो ही नहीं सकता है। स्थाणुत्वरूप विशेष धर्मका ज्ञान न होनेसे ही भ्रम होता है। भ्रमके हेतुके रहनेपर भ्रम ही होगा, उसकी निवृत्ति नहीं होगी, इससे सिद्ध होता है कि यहाँ भी निर्विशेष वस्तु की प्रतीति नहीं होती है। सिद्धान्तके अनुसार **सर्वं खल्विदं ब्रह्म** यहाँ पर सर्वशब्द शक्ति वृत्तिसे ही सर्वशरीरक ब्रह्मको कहता है। इस प्रकार लक्षणाके विना ही सर्वशरीरकाभिन्न ब्रह्म अर्थका बोध होता है। चोरः स्थाणुः यहाँ निर्विशेषाद्वैतमतानुसार उभयपदकी लक्षणा करनी पड़ती है, जो कि दोष है। इस वाक्यका यदि 'यह चोर नहीं है, स्थाणु है' ऐसा अर्थ किया जाय तो यह पदका अध्याहार तथा चोरपदकी चोरके अभावमें लक्षणा होती है। ऐसा होनेपर वाक्यभेद तथा दोनों पदोंके सामानाधिकरण्यका त्याग ये दोष भी प्राप्त होते हैं।

ब्रह्माद्वैत और जीवाद्वैत भेदसे शास्त्रप्रतिपाद्य अद्वैत द्विविध है। ब्रह्माद्वैत विविध विशेषणोंवाले ब्रह्मका अद्वैत है, जीवाद्वैत तो

विशेषणोंका अद्वैत है। शास्त्रोंमें ब्रह्मके प्रकरणमें सामानाधिकरण्यके द्वारा ब्रह्माद्वैतका प्रतिपादन किया जाता है। सामानाधिकरण्य विविध विशेषणोंसे विशिष्ट एक विशेष्यका बोधक होता है। परमात्मा एक होकर भी बहुतरूपवाला होकर विचरण करता है- **एकस्सन बहुधा विचचार**(चि.उ.११.१) यह वचन स्पष्टरूपसे ब्रह्मके बहुत प्रकारोंको कहता है। अभेदविधिका शेष जो **नेह नानास्ति किञ्चन** इत्यादि वाक्योंसे भेदका निषेध किया जाता है। वह विहित अद्वैतके विरोधी भेदका निषेध है और सामान्यरूपसे किया गया भेदनिषेध विहित भेदसे अतिरिक्तको विषय करनेके कारण प्रकारी ब्रह्मके बहुत्व(भेद) का निषेध करता हैं। प्रकारी ब्रह्म एक ही है, बहुत नहीं है। **न तत्समश्चाभ्यधिकश्च दृश्यते।**(श्वे.उ.६.८) इस प्रकार ब्रह्मके समान अन्य प्रकारीका स्पष्ट निषेध होनेसे प्रकार्याद्वैत(प्रकारी अर्थात् विशेष्यका अद्वैत) ही ब्रह्माद्वैत है। जीवात्माओंका बहुत्व श्रुतिसिद्ध है। उनमें ज्ञानत्वरूप आकारकी एकता है, इसलिए जीवात्माओंका अद्वैत प्रकाराद्वैत है।

भेदवादीके मतमें अत्यन्त भिन्न पदार्थोंकी एकता किसी भी प्रकार संभव न होनेसे ब्रह्मात्मभावका उपदेश संभव नहीं होता है। इस प्रकार भेदवादमें अभेदबोधक सर्ववेदान्त वाक्योंका परित्याग होता है- **केवलभेदवादिनां चात्यन्तभिन्नयोः केनाऽपि प्रकारेणैक्यासंभवादेव ब्रह्मात्मभावोपदेशाः न संभवन्तीति सर्ववेदान्तपरित्यागः स्यात्**(श्रीभा.१.१.१)।

पुरुष अपने कर्मोंसे गो, अश्व, मनुष्य तथा देवता हुआ- **गौरश्वो मनुष्यो देवो जातः पुरुषः कर्मभिः।** यहाँ गौ, अश्व, मनुष्य और देवशब्दोंके क्रमशः अर्थ हैं- गोशरीरवाला, अश्वशरीरवाला, मनुष्यशरीरवाला और देवशरीरवाला। पुरुष शब्दसे कहा गया जीवात्मा इन सब शरीरों का शरीरी है। जैसे जाति और गुण द्रव्यके

विशेषण होते हैं, वैसे ही यहाँ द्रव्य भी शरीर होनेके कारण जीवात्माका विशेषण बन रहा है, इसलिए यहाँ मुख्य सामानाधिकरण्य है। खण्डः गौः, शुक्लः पटः ये समानाधिकरण वाक्य हैं। प्रथमवाक्यमें खण्डत्व जाति गोद्रव्यका प्रकार है और दूसरे वाक्यमें शुक्लत्व गुण पटद्रव्यका प्रकार है। जाति और गुणको द्रव्यका प्रकार होना ही उक्त वाक्यों के सामानाधिकरण्य का प्रयोजक है। सभी जगह सामानाधिकरण्यका प्रयोजक प्रकारत्व ही होता है। मनुष्यत्वादिसे विशिष्ट शरीर आत्माके प्रकार होकर ही रहते हैं। यहाँ शरीरको आत्माका प्रकार होकर रहना ही सामानाधिकरण्यका प्रयोजक है। पृथक् प्रतीति और पृथक् स्थितिके योग्य द्रव्य जब किसी द्रव्यके विशेषण बनते हैं, तब मत्वर्थीय प्रत्यय होता है। जैसे– दण्ड और कुण्डल अपने आश्रयसे पृथक् प्रतीति और पृथक् स्थितिके योग्य होते हैं। जब ये किसीके विशेषण होते हैं, तब दण्डी और कुण्डली इस प्रकार मत्वर्थीय प्रत्यय होता है। जो द्रव्य अपने आश्रयसे पृथक् प्रतीति और पृथक् स्थितियोग्य होते ही नहीं हैं। उनका विशेषणत्व सामानाधिकरण्यसे जाना जाता है।

शंका– नीलम् उत्पलम् यहाँ पर नीलत्वगुण उत्पल द्रव्यका विशेषण है। इसके समान यदि मनुष्यादि शरीर आत्माके विशेषण माने जायें तो जैसे नीलत्व गुण और उत्पल गुणीकी साथ–साथ नियमसे प्रतीति होती है, वैसे ही प्रकार और प्रकारी अर्थात् शरीर और आत्माकी नियमसे साथ ही प्रतीति होनी चाहिए किन्तु ऐसा नहीं होता है। इससे सिद्ध होता है कि शरीर आत्माका विशेषण नहीं है, इसलिए 'आत्मा देवता और मनुष्य होती है– **देवो मनुष्यः आत्मा**' ऐसे स्थलोंमें 'लाक्षणिक सामानाधिकरण्य' ही मानना चाहिए।

समाधान– ऐसा कहना उचित नहीं है। शरीर आत्माका विशेषण ही है। जिस प्रकार गुण गुणीके ही आश्रित रहता है, उसप्रकार

मनुष्यादि शरीर आत्माके ही आश्रित रहते हैं। इसलिए आत्माका विश्लेष होनेपर शरीरका विनाश हो जाता है। कर्मफल भोगके लिए ही आत्माको शरीर प्राप्त होता है। नियमतः आश्रयके प्रति विशेषण होकर रहना ही गुण और जाति आदिके वाचक नील और गो आदि शब्दोंका आश्रय-व्यक्तिपर्यन्त बोधक होनेमें हेतु है। नियमतः आश्रयके प्रति विशेषण होकर न रहनेके कारण ही दण्ड और कुण्डल व्यक्तिके विशेषण होनेपर भी 'दण्डी', 'कुण्डली' इस प्रकार मत्वर्थीय प्रत्यय होता है। शरीर को नियमतः आत्माका विशेषण होकर रहनेका स्वभाव होनेके कारण ही आत्मा देवता(देवताशरीरवाली) और मनुष्य(मनुष्यशरीरवाली) होती है- देवो मनुष्यः आत्मा। इस प्रकार मुख्य सामानाधिकरण्य ही होता है, लाक्षणिक नहीं होता है। गुण और गुणी ये दोनों चाक्षुष होते हैं, इसलिए इन दोनोंकी नियमसे साथ ही प्रतीति होती है। इसी प्रकार जाति और व्यक्ति ये दोनों चाक्षुष होते हैं, इसलिए इन दोनों की नियमसे साथ ही प्रतीति होती है। शरीर चाक्षुष है और आत्मा अचाक्षुष है, इसलिए शरीरके साथ आत्मा की प्रतीति नहीं होती है।

परिणामवाद- सम्पूर्ण चेतन और अचेतन पदार्थोंसे विलक्षण ब्रह्म ही जगत्का निमित्तकारण होते हुए उपादान कारण है। सांख्यशास्त्रसम्मत स्वतन्त्र, त्रिगुणात्मक, जड़ प्रधान जगत्का उपादान कारण नहीं है। यह विषय ब्रह्ममीमांसाके प्रथम अध्यायमें विस्तारसे प्रतिपादित है। इसके पश्चात् उक्त अर्थका स्मृतिशास्त्रसे विरोध परिहार करने लिए द्वितीय अध्याय आरम्भ होता है। वहाँ प्रधानकारणवाद तर्कमूलक और ब्रह्मकारणवाद श्रुतिमूलक कहा गया है।

सांख्यमत- मृत्तिकासे उत्पन्न पदार्थ मृत्तिका ही होता है, सुवर्णसे उत्पन्न पदार्थ सुवर्ण ही होता है। इस प्रकार उपादान और

उपादेयमें समानता देखी जाती है, इसलिए त्रिगुणात्मक जगत्का उपादान त्रिगुणात्मक प्रधान ही हो सकता है। प्रत्येक पदार्थ सुख, दुःख और मोहका हेतु होता है। यह सभीके अनुभवसे सिद्ध है। प्रत्यक्षप्रमाणसे सिद्ध यह जगत् सुखात्मक, दुःखात्मक तथा मोहात्मक है। सुखका हेतु सत्त्वगुण होता है, दुःखका हेतु रजोगुण होता है तथा मोहका हेतु तमोगुण होता हैं। इस प्रकार त्रिगुणात्मक जगत्का उपादान त्रिगुणात्मक प्रधान ही ज्ञात होता है, अतः त्रिगुणात्मक जगत्का उपादान ब्रह्म नहीं हो सकता है।

वेदान्तमत- लोकमें विलक्षण पदार्थोंमें भी उपादान-उपादेय भाव(कार्यकारणभाव) देखा जाता है- **दृश्यते तु**(ब्र.सू.२.१.६)। जैसे- गोबरसे बिच्छूकी उत्पत्ति और क्रिमियोंसे मक्षिकादिकी उत्पत्ति होती है। मुण्डक श्रुति भी विलक्षण पदार्थोंमें उपादान-उपादेयभावकी प्रतिपादिका है। जैसे- मकड़ी जालेको बनाती एवं उपसंहृत करती है, जैसे पृथिवीमें औषधियाँ उत्पन्न होती हैं तथा जैसे जीवित पुरुषसे केश और लोम उत्पन्न होते हैं; वैसे ही अक्षर परमात्मासे जगत् उत्पन्न होता है- **यथोर्णनाभिः सृजते गृह्णते च यथा पृथिव्याम् ओषधयस्संभवन्ति। यथा सतः पुरुषात् केशलोमानि तथाक्षरात् संभवतीति विश्वम्।।**(मु.उ.१.१.८), प्राणियोंके द्वारा खाया गया आहार रसरूपमें परिणत होता है, रस रक्तरूपमें, रक्त मांसरूपमें, मांस मेदरूपमें, मेद मज्जारूपमें और मज्जा अस्थिरूपमें परिणत होती है। ये भी विलक्षण पदार्थोंमें उपादान-उपादेयभावके उदाहरण हैं, अतः सजातीय पदार्थोंमें ही उपादान-उपादेयभाव होता है, विलक्षणमें नहीं। सांख्यका यह कथन उचित नहीं है- **श्रुतेस्तु शब्दमूलत्वात्**(ब्र.सू.२.१.२७) यह ब्रह्मसूत्र बताता है कि ब्रह्मकी जगत्कारणता श्रुतिप्रमाणसे ही सिद्ध है। तर्कातीत वस्तुमें लौकिक तर्ककी प्रवृत्ति नहीं हो सकती है। 'उष्णस्पर्शवाले तेजसे जन्य

रसतन्मात्रा है। वह शीतस्पर्शवाले जलका उपादान है।' इस प्रकार विरुद्ध पदार्थोंमें उपादान-उपादेयभाव स्वीकार करनेवाले सांख्यके द्वारा उपादान एवं उपादेयमें समानताका कथन हास्यास्पद ही है। जिस किसीरूपमें(सत्त्वेन) सभी पदार्थोंकी समानता है, सर्वांशमें समानता तो कहीं भी संभव नहीं है।

विवर्त– हे सोम्य! यह जगत् सृष्टिके पूर्वकालमें एक अद्वितीय सत् ही था- **सदेव सोम्येदमग्र आसीद् एकमेवाद्वितीयम्**।(छां.उ.६.२.१) इस श्रुतिके अनुसार प्रलयकालमें सत् शब्दका वाच्य एक अद्वितीय ब्रह्म ही था। यहाँ 'एकम्' 'एव' और 'अद्वितीयम्' इन पदोंके द्वारा सकलभेदका निषेध होनेसे ब्रह्म निर्विशेष सिद्ध होता है। **तदैक्षत बहु स्याम्**(छां.उ.६.२.३)। यह श्रुति संकल्पमात्रसे जगत्सृष्टिका निरूपण करती है और **उपसंहार दर्शनान्नेति चेन्नक्षीरवद्धि**(ब्र.सू.२.१.२४) तथा **विकरणत्वान्नेति चेत्तदुक्तम्**(ब्र.सू.२.१.३१) ये सूत्र भी ब्रह्मेतर कारणका निषेध करते हैं। परन्तु निर्विकार तत्त्वसे विविध-विचित्र जगत्की उत्पत्ति कैसे सम्भव हैं? इस प्रकार बौद्ध आक्षेप करते हैं। वेदोंपर श्रद्धा न रखनेवाले बौद्ध विद्वान् 'यह ब्रह्मोपदेश श्रद्धालुओंके लिए है, हम तो युक्तिसे समाधान चाहते हैं।' इस प्रकार वैदिकोंका उपहास करते हैं। यद्यपि परिणामवादका आश्रय लेकर बीजवृक्षन्यायसे एक कारणब्रह्मके बहुत कार्यरूप होनेका समर्थन किया जा सकता है तथापि ऐसा करनेपर ब्रह्मके विकारित्वकी प्राप्ति होती है, अतः जगत्को मिथ्या माननेपर उक्त आक्षेपका समाधान हो जाता है। इस प्रकार ब्रह्मके निर्विकारत्वकी सिद्धिके लिए जगत्का मिथ्यात्व स्वीकारकरके ही ब्रह्मका उपादानकारणत्व स्वीकार किया जा सकता है। ऐसा विवर्तवादी आचार्य मानते हैं।

विवर्तवादमें त्रिविध सत्ता स्वीकृत है- ब्रह्मकी पारमार्थिक सत्ता है। मिट्टी और घटादि पदार्थोंकी व्यावहारिक सत्ता है।

रज्जुसर्प और शुक्तिरजतादि पदार्थोंकी प्रातिभासिक सत्ता है। पारमार्थिक सत्तावाले पदार्थका कभी भी बाध नहीं होता है। व्यावहारिक पदार्थका ब्रह्मसाक्षात्कारसे बाध होता है और प्रातिभासिक पदार्थोंका व्यवहारकालमें बाध होता है। उपादानके समान सत्तावाले कार्यका होना परिणाम तथा उपादानसे विषम सत्तावाले कार्यका होना विवर्त कहलाता है- **परिणामो नाम उपादानसमसत्ताककार्यापत्तिः, विवर्तो नाम उपादानविषमसत्ताककार्यापत्तिः**(वे.प.)। मिट्टी और घट दोनों व्यावहारिक सत्तावाले हैं, अतः उपादान व्यावहारिक मिट्टीका उसके समान व्यावहारिक घटरूप होना परिणाम कहा जाता है। रज्जु व्यावहारिक सत्तावाली है और सर्प प्रातिभासिक सत्तावाला है। रज्जुका अपनेसे विषम सत्तावाला सर्परूप होना विवर्त है, वैसे ही यह जगत् ब्रह्मका विवर्त है और ब्रह्मके आश्रित रहनेवाली अविद्याका परिणाम है। अतः जगत्का विवर्ती उपादान कारण ब्रह्म तथा परिणामी उपादान कारण अविद्याको कहा जाता है। विवर्तकी कल्पना निर्विशेष ब्रह्मसे सत्य जगत्की उत्पत्ति संभव न होनेके कारण की गयी है।

घटः सन्, पटः सन्(घट है, पट है) इत्यादि अनुभवोंसे यह निर्विवाद सिद्ध है कि सभी कार्योंमें सत् अनुस्यूत है। कार्योंमें उपादान कारण ही अनुस्यूत होता है, इसलिए सत् ही जगद्रूप कार्यका उपादान कारण है। यह सत् ब्रह्मरूप ही है क्योंकि ब्रह्मसे अतिरिक्त सभी पदार्थ कार्य होनेसे असत् अर्थात् मिथ्या हैं। ब्रह्म निर्गुण, निर्विशेष, निराकार, कूटस्थ है, इसलिए ब्रह्म जगत्का उपादान नहीं हो सकता है क्योंकि जो पदार्थ कार्यरूपमें परिणत हो, वह ही जगत्का उपादानकारण होता है। फिर भी माया(अविद्या) द्वारा निर्विकार, कूटस्थ, सद्रूप ब्रह्म जगत्का अधिष्ठानरूप विवर्ती-उपादानकारण सिद्ध होता है।

निराकरण– सद्विद्या आदिमें कार्य और कारणके अभेदका निर्देश किया गया है। वहाँ अभेदनिर्देशपूर्वक एकविज्ञानसे सर्वविज्ञानकी प्रतिज्ञा तथा मृद्घट दृष्टान्त दिया गया है। निर्विशेषाद्वैतीके मतानुसार ब्रह्ममें रज्जुसर्पके समान सम्पूर्ण जगत् कल्पित है किन्तु ऐसा मानने पर सृष्टिका ही अभाव होनेसे यद्यपि उसके उपादानकारणत्व और निमित्तकारणत्वका विचार ही व्यर्थ है, फिर भी वे लोकमें रज्जुसर्पस्थलमें भी विलक्षण सर्पकी उत्पत्ति स्वीकार करते हैं। यदि सर्प उत्पन्न होता है तो सभीको क्यों नहीं दिखाई देता है? क्यों नहीं काटता है? दण्डप्रहारके विना कैसे मर जाता है? ये आक्षेप प्राप्त होते हैं। 'यह विलक्षण सर्प है'। इस वादसे उक्त आक्षेपोंका परिहार हो जाता है। यदि सर्प उत्पन्न नहीं होता तो आँखसे कैसे दिखाई देता? इसपर यह प्रश्न होता है कि रज्जुमें जो सर्पकी उत्पत्ति होती है क्या वह परमार्थ(सत्य) है? अथवा कल्पित है? इनमें प्रथम पक्ष युक्तियुक्त नहीं है क्योंकि अपरमार्थ सर्पकी उत्पत्ति परमार्थ नहीं हो सकती है। यदि कहना चाहें कि यहाँ सर्पका आद्य क्षणके साथ जो सम्बन्ध होता है, वह उत्पत्ति है और वह परमार्थ है, तो ऐसा भी नहीं कह सकते हैं क्योंकि आद्य क्षणके साथ सम्बन्धरूप उत्पत्तिको परमार्थ माननेपर उत्तरोत्तर क्षणके साथ सम्बन्धरूप स्थितिको भी परमार्थ मानना होगा। ऐसा होनेपर सर्पका दण्डसे नाश ही होगा, ज्ञानसे बाध नहीं होगा। द्वितीय कल्पितपक्षको स्वीकार करनेपर यह प्रश्न होता है– "यह सर्प है" इस प्रकार जिसे भ्रम होता है क्या उस पुरुषकी यह कल्पना है? अथवा परीक्षक निर्विशेषाद्वैतीकी कल्पना है? इनमें प्रथम पक्ष उचित नहीं है क्योंकि अभी सर्प उत्पन्न हुआ है, ऐसा वह नहीं जानता है बल्कि पूर्वसे ही विद्यमान सर्पको जानता है। इसलिए उस समय ही उत्पत्ति मानना उचित नहीं है। द्वितीय पक्षमें तो 'रज्जुमें अनिर्वचनीय

सर्पका अभाव होनेपर भी निर्विशेषाद्वैती स्वयं कल्पना करते हैं।' यह मानना होगा। इस प्रकार रज्जुमें कल्पित सर्पकी उत्पत्ति अप्रमाणिक ही सिद्ध होती है। इसी प्रकार ब्रह्ममें कल्पित जगत्‌की उत्पत्ति भी अप्रमाणिक सिद्ध होती है, अतः जगत्‌को ब्रह्मका विवर्त नहीं कह सकते हैं।

परिणामात्(ब्र.सू.) इस सूत्रके भाष्य श्रीभास्कराचार्यने विवर्तवादके खण्डनप्रसङ्गमें प्राचीन सम्प्रदायपरम्परासे प्राप्त ग्रन्थोंका भी इस प्रकार उल्लेख किया है- श्रुतिका अनुकरण करनेवाले सूत्रकार वेदव्यासने परिणामपक्षके समर्थक सूत्रोंका निर्माण किया। इस सम्प्रदायप्राप्त सिद्धान्त का छान्दोग्यकी व्याख्यामें वृत्तिकार और वाक्यकार ने आश्रय लिया। ब्रह्मका परिणाम जगत् है, दध्यादिके समान- **सूत्रकारः श्रुत्यनुकारी परिणामपक्षं सूत्रयाम्बभूव। अयमेव छान्दोग्ये वाक्यकारवृत्तिकाराभ्यां सम्प्रदायमतः समाश्रितः तथा च वाक्यम् परिणामस्तु स्याद् दध्यादिवदिति।**(ब्र.सू.भा.भा.१.४.२५) इस प्रकार वाक्यकार ब्रह्मसूत्रके किसी भी अधिकरणको जगन्मिथ्यात्वका समर्थक नहीं मानते हैं, वहीं भास्करभाष्यमें वृत्तिकारका निर्देश करके शांकरमतको महायानिक बौद्धमतके द्वारा निर्मित मायावादका वर्णनरूप कहा गया है। भास्कराचार्य छान्दोग्यकी वृत्तिसे भी परिचित थे। इस प्रकार विशिष्टाद्वैती वेदान्तियोंके द्वारा स्वमतके समर्थन और परमतके निराकरणके लिए वृत्ति ग्रन्थ और वाक्य ग्रन्थको प्रस्तुत करना उचित ही है। शांकरमतके परवर्ती आचार्योंके द्वारा 'परिणामात्' सूत्रका विवर्तात् अर्थ करना स्वमतके पोषक प्रमाणवचनोंके दुर्भिक्ष से जन्य है। भामतीकार भास्करमतका खण्डन करते हैं। क्षुभित हृदयवाले कल्पतरुकार अप्पयदीक्षित 'भास्करस्तु बभ्राम' इस प्रकार भास्करकी निन्दा करते हैं किन्तु वे वाक्यकारके वचन का अपलाप नही करते हैं। वे वाक्यग्रन्थके वचनान्तरको

उद्धृत करके जगदनिर्वचनीयत्वकी स्थाापनाके लिए प्रकारान्तरसे अर्थ करते हैं। वह भी उचित नहीं है क्योंकि वाक्यकारने स्वयं परिणामवादका समर्थक दधि दृष्टान्त दिया है, अतः इस पक्षका समर्थक ही वचनान्तर है। वह अनिर्वचनीयवादका समर्थक नहीं हो सकता है।

परिणामात्(ब्र.सू.१.४.२७) इस सूत्रमें परिणाम शब्द परिणामवादको कहता है या विवर्तवादको कहता है? यह सन्देह उपस्थित होता है। इसका निराकरण श्रुतिकथित मृत्तिका तथा लौहमणि दृष्टान्तसे हो जाता है। ये दृष्टान्त परिणामवादके ही अनुकूल हैं, विवर्तवादके अनुकूल नहीं हैं। विवर्तवादके अनुकूल तो रज्जुसर्पादि दृष्टान्त होते हैं, वे श्रुतिकथित नहीं हैं। निर्विशेषाद्वैती निर्विशेष ब्रह्मसे सत्य जगत्की उत्पत्ति संभव न होनेके कारण विवर्तवाद स्वीकार करते हैं। इसी ग्रन्थके 'सविशेष ब्रह्म प्रकरण' में बताया गया है, कि श्रुतिसूत्रोंका तात्पर्य निर्विशेष ब्रह्मके प्रतिपादनमें नहीं है, ऐसी स्थितिमें निर्विशेष ब्रह्मसे मिथ्या जगत्की उत्पत्तिके लिए माना गया विवर्तवाद भी श्रुतिसूत्र सम्मत नहीं हो सकता है।

जैसे जड़से चेतनकी उत्पत्ति संभव नहीं है, वैसे ही चेतनसे जड़ पदार्थकी उत्पत्ति संभव नहीं है, इसलिए सविशेषवादी और निर्विशेषवादी दोनों ही प्रकृतिसे युक्त ब्रह्मको ही अभिन्ननिमित्तोपादानकारण स्वीकार करते हैं। भेद केवल इतना है कि सविशेषवादी जगत्को कल्पित न माननेके कारण प्रकृतिको भी कल्पित नहीं मानते हैं। निर्विशेषवादी जगत्को कल्पित माननेके कारण प्रकृतिको भी कल्पित मानते हैं। दोनोंके मतमें त्रिगुणात्मिका प्रकृति जड़ है तथा विशिष्ट ब्रह्म कारण होनेसे अभिन्ननिमित्तोपादानकारणवाद स्वीकृत है। परिणामवादी परिणामजन्य विकारोंसे रहित ब्रह्मको सिद्ध करनेके लिए जड़ प्रकृति अंशका

स्वरूपपरिणाम तथा चेतन प्रकृति जीवका स्वभावपरिणाम और इन दोनोंसे रहित ब्रह्मको मानते हैं। विवर्तवादी ब्रह्मको विकाररहित सिद्ध करनेके लिए मिथ्या प्रकृतिमें ही विकार मानते हैं, चेतन ब्रह्ममें विकार नहीं मानते हैं। इस प्रकार यद्यपि दोनों स्व-स्वमतका प्रतिपादन करते हैं, फिर भी श्रुतिकथित मृत्तिका दृष्टान्तका समर्थन परिणामवादीको ही प्राप्त है, विवर्तवादीको प्राप्त नहीं है।

छान्दोग्य श्रुतिमें कहे गये मृत्पिण्ड आदि तीनों दृष्टान्त तथा दार्ष्टान्तिक ब्रह्मकी कारणताके बोधक 'ब्रह्मने तेजकी रचना की'- **तत्तेजोऽसृजत**।(छां.उ.६.२.३) ब्रह्मने स्वयंको जगद्रूपमें किया- **तदात्मानं स्वयमकुरुत**।(तै.उ.२.७.१) इत्यादि वाक्य भी परिणामवाद के ही अनुकूल हैं। वहाँ व्यवर्तत(विवर्त हुआ) और अभ्रमत(भ्रमित हुआ) इत्यादि पद नहीं हैं। **आत्मकृतेः**(ब्र.सू.१.४.२६), **परिणामात्** तथा **पटवच्च**(ब्र.सू.२.१.१९) इत्यादि सूत्र हैं। विवर्तात् और रज्जुसर्पवत् ऐसे सूत्र वहाँ नहीं हैं। इस विवरणसे सिद्ध होता है कि परिणामवाद श्रुतिसूत्र प्रतिपादित है। विवर्तवाद श्रुतिसूत्र प्रतिपादित नहीं है। ब्रह्मसूत्रमें **परिणामात्** इस प्रकार स्पष्ट ही परिणाम शब्दका प्रयोग किया है। शांकरभाष्यके टीकाकारोंने तो परिणामशब्द विवर्तके अर्थमें प्रयुक्त हुआ है, ऐसा **परिणामात्** इस सूत्रकी व्याख्यामें कहा है किन्तु श्रीशंकराचार्यने विवर्त अर्थ न करके परिणाम अर्थ ही किया है। इतना ही नहीं किन्तु विवर्त, अध्यस्त, अध्यारोप, मिथ्या तथा कल्पित आदि शब्दोंका प्रयोग भी उन श्रुतिसूत्रोंमें नहीं मिलता, जिनपर व्याख्या लिखकर विवर्तवादकी स्थापना की जाती है।

श्रुतिके द्वारा एकविज्ञानसे सर्वविज्ञानकी प्रतिज्ञा होनेसे भी विवर्तवाद सिद्ध होता है, यह कथन भी उचित नहीं है क्योंकि विवर्तवाद स्वीकार करनेपर एकके ज्ञानसे सबका बाध होता है, एकके ज्ञानसे सबका ज्ञान नहीं होता है। परिणामवाद स्वीकार करने

पर ही एकविज्ञानसे सर्वविज्ञानकी प्रतिज्ञा संभव होती है। विवर्तवादीके द्वारा किया गया प्रतिज्ञा वाक्यका अर्थ लक्षणादि दोषोंसे युक्त होनेके कारण त्याज्य है। **आत्मकृतेः** तथा **परिणामात्** इन दो सूत्रोंके परिशीलनसे यह ज्ञात होता है कि परिणामवाद ही सूत्रकारका अभिमत है। ऐसा होनेपर **आरम्भणाधिकरण**(ब्र.सू.२.१.६)को भी परिणामवाद का ही समर्थक मानना चाहिए। इस अधिकरणके बादके अधिकरण भी परिणामवादके ही अनुकूल हैं। आरम्भणाधिकरणमें भी प्रथम सूत्रसे परवर्ती सभी सूत्र परिणामवादसे ही सम्बन्ध रखनेवाले हैं। इस अधिकरणके प्रथमसूत्रमें सूत्रकारको यदि विवर्तवाद मान्य है तो उत्तरसूत्र व्यर्थ ही होते हैं। यदि कोई ऐसा कहे कि सूत्रकार परिणामवादके समर्थक हैं, फिर भी उपनिषद् विवर्तवादकी समर्थक हैं। यह कथन अत्यन्त हास्यास्पद है क्योंकि उपनिषदोंके प्रतिपाद्य अर्थका निर्णय करनेके लिए ही ब्रह्मसूत्रकी प्रवृत्ति होती है।

इसलिए परिणामवाद और विवर्तवाद इन दोनोंके मध्यमें प्राचीन वेदान्ती छान्दोग्यमें कहे गये मृद्घट आदि दृष्टान्त और **परिणामात्** इस सूत्रसे सिद्ध परिणामवादको ही स्वीकार करते आये हैं। ब्रह्मसूत्रके सर्वप्रथम टीकाकार आचार्य उपवर्ष बोधायनने परिणामवादका आश्रय लेकर उसपर वृत्तिकी रचना की थी। इस विषयका श्रीरामानुजाचार्यने ब्रह्मसूत्र-भाष्यके आरम्भमें ही श्रद्धापूर्वक उल्लेख किया है। श्रीशंकराचार्यने भी ब्रह्मसूत्र(३.३.५३) के भाष्यमें पूवोत्तरमीमांसापर वृत्ति लिखनेवाले उपवर्षका उल्लेख किया है।

विज्ञानविवर्तवाद और शून्यविवर्तवादका निराकरण करके ब्रह्मविवर्तवादकी स्थापना करनेवाले श्रीशंकराचार्यको बौद्धप्रक्रिया कैसे मान्य हो सकती है? आजके बौद्धप्रक्रियाका आश्रय लेनेवाले कुछ निर्विशेषाद्वैती विद्वानोंको प्रच्छन्न बौद्ध कहे जानेपर 'हम प्रच्छन्न

बौद्ध नहीं है, बौद्ध ही प्रच्छन्न वेदान्ती हैं।' ऐसा उनके कहने मात्रसे प्राप्त दोष का कैसे परिहार हो सकता है? इससे तो दोनोंका समान अभिप्राय व्यक्त होता है। वस्तुतः शंकर भगवत्पादने परिणाम पदके स्थानमें विवर्त पदका प्रयोग करके परिणामवादको दूषित करनेवाले बौद्धोंको विमोहित करके वैदिक मतकी स्थापना की किन्तु वे तत्कालिक समाजकी परिस्थितिवशात् स्पष्टरूपसे तत्त्वका प्रतिपादन नहीं कर सके। बौद्धोंने भिन्न-भिन्न शब्दोंसे जीव तत्त्वको स्वीकार करके ब्रह्म तत्त्वका निराकरण किया। श्रीशंकराचार्यने ब्रह्मतत्त्वको स्वीकार करके समयानुरूप बौद्धोंको कथंचित सान्त्वना प्रदानकरनेके लिए अतिरिक्त जीवका निराकरण किया। भर्तृप्रपञ्च आदि प्राचीन आचार्योंके द्वारा प्रतिपादित ब्रह्मपरिणामवादमें बौद्धोंके द्वारा दोषारोपण करनेपर विवर्तवादके प्रदर्शनसे श्रीशंकराचार्यने मध्यस्थ जैसी भूमिकाका निर्वाह किया।

परिणाम- ब्रह्मको जगत्का उपादानकारण सिद्ध करनेके लिए जगत्को मिथ्या मानना तो शिरकी पीड़ा मिटानेके लिए शिर कटाना जैसा है। यह जगत् सृष्टिके पूर्वकालमें एक सत् ही था- **सदेव सोम्येदमग्र आसीत्।** (छां.उ.६.२.१) इत्यादि श्रुतियोंसे सृष्टिके पूर्वकालमें यह जगत् कारण (सूक्ष्मचिदचिद्विशिष्ट ब्रह्म) रूपसे विद्यमान सिद्ध होता है। उसका अभाव किसी भी प्रकार सिद्ध नहीं होता है।

महर्षि वेदव्यासने **दृश्यते तु**(ब्र.सू.२.१.६) इस सूत्रमें विलक्षण पदार्थोंमें भी उपादान-उपादेयभाव प्रदर्शित किया है। यहाँ पर यह शंका होती है कि कारणसे कार्यको विलक्षण पदार्थ माननेपर उत्पत्तिसे पूर्व कार्यको असत्(अविद्यमान) मानना होगा। इस प्रकार पूर्व कालमें न रहनेवाले कार्यकी उत्तर कालमें उत्पत्ति माननी होगी, ऐसी स्थितिमें असत्कार्यवाद अपरिहार्य होगा। इस शंकाका परिहार

परिणाम नहीं है। वेदान्तसिद्धान्तके अनुसार तो विशिष्ट ब्रह्म ही परिणाम को प्राप्त होता है। यहाँ विशेषण चेतनाऽचेतन और विशेष्य ब्रह्म के विलक्षण अन्यथाभाव का नाम ही परिणाम है। **आत्माधिकरण**(ब्र.सू.२.३.३)में भगवान् रामानुजाचार्यने कहा है- ब्रह्म सर्वदा चेतन और अचेतन शरीरवाला होनेके कारण उनसे विशिष्ट होकर ही रहता है। वह कभी सूक्ष्मावस्थावाले चेतनाऽचेतनसे विशिष्ट होकर रहता है, उसे कारण ब्रह्म कहा जाता है और कभी स्थूलावस्थावाले चेतनाऽचेतनसे विशिष्ट होकर रहता है। उसे कार्य ब्रह्म कहा जाता है। कारणावस्थासे अन्य अवस्थाकी प्राप्तिरूप विकार दोनों विशेषणों तथा विशेष्य ब्रह्ममें समानरूपसे रहता है। आगन्तुक, अपृथक्सिद्ध धर्मको अवस्था कहा जाता है। वह अचेतन प्रकृतिमें स्वरूपका अन्यथाभावरूप होती है, चेतन जीवमें ज्ञानका संकोचविकासरूप होती है और विशेष्य ब्रह्ममें भिन्न अवस्थाको प्राप्त चेतनाऽचेतनके अन्तर्यामित्वरूप(नियामकत्वरूप) होती है। इस प्रकार कारणत्वावस्थासे कार्यत्वावस्थाकी प्राप्तिरूप विकार ब्रह्ममें रहता ही है किन्तु अचेतनके समान स्वरूपका अन्यथाभावरूप विकार उसमें नहीं रहता है। ब्रह्मका धर्मभूतज्ञान नित्य असंकुचित होनेके कारण जीवके समान धर्मका अन्यथाभावरूप विकार भी उसमें नहीं होता है किन्तु उक्त उभयविध विकारोंसे विलक्षण तत्तदन्तर्यामित्वरूप विकार उसमें रहता ही है। इस प्रकार ब्रह्म जगत्का साक्षात् उपादान कारण होता है और ऐसा माननेपर ही **आत्मकृतेः**(ब्र.सू.१.४.२६) तथा **परिणामात्**(ब्र.सू.१.४.२७) इत्यादि सूत्र भी संगत होते हैं। अनेक विशेषणोंसे विशिष्ट एक द्रव्य अनेक अवस्थाओंको प्राप्त करता है। इसे समझानेके लिए श्रुति मृत्पिण्ड दृष्टान्तको कहती हैं। सृष्टिके पूर्वकालमें नामरूपविभागसे रहित एक ब्रह्म ही था, वह ही

करनेके लिए **असदिति चेन्न प्रतिषेधमात्रत्वात्**(ब्र.सू.२.१.७) यह सूत्र बताता है कि कार्य और कारणमें सालक्षण्यनियमका प्रतिषेधमात्र करनेके लिए पूर्वसूत्र है। वह कारणसे कार्यको भिन्न द्रव्य नहीं कहता है, अतः कार्य और कारण दोनों सत् ही होते हैं। कारणभूत ब्रह्म ही अपनेसे विलक्षण जगद्रूपमें परिणत होता है, ऐसा माननेपर कार्यमें दृश्यमान विकार कारणब्रह्ममें भी प्राप्त होते हैं। यह शंका **अपीतौ तद्वत्प्रसङ्गात्**(ब्र.सू.२.१.८) इस सूत्रसे करके उसका **न तु दृष्टान्तभावात्**(ब्र.सू.२.१.९) इस सूत्रसे ब्रह्मके विशेषण चेतनाचेतन शरीरके द्वारा उसका परिणाम कहकर परिहार किया जाता है। एक ही द्रव्यका कार्यत्व और कारणत्व इन दोनों अवस्थाओंमें सम्बन्ध रहनेपर भी कार्यके गुण, दोष कारणमें नहीं होते हैं। दोनोंके धर्म व्यवस्थित रहते हैं। जैसे मनुष्य बालक, युवक और वृद्ध हो जाता है। यहाँ मनुष्य शरीरवाले चेतनकी जन्म, बाल्य, यौवन और वृद्धत्व अदि अवस्थाएं शरीरसे सम्बन्ध रखती हैं, आत्मासे नहीं तथा ज्ञान, सुख और दुःख आत्मासे सम्बन्ध रखते हैं, शरीरसे नहीं। वैसे ही समस्त चेतन और अचेतन शरीरवाले एक परब्रह्मका कार्यत्व और कारणत्व इन दोनों अवस्थाओंसे सम्बन्ध होनेपर भी कर्मवश्यत्व और दुःखित्व आदि धर्म उनके शरीररूपसे स्थित चेतनोंमें रहते हैं। अज्ञत्व और जड़त्व आदि धर्म परब्रह्मके शरीरभूत अचेतनोंमें रहते हैं और सर्वज्ञत्व, सर्वशक्तिमत्त्व आदि धर्म सबके अन्तरात्मा परब्रह्ममें रहते हैं। इस प्रकार सभीके धर्म व्यवस्थित होनेसे यह सिद्ध होता है कि कार्य जगत्के दोष कारणब्रह्ममें नहीं हो सकते हैं। इस प्रकार शरीरशरीरी-भाव दृष्टान्तके द्वारा समाधान दिया गया है।

परिणामका अर्थ है- अन्यथाभाव। स्वरूपका अन्यथाभावरूप परिणाम ही मुख्य है। विषमसत्तावाला अन्यथाभावरूप विवर्त मुख्य

परिणाम नहीं है। वेदान्तसिद्धान्तके अनुसार तो विशिष्ट ब्रह्म ही परिणाम को प्राप्त होता है। यहाँ विशेषण चेतनाऽचेतन और विशेष्य ब्रह्म के विलक्षण अन्यथाभाव का नाम ही परिणाम है। **आत्माधिकरण**(ब्र.सू.२.३.३)में भगवान् रामानुजाचार्यने कहा है- ब्रह्म सर्वदा चेतन और अचेतन शरीरवाला होनेके कारण उनसे विशिष्ट होकर ही रहता है। वह कभी सूक्ष्मावस्थावाले चेतनाऽचेतनसे विशिष्ट होकर रहता है, उसे कारण ब्रह्म कहा जाता है और कभी स्थूलावस्थावाले चेतनाऽचेतनसे विशिष्ट होकर रहता है। उसे कार्य ब्रह्म कहा जाता है। कारणावस्थासे अन्य अवस्थाकी प्राप्तिरूप विकार दोनों विशेषणों तथा विशेष्य ब्रह्ममें समानरूपसे रहता है। आगन्तुक, अपृथक्सिद्ध धर्मको अवस्था कहा जाता है। वह अचेतन प्रकृतिमें स्वरूपका अन्यथाभावरूप होती है, चेतन जीवमें ज्ञानका संकोचविकासरूप होती है और विशेष्य ब्रह्ममें भिन्न अवस्थाको प्राप्त चेतनाऽचेतनके अन्तर्यामित्वरूप(नियामकत्वरूप) होती है। इस प्रकार कारणत्वावस्थासे कार्यत्वावस्थाकी प्राप्तिरूप विकार ब्रह्ममें रहता ही है किन्तु अचेतनके समान स्वरूपका अन्यथाभावरूप विकार उसमें नहीं रहता है। ब्रह्मका धर्मभूतज्ञान नित्य असंकुचित होनेके कारण जीवके समान धर्मका अन्यथाभावरूप विकार भी उसमें नहीं होता है किन्तु उक्त उभयविध विकारोंसे विलक्षण तत्तदन्तर्यामित्वरूप विकार उसमें रहता ही है। इस प्रकार ब्रह्म जगत्का साक्षात् उपादान कारण होता है और ऐसा माननेपर ही **आत्मकृतेः**(ब्र.सू.१.४.२६) तथा **परिणामात्**(ब्र.सू.१.४.२७) इत्यादि सूत्र भी संगत होते हैं। अनेक विशेषणोंसे विशिष्ट एक द्रव्य अनेक अवस्थाओंको प्राप्त करता है। इसे समझानेके लिए श्रुति मृत्पिण्ड दृष्टान्तको कहती हैं। सृष्टिके पूर्वकालमें नामरूपविभागसे रहित एक ब्रह्म ही था, वह ही नामरूपके द्वारा व्यक्त हुआ- **तद्धेदं तर्ह्यव्याकृतम् आसीत्।**

तन्नामरूपाभ्यामेव व्याक्रियत।(बृ.उ.१.४.७) ब्रह्मने स्वयंको जगद्रूपमें किया- **तदात्मानं स्वयमकुरुत।**(तै.उ.२.७.१) इत्यादि श्रुतियाँ तथा **आत्मकृतेः** और **परिणामात्** ये सूत्र स्पष्टरूपसे ब्रह्मका परिणाम जगत्को कहते हैं। कारण ब्रह्म ही कार्य जगद्रूप में होता है।

उपसंहार- मिट्टीसे घट उत्पन्न होता है। बीजसे वृक्ष उत्पन्न होता है। मृद्घट स्थलमें चेतन कुलाल बाहर रहता है, इसलिए वह निमित्तमात्र है। बीजवृक्ष स्थलमें चेतन अन्दर रहता है। अन्दर प्रविष्ट चेतनोंकी यह महिमा होती है कि वे विविध-विचित्र परिणामोंको करते रहते हैं। आमके वृक्षको दिया गया, गोबर, मिट्टी, पानी आदि मधुर फलरूपसे परिणामको प्राप्त होता है। वहीं नीबूको दिया गया अम्ल फलरूपसे परिणामको प्राप्त होता है और मल्लिकाको दिया गया सुगन्धित पुष्परूपसे परिणामको प्राप्त होता है। इस प्रकार अन्दर प्रविष्ट चेतन आत्माकी शक्तिकी विचित्रताके कारण ही **आत्मनि चैवं विचित्राश्च हि**(ब्र.सू.२.१.२८) यह सूत्र बनाया गया है। पूर्वोक्त परिणाम सामान्य परिणाम नहीं हैं बल्कि विलक्षण- विविध परिणाम हैं। वि= विविध विलक्षण, वर्त= परिणाम। इस प्रकार विलक्षण परिणामको विवर्त कहते हैं। विवर्तवादमें कारणगत दोष अथवा गुण कार्यमें नहीं आते हैं, फिर भी यहाँ उपादान-उपादेय भावका त्याग नहीं होता है। इस प्रकार यह कहा जा सकता है कि जहाँ सामान्य जनको कार्यमें कारणकी प्रत्यभिज्ञा नहीं होती है, वहाँ विवर्त होता है और जहाँ कार्यमें कारणकी प्रत्यभिज्ञा होती है, वहाँ परिणाम होता है। कारणके समान सत्तावाले अन्यथाभावको परिणाम कहते हैं और कारणसे विषमसत्तावाले अन्यथाभावको विवर्त कहते हैं- **समसत्ताकोऽन्यथा-भावः परिणामः, विषमसत्ताकोऽन्यथाभावः विवर्तः** इत्यादि लक्षण भी

उक्त अर्थके बोधक हैं। अतः 'अग्निसे जल उत्पन्न हुआ'- **अग्नेरापः**(तै.उ.२.१.१) इस प्रकार अग्निको जलका उपादान कहा जाता है। यहाँ कार्य शीतगुणवाले जलमें कारण उष्णगुण वाली अग्निकी प्रत्यभिज्ञा संभव नहीं होती है। अतः ऐसे स्थलमें परिणामविशेषके वाचक विवर्तशब्दका प्रयोग किया जा सकता है। वेदान्तशास्त्रके मूर्धन्य **विद्वान् पण्डितरत्नम् के.एस. वरदाचार्य**(मैसूर) ऐसा विश्लेषण करते हैं। ज्ञानीकी दृष्टिसे सब परिणाम ही है। इसीलिए श्रीशंकराचार्य स्वयं सांख्यसिद्धान्तका अनुवाद करते हुए **त्रिगुणं प्रधानं.....स्वभावेनैव विचित्रेण विकारात्मना विवर्तते**।(ब्र.सू. शां.भा.२.२.१) इस प्रकार परिणाम अर्थके बोधक 'परिणमते' पदके स्थानपर विवर्त अर्थके बोधक 'विवर्तते' पदका प्रयोग करते हैं। वाचस्पतिमिश्र भी इसका अनुमोदन करते हैं। इन दोनोंसे पूर्वकालिक भर्तृहरिने **अनादिनिधनं ब्रह्म शब्दतत्त्वं यदक्षरम्। विवर्ततेऽर्थभावेन प्रक्रिया जगतो यतः**।।(वा.प.१.१) और **शब्दस्य परिणामोऽयमि-त्याम्नायविदो विदुः**।(वा.प.१.१२०) इस प्रकार विवर्त और परिणाम पदका एक ही अर्थमें प्रयोग किया है। महाकवि भवभूति भी **एको रसः करुण एव निमित्तभेदात् भिन्नः पृथक् पृथगिवाश्रयते विवर्तान्। आवर्तबुद्‌बुदतरङ्गमयान् विकारान्**।(उ.रा.च.३.४७) इस प्रकार एक ही श्लोकमें एक ही दृष्टान्त में परिणाम अर्थके बोधक विवर्त पद और विकार पदका प्रयोग करते हैं। 'विवर्तवाद अध्यासवाद है, मिथ्यात्ववाद है।' यह नवीन आचार्योंकी बुद्धिकी उपज है, प्राचीनोंकी नहीं। प्राचीन आचार्योंके मतमें तो विवर्तवाद परिणामवाद ही है। आचार्य शंकरसे उत्तरकालिक सर्वज्ञात्ममुनिने 'वेदान्तमतमें विवर्तवादकी पूर्वभूमि परिणामवाद है'- **विवर्तवादस्य तु पूर्वभूमिः वेदान्तवादे परिणामवादः**(सं.शा.२.६१)। इस प्रकार परिणाम और विवर्त इन दोनों शब्दोंका भिन्न अर्थ कहा है। इस विवरणसे यह

सिद्ध होता है कि भर्तृहरि, भवभूति और श्रीशंकराचार्यका विवर्तवाद जगत्मिथ्यात्वका साधक नहीं है। आचार्य शंकरने बौद्धोंको पराभूत करनेके लिए उनके साथ शास्त्रार्थमें उनकी शब्दावलीका प्रयोग किया। इस आशयको न समझनेवाले उनके परवर्ती सर्वज्ञात्ममुनि आदि आचार्य तत्कालिकसमाजमें प्रचारित बौद्धदर्शनकी वासनासे पूर्णतः मुक्त नहीं थे। उन्हें वेदप्रतिपाद्य अद्वैतमें द्वैतकी गन्ध आती थी। इसलिए उन्होंने बौद्धसम्मत जगद्मिथ्यात्वके साधक विवर्तवादको स्वीकार करके बौद्ध और वैदिकमतके सांकर्यको ही प्रचारित किया।

परमात्माकी पाँच रूपोंमें स्थिति– श्रीभगवान् ही पर, व्यूह, विभव, अन्तर्यामी और अर्चावतार इन पाँच रूपोंमें स्थित होते हैं। पर, व्यूह, विभव, सब प्राणियोंका नियामक अन्तर्यामी और अर्चावतार ये हमारे पाँच प्रकार होते हैं– **मम प्रकाराः पञ्चेति प्राहुर्वेदान्तपारगाः। परो व्यूहश्च विभवो नियन्ता सर्वदेहिनाम्।। अर्चावताराश्च तथा** .... । इत्यादि(वि.सं.) भगवान्के विग्रहमें विद्यमान पर आदि पाँच भेदोंका पाञ्चरात्र आगममें विस्तारसे प्रतिपादन किया गया है।

१.पर– अप्राकृत दिव्यमंगलविग्रहवाले, दिव्य गुणोंके सागर, दिव्य अस्त्र, वस्त्र और आभूषणोंसे समलंकृत जगज्जननी श्रीजीके साथ त्रिपादविभूतिमें दिव्य सिंहासन पर विराजमान श्रीभगवान् 'पर' कहलाते हैं। इस परस्वरूपमें नित्योदित और शान्तोदित ऐसे दो भेद होते हैं। मुक्तोंके अनुभाव्य भगवान् वासुदेव नित्योदित कहलाते हैं। इनसे तीनों व्यूहोंके कारण शान्तोदित वासुदेव आविर्भूत होते हैं – **नित्योदितात्सम्बभूव तथा शान्तोदितो हरिः।**(वि.सं.)।

२.व्यूह– उपासकों पर अनुग्रह करनेके लिए तथा जगत्की सृष्टि आदि कार्य करनके लिए पर श्रीभगवान् स्वयं ही वासुदेव, संकर्षण, प्रद्युम्न और अनिरुद्ध इन रूपोंमें अवतरित होते हैं। ये चार रूप ही चतुर्व्यूह कहे जाते हैं। जाग्रद् अवस्था और इन्द्रियाधीन

ज्ञानवाले जीवके अधिष्ठाता भगवान् अनिरुद्ध विश्व कहे जाते हैं। स्वप्नावस्था और मनके अधीन ज्ञानवाले जीवके अधिष्ठाता भगवान् प्रद्युम्न तैजस कहे जाते हैं। जाग्रत् और स्वप्न इन दोनों अवस्थाओंके संस्कार और अज्ञानसे युक्त सुषुप्ति अवस्थावाले जीवके अधिष्ठाता भगवान् संकर्षण प्राज्ञ कहे जाते हैं। सर्वविषयकज्ञान और मुक्तावस्थावाली आत्माके अधिष्ठाता भगवान् वासुदेव तुरीय कहे जाते हैं। अङ्ग, उपाङ्ग, आयुध और आभूषणोंसे युक्त तथा वासुदेव, सङ्कर्षण, प्रद्युम्न एवं अनिरुद्ध इन चार मूर्तियोंके रूपमें प्रकट सर्वशक्तिमान् भगवान् श्रीहरि ही क्रमशः विश्व, तैजस, प्राज्ञ एवं तुरीयरूपसे प्रकाशित होते हैं- **स विश्वस्तैजसः प्राज्ञस्तुरीय इति वृत्तिभिः। अर्थेन्द्रियाशयज्ञानैर्भगवान् परिभाव्यते।। अङ्गोपाङ्गायुधा-कल्पैर्भगवांस्तच्चतुष्टयम्। बिभर्ति स्म चतुर्मूर्तिर्भगवान् हरिरीश्वरः।।** (भा.१२.११.२२-२३) ज्ञानादि छः गुणोंसे परिपूर्ण भगवान् वासुदेव कहे जाते हैं। संकर्षणमें ज्ञान और बल प्रकट रहते हैं। ये जीव तत्त्वके अधिष्ठाता होते हैं। प्रद्युम्नमें ऐश्वर्य और वीर्य प्रकट होते हैं। ये मनके अधिष्ठाता होते हैं। अनिरुद्धमें शक्ति और तेज प्रकट रहते हैं, ये अंहकार तत्त्वके अधिष्ठाता होते हैं।

यद्यपि सभी व्यूहोंमें ज्ञानादि सभी गुण परिपूर्ण होते हैं किन्तु भगवान् की इच्छासे ही कार्यविशेषके लिए संकर्षणादिमें दो-दो गुणोंका अधिक प्रकाश तथा अन्य गुणोंका न्यून प्रकाश होता है। उनमें गुणोंका अभाव नहीं होता है। अतः श्रीभगवान् सभी स्थानों और सभी कालोंमें पूर्ण ही रहते हैं। पुराण-साहित्यमें जैसे ब्रह्मा, विष्णु और शिव क्रमशः सृष्टि, स्थिति और लयके कर्ता सुने जाते हैं, वैसे ही आगम शास्त्र और पुराणोंमें भी अनिरुद्ध, प्रद्युम्न और संकर्षण सृष्टि आदिके कर्ता सुने जाते हैं। परवासुदेवसे व्यूह वासुदेव प्रादूर्भूत होते हैं। व्यूह वासुदेवसे संकर्षण, संकर्षण से प्रद्युम्न

तथा प्रद्युम्नसे अनिरुद्ध प्रादुर्भूत होते हैं। इन सभी रूपोंमें चेतन परमात्मा एक ही होते हैं। इन चारोंमें प्रत्येकके केशव आदि तीन-तीन रूपोंमें अवतरित होनेपर द्वादश व्यूह होते हैं। ये द्वादश मासों और द्वादश आदित्योंके अधिष्ठाता होते हैं। जैसे आकाश, प्राण आदिका अधिष्ठाता ब्रह्म के होनेसे श्रुतियोंमें आकाश, प्राण आदि शब्दोंसे ब्रह्म कहा जाता है, वैसे ही जीव, मन और अहंकार तत्त्वके अधिष्ठाता संकर्षण, प्रद्युम्न और अनिरुद्धके होनेसे जीव, मन और अंहकार शब्दोंसे संकर्षण आदि कहे जाते हैं। परमकारण परब्रह्म वासुदेवसे जीवके अधिष्ठाता भगवान् संकर्षण आविर्भूत होते हैं। संकर्षणसे मनके अधिष्ठाता भगवान् प्रद्युम्न आविर्भूत होते हैं। प्रद्युम्नसे अंहकारके अधिष्ठाता भगवान् अनिरुद्ध आविर्भूत होते हैं- **परम कारणात्परब्रह्मभूतात् वासुदेवात्संकर्षणो नाम जीवो जायते। संकर्षणात् प्रद्युम्नसंज्ञं मनो जायते। तस्मादनिरुद्धसंज्ञः अंहकारो जायते**(पा.प.सं)।

हे शौनक! वेदोंके उपदेष्टा, अपनी महिमासे परिपूर्ण, स्वयंप्रकाश परमात्मा अपने सत्यसंकल्पसे अनिरुद्ध, प्रद्युम्न, संकर्षणरूपोंसे जगत्की सृष्टि आदि करते हैं तथा उनका ज्ञान कभी आवृत नहीं होता है। उनका भिन्न जैसा वर्णन होनेपर भी अपने भक्तोंके द्वारा आत्मरूपसे ही प्राप्त होते हैं- **द्विजऋषभ स एष ब्रह्मयोनिः स्वयंदृक्, स्वमहिमपरिपूर्णो मायया च स्वयैतत्। सृजति हरति पातीत्याख्ययानावृताक्षो विवृत इव निरुक्तस्तत्परैरात्मलभ्यः।।** (भा.१२.११.२४) इस प्रकार भगवान् व्यूहरूपसे जगत्की सृष्टि आदि करनेवाले कहे गये हैं। जीव सृष्टि आदिका कर्ता नहीं हो सकता है, इसलिए सृष्टिकर्ता आदिके वाचक विश्वादि पद जीवपरक नहीं हो सकते हैं। माण्डूक्य उपनिषद्का उपबृंहणभूत श्रीमद्भागवत

का यह प्रकरण है। अकार, उकार, मकार और अर्धमात्रारूप[1] चारपाद(भाग)वाला ओंकार है। अनिरुद्ध, प्रद्युम्न, संकर्षण और वासुदेव नामक विश्व, तैजस्, प्राज्ञ और तुरीयरूप चार पादोंवाला परब्रह्म है। अकार आदि चार वर्ण अनिरुद्ध आदि चार व्यूहोंके वाचक होते हैं। माण्डूक्यके प्रथम मन्त्रमें चार पादवाले ओंकारमें उक्त चारपादसे युक्त ब्रह्मकी दृष्टिका विधान किया जाता है। आगे उन-उन वर्णोंमें उनके वाच्य व्यूहरूप परमात्मतत्त्वके आरोपसे की जानेवाली उपासना तथा उनके फलका वर्णन किया जाता है। एक परमात्माके ही चारों व्यूह होनेसे अद्वैततत्त्व भी अक्षुण्ण रहता है। अनिरुद्ध, प्रद्युम्न, संकर्षण, वासुदेव और परवासुदेवरूपसे व्यस्त और समस्त प्रणवकी उपासना(दृष्टिरूप उपासना) करनेवाला साधक परमात्मासे अनुग्रहीत होकर ब्रह्मविद्या(भक्तियोग) के द्वारा उसी परमात्माको प्राप्त हो जाता है- **संविशत्यात्मानात्मानं य एवं वेद।**(मा. उ.४.१) इस प्रकार माण्डूक्यमें कही गयी दृष्टि ब्रह्मविद्याके द्वारा मोक्षफलको देनेवाली होती है।

शास्त्रोंमें कही वासुदेव, संकर्षण, प्रद्युम्न और अनिरुद्ध ये चार व्यूह कहे जाते हैं और कहीं संकर्षण प्रद्युम्न और अनिरुद्ध ये तीन व्यूह कहे जाते हैं। परवासुदेवसे भगवान् के अवतारभूत व्यूह वासुदेवकी अभेदविवक्षा होनेसे तीन व्यूह कहे जाते हैं और भेदविवक्षा होनेसे चार व्यूह कहे जाते हैं। इस प्रकार दोनों कथनोंमें विरोध नहीं है। शास्त्रोंमें एक स्थान पर संकर्षण, प्रद्युम्न और अनिरुद्धके जो कार्य सुने जाते हैं, अन्य स्थानपर उससे भिन्न कार्य सुने जाते हैं। ऐसी स्थितिमें कल्पभेदसे इनके कार्यकी व्यवस्था जाननी चाहिए।

टिप्पणी१-प्रणवके अन्तमें सुनाई देनेवाला नादविशेष।

३.विभव– भगवान्का देव, मनुष्य आदिके शरीरके समान शरीरको स्वीकार करके प्रादुर्भूत होना विभव अवतार कहलाता है– **विभवो नाम तत्तत्सजातीयरूपेणाविर्भावः**। उनके सभी अवतारोंके शरीर अप्राकृत होते हैं। भगवान्का देव-सजातीयरूपसे आविर्भाव वामनावतार है। मनुष्य-सजातीयरूपसे आविर्भाव श्रीरामकृष्णादि अवतार हैं। तिर्यक्-सजातीयरूपसे आविर्भाव मत्स्यकूर्मादि अवतार हैं। श्रीभगवान्के अवतार अनन्त हैं। उनमें मत्स्य, कूर्म, वराह, नृसिंह, वामन, परशुराम, राम, कृष्ण, बुद्ध एवं कल्कि ये दश अवतार प्रधान हैं। वेदोंका अपहरण करनेवाले दैत्यका हनन करके ब्रह्माको वेदप्रमाण प्रदान करनेके लिए अवतीर्ण मत्स्यावतार है। देवताओंके अजर-अमर होनेका कारण अमृतकी उत्पत्तिके लिए मन्दराचलके आधाररूपसे अवतरित कूर्मावतार है। पृथ्वीका उद्धार करनेके लिए अवतीर्ण वराहावतार है। आश्रित भक्तकी रक्षाके लिए असुरके घरमें स्तम्भसे प्रकट श्रीनृसिंहावतार है। त्रिविक्रम होकर अपने पादजल पापहारिणी गङ्गासे जगत्का पापहरण करनेके लिए अवतीर्ण वामनावतार है। दुष्ट क्षत्रियोंके विनाशके लिए अवतीर्ण परशुरामावतार है। शरणागतकी रक्षा तथा धर्मसंस्थापनाके लिए अवतीर्ण श्रीरामावतार है। दयाके परवश होकर मोक्षोपाय प्रदान करनेके लिए अवतीर्ण श्रीकृष्णावतार है। हिंसापरायण मनुष्योंको हिंसासे विमुख करानेके लिए अवतरित बुद्धावतार है। अधर्मियोंका वध करके पूर्ण धर्मका प्रवर्तन करनेके लिए अवतीर्ण कल्क्यवतार है।

पुराणसाहित्यमें चौबीस अवतार निम्नप्रकारसे सुने जाते हैं– १.नारायण(विराट-पुरुष), २.ब्रह्मा, ३.सनक-सनन्दन-सनत्कुमार-सनातन, ४.नर-नारायण, ५.कपिल, ६.दत्तात्रेय, ७.सुयश, ८. हयग्रीव, ९.ऋषभ, १०.पृथु, ११.मत्स्य, १२.कूर्म, १३.हंस, १४.

धन्वन्तरि, १५.वामन, १६.परशुराम, १७.मोहिनी, १८.नृसिंह, १६. वेदव्यास, २०.राम, २१.बलराम, २२.कृष्ण, २३.बुद्ध, २४.कल्कि।

विभवके दो भेद होते हैं- मुख्य और गौण।

(क)मुख्य- श्रीभगवान्का साक्षात् दिव्यमङ्गलविग्रह और दिव्यगुणविशिष्ट रूपसे आविर्भाव होना मुख्यावतार, साक्षादवतार अथवा पूर्णावतार कहा जाता है। श्रीराम, श्रीकृष्ण, नृसिंह, मत्स्य, कूर्म और वराहादि मुख्यावतार हैं। मुख्यावतार ही मुमुक्षुओंके उपास्य होते हैं। कभी अप्राकृतधाममें पर-वासुदेवरूपसे विद्यमान परब्रह्म साक्षात् अवतार लेते हैं, कभी व्यूह भगवान् अवतार लेते हैं, कभी क्षीरोदकशायी भगवान् अवतार लेते हैं। इसी प्रकार कभी भगवान्के परविग्रहके अंशसे अवतारविग्रह होते हैं। कभी व्यूहके विग्रहसे अवतारविग्रह होते हैं। कभी यहीं नित्य विद्यमान अवतार भगवान् का श्रीविग्रह नेत्रोंका विषय बन जाता है। सभी अवतारोंमें ज्ञानशक्त्यादि कल्याणकारक गुण परिपूर्ण रहते हैं और शुद्धसत्त्वमय ही विग्रह होते हैं।

(ख)गौण- श्रीभगवान्के आवेशावतारोंको गौणावतार कहा जाता है। जिस प्रकार भगवान् मुख्यावतारमें मनुष्यादि शरीरोंको स्वेच्छासे स्वीकार करते हैं, उसी प्रकार उनके अवतारका गौणत्व भी उनकी इच्छाके अधीन है, स्वरूपतः गौणत्व नहीं है। परशुराम, कपिल, दत्तात्रेय, वेदव्यास और बुद्धादि गौणावतार हैं। स्वरूपावेश और शक्त्यावेश भेदसे यह भी दो प्रकारका होता है।

(१) स्वरूपावेश- स्वरूप अर्थात् अपने दिव्य विग्रह और दिव्य गुण के साथ श्रीभगवान्का आवेश स्वरूपावेशावतार कहलाता है। शुभ कर्म करनेवाले जीवविशेषमें अप्राकृत विग्रह और दिव्य गुणके सहित श्रीभगवान्का आवेश स्वरूपावेशावतार होता है।

(२) शक्त्यावेशः- विशिष्टकार्य सम्पन्न करनेके लिए जीवविशेषके शरीरमें सामर्थ्यमात्रसे श्रीभगवान्‌का आवेश शक्त्यावेश अवतार कहा जाता है। इस सामर्थ्यसे ही शक्त्यावेशावतार विशिष्ट कार्योंको करते हैं, इसलिए परशुरामका सामर्थ्य(तेज) परब्रह्म श्रीरामचन्द्रमें मिल जानेसे वे सामर्थ्यरहित जीव परशुराम साधना करनेके लिए महेन्द्राचलपर चले गये। ऐसा वाल्मीकीय रामायण में वर्णन है। आगमशास्त्रमें जो परशुरामको स्वरूपावेशावतार कहा गया है, उसे कल्पान्तरकी घटना जाननी चाहिए।

श्रीभगवान्‌के सभी अवतार सत्य ही होते हैं। ऐन्द्रजालिक(जादूगर) के वेश धारण करनेके समान मिथ्या नहीं होते हैं।

अवतारका हेतु- इस लोकमें श्रीभगवान्‌के अवतारका हेतु उनकी इच्छा ही है, कर्म नहीं है। वाल्मिकीयरामायण-उत्तरकाण्डके ५१वें सर्ग में यह कथा आती है- एक बार देवासुर-संग्राममें देवताओंसे पीड़ित अधर्मी असुरोंको महर्षि भृगुकी पत्नीने आश्रय प्रदान किया। निर्दोष जनोंके सहांरक असुरोंको आश्रय प्रदान करनारूप निषिद्ध कर्मसे कुपित होकर भगवान् विष्णुने भृगुपत्नीका वध कर दिया। इस घटनासे कुपित भृगुने भगवान् को शाप दिया कि आपको मृत्युलोकमें जन्म ग्रहण करना पड़ेगा और बहुत वर्षों तक पत्नीवियोगका दुःख सहना पड़ेगा। इस वृत्तान्तसे यह शंका होती है कि शापसे श्रीरामावतार हुआ था। श्रीविष्णुके कर्मोंके कारण ही शाप प्राप्त हुआ, अतः अवतारका हेतु कर्म है। यह शंका उचित नहीं है क्योंकि इसी प्रसङ्गमें महर्षि वाल्मीकिने कहा है कि क्रोधावेश शान्त होनेपर शाप देनेकी घटनासे भृगु पीड़ित हुए। श्रीभगवान् अकर्मवश्य हैं, इसलिए मेरा शाप विफल हो सकता है। "श्रीभगवान् मेरे शापको अवश्य स्वीकार करें"। इस भावसे उन्होंने सर्वसमर्थ

भक्तवत्सल श्रीभगवान् की आराधना की। आराधनासे आराधित श्रीभगवान्ने प्रसन्न होकर कहा कि 'लोककल्याणके लिए मैं उस शापको स्वीकार करूँगा'। इस वृतान्तसे यह ज्ञात होता है कि अवतारका हेतु कर्म नहीं है, अवतारका हेतु इच्छा ही है। शाप तो बहाना मात्र है। यदि कर्म या कर्मजन्य शाप हेतु होता तो भृगु पुनः आराधना नहीं करते। **विप्र धेनु सुर सन्त हित लीन्ह मनुज अवतार। निज इच्छा निर्मित तनु मायागुन गोपार।।**(रा.च.मा.१.१६२) इस प्रकार श्रीतुलसीदासजीने भी अवतारका हेतु भगवद्-इच्छाको कहा है। **संभवाम्यात्ममायया**(गी.४.६) इस प्रकार श्रीभगवान्ने स्वयं अपने अवतारका हेतु संकल्प अर्थात् इच्छाको कहा है। **माया वयुनं ज्ञानम्**(नि.ध.२२) इस निघण्टु वचनके अनुसार 'माया' शब्द ज्ञानका वाचक है। संकल्प भी इच्छात्मक ज्ञानविशेष है।

अवतारका प्रयोजन- श्रीभगवान्के अवतार ग्रहण करनेका प्रयोजन साधुपरित्राण, दुष्टविनाश और धर्मसंस्थापन है। जो श्रीभगवान्के दर्शन विना एक क्षण भी जीवित रहनेमें असमर्थ होते हैं, दर्शनके विना जिनके सभी अंग शिथिल हो जाते हैं, इसलिए एक क्षण भी हजारों कल्पोंके समान जिनको प्रतीत होता है, भगवान् ऐसे शीघ्र दर्शनकी आशावाले भक्तोंको अपने आनन्दस्वरूप श्रीविग्रह और लीलाका दर्शन कराकर उनका स्पर्श और उनके साथ मधुर संलाप करके रक्षा करते हैं, उनके विरोधियोंका नाश करते हैं, और अपने आराध्य स्वरूपको दिखाकर क्षीण हुए स्वाराधनरूप वैदिकधर्मकी स्थापना करते हैं- **परित्राणाय साधूनां विनाशाय च दुष्कृताम्। धर्मसंस्थापनार्थाय संभवामि युगे युगे।।**(गी.४.८), **जब जब होई धरम कै हानी। बाढ़हिं असुर अधम अभिमानी।।**(रा.च.मा.१.१२०.६), **तब तब प्रभु धरि विविध शरीरा। हरहिं कृपानिधि सज्जन पीरा।।**(रा.च.मा.१.१२०.८) ऊपर कहे तीन प्रयोजनोंमें

भक्तपरित्राण ही मुख्य है, शेष दो आनुषङ्गिक(गौण) हैं क्योंकि दुष्टोंका विनाश और धर्मसंस्थापन तो श्रीभगवान् के संकल्पसे ही हो सकता है किन्तु भक्तपरित्राण तो दर्शन दिए विना संभव ही नहीं है। उसके लिए भगवान्को अवतरित होना ही पड़ता है। धर्मतत्त्वका उपदेश और उसके अनुष्ठानके द्वारा धर्मसंस्थापन व्यासादिसे भी संभव है। अपने आराध्य स्वरूपको दिखाकर भक्तोंके मन और नेत्रोंका हरण करके उत्तरोत्तर भक्तिको उत्पन्न करना श्रीभगवान्के अवतारका असाधारण प्रयोजन है। वह पूर्णावतारसे ही संभव है। शास्त्रोंके अवतारप्रकरणमें अंशावतार, अंशांशावतार, अंशवशावतार और कलावतार शब्द दृष्टिगोचर होते हैं। इनकी भी प्रसङ्गतः व्याख्या की जा रही है-

अंशावतार- विशिष्ट वस्तुके एक भागको अंश कहा जाता है। गुण, श्रीविग्रह और विभूतिसे विशिष्ट परमात्मा हैं। विशिष्ट परमात्माके गुण आदिको उनका अंश कहा जाता है। संकल्परूप ज्ञानसे विशिष्ट श्रीभगवान् हैं। संकल्प उनका अंश है, इसलिए संकल्पसे होनेवाले सभी अवतारोंको अंशावतार कहा जाता है। जब दिव्य मङ्गलविग्रहके अंशसे भगवान्का अवतारकालिक श्रीविग्रह होता है, तब अवतारको अंशावतार कहा जाता है। जब यहीं विद्यमान विभव भगवान् का श्रीविग्रह चक्षुका विषय होता है तो भी उस श्रीविग्रहरूप अंशको लेकर होनेवाला अवतार अंशावतार कहा जाता है। अपने अंश नियाम्य विभूति(विशिष्ट जीवात्मा)के साथ भगवान् का जो अवतार होता है, उसे अंशावतार कहा जाता है, इसलिए पार्षदरूप अंशके साथ अवतीर्ण होने से पूर्णावतारों को भी क्वचिद् अंशावतार कहा जाता है। कुछ अंश(सामर्थ्य)को लेकर होनेवाला अवतार अंशावतार कहा जाता है, भगवान् का अंश जीवात्माका अवतार भगवान्का अंशावतार कहा जाता है।

सभी अवतारोंको भगवान्‌का साक्षात् अवतार नहीं माना जा सकता है अन्यथा गीताके विभूति-अध्यायमें कपिलादिको विभूति कहना व्यर्थ होगा। यहाँ भगवान्‌के साक्षाद्-अवतार, गौणावतार और जीवावतारोंको विवक्षाभेदसे अंशावतार कहा गया है। अवतार-प्रतिपादक जिस प्रकरणमें जो अर्थ ग्राह्य हो, उसे वहाँ ग्रहण कर लेना चाहिए।

अंशांशावतारः- परमात्माके अंश क्षीरसागरशायी विष्णुके अंशावतारको अंशांशावतार कहा जाता है। श्रीभगवान् सभी रूपोंमें परिपूर्ण हैं। त्रिपादविभूतिमें विराजमान श्रीभगवान् परिपूर्ण हैं। उन्हींके स्वरूप क्षीरसागरशायी परिपूर्ण हैं। उनके अंश अर्थात् संकल्पसे होनेवाला अंशांशावतार भी परिपूर्ण है। यह अंशांशावतार मुख्यावतार ही है। श्रीभगवान्‌के अंश विभूतिरूप महापुरुषके अंश से होनेवाले जीवावतार भी अंशांशावतार कहे जाते हैं। जीवके अवतार श्रीभगवान्‌के गौणावतारकी श्रेणी में आते हैं।

अंशवशावतार- श्रीभगवान्‌के अंश अर्थात् विभूतिके अधीन रहनेवाला अवतार अंशवशावतार कहा जाता है। जैसे- देवताओंका वानर, भालूरूपमें अवतार।

कलावतार- अंशको ही कला कहा जाता है, अतः कलावतारका अर्थ अंशावतार ही है। भगवान्‌ने कहा है- जो जो विभूतिमान्, श्रीमान् अथवा कल्याणकारक साधनोंमें लगा हुआ प्राणी है, उस-उसको तू मेरे ही तेजके अंशसे उत्पन्न हुआ जानो- **यद्‍ यद्‍ विभूतिमत्सत्त्वं श्रीमदूर्जितमेव वा। तत्तदेवावगच्छ त्वं मम तेजोंऽशसंभवम्।।**(गी.१०.४१), ऋषि, मनु, देवता, मनुपुत्र तथा प्रजापतिके सहित जो भी महान् शक्तिशाली हैं, वे सब श्रीभगवान् के ही अंश हैं- **ऋषयो मनवो देवा मनुपुत्रा महौजसः। कलाः सर्वे हरेरेव सप्रजापतयस्तथा।।**(भा.१.३.२७), **ऋष्यादयः एते सर्वे हरेरेव**

कलास्स्मृताः। भगवदंशेनैव सम्भूताः इत्यर्थः (वी.रा.)। कला शब्दका अर्थ अंश होनेसे अंशकला शब्दका अंशांश अर्थ होता है। ये सब अवतार भगवान्के अंशांशावतार हैं। परन्तु श्रीकृष्ण स्वयं भगवान् हैं- **एते चांशकलाः पुंसः कृष्णस्तु भगवान् स्वयम्।**(भा.१.३.२८), **अंशकलाः अंशांशसम्भूताः।**(वी.रा.)

४.अन्तर्यामी- परमात्माकी अन्तर्यामीरूपसे स्थितिका दो प्रकारसे वर्णन मिलता है-

(क) सम्पूर्ण चेतनाचेतन वस्तुओंमें प्रेरकरूप(नियामकरूप) से सन्निहित परमात्मा अन्तर्यामी कहे जाते हैं। जो पृथिवीमें रहते हुए पृथिवीके अन्दर है, पृथिवी जिसे नहीं जानती है, पृथिवी जिसका शरीर है, जो पृथिवीके अन्दर रहकर उसका नियमन करता है, वह निरुपाधिक अमृतस्वरूप परमात्मा तुम्हारा अन्तर्यामी आत्मा है- **यः पृथिव्यां तिष्ठन् पृथिव्या अन्तरो यं पृथिवी न वेद, यस्य पृथिवी शरीरम्, य पृथिवीम् अन्तरो यमयति। एष त आत्मा अन्तर्याम्यमृतः।**(बृ.उ.३.७.७) इत्यादि श्रुतियाँ पृथिवी आदि अचेतन पदार्थोंके अन्तर्यामी परमात्माका वर्णन करती हैं। जो सभी प्राणियों(अचित् शरीरविशिष्ट जीवों)में रहते हुए प्राणियोंके अन्दर है, प्राणी जिसे नहीं जानते हैं, प्राणी जिसका शरीर हैं, जो प्राणियोंके अन्दर रहकर नियमन करता है, वह निरुपाधिक अमृतस्वरूप परमात्मा तुम्हारा अन्तर्यामी है- **यः सर्वेषु भूतेषु तिष्ठन् सर्वेभ्यो भूतेभ्योऽन्तरो यं सर्वाणि भूतानि न विदुर्यस्य सर्वाणि भूतानि शरीरम्, यः सर्वाणि भूतान्यन्तरो यमयति, एष त आत्मा अन्तर्याम्यमृतः।**(बृ.उ.३.७.१६) यह श्रुति शरीरधारी जीवोंके अन्तर्यामी परमात्माका वर्णन करती है। जो आत्मामें रहते हुए आत्माके अन्दर है, जिसे आत्मा नहीं जानती है, आत्मा जिसका शरीर है, जो आत्माके अन्दर रहकर नियमन करता है, वह

निरुपाधिक अमृतस्वरूप परमात्मा तुम्हारा अन्तर्यामी है- **य आत्मनि तिष्ठन् आत्मनोऽन्तरो यम् आत्मा न वेद यस्य आत्मा शरीरम्, य आत्मानम् अन्तरो यमयति, एष त आत्मा अन्तर्याम्यमृतः**।(बृ.उ.मा. पा.३.७.२६) यह श्रुति शुद्ध आत्माके अन्तर्यामी परमात्माका वर्णन करती है। उक्तरीतिसे अचेतन पदार्थोंमें स्थित परमात्मा अन्तर्यामी हैं। पुण्यके कारण स्वर्ग तथा पापके कारण नरकमें आते-जाते समय, उभयके कारण गर्भवास आदिके समय और बन्धनरहित अवस्थामें भी सकल चेतनोंके सहायक और कभी भी उनका त्याग करनेमें असमर्थ अन्तरात्मारूपसे स्थित परमात्मा अन्तर्यामी हैं।

(ख) ध्यानकालमें चेतन जीवोंके ध्येय बननेके लिए तथा ध्यानमें रुचि उत्पन्न करके रक्षा करनेके लिए सुहृद् होकर हृदयकमलमें विराजमान दिव्यमङ्गलविग्रहविशिष्ट परमात्मा अन्तर्यामी कहे जाते हैं। **द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया**(श्वे.उ.४.६) इस प्रकार परमात्मा सखा अर्थात् सुहृद् कहे जाते हैं। वे अङ्गुष्ठमात्र परिमाणवाले विग्रहसे विशिष्ट अन्तर्यामी पुरुष होकर सदा साधकोंके हृदयमें स्थित रहते हैं- **अङ्गुष्ठमात्रः पुरुषोऽन्तरात्मा सदा जनानां हृदये सन्निविष्टः**।(क.उ.२.३.१७ तथा श्वे.उ.३.१३)

सर्वात्मा सबके अन्दर रहकर शासन करता है- **अन्तःप्रविष्टः शास्ता जनानां सर्वात्मा**(तै.आ.३.११.३) यह श्रुति तथा बृहदारण्यकके अन्तर्यामिब्राह्मणकी उक्त श्रुतियाँ आत्मामें नियमन करनेवाले अन्तर्यामी परब्रह्मकी स्थितिका वर्णन करती हैं। ध्यानकालमें अङ्गुष्ठ परिमिति विग्रहवाले उसी परब्रह्मका हृदयदेशमें साक्षात्कार होता है। अणु जीवात्मामें परब्रह्मकी श्रुतिसिद्ध स्थिति होनेपर भी उनके श्रीविग्रहका हृदयमें साक्षात्कार होता है, इसलिए एक ही अन्तर्यामीकी दो प्रकारसे स्थितिका वर्णन किया जाता है। ब्रह्मसूत्रके तदभावाधिकरणमें निर्णय किया गया है कि जिस प्रकार

कोई भवनमें चारपाई पर विद्यमान बिस्तरमें सोता है, उसी प्रकार जीवात्मा नाड़ियोंमें पुरीतत् में विद्यमान ब्रह्ममें सोता है। सुषुप्तिमें जीवात्माका साक्षात् अधिकरण ब्रह्म कहा गया है। **अन्तर्बहिश्च तत्सर्वं व्याप्य नारायणः स्थितः।**(तै.ना.उ.६४) इस श्रुतिमें 'बहिश्च' अंशसे परमात्माकी बहिर्व्याप्ति सुनी गयी है। इस प्रकार परमात्मा बाहरसे व्याप्त करके आधार बनता है। जीवात्मामें ब्रह्म विद्यमान होनेसे अन्तर्यामीरूपसे ब्रह्मकी अन्तर्व्याप्ति भी सिद्ध है। इसी अन्तर्यामी ब्रह्मका विग्रहविशिष्टत्वेन हृदयमें साक्षात्कार होता है।

५.अर्चावतार- अर्चाका अर्थ है- प्रतिमा। प्रतिमावतारको अर्चावतार कहा जाता है। भगवान श्रीरामानन्दाचार्यने कहा है- देशकालकी दूरीसे रहित, आश्रितभक्तकी अभिमत सुवर्ण, रजत और शिला आदिकी मूतियोंको अपने शरीररूपसे स्वीकार करके, परिपूर्ण होनेपर भी सर्वसहिष्णु होकर अर्चकके अधीन स्नान, भोजन, जागरण और शयन आदि क्रियाओंवाले, घर और मन्दिरमें विराजमान अप्राकृत मूर्तिविशिष्ट भगवान् अर्चावतार हैं- **अर्चावतारोऽपि च देशकालप्रकर्षहीनः श्रितसम्मतश्च। सहिष्णुरप्राकृतदेहयुक्तः पूर्णोऽर्चकाधीनसमात्मकृत्यः।।**(श्रीवै.म.भा.) श्रीरामावतार त्रेतायुगमें अयोध्यामें होता है और श्रीकृष्णावतार द्वापरयुगमें मथुरामें होता है। सभी साधकोंके लिए अयोध्या और मथुरा निकट नहीं हैं, किसी किसीसे तो बहुत दूर हैं। इसी प्रकार त्रेता और द्वापर भी निकट आनेवाले नहीं हैं, वे अभी दूर हैं किन्तु भगवान्‌के अर्चावतारमें देश, काल और अधिकारी विशेषकी सीमा नहीं है। वे अपार करुणाके वशीभूत होकर अपने आश्रित भक्तोंकी रुचिके अनुसार सभी देश और सभी कालमें विद्यमान होकर उनकी आराधनाको स्वीकार करके अभीष्ट फल प्रदान करते हैं। श्रद्धा-भक्तिपूर्वक मूर्ति-प्रतिष्ठाकालमें अप्राकृत देहधारी भगवान् आकर मूर्तिमें विराजते

हैं, इसलिए मूर्ति भी भगवान्‌का दिव्य शरीर हो जाती है। श्रीभगवान् अर्चावतारमें सर्वज्ञ होते हुए भी अज्ञके समान, सर्वसमर्थ होते हुए भी असमर्थके समान, अवाप्तसमस्तकाम होते हुए भी अपेक्षा करनेवालेके समान, रक्षक होते हुए भी रक्ष्यके समान और स्वतन्त्र स्वामी होते हुए भी परतन्त्रके समान अपनेको प्रदर्शित करते हैं, वे ऐसे होनेपर भी फलप्रदान करनेमें पूर्णतः समर्थ रहते हैं। यादवाद्रिमें श्रीसम्पतकुमार भगवान् , बदरीवनमें श्रीबदरीनारायण, मुक्तिक्षेत्रमें श्रीमुक्तिनारायण और श्रीशालिग्राम, पुरीमें भगवान् जगन्नाथ, द्वारकामें श्रीद्वारकाधीश, पण्ढरपुरमें श्रीविट्ठल भगवान् आदि अर्चावतार हैं। अयोध्यामें श्रीरामलला, श्रीकनकभवनबिहारी, श्रीधनुर्धारी, श्रीसनातन भगवान् और श्रीजानकीरमण आदि, ओरछामें श्रीरामराजा, वृन्दावनमें श्रीराधावल्लभ, श्रीराधारमण, श्रीबिहारीजी आदि, तिरुपतिमें श्रीवेंकटेश भगवान्, काञ्चीमें श्रीवरदराज भगवान्, श्रीरङ्गममें श्रीरङ्गनाथ भगवान् आदि अर्चावतार हैं। पर्णकुटी, घर तथा देवालय आदि पवित्र स्थानोंमें विद्यमान अर्चावतारके चार भेद होते हैं– स्वयंव्यक्त, दैव, आर्ष और मानुष।

यहाँ विग्रहविशिष्ट परमात्माके परादिरूपोंका वर्णन किया गया है और नित्यविभूति प्रकरणमें पर आदि पाँचोंके विग्रहका वर्णन किया जायेगा। व्यापकत्वका अनुसन्धान करनेवाले साधक परादिरूपोंमें किसी भी रूपकी उपासना करके मोक्ष प्राप्त करते हैं। श्रीभाष्यमें पाञ्चरात्र आगमके अनुसार यह जो कहा गया है कि साधक विभवकी अर्चना करके व्यूहको प्राप्त करता है, व्यूहकी अर्चनाकरके पररूपको प्राप्त करता है। उसे उस अधिकारीविशेषके विषयमें जानना चाहिए, जो क्रमिक मोक्षकी आकांक्षा रखता है और व्याप[illegible] [illegible] है।

हैं, इसलिए मूर्ति भी भगवान्‌का दिव्य शरीर हो जाती है। श्रीभगवान् अर्चावतारमें सर्वज्ञ होते हुए भी अज्ञके समान, सर्वसमर्थ होते हुए भी असमर्थके समान, अवाप्तसमस्तकाम होते हुए भी अपेक्षा करनेवालेके समान, रक्षक होते हुए भी रक्ष्यके समान और स्वतन्त्र स्वामी होते हुए भी परतन्त्रके समान अपनेको प्रदर्शित करते हैं, वे ऐसे होनेपर भी फलप्रदान करनेमें पूर्णतः समर्थ रहते हैं। यादवाद्रिमें श्रीसम्पतकुमार भगवान् , बदरीवनमें श्रीबदरीनारायण, मुक्तिक्षेत्रमें श्रीमुक्तिनारायण और श्रीशालिग्राम, पुरीमें भगवान् जगन्नाथ, द्वारकामें श्रीद्वारकाधीश, पण्ढरपुरमें श्रीविट्ठल भगवान् आदि अर्चावतार हैं। अयोध्यामें श्रीरामलला, श्रीकनकभवनबिहारी, श्रीधनुर्धारी, श्रीसनातन भगवान् और श्रीजानकीरमण आदि, ओरछामें श्रीरामराजा, वृन्दावनमें श्रीराधावल्लभ, श्रीराधारमण, श्रीबिहारीजी आदि, तिरुपतिमें श्रीवेंकटेश भगवान्, काञ्चीमें श्रीवरदराज भगवान्, श्रीरङ्गममें श्रीरङ्गनाथ भगवान् आदि अर्चावतार हैं। पर्णकुटी, घर तथा देवालय आदि पवित्र स्थानोंमें विद्यमान अर्चावतारके चार भेद होते हैं- स्वयंव्यक्त, दैव, आर्ष और मानुष।

यहाँ विग्रहविशिष्ट परमात्माके परादिरूपोंका वर्णन किया गया है और नित्यविभूति प्रकरणमें पर आदि पाँचोंके विग्रहका वर्णन किया जायेगा। व्यापकत्वका अनुसन्धान करनेवाले साधक परादिरूपोंमें किसी भी रूपकी उपासना करके मोक्ष प्राप्त करते हैं। श्रीभाष्यमें पाञ्चरात्र आगमके अनुसार यह जो कहा गया है कि साधक विभवकी अर्चना करके व्यूहको प्राप्त करता है, व्यूहकी अर्चनाकरके पररूपको प्राप्त करता है। उसे उस अधिकारीविशेषके विषयमें जानना चाहिए, जो क्रमिक मोक्षकी आकांक्षा रखता है और व्यापकत्वानुसंधान नहीं करता है।

उक्त सभी अवस्थाओंमें भगवान् सदा श्रीसे विशिष्ट होकर ही रहते हैं। यह अर्थ प्रमाणोंसे सिद्ध है।

श्रीतत्त्व- अजन्मा परमात्मा बहुत रूपोंमें प्रकट होता है- **अजायमानो बहुधा विजायते**।(य.सं.३१.१९) स्त्रीरूप नित्यविग्रहसे विशिष्ट श्रीभगवान् ही श्री हैं। जब योगी अपने योगबलसे अनेक शरीरधारण करता है, तब अपरिच्छिन्न सामर्थ्यवाले श्रीभगवान्के विषयमें कहना ही क्या है? भगवान् के चौबीस अवतारोंमें मोहिनी अवतार प्रसिद्ध है। यह अवतार असुरोंको मोहित करनेके लिए हुआ था किन्तु श्रीरूपमें भगवान् का सदा आविर्भाव प्राणियोंका सर्वविध मङ्गल करनेके लिए है। परब्रह्म परमात्मा भक्तोंपर अनुग्रह करनेके लिए अनादिकालसे दो रूपोंमें प्रकाशित हो रहे हैं। ये दो रूप हैं- श्रीमन्नारायण और श्रीलक्ष्मी, श्रीरामचन्द्र और सीताजी आदि। जैसे कोई एकतत्त्व दो रूपोंमें प्रकट हो, वैसे ही श्रीभगवान् दो रूपोंमें प्रकट हैं- **एकतत्त्वमिवोदितौ**(ल.तं.) **एवं ज्ञेया परा नित्या, सीता तु ब्रह्मविग्रहा। अनुग्रहार्थम् अस्माकम्, एक ब्रह्म द्विधा गतः।।**(स.सं.)। श्रीभगवान् जिन जिन रूपोंमें रहते हैं, श्रीजी भी उन उन रूपोंके अनुरूप अपने रूपको बना लेती हैं। परब्रह्म भगवान् विष्णुके श्रीरामचन्द्ररूपमें होनेपर श्रीजी सीतारूपमें रहती हैं और उनके श्रीकृष्णरूपमें आविर्भूत होनेपर वे रुक्मिणी रूपमें रहती हैं। श्रीभगवान्के अन्य अवतारोंमें भी ये सर्वदा उनके साथ रहती हैं। श्रीभगवान्से इनका वियोग कभी भी नहीं होता है- **राघवत्वेऽभवत्सीता रुक्मिणी कृष्णजन्मनि। अन्येषु चावतारेषु विष्णोरेषानपायिनी।।**(वि.पु.१.६.१४४) श्रीकृष्ण ही राधा हैं और राधा ही श्रीकृष्ण हैं- **स एव सा स सैवास्ति**।(स्क.पु.२.२.१३)

श्रीभगवान्के समान श्रीजी भी षड्गुणोंसे परिपूर्ण हैं। सत्यत्व, ज्ञानत्व, आनन्दत्व, अनन्तत्व और अमलत्वादि ब्रह्मके

स्वरूपनिरूपक धर्म इनमें भी विद्यमान हैं। ब्रह्मत्व और ईश्वरत्व व्यासज्यवृत्ति धर्म हैं। ये पर्याप्तिसम्बन्ध से दोनों में विद्यमान रहते हैं। शारीरकसूत्रके चारों अध्यायोंमें प्रतिपादित जगत्कारणत्व, अबाध्यत्व, उपायत्व, उपेयत्व, सर्वान्तर्यामित्व, सर्वशरीरकत्व और सर्वव्यापकत्वादि श्रीजीके भी धर्म हैं। भगवान्‌की अपेक्षा श्री और जीव ये दोनों ही शेष सुने जाते हैं किन्तु दोनोंमें यह भेद है कि श्रीमें ऐच्छिक शेषत्व है और अन्यमें स्वाभाविक शेषत्व है। विष्वक्सेनसंहितामें भूदेवी और लीलादेवी दोनोंको श्रीभगवान् और लक्ष्मी दोनोंका शेष कहा गया है। वहीं पर भू और लीला इन दोनोंकी ज्ञानगुणसे व्याप्ति कही गयी है और स्वरूपतः व्याप्तिका निषेध किया गया है।

वेदोंके कर्मकाण्ड प्रकरणमें महेन्द्र देवताके वर्णन प्रसङ्गमें केवल इन्द्र देवता नहीं माना जाता है बल्कि महत्त्वविशिष्ट इन्द्र देवता माना जाता है। जैसे यहाँ एक ही देवतात्व इन्द्र और महत्त्व दोनोंमें रहता है, वैसे ही श्रीविशिष्ट भगवान् के देवता होनेपर एक ही देवतात्व भगवान् और श्री दोनोंमें रहता है। कर्मकाण्ड प्रकरणमें ही वर्णित अग्निषोमीय यागमें अग्नि और सोम मिलकर देवता होते हैं, अलग-अलग नहीं होते हैं। दोनोंके लिए एक ही बार हविष् प्रदानकी जाती है। दोनोंमें एक ही देवतात्व रहता है। उसी प्रकार श्री और भगवान् मिलकर देवता होते हैं। दोनोंमें एक ही देवतात्व रहता है। श्री और भगवान् दोनोंके लिए आत्मारूप हविष् प्रदानकी जाती है। उक्त वर्णनसे यह सिद्ध होता है कि जब श्रीविशिष्ट भगवान् देवता कहे जाते हैं, तब महेन्द्रमें वर्णित रीतिसे दोनोंमें एकदेवतात्व रहता है और जब श्री तथा भगवान् द्वन्द्वसमाससे देवता कहे जाते हैं, तब अग्निषोममें वर्णित रीतिसे दोनोंमें समानरूपसे एकदेवतात्व रहता है। विष्णुपत्नी श्री इस जगत्‌की

ईश्वरी हैं अर्थात् शासन करनेवाली हैं- **अस्येशाना जगतः विष्णुपत्नी**।(तै.सं.४.४.१२) श्रीभगवान् सम्पूर्ण जगत्के ईश्वर हैं अर्थात् शासन् करनेवाले हैं। **ईशानो भूतभव्यस्य**(क.उ.१.१.१२) इत्यादि वचनोंसे श्री और भगवान् का अभेद सिद्ध होता है।

ब्रह्मसूत्रके सर्वप्रथम व्याख्याता महर्षि बोधायनकी परम्परामें श्रीवेदान्तदेशिकाचार्य और श्रीरामानन्दाचार्य के अनुयायी श्रीको ब्रह्मतत्त्व ही स्वीकार करते हैं और शास्त्रोंमें कुछ स्थानोंपर श्रीजीका भगवान्की सेविका रूपमें वर्णन हुआ है, इसलिए उन्हींकी परम्परामें श्रीलोकाचार्यके अनुयायी श्रीको जीवकोटिमें स्वीकार करते हैं। श्रीजी भक्तके उद्धारके लिए श्रीभगवान्से पुरुषकार(संस्तुति या सिपारश) करती हैं। उनमें दण्डप्रदत्व नहीं है, अर्थात् वे कभी भी किसीको दण्ड प्रदान नहीं करती हैं और श्रीभगवान्में पुरुषकारत्व नहीं है। यह उभय मतमें समता है। प्रथममतके अनुसार, जगत्कर्तृत्वादि सभी विशेषताएं श्रीमें है। द्वितीयमतके अनुसार नहीं हैं, फिर भी दया, वात्सल्य, औदार्य आदि सभी गुण श्रीजीमें परिपूर्ण हैं। माध्वमतमें श्रीजी परमात्माके समान नित्य और सर्वव्यापक हैं, उनका जीवत्व मान्य नहीं है। श्रीचैतन्यमहाप्रभुके अनुयायी श्रीराधादामोदरके द्वारा लिखित 'वेदान्तस्यमन्तक'से श्री और हरिमें अभेदबोधक वचन प्रस्तुत हैं- श्रीहरिके साथ श्रीलक्ष्मीका अभेद होनेसे ही उनके समान लक्ष्मी व्यापक हैं। विष्णुपुराणमें कहा है, हे द्विजोत्तम! जिस प्रकार विष्णु व्यापक हैं, उसी प्रकार लक्ष्मी भी व्यापक हैं। वह नित्य जगन्माता लक्ष्मी श्रीविष्णुकी अनपायिनी शक्ति है। लक्ष्मीको विष्णुसे भिन्न माननेपर व्यापकताको लेकर अपसिद्धान्त होगा। इस प्रकार लक्ष्मीके जीवकोटिमें प्रवेशका निराकरण हो जाता है- **लक्ष्म्या भगवदभेदादेव तद्वत्तस्याः व्याप्तिश्च तत्रैव स्मर्यते-नित्यैव सा जगन्माता विष्णोः श्रीरनपायिनी। यथा सर्वगतो विष्णुस्तथैव**

द्विजोत्तमेति।। ततो भेदे तु व्याप्तिः इयम् अपसिद्धान्तो घटते। इत्थञ्च चास्याः जीवकोटित्वं निरस्तम् (वे.स्य.)। श्रीतत्त्वके विषयमें विस्तृत जानकारीके लिए अहिर्बुध्न्यसंहिता, वशिष्ठसंहिता, लक्ष्मीतन्त्र, श्रीगुणरत्नकोष और श्रीवचनभूषणके पुरुषकार वैभवप्रकरणकी अरुम्वदव्याख्या आदि ग्रन्थोंका अध्ययन करना चाहिए।

सिद्धान्त- जो अर्थ प्रमाणिकरूपसे स्वीकृत होता है, उसे सिद्धान्त कहा जाता है- **प्रामाणिकतया स्वीकृतोऽर्थः सिद्धान्तः।** प्रामाणिकरूपसे स्वीकृत अर्थ विशिष्टाद्वैत(सविशेषाद्वैत) सिद्धान्त है। कुछ श्रुतियाँ द्वैतका प्रतिपादन करती हैं और कुछ श्रुतियाँ अद्वैतका प्रतिपादन करती हैं। द्वैतवादी दार्शनिक भेदप्रतिपादक श्रुतियोंको मुख्य अर्थकी बोधक मानते हैं, अभेदप्रतिपादक श्रुतियोंको गौण अर्थकी बोधक मानते हैं। निर्विशेषाद्वैतवादी अभेदप्रतिपादक श्रुतियोंको सत्य अर्थकी बोधक मानते हैं, भेदप्रतिपादक श्रुतियोंको मिथ्या अर्थकी बोधक मानते हैं। इस प्रकार ये दोनों ही श्रुतियोंके साथ अन्याय करते हैं किन्तु ब्रह्मसूत्रके प्रथम वृत्तिकार बोधायनमतानुयायी वेदान्ती इन दोनों प्रकारकी श्रुतियोंको समानरूपसे प्रमाण मानते हैं। द्वैत और अद्वैत परस्पर विरुद्ध मत हैं। द्वैतप्रतिपादक और अद्वैतप्रतिपादक वाक्योंका सम्यक् समन्वय विशिष्टाद्वैत सिद्धान्तमें हो जाता है, इसलिए इस सिद्धान्तको समन्वयसिद्धान्त भी कहा जाता है। वेदान्तका सिद्धान्त सविशेषाद्वैत(विशिष्टाद्वैत) ही है।

द्वैत, अद्वैत आदि सिद्धान्तोंकी मूलभूत श्रुति-

यत्र हि द्वैतमिव भवति.....तदितर इतरं पश्यति।...... यत्र त्वस्य[1] सर्वमात्मैवाभूत्.....तत्केन क पश्येत्? (बृ.उ.२.४.१४)

टिप्पणी१- वाऽऽस्य इति पाठान्तरम्।

द्वैतवादीसम्मत अर्थ- जब द्वैत ही होता है, तब भिन्न ज्ञाता भिन्न करणके द्वारा भिन्न वस्तुओंको देखता है किन्तु जब इसके लिए सब कुछ आत्मा ही हो गया, तब कौन ज्ञाता किस करणके द्वारा किस वस्तुको देखे? श्रुतिमें इव पद एव अर्थमें है।

द्वैतमतके अनुसार पूर्वार्द्धके द्वारा द्वैत सिद्धान्तका प्रतिपादन किया जाता है और उत्तरार्द्धके द्वारा असंगत अद्वैत सिद्धान्तका अनुवाद किया जाता है। अतः प्रस्तुत श्रुतिका तात्पर्य द्वैतमें है। इसी प्रकार समग्र वेदका तात्पर्य द्वैतमें ही जानना चाहिए।

निर्विशेषाद्वैतवादीसम्मत अर्थ- जब द्वैत जैसा होता है, तब भिन्न ज्ञाता भिन्न करणके द्वारा भिन्न वस्तुको देखता है किन्तु जब सब कुछ अपना स्वरूप ही हो गया तो कौन ज्ञाता किस करणसे किसे देखे?

निर्विशेषाद्वैतमतके अनुसार पूर्वार्द्धमें **द्वैतम् इव** इस प्रकार इव शब्दके प्रयोगसे यह ज्ञात होता है कि द्वैत परमार्थ नहीं है। उत्तरार्द्धसे अद्वैतस्वरूपस्थितिका कथन किया गया है। यह निर्विशेषाद्वैत ही परमार्थ है।

भेदनिषेधक श्रुति- ब्रह्ममें थोड़ा भी भेद नहीं है-**नेह नानास्ति किंचन**(क.उ.२.१.११, बृ.उ.४.४.१९), जो ब्रह्ममें थोड़ा भी भेद देखता है, वह संसारसे संसारको प्राप्त करता है- **मृत्योः स मृत्युमाप्नोति य इह नानेव पश्यति।**(क.उ.२.१.१०, बृ.उ.४.४.१९) उक्त श्रुतियाँ भेदका निषेध तथा भेददर्शनकी निन्दा करती हैं। अतः श्रुतियोंका तात्पर्य निर्विशेषाद्वैतमें ही है।

द्वैताद्वैत(भेदाभेद)वाद- द्वैत और अद्वैत प्रतिपादक अनेक श्रुतियाँ होनेपर भी उक्त एक ही बृहदारण्यक श्रुति दोनोंका प्रतिपादन करती है इसलिये समग्र वेदका प्रतिपाद्य द्वैताद्वैत ही है।

समीक्षा- (१)अभेदपरक श्रुतियोंको गौण अर्थका बोधक माननेके कारण द्वैतमत त्याज्य है।

(२)भेदपरक श्रुतियोंको मिथ्या या कल्पित अर्थका बोधक माननेके कारण निर्विशेषाद्वैत मत त्याज्य है।

(३)भेद और अभेद परस्पर विरुद्धहोनेके कारण दोनोंको स्वीकार करनेवाला भेदाभेदमत भी त्याज्य है।

सभी दोषोंसे रहित सविशेषाद्वैत(विशिष्टाद्वैत) सिद्धान्त है, वही वेदोंका प्रतिपाद्य है।

भेदप्रतिपादक श्रुति- **नित्यो नित्यानाम्**(क.उ.२.२.१३), **द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया**(ऋ.सं.१.१६४.२०), **ज्ञाज्ञौ द्वावजावीशनीशौ**(श्वे.उ.१.९), **भोक्ता भोग्यं प्रेरितारञ्च मत्वा**(श्वे.उ.१.१२) इत्यादि श्रुतियाँ भेदका प्रतिपादन करती हैं।

निर्विशेषाद्वैतवादी- भेद प्रत्यक्ष प्रमाणसे ज्ञात है, अज्ञात नहीं है। अतः भेद वेदप्रतिपाद्य नहीं हो सकता है क्योंकि वेद अज्ञात अर्थका ज्ञापक होता है, इसलिए ऐसा मानना चाहिए कि वेद प्रत्यक्षप्रमाणसे सिद्ध(ज्ञात) भेद का अनुवाद करता है, विधान नहीं करता। अतः भेदप्रतिपादक श्रुतियोंका स्वार्थमें प्रामाण्य नहीं है, भेदनिषेधक श्रुतियोंका स्वार्थ में प्रामाण्य है। ये प्रत्यक्ष से सिद्ध भेदका निषेध करती हैं।

द्वैतवादी- यदि कोई हिरण्यकशिपुगोत्रज 'मैं ही सर्वेश्वर हूँ' ऐसा कह दे, तो अभेद(ब्रह्मात्मैक्य) भी प्रत्यक्षसे ज्ञात(लोकसिद्ध) हो जाता है, अतः अभेद भी वेदप्रतिपाद्य नहीं है।

निर्विशेषाद्वैतवादी-हम वैसे भेदको वेद प्रमाणसे सिद्ध नहीं मानते हैं, वह तो भ्रमसे सिद्ध है। **ईश्वरोऽहम्**(गी.१६.१४) इसकी तरह

आसुरी संपद् है। हमारे द्वारा स्वीकृत अद्वैत विलक्षण है। यह ही वेदप्रतिपाद्य है, भेद वेदप्रतिपाद्य नहीं है।

सविशेषाद्वैतवादी- भेद दो प्रकारका होता है- स्वतन्त्र भेद और ब्रह्मात्मक भेद। **ब्रह्म आत्मा नियन्ता यस्य सः ब्रह्मात्मकः** इस व्युत्पत्तिके अनुसार ब्रह्मके द्वारा नियाम्य वस्तु ब्रह्मात्मक कही जाती है और **भिद्यते व्यावर्त्यते इति भेदः** इस व्युत्पत्तिके अनुसार व्यावृत्त(भिन्न) वस्तु भेद कही जाती है। इस प्रकार ब्रह्मात्मक पदार्थोंको ही ब्रह्मात्मक भेद कहा जाता है और इससे अन्य भेद स्वतन्त्रभेद कहा जाता है। लौकिक मनुष्य घटपटादिरूप भेदोंको ही देखते हैं, ब्रह्मको नहीं। अतः इनके द्वारा अनुभूयमान भेद स्वतन्त्र भेद है। अज्ञानीको घट अनुभवमें आता है और ज्ञानीको ब्रह्म(घटविशिष्ट ब्रह्म) अनुभवमें आता है। अज्ञानी घटको स्वतन्त्र समझता है, ज्ञानी ब्रह्मात्मक समझता है। कोई उन्मत्त ही अपने द्वारा कहे गयेका निषेध कर सकता है, अपौरुषेय वेद ऐसा नहीं कर सकते हैं, इसलिए वेदके द्वारा जिस भेदका निषेध किया जाता है। वह विहित से अतिरिक्त भेद है क्योंकि वेदसे विहित भेद ब्रह्मात्मक है और उससे इतर स्वतन्त्र भेद है, अतः वेद ब्रह्मात्मक भेदसे इतर स्वतन्त्रभेदका निषेध करते हैं। ज्ञानसे इसी भेदका बाध होता है। जैसे निर्विशेषाद्वैती विलक्षण अद्वैत स्वीकार करते हैं, वैसे ही सिद्धान्तमें लोकसिद्ध द्वैतसे विलक्षण ब्रह्मात्मक द्वैत स्वीकार किया जाता है। सविशेषाद्वैती आचार्य **अन्तःप्रविष्टः शास्ता जनानां सर्वात्मा**।(तै.आ.३.११.३) इस श्रुतिके अनुसार **यत्र हि द्वैतमिव भवति** इस बृहदारण्यक श्रुतिके उत्तरभागमें आये आत्मापदका अर्थ अन्तः प्रविश्य नियन्ता(जगतके अन्दर प्रवेशकरके नियमन करनेवाला) करते हैं। चेतनाऽचेतनात्मक जगत् परब्रह्मका शरीर है और परब्रह्म उसके आत्मा हैं। भेदनिषेधक वाक्य अब्रह्मात्मक भेद

आसुरी संपद् है। हमारे द्वारा स्वीकृत अद्वैत विलक्षण है। यह ही वेदप्रतिपाद्य है, भेद वेदप्रतिपाद्य नहीं है।

सविशेषाद्वैतवादी- भेद दो प्रकारका होता है- स्वतन्त्र भेद और ब्रह्मात्मक भेद। **ब्रह्म आत्मा नियन्ता यस्य सः ब्रह्मात्मकः** इस व्युत्पत्तिके अनुसार ब्रह्मके द्वारा नियाम्य वस्तु ब्रह्मात्मक कही जाती है और **भिद्यते व्यावर्त्यते इति भेदः** इस व्युत्पत्तिके अनुसार व्यावृत्त(भिन्न) वस्तु भेद कही जाती है। इस प्रकार ब्रह्मात्मक पदार्थोंको ही ब्रह्मात्मक भेद कहा जाता है और इससे अन्य भेद स्वतन्त्रभेद कहा जाता है। लौकिक मनुष्य घटपटादिरूप भेदोंको ही देखते हैं, ब्रह्मको नहीं। अतः इनके द्वारा अनुभूयमान भेद स्वतन्त्र भेद है। अज्ञानीको घट अनुभवमें आता है और ज्ञानीको ब्रह्म(घटविशिष्ट ब्रह्म) अनुभवमें आता है। अज्ञानी घटको स्वतन्त्र समझता है, ज्ञानी ब्रह्मात्मक समझता है। कोई उन्मत्त ही अपने द्वारा कहे गयेका निषेध कर सकता है, अपौरुषेय वेद ऐसा नहीं कर सकते हैं, इसलिए वेदके द्वारा जिस भेदका निषेध किया जाता है। वह विहित से अतिरिक्त भेद है क्योंकि वेदसे विहित भेद ब्रह्मात्मक है और उससे इतर स्वतन्त्र भेद है, अतः वेद ब्रह्मात्मक भेदसे इतर स्वतन्त्रभेदका निषेध करते हैं। ज्ञानसे इसी भेदका बाध होता है। जैसे निर्विशेषाद्वैती विलक्षण अद्वैत स्वीकार करते हैं, वैसे ही सिद्धान्तमें लोकसिद्ध द्वैतसे विलक्षण ब्रह्मात्मक द्वैत स्वीकार किया जाता है। सविशेषाद्वैती आचार्य **अन्तःप्रविष्टः शास्ता जनानां सर्वात्मा**।(तै.आ.३.११.३) इस श्रुतिके अनुसार **यत्र हि द्वैतमिव भवति** इस बृहदारण्यक श्रुतिके उत्तरभागमें आये आत्मापदका अर्थ अन्तः प्रविश्य नियन्ता(जगतके अन्दर प्रवेशकरके नियमन करनेवाला) करते हैं। चेतनाऽचेतनात्मक जगत् परब्रह्मका शरीर है और परब्रह्म उसके आत्मा हैं। भेदनिषेधक वाक्य अब्रह्मात्मक भेद

का निषेध करते हैं और ऐसा होनेपर **यत्र हि द्वैतमिव भवति, तदितर इतरं पश्यति** यह पूर्वखण्ड स्वतन्त्र वस्त्वन्तर(भेद)के अभावका ही प्रतिपादन करता है। स्वतन्त्र वस्त्वन्तरके होनेपर इतर इतरको देख सकता है किन्तु स्वतन्त्र वस्त्वन्तर है ही नहीं। ब्रह्मात्मक भेद वैदैकगम्य है। यह सूक्ष्म है, इससे भी सूक्ष्म अद्वैत(सविशेषाद्वैत) तत्त्व है। प्रस्तुत श्रुतिका **यत्र त्वस्य सर्वमात्मैवाभूत्** यह उत्तरार्द्ध भाग इसी अद्वैत तत्त्वका प्रतिपादक है और यह ही समग्र शास्त्रोंका प्रधान प्रतिपाद्य है। उसने संकल्प किया कि मैं बहुत हो जाऊँ- **सोऽकामयत बहु स्याम्**।(तै.उ.२.६.२), **तद् ऐक्षत बहु स्याम्**।(छां.उ.६.२.३) वह परमात्मा नामरूपोंसे विभक्त हुआ-**तन्नामरूपाभ्यामेव व्याक्रियत**।(बृ.उ.१.४.७) इन श्रुतियोंसे ज्ञात होता है कि परब्रह्म ही अपने संकल्पसे विचित्र चेतनाऽचेतनरूप होनेके कारण नानाप्रकारवाला होकर स्थित है। यह ब्रह्मात्मक नाना प्रकाररूप भेद श्रुतिसिद्ध विशिष्ट ब्रह्मकी एकताका विरोधी नहीं है, इसका विरोधी तो अब्रह्मात्मक(स्वतन्त्र) भेद है, इसलिए भेदनिषेधक वाक्योंके द्वारा इसी भेदका निषेध किया जाता है- **यत्र त्वस्य सर्वमात्मैवाभूत्**।(बृ.उ.२.४.१४) इस श्रुति वाक्यके उपक्रममें कहा गया है- **सर्वं तं परादात् योऽन्यत्रात्मनः सर्वं वेद**।(बृ.उ.२.४.६), सब लोग उसे परास्त कर देते हैं, जो परमात्मासे पृथक्(परमात्माके विना अर्थात् स्वतन्त्र) सबको जानता है। वस्तुतः कुछ भी परमात्मासे पृथक् नहीं है, सब उससे अपृथक्सिद्ध है। इसलिए श्रुति परमात्मासे पृथक् पदार्थको जाननेवाले की निन्दा करती है- **तद्धैतत् पश्यन् ऋषिर्वामदेवः प्रतिपेदे अहं मनुरभवं सूर्यश्चेति**।(बृ.उ.१.४.१०) यह श्रुति परमात्मसाक्षात्कारकी दशामें 'अहम्' इस प्रकार द्रष्टा आत्माके तथा मनुसूर्यादि दृश्य पदार्थोंके साक्षात्कारका प्रतिपादन करती है। भेदनिषेधक श्रुतियोंके द्वारा सकल

भेदका निषेध मानने पर प्रस्तुत श्रुतिसे भी विरोध होगा। अहं शब्दके वाच्य प्रकारी(विशेष्य) परमात्मा की अनुभूति काल में द्रष्टा, दृश्य आदि सभी उसके अपृथक्सिद्ध विशेषणरूपसे अनुभूत होते हैं। अज्ञानी मनुष्यको लौकिक पदार्थोंकी अनुभूतिकालमें प्रकारी परमात्मा का अनुभव न होनेके कारण द्रष्टा और दृश्य स्वतन्त्ररूपसे ज्ञात होते हैं। शास्त्र इन्हीं स्वतन्त्र भेदोंका निषेध करते हैं। सबका निषेध मानने पर वामदेवादिके साक्षात्कारको भ्रान्ति मानना पड़ेगा। इस प्रकार निर्विशेषाद्वैत सिद्धान्त शास्त्रसम्मत सिद्ध नहीं होता है। विशिष्टाद्वैतसिद्धान्त ही वेदप्रतिपाद्य है, ऐसा ब्रह्मवेत्ता आचार्य मानते हैं।

विशिष्टाद्वैत पदकी व्याख्या- (१)दो प्रकारसे ज्ञात वस्तु द्वीत कही जाती है। दो विरुद्ध प्रकारोंसे ज्ञात वस्तु द्वीत अर्थात् भिन्न ही होती है। द्वीत= भिन्न वस्तु, इसको ही द्वैत कहते हैं। द्वैतसे भिन्न अद्वैत होता है। अद्वैत= अभिन्न या एक-**द्वाभ्यां प्रकाराभ्याम् इतं ज्ञातं द्वीतम् भिन्नम् तदेव द्वैतम्, स्वार्थेऽण। न द्वैतम् अद्वैतम्।** इस व्युत्पत्तिके अनुसार अद्वैतपद धर्मीका बोधक है। विशिष्ट अद्वैत ब्रह्म विशिष्टाद्वैत है- **विशिष्टं च तद् अद्वैतं च विशिष्टाद्वैतम्।** विशिष्ट पद सविशेषका पर्याय है। इसका अर्थ है- विशेषणसे युक्त। गुण, विग्रह और विभूतियाँ ये विशेषण हैं। श्रुतिप्रतिपादित ज्ञान, बल, ऐश्वर्यादि गुण हैं। श्रीभगवान् का विग्रह अन्तरादित्यविद्या आदिमें प्रसिद्ध है। विभूतिपदसे काल, एकपादविभूति और त्रिपादविभूतिको ग्रहण किया जाता है। उभय विभूतिसे समस्त चेतन और अचेतनका बोध होता है। इन सबसे विशिष्ट एक अद्वैत ब्रह्मको सविशेषाद्वैत या विशिष्टाद्वैत कहा जाता है। उसमें सगुण-निर्गुण विभागका अभाव होनेसे वह एक(अभिन्न) ही है। विशेषणोंके अनेक होनेपर भी उनसे विशिष्ट वस्तु एक ही है।

(२)दो वस्तुओंमें रहनेवाले धर्मको द्वैत कहते हैं। दो वस्तुओंमें परस्परका भेद रहता है। इस प्रकार द्वैतका अर्थ भेद होता है- **द्वयोर्भावो द्विता सा एव द्वैतम् भेदः।** जिसमें द्वैत नहीं है, उसे अद्वैत कहा जाता है। इसका अर्थ है- भेदके अभाववाला। भिन्नमें भेद रहता है, अभिन्नमें भेदका अभाव रहता है। भेदके अभाववाली अभिन्न(एक) वस्तु अद्वैत पदका वाच्य है-**न विद्यते द्वैतं यस्मिन् तद् अद्वैतम् द्वितीयाभाववत्।** इस व्युत्पत्तिके अनुसार भी अद्वैतपद धर्मीका बोधक है, अतः पूर्ववत् ही **विशिष्टं च तद् अद्वैतम् च विशिष्टाद्वैतम्।**

(३)दो वस्तुओंमें रहनेवाले धर्मको द्वैत कहते हैं। द्वैतका अर्थ है- भेद। द्वैतसे भिन्नको अद्वैत कहते हैं। इसका अर्थ है- अभेद अर्थात् भेदका अभाव- **द्वयोर्भावो द्विता सा एव द्वैतम् भेदः। न द्वैतम् अद्वैतम् अभेदः इत्यर्थः।** इस व्युत्पत्तिके अनुसार अद्वैत पद धर्मका बोधक है। विशिष्टब्रह्मके अभेद(एकता)को विशिष्टाद्वैत कहा जाता है- **विशिष्टस्य अद्वैतम् विशिष्टाद्वैतम्। विशिष्टनिष्ठः अभेद इत्यर्थः।** विशेषण अनेक होनेपर भी उनसे विशिष्ट एकब्रह्ममें अभेद(एकत्व) ही रहता है। इस प्रकार विशिष्ट ब्रह्ममें विद्यमान अभेद विशिष्टाद्वैत पदका वाच्य है।

(४)अद्वैत पदको धर्मपरक स्वीकार करके कार्य(नामरूपविभागवाला अर्थात् स्थूलचिदचिद्विशिष्ट ब्रह्म) और कारण(नामरूपविभागके अभाववाला अर्थात् सूक्ष्मचिदचिद्विशिष्ट ब्रह्म)के अभेदकी विवक्षा होनेपर कारणावस्थावाले सूक्ष्मचिदचिद् विशेषणसे विशिष्ट ब्रह्मस्वरूपका कार्यावस्थावाले स्थूलचिदचिद्विशेषणसे विशिष्ट ब्रह्मस्वरूपके साथ जो अभेद है, उसे विशिष्टाद्वैत कहा जाता है- **(सूक्ष्मचिदचिद्)विशिष्टं च (स्थूलचिदचिद्)विशिष्टं च विशिष्टे तयोः विशिष्टयोः अद्वैतम् विशिष्टाद्वैतम्।**

(५)वस्तु तत्त्वकी अपेक्षा अन्य दूसरे प्रकारसे ज्ञात होनेवाला विषय द्वीत कहा जाता है- **द्वित्वेन वस्तुतत्त्वापेक्षया अन्यात्मकत्वरूप द्वितीयप्रकारेण इतम् ज्ञातं द्वीतम्।** जिससे द्वैत अर्थात् मिथ्या ज्ञान नहीं रहता है। वह अहन्ता, ममता तथा स्वातन्त्र्याभिमानरूप मिथ्याज्ञान का निवर्तक ब्रह्म अद्वैत तत्त्व कहा जाता है- **द्वीतस्येदं द्वैतं= मिथ्याज्ञानं, न विद्यते द्वैतं यस्मात् तद् अद्वैतम् मिथ्याज्ञानविरोधि।** मिथ्याज्ञानके निवर्तक विशिष्ट ब्रह्मको विशिष्टाद्वैत कहते हैं- **विशिष्टं च तद् अद्वैतम् इति विशिष्टाद्वैतम्।**

(६)दो में रहनेवाले धर्मको द्विता कहते हैं- **द्वयोर्भावो द्विता**। द्विता शब्दसे पृथक्त्वका बोध होता है। द्विता अर्थात् पृथक्त्वसे सम्बन्ध रखनेवाली उसकी आधार पृथक् वस्तुको द्वैत कहते हैं- **द्वितायाः इदं द्वैतम् पृथक् इत्यर्थः**। जिससे पृथक् कुछ भी नहीं है, उस ब्रह्मको अद्वैत कहते हैं- **न विद्यते द्वैतं यस्मात् तद् अद्वैतम्।** इस प्रकार अद्वैतका अर्थ है- अपनेसे पृथक् वस्त्वन्तरके अभाववाला- **स्वपृथक्भूतवस्त्वन्तरशून्यम् इति।** चेतन तथा अचेतनरूप सम्पूर्ण जगत् उससे पृथक् नहीं है बल्कि उसमें शरीर-आत्मभावरूप अपृथक्सिद्धि सम्बन्धसे स्थित होनेके कारण उससे अपृथक्(अपृथक्सिद्ध) है। अपनेसे पृथक् वस्त्वन्तरके अभाववाला विशिष्ट ब्रह्म विशिष्टाद्वैत कहा जाता है- **विशिष्टं च तद् अद्वैतम् इति विशिष्टाद्वैतम्।**

(७)दो विशेषणों (कार्यावस्थावाले चेतनाऽचेतनरूप विशेषण तथा कारणावस्थावाले चेतनाऽचेतनरूप विशेषण)से विशिष्ट ब्रह्ममें विद्यमान भेदका अभाव विशिष्टाद्वैत है- **विशिष्टे- विशेषणद्वय** (कार्यावस्थचेतनाऽचेतनात्मकविशेषणकारणावस्थचेतनाऽचेतनात्मकविशेषण) **विशिष्टे ब्रह्मणि अद्वैतम्= अन्यत्र सम्भाव्यमानस्य विशेषणभेदप्रयुक्तभेदस्य अभावः।** जैसे अन्यत्र दो विशेषणोंसे विशिष्ट

वस्तुओंमें भेद होता है, वैसे यहाँ दो विशेषणों(कार्यावस्थावाले चेतन और अचेतन= स्थूलचिदचिद् तथा कारणावस्थावाले चेतन और अचेतन= सूक्ष्मचिदचिद्)से विशिष्ट ब्रह्ममें भेद नहीं है। शुक्लत्व और कृष्णत्व ये दोनों विरुद्ध विशेषण हैं। अतः एक धर्मी घटादि में नहीं रहते हैं। विरुद्ध धर्म अपने आश्रयके भेदक होते हैं। अविरुद्ध धर्म अपने आश्रयके भेदक नहीं होते हैं। जैसे देवदत्तः ज्ञानेन्द्रियवान् कर्मेन्द्रियवांश्च। ज्ञानेन्द्रिय और कर्मेन्द्रिय अविरुद्ध विशेषण होनेके कारण अपने आश्रय देवदत्तके भेदक नहीं है। वैसे ही उक्त चेतन और अचेतन अविरुद्ध विशेषण होनेके कारण अपने आश्रय ब्रह्मके भेदक नहीं हैं।

(८)विशिष्ट ब्रह्ममें विद्यमान अभेद विशिष्टाद्वैत कहा जाता है- **विशिष्टे अद्वैतं विशिष्टाद्वैतम्।** श्रुतिमें कहा गया द्वैतका निषेधरूप अद्वैत विशिष्टाद्वैत है। उस धर्मीभूत ब्रह्म तथा विशिष्ट वस्तुकी एकता है। इसलिए चेतन तथा अचेतनरूप विशेषणके प्रति धर्मीभूत जो ब्रह्म है, उसका जो विशिष्टब्रह्ममें भेदका अभाव है, वह विशिष्टाद्वैत है। ब्रह्मके विशेषण चेतन और अचेतनरूप जो भेद है, उसका निषेध नहीं होता है क्योंकि वह लोक तथा शास्त्रसे सिद्ध है। इस प्रकार विचार करने पर 'तत्त्वमसि' इस वाक्यमें तत् और त्वम् इन समान विभक्तिवाले पदोंसे किया गया सम्भाव्यमान भेदके निषेधका उपदेश पुरोवर्ती(सामने विद्यमान) शरीरात्मक अचेतनसे संसृष्ट श्वेतकेतुरूप विशेषणका बोध नहीं कराता है किन्तु तत् पदका वाच्य जगत्कारण, सर्वज्ञ ब्रह्म त्वम्पदका वाच्य श्वेतकेतुका अन्तर्यामी ही है, अन्य(श्वेतकेतुके अन्तर्यामीसे अन्य) नहीं है। इस प्रकार भेदका निषेध किया जाता है। **एकमेवाद्वितीयम्** यह छान्दोग्य श्रुति(६.२.१) उपादान ब्रह्मसे अतिरिक्त निमित्त कारणका निषेध करती है। निमित्त और उपादानकी एकता बतानेमें उस श्रुतिका

तात्पर्य है। परमात्मा संकल्पविशिष्टरूपसे जगत्का निमित्तकारण है और वही चेतनाऽचेतन विशिष्टरूपसे उपादान कारण है। इस प्रकार यहाँ भी विशिष्ट ब्रह्मका अभेद कहा जाता है ।

अविद्यानिराकरण

अविद्या- अविद्याके विषयमें विद्वानोंके पर्याप्त मतभेद हैं। कुछ विद्वान् ज्ञानके प्रागभावको अविद्या कहते हैं, कुछ कर्मको अविद्या कहते हैं, कुछ अविवेकको अविद्या कहते हैं किन्तु निर्विशेषाद्वैती विद्वान् सदसद्विलक्षण अनिर्वचनीय भाव पदार्थको अविद्या कहते हैं। श्रीभाष्यके सप्तविध अविद्यानुपपत्ति प्रकरणमें इसी अनिर्वचनीय अविद्याकी अनुपपत्ति(असिद्धि) बतायी गई है। यहाँ पर उसीका विचार किया जा रहा है। निर्विशेष स्वयंप्रकाश ब्रह्ममें अविद्यासे कल्पित जीव, ईश्वर आदि अनन्त भेदोंवाला सम्पूर्ण जगत् है। कल्पनाकी हेतु आवरण और विक्षेप शक्तिवाली अनादि अविद्या ब्रह्मस्वरूपका तिरोधान और विविध-विचित्र विक्षेपोंको करनेवाली तथा सदसदनिर्वचनीया है। प्राणी अज्ञानसे आच्छादित हैं- **अनृतेन हि प्रत्यूढाः**।(छां.उ.८.३.२) इत्यादि श्रुतियोंसे तथा तत्त्वमस्यादि वाक्योंके सामानाधिकरण्यसे ज्ञात जीव और ईश्वरके ऐक्यकी अनुपपत्तिसे अविद्याको स्वीकार करना चाहिए। अविद्याकी तिरोधान(आवरण) शक्ति अधिष्ठान ब्रह्मस्वरूपको आवृत्त कर देती है और विक्षेपशक्ति उसमें विविध-विचित्र जगत्की प्रतीति कराती है। ब्रह्म सत् है, अविद्या सत् नहीं है क्योंकि सत् पदार्थकी भ्रान्ति नहीं होती है और बाध भी नहीं होता है किन्तु अविद्याकी भ्रान्ति होती है और बाध भी होता है। यदि अविद्या सत् होती तो उसे विषय करनेवाला ज्ञान भ्रान्तिरूप नहीं होता तथा अविद्याका बाध नहीं होता किन्तु अविद्याको विषय करनेवाला ज्ञान भ्रान्तिरूप होता है तथा अविद्याका बाध भी होता है, इसलिए अविद्या सत् नहीं हो

सकती है। शशविषाणादि असत् हैं। अविद्या असत् नहीं है क्योंकि असत् पदार्थकी प्रतीति नहीं होती है और प्रतीतिपूर्वक बाध नहीं होता है किन्तु अविद्याकी प्रतीति होती है और बाध भी होता है, इसलिए अविद्या असत् नहीं हो सकती है। अतः सत् और असत् शब्दोंके द्वारा अविद्याका निर्वचन नहीं किया जा सकता है। इसकारण उसे अनिर्वचनीय कहा जाता है । अल्पज्ञत्व आदि धर्मोंसे युक्त जीव है और सर्वज्ञत्वादि धर्मोंसे युक्त ईश्वर है। इस प्रकार विरुद्ध धर्मों वाले जीव और ईश्वरकी एकता तत्त्वमस्यादि वाक्योंसे कही जाती है। इस एकताकी सिद्धि धर्मोंको मिथ्या मानकर स्वरूपमात्रको ग्रहण करनेपर ही हो सकती है। उक्त धर्मोंकी प्रतीतिका मूल अविद्या होती है और उनका मिथ्यात्व भी अविद्यादोषके अधीन होता है। इस प्रकार जीव और ईश्वरके ऐक्यकी सिद्धिके लिए अविद्याको स्वीकार किया जाता है।

निराकरण- अविद्याको स्वीकार करनेपर उसके (१)आश्रयकी असिद्धि, (२)तिरोधानकी असिद्धि, (३)स्वरूपकी असिद्धि, (४)अनिर्वचनीयत्वकी असिद्धि, (५)प्रमाणकी असिद्धि, (६)निवर्तककी असिद्धि और (७)निवृत्तिकी असिद्धि ये सात अकाट्य दोष प्राप्त होते हैं। इसका क्रमशः वर्णन प्रस्तुत है-

१.अविद्याके आश्रयकी असिद्धि- यहाँ यह विचार उपस्थित होता है कि अविद्या जीवके आश्रित रहकर भ्रमको उत्पन्न करती है? अथवा ब्रह्मके आश्रित रहकर भ्रमको उत्पन्न करती हैं? इनमें प्रथम विकल्प उचित नहीं है क्योंकि जीवभाव अविद्यासे कल्पित है। अविद्यासे कल्पित जीव अविद्याका आश्रय नहीं हो सकता है। अविद्याका आश्रय जीव स्वीकार करनेपर जीवकी सिद्धि होनेपर अविद्याकी सिद्धि होगी और अविद्याकी सिद्धि होनेपर जीवकी सिद्धि होगी क्योंकि ब्रह्मेतर जीव आदि प्रपञ्चकी भ्रान्तिका कारण अविद्या है।

इस प्रकार इस पक्षमें अन्योन्याश्रय दोष प्राप्त होता है। अविद्याका आश्रय जीव स्वीकार करनेपर अविद्या निवृत्त होनेपर जीव ही रहेगा। जैसे भूतलादि किसी आधारमें कोई पदार्थ स्थित होनेपर उस पदार्थकी निवृत्ति होनेपर वह आधार शेष रहता है, वैसे ही जीवमें अविद्या स्वीकार करनेपर अविद्याकी निवृत्ति होनेपर जीव ही रहेगा, उसका ब्रह्मके साथ स्वरूप-ऐक्य नहीं होगा। इस प्रकार अविद्या स्वीकार करनेपर भी भेदवाद ही सिद्ध होता है, अभेदवाद सिद्ध नहीं होता है। अविद्या ब्रह्मके आश्रित रहकर भ्रम को उत्पन्न करती है। यह द्वितीय विकल्प भी उचित नहीं है क्योंकि ब्रह्म स्वयंप्रकाश ज्ञानस्वरूप होनेके कारण अज्ञान(अविद्या)का विरोधी है। अज्ञानका ज्ञानसे बाध होता है। ब्रह्मविषयक अज्ञानका उसके ज्ञानसे बाध होनेके कारण ज्ञानरूप ब्रह्मका अज्ञानसे विरोध होता है, इसलिए ज्ञानरूप ब्रह्मके आश्रित अज्ञान रह ही नहीं रह सकता है। ज्ञानसे निवृत्त होनेवाला मिथ्या अज्ञान यदि ज्ञानरूप ब्रह्मका तिरस्कार करके उसके आश्रित रहने लगे तो अज्ञानकी निवृत्ति करनेमें कोई समर्थ नहीं होगा। यदि ऐसा कहना चाहें कि ब्रह्मका स्वरूपभूत ज्ञान अज्ञानका विरोधी नहीं है किन्तु प्रमाणजन्य वृत्तिज्ञान ही अज्ञानका विरोधी है, इसलिए अज्ञान ब्रह्मके आश्रित रहकर भ्रम को उत्पन्न कर सकता है तो यह कथन भी उचित नहीं है क्योंकि दोनों ज्ञान ब्रह्मस्वरूपके ही प्रकाशक हैं। उनका विषय एक ही है, भिन्न नहीं है। इसलिए एक ज्ञान अविद्याका विरोधी है, दूसरा नहीं है। यह कथन सिद्ध नहीं होता है। यदि निर्विशेषाद्वैती कहना चाहें कि वृत्तिज्ञानमें प्रमाणजन्यत्व है, स्वरूपभूत ज्ञानमें नहीं, इस प्रकार दोनों ज्ञानोंमें भेद सिद्ध हो जाता है तो यह कथन भी उचित नहीं है क्योंकि वैसा होने पर भी दोनों ज्ञानों के विषय भिन्न नहीं हैं। स्वरूपभूत ज्ञानसे निवर्तक ज्ञानका विषय भिन्न है या नहीं? यदि

विषय भिन्न है तो निवर्तक ज्ञानका विषय सविशेष वस्तु होगी क्योंकि स्वरूपभूत ज्ञानके विषय निर्विशेष वस्तुसे भिन्न इसका विषय माना गया है। यदि विषय भिन्न नहीं है, तो स्वरूपभूत ज्ञान ही भ्रमका निवर्तक हो और प्रमाणजन्य ज्ञान भी भ्रमका निवर्तक न हो। यदि कहना चाहे कि 'यह देवदत्त है'- अयं देवदत्तः। यह अभिज्ञा ज्ञान और यह वही देवदत्त है- सोऽयं देवदत्तः। यह प्रत्यभिज्ञा ज्ञान, इन दो ज्ञानोंका विषय एक होनेपर भी प्रत्यभिज्ञा ज्ञान भ्रमका निवर्तक होता है, अभिज्ञा ज्ञान भ्रमका निवर्तक नहीं होता है तो यह कथन भी उचित नहीं है। जैसे यह देवदत्त है। ऐसा अभिज्ञा ज्ञान होनेपर भी यह पूर्वमें देखे गये व्यक्तिसे अन्य है। इस प्रकार देवदत्तके द्वित्व अर्थात् भिन्नत्वका भ्रम होता है। अभिज्ञा ज्ञान इस भ्रमका निवर्तक नहीं होता है किन्तु अभिज्ञा ज्ञानके समान विषयवाला 'यह वही देवदत्त है।' यह प्रत्यभिज्ञा ज्ञान भ्रमका निवर्तक होता है, वैसे ही विषय की एकता होनेपर भी स्वरूपभूत ज्ञान भ्रमका निवर्तक नहीं होता है, प्रमाणजन्य ज्ञान ही भ्रमका निवर्तक होता है तो यह कथन भी समुचित नहीं है क्योंकि यहाँ अभिज्ञा और प्रत्यभिज्ञा ज्ञानके विषय भिन्न हैं, एक नहीं हैं। अभिज्ञा ज्ञान एक धर्मीका एक देश और एक कालके साथ सम्बन्धको विषय करता है, एक धर्मीका दो देश और दो कालके साथ सम्बन्धको विषय नहीं करता है किन्तु प्रत्यभिज्ञा ज्ञान एक धर्मीका दो देश और दो कालके साथ सम्बन्धको विषय करता है, एक धर्मीका एकदेश और एककालमें सम्बन्धको विषय नहीं करता है। एक धर्मीका एक देश और एक कालमें सम्बन्धको विषय करनेवाली अभिज्ञा द्वित्वभ्रमकी निवर्तक नहीं है। एक धर्मीका दो देश और दो कालमें सम्बन्ध ही एकता होती है, उसे विषय करनेवाला प्रत्याभिज्ञा ज्ञान द्वित्वभ्रमका निवर्तक होता है। इसलिए

'विषयकी भिन्नता न होनेपर भी ज्ञान भ्रमका निवर्तक होता है' यह कहना सर्वथा अनुचित है। 'ज्ञानस्वरूप ब्रह्म है'। इस वृत्तिज्ञानसे ब्रह्ममें जो स्वभाव (स्वरूपसे अनतिरिक्त धर्म) ज्ञात होता है, ब्रह्मके स्वयंप्रकाश होनेसे वह स्वयं ही प्रकाशित होता है। इसलिए स्वरूपभूतज्ञान और वृत्तिज्ञान दोनों ही सामान्यरूपसे अविद्याके विरोधी होते हैं। यदि ब्रह्म अनुभवान्तरसे अनुभाव्य है अर्थात् 'ज्ञानस्वरूप ब्रह्म है।' यह ज्ञान किसीको है तो ब्रह्म प्रमेय अर्थात् ज्ञानका विषय होगा। ज्ञानका विषय होनेके कारण वह अनुभूतिरूप न होकर अननुभूतिरूप अर्थात् जड़ होगा। जड़विषयका प्रमाणजन्य ज्ञान भ्रमका निवर्तक नहीं हो सकता है। यदि ब्रह्म अनुभवान्तरसे अनुभाव्य नहीं है तो यह मानना पड़ेगा कि किसीको भी ब्रह्मका ज्ञान नहीं होता है। इस प्रकार प्रमाणजन्य ज्ञानके अविद्यानिवर्तकत्वका निराकरण होता है। ज्ञानको अज्ञानका विरोधी माना जाता है तो स्वरूपभूतज्ञान ही अज्ञानका विरोधी होगा । ब्रह्मका स्वरूपभूत ज्ञान अज्ञानका विरोधी होनेसे उसके(ज्ञानरूप ब्रह्मके) आश्रित अज्ञान रह ही नहीं सकता है।

शंका- जहाँ-जहाँ निवर्तकत्व है, वहाँ-वहाँ प्रमाणजन्यज्ञानत्व है- **यत्र यत्र निवर्तकत्वं तत्र तत्र प्रमाणजन्यज्ञानत्वम्,** जहाँ प्रमाणजन्यज्ञानत्व नहीं है, वहाँ निवर्तकत्व नहीं है- **यत्र प्रमाणजन्यज्ञानत्वं नास्ति तत्र निवर्तकत्वं नास्ति।** अधिष्ठानभूत ब्रह्ममें प्रमाणजन्यज्ञानत्व न होनेसे वह भ्रमका निवर्तक नहीं हो सकता है। ब्रह्मस्वरूप भ्रमका निवर्तक नहीं है, अधिष्ठानत्व होनेसे शुक्ति आदिके समान- **ब्रह्मस्वरूपं न भ्रमनिवर्तकम् अधिष्ठानत्वात् शुक्त्यादिवत्** । इस कारण भ्रमकी निवृत्तिके लिए प्रमाणजन्यज्ञानकी अपेक्षा होती ही है।

समाधान- यह शंका उचित नहीं है क्योंकि अपने यथार्थस्वरूपका प्रकाश करनेमें स्वयं असमर्थ शुक्ति आदि जड़ पदार्थ अपने

अज्ञानके विरोधी नहीं होते हैं, इसलिए अपनेसे भिन्न निवर्तक ज्ञानकी अपेक्षा करते हैं किन्तु ब्रह्म अपने अनुभवसे सिद्ध स्वयंप्रकाश चेतनस्वरूप है, इसलिए स्वयं अपने अज्ञानका विरोधी ही है। अतः उसे निवर्तक ज्ञानकी अपेक्षा नहीं हो सकती है। शुक्ति आदि जड़ होनेके कारण उनमें भासित होनेवाले रजतादिके भ्रमकी निवृत्तिके लिए ज्ञानान्तरकी अपेक्षा होती है। अधिष्ठान होनेके कारण भ्रमनिवृत्तिके लिए ज्ञानान्तरकी अपेक्षा नहीं होती है। शंकाकार द्वारा प्रस्तुत किये गये अधिष्ठानत्व हेतुमें जड़त्व उपाधि होनेसे वह व्याप्यत्वासिद्ध नामक हेत्वाभास है।

शंका– शास्त्रोंमें ब्रह्म ज्ञानस्वरूप कहा जाता है और मुमुक्षुकी मुक्ति प्रमाणजन्य ब्रह्मज्ञान(वृत्तिज्ञान)से कही जाती है। यह तभी संभव है, जब अविद्यासे बन्धन हो और अविद्याका आश्रय ब्रह्म हो। अतः ब्रह्मके अविद्याश्रयत्वका निराकरण उचित नहीं है।

समाधान– यह शंका उचित नहीं है क्योंकि बन्धनकी हेतु अविद्याका आश्रय ब्रह्म हो ही नहीं सकता है। अविद्याका आश्रय जीव स्वीकार करनेपर आश्रित अविद्याकी निवृत्ति होनेपर जीव ही शेष रहनेसे उसकी ब्रह्मके साथ स्वरूप-एकता नहीं होती है, इसलिए अविद्याका आश्रय ब्रह्म कहा गया है। उसकी असिद्धिका प्रतिपादन किया ही जा चुका है। अब ज्ञानसे मुक्तिका जो प्रसङ्ग कहा गया, उसका विचार किया जाता है– अज्ञानसे जिसका बन्धन होता है, ज्ञानसे उसकी ही मुक्ति होती है। ब्रह्मके अज्ञानसे जीवका बन्धन होता है, ब्रह्मके साक्षात्कारात्मक ज्ञानसे जीवकी ही मुक्ति होती है। इसलिए अविद्याका आश्रय जीव ही सिद्ध होता है, ब्रह्म सिद्ध नहीं होता है।

ब्रह्मविषयक प्रमाणज्ञान अविद्याका निवर्तक है और प्रपञ्च मिथ्यात्वविषयक ज्ञान भी अविद्याका निवर्तक है। ये दोनों पक्ष निर्विशेषाद्वैत सिद्धान्तमें उपलब्ध होते हैं। इनमें प्रथमपक्षका निरास

किया जा चुका है। अब द्वितीय पक्ष उपस्थित होता है- ब्रह्मभिन्न प्रपञ्चके मिथ्यात्वका ज्ञान अविद्याका विरोधी है। यह पक्ष भी उचित नहीं है। यह प्रपञ्चके मिथ्यात्वका ज्ञान क्या ब्रह्मके यथार्थस्वरूपके अज्ञानका विरोधी है अथवा प्रपञ्चके सत्यत्वरूप अज्ञानका विरोधी है? इसका उत्तर देना चाहिए। प्रपञ्चमिथ्यात्वका ज्ञान ब्रह्मके यथार्थ स्वरूपके अज्ञानका विरोधी नहीं हो सकता है क्योंकि प्रपञ्चमिथ्यात्वज्ञानका विषय ब्रह्मस्वरूप नहीं है। समान विषय होनेपर ही ज्ञान और अज्ञानका विरोध होता है। जैसे घटज्ञान और घटका अज्ञान इन दोनोंका विषय घट ही है। अतः यहाँ समान विषय होनेपर ज्ञान और अज्ञानका विरोध होता है, इसलिए घटके अज्ञानका निवर्तक घटका ज्ञान होता है। प्रपञ्चमिथ्यात्वज्ञानका विषय प्रपञ्चका मिथ्यात्व है और ब्रह्मस्वरूपके अज्ञानका विषय ब्रह्मस्वरूप है। अतः यहाँ समान विषय न होनेसे ज्ञान और अज्ञानका विरोध नहीं होता है, इसलिए प्रपञ्चके मिथ्यात्वका ज्ञान ब्रह्मस्वरूपके अज्ञानका निवर्तक नहीं हो सकता है। प्रपञ्चके मिथ्यात्वज्ञानका प्रपञ्चके सत्यत्वरूप अज्ञानसे विरोध होता है, इसलिए प्रपञ्चमिथ्यात्व ज्ञानसे प्रपञ्चसत्यत्वरूप अज्ञान निवृत्त होता है किन्तु ब्रह्मस्वरूपका अज्ञान निवृत्त नहीं होगा, वह तो रहेगा ही।

शंका- ब्रह्मस्वरूपके अज्ञानका अर्थ है- ब्रह्मके अद्वितीयत्वका अज्ञान और ब्रह्मव्यतिरक्तप्रपञ्चमिथ्यात्वज्ञानका अर्थ है- ब्रह्मके अद्वितीयत्वका ज्ञान, इसलिए प्रपञ्चमिथ्यात्वज्ञानरूप ब्रह्मके अद्वितीयत्व ज्ञानसे ब्रह्मस्वरूपका अज्ञान अपने कार्यके साथ निवृत्त हो जाता है और स्वानुभवसिद्ध ब्रह्मस्वरूप रहता ही है। इस प्रकार प्रपञ्चमिथ्यात्वज्ञान ब्रह्मस्वरूपके अज्ञानका निवर्तक होता ही है।

समाधान- यहाँ यह जिज्ञासा होती है कि ब्रह्मका अद्वितीयत्व उसका स्वरूप है अथवा धर्म है? अद्वितीयत्वको ब्रह्मका स्वरूप माननेपर

स्वानुभवसिद्ध स्वयंप्रकाश ब्रह्मके अद्वितीयत्वस्वरूपके रहते उसके अद्वितीयत्वका अज्ञान नहीं हो सकता है। अज्ञानके न होने पर उसकी निवृत्तिका भी प्रसङ्ग नहीं होता है। अद्वितीयत्वको धर्म भी नहीं कह सकते हैं क्योंकि निर्विशेषाद्वैतीके मतमें ज्ञानस्वरूप ब्रह्ममें कोई भी धर्म स्वीकार नहीं किया जाता है। उपर्युक्त विवरणसे यह सिद्ध होता है कि अज्ञानका विरोधी होनेके कारण ब्रह्म अज्ञानका आश्रय नहीं हो सकता है।

२.अविद्यासे ब्रह्मके तिरोधानकी असिद्धि– निर्विशेष प्रकाशमात्रस्वरूप (ज्ञानमात्रस्वरूप) ब्रह्म आच्छादिका(तिरोधान करनेवाली) अविद्यासे तिरोहित (आच्छादित) हो जाता है और तिरोहित होनेपर अपनेमें भेद प्रपञ्चको देखता रहता है। निर्विशेषाद्वैतियों का यह कथन सम्यक् नहीं है। अविद्यासे प्रकाशके तिरोहित होनेका अर्थ क्या अविद्यासे प्रकाशकी उत्पत्तिका प्रतिबन्ध है? अथवा विद्यमान प्रकाशकी निवृत्ति है? प्रकाशकी उत्पत्ति मान्य ही नहीं है, इसलिए 'अविद्यासे प्रकाशकी उत्पत्तिका प्रतिबन्ध होता है'। यह प्रथम पक्ष निरस्त हो जाता है। द्वितीयपक्षमें तो ब्रह्मस्वरूपका ही नाश प्राप्त होता है। ब्रह्म ज्ञानस्वरूप होनेसे स्वयंप्रकाश है। प्रकाश उसका स्वरूप है, धर्म नहीं है। यदि ब्रह्मस्वरूपका प्रकाश धर्म होता तो ब्रह्मस्वरूपसे अतिरिक्त प्रकाश होता । ऐसा होनेपर ब्रह्म सविशेष माना जाता और सविशेष माननेपर निर्विशेषाद्वैत सिद्धान्त भङ्ग होता। इस कारण प्रकाशको धर्म न मानकर ब्रह्मका स्वरूप माना जाता है, अतः प्रकाशकी निवृत्ति अर्थात् प्रकाशका नाश ही प्रकाशका तिरोधान है। ब्रह्म प्रकाशस्वरूप है। वह सदा विद्यमान रहता है, अतः अविद्यासे ब्रह्म स्वरूपका तिरोधान स्वीकार करनेका अर्थ होगा- अविद्यासे ब्रह्मस्वरूपका नाश स्वीकार करना, वह अभीष्ट नहीं है। ब्रह्मका स्वरूपभूत ज्ञान नित्य है और वह अविद्यासे

तिरोहित है। इस प्रकार ब्रह्मका नित्यत्व और उसका नाश स्वीकार करना परस्पर विरुद्ध है। यदि निर्विशेषाद्वैती ऐसा कहना चाहें कि प्रकाशात्मक ब्रह्म निर्विकार होकर सदा बना रहता है, तब तो यह मानना होगा कि अविद्यासे ब्रह्ममें कुछ भी तिरोहित नहीं होता है। अतः ब्रह्म अविद्यासे तिरोहित होकर भेदप्रपञ्चको देखता है। यह कथन निरस्त हो जाता है।

शंका- विशिष्टाद्वैतवेदान्तमतमें भी आत्मा ज्ञानस्वरूप माना जाता है। आत्मा विज्ञानस्वरूप है- **विज्ञानघनः**(बृ.उ.२.४.१२)। ज्ञान स्वयंप्रकाश होता है, अतः आत्मा स्वयंप्रकाश माना जाता है। अब यह आत्मा स्वयंप्रकाश होता है- **अत्रायं पुरुषः स्वयंज्योतिर्भवति**।(बृ. उ.४.३.६ तथा ४.३.१४)। यह जीवात्मा अपनेको 'मैं देवता हूँ', 'मैं मनुष्य हूँ', 'मैं मोटा हूँ', और 'मैं पतला हूँ' इत्यादि प्रकारसे देव, मनुष्यादि समझता है। इस प्रकार समझना ही देहात्मबुद्धि कहा जाता है। इसे ही भ्रम कहा जाता है। जीवात्मस्वरूपका तिरोधान होनेपर ही यह भ्रम हो सकता है। यदि आत्मस्वरूपका तिरोधान न हो और वह स्वयंप्रकाश होनेसे सदा प्रकाशित ही होता रहे तो भ्रम हो ही नहीं सकता है किन्तु भ्रम होता है, अतः आत्मस्वरूपका तिरोधान मानना ही होगा। आत्मा प्रकाशस्वरूप है, प्रकाशका नाश ही तिरोधान है। इस प्रकार विशिष्टाद्वैतमत में भी प्रकाशस्वरूप आत्माका विनाश स्वीकार करना पड़ेगा। तिरोधान माननेपर निर्विशेषाद्वैतमतमें जो दोष दिया जाता है, वह विशिष्टाद्वैतमतमें भी प्राप्त होता है तथा उससे भी अधिक दोष प्राप्त होते हैं क्योंकि विशिष्टाद्वैत मतमें अनेक जीवात्माएं मानी जाती हैं। उनमें कोई सुखी है, कोई दुःखी है, कोई ज्ञानी है, कोई मूर्ख है, कोई बद्ध है, कोई मुक्त है। अनेक आत्माओंको स्वीकार करनेपर ही ये व्यवस्थाएं संभव होती हैं। हम इन व्यवस्थाओंको काल्पनिक मानते हैं, अतः

हमें अनेक जीव स्वीकार करनेकी आवश्यकता नहीं होती है। आपके मतमें ये व्यवस्थाएं प्रामाणिक मानी जाती हैं किन्तु इनका निर्वाह नहीं हो सकता है क्योंकि जब तिरोधानसे प्रकाशस्वरूप जीवात्माका नाश हो जाता है, तब कोई जीवात्मा सुखी है, कोई दुःखी है इत्यादि व्यवस्थाएं भंग हो जाती हैं। हमारे मतमें ये व्यवस्थाएं काल्पनिक हैं। अतः इनका भंग होना दोष नहीं है, आपके मत में ये व्यवस्थाएं प्रामाणिक हैं, अतः इनका भंग होना महान् दोष है। विशिष्टाद्वैतमतमें इन दोषोंका जिस प्रकार परिहार होता है, उसी प्रकार हमारे मतमें भी हो जायेगा। विशिष्टाद्वैतियोंको हमारी शंकाका समाधान इस प्रकार करना होगा कि जीवात्मस्वरूप नित्य है और वह संसारदशामें तिरोहित रहता है, यह अर्थ शास्त्रसे प्रतिपादित है। शास्त्रसे विरोध होनेपर तर्ककी प्रवृत्ति नहीं होती है– नहि वचनविरोधे न्यायः प्रवर्तते। शास्त्रप्रतिपाद्य अर्थका खण्डन करनेवाला तर्क दोषयुक्त माना जाता है। ज्ञानस्वरूप जीवात्माका नित्यत्व एवं उसका तिरोधान शास्त्रसिद्ध है। तर्कसे इसका खण्डन नहीं हो सकता, प्रत्युत तर्क ही खण्डित हो जाता है, इसलिए तिरोधान होनेपर भी प्रकाशस्वरूप जीवात्माको नित्य माना जा सकता है। यह समाधान विशिष्टाद्वैतीको करना होगा। हम निर्विशेषाद्वैती भी वैसा ही समाधान करेंगे। प्रकाशस्वरूप ब्रह्मका नित्यत्व और अविद्यासे उसका तिरोधान ये दोनों अर्थ शास्त्रसे सिद्ध हैं। अविद्यासे प्रकाशस्वरूप ब्रह्मका तिरोधान होनेपर प्रकाशस्वरूप ब्रह्मका नाश हो जायेगा। इस तर्कसे शास्त्रप्रतिपादित अर्थका खण्डन नहीं होता है, प्रत्युत तर्क ही खण्डित हो जाता है। इस प्रकार ब्रह्म अविद्यासे तिरोहित होकर अपनेसे भेद-प्रपञ्चको देखता है। यह हमारा मत सिद्ध हो जाता है।

समाधान- यह कथन उचित नहीं है क्योंकि शास्त्रसे विरोध होनेपर तर्क खण्डित हो जाता है किन्तु शास्त्र खण्डित नहीं होता है। उसकी प्रवृत्ति होती ही है। स्पष्ट अर्थके बोधक अनेक वचनोंके अनुसार अस्पष्ट अर्थवाले वचनोंका अर्थ करना चाहिए। परमात्मा पापसे रहित है, जरासे रहित है, मृत्युसे रहित है, शोकसे रहित है, बुभुक्षासे रहित है और पिपासासे रहित है, सत्य कल्याणकारक गुणोंका आश्रय है और अप्रतिहत संकल्पवाला है- **एष आत्माऽपहतपाप्मा विजरो विमृत्युर्विशोको विजिघत्सोऽपिपासः सत्यकामः सत्यसंकल्पः**।(छां.उ.८.१.५) परमात्मा अवयवरहित है, कृतकृत्य है, अशनाया आदि षड् ऊर्मियोंसे रहित है, आश्रय न देना आदि दोषोंसे रहित है और असङ्गस्वभाववाला है- **निष्कलं निष्क्रियं शान्तं निरवद्यं निरञ्जनम्**।(श्वे.उ.६.१९), जो ब्रह्म सभीको स्वरूपतः जानता है और प्रकारतः जानता है- **यः सर्वज्ञः सर्ववित्**(मु.उ.१.१.१०) इत्यादि शास्त्रवचन ब्रह्मको निर्दोष तथा सर्वज्ञत्व आदि कल्याणकारक गुणोंका आश्रय बताते हैं। परब्रह्मने संकल्प किया कि मैं जगद्रूपसे बहुत हो जाऊँ- **तदैक्षत् बहु स्याम्**(छां.उ.६.२.३), परमात्मा सम्पूर्ण जगत्को वशमें करनेवाले हैं और उसके शासक हैं- **सर्वस्य वशी सर्वस्येशानः**(बृ.उ.४.४.२२) इत्यादि वचन परमात्माके सत्यसंकल्पसे जगत्की रचना तथा उनके अधीन जगत्को बताते हैं। इन शास्त्र वचनोंसे सिद्ध होता है कि सर्वज्ञ ब्रह्म भ्रान्त नहीं है और जगत् भ्रमसे दिखाई देनेवाली वस्तु नहीं है। ब्रह्मको भ्रमका आश्रय तथा जगत्को भ्रमका विषय माननेपर उक्त प्रमाणोंसे विरोध होता है, अतः ऐसा मानना उचित नहीं है। इससे स्पष्ट है कि ब्रह्मका तिरोधान एवं भ्रमको बतानेमें शास्त्रका तात्पर्य नहीं है। शंकाकार ब्रह्मका तिरोधान एवं भ्रम मानते हैं। तर्क शास्त्रविरुद्ध अर्थका खण्डन कर सकता है। इसलिए

निर्विशेषाद्वैत सिद्धान्तका खण्डन करनेके लिए यह तर्क प्रस्तुत करना उचित ही है कि प्रकाशस्वरूप ब्रह्मका तिरोधान माननेपर उसका नाश हो जायेगा, इसलिए ब्रह्मस्वरूपका तिरोधान मानना अप्रामाणिक है। ब्रह्मका स्वरूप दोषरहित है और वह स्वभावसे ही दोषोंका विरोधी है, इसलिए ब्रह्ममें अविद्या दोष हो ही नहीं सकता है। अपरिच्छिन्न ज्ञानानन्द ही ब्रह्मका स्वरूप है, ब्रह्ममें जड़त्व है ही नहीं, अननुकूलत्व भी नहीं है। वह ज्ञानस्वरूप है, आनन्दस्वरूप है। ब्रह्ममें विद्यमान कल्याणकारक गुण स्वाभाविक हैं। वे चरमसीमा तक पहुँचे हुए हैं। उन गुणोंसे बढ़कर कोई भी गुण अन्य किसीमें नहीं पाया जाता है। ब्रह्मके सर्वज्ञत्वादि गुण स्वाभाविक हैं। यह **स्वाभाविकी ज्ञान बल क्रिया च**।(श्वे.उ.६.८.) इस श्रुतिवाक्यसे प्रमाणित है, इसलिए सर्वज्ञ ब्रह्म भ्रम या अविद्याका आश्रय हो ही नहीं सकता है। जीवात्मा ज्ञानस्वरूप है- **विज्ञानात्मा पुरुषः**।(प्र.उ.४. ९) इत्यादि श्रुतिवचन जीवात्माको ज्ञानस्वरूप कहते हैं। ज्ञानरूपता ही स्वयंप्रकाशता है। शंकाकारने जो कहा था कि विशिष्टाद्वैतीको भी ज्ञानस्वरूप जीवात्माका तिरोधान स्वीकार करना होगा, ऐसी स्थितिमें विशिष्टाद्वैती जो समाधान करेंगे, वही हम करेंगे। शंकाकारका यह कथन उचित नहीं है क्योंकि विशिष्टाद्वैतवेदान्त-सिद्धान्तमें स्वयंप्रकाश जीवात्माका तिरोधान स्वीकार किया ही नहीं जाता है। तिरोधान तो आत्माके आश्रित रहनेवाले धर्मभूत ज्ञानका होता है। धर्मभूत ज्ञानका तिरोधान होनेसे धर्मी ज्ञानस्वरूप आत्माका तिरोधान उपचारसे कहा जाता है। जीवात्मा स्वयंप्रकाश ज्ञानस्वरूप है। इसके आश्रित एक ज्ञान रहता है, जिसे धर्मभूत ज्ञान कहा जाता है। जिस प्रकार दीप और उसकी प्रभा दोनों तेजोद्रव्य हैं, इनमें दीप धर्मी है, प्रभा उसका धर्म है, उसी प्रकार ज्ञानरूप आत्मा और उसका धर्मभूत ज्ञान दोनों ज्ञान द्रव्य हैं, इनमें आत्मा धर्मी है, ज्ञान उसका

धर्म है। जिस प्रकार दीपके स्वाभाविक धर्म प्रभाका संकोच-विकास होता है, उसी प्रकार आत्माके स्वाभाविक धर्म ज्ञानका भी कर्मसे संकोच-विकास होता है। विष्णुपुराणमें कहा गया है कि 'हे राजन्! कर्म नामवाली अविद्या तीसरी शक्ति मानी जाती है। जिससे आवृत हुए ज्ञानगुणवाला जीवात्मा कर्मानुसार देव, मनुष्यादि सभी शरीरोंमें रहकर सतत होनेवाले सभी प्रकारके सांसारिक तापोंको भोगता रहता है। हे राजन्! कर्म नामक अविद्यासे तिरोहित होनेके कारण जीवात्मा ज्ञानको लेकर विविध शरीरोंमें तारतम्यसे रहता है- **अविद्या कर्मसंज्ञाऽन्या तृतीयाशक्तिरिष्यते। यया क्षेत्रज्ञशक्तिः सा वेष्टिता नृप सर्वगा। संसारतापानखिलान् अनवाप्नोत्यतिसंततान् । तया तिरोहितत्वाच्च शक्तिः क्षेत्रज्ञसंज्ञिता। सर्वभूतेषु भूपाल तारतम्येन लक्ष्यते।**(वि.पु.६.७.६१-६३) यह शास्त्रवचन प्रकाशस्वरूप जीवात्माके धर्मभूतज्ञानका तिरोधान कहता है, जीवात्माका तिरोधान नहीं कहता है, इसलिए जीवात्माका तिरोधान न मानने पर उसका नाश भी नहीं प्राप्त होता है। शंकाकारके द्वारा प्रस्तुत तर्क शास्त्रविरुद्ध होनेसे त्याज्य है और हमारे द्वारा प्रस्तुत तर्क शास्त्रसम्मत होनेसे ग्राह्य है। ब्रह्ममें अविद्या और भ्रम आदि दोष न होनेपर भी संसारी जीवात्माओंमें ये दोष होते हैं क्योंकि उनका धर्मभूत ज्ञान कर्मनामक अविद्यासे संकुचित हो जाता है। विशिष्टाद्वैतियोंके शास्त्रप्रतिपाद्य इस सिद्धान्तका कोई भी तर्क खण्डन नहीं कर सकता है। यह निर्विशेषाद्वैत और सविशेषाद्वैत मतमें महान् भेद है। आत्माकी स्वयंप्रकाशता भ्रमकी विरोधी नहीं है। नित्यत्वेन, अणुत्वेन, शेषत्वेन और नियाम्यत्वेन अपनी आत्माका वृत्तिरूपज्ञान भ्रमका विरोधी होता है। शास्त्रके द्वारा नित्यत्वादिरूपसे आत्माका परोक्ष ज्ञान होता है तथा अभ्यासके द्वारा प्रत्यक्षज्ञान होता है। नित्यत्वादिरूपसे आत्माका प्रत्यक्ष ज्ञान भ्रमका विरोधी होता है।

ये नित्यत्वादि जीवके अविद्यात्मक-कर्ममूलक ईश्वरके संकल्पसे तिरोहित रहते हैं। नित्यत्वादिको विषय करनेवाले ज्ञानके प्रसारके अभावको ज्ञानका संकोच कहा जाता है। यही नित्यत्व आदिका तिरोधान है,, इसलिए आत्मस्वरूपसे अतिरिक्त उसके धर्मका तिरोधान स्वीकार करनेके कारण आत्माके नाशका प्रसङ्ग नहीं होता है। अतः सविशेषाद्वैतमत शास्त्र और तर्क दोनोंसे समर्थित है तथा निर्विशेषाद्वैतमत दोनोंसे विरुद्ध है।

शंका– आपके मतमें आत्माका असाधारण धर्म ज्ञान है और वह स्वयंप्रकाश है, इसलिए देहात्मबुद्धिरूप भ्रम होना ही नहीं चाहिए।

समाधान– धर्मभूतज्ञानके स्वयंप्रकाश होनेपर भी असाधारणत्वेन उसका प्रकाश नहीं होता है। असाधारणत्वेन प्रकाशित होनेवाला धर्म ही भ्रमका विरोधी देखा जाता है, जैसे-शुक्तित्व। शुक्तिके असाधारणधर्मरूपसे ज्ञात हुआ शुक्तित्व रजतभ्रमकी निवृत्ति करता है। उसके साधारण धर्मरूपसे ज्ञात हुआ इदन्त्व रजतभ्रमकी निवृत्ति नहीं करता है। स्वयंप्रकाशज्ञान आत्माके असाधारण धर्मरूपसे अनुभवमें न आनेसे देहात्मभ्रम संभव होता है। आत्माके असाधारणधर्मरूपसे ज्ञानका अनुभव न होनेसे अध्यास(देहात्मबुद्धि) होता है और अध्यास होनेसे आत्माके असाधारणधर्मरूपसे ज्ञान अनुभवमें नहीं आता है। इस प्रकार प्राप्त हुआ अन्योन्याश्रय प्रसङ्गका दोनोंके अनादि होनेसे परिहार हो जाता है।

शंका– धर्मभूतज्ञानका नित्यत्व और तिरोधान आप स्वीकार करते हैं। वह उचित नहीं है क्योंकि धर्मभूतज्ञानके तिरोधानका अर्थ उसका विनाश होता है।

समाधान– यह शंका उचित नहीं है क्योंकि ज्ञान द्रव्य है। ज्ञानस्वरूपसे अतिरिक्त उसकी संकोच-विकासरूप दो अवस्थाएं होती

हैं। इसलिए ज्ञानके तिरोधानका अर्थ है- कर्मसे ज्ञानका संकोच। संकोचकी निवृत्ति ही ज्ञानका प्रसार है। उसे ही प्रकाश कहा जाता है और वह अनित्य होता है। इस प्रकार धर्मभूतज्ञान अपनी अवस्थाओंके अनित्य होनेपर भी नित्य है। शांकरमतमें आत्मा निर्विशेष है, वह ज्ञानका आश्रय नहीं है। ज्ञान ही आत्माका स्वरूप है और अविद्यासे उसका तिरोधान होता है। अतः अविद्यासे आत्माके तिरोधानका अर्थ होगा- अविद्यासे आत्मस्वरूपका नाश। यह दोष निर्विशेषाद्वैत सिद्धान्तमें प्राप्त होता ही है। सविशेषाद्वैतसिद्धान्तमें आत्मा सविशेष है। धर्मी ज्ञानस्वरूप आत्माका अहन्त्वेन(प्रत्यक्त्वेन) सदा प्रकाश होता ही रहता है। आत्मामें ज्ञातृत्व आदि धर्म हैं, जो देह-इन्द्रियादिसे भिन्न आत्माका बोध कराते हैं। कर्मसे धर्मभूतज्ञान संकुचित होनेके कारण इन धर्मोंके प्रकाशित न होनेसे 'मैं देव हूँ', 'मैं मनुष्य हूँ', 'मैं मोटा हूँ', 'मैं पतला हूँ' इस प्रकार भ्रम होता है। इन धर्मोंका तिरोधान होनेपर भी आत्माका अहन्त्वेन सदा प्रकाश होनेके कारण उसके नाशका प्रसङ्ग ही नहीं होता है। निर्विशेषाद्वैतमतमें केवल ज्ञानस्वरूप आत्मा होनेके कारण उसके नाश होनेका प्रसङ्ग आ जाता है।

३.अविद्याके स्वरूपकी असिद्धि- 'ब्रह्मस्वरूपका आच्छादन तथा विविध भ्रमोंकी उत्पत्तिका मूल मिथ्यादोष अविद्या है' इत्यादि प्रकारसे पूर्वमें अविद्याके स्वरूपकी सिद्धि की गयी है। वह उचित नहीं है क्योंकि किसी भी प्रकार अविद्याके स्वरूपकी सिद्धि होती ही नहीं है। अविद्या मूल दोष हो ही नहीं सकती है। निर्विशेषाद्वैतमतानुसार मिथ्या पदार्थोंकी प्रतीतिका मूल दोष अविद्या होती है। जगत् मिथ्या है। उसकी प्रतीतिका मूलभूत दोष अविद्या है। अविद्या भी मिथ्या है। इसलिए इसकी प्रतीतिका मूल दोष इससे भिन्न कुछ होना चाहिए। उस दोषको पारमार्थिक माननेपर अद्वैतहानिका प्रसङ्ग

होता है और मिथ्या माननेपर उसके भी मूलदोषकी अपेक्षा होती है। इस प्रकार उत्तरोत्तर अपेक्षा होनेके कारण अनवस्था दोष प्राप्त होता है। अविद्याकी प्रतीतिके मूलदोषको परमार्थिक माननेपर अद्वैतहानिका प्रसङ्ग होता है।

यदि ऐसा कहना चाहें कि अविद्या अनादि है, उसकी प्रतीतिके लिए दूसरे दोषकी आवश्यकता नहीं है, तो यह कथन भी उचित नहीं है क्योंकि अविद्यावादी जीवभेदको अनादि मानते हैं और उसकी प्रतीतिका मूल दोष अविद्याको मानते हैं। इससे सिद्ध होता है कि अनादि मिथ्यापदार्थकी प्रतीतिके लिए भी दोषकी आवश्यकता होती है। अविद्या अनादि होनेपर भी मिथ्या है, इसलिए इसकी प्रतीतिके लिए भी मूलभूत दोषान्तरकी अपेक्षा है ही। वह मूल दोष क्या है? अन्य दोष स्वीकार करनेपर अनवस्था और अद्वैतहानिका प्रसङ्ग प्राप्त होता है। इनसे बचनेके लिए ब्रह्मको ही अविद्याकी प्रतीतिका मूलदोष मानना होगा, दूसरा दोष नहीं। ब्रह्म नित्य है, अतः ब्रह्मको सदा अविद्या एवं उसके कार्य मिथ्या जगत्का दर्शन होता रहेगा, उससे मुक्ति नहीं हो सकती है, यह दोष प्राप्त होता है। इस प्रकार अविद्याके स्वरूपका निराकरण हो जाता है, इसलिए जब तक ब्रह्मसे भिन्न कोई पारमार्थिक दोष स्वीकार नहीं करते हैं, तब तक भ्रान्तिका प्रतिपादन नहीं किया जा सकता है और पारमार्थिक दोष स्वीकार करनेपर अद्वैतहानिका वर्णन किया जा चुका है। इसका विस्तार श्रीभाष्यकी श्रुतप्रकाशिका व्याख्या और वेदार्थसंग्रहकी श्रुतप्रदीपिका व्याख्यामें देखना चाहिए।

४.अविद्याके अनिवर्चनीयत्वकी असिद्धि- निर्विशेषाद्वैती विद्वान् सदसद्से विलक्षण वस्तुको अनिर्वचनीय कहते हैं। वह उचित नहीं है क्योंकि वैसी वस्तु प्रमाणशून्य है, अतः विद्वानोंके समक्ष उसका प्रतिपादन नहीं किया जा सकता है। अविद्यानिरूपणके समय इसका

प्रतिपादन किया ही जा चुका है, तो आप इसे अप्रतिपाद्य कैसे कहते हैं? अप्रतिपाद्य कहनेका अभिप्राय यह है कि प्रतीति(ज्ञान) के अनुसार ही सभी वस्तुओंकी व्यवस्था होती है। सभी प्रतीतियाँ सदसदाकार होती हैं अर्थात् कोई प्रतीति **इदं सत्**(इदम् अस्ति) इस प्रकार सदाकार होती है और कोई प्रतीति **इदम् असत्**(इदं नास्ति) इस प्रकार असदाकार होती है। सदाकार प्रतीतिका विषय सद्वस्तु और असदाकार प्रतीतिका विषय असद् वस्तु होती है। इन प्रतीतियोंका विषय सदसद्विलक्षण वस्तु नहीं हो सकती है। सदसद्विलक्षणाकार कोई प्रतीति नहीं होती है, जिससे इनका विषय सदसद्विलक्षण अनिर्वचनीय वस्तु सिद्ध हो। सदासदाकार प्रतीतियोंका सदसद्विलक्षण विषय स्वीकार करनेपर सभी पदार्थोंको सभी प्रतीतियोंका विषय मानना होगा। ऐसी स्थितिमें घट प्रतीतिका विषय पट क्यों न माना जाय? और सदसद्विलक्षण प्रतीतिका विषय सद् वस्तु क्यों न मानी जाय? प्रतीतिके अनुसार ही विषयकी व्यवस्था होनेके कारण ज्ञान जिसे प्रकाशित करता है, वही ज्ञानका विषय होता है। ज्ञानसे प्रकाशित एक वस्तु हो और उससे भिन्न ज्ञानका विषय हो, ऐसा नहीं होता है। जो वस्तु सत् नहीं होती है, वह असत् होती है और जो असत् नहीं होती है, वह सत् होती है। सदसद्विलक्षण कोई वस्तु नहीं होती है। 'बाध होनेके कारण सत् नहीं कह सकते हैं और प्रतीति होनेके कारण असत् नहीं कह सकते हैं।' ऐसा जो अविद्यानिरूपणके समय कहा गया, वह भी उचित नहीं है क्योंकि वह बाध होनेके कारण असत् क्यों न हों? और प्रतीति होनेके कारण सत् क्यों न हों? घटः अस्ति इस प्रकार घट सत् प्रतीत होनेपर भी वह घट सद्रूप ब्रह्म और असत् शशविषाणादिसे विलक्षण है। इसी प्रकार अविद्या भी सदसद्विलक्षण सिद्ध हो जाती है, ऐसा जो पूर्वमें कहा गया वह भी उचित नहीं है

क्योंकि सद् घटादि और असत् शशविषाणादिसे विलक्षण ब्रह्म है। इस प्रकार ब्रह्म भी सदसद्विलक्षण सिद्ध हो जाता है। यदि कहना चाहें कि सत्त्वके साथ सदसद्विलक्षणत्व हमें इष्ट है तो यह कथन भी उचित नहीं है क्योंकि इस प्रकार सदसद्विलक्षणत्व कहते हुए आपने प्रकारान्तरसे उसमें सत्त्व स्वीकार कर ही लिया। इस प्रकार आपके कथनसे ही विरोध होनेके कारण पूर्वप्रतिपादित सदसद्विलक्षणत्वरूप अनिर्वचनीयत्व खण्डित हो जाता है। भेदका निरूपण करना सुगम है, ऐसा द्वैतवादी मानते हैं। भेदका निरूपण करना सुगम नहीं है, ऐसा अभेदवादी मानते हैं। ऐसा होनेपर दोनों प्रतीतियोंसे विरोध होनेके कारण सुनिरूप-दुर्निरूपसे विलक्षण भेद आपको स्वीकार करना चाहिए। इसी प्रकार किसीके मतमें संवित् सत्य है, किसीके मतमें मिथ्या, किसीके मतमें वह जड़ है, किसीके मतमें अजड़, किसीके मतमें नित्य है, किसीके मतमें अनित्य तो सत्यासत्यविलक्षण, जड़ाजड़विलक्षण और नित्यानित्यविलक्षण संवित् आपको स्वीकार करना चाहिए किन्तु ऐसा आपको स्वीकृत नहीं हो सकता है, इसलिए सदसद्विलक्षणत्वकी सिद्धि नहीं की जा सकती है। 'यदि अनिर्वचनीय वस्तु है', यह प्रमाणसे ज्ञात होता है तो वह सत् ही होती है। 'यदि अनिर्वचनीय वस्तु नहीं है' यह प्रमाणसे ज्ञात होता है तो वह असत् ही होती है। किसीरूपसे सत् होनेपर वह असत् नहीं हो सकती है। अन्य रूपसे असत् भी होनेपर सदसत् ही होगी, उससे विलक्षण नहीं हो सकती है। इसका विशेष वर्णन ख्याति प्रकरणमें देखना चाहिए -

५.अविद्यामें प्रमाणकी असिद्धि -

(क) प्रत्यक्षप्रमाण की असिद्धि– मैं अज्ञानी हूँ, स्वयं और दूसरेको नहीं जानता हूँ– **अहम् अज्ञः मामन्यं च न जानामि** इस प्रकार प्रत्यक्ष प्रमाणके द्वारा जगत्के कारण भावरूप अज्ञानकी सिद्धि होती है। यह प्रत्यक्ष अनुभव ज्ञानके प्रागभावको विषय नहीं करता है क्योंकि ज्ञानका प्रागभाव अनुपलब्धि प्रमाणका विषय है। उक्त अनुभव तो **अहं सुखी** इस अनुभवके समान प्रत्यक्ष है। प्रत्यक्ष अनुभव अभावको विषय करता है, ऐसा माननेपर भी उक्त अनुभव ज्ञानके प्रागभावको विषय नहीं कर सकता है। कहनेका अभिप्राय यह है कि 'मैं नहीं जानता हूँ' यह **अहम् अज्ञः** का अर्थ है। इस अनुभवमें 'अहम्' इस प्रकार ज्ञानाभावके अनुयोगिरूप(धर्मीरूप) से आत्माका ज्ञान और प्रतियोगिरूपसे ज्ञानका ज्ञान होता है? या नहीं? यदि ज्ञान होता है तो ज्ञान विद्यमान होने पर ज्ञानका अभाव नहीं हो सकता है और ज्ञानाभावके न होनेपर उसका अनुभव भी नहीं हो सकता है। ज्ञानके होनेपर ज्ञानाभावको माननेमें और ज्ञानाभाव न होनेपर उसका अनुभव माननेमें विरोध है। अभावके ज्ञानमें अनुयोगी और प्रतियोगीका ज्ञान कारण होता है। यदि अभावके अनुयोगी और प्रतियोगीका ज्ञान नहीं होता है तो उनकी अपेक्षा करनेवाला ज्ञानाभावका अनुभव नहीं हो सकता है। ज्ञानाभावको अनुमेय या अनुपलब्धि प्रमाका विषय माननेपर यह दोष समानरूपसे चरितार्थ होता है। अभावके ज्ञानमें ही अनुयोगी–प्रतियोगीका ज्ञान कारण है, भावके ज्ञानमें कारण नहीं है। अतः उक्त प्रत्यक्ष भावरूप अज्ञानको विषय करता है, ऐसा स्वीकार करना चाहिए। मायावादीका यह कथन उचित नहीं है क्योंकि अहम् अज्ञः इस अनुभवका विषय ज्ञानप्रागभाव माननेपर जो विरोध होता है, वही विरोध उस अनुभवका विषय 'भावरूप अज्ञान' मानने पर भी होता है। इस विषयमें यह प्रश्न होता है कि विषयत्वेन और आश्रयत्वेन अज्ञानके

व्यावर्तकरूपसे आत्मा ज्ञात है? या नहीं? यदि ज्ञात है तो आत्मस्वरूपके ज्ञानसे निवृत्त होनेवाला वह अज्ञान उसके ज्ञात होनेपर रह ही नहीं सकता है, इसलिए उक्त प्रत्यक्षका विषय वह भावरूप अज्ञान नहीं हो सकता है। यदि आत्मा अज्ञात है तो आश्रयत्वेन और विषयत्वेन व्यावर्तक आत्माके ज्ञान विना उसके अज्ञानका भी अनुभव नहीं होगा। यदि ऐसा कहना चाहें कि प्रमाणजन्य ज्ञानसे होनेवाला आत्मस्वरूपका जो अवभास है, वह विशद स्वरूपावभास है, उससे अज्ञानका विरोध होता है। अविशदस्वरूपावभाससे अज्ञानका विरोध नहीं होता है, इसलिए अविशद स्वरूपका अवभास होनेपर भी अज्ञान बना रहता है। इसकारण आश्रय अनुयोगी और प्रतियोगीका ज्ञान होनेपर भी अहमज्ञः इस प्रकार अज्ञानका अनुभव होता रहता है तो यह कथन भी उचित नहीं है क्योंकि इसी प्रकार विशदस्वरूपावभास ही ज्ञानके प्रागभावका विरोधी होता है, अविशद स्वरूपावभास विरोधी नहीं होता है। इसलिए आश्रय और प्रतियोगीका ज्ञान होनेपर भी ज्ञानप्रागभावरूप अज्ञानका अनुभव होता रहता है। इस प्रकार भावरूप अज्ञान पक्षमें जो समाधान होता है, वही समाधान अभावरूप अज्ञान पक्षमें भी हो सकता है। इस प्रकार स्वपक्षमें अभिनिवेशसे अतिरिक्त पूर्वपक्षीकी कोई विशेषता सिद्ध नहीं होती है। भावरूप अज्ञान सर्वसम्मत नहीं है, ज्ञानप्रागभाव तो पूर्वपक्षी भी स्वीकार करता है। अतः उभयमतसम्मत ज्ञानका प्रागभाव ही 'अहमज्ञः' इस अनुभवका विषय स्वीकार करना चाहिए। पूर्वमें जो कहा गया कि भावरूप अज्ञानके अनुभवमें प्रतियोगीके ज्ञानकी अपेक्षा नहीं है, वह उचित नहीं है क्योंकि भावरूप अज्ञान भी अज्ञानरूपसे ही सिद्ध होता है, इसलिए प्रागभावकी सिद्धिके समान इसकी सिद्धि भी प्रतियोगीके ज्ञानकी अपेक्षा करती है। अज्ञानके

तीन अर्थ होते हैं- ज्ञानाभाव, ज्ञानसे भिन्न और ज्ञानका विरोधी। तीनोंके ज्ञानके लिए प्रतियोगिस्वरूपके ज्ञानकी अपेक्षा होती है। यद्यपि तमके स्वरूपतः ज्ञानमें उसके प्रतियोगी प्रकाशके ज्ञानकी अपेक्षा नहीं होती है, तथापि प्रकाशके विरोधीरूपसे तमके ज्ञानमें प्रतियोगी प्रकाशके ज्ञानकी अपेक्षा होती ही है। इसी प्रकार सदा ज्ञानविरोधीरूपसे सिद्ध होनेवाले अज्ञानके ज्ञानमें प्रतियोगीके ज्ञानकी अपेक्षा होती ही है। इससे यह भी जान लेना चाहिए कि सोकर जगे मनुष्यका 'मैने कुछ नहीं जाना'- **न किञ्चिदवेदिषम्** यह स्मरण भी भावरूप अज्ञानको विषय नहीं करता है। सुषुप्तिकालमें साक्षीके द्वारा इस स्मरणके विषयका अनुभव किया गया है। वह अनुभव **अहम् अज्ञः, माम् अन्यं च न जानामि** इस आकारका ही है, इससे अतिरिक्त नहीं है।

(ख)अनुमानप्रमाणकी असिद्धि- विवादास्पद प्रमारूपज्ञान किसी ऐसी वस्तुके बादमें होता है, जो ज्ञानके प्रागभावसे भिन्न, ज्ञानके विषयको आवरणकरनेवाली, ज्ञानके द्वारा निवृत्त होनेवाली तथा ज्ञानके स्थानमें स्थित रहती है, अप्रकाशित अर्थका प्रकाशक होनेसे, अन्धकारमें प्रथम उत्पन्न हुई दीपककी प्रभाके समान- **विवादास्पदं प्रमाणज्ञानं स्वप्रागभावव्यतिरिक्त-स्वविषयावरण-स्वनिवर्त्य-स्वदेशगतवस्त्वन्तरपूर्वकम् अप्रकाशितार्थप्रकाशकत्वाद् अन्धकारे प्रथमोत्पन्नप्रदीपप्रभावत्**। इस अनुमानसे भावरूप अज्ञानकी सिद्धि होती है। अनुमानवाक्यमें वस्त्वन्तरके विशेषण हैं- स्वप्रागभावव्यतिरिक्तत्व, स्वविषयावरणत्व, स्वनिवर्त्यत्व और स्वदेशगतत्व। इन विशेषणोंसे विशिष्ट अज्ञान भावरूप सिद्ध होता है। जैसे अन्धकारमें दीपककी प्रथमोत्पन्न प्रभा अन्धकारको हटाकर अप्रकाशित वस्तुको प्रकाशित करती है, वैसे ही अन्धकारके समान विद्यमान किसी वस्तुको हटाकर प्रमारूप ज्ञान भी अप्रकाशित

वस्तुको प्रकाशित करता है। ज्ञानसे जो वस्तु हटायी जाती है। वह अज्ञान है, वह भावरूप है। पञ्चपादिकाविवरणकार का अविद्यासाधक उपर्युक्त अनुमान प्रयोग भी उचित नहीं है क्योंकि भावरूप अज्ञानकी सिद्धिके लिए प्रस्तुत अनुमान अनुमानाभास है। उक्त अनुमानसे जन्य अज्ञानकी अनुमिति भी प्रमारूप ज्ञान है। वह अप्रकाशित अर्थकी प्रकाशक होती है। अप्रकाशितार्थप्रकाशकत्व हेतुके अधिकरण अज्ञानकी अनुमितिरूप पक्षमें उक्त साध्य रहता है या नहीं? यदि साध्य रहता है तो बन्धनका कारण अभीष्ट भावरूप अज्ञानके पूर्व भी एक भावरूप अज्ञान सिद्ध होता है और ऐसा होनेपर पूर्वपक्षीके द्वारा अनुमेय अज्ञान बन्धनका कारण मूल अज्ञान नहीं हो सकता है। दो अज्ञान सिद्ध होनेसे अपसिद्धान्त दोष भी उपस्थित होता है। पूर्व अज्ञान ब्रह्मस्वरूपके आच्छादक सिसाधयिषित अज्ञानका आवरण करता है। आवृत होनेसे वह अज्ञान ब्रह्मस्वरूपसे प्रकाशित नहीं होगा। ऐसा होनेपर ब्रह्मस्वरूप सभीको प्रकाशित करता है, यह कथन सिद्ध नहीं होगा। मिथ्या वस्तु विना प्रकाशित हुए ब्रह्मस्वरूपका तिरोधानरूप कार्य नहीं कर सकती है, इसलिए इस अज्ञानकी कल्पना ही व्यर्थ है क्योंकि तिरोधान के लिए ही उसकी कल्पना की जाती है। यदि अज्ञान विना प्रकाशित हुए तिरोधानरूप कार्यको करेगा, तब तो उसे अपनी सत्तासे कार्य करनेवाला मानना होगा। ऐसी स्थितिमें काच(नेत्र का रोगविशेष) आदि दोषके समान अज्ञान सत्य होगा और सत्य होनेसे ज्ञानद्वारा निवृत्त नहीं होगा। निवृत्त न होनेसे सदा बन्धन ही रहेगा, मुक्ति कभी नहीं होगी और ऐसा होनेपर मोक्षप्रतिपादक शास्त्र व्यर्थ होगा। जैसे अज्ञानकी अनुमितिके विषय अज्ञानके पूर्व एक अन्य अज्ञानकी अनुमिति होती है, वैसे ही इस अनुमितिके विषय अज्ञानकी अनुमितिके पूर्व एक और अज्ञान मानना होगा। इसी प्रकार

उत्तरोत्तर अज्ञानकी अनुमिति करनेपर अनवस्था दोष भी प्राप्त होता है। यदि हेतुके अधिकरणमें साध्य नहीं रहता है तो व्यभिचार दोष उपस्थित होता है।

प्रदीपप्रभा दृष्टान्तमें उक्त हेतु नहीं रहता है। विषयका प्रकाश होनेपर ही वह ग्रहण-त्यागरूप व्यवहारके योग्य होता है। प्रकाशका अर्थ है- व्यवहारकी योग्यता। इसके होनेपर ही विषय व्यवहारके योग्य होता है। व्यवहारकी योग्यतारूप प्रकाशको करनेवाला ज्ञान ही होता है, प्रदीपप्रभा नहीं होती है। इसलिए दृष्टान्तमें अप्रकाशितार्थप्रकाशकत्व हेतु नहीं रहता है। सर्वत्र विषयका प्रकाशक ज्ञान ही होता है। प्रदीपकी प्रभा प्रकाशक नहीं होती है। यदि प्रदीपप्रभा प्रकाशक होती तो उसके होने पर ज्ञानके विना ही विषयका प्रकाश होना चाहिए किन्तु ऐसा नहीं होता है। इससे सिद्ध होता है कि प्रदीपकी प्रभा विषयकी प्रकाशक नहीं है। इन्द्रियाँ विषयके प्रकाशक ज्ञानकी उत्पत्तिमें हेतु ही होती हैं, वे भी प्रकाशक नहीं होती हैं। चक्षुइन्द्रियसे जन्य ज्ञानकी उत्पत्तिके विरोधी अन्धकारको हटाकर प्रदीपकी प्रभा चक्षुका उपकारमात्र करती है। इस प्रकार प्रकाशक ज्ञानकी उत्पत्तिमें व्याप्रियमाण चक्षुका उपकार करने के कारण प्रदीपप्रभा को लक्षणावृत्तिसे प्रकाशक कह दिया जाता है। यदि कहना चाहें कि प्रदीपप्रभाको ज्ञानके समान प्रकाशक स्वीकार क़रके दृष्टान्त नहीं कहा है बल्कि अपने विषयके आवरण तमका निरास करनेके कारण प्रकाशक कहा है तो यह कथन भी उचित नहीं है क्योंकि ज्ञानके विषयके आवरणको हटानामात्र प्रकाशक होना नहीं है बल्कि अर्थपरिच्छेद अर्थात् व्यवहारकी योग्यता का सम्पादन करना ही प्रकाशक होना है, वैसा प्रकाशकत्व ज्ञानका ही होता है। यदि उपकार करने वाले कारणको भी अप्रकाशित अर्थका प्रकाशक कहना इष्ट हो तो ज्ञानोत्पत्तिमें इन्द्रियाँ

अत्यन्त उपकारक होनेसे उन्हें अप्रकाशितार्थप्रकाशक मानना चाहिए। ऐसा मानने पर इन्द्रियों में हेतु रहने पर भी साध्य न रहने से हेतु व्यभिचारी हो जाता है। इस प्रकार उक्त हेतु हेत्वाभास होनेसे साध्यकी सिद्धि नहीं कर सकता है। अब पूर्वोक्त अनुमानके विरोधी तर्क प्रस्तुत किये जाते हैं–

१.विवादाध्यासितम् अज्ञानम् न ज्ञानमात्रब्रह्माश्रयम् अज्ञानत्वात् शुक्तिकाद्यज्ञानवत् ज्ञात्राश्रितम् (अहमर्थाश्रितम्) हि तत्। अज्ञानका आश्रय ब्रह्म है या ब्रह्मभिन्न है। इस प्रकार अज्ञान विवादास्पद होता है। अप्रमाणिक भावरूप अज्ञान और ज्ञानमात्र ब्रह्म को स्वीकार करके यह प्रतिकूल तर्क कहा जाता है। इसके द्वारा पूर्व अनुमानवाक्यमें कहे गये अज्ञानके स्वदेशगतत्व विशेषण का निराकरण होता है। इससे अज्ञानकी ज्ञानरूप ब्रह्ममें अविद्यमानता सिद्ध होती है।

२.विवादाध्यासितम् अज्ञानम् न ज्ञानमात्रब्रह्मावरणम् अज्ञानत्वात् शुक्तिकाद्यज्ञानवत् विषयावरणं हि तत्। इसके द्वारा अज्ञानके स्वविषयावरणत्व विशेषणका निरास किया जाता है। इस प्रकार अज्ञान ब्रह्मस्वरूपका आच्छादक सिद्ध नहीं होता है।

३.**विवादाध्यासितम् अज्ञानम् न ज्ञाननिवर्त्यम् ज्ञानविषयानावरणत्वात्, यत् ज्ञाननिवर्त्यम् अज्ञानम्, तत् ज्ञानविषयावरणम्, यथा शुक्तिकाद्यज्ञानम्।** इसके द्वारा ज्ञाननिवर्त्यत्व विशेषणका निराकरण किया जाता है। ३.विवादाध्यासितम् अज्ञानम् न ज्ञाननिवर्त्यम् ज्ञानविषयानावरणत्वात्, यत् ज्ञाननिवर्त्यम् अज्ञानम्, तत् ज्ञानविषयावरणम्, यथा शुक्तिकाद्यज्ञानम्। इसके द्वारा ज्ञाननिवर्त्यत्व विशेषणका निराकरण किया जाता है।

४.**ब्रह्म न अज्ञानास्पदं ज्ञातृत्वविरहात् घटादिवत्।** इससे ब्रह्मके अज्ञानाश्रयत्वका निराकरण किया जाता है।

५.**ब्रह्म न अज्ञानावरणं ज्ञानाविषयत्वात् यद् अज्ञानावरणं तत् ज्ञानविषयभूतम् यथा शुक्तिकादि।** इसके द्वारा अज्ञानसे ब्रह्मके आच्छादित होनेका खण्डन किया जाता है।

६.**ब्रह्म न ज्ञाननिवर्त्याज्ञानम् ज्ञानाविषयत्वात् यत् ज्ञाननिवर्त्याज्ञानम् तत् ज्ञानविषयभूतम् यथा शुक्तिकादि।** इसके द्वारा ब्रह्मका अज्ञान ज्ञाननिवर्त्य सिद्ध नहीं होता है क्योंकि वैसा माननेपर ब्रह्मके ज्ञेय होनेका प्रसङ्ग होगा।

७.**विवादाध्यासितं प्रमाणज्ञानं स्वप्रागभावातिरिक्ताज्ञानपूर्वकं न भवति, प्रमाणज्ञानत्वात् भवदभिमताज्ञानसाधनप्रमाणज्ञानवत्।** इसके द्वारा अज्ञानकी भावरूपता का निराकरण होता है।

८.भावरूप अज्ञान ज्ञानसे विनष्ट नहीं होता है, भावरूपता होनेसे घटादिके समान - **भावरूपमज्ञानं न ज्ञानविनाश्यं भावरूपत्वात् घटादिवत्।** यदि कहना चाहें कि पूर्वकालिक भ्रान्तिज्ञानसे जन्य भयादिका बाधक ज्ञानसे विनाश देखा जाता है तो यह कहना भी उचित नहीं है क्योंकि भयादिका ज्ञानसे विनाश नहीं होता है, वे क्षणिक होनेसे स्वयं ही नष्ट हो जाते हैं और भयके कारण मिथ्याज्ञानकी निवृत्ति होने से बादमें उत्पन्न नहीं होते हैं।

(ग)श्रुति प्रमाणकी असिद्धि- सभी जीव अविद्यासे आच्छादित हैं- **अनृतेन हि प्रत्यूढाः**।(छा.उ.८.३.२) यह श्रुति अनिर्वचनीय अज्ञानमें प्रमाण है, यह कथन उचित नहीं है क्योंकि अनृत शब्द अनिर्वचनीय अज्ञानका बोधक नहीं है। वह ऋत् से भिन्न अर्थका बोधक है। कर्मफलको भोगते हुए- **ऋतं पिबन्तौ**(क.उ.१.३.१) इस वचनके अनुसार ऋत शब्द कर्मका वाचक है, सत्यका वाचक नहीं

है। कर्मका बोधक होनेपर भी कर्मसामान्यका बोधक नहीं है बल्कि उसी श्रुतिमें **सुकृतस्य लोके** ऐसा कहे जानेसे सुकृतका बोधक है। सांसारिक फलकी इच्छा और कर्तृत्वाभिमानसे रहित होकर किये गए परब्रह्मकी प्राप्तिरूप फलवाले, आराधनात्मक कर्म 'ऋत' कहे जाते हैं। पापके समान पुण्य भी मोक्षप्राप्तिका विरोधी है, इसलिए ऋतसे भिन्न सांसारिक फल देनेवाले ब्रह्मप्राप्तिके विरोधी पुण्य और पाप दोनों ही अनृत शब्दसे कहे जाते हैं। इन कर्मोंसे ही आच्छादन होता है। यही अर्थ "सभी प्रजा कर्मरूप अविद्यासे आच्छादित है, इसलिए दहराकाश पदके वाच्य इस ब्रह्मरूप लोकको नहीं जानती है"- **एतं ब्रह्मलोकं न विन्दन्ति, अनृतेन हि प्रत्यूढाः**।(छा.उ.८.३.२) इस छान्दोग्य श्रुतिसे भी सिद्ध है। सृष्टिके पूर्वकालमें सत् नहीं था, असत् नहीं था, तम था, आच्छादिका अविद्यासे तिरोहित उसका अधिष्ठानभूत ब्रह्म था- **नासदासीन्नो सदासीत्तदानीम्। तम आसीत्तमसा गूढमग्रे प्रकेतम्**।(तै.ब्रा.२.८.६.८) यह श्रुति सदसदसे अनिर्वचनीय अज्ञानको कहती है। निर्विशेषाद्वैतीका यह कथन भी उचित नहीं है क्योंकि वह भी अनिर्वचनीय अज्ञानका प्रतिपादन नहीं करती है। परमात्मा उसमें अनुप्रवेश करके सत् और त्यत् हो गया- **तदनुप्रविश्य सच्च त्यच्चाभवत्**। (तै.उ.२.६.३) यह श्रुति सत् पदसे जिस सृज्यमान(कार्यावस्थापन्न) चेतन जीव और त्यत् पदसे सृज्यमान अचेतन पदार्थको कहती है, पूर्वोक्त श्रुतिमें उसी चेतन जीवका वाचक 'सत्' पद और अचेतनका वाचक 'असत्' पद है। इस प्रकार **नासदासीन्नो सदासीत् तदानीम्** यह श्रुतिवाक्य प्रलयकालमें कार्यावस्थावाले चेतन जीव और अचेतन पदार्थके अभावका प्रतिपादन करता है और **तम आसीत् तमसा गूढमग्रे प्रकेतम्** यह श्रुतिवाक्य प्रलयकालमें उन दोनोंका तम शब्दके वाच्य वस्तुमें लीन होने का प्रतिपादन करता है। सृष्टिके पूर्वकालमें तम

था। व्याष्टि(कार्यावस्थावाला) चेतनाचेतनात्मक जगत् तममें लीन था। यह द्वितीय वाक्यका अर्थ है। इस श्रुतिमें आये तम पदका अर्थ- चेतनाचेतन समष्टि है। यही **अव्यक्तमक्षरे लीयते, अक्षरं तमसि लीयते, तमः परे देवे एकी भवति।**(सु.उ.२) इस श्रुतिसे भी ज्ञात होता है। इसकी व्याख्या प्रकृति प्रकरणमें द्रष्टव्य है।

शंका- तम शब्दके द्वारा सूक्ष्मावस्थापन्न अर्थात् कारणावस्थावाली प्रकृति कही जाती है। आपका यह कथन सत्य है किन्तु उसीका **मायां तु प्रकृतिं विद्यात्**(श्वे.उ.४.१०) इस प्रकार मायाशब्दसे प्रतिपादन होनेके कारण तम अनिर्वचनीय अज्ञान ही सिद्ध होता है, उससे भिन्न सिद्ध नहीं होता है।

समाधान- यह शंका उचित नहीं है क्योंकि शास्त्रोंमें कहीं भी अनिर्वचनीय अज्ञानका बोधक मायाशब्द नहीं देखा जाता है। मायाशब्द मिथ्याका पयार्य होनेके कारण **मायां तु प्रकृतिं विद्यात्** इस श्रुतिमें ही अनिर्वचनीय वस्तुका बोधक है। यह कथन भी उचित नहीं है क्योंकि वहाँ भी माया शब्द मिथ्याका पर्याय नहीं है। असुर और राक्षस आदिके सत्य अस्त्र-शस्त्रोंके लिए माया शब्दका प्रयोग देखा जाता है। बालक प्रह्लादके शरीरकी रक्षा करनेमें प्रवृत्त भगवान् विष्णुके शीघ्रगामी सुदर्शन चक्रने शम्बरासुरके द्वारा प्रयुक्त असंख्य मायाको एक-एक करके काट दिया- **तेन मायासहस्त्रं तच्छम्बरस्याशुगामिना। बालस्य रक्षता देहमेकैकं च निषूदितम्**(वि.पु. १.१६.२०) ज्ञानसे बाधित होनेवाली मायाका एक एक करके शस्त्रसे काटना संभव नहीं है किन्तु इस श्लोकमें चक्रके द्वारा एक-एक करके काटना कहा गया है। इसकारण यहाँ माया शब्द सत्य आयुधोंका वाचक है। इस प्रकार यहाँ माया शब्द आश्चर्यमय वस्तुका वाचक है, मिथ्या अर्थका वाचक नहीं है। आश्चर्यमय पदार्थोंकी सृष्टि करनेके कारण **मायां तु प्रकृतिं विद्यात्** यहाँ पर

माया शब्दसे आश्चर्यमय प्रकृति कही गयी है। मायाके प्रेरक परमात्मा माया शब्दके वाच्य प्रकृतिसे जगत्को उत्पन्न करते हैं। उसमें जीव मायासे मोहित हो जाता है- **अस्मान् मायी सृजते विश्वमेतत् तस्मिंश्चान्यो मायया संनिरुद्धः**।(श्वे.उ.४.६) इस प्रकार माया शब्दकी वाच्य विचित्र सृष्टि की साधन प्रकृति कही जाती है। मायाका अधिपति होनेसे परमपुरुषको मायी कहा जाता है, अज्ञानी होनेसे मायी नहीं कहा जाता है। **तस्मिंश्चान्यो मायया संनिरुद्धः** इस प्रकार जीवका ही बन्धन कहा जाता है। सर्वेश्वर अपनी मायासे नानारूप धारण करते हैं- **इन्द्रो मायाभिः पुरुरूप ईयते**।(बृ.उ.२.५.१६) यहाँ पर मायाशब्दसे परमेश्वरकी विविध-विचित्र शक्तियाँ कही जाती हैं। अपनी मायासे अवतार लेता हूँ- **संभवाम्यात्ममायया**(गी.४.६) इस प्रकार माया शब्दसे भगवान्का संकल्प कहा जाता है। मेरी त्रिगुणात्मिका प्रकृतिका अतिक्रमण करना कठिन है- **गुणमयी मम माया दुरत्यया**। (गी.७.१४) यहाँ पर गुणमयी शब्दका प्रयोग होनेसे मायाशब्दके द्वारा त्रिगुणात्मिका प्रकृति ही कही जाती है, अनिर्वचनीय अज्ञान नहीं कहा जाता है। जादूगर अपनी मायासे सभी कार्य करता है। इस लौकिक वाक्यमें मायाशब्द सत्य मन्त्र और सत्य औषधका बोधक है, मिथ्या पदार्थका बोधक नहीं है। इस विवेचनसे सिद्ध होता है कि मायापद सर्वत्र आश्चर्यमय पदार्थोंका वाचक है। अतः क्वचिद् मिथ्या अर्थ में प्रयुक्त माया पद लाक्षणिक जानना चाहिए।

(घ.) अर्थापत्ति प्रमाणकी असिद्धि- तत्त्वमसि(छा.उ.६.८.७) यह श्रुति 'तत्' और 'त्वम्' पदके अर्थोंकी एकताका उपदेश करती है। तत् पदका अर्थ जगत्के जन्मादिका कर्ता, सर्वज्ञ, सत्यसंकल्प ब्रह्म और त्वम् पदका इससे विपरीत जीव अर्थ है। ब्रह्माश्रित अविद्याके विना उस ऐक्योपदेशकी अनुपपत्ति होती है। उस उपदेशकी उपपत्ति

तभी संभव है, जब ब्रह्ममें अविद्या स्वीकार कर ली जाय। इस प्रकार ऐक्योपदेशकी अनुपपत्तिरूप अर्थापत्तिप्रमाणसे अविद्याकी सिद्धि होती है। यह कथन भी उचित नहीं है क्योंकि उक्तश्रुतिमें 'त्वम्' पद भी समक्ष विद्यमान जीवके अन्तरात्मा ब्रह्मको ही कहता है। जीवके अन्तर्यामीरूपसे अनुप्रवेश करके नामरूपका विभाग करूँ- **अनेन जीवेनात्मनाऽनुप्रविश्य नामरूपे व्याकरवाणि**।(छा.उ.६.३.२) इस श्रुतिसे ब्रह्मपर्यन्त सभी वस्तुओंके नामरूप ज्ञात होते हैं, अतः ऐक्योपदेश मुख्यवृत्तिसे ही संभव हो जाता है और ब्रह्ममें अप्रमाणिक अज्ञानकी कल्पना नहीं करनी पडती है। इस प्रकार अर्थापत्तिप्रमाणसे भी अविद्याकी सिद्धि नहीं होती है।

६.अविद्याके निवर्तकज्ञानकी असिद्धि- 'ऐक्यज्ञान अदिद्याका निवर्तक होता है। वह ज्ञान वेदान्तश्रवणसे उत्पन्न होता है।' ऐसा निर्विशेषाद्वैती विद्वान् मानते हैं किन्तु निवर्तकज्ञानकी सिद्धि होती ही नहीं क्योंकि निवर्तकज्ञान प्रभाणसे जन्य है और वृत्तिरूप है, इसलिए ब्रह्मसे भिन्न है। ब्रह्मसे भिन्न होनेके कारण वह अविद्याका कार्य है, इसलिए जब तक निवर्तक ज्ञान रहेगा, तब तक अविद्या भी रहेगी। निवर्तक ज्ञानके निवृत्त होनेपर ही पूर्णरूपसे अविद्याकी निवृत्ति होगी । यहाँ यह प्रश्न उपस्थित होता है कि निवर्तक ज्ञानकी निवृत्ति किससे होती है? इसके उत्तरमें यह कहा जाता है कि निवर्तक ज्ञान अपनी निवृत्तिके लिए दूसरे निवर्तककी अपेक्षा नहीं करता है। वह अपनेसे भिन्न समग्र भेदकी निवृत्ति करके अन्तमें स्वयं निवृत्त हो जाता है क्योंकि सभी ज्ञान क्षणिक होनेसे निवर्तक ज्ञान भी क्षणिक है, इसलिए भेदकी निवृत्ति करके स्वयं निवृत्त होना उचित है। जैसे काष्टमें लगी अग्नि काष्ठको निवृत्तकर(जलाकर) अन्तमें स्वयं निवृत्त हो जाती है तथा लोकमें जब विषको निवृत्त(नष्ट) करने लिए विषका प्रयोग किया जाता है,

तब उत्तरविष पूर्व विषको निवृत्त करके अन्तमें स्वयं निवृत्त हो जाता है, वैसे ही ऐक्यज्ञान सम्पूर्ण भेदोंकी निवृत्ति करके स्वयं निवृत्त हो जाता है। निर्विशेषाद्वैतियोंका यह कथन उचित नहीं है। निवर्तकज्ञान जन्य होनेसे ब्रह्मव्यतिरिक्त है, ब्रह्मव्यतिरिक्त होनेसे मिथ्या है- कल्पित है। इसकी उत्पत्ति, स्थिति और विनाश कल्पित हैं, वे सत्य नहीं है। यदि निवर्तक ज्ञान स्वयं नष्ट(निवृत्त) होता है, ऐसा माना जाय तो निवर्तक ज्ञानका विनाश मानना पड़ेगा। ब्रह्मेतर सब अविद्याका कार्य है, इसलिए विनाशके होनेपर उसकी हेतु अविद्या भी माननी पड़ेगी। ऐसी कोई वस्तु नहीं है। जिसका प्रकाश(ज्ञान) ब्रह्मको न होता हो, इसलिए विनाशका ज्ञान भी मानना पड़ेगा। विनाश मिथ्या पदार्थ है, उसका ज्ञान भ्रमरूप होता है। इस भ्रमका आश्रय भी मानना होगा। भ्रमकी हेतु अविद्या भी माननी होगी, इस भ्रम तथा उसके हेतु अविद्याकी निवृत्ति कैसे होती है? इसका उत्तर देना चाहिए। यहाँ जो अग्नि और विषका दृष्टान्त दिया गया। वह भी उचित नहीं है क्योंकि अग्नित्वावस्थाको छोड़कर दूसरी विरोधी अवस्थाको प्राप्त होना ही अग्निका विनाश है और विषत्वावस्थाको छोड़कर दूसरी विरोधी अवस्थाकी प्राप्ति ही विषका विनाश है। इस प्रकार यदि अविद्यानाशके प्रसङ्गमें यह माना जाय कि अविद्या विरोधी अवस्थाको प्राप्त हो गयी है, तब तो अविद्याका सर्वथा नाश सिद्ध नहीं होता है प्रत्युत अविद्याकी रूपान्तरसे स्थिति सिद्ध होती है। इस प्रकार अविद्याके निवर्तक ज्ञान की असिद्धिका निरूपण किया गया। निवर्तक ज्ञानका कर्त्ता कौन है? अब प्रसङ्गवशात् इसकी समालोचना की जा रही है।

निवर्तक ज्ञानके कर्ताकी असिद्धि- ज्ञाताको ज्ञानका कर्ता कहा जाताा है। वह ज्ञानका आश्रय होता है। सभी ज्ञान किसी न किसी ज्ञाताका आश्रय लेकर ही रहते हैं। ब्रह्मसे व्यतिरिक्त सम्पूर्ण प्रपञ्चकी

निवृत्ति करनेवाले निवर्तक ज्ञानका आश्रय ज्ञाता कौन है? यदि ब्रह्ममें आरोहित अहंकारको ज्ञाता माना जाय तो यह उचित नहीं है क्योंकि अहंकार ब्रह्मव्यतिरिक्त होनेसे निवर्त्य है अर्थात् निवर्तक ज्ञानका कर्म है। कर्म और कर्ता भिन्न भिन्न होते हैं, इसलिए निवर्तकज्ञानका कर्म बननेवाला अहंकार निवर्तक ज्ञानका कर्ता नहीं बन सकता है। कर्म बननेवाले अहंकारको कर्ता माननेपर कर्म-कर्तृभाव विरोध प्राप्त होता है। यदि निवर्तक ज्ञानका ज्ञाता ब्रह्म ही माना जाय तो यह भी उचित नहीं है क्योंकि इस पक्षमें यह प्रश्न उपस्थित होता है कि निवर्तकज्ञानके प्रति ब्रह्मका जो ज्ञातृत्व है, क्या वह ज्ञातृत्व ब्रह्मका स्वाभाविक धर्म है? या आरोपित धर्म है? इनमें द्वितीयपक्ष उचित नहीं क्योंकि ज्ञातृत्व ब्रह्मका आरोपित धर्म होनेपर निवर्तक ज्ञानके कालमें भी ब्रह्ममें ज्ञातृत्वका आरोप मानना होगा और आरोपकी हेतु अविद्या भी माननी होगी। ये दोनों निवर्तक ज्ञानके विषय नहीं होंगे, इसलिए उसके द्वारा इन दोनोंकी निवृत्ति भी नहीं होगी, यह दोष प्राप्त होता है। इस दोषका निराकरण करनेके लिए यदि इन दोनोंकी निवृत्ति दूसरे निवर्तक ज्ञानसे स्वीकार की जाय तो दूसरा निवर्तक ज्ञान होनेपर भी ज्ञाता, ज्ञान और ज्ञेय ऐसी त्रिपुटी अवश्य होगी, विना त्रिपुटीके कोई ज्ञान होता ही नहीं है। किसी ज्ञाताके प्रति किसी अर्थकी सिद्धि ही ज्ञान होती है। अर्थ ज्ञेय होता है और पुरुष ज्ञाता होता है। ऐसा होनेपर यह प्रश्न उपस्थित होता है कि दूसरे निवर्तक ज्ञानका ज्ञाता कौन है? प्रथम निवर्तक ज्ञानके समान यदि द्वितीय निवर्तकज्ञानके प्रति ब्रह्मका आरोपित ज्ञातृत्व स्वीकार किया जाय तो यह दोष उपस्थित होता है कि द्वितीय निवर्तकज्ञानके कालमें भी ब्रह्मके ज्ञातृत्वका आरोप और उसकी कारण अविद्या रहती है। उसे निवृत्त करनेके लिए तृतीय निवर्तक ज्ञानकी अपेक्षा होगी। इसी प्रकार आगे चतुर्थ

आदि निवर्तकज्ञान की अपेक्षा होनेसे अनवस्था दोष प्राप्त होता है। यदि कहें कि निवर्तकज्ञानमें त्रिपुटी नहीं है, तो ऐसा भी नहीं कह सकते हैं क्योंकि सभी वृत्तिज्ञानोंमें त्रिपुटी नियत होती है। त्रिपुटी न होनेपर ज्ञान ही नहीं होगा। जिस प्रकार ब्रह्मका स्वरूप ज्ञान होनेपर भी वह त्रिपुटीशून्य होनेके कारण प्रपञ्चका निवर्तक नहीं होता है। इसी प्रकार निवर्तकज्ञान भी त्रिपुटीशून्य होनेके कारण प्रपञ्चका निवर्तक नहीं होगा, ऐसा होनेपर बन्धन सदा बना ही रहेगा। इन दोषोंको दूर करनेके लिए यदि ऐसा माना जाय कि निवर्तकज्ञानके प्रति ब्रह्मका जो ज्ञातृत्व है। वह स्वाभाविक है, तब तो निर्विशेषाद्वैतियोंके द्वारा सविशेषाद्वैतियोंका पक्ष स्वीकार करना होगा क्योंकि सविशेषाद्वैतियोंके सिद्धान्तमें ब्रह्मका स्वाभाविक ज्ञातृत्व माना जाता है। निर्विशेषाद्वैत मतमें ब्रह्मके ज्ञातृत्वको स्वाभाविक स्वीकार करनेपर अपसिद्धान्त दोष प्राप्त होता है क्योंकि निर्विशेषाद्वैतियोंके मतमें ब्रह्म निर्धर्मक है, ज्ञातृत्व उसका स्वाभाविक धर्म नहीं हो सकता है। यदि कहना चाहें कि निवर्तक ज्ञानके द्वारा जो निवर्त्य है। उस निवर्त्यकोटिके अन्तर्गत निवर्तक ज्ञान और ज्ञातृत्व भी हैं इसलिए वे निवर्तकज्ञानसे ही निवृत्त हो जाते हैं। इसकारण उनके लिए अन्य निवर्तक ज्ञानकी आवश्यकता नहीं होती है। निर्विशेषाद्वैतियोंका यह कथन हास्यास्पद है। जैसे- देवदत्तने भूमिसे अतिरिक्त सभीको काट डाला। इस वाक्यकी यदि ऐसी व्याख्या की जाय कि देवदत्तने अन्य पदार्थोंके काटनेके समान छेदन क्रिया और छेदनक्रियाके प्रति अपने कर्तृत्वको भी काट डाला तो इस प्रकार उक्त वाक्यकी व्याख्या हास्यास्पद है। यह सभीके अनुभवसे सिद्ध है कि देवदत्तने अन्य पदार्थोंको अवश्य काटा है किन्तु छेदन क्रिया और उसके कर्तृत्वको नहीं काटा है, वैसे ही निवर्तकज्ञानने ब्रह्मभिन्न सबको निवृत्त कर दिया। इस वाक्यकी यदि ऐसी व्याख्या की जाय

कि निवर्तकज्ञानने अन्य प्रपञ्चको निवृत्त करनेके समान अपनेको और उसके ज्ञातृत्वको भी निवृत्त कर दिया तो इस प्रकारकी व्याख्या हास्यास्पद ही है।

ज्ञाताकी भी निवर्तकज्ञानसे निवृत्ति माननेपर वह अपने विनाश(निवृत्ति)के हेतु निवर्तकज्ञानका स्वयं कर्ता नहीं हो सकता है अर्थात् वह ज्ञाता निवर्तकज्ञानके लिए वेदान्तश्रवणादिमें प्रवृत्त ही नहीं होगा क्योंकि अपना विनाश कोई नहीं चाहता है। वेदान्तश्रवणादिमें प्रवृत्त न होनेपर वेदान्तश्रवणादिका विधान करनेवाले शास्त्रोंकी अनर्थकताका भी प्रसङ्ग प्राप्त होता है। उक्त दोषोंके कारण यदि उस नाशको ब्रह्मस्वरूप स्वीकार किया जाए, तो ब्रह्म पहलेसे ही विद्यमान है। अतः भेददर्शन और उसकी मूल अविद्याकी पहले भी कल्पना नहीं होनी चाहिए किन्तु कल्पना होती है, इससे सिद्ध होता है कि प्रपञ्चनिवृत्ति ब्रह्मस्वरूप नहीं है।

निवर्तकज्ञानके विषयकी असिद्धि– सभी वृत्तिज्ञान सविषयक होते हैं। निवर्तकज्ञान भी वृत्तिज्ञान है। इसका विषय क्या (१)माया उपाधिसे रहित नित्यशुद्धबुद्धमुक्त स्वरूप है? अथवा (२)माया उपाधिसे विशिष्ट ब्रह्म है? अथवा (३)नाना भेदरूप जगत् है? अथवा (४)जगत्का मिथ्यात्व है? अथवा (५)कुछ भी नहीं है? इनमें प्रथम विकल्प उचित नहीं है क्योंकि निवर्तकज्ञानका विषय शुद्ध ब्रह्म स्वीकार करनेपर वह दृश्य हो जाता है। दृश्य होनेसे वह घटादिके समान मिथ्या हो जाता है क्योंकि शांकरमतमें 'जगत् मिथ्या दृश्यत्वात्' इस प्रकार दृश्यत्व हेतुसे मिथ्यात्व सिद्ध किया जाता है। दृश्यत्व हेतु होनेपर भी ब्रह्मका मिथ्यात्व स्वीकार न करनेपर उक्त हेतु सव्यभिचार हेत्वाभास हो जाता है। शांकरमतमें ज्ञान दो प्रकार का माना जाता है– १.स्वरूपभूतज्ञान और २.वृत्तिज्ञान। इनमें मोक्षका हेतुभूत ज्ञान वृत्तिज्ञान ही है, स्वरूपभूत ज्ञान नहीं है।

स्वरूपभूत ज्ञान तो फलरूप है। ब्रह्ममें वृत्तिव्याप्ति है, फलव्याप्ति नहीं है। फलव्याप्तिके न होनेसे वह दृश्य नहीं है। यह कथन भी उचित नहीं है क्योंकि शांकरमतानुसार ही वृत्ति जड़ होनेसे अविद्याकी निवृत्ति नहीं कर सकती है, वह फलसे युक्त होकर ही अविद्यानिवृत्ति करती है। इस प्रकार ब्रह्ममें फलव्याप्ति भी सिद्ध होती है, इसलिए स्वरूपभूतज्ञान कभी भी सविषयक नहीं होता है, वृत्तिज्ञान ही सविषयक होता है, ऐसा होनेपर भी ज्ञानविषयता घटादिमें दृश्यत्वको करती है, ब्रह्ममें नहीं। यह तो बड़ी विचित्र बात है। शांकरमतानुयायी आत्माके बन्धनके अभावका बहुत प्रकारसे प्रतिपादन करके उसका बन्धन सिद्ध करनेके लिए बहुत क्लेश करते हैं, फिर भी उनकी इष्टसिद्धि नहीं होती है। द्वितीय और तृतीय विकल्प भी उचित नहीं हैं क्योंकि वैसा स्वीकार करने पर भ्रम निवृत्त ही नहीं होगा। ब्रह्मके यथार्थ स्वरूपके ज्ञानसे ही भ्रम की निवृत्ति होती है। मायाविशिष्ट ब्रह्मका ज्ञान और जगत्का ज्ञान तो भ्रमके पोषक ही हैं, वे भ्रमके निवर्तक नहीं हैं। अधिष्ठानके ज्ञानसे ही अध्यस्तके भ्रमकी निवृत्ति होती है। अध्यस्तके ज्ञानसे भ्रमकी निवृत्ति कैसे होगी? निवर्तकज्ञानका विषय जगत्का मिथ्यात्व है। यह चतुर्थ विकल्प भी उचित नहीं है। इस चतुर्थ विकल्पमें जगत्का मिथ्यात्व क्या सत्य है अथवा मिथ्या है? ऐसे दो पक्ष प्राप्त होते हैं। इनमें यदि जगत्का मिथ्यात्व सत्य है तो ब्रह्मसे भिन्न द्वैत पदार्थ सत्य होनेपर द्वैत सिद्ध होता है, अद्वैत सिद्ध नहीं होता है। ऐसा होनेपर द्वैतनिवृत्तिरूप मुक्ति भी नहीं हो सकती है। यदि जगत्का मिथ्यात्व मिथ्या है तो जगत्का सत्यत्व ही सिद्ध होता है, ऐसा होनेपर सिद्धान्तहानि होती है क्योंकि 'ब्रह्म सत्यं जगन्मिथ्या' यह उनका सिद्धान्त है। निवर्तक ज्ञानका विषय कुछ भी नहीं है, यह पञ्चम विकल्प भी उचित नहीं है क्योंकि विना विषयके ज्ञान

होता ही नहीं है। निवर्तक ज्ञानका कोई विषय न होनेसे वह किसीकी निवृत्ति नहीं कर सकता है। ऐसा होनेपर उसे निवर्तक ज्ञान ही नहीं कहा जा सकता है।

निवर्तकज्ञानकी उत्पादक सामग्रीकी असिद्धि- सम्पूर्ण प्रपञ्चका निवर्तक ऐक्यज्ञान 'तत्त्वमसि' आदि श्रुतिवाक्योंसे उत्पन्न होता है। यह मत उचित नहीं है क्योंकि श्रुति निर्विशेषाद्वैतीके ही मतमें ब्रह्मभिन्न होनेके कारण अविद्यासे कल्पित है। अविद्या दोष है। अविद्याकल्पित श्रुति दोषजन्य है। इस दोषजन्य श्रुतिके द्वारा जो ज्ञान होगा, वह भी दोषयुक्त होगा। इस कारण श्रुति प्रपञ्चके निवर्तकज्ञानकी उत्पादक नहीं हो सकती है। जैसे- किसी मनुष्यकी नेत्र इन्द्रियमें दोष है, इस कारण वह रज्जुको सर्प समझकर भयसे पलायन करता है। यद्यपि इसके भ्रमकी भ्रान्त पुरुषके द्वारा प्रयुक्त 'यह रज्जु है, सर्प नहीं है' इस वाक्यसे निवृत्ति संभव है, फिर भी प्रथम मनुष्य यदि यह समझता है कि दूसरे मनुष्यकी इन्द्रियमें दोष है, उसे भ्रम हुआ है। भ्रान्त मनुष्यके वचनपर विश्वास नहीं करना चाहिए। ऐसा होनेपर द्वितीय मनुष्यके समझाने पर भी प्रथम मनुष्यका भ्रम निवृत्त नहीं होता है, इसलिए भय और पलायन भी निवृत्त नहीं होते हैं। वैसे ही मुमुक्षु वेदान्तश्रवणकालमें ही यह जान लेता है कि ब्रह्मव्यतिरिक्त सभी पदार्थ मिथ्या हैं। श्रुति भी ब्रह्मव्यतिरिक्त होनेसे मिथ्या है। उससे जन्य ज्ञान भी मिथ्या है, इसलिए श्रुतिवाक्यसे उसका भ्रम निवृत्त नहीं होगा। कहनेका तात्पर्य यह है कि भ्रान्तिमूलक 'तत्त्वमसि' आदि मिथ्या शास्त्रवचन प्रपञ्चबाधक ज्ञानका उत्पादक नहीं हो सकता है। निर्विशेषाद्वैती यह मानते हैं कि प्रपञ्चनिवर्तक ज्ञान, उसका ज्ञाता और ज्ञानका जनक शास्त्र ये सभी ब्रह्मसे भिन्न होनेके कारण अन्तमें निवृत्त हो जाते हैं। यह उचित नहीं है क्योंकि प्रपञ्चनिवर्तक ज्ञानकी निवृत्ति

होनेपर निवर्तकज्ञानसे होनेवाली प्रपञ्चनिवृत्ति मिथ्या हो जाएगी और प्रपञ्च सत्य हो जाएगा। यहाँ एक दृष्टान्त कहा जाता है– स्वप्नमें किसी मनुष्यने दूसरे मनुष्यको देखा। स्वप्नमें देखे गये मनुष्यने स्वप्नदर्शक मनुष्यसे कहा कि 'तुम्हारे पिता मर गए हैं'। जागनेपर स्वप्नदर्शक मनुष्य यह समझता है कि स्वप्नदृष्ट पुरुष मिथ्या है और उसके द्वारा श्रुत पितृमरण मिथ्या है और पिताका जीवन सत्य है। जैसे स्वप्नश्रुत पितृमरण मिथ्या सिद्ध होनेपर पिताका जीवन सत्य सिद्ध होता है, वैसे ही प्रपञ्चनिवृत्ति मिथ्या सिद्ध होनेपर, प्रपञ्च सत्य सिद्ध होता है। जिस प्रकार भ्रान्तपुरुषका वाक्य रज्जुसर्पकी निवृत्ति नहीं करता हैं, उसी प्रकार भ्रान्तिमूलक होनेके कारण 'तत्त्वमसि' आदि वाक्य प्रपञ्चकी निवृत्ति नहीं करते हैं– **तत्त्वमस्यादिवाक्यं न प्रपञ्चस्य निवर्तकं भ्रान्तिमूलत्वात् भ्रान्तप्रयुक्तरज्जुसर्पबाधकवाक्यवत्**। इस पर यदि कहना चाहें कि भ्रान्तिमूलक ज्ञानका निवर्तकत्व अनेक स्थलोंपर देखा जाता है, इसलिए भ्रान्तिमूलक तत्त्वमसि आदि वाक्यजन्य ज्ञान प्रपञ्चकी निवृत्ति कर सकता है। स्वप्नमें दुर्घटनाको सुनकर भयभीत होनेवाला मनुष्य स्वप्नमें ही यदि यह समझ ले कि मुझे दुर्घटना सुननेका स्वप्न हुआ है तो उसका भय दूर हो जाता है। जैसे 'हमने स्वप्नमें दुर्घटना सुनी है।' यह बाधकज्ञान स्वप्नमें होता है, इसलिए भ्रान्तिमूलक है। भ्रान्तिमूलक होनेपर भी वह भयको निवृत्त कर देता है, वैसे ही भ्रान्तिमूलक 'तत्त्वमसि' आदि वाक्योंसे होनेवाला ज्ञान प्रपञ्चकी निवृत्ति कर देता है। यह कहना उचित नहीं है क्योंकि उक्त ज्ञानसे भय निवृत्त होनेपर भी यदि वही स्वप्नदर्शक पुरुष यह समझ ले कि 'मैंने स्वप्नमें दुर्घटना सुनी है। यह ज्ञान मुझे स्वप्नमें हो रहा है', तो पुनः भय होने लगता है, वैसे ही वेदान्तश्रवणकालमें तत्त्वमसि आदि वाक्यजन्य ज्ञान अविद्याकल्पित

है, मिथ्या है। ऐसी धारणा बन जानेसे 'तत्त्वमसि' आदि वाक्य प्रपञ्चनिवर्तक ज्ञानके उत्पादक नहीं हो सकते हैं।

७-अविद्यानिवृत्तिकी असिद्धि- ऐक्यज्ञानसे जो अविद्यानिवृत्ति मानी जाती है, उसका क्या स्वरूप है? सदसत्से विलक्षण पदार्थ अनिर्वचनीय होता है। अविद्या और उसका कार्य प्रपञ्च सदसद्विलक्षण होनेसे अनिर्वचनीय है। अनिर्वचनीय अविद्याकी निवृत्ति अनिर्वचनीय नहीं हो सकती है। यदि यह निवृत्ति भी अनिर्वचनीय हो, तो सभी अनिर्वचनीयकी निवृत्ति नहीं हो सकती है। इससे यह सिद्ध होता है कि अविद्यानिवृत्ति अनिर्वचनीयके विरुद्ध स्वरूपवाली है। यदि कहना चाहें कि अनिर्वचनीयके विरुद्ध होना ही अविद्यानिवृत्तिका स्वरूप है, तो यह कथन उचित नहीं है क्योंकि इस पर संभव होनेवाले प्रश्नोंका उत्तर नहीं मिलता है। अविद्यानिवृत्ति अनिर्वचनीयके विरुद्ध स्वरूपवाली अर्थात् निर्वचनीय है तो क्या वह सत् है? या असत्? या सदसत्? अविद्यानिवृत्ति निर्वचनीय होनेसे इनसे अतिरिक्त कोटिमें नहीं हो सकती है। इनमें अविद्यानिवृत्ति सत् अर्थात् अबाधित है, यह प्रथम विकल्प संभव नहीं है क्योंकि अविद्यानिवृत्ति सत् स्वीकार करनेपर अद्वैतहानि होती है। ब्रह्मको सत् माना ही जाता है और अब अविद्यानिवृत्तिको भी सत् स्वीकार करनेसे द्वैत सिद्ध हो जाता है। निर्विशेषाद्वैत सिद्धान्तमें ब्रह्मभिन्न पदार्थकी हेतु अविद्या मानी जाती है। इस कारण ब्रह्मभिन्न अविद्यानिवृत्तिको माननेपर उसकी हेतु अविद्या भी माननी होगी। अविद्याके रहते अविद्यानिवृत्ति कैसे संभव है? इस प्रकार ब्रह्मभिन्न अविद्यानिवृत्ति पक्षमें अविद्यानिवृत्ति असंभव है। यदि सत् अविद्यानिवृत्ति ब्रह्मसे भिन्न नहीं है, ब्रह्मका स्वरूप है, ऐसा मानें तो यह भी संभव नहीं है क्योंकि वेदान्तज्ञान होनेके पूर्व ही ब्रह्म विद्यमान है, इसलिए यह मानना पड़ेगा कि ब्रह्मस्वरूप

अविद्यानिवृत्ति भी वेदान्तज्ञानके पूर्वसे विद्यमान है तो उसे ऐक्यज्ञानसे उत्पन्न होनेकी आवश्यकता नहीं है। ऐसी स्थितिमें यह जो निर्विशेषाद्वैतियोंका सिद्धान्त है कि ऐक्यज्ञानसे अविद्यानिवृत्ति होती है, ऐक्यज्ञानके न होनेसे संसार रहता है, वह खण्डित हो जायेगा। अविद्यानिवृत्तिको सत् माननेपर ये दोष प्राप्त होते हैं। अविद्यानिवृत्ति असत् अर्थात् बाधित है, यह द्वितीय विकल्प भी उचित नहीं है क्योंकि ऐसा माननेपर अविद्याका सद्भाव मानना होगा। तृतीय विकल्प भी उचित नहीं है क्योंकि सत् अंशको स्वीकार करनेपर अद्वैतहानि होती है और असत् अंशको स्वीकार करनेपर अविद्याका सद्भाव प्राप्त होता है। अतः अविद्यानिवृत्तिकी सिद्धि किसी भी प्रकार नहीं हो सकती है।

सप्तविध अविद्या-अनुपत्तिको विस्तारसे समझनेके लिए ब्रह्मसूत्रभाष्य, वेदार्थसंगह और शतदूषणी तथा इनकी टीकाओंका मनोयोगपूर्वक अवलोकन करना चाहिए।

ब्रह्मनिरूपणके पश्चात् नित्य और मुक्तोंके द्वारा सदा अनुभाव्य सर्वव्यापक ब्रह्मके विशिष्ट स्थानका निरूपण किया जाता है–

नित्यविभूति(शुद्धसत्त्व)

लक्षण– त्रिगुण द्रव्यसे भिन्न होते हुए, सत्त्वाधिकरणत्व शुद्धसत्त्वका लक्षण है– **शुद्धसत्त्वं नाम त्रिगुणद्रव्यव्यतिरिक्तत्वे सति सत्त्ववत्त्वम्।** त्रिगुण द्रव्य प्रकृति है, उससे भिन्न शुद्ध सत्त्व है एवं शुद्धसत्त्व सत्त्व गुणका अधिकरण है। इस प्रकार शुद्धसत्त्वमें लक्षणका समन्वय होता है। लक्षणमें केवल विशेषण अंश होनेपर आत्मामें अतिव्याप्ति होती है। उसके निवारणके लिए विशेष्य अंशका निवेश किया गया है। लक्षणमें केवल विशेष्य अंश होनेपर प्रकृतिमें अतिव्याप्ति होती

है। उस दोषके निवारणके लिए विशेषण अंश अपेक्षित है। रज, तमसे रहित केवल सत्त्ववालेको ही शुद्धसत्त्व कहते हैं- **शुद्धं सत्त्वं यस्य इति शुद्धसत्त्वम्।** जो पदार्थ स्वयंप्रकाश होते हुए सत्त्वका अधिकरण हो, उसे शुद्धसत्त्व कहते हैं- **स्वयंप्रकाशत्वे सति सत्त्ववत्त्वं शुद्धसत्त्वस्य लक्षणम्।** शुद्ध सत्त्व स्वयंप्रकाश होते हुए सत्त्वका अधिकरण है, इसलिए उसमें लक्षणका समन्वय हो जाता है। जो चेतन और धर्मभूतज्ञानसे भिन्न होते हुए स्वयंप्रकाश द्रव्य है, उसे शुद्ध सत्त्व कहते हैं- **चेतनधर्मभूतज्ञानभिन्नत्वे सति स्वयंप्रकाशत्वम् शुद्धसत्त्वस्य लक्षणम्।** सम्पूर्ण अविद्यानिवृत्तिके स्थानसे विलक्षण जो स्थान है, तद्भिन्नत्व शुद्धसत्त्वका लक्षण है- **निःशेषाविद्यानिवृत्तिदेशविजातीयान्यत्वं शुद्धसत्त्वस्य लक्षणम्।** मुक्तोंकी निःशेष अविद्याकी निवृत्ति त्रिपादविभूतिमें होती है, अतः निःशेष-अविद्यानिवृत्तिका देश त्रिपादविभूति, इससे विलक्षण प्रकृतिमण्डल, तद्भिन्नत्व त्रिपादविभूतिमें होता है। इस प्रकार लक्ष्यमें लक्षणका समन्वय हो जाता है। यदि **निःशेषाविद्यानिवृत्तिदेशत्व** इतना ही लक्षण करें तो त्रिपादविभूतिमें विद्यमान नित्यसूरि और मुक्तोंके विग्रह में लक्षणकी अव्याप्ति होती है क्योंकि वे शुद्धसत्त्व होनेपर भी निःशेष-अविद्यानिवृत्तिके देश नहीं हैं। इनमें अव्याप्ति निवारणके लिए **निःशेषाविद्यानिवृत्तिदेशविजातीयान्यत्वम्** लक्षण किया जाता है। ऐसा होनेपर निःशेष अविद्यानिवृत्तिका देश है- त्रिपादविभूति, इससे विजातीय प्रकृतिमण्डल, तदन्यत्व लक्षण नित्यसूरि आदिके विग्रहमें भी रहता है। **निःशेषाविद्यानिवृत्तिदेशसजातीयत्वम्** यह लक्षण करने पर प्रकृतिमें अतिव्याप्ति होती है क्योंकि निःशेष अविद्यानिवृत्तिका देश त्रिपादविभूति है और अचेतनत्व धर्मको लेकर उससे सजातीय है- प्रकृति। अतः निःशेषाविद्यानिवृत्तिदेशसजातीयत्व लक्षणकी प्रकृतिमें

अतिव्याप्ति होती है। इसके निवारणके लिए इस लक्षणको छोड़कर उक्त लक्षण किया गया है।

यह त्रिपादविभूति परमपद, परमव्योम, परमाकाश, अमृत, नाक, अप्राकृतलोक, आनन्दलोक, शुद्धसत्त्व, वैकुण्ठलोक, साकेत, अयोध्या, गोलोक आदि शब्दोंसे कही जाती है।

प्रमाण- इस त्रिगुणात्मक प्रकृतिमण्डलके पर अप्राकृतस्थानमें निवास करनेवाले परब्रह्मकी उपासना करता हूँ- **क्षयन्तमस्य रजसः पराके**[1] (तै.सं.२.२.१२.५), इस प्रपञ्चका अध्यक्ष परमव्योम नामक अप्राकृत स्थानमें रहता है- **यो अस्याध्यक्षः परमे व्योमन्**।(तै.ब्रा.२.८.६.६), जो उपासक हृदयगुहामें स्थित परब्रह्मकी उपासना करता है। वह अप्राकृत आकाश शब्दके वाच्य परमपदमें परब्रह्म और उसके गुणोंका साथ ही अनुभव करता है- **यो वेद निहितं गुहायां परमे व्योमन् सोऽश्नुते सर्वान् कामान् सह ब्रह्मणा विपश्चितेति**।(तै.उ.२.१.१), जो परब्रह्म सृष्टिके पूर्व एकत्वावस्थावाला और अव्याकृतशरीर वाला होता है तथा सृष्टिकालमें देवादि नानारूपोंसे युक्त होता है, इसलिए वह सर्वशरीरक है, प्रकृतिमण्डलसे ऊपर परमव्योममें विराजमान उस अनादि परमात्माका(ऋत एवं सत्य कहकर वर्णन किया जाता है)- **यदेकमव्यक्तमनन्तरूपं विश्वं पुराणं तमसः परस्तात्**।(तै.ना.उ.५), भूतप्रपञ्च परब्रह्म है, भविष्य प्रपञ्च परब्रह्म है, वह सर्वात्मभूत परब्रह्म अविनाशी परमव्योममें विद्यमान है- **तदेव भूतं तदु भव्यमा इदं तदक्षरे परमे व्योमन्**(तै.ना.उ.२), सूरिगण जिसका सदा साक्षात्कार करते हैं, वह विष्णुका परमस्थान है- **तद् विष्णोः परमं पदं सदा पश्यन्ति सूरयः**।(तै.सं.१.३.६.२, सु.उ.६), यहाँ विष्णोः इस षष्ठ्यन्त पदके द्वारा उनके स्वरूपसे

टिप्पणी१- क्षयन्तम्= वसन्तम्, रजसः= प्रकृतिमण्डलस्य, पराके= परस्तात्।

अतिरिक्त स्थान **परमं पदम्** इन पदोंके द्वारा कहा जाता है। उन महिमाशाली उपासकोंने परमपद प्राप्त किया- **ते ह नाकं महिमानं सचन्त**।(य.सं.३१.१६), **न विद्यते अकं दुःखं यस्मिन् तत् नाकम्।** आठ चक्र और नवद्वारोंसे युक्त नित्यसूरियोंकी पुरी अयोध्या है- **अष्टचक्रा नवद्वारा देवानां पूरयोध्या**।(अ.सं१०.२.३१), हे महातेजस्वि श्रीराम! आप जिसे विष्णुके जिस सनातन आकाश(साकेतधाम)में प्रवेश कराना चाहते हैं, उसे उस धाममें प्रवेश कराइये- **वैष्णवीं तां महातेजो यद् वाकाशं सनातनम्**।(वा.रा.७.११०.१०),जो अनन्यभावसे युक्त होकर सदा ब्रह्मका ध्यान करनेवाले योगी हैं। उनके जानेका वह परमस्थान है, नित्यसूरि जिसका सदा साक्षात्कार करते रहते हैं- **एकान्तिनः सदा ब्रह्मध्यायिनो योगिनो च ये। तेषां तु परमं स्थानं यत्तत् पश्यन्ति सूरयः**।।(वि.पु.१.६.३६), कलामुहूर्तरूप काल त्रिपादविभूतिके परिणामका हेतु नहीं है- **कलामुहूर्तादिमयश्च कालो न यद्विभूतेः परिणामहेतुः**।(वि.पु.४.१.८४),जरारहित, अप्रमेय, कठिनतासे जाननेयोग्य और शास्त्रवेद्य वह आद्य दिव्यस्थान है- **दिव्यं स्थानमजरं चाप्रमेयं दुर्विज्ञेयं चागमैर्गम्यमाद्यम्**।(म.भा.)। श्रीभगवान् अन्यत्र सबकी जीर्णताके हेतु कालको नित्यविभूतिमें जीर्ण(निष्प्रभावी) कर देते हैं, वहाँ श्रीभगवान् ही प्रभु हैं, काल नहीं- **कालः सम्पच्यते तत्र न कालस्तत्र वै प्रभुः**।(म.भा.शा.१९८.६), आपका धाम विशुद्धसत्त्वमय है- **विशुद्धसत्त्वं तव धाम**(भा.१०.२७.४), जो सत्यस्वरूप(कालकृतविकारसे रहित), ज्ञानस्वरूप, अनन्त(कालपरिच्छेदसे रहित तथा ऊपरकी ओर देशपरिच्छेदसे रहित), सनातन, प्रकाशस्वरूप जो ब्रह्मात्मक लोक है- **सत्यं ज्ञानम् अनन्तं यद् ब्रह्म ज्योतिः सनातनम्**।(भा.१०.२८.१५)।

कुछ विद्वान् मानते हैं कि नित्यविभूतिका वर्णन केवल पौराणिक है, श्रौत नहीं। उनका यह मानना उक्त श्रुति प्रमाणसे

विरुद्ध है। कौषीतकी उपनिषद्में पर्यङ्कविद्या प्रकरणके अन्तर्गत नित्यविभूतिका वर्णन है। श्रीशंकराचार्यने पर्यङ्कविद्याको ब्रह्मसूत्रभाष्य (३.३.३०)में ब्रह्मविद्या स्वीकार किया है। इसी प्रकार उक्त उपनिषद्में प्रोक्त अन्य विद्याओंको भी ब्रह्मविद्या स्वीकार किया है। सिद्धान्तमें सगुण-निर्गुणका भेद मान्य न होनेसे और मुक्तिमें तारतम्य स्वीकृत न होनेसे कोई अनुपपत्ति नहीं है।

अपरिच्छिन्न- नित्यविभूति नीचेकी ओर परिच्छिन्न तथा अन्य सब ओर अपरिच्छिन्न है।

नित्य- कुछ विद्वान् भगवद्धामकी प्रकृतिमण्डलमें ही स्थिति मानते हैं और यहाँ स्थिति होनेके कारण उसे विनाशी मानते हैं किन्तु यह उचित नहीं है क्योंकि **तदक्षरे परमे व्योमन्**(तै.ना.उ.२) इस श्रुतिमें व्योमके अक्षर और परम ये दो विशेषण दिये गये हैं। अक्षर और परम शब्दका अर्थ क्रमशः अविनाशी और श्रेष्ठ होता है। इस प्रकार भगवद्धाम अविनाशी और श्रेष्ठ कहा जाता है, इसलिए वह प्राकृत आकाश(प्रकृतिमण्डल) से भिन्न सिद्ध होता है। इस प्रकरणमें उदाहृत अनेक प्रमाण उसे प्रकृतिमण्डलसे भिन्न सिद्ध करते हैं। **तद् विष्णोः परमं पदं सदा पश्यन्ति सूरयः** इस श्रुतिसे नित्यसूरियोंके द्वारा इसका सदा साक्षात्कार वर्णित होनेसे भी यह नित्य सिद्ध होती है।

शंका- सदेव सोम्येदम् अग्र आसीद् एकमेवाद्वितीयम्।(छां.उ.६.२.१) इस कारणवाक्यमें एकत्वका प्रतिपादन होनेसे ब्रह्मसे अतिरिक्त नित्य स्थानका अभाव ही प्रतीत होता है। अतः जिस प्रकार देवता विनाशी होनेपर भी मनुष्योंकी अपेक्षा अधिक काल जीवित रहनेके कारण उपचारसे अमर कहे जाते हैं, उसी प्रकार भगवद्धाम विनाशी होनेपर भी पृथ्वी आदि लोकोंकी अपेक्षा अधिककाल तक

विद्यमान रहनेके कारण उपचारसे अक्षर या नित्य कहा जाता है, वस्तुतः वह नित्य नहीं है।

समाधान– भगवद्धामको अनित्य मानना असंगत है क्योंकि जिस प्रकार उक्त श्रुतिसे एक कारण ब्रह्म सिद्ध होनेपर भी उसके विशेषणभूत **भोक्ता भोग्यं प्रेरितारञ्च मत्वा**(श्वें.उ.१.१२) इत्यादि श्रुतियों तथा **प्रकृतिं पुरुषं चैव विद्ध्यनादी उभावपि।**(गी.१३.१६) इस गीतावाक्यसे सिद्ध जीव और प्रकृतिका निषेध नहीं होता है, **अग्रे** पदसे अभिहित कालका भी निषेध नहीं होता है, उसी प्रकार **तदक्षरे परमे व्योमन्** इत्यादि अनेक प्रमाणोंसे सिद्ध त्रिपादविभूतिकी नित्यताका निषेध नहीं हो सकता है। उक्त कारणबोधक श्रुति रचे जानेवाले कार्य जगत्की अपेक्षासे उसके एक कारणका कथन करती हैं। श्रुत्यन्तर और उपबृंहणभूत इतिहास-पुराणसे सिद्ध प्रमेय पदार्थोंका निषेध नहीं करती है। इस प्रकार भगवद्धामकी नित्यता अबाधितरूपसे सिद्ध होती है।

अचेतन– नित्यविभूति अचेतन है। ज्ञानका आश्रय होना चेतनका लक्षण है– चेतनत्वं नाम ज्ञानाश्रयत्वम्। चेतन जीव और ब्रह्मसे भिन्न होनेके कारण यह अचेतन है। प्रकृति, काल, नित्यविभूति और धर्मभूतज्ञान ये चारों अचेतन हैं। इनमेंसे प्रकृति और काल परप्रकाश ही हैं, नित्यविभूति और धर्मभूतज्ञान स्वयंप्रकाश हैं।

ज्ञानानन्दरूप और स्वयंप्रकाश– नित्यविभूतिको शास्त्रोंमें ज्ञानस्वरूप और आनन्दस्वरूप कहा जाता है, इसलिए यह स्वयंप्रकाश सिद्ध होती है। स्वयंप्रकाश वस्तुको ही ज्ञान कहा जाता है और अनुकूल ज्ञान ही आनन्द है। नित्यविभूतिमें आनन्दमय लोक और आनन्दात्मक अनुभव होते हैं– **तत्रानन्दमया लोका भोगाश्चानन्दलक्षणाः।** आनन्द नामवाला वह लोक परमानन्दस्वरूप है- **आनन्दं नाम तं लोकं परमानन्दलक्षणम्।** हम दोनों(श्री और

विष्णु)के लिए परमव्योम द्वन्दसे रहित, उत्तम सुख(आनन्द)स्वरूप है- **तयोर्नौ परमं व्योम निर्द्वन्द्वं सुखमुत्तमम्।** इन आगम वचनोंसे नित्य विभूति आनन्दरूप सिद्ध होती है। अनुकूल ज्ञान ही आनन्द है, अतः वह ज्ञानरूप सिद्ध होती है। स्वयंप्रकाशित होनेवाला पदार्थ ही ज्ञान होता है, अतः स्वयंप्रकाश सिद्ध होती है।

एकदेशी विद्वानोंके मतानुसार नित्यविभूति भी प्रकृतिके समान जड़ ही है, स्वयंप्रकाश नहीं है। वह नित्य, मुक्त और ईश्वरके ज्ञानसे ही प्रकाशित होती है। नित्यविभूति अंसकुचित ज्ञानसे विशिष्ट नित्य और मुक्तोंका आधार होनेसे, मुक्तोंकी निःशेषाविद्यानिवृत्ति एवं ज्ञानविकासका स्थान होनेसे तथा ज्ञानका आवरक न होनेके कारण उपचारसे ज्ञान कही जाती है। अत्यन्त दीप्तियुक्त होनेसे स्वयंप्रकाश कही जाती है। नित्यविभूतिमें शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध और इनके आश्रय पदार्थ सर्वथा अत्यन्त अनुकूल होकर रहते हैं, कभी भी प्रतिकूल नहीं होते। इसलिए नित्यविभूति आनन्दकी जनक है और आनन्दकी जनक होनेसे उसे आनन्दरूप कहा जाता है। यह ज्ञानरूप न होनेसे स्वयं प्रकाश सिद्ध नहीं होती । इस प्रकार एकदेशिमत कहकर अब सिद्धान्त मत प्रस्तुत किया जाता है-

एकायनशाखाऽन्तर्गत रहस्याम्नाय ब्राह्मणमें ''भगवान् का यह विग्रह कैसा है?''- **किमात्मिकैषा भगवतो व्यक्तिः?,** जैसे भगवान् हैं, वैसा भगवान् का विग्रह है- **यदात्मको भगवान्,** भगवान कैसे हैं?- **किमात्मको भगवान्?,** भगवान् ज्ञानरूप हैं- **ज्ञानात्मकः,** इन प्रश्नोत्तरात्मक वाक्योंसे श्रीभगवान् का विग्रह ज्ञानरूप सिद्ध होता है। भगवान् जो पदार्थ हैं, नित्यविभूति भी वही पदार्थ है। भगवान्

ज्ञानरूप हैं, अतः नित्यविभूति भी ज्ञानरूप है। **सत्यं ज्ञानमनन्तं यद् ब्रह्म** (भा.१०.२८.१५) इस वचनसे भी ब्रह्मात्मक त्रिपादविभूतिको ज्ञानरूप कहा जाता है। ज्ञानरूपको ही स्वयंप्रकाश कहते हैं। अपनी सत्तासे प्रकाशित होनेके कारण शुद्धसत्त्व(त्रिपादविभूति) प्राकृतसत्त्वसे विलक्षण है। इसका आत्माकी तरह ज्ञानान्तरनिरपेक्ष प्रकाश होता है, इसलिए मुख्यवृत्तिसे इसे ज्ञान कहा जाता है। ज्ञान पदका प्रवृत्तिनिमित्त स्वयंप्रकाशत्व है। स्वयंप्रकाशत्वका अर्थ स्वस्मै भासमानत्व नहीं है क्योंकि ऐसा स्वीकार करने पर ज्ञानको भी ज्ञान नहीं कह सकते हैं क्योंकि वह स्वयंके लिए प्रकाशित नहीं है, वह तो ज्ञाता आत्माके लिए प्रकाशित होता है। स्वस्मै भासमानत्व केवल आत्मामें रहता है। अतः स्वयंप्रकाशत्वका अर्थ ज्ञानान्तरनिरपेक्ष भासमानत्व स्वीकार किया जाता है। उसके त्रिपादविभूतिमें रहनेसे वह ज्ञान पदका वाच्य है।

नित्यविभूति स्वयंप्रकाश होनेपर भी धर्मभूत ज्ञानसे भी प्रकाशित होती है। जिस प्रकार स्वयंप्रकाश प्रत्यगात्मामें विद्यमान नित्यत्व, अणुत्व आदि स्वयंप्रकाश धर्म धर्मभूतज्ञानसे भी प्रकाशित होते हैं, उसी प्रकार स्वयंप्रकाश नित्यविभूतिमें विद्यमान नित्यत्व, अपरिच्छिन्नत्व आदि स्वयंप्रकाश धर्मोंका धर्मभूतज्ञानसे भी प्रकाश होता है। ईश्वरेच्छासे बद्ध भी उसका दर्शन कर सकते हैं। परम दयालु भगवान् श्रीकृष्णने विचारकरके गोपोंको मायान्धकारसे अतीत अपना परम धाम दिखलाया- **इति संचिन्त्य भगवान् महाकारुणिको हरिः। दर्शयामास लोकं स्वं गोपानां तमसः परम।।**(भा.१०.२८.१४)।

ज्ञान, शक्ति, बल, ऐश्वर्य, वीर्य और तेज इन छः गुणोंका प्रसार ही भगवान् की नित्य इच्छासे देशरूपता(त्रिपादविभूतिरूपता)को प्राप्त हुआ है– **षाड्गुण्यप्रसारो नित्यस्वाच्छन्द्यात् देशतां गतः** इस शास्त्रवचनको औपचारिक जानना चाहिए क्योंकि ये परमात्मस्वरूपके ही गुण हैं। त्रिपादविभूति उक्त छः गुणोंकी प्रकाशिका है, इसलिए उसे षाड्गुण्यप्रसाररूप कहा जाता है।

प्रश्न– यदि नित्यविभूति स्वयंप्रकाश है तो क्या कारण है कि नित्य, मुक्त और ईश्वरको ही उसका प्रकाश होता है? बद्ध जीवोंको नहीं होता?

उत्तर– जिस प्रकार धर्मभूत ज्ञान स्वयंप्रकाश होनेपर भी विषयप्रकाशनकालमें ही स्व-आश्रयके लिए ही प्रकाशित होता है, सर्वकालमें सभीके लिए प्रकाशित नहीं होता है, यह नियम स्वीकार किया जाता है। उसी प्रकार नित्यविभूति भी स्वसाक्षात्कार करनेवालेके लिए ही स्वयं प्रकाशित होती है, यह नियम स्वीकार किया जाता है। कर्मरूप आवरण होनेसे प्राकृतलोकमें स्थित बद्धोंको नित्यविभूतिका साक्षात्कार नहीं होता है, अतः यह उनके प्रति प्रकाशित नहीं होती है। इतनेसे नित्यविभूतिका परप्रकाशत्व सिद्ध नहीं होता है क्योंकि जिस प्रकार ज्ञान अचेतन होनेपर भी आत्माके साथ सम्बन्ध होनेसे वह स्वाश्रय आत्माके लिए भासमान और स्वयंप्रकाश है, उसी प्रकार नित्यविभूति अचेतन होनेपर भी नित्य, मुक्त और ईश्वरके साथ सम्बन्धहोनेसे उनके लिये भासमान और स्वयंप्रकाश है।

आत्मा और शुद्धसत्त्वकी समानता

आत्मा	शुद्धसत्त्व
१.आत्मा स्वयंप्रकाश और आनन्दस्वरूप है।	१.शुद्धसत्त्व स्वयंप्रकाश और आनन्दस्वरूप है।
२.प्रत्येक आत्मा धर्मभूतज्ञानका विषय होनेपर भी उसकी अपेक्षा न करके अपना प्रकाश करती है।	२.शुद्धसत्त्व ईश्वर, नित्यसूरि और मुक्तके धर्मभूतज्ञानका विषय होनेपर भी उसकी अपेक्षा न करके अपना प्रकाश करता है।
३.(आत्मा ज्ञानरूप होनेपर भी धर्मभूत ज्ञानके द्वारा विषयका प्रकाश करती है, साक्षात् नहीं अत:) स्वयंप्रकाश आत्मा अपनेसे अन्य विषयोंका साक्षात् प्रकाशक न होनेसे निर्विषयक मानी जाती है।	३.स्वयंप्रकाश शुद्धसत्त्व अपनेसे अन्य विषयका प्रकाशक न होनेसे निर्विषयक माना जाता है।

आत्मा और शुद्धसत्त्वका भेद

आत्मा	शुद्धसत्त्व
१. चेतन आत्मा ज्ञाता है।	१. अचेतन शुद्धसत्त्व ज्ञेय है।
२.आत्मा गुणातीत है।	२.शुद्धसत्त्व विलक्षण(अप्राकृत) सत्त्वमय है।
३.आत्मा प्रत्यक्(अपने लिए प्रकाशित होने वाली) है।	३.शुद्धसत्त्व पराक्(अपनेसे अतिरिक्त अपना साक्षात्कार करनेवाले नित्य,मुक्त और ईश्वरकेलिए प्रकाशित होनेवाला) है।
४.आत्मा निरवयव है।	४.शुद्धसत्त्व सावयव है।
५.'अहम्' इस प्रकार आत्माकी अहन्त्वेन प्रतीति होती हैं।	५.'इदम्' इस प्रकार शुद्धसत्त्वकी इदन्त्वेन प्रतीति होती है।
६.आत्माका शरीरादिरूपसे परिणाम नहीं होता है।	६.शुद्धसत्त्वका शरीरादिरूपसे परिणाम होता है।

धर्मभूतज्ञान और शुद्धसत्त्वकी समानता

धर्मभूतज्ञान	शुद्धसत्त्व
१. धर्मभूत ज्ञान स्वयंप्रकाश है।	१.शुद्धसत्त्व स्वयंप्रकाश है।
२.धर्मभूतज्ञान स्वयंप्रकाश होनेपर भी ज्ञान, इच्छा और प्रयत्नका आधार न होनेसे कर्ता नहीं होता है।	२.शुद्धसत्त्व स्वयंप्रकाश होनेपर भी ज्ञानादिका आधार न होनेसे कर्त्ता नहीं होता है।
३.धर्मभूत ज्ञान अपनेसे अन्य अहमर्थ आत्माके लिए प्रकाशित होनेके कारण पराक् कहा जाता है।	३.शुद्धसत्त्व अपनेसे अन्य ब्रह्म, नित्यसूरि और मुक्तोंके लिए प्रकाशित होनेके कारण पराक् कहा जाता है।
४.धर्मभूतज्ञान विद्यमान होनेपर भी सुषुप्ति अवस्थामें प्रकाशित नहीं होता है।	४.शुद्धसत्त्व विद्यमान होनेपर भी बद्धावस्थामें प्रकाशित नहीं होता है।
५.धर्मभूत ज्ञान सुषुप्तिकालमें प्रकशित न होनेपर भी जाग्रत् कालमें ज्ञानान्तरका विषय बनकर प्रकाशित होता है।	५.शुद्धसत्त्व बद्धजीवोंके लिए सुषुप्ति कालमें प्रकाशित न होनेपर भी जाग्रत्कालमें ज्ञानान्तरका विषय बनकर प्रकाशित होता है।

धर्मभूतज्ञान और शुद्धसत्त्वका भेद

धर्मभूत ज्ञान	शुद्धसत्त्व
१.धर्मभूतज्ञानका इच्छादिरूपसे परिणाम होनेपर भी शरीरादिरूपसे परिणाम नहीं होता है।	१.शुद्धसत्त्वका शरीरादिरूपसे परिणाम होता है।
२.धर्मभूतज्ञान स्वाश्रय आत्माके लिए प्रकाशित होता है।	२.शुद्धसत्त्व नित्य, मुक्त और ईश्वरके लिये प्रकाशित होता है।
३.ज्ञान गुणातीत है।	३.शुद्धसत्त्व विलक्षण सत्त्वमय है।

जैसे धर्मभूतज्ञानकी स्वयंप्रकाशता होनेपर भी आत्माकी तरह उसे चेतन नहीं माना जाता, जड़ नहीं माना जाता और ज्ञाता नहीं माना जाता है, वैसे ही नित्यविभूतिकी स्वयंप्रकाशता होनेपर भी उसे चेतन नहीं माना जाता, जड़ नहीं माना जाता और ज्ञाता नहीं माना जाता है। सिद्धान्तमें पराक्त्व और जड़त्व भिन्न-भिन्न माने जाते हैं।

नित्यविभूतिकी विविधरूपता- ओं षौं(षां) नमः पराय परमेष्ठ्यात्मने नमः, ओं यां नमः पराय पुरुषात्मने नमः, ओं रां नमः पराय विश्वात्मने नमः, ओं वां नमः पराय निवृत्त्यात्मने नमः, ओं लां नमः पराय सर्वात्मने नमः। ये पञ्चोपनिषद् मन्त्र हैं। इनसे प्रतिपाद्य अप्राकृत पाँच उपनिषद्(रहस्य) हैं। इन पञ्च उपनिषदोंको ही पञ्चभूत कहा जाता है, इसलिए यह अप्राकृत विभूति पञ्चोपनिषन्मयी और पञ्चभूतमयी कही जाती है। षौं, यां, वां, रां, लां ये पाँच बीजाक्षर पठित हैं। इनके वाच्य पञ्चोपनिषन्मन्त्रमें परमेष्ठी, पुरुष, विश्व, निवृत्ति और सर्व हैं। ये परमेष्ठी आदि शब्द क्रमशः अप्राकृत आकाश, वायु, तेज, जल और पृथ्वी इन पञ्चभूतोंके बोधक हैं। इन अप्राकृत पञ्चभूतोंको पञ्चशक्ति भी कहते हैं, इसलिए यह पञ्चशक्तिमयी भी कही जाती है।

नित्यविभूति भगवान् के संकल्पसे भोग्य, भोगोपकरण तथा भोगस्थानरूपसे विद्यमान रहती है। भगवान् के श्रीविग्रह आदि भोग्य हैं। परमप्रीतिरूप अनुभवमें आनेवाले अर्थात परमप्रीतिके विषयको भोग्य कहा जाता है। परमप्रियके प्रति ही परम प्रीति होती है। परम प्रिय है- श्रीभगवान् का विग्रह आदि, उसके प्रति होनेवाली परमप्रीतिका विषय होनेसे श्रीविग्रहको भोग्य कहा जाता है। श्रीभगवान्पर अर्पित चन्दन, कुसुम, वस्त्र, आभूषण, आयुध आदिके द्वारा उनका भोग(अनुभव या दर्शन) होता है, इसलिए चन्दन आदि भोगोपकरण हैं। नित्यसूरि और मुक्त प्रासाद, मण्डप आदि स्थानोंमें रहकर श्रीभगवान् का अनुभव करते हैं, इसलिए ये भोगस्थान कहे जाते हैं। इस प्रकार यह नित्यविभूति नित्यसूरि, मुक्त और ईश्वरकी इच्छाके अनुरूप शरीर, इन्द्रिय, प्राण और विषयरूपमें उपस्थित होकर उनके उपयोगमें आती है।

त्रिपादविभूतिमें विद्यमान अप्राकृत पञ्चभूत और एकादश इन्द्रियाँ नित्य हैं, उनमें प्रकृति-विकृतिभाव(कार्यकारणभाव) नहीं है क्योंकि शुभाश्रय अर्थात् श्रीभगवान् के शुद्ध सत्त्वमयदिव्यमङ्गलविग्रह आदि शास्त्रोंमें नित्य कहे गये हैं। वहाँ अप्राकृत आकाश आदि पञ्चभूतोंके नित्य होनेके कारण उनसे वायु आदिकी उत्पत्ति न होनेपर भी आकाशादि तत्त्व स्वरूपतः बने रहते हैं। यद्यपि त्रिपादविभूतिमें विद्यमान सभी आत्माओंका धर्मभूतज्ञान विभु होनेके कारण इन्द्रियनिरपेक्ष है, तथापि शास्त्रोंके द्वारा वहाँ विराजमान श्रीभगवान् के विग्रहमें चक्षु आदि तथा हस्त आदिका वर्णन होनेसे इन्द्रियोंकी विद्यमानता सिद्ध होती है क्योंकि चक्षु आदि शब्दोंका मुख्यार्थ इन्द्रियाँ ही हैं, इनका आश्रय बनने वाले गोलक मुख्यार्थ नहीं हैं, वे लक्ष्यार्थ हैं। इन दोनोंमें से मुख्यार्थका ही ग्रहण उचित होता है। त्रिपादविभूतिमें विद्यमान मुक्त जीव इन्द्रियछिद्रों (इन्द्रियगोलकों)से रहित हैं तथा सब ओर प्रकाशसे युक्त हैं- **इन्द्रियच्छिद्रविधुराः द्योतमानाश्च सर्वशः।** इन वचनोंसे यह प्रतीत होता है कि वहाँ के मुक्तजीव(इन्द्रियगोलकोंका अभाव होनेसे) इन्द्रियोंसे रहित हैं किन्तु यह वचन उसी प्रकार कर्मकृत प्राकृत इन्द्रियोंका निषेध करता है, जिस प्रकार शरीररहित जीवको सुख और दुःख स्पर्श नहीं करते हैं- **अशरीरं वाव सन्तं न प्रियाप्रिये स्पृशतः।**(छां.उ.८.१२.१) यह वचन कर्मजन्य शरीरका ही निषेध करता है। **अभावं बादरि**(ब्र.सू.४.४.१०) इस प्रकार आरम्भ किये गये अभावाधिकरणमें क्या मुक्तकी देह-इन्द्रियाँ होती हैं? अथवा नहीं? ऐसा विचार करके यह सिद्धान्त स्थापित किया गया है कि भगवान् बादरायण मुक्तको शरीरेन्द्रिय सहित तथा तद्रहित भी मानते हैं- **शरीरेन्द्रियादिसहितं तद्रहितं च मुक्तं जीवं मन्यते भगवान् बादरायणः**(ब्र.सू.आ.भा.४.४.१२) इस प्रकार दोनों पक्ष सिद्धान्तरूप

से मान्य हैं। **स एकधा भवति, त्रिधा भवति**।(छां.उ.७.२६.२) इत्यादि प्रमाणोंसे सिद्ध मुक्तोंके द्वारा अनेक शरीरोंका परिग्रह कभी केवल भगवान् के संकल्पसे, कभी भगवत्संकल्पका अनुसरण करनेवाले मुक्तोंके संकल्पसे होता है। ईश्वर तथा नित्योंके नित्य और अनित्य दोनों प्रकारके शरीर होते हैं। इनमेंसे कुछ नित्य होते हैं, कुछ अनित्य। जो शरीर भगवान् की नित्य इच्छाके अधीन हैं, वे नित्य हैं। ये शरीर नित्य बनें रहें, ऐसी ही उनकी इच्छा है। यहाँ **नित्येच्छाधीनत्वका** अर्थ **नित्येच्छाजन्यत्व** नहीं है किन्तु **नित्येच्छाविरहप्रसञ्जनप्रसञ्जिताभावप्रतियोगित्व**[1] अर्थ है। जो शरीर अनित्य इच्छाके अधीन हैं, वे अनित्य हैं। मुक्तोंके सभी शरीर उत्पन्न होते हैं और अनित्य हैं क्योंकि भाष्यमें कहा गया है कि मुक्त पुरुष कभी शरीर धारण करतें हैं और कभी शरीरके विना रहते हैं। जिस प्रकार मनुष्य बसन्तोत्सवमें श्रीभगवान् के मुखोल्लास(प्रसन्नता)के लिए वेषधारण करते हैं, उसी प्रकार मुक्त त्रिपादविभूतिमें श्रीभगवान् के मुखोल्लासके लिए शरीरधारण करते हैं। मुक्तोंका शरीर कभी द्विभुज, कभी चतुर्भुज, कभी आभूषणरूप,

---

टिप्पणी१- हमारे ये विग्रह सर्वदा बने रहें। इस प्रकार श्रीभगवान् की जो इच्छा होती है, उसे नित्य इच्छा कहते हैं। नित्य इच्छासे नित्यविग्रह होते हैं। 'यदि नित्य इच्छा नहीं होती तो नित्यविग्रह भी नहीं होते।' इस प्रकार नित्य इच्छाके अभावके आरोप(कल्पना) से नित्यविग्रहके अभावका आरोप होता है। पूर्ववाक्यमें पठित 'यदि नित्य इच्छा नहीं होती' इस अंशके द्वारा नित्य इच्छाके अभावका आरोप होता है तथा 'नित्यविग्रह भी नहीं होते' इस अंशके द्वारा नित्यविग्रहके अभावका आरोप होता है। **नित्येच्छाविरहप्रसञ्जनेन**-नित्येच्छाके अभावके आरोपसे, **प्रसञ्जिताभावप्रतियोगित्वम्**-आरोपितनित्यविग्रहका अभावप्रतियोगित्व, नित्यविग्रहके अभावका प्रतियोगी नित्यविग्रह, उसमें **नित्येच्छाविरहप्रसञ्जन-प्रसञ्जिताभावप्रतियोगित्व** रहता है। इस प्रकार नित्य भगवद्विग्रह उनकी नित्येच्छाके अधीन सिद्ध होते हैं।

कभी स्रक्(माला)- चन्दन रूप होता है। कदाचित् धारण किया गया शरीर अनित्य ही होता है क्योंकि शरीर अपनी विद्यमानता पर्यन्त चेतनके द्वारा धार्य और नियाम्य होता है तथा चेतनके द्वारा परित्यक्त होनेपर रहता ही नहीं है।

त्रिपादविभूति में विद्यमान सभी इन्द्रियाँ नित्य ही हैं क्योंकि जिस प्रकार वहाँ विद्यमान आकाश आदि जन्य नहीं हैं, उसी प्रकार इन्द्रियाँ भी जन्य नहीं हैं। नित्यसूरि और मुक्तोंका शरीरपरिग्रह भगवत्प्रीत्यर्थ उनका कैंकर्य सम्पन्न करनेके लिए होता है। श्रीभगवान् का शरीरधारण नित्यसूरि और मुक्तोंको आनन्द प्रदान करनेके लिये तथा मुमुक्षुओंकी उपासनाकी सुगमताके लिए होता है। यह विषय **तन्वभावे सन्ध्यवदुपपत्तेः**(ब्र.सू.४.४.१३) और **भावे जाग्रद्वत्**(ब्र.सू.४.४.१४) इन सूत्रोंमें प्रतिपादित है।

नित्यविभूतिमें उद्यान, वापी, पर्वत, निवासस्थान, आसन, भूषण, आयुध आदि अनेक आश्चर्यजनक पदार्थ हैं। उनमेंसे कुछ नित्य हैं, कुछ उत्पन्न होते हैं और अनित्य हैं क्योंकि वहाँ भी वृक्षोंमें पल्लव, पुष्प और फल आदि परिणाम होते हैं तथा नदियोंमें तरङ्ग, बुदबुद, फेन आदि परिणाम होते हैं। ये सभी परिणाम भगवत्संकल्प से होते हैं। कर्मजन्य तथा कालके अधीन परिणाम वहाँ नहीं होते हैं।

दिव्यमङ्गलविग्रह

लक्षण- भगवान् का श्रीविग्रह(शरीर) दिव्य(अप्राकृत)तथा मङ्गल कारक होनेसे दिव्य मङ्गलविग्रह कहलाता है। यह शुभ(मङ्गलकारक) होते हुए अनायास उपासकोंके चित्तका आश्रय बनता है, इसलिए शुभाश्रय भी कहा जाता है- **शुभत्वे सति आश्रयत्वम्।** शुभका अर्थ है- हेयनिवर्तक। शोक, मोह, दुःख और

अज्ञान ये हेय(त्याज्य) हैं। श्रीविग्रहका प्रीत्यात्मक चिन्तन और दर्शन करने पर हेय शोकादि निवृत्त हो जाते हैं। आश्रयका अर्थ है- मनका आलम्बन। सांसारिक पदार्थ मनके आश्रय योग्य होनेपर भी शुभ नहीं हैं। आत्मस्वरूप और परमात्मस्वरूप शुभ होनेपर भी उपासना मार्गमें प्रवृत्त हुए व्यक्तिके चित्तका आलम्बन नहीं हो सकते हैं। शुभत्व और आश्रयत्व ये दोनों विशेषताएं युगपद भगवद्-विग्रहमें ही विद्यमान हैं, इसलिए एकमात्र भगवद्-विग्रह ही शुभाश्रय है।

विलक्षणता- संसारी प्राणीका शरीर उसके ज्ञानानन्दस्वरूप और ज्ञानानन्दगुणका आच्छादक होता है, इसलिए उसका ज्ञानानन्दस्वरूप प्रकाशित नहीं होता है एवं उसका ज्ञानगुण भी आच्छादित होकर देहव्यापी हो जाता है। इस कारण वह अपनेको दुःखी और अज्ञ समझता है। श्रीभगवान् का शरीर उनके ज्ञानानन्द स्वरूपका और ज्ञानानन्द गुणका आच्छादन नहीं करता है, इसलिए वह उनको अत्यन्त अभिमत है। जिस प्रकार मणिमय पात्र अपने अन्दर स्थापित सुवर्ण और उसकी कान्तिका प्रकाशक होता है, उसी प्रकार श्रीविग्रह ब्रह्मके स्वरूप और ज्ञान, बल, ऐश्वर्य, वीर्य, शक्ति तथा तेज गुणोंका प्रकाशक होता है। यह ज्ञानादि छः गुणोंका प्रकाशक होनेसे षाड्गुण्य भी कहा जाता है। इसकी ज्ञानानन्दरूपता मुख्य है, षाड्गुण्य औपचारिक हैं। यह सर्वाधिक, तेजस्स्वरूप है। निरतिशय उज्जवलता, सुन्दरता, सुकुमारता, लावण्य, यौवन, मार्दव, आर्जव आदि दिव्य गुणोंका आश्रय है। श्रीविग्रहमें विद्यमान हस्तपाद आदि अवयवोंकी शोभाको सुन्दरता कहते हैं। विलक्षण सन्निवेशसे विशिष्ट अवयवीकी शोभाको लावण्य कहते हैं। कोमलताको मार्दव और अवयवोंके सुन्दर सन्निवेशको आर्जव कहते हैं। **सर्वगन्धः सर्वरसः... ..**(छां.उ.३.१४.२) इत्यादि वचनोंसे श्रीविग्रह अप्राकृत गन्धादि **गुणोंका आश्रय कहा गया है।**

परमात्मा शरीररहित हैं- **अकायम्**(ई.उ.८), परमात्मा हस्तपादसे रहित हैं- **अपाणिपादः**(श्वे.उ.३.१९) इत्यादि वचनोंसे भगवान् के श्रीविग्रहका निषेध होता है। कर्माधीन जन्म न लेने वाले परमात्मा बहुत रूपोंमें अवतार लेते हैं- **अजायमानो बहुधा विजायते**।(य.सं.३१.१९), आपका जो कल्याणकारक दिव्यमङ्गल विग्रह है, उसे देखता हूँ- **यत्ते रूपं कल्याणतमं तत्ते पश्यामि**।(ई.उ. १६) इत्यादि वचनोंसे श्रीविग्रहका प्रतिपादन होता है। निषेध करने वाले वाक्य उत्सर्ग(सामान्य) वाक्य हैं और प्रतिपादन करनेवाले वाक्य अपवाद(विशेष) वाक्य हैं। अतः उत्सर्गापवादन्यायसे[1] उत्सर्गवाक्य हेयशरीरका निषेध करते हैं और अपवाद वाक्य अप्राकृत शरीरका प्रतिपादन करते हैं।

परब्रह्मका दिव्यमङ्गलविग्रह शुद्धसत्त्वमय है। परब्रह्म ज्ञानस्वरूप हैं, उनका विग्रह भी ज्ञानस्वरूप है। पूर्वमें प्रतिपादित

टिप्पणी१- उत्सर्गापवादन्याय- पशुसे याग करना चाहिए- **पशुना यजेत्** यह वाक्य पशुसे याग करनेको कहता है, वह विना हिंसाके सम्भव नहीं है और किसी भी प्राणीकी हिंसा नहीं करनी चाहिए- **मा हिंस्यात् सर्वाणि भूतानि** यह वाक्य किसी भी प्राणीकी हिंसा न करनेको कहता है। अतः इन दोनों वाक्योंमें विरोध प्रतीत होता है। इसके परिहारके लिए **मा हिंस्यात् सर्वाणि भूतानि** इस वाक्यके अर्थका संकोच किया जाता है। ऐसा होनेपर विरोधका परिहार होनेसे दोनों वाक्य सार्थक हो जाते हैं। **मा हिंस्यात् सर्वाणि भूतानि** यह उत्सर्ग वाक्य है तथा **पशुना यजेत** यह अपवाद वाक्य है। यागसे अतिरिक्त किसी प्राणीकी हिंसा नहीं करनी चाहिए। यह उत्सर्गवाक्यका अर्थ स्वीकार किया जाता है। **पशुना यजेत** इससे केवल यागमें ही पशुहनन प्राप्त है। इस प्रकार दोनों वाक्योंमें विरोध परिहृत हो जाता है। जब अपवाद वाक्यके द्वारा ज्ञात अर्थसे व्यतिरिक्त अर्थमें उत्सर्गवाक्यके अर्थका संकोच किया जाता है, तब उत्सर्गापवादन्यायकी प्रवृत्ति होती है।

ज्ञान पदका प्रवृत्तिनिमित्त स्वयंप्रकाशत्व स्वरूपभूत ज्ञान और शुद्धसत्त्वमय विग्रह दोनोंमें रहता है। ब्रह्मस्वरूपमें विद्यमान स्वयंप्रकाशत्व स्वस्मै भासमानत्वरूप है तथा विग्रहमें विद्यमान स्वयं प्रकाशत्व परस्मै भासमानत्वरूप है।

द्वैतवादी माध्वमतके अनुसार परब्रह्मका स्वरूपभूतज्ञान ही विग्रहरूपमें रहता है। इस प्रकार ब्रह्मस्वरूप और उनके विग्रहमें कोई भेद नहीं होता है किन्तु यह उचित नहीं है क्योंकि अनित्य विग्रहका ब्रह्मस्वरूपसे अभेद मानने पर विग्रहके उत्पत्ति आदि विकार ब्रह्मस्वरूपमें मानने होंगे और ऐसा होनेपर ब्रह्मस्वरूपके निर्विकारत्वका प्रतिपादन करनेवाली श्रुतियोंसे विरोध होगा। नित्यविग्रहका ब्रह्मस्वरूपसे अभेद मानने पर ब्रह्मस्वरूपके निष्कलत्व(अवयवरहितत्व)की प्रतिपादक 'ब्रह्मस्वरूप हस्तपादादि अवयववाला नहीं है'- **निष्कलम्**(श्वे.उ.६.१९) इस श्रुतिसे विरोध होगा, इसलिए इस प्रसङ्गमें माध्वमत समीचीन नहीं है।

श्रुति प्रमाण- १.मैं समस्त प्राकृतलोकोंके ऊपर पर व्योममें विराजमान सूर्यके समान भास्वरवर्णवाले इस परमपुरुषको जानता हूँ- **वेदाहमेतं पुरुषं महान्तमादित्यवर्णं तमसः परस्तात्**।(य.सं.३१.१८, श्वे.उ.३.८) यहाँ 'आदित्यवर्णम्' शब्दसे भगवान् के विग्रहका वर्णन है।

२.आदित्यमण्डलके मध्यमें कमनीय कान्ति वाले, रमणीय श्मश्रुकेश वाले, नखसे लेकर शिर पर्यन्त रमणीय अङ्गोंवाले पुरुष दिखाई देते हैं। गम्भीर जलसे उत्पन्न, पुष्टनालसे युक्त तथा सूर्यकी किरणोंसे विकसित कमलदलके समान विशाल नेत्रोंवाले वे 'उत' शब्दके वाच्य हैं- **अथ य एषोऽन्तरादित्ये हिरण्मयः पुरुषो दृश्यते हिरण्यश्मश्रुः। हिरण्यकेश आप्रणखात् सर्व एव सुवर्णः। तस्य यथा कप्यासं पुण्डरीकम्, एवमक्षिणी, तस्योदिति नाम**।(छां.उ.१.६.६-७)

३.आपका जो सभी मङ्गलकारक वस्तुओंसे अतिशय मङ्गलकारक, शुभाश्रयभूत, निरतिशय सुन्दर दिव्यविग्रह है, उसे देखता हूँ- **यत्ते रूपं कल्याणतमं तत्ते पश्यामि**।(ई.उ.१६)। यहाँ 'कल्याणतमं रूपम्' इन शब्दोंसे श्रीविग्रह प्रतिपादित है।

४.परमात्माका विग्रह ऐसा है, जैसा कुसुम्भसे रंगा वस्त्र- **तस्य हैतस्य पुरुषस्य रूपं यथा माहारजनं वासः**।(बृ.उ.२.३.६)

५.विद्युत्के समान वर्णवाले तेजोमय विग्रहसे युक्त परमात्मासे निमेष आदिरूप सभी काल उत्पन्न हुए- **सर्वे निमेषा जज्ञिरे विद्युतः पुरुषादधि**।(तै.ना.उ.८) यहाँ 'विद्युतः' शब्दसे दिव्य विग्रह वर्णित है।

६.परमात्मा विशुद्ध मनसे ग्राह्य हैं, प्राण(जीव)को धारण करनेवाले हैं, प्रकाशमान दिव्यमङ्गलविग्रहसे युक्त हैं, सत्यसंकल्पवाले और अव्याकृत आकाश पदके वाच्य प्रधानके भी आत्मा हैं, जगत्की सृष्टि आदि कर्मोंको करनेवाले हैं, अभीष्ट सभी भोग्य, भोगोपकरण और भोगस्थानसे सम्पन्न हैं, सर्वविध अप्राकृत गन्ध और रससे सम्पन्न हैं, सभी कल्याणकारक गुणोंको स्वीकार करके अवाप्तसमस्तकाम होनेके कारण निरपेक्ष होकर शान्त भावसे स्थित हैं- **मनोमयः प्राणशरीरो भारूपः सत्यसंकल्पः आकाशात्मा सर्वकर्मा सर्वकामः सर्वगन्धः सर्वरसः सर्वमिदमभ्यात्तोऽवाक्यनादरः**।(छां.उ.३.१४.२) यहाँ भारूप शब्दसे अप्राकृत विग्रह वर्णित है।

सूत्र प्रमाण- ब्रह्मसूत्रकार महर्षि वेदव्यासने **अन्तस्तद्धर्मोपदेशात्**(ब्र.सू.१.१.२१)सूत्रसे श्रीभगवान् के दिव्यमङ्गलविग्रहका प्रतिपादन किया है। यह सूत्र अन्तरधिकरणमें पठित है। **यः एषोऽन्तरादित्ये हिरण्मयः पुरुषो दृश्यते हिरण्यश्मश्रुर्हिरण्यकेश आप्रणखात्सर्व एव सुवर्णः**।(छां.उ.१.६.६) **तस्य यथा कप्यासं पुण्डरीकमेवमक्षिणी**

तस्योदिति नाम स एष सर्वेभ्यः पाप्मभ्य उदितः। उदेति ह वै सर्वेभ्यः पाप्मभ्यो य एवं वेद।(छां.उ.१.६.७) यह उपनिषद् मन्त्र उक्त अधिकरणका विषयवाक्य है। सूर्यमण्डलमें विद्यमान श्रीभगवान् की उपासना ही अन्तरादित्य विद्या है, यह विद्या एक ब्रह्मविद्या है। इसका निरूपण उक्त उपनिषद् वाक्यमें है। इसका अर्थ यह है कि आदित्यमण्डलमें कमनीय कान्तिवाले जो पुरुष दिखाई देते हैं, वे कमनीय श्मश्रुकेशवाले तथा नखसे लेकर शिरपर्यन्त रमणीय सर्व अवयववाले हैं। उनकी वैसी आँखें हैं, जैसे गम्भीर जलमें उत्पन्न, नालसे युक्त, सूर्यकी किरणोंसे खिला हुआ कमल। दिव्य शरीरवाला यह पुरुष 'उत्' इस नामवाला है क्योंकि यह सभी पापोंसे रहित है। जो इसकी उपासना करता है, वह भी समस्त पापोंसे रहित हो जाता है, ऐसा विषयवाक्य होनेपर यह संशय होता है कि सूर्यमण्डलमें दिखाई देनेवाला पुरुष जीवात्मा है या परमात्मा? पूर्वपक्षीके अनुसार यह जीव ही है क्योंकि वही कर्मानुसार शरीरधारण करता है। सर्वथा कर्मसम्बन्धके अभाववाले परमात्माका शरीर न होनेसे उक्त पुरुष परमात्मा नहीं है। ऐसा पूर्वपक्ष प्रस्तुत होनेपर **अन्तस्तद्धर्मोपदेशात्**(ब्र.सू.१.१.२१) यह सिद्धान्त सूत्र प्रवृत्त होता है। **अन्तः**= सूर्यमण्डलके अन्दर विद्यमान परमात्मा है, **तद्धर्मोपदेशात्**= क्योंकि वहींपर **सर्वेभ्यः पाप्मभ्यः उदितः** इस प्रकार उनके सर्वपापरहितत्वरूप असाधारण धर्मका उपदेश किया गया है। सर्व पापसे रहित परमात्मा ही होता है। परमात्मा पापरहित, जरारहित, मृत्युरहित, शोकरहित, क्षुधारहित, पिपासारहित, नित्यभोग्य, भोगोपकरण तथा भोगस्थानसे सम्पन्न हैं तथा अप्रतिहत संकल्पवाले हैं- **एष आत्माऽपहतपाप्मा विजरो विमृत्युर्विशोको विजिघत्सोऽपिपासः सत्यकामः सत्यसंकल्पः।**(छां.उ.८.१.५) इत्यादि श्रुतियों में अपहतपाप्मत्व(पापरहितत्व) आदि उसीके असाधारण धर्म

कहे गये हैं। अतः अन्तरादित्यविद्याका प्रतिपाद्य ब्रह्म ही है, जीव नहीं। कर्मसम्बन्धसे रहित परमात्माका शरीर न होनेसे उक्त पुरुष परमात्मा नहीं है, पूर्वपक्षीका यह कथन भी अनुचित है क्योंकि सभी शरीर कर्मजन्य नहीं होते हैं। बद्ध जीवोंके ही शरीर कर्मजन्य होते हैं। परन्तु ईश्वरके शरीर उनके सत्यसंकल्पसे होते हैं। अतः कर्मसम्बन्धसे रहित अप्राकृतशरीरधारी परमात्मा ही आदित्यमण्डलमें दृश्यमान हैं। इस प्रकार सूत्रकारने परमात्माके शरीरको सिद्ध किया है। आदित्यमण्डलमें स्थित पुरुषका योगियोंके द्वारा साक्षात्कार किया जाता है। इस प्रकार कहा गया सर्वान्तर्यामी सर्वज्ञ परमात्मा है क्योंकि उसे लोकों और अभीष्ट पदार्थोंका ईश कहा जाता है तथा पापोंसे ऊपर उठा हुआ भी कहा जाता है- **हिरण्मयः पुरुषो दृश्यते इति प्राज्ञस्सर्वान्तरः स्यात्, लोककामेशोपदेशात् तथोदयात् पाप्मनाम्**।(ब्रं.नं.वा.) इस प्रकार प्राचीन आचार्य ब्रह्मनन्दिने भगवद्विग्रह का प्रतिपादन किया है।

अप्राकृत-१.शुद्धसत्त्व अप्राकृत है, अतः शुद्धसत्त्वमय भगवद्विग्रह भी अप्राकृत है। इसी प्रकार त्रिपादविभूतिमें नित्यसूरियों और मुक्तोंके विग्रह अप्राकृत होते हैं।

२.प्राकृतपदार्थ जड़ अर्थात् अस्वयंप्रकाश होते हैं, शुद्धसत्त्व अजड़ अर्थात् स्वयंप्रकाश होनेसे अप्राकृत है।

३.मांस, मेद और अस्थिसे निर्मित प्राकृतशरीर भगवान् का नहीं है- **न तस्य प्राकृता मूर्तिर्मांसमेदोऽस्थिसंभवा**(व.पु.७५.४४), **न तस्य प्राकृती मूर्तिर्मांसमेदोऽस्थिसंभवा**(वा.पु.३४.४०) इस वचनके द्वारा प्राकृत विग्रहका निषेध होनेसे वह अप्राकृत सिद्ध होता है।

४.इस परमात्माका देह भूतोंके समूहसे निर्मित आकृतिवाला नहीं है- **न भूतसंघसंस्थानो देहोऽस्य परमात्मनः**(म.भा.शां) इस वचनसे भी श्रीविग्रह अभौतिक अर्थात् अप्राकृत सिद्ध होता है।

५.श्रीमद्भागवत्में ब्रह्मा द्वारा वत्सहरणके प्रसंगमें विविध भगवद्विग्रहोंको अप्राकृत कहा गया है- **सत्यज्ञानानन्तानन्दमात्रैक-रसमूर्तयः**।(भा.१०.१३.५४)।

६.**चिदानन्दमय देह तुम्हारी** इस प्रकार श्रीरामचरितमानस(२.१२६.५)में भी भगवद्विग्रह अप्राकृत कहा गया है।

नित्य- भगवान् का श्रीविग्रह नित्य अर्थात् तीनों कालोंमें रहनेवाला है। इसकी उत्पत्ति और विनाश नहीं होते हैं। इसी प्रकार त्रिपादविभूतिमें विद्यमान मण्डप, प्रासाद आदिकी भी नित्यता जाननी चाहिए।

शंका- भगवद्विग्रह भी विनाशी(अनित्य) है क्योंकि यह सावयव(अवयवजन्य) है- **भगवद्विग्रहः विनाशी सावयवत्वात्** इस अनुमान प्रमाणसे भगवद्विग्रह भी विनाशी सिद्ध होता है क्योंकि जो वस्तु सावयव होती है, वह विनाशी होती है। ऐसी व्याप्ति लोकमें देखी जाती है। अतः श्रीविग्रह भी सावयव होनेसे विनाशी ही है, इसे नित्य स्वीकार करना उचित नहीं है?

समाधान- भगवद्विग्रह सावयव वस्तुओंके समान आकारवाला होनेपर भी सावयव नहीं है, वह वैसा ही सिद्ध है। अतः यहाँ पक्षमें हेतु न रहनेसे स्वरूपासिद्धि दोष होने के कारण सावयवत्व असिद्ध हेत्वाभास है, इसलिए उक्त अनुमानसे इसका विनाश सिद्ध नहीं होता है। निम्न शास्त्रवचनोंसे यह बाधित हेत्वाभास भी है-

१.भगवान् की सर्वोत्कृष्टता ज्ञात होनेपर नीलकमलके समान कान्तिवाले, सदा विद्यमान उनके श्रीविग्रहके प्रति जिसके हृदयमें प्रीति होती है, भगवान् उसकी सन्निधिमें जाते हैं- **नित्यसिद्धे तदाकारे तत्परत्वे[1] च पौष्करे। यस्यास्ति सत्ता हृदये तस्यासौ सन्निधिं व्रजेत्**(पौ.सं.)।

२.परमात्माका विग्रह नित्य है। वह नित्य आकृतिको धारण किए हुए है- **नित्यं नित्याकृतिधरम्**(सा.सं.)।

३.परमात्माका विग्रह नित्य है। वह अनुमेय नहीं है और अनादि है- **नित्यालिङ्गा स्वभावसंसिद्धिः**।(र.ब्रा.)

४.जगत्में उस एक सनातन, पुरुष वासुदेवके विग्रहको छोड़कर कोई भी स्थावर-जङ्गम शरीर नित्य नहीं है- **नित्यं हि नास्ति जगति भूतं स्थावरजङ्गमम्। ऋते तमेकं पुरुषं वासुदेवं सनातनम्**।।(म.भा. शां.३३६.३२) यहाँ वासुदेव पद विशेष्य ब्रह्मस्वरूपका बोधक नहीं है क्योंकि उसके अनित्यत्वकी प्राप्ति न होनेसे उसका निषेध ही व्यर्थ होगा, अतः वह विग्रह का बोधक है।

५.सदा एकरूप अर्थात् नित्यविग्रह धारण करनेवाले श्रीभगवान् हैं- **सदैकरूपरूपाय**। (वि.पु.१.२.१)

६.अनन्यचित्तवाले उपासकों पर अनुग्रह करनेके लिए श्रीभगवान् की शक्तिसे निर्मित उनका शरीर अनित्य है- **स्याद् रूपं कृतकम्**

अनुग्रहार्थं तच्चेतसाम् ऐश्वर्यात्।(ब्र.नं.वा.) इस प्रकार वाक्यकार पूर्वपक्ष करके सिद्धान्त प्रस्तुत करते है-उपासकों पर अनुग्रह करने के लिए श्रीभगवान् का नित्य और दिव्य शरीर केवल चक्षुइन्द्रियके द्वारा प्रत्यक्ष नहीं है, परिशुद्ध अन्तःकरणके द्वारा उसका प्रत्यक्ष होता है, ऐसा शास्त्रोंके द्वारा निर्देश किया जाता है- **रूपं वातीन्द्रियम् अन्तःकरणप्रत्यक्षनिर्देशात्**(ब्र.नं.वा.) उक्त वाक्यका भाष्यकार द्रमिडाचार्यने इस प्रकार व्याख्यान किया है- विश्वस्रष्टा परमात्माका विग्रह स्वाभाविक ही है अर्थात् जिस प्रकार ज्ञानादि गुण परमात्माके स्वरूपनिरूपक होनेके कारण स्वाभाविक हैं, वैसे ही दिव्य विग्रह भी उनके स्वरूपका निरूपक होनेके कारण स्वाभाविक है। शास्त्रसे शरीररहित परमात्माके शरीरका प्रतिपादन नहीं हो सकता है क्योंकि जो वस्तु जैसी है, उसका वैसा ही वर्णन करना शास्त्र का कार्य है- **अञ्जसैव विश्वसृजो रूपम्...न ह्यरूपायाः देवतायाः रूपम् उपदिश्यते, यथाभूतवादि हि शास्त्रम्।**(द्र.भा.)

भगवद्-विग्रहके लिए हिरण्यस्य(सुवर्णस्य) विकारः, इस प्रकार विकार(कार्य) अर्थमें मयट् प्रत्ययको स्वीकार करके हिरण्मय शब्दका प्रयोग नहीं किया गया है क्योंकि भगवद्विग्रह उत्पन्न नहीं होता है। वह नित्य है, इसलिए जिस प्रकार मुख और चन्द्रमें उज्ज्वलता गुणकी समानता होनेसे चन्द्रमुख शब्दका प्रयोग होता है वैसे ही हिरण्य और भगवद्विग्रहमें उज्ज्वलताकी समानताके कारण विग्रहके लिए हिरण्मय शब्दका प्रयोग किया गया है- **हिरण्मयः इति रूपसामान्यात् चन्द्रमुखवत् न मयट् अत्र विकारम् आदाय प्रयुज्यते, अनारभ्यत्वाद् आत्मनः।**(द्र.भा.) श्रीभगवान् अपनी इच्छासे अभीष्ट

विग्रहको धारण करनेवाले हैं- **इच्छागृहीताभिमतोरुदेहः।**(वि.पु.६.५.८४) यह वचन अवतारकालिक विग्रहोंके विषयमें है। अन्य विग्रह नित्य और अनित्य दोनों प्रकार के होते हैं। इनमें नित्य इच्छासे ग्रहीत नित्य और अनित्य इच्छासे ग्रहीत अनित्य होते हैं। श्रीभगवान् के नित्यविग्रह सर्वदा विद्यमान होते हैं किन्तु सर्वदा दृश्यमान नहीं होते हैं, भगवत्संकल्पसे आवरणभूत अविद्याके निवृत्त होनेपर दृश्यमान होते हैं।

श्रीभगवान् के पर, व्यूह, विभव, अन्तर्यामी और अर्चावतार भेदसे पाँच प्रकारके विग्रह होते हैं। ये सभी अप्राकृत हैं।

१.**परविग्रह-** नित्यविभूतिमें महामणिमण्डपमें विद्यमान परब्रह्मका विग्रह पर कहा जाता है। यह योगियोंके द्वारा ध्येय, सभीको अपनी ओर आकृष्ट करनेवाला, सम्पूर्ण भोगोंसे विरक्ति करानेवाला, नित्य तथा मुक्तों केद्वारा अनुभाव्य, खिले हुए कमलकी सुगन्धसे परिपूर्ण महासरोवरके समान सम्पूर्ण तापोंका हरण करनेवाला तथा सभी अवतारोंका मूलभूत है। सभीका आश्रय है। दिव्य वस्त्र, आभूषण तथा आयुधोंसे सुशोभित है। यह हमेशा एकरूप रहता है। कुमारावस्था और यौवनावस्थाकी मध्यवर्ती अवस्थावाला है। यह अवस्था आगन्तुक नहीं है अपितु स्वाभाविक है।

२.**व्यूहविग्रह-** जगत्की उत्पत्ति, स्थिति और संहार करनेके लिए तथा उपासकों पर अनुग्रह करनेके लिए श्रीभगवान्द्वारा धारण किये गये विग्रह व्यूहविग्रह कहलाते हैं। वासुदेव, संकर्षण, प्रद्युम्न और अनिरुद्ध ये चार व्यूह हैं।

३.**विभवविग्रह–** अवतारको विभव कहते हैं। श्रीभगवान् के अवतारशरीर भी अप्राकृत होते हैं। कभी अप्राकृत धाममें विद्यमान भगवान् के शुद्धसत्त्वमय पर विग्रहके अंशसे ये अवतार होते हैं। कभी भगवान्के संकल्पसे भक्तोंकी अविद्यानिवृत्ति होनेपर यहीं नित्य विद्यमान अप्राकृत विग्रह उनके नेत्रोंका विषय हो जाता है। इस प्रकार भक्तोंके नेत्रोंका विषय होना भी अवतार होना है।

४.**अन्तर्यामीविग्रह–** श्रीभगवान् उपासकों पर अनुग्रह करनेके लिए अतिसूक्ष्म अङ्गुष्ठके समान परिमाणवाले विग्रहसे युक्त होकर हृदयकमलके मध्यमें विराजमान रहते हैं। उनका यह विग्रह अन्तर्यामीविग्रह कहलाता है। योगियोंके द्वारा इसका साक्षात्कार किया जाता है। इसका वेदोंमें निम्न प्रकारसे वर्णन है– हृदयकमलके मध्यमें विद्यमान आकाशमें एक भास्वर अग्निज्वाला है, जिसके मध्यमें नीलमेघकी कान्तिके समान विग्रहसे युक्त परमात्मा विराजमान हैं, ऐसे परमात्माको मध्यमें धारण करनेवाली वह अग्निज्वाला उस विद्युत्के समान चमकती है, जिसके अन्दर नील मेघ विराजमान हो– **नीलतोयदमध्यस्था विद्युल्लेखेव भास्वरा**[1](तै.ना.उ. १००) यह अभूतोपमा है क्योंकि मेघमें विद्युत्का रहना प्रसिद्ध है किन्तु विद्युत्में मेघकी स्थिति असम्भव है। यदि मेघको अन्दर लिए हुए कोई विद्युत् हो तो वह इस वह्निशिखा (नील मेघकी कान्तिके समान विग्रहवाले परमात्माको अन्दर धारण करनेवाली)का उपमान

टिप्पणी१– भास्वरा= दहरपुण्डरीकमध्यस्थाकाशवर्तिनी वह्निशिखा, नीलतोयदमध्यस्था= स्वान्तर्निहितनीलतोयदाभपरमात्मविग्रहा, विद्युल्लेखेव= स्वान्तर्निहितनीलतोयदा विद्युद् इव।

हो सकती है। इस भावको लेकर यहाँ उपमान कहा गया है। इस वेदवाक्यमें 'नीलतोयद' शब्दसे नीलमेघश्याम भगवद्-विग्रहका वर्णन है।

५. **अर्चावतारविग्रह**- देवालय आदिमें स्थित श्रीभगवान् की प्रतिमाको अर्चा या अर्चाविग्रह कहते हैं। यह स्वयंव्यक्त, दैव, आर्ष और मानुष भेदसे चार प्रकार का होता है-

क. **स्वयंव्यक्त**- स्वयं प्रादुर्भूत हुए विग्रहको स्वयंव्यक्त कहते हैं।

ख. **दैव**- देवताओंके द्वारा प्रतिष्ठापित विग्रहको दैव कहते हैं।

ग. **आर्ष**- ऋषियोंके द्वारा प्रतिष्ठापित विग्रहको आर्ष कहते हैं। इसीको सैद्ध भी कहते हैं क्योंकि सिद्ध भी ऋषि कोटिके अन्तर्गत हैं।

घ.**मानुष**- मनुष्योंके द्वारा प्रतिष्ठापित विग्रहको मानुष कहते हैं। ये सभी विग्रह दिव्य हैं।

प्रतिष्ठाकालमें वैदिक विधिसे श्रीभगवान् का आवाहन करने पर अप्राकृत विग्रहविशिष्ट वैकुण्ठनाथ भगवान् अप्राकृत धामसे आकर विग्रहमें विराजमान हो जाते हैं, इसलिए प्रतिष्ठिापित विग्रह भी दिव्य हो जाता है।

उपर्युक्त प्राकृत और अप्राकृत पदार्थोंका संसर्ग होनेमें कोई बाधा नहीं है क्योंकि अवतारोंके अप्राकृत शरीर प्राकृतलोकमें आते हैं। भगवद्धाम जानेवाले मुक्तोंके प्राकृत सूक्ष्मशरीर अप्राकृत लोककी शुद्धसत्त्वमयी विरजाके तीर तक जाते हैं। प्रकृतिमण्डलमें भी

भगवान् के धाम हैं। सनकादियोंका जय-विजयको शाप तथा श्रीकृष्णके द्वारा वैदिकपुत्रोंका आनयन यहींसे हआ। अर्चिरादि मार्गसे त्रिपादविभूति गये हुए उपासकोंका पुनर्जन्म नहीं होता है। श्रीभगवान् के पर आदि रूपोंका विस्तृत वर्णन पूर्वमें किया गया है।

व्यापकत्व शक्ति- भगवद्विग्रहमें व्यापक होकर रहनेकी अचिन्त्य, अपरिमेय शक्ति विद्यमान है। इसी कारण श्रीकृष्णके द्वारा अर्जुनको दिखानेके लिए विराट शरीरका प्राकट्य और उस शरीरके एक भागमें सम्पूर्ण जगत्को दिखाना, वामन भगवान् के द्वारा चरणोंसे त्रिलोकीको मापना आदि सम्भव होता है।

भगवद्विग्रहमें व्यापकत्व शक्तिके समान संकोच और कारणत्व शक्तियाँ भी हैं। श्रीभगवान् संकोच शक्तिके कारण माता कौशल्या और देवकीको वात्सल्य सुख प्रदान करनेके लिए विशालरूपसे बालरूप होकर उनकी अंक(गोद)में आ गये और व्यापकत्व शक्तिके कारण सर्वव्यापक शरीर तथा अन्य बड़े शरीर धारण करते हैं। कारणत्व शक्तिके कारण त्रिपादविभूतिस्थ पर विग्रहसे अवतारविग्रह होते हैं। नित्यसूरियों और मुक्तोंके शरीरमें भी संकोच, विकास और कारणत्व शक्तियाँ होती है।

प्रश्न- विग्रहमें हस्तपाद आदि अवयव होते हैं। मस्तक और नासिका उभरे हुए होते हैं, चक्षु और कपोल वैसे नहीं होते हैं। अङ्गुलियोंके मध्यमें अवकाश होता है, अतः भगवद्विग्रहकी व्यापकता कैसे सम्भव होती है?

उत्तर– शुद्धसत्त्व द्रव्यके स्थूल अंशसे उनके अवयव होते हैं। शुद्धसत्त्वमय भगवद्‌-विग्रह अपने सूक्ष्म अंशसे उन स्थानोंपर भी विद्यमान रहता है, जहाँ अवकाश दिखाई देता है। इस प्रकार भगवद्विग्रहकी व्यापकता सम्भव होती है।

प्रश्न– जगत्‌के अन्दर वटपत्रशायी बाल कृष्ण एवं बाल राम हैं तथा उनके अन्दर सम्पूर्ण जगत् है। जिसका दर्शन उन्होंने मार्कण्डेय एवं काकभुशुण्डीको कराया, ऐसा शास्त्रोंमें सुना जाता है किन्तु यह सम्भव नहीं है क्योंकि जो वस्तु जिससे बाहर होती है, वह उसके अन्दर नहीं होती। अतः यह मानना चाहिए कि अचिन्त्य शक्तिवाले मायापति भगवान् अपनी अनिर्वचनीय शक्तिसे जो नहीं है, वैसा दृश्य दिखा देते हैं, अतः उक्त विग्रहविषयक कथानकोंकी सत्यता नहीं है।

उत्तर– भगवद्विग्रह जब अपनी संकोच शक्तिके कारण बालरूप हो जाता है, तब जगत्‌के अन्दर उसके दर्शन होते हैं और जब वही विग्रह विकासशक्तिके कारण विराट हो जाता है, तब उसके अन्दर ही समग्र जगत्‌के दर्शन होते हैं। यहाँ दोनों विग्रहोंमें भेद होनेपर भी शीघ्रताके कारण उनकी एकताकी प्रतीति होती है। श्रीभगवान् के सत्यसंकल्पसे जगत्‌के एक देशमें भगवद्विग्रहका दर्शन एवं भगवद्विग्रहके अन्दर समग्र जगत्‌का दर्शन ये दोनों घटनायें सत्य ही हैं। इस प्रकार उक्त विग्रहविषयक कथानक सत्य ही सिद्ध होते हैं। बाल रामने माता कौशल्याको अपने मुखमें ब्रह्माण्ड का दर्शन कराया। इसी प्रकार बाल कृष्णने माता यशोदाको अपने मुखमें ब्रह्माण्डदर्शन कराया। ये घटनायें भी पूर्वोक्त प्रकारसे सत्य ही हैं।

यद्यपि इस संदर्भमें पूर्वोक्त समाधान पर्याप्त है तथापि अन्य समाधान दिये जाते हैं-

१.भगवान् के संकल्पसे जगत् संकुचित होकर उनके मुखमें स्थित हो गया। उनकी इच्छासे यशोदा आदिने विशाल रूपमें ही देखा।

२.भगवान् ने अपने संकल्पसे बाह्य जगत्के कारण सूक्ष्म जगतको अपने अन्दर बाह्य जगद्वत् दिखाया।

३.भगवान् ने अपने संकल्पसे बाह्य जगत्के सदृश सूक्ष्मजगत्की अपने अन्दर रचना करके उसे बाह्य जगद्वत् दिखाया।

४.लोकोत्तरविलक्षण भगवद्विग्रह दर्पणके समान निर्मल है। दर्पण जैसे पदार्थोंका अभिव्यञ्जक होता है, वैसे ही अत्यन्त निर्मल तथा प्रकाशमान भगवद्विग्रह भी जगतका अभिव्यञ्जक है। जैसे दूरस्थ वस्तुएं भी अपनी प्रतीतिके समय दर्पणमें स्थित हुई प्रतीत होती हैं, वैसे ही सम्पूर्ण जगत् भगवद्विग्रहमें स्थित हुआ प्रतीत होता है। यद्यपि दर्पण बिम्बपदार्थका आधार नहीं हो सकता, तथापि भगवद्विग्रह सबका आधार हो सकता है। भगवान् का विग्रह दिव्य होनेके कारण उसमें किसी भी पदार्थके रहनेमें अवरोध न होनेसे सम्पूर्ण जगत् उसमें विद्यमान हो सकता है।

धर्मभूतज्ञानविवेचन

चेतन आत्मा(जीव और ईश्वर)के लिए स्व और परका प्रकाशक, एक विलक्षण स्वतःसिद्ध तत्त्व ज्ञान कहलाता है। यह धर्मी आत्माके आश्रित रहनेसे धर्मभूत ज्ञान कहा जाता है, स्वरूपभूत धर्मी ज्ञानसे व्यावृत्तिके लिए धर्मभूत ज्ञान कहा जाता है और आत्माका स्वरूपनिरूपक धर्म होनेके कारण धर्मभूत ज्ञान कहा जाता है। इसका मति, बुद्धि, संवित्, अनुभूति, उपलब्धि इत्यादि पदोंसे व्यवहार किया जाता है। यह विषयप्रकाशक ज्ञान आत्माके आश्रित रहता है, इसलिए आत्मा ज्ञाता कहा जाता है। ज्ञान विषयप्रकाशके समय स्वाश्रय आत्माके लिए प्रकाशित होता है।

लक्षण- १.स्वयंप्रकाश होते हुए, अचेतन होते हुए नित्यविभूतिसे भिन्न होना ज्ञानका लक्षण है- **स्वयंप्रकाशत्वे सति अचेतनत्वे सति नित्यविभूतिभिन्नत्वं ज्ञानस्य लक्षणम्।** लक्षणमें केवल स्वयंप्रकाशत्व होनेपर आत्मामें अतिव्याप्ति होती है। उसके निवारणके लिए अचेतनत्वका निवेश किया गया है। इतना होनेपर भी नित्यविभूतिमें अतिव्याप्ति होती है। इस दोषकी निवृत्तिके लिए नित्यविभूतिभिन्नत्व पद दिया गया है।

२.स्वयंप्रकाश होते हुए, अचेतन होते हुए अपनेसे भिन्न विषयवाला होना ज्ञानका लक्षण है- **स्वयंप्रकाशत्वे सति अचेतनत्वे सति स्वभिन्नविषयकत्वं ज्ञानस्य लक्षणम्।** स्वयंप्रकाशत्वे सति अचेतनत्व कहने पर नित्यविभूतिमें अतिव्याप्ति होती है। उसके निवारणके लिए स्वभिन्नविषयकत्व कहा गया है। नित्यविभूति प्रकाशस्वरूप है। वह अपनेको ही प्रकाशित करती है अर्थात् अपने स्वरूपभूत प्रकाशका विषय वह स्वयं होती है। इस प्रकार नित्यविभूति स्वविषयक होती है, अतः उसमें स्वविषयकत्व रहता है। वह अपनेसे भिन्नको

प्रकाशित नहीं करती है, इसलिए स्वभिन्नविषयक नहीं होती है। अतः उसमें स्वभिन्नविषयकत्व नहीं रहता है। इस प्रकार नित्यविभूतिमें अतिव्याप्तिका निवारण हो जाता है।

३.विषयके प्रकाशका असाधारण कारण होना ज्ञानका लक्षण है- **अर्थप्रकाशासाधारणकारणत्वं ज्ञानस्य लक्षणम।** इन्द्रिय, विषय और इन दोनोंका सन्निकर्ष आदि घटादि विषयके प्रकाशके साधारण कारण हैं, जबकि इसका असाधारण कारण ज्ञान है। इस प्रकार अर्थप्रकाशासाधारणकारणत्व लक्षणका लक्ष्य ज्ञानमें समन्वय हो जाता है।

४.विषयका प्रकाशक होना ज्ञानका लक्षण है- **अर्थप्रकाशकत्वं ज्ञानस्य लक्षणम्।** इन्द्रियाँ ज्ञानकी उत्पत्तिमें हेतु होनेपर भी विषयकी प्रकाशक नहीं हैं। विषयका प्रकाशक ज्ञान ही होता है। इस प्रकार अर्थप्रकाशकत्व लक्षण लक्ष्यमें सम्भव होता है। व्यवहारानुगुण्य अर्थात् व्यवहारकी योग्यता ही घटादि विषयका प्रकाश है। विषयके ज्ञानके विना उसका व्यवहार नहीं हो सकता क्योंकि व्यवहारके प्रति ज्ञान कारण है। ज्ञानसे विषयका प्रकाश होता है और प्रकाश होनेपर वह व्यवहारके योग्य हो जाता है। विषयमें होनेवाली व्यवहारयोग्यता ही विषयका प्रकाश है। यह ज्ञानसे होती है। इस प्रकार विषयनिष्ठ व्यवहारयोग्यताको करनेवाला ज्ञान कहा जाता है। यहाँ व्यवहारयोग्यताका अर्थ है- व्यवहारकी अयोग्यताकी निवृत्ति। ज्ञानसे विषय व्यवहारयोग्य होनेपर वैसी इच्छा और कृति होनेपर व्यवहार होता है।

५.विभु होते हुए, कालसे भिन्न होते हुए अपृथक्सिद्ध धर्म होना ज्ञानका लक्षण है- **विभुत्वे सति कालान्यत्वे सति अपृथक्सिद्धधर्मत्वम् ज्ञानस्य लक्षणम्।** प्रत्यगात्मा और परमात्मा इन दोनोंका ही धर्मभूतज्ञान विभु है, कालसे अन्य है तथा इन दोनोंका अपृथक्सिद्ध

धर्म(विशेषण) है। इस प्रकार उक्त लक्षणका ज्ञानमें समन्वय हो जाता है। लक्षणमें केवल अपृथक्सिद्धधर्मत्व पद देनेपर रूप आदिमें अतिव्याप्ति होती है क्योंकि उनमें अपृथक्सिद्धधर्मत्व रहता है। रूपादि घटादिके अपृथक्सिद्धधर्म हैं। इसके निवारणके लिये लक्षणमें विभुत्व पदका निवेश करते हैं। रूपादिमें विभुत्व न होनेसे उनमें अतिव्याप्तिका निवारण हो जाता है किन्तु कालमें अतिव्याप्ति होती है क्योंकि वह विभु है और परमात्माका अपृथक्सिद्ध धर्म है। कालमें अतिव्याप्तिकी निवृत्तिके लिए कालान्यत्वे सति कहा गया है। कालसे अन्य काल नहीं है, अतः कालान्यत्व कालमें नहीं है। विभुत्वे सति कालान्यत्व ईश्वरमें है किन्तु वह किसीका अपृथक्सिद्ध धर्म नहीं है। यहाँ विभुत्वपदसे सभी द्रव्योंके साथ संयोग(सर्वद्रव्यसंयोगित्व)को ग्रहण नहीं करना है प्रत्युत विभुत्व पदसे सभी द्रव्योंके साथ संयोगकी योग्यता(सर्वद्रव्यसंयोगार्हत्व) विवक्षित है। इस प्रकार बद्धजीवके धर्मभूतज्ञानमें लक्षणकी अव्याप्ति नहीं होती है क्योंकि उसका जो धर्मभूतज्ञान कर्मरूप अज्ञानके कारण संकुचित हो गया है उसमें भी सभी द्रव्योंके साथ संयोगकी योग्यता है, अतः उक्त लक्षण दोषरहित है।

६.विभु होते हुए, द्रव्य-गुण उभयरूप होते हुए, कालसे भिन्न होना ज्ञानका लक्षण है-**विभुत्वे सति द्रव्यगुणात्मकत्वे सति कालभिन्नत्वं ज्ञानस्य लक्षणम्**। ज्ञान विभु है, उसमें विभुत्व रहता है। द्रव्यगुणात्मकत्वका अर्थ है- द्रव्यगुणस्वरूपत्व। इसका अर्थ है- द्रव्यरूप और गुणरूप अर्थात् द्रव्यगुण उभयरूप। यहाँ गुण पदसे अद्रव्य ग्रहण नहीं किया जाता, प्रत्युत नियमतः अन्यके आश्रित रहनेवाली वस्तु(नियमेनान्याश्रित) ग्रहण की जाती है। जिस प्रकार प्रभा द्रव्य है और नियमतः प्रभावान् तेजके आश्रित रहती है। उसी प्रकार ज्ञान द्रव्य है और नियमतः आत्माके आश्रित रहता है, अतः

द्रव्यगुणात्मकत्व इसमें रहता है। लक्षणमें काल पदका निवेश न करने पर कालमें अतिव्याप्ति होती है क्योंकि वह भी विभु है, द्रव्य है और नियमतः ईश्वरके आश्रित रहता है, इसलिए लक्षणमें कालभिन्नत्व पदका निवेश किया गया है। कालमें कालभिन्नत्व न होनेसे अतिव्याप्ति नहीं होती है।

७.कर्ता कारकको लेकर होनेवाला जो प्रकाश है, वह ज्ञान है- **सकर्तृकावभासत्वं ज्ञानस्य लक्षणम्।** कर्म कारकको लेकर होनेवाला जो प्रकाश है, वह ज्ञान है- **सकर्मकावभासत्वं ज्ञानस्य लक्षणम्।** मैं घटको जानता हूँ- घटम् अहं जानामि। मैं पटको जानता हूँ- पटमहं जानामि इत्यादिरूप सभी ज्ञान होते हैं। ये ज्ञान ही अवभास या प्रकाश कहे जाते हैं। इनमें अहमर्थ आत्मा कर्ता कारक है, घटादि विषय कर्मकारक हैं। यह अवभास(ज्ञान या प्रकाश) कर्ता कारक और कर्म कारकको लेकर होता है अर्थात् ज्ञान जब प्रकाशित होता है, तब कर्ता कारक और कर्म कारकके साथ ही प्रकाशित होता है। इस प्रकार सकर्तृकावभासरूप और सकर्मकावभासरूप ज्ञान होता है, अतः ज्ञानमें सकर्तृकावभासत्व तथा सकर्मकावभासत्व लक्षणोंका समन्वय हो जाता है।

विषयप्रकाशकत्व- ज्ञानसे ही सभी विषयोंका प्रकाश होता है, अन्य किसीसे नहीं क्योंकि दीप होनेपर भी ज्ञानके विना विषयका प्रकाश नहीं होता है। इन्द्रियाँ ज्ञानकी उत्पत्तिमें हेतु तो हैं किन्तु वे विषयकी प्रकाशक नहीं हैं। प्रदीपकी प्रभा तो चाक्षुषज्ञानके विरोधी तमकी निवृत्तिके द्वारा चक्षु इन्द्रियका उपकार मात्र करती है। प्रकाशक ज्ञानकी उत्पत्तिके हेतु चक्षुका उपकारक होनेसे दीपको प्रकाशक कहा जाता है। ज्ञान इन्द्रियसन्निकर्ष आदि सहायक सामग्रीके होनेपर विषयका प्रकाश करता है, सहायक सामग्री न होनेपर प्रकाश नहीं करता है। ज्ञानसे अतिरिक्त कोई भी विषयका

प्रकाशक नहीं है। यदि ज्ञान भी विषयका प्रकाशक न हो तो जगदान्ध्यका प्रसङ्ग प्राप्त होगा और संसारके व्यवहारमात्रका उच्छेद हो जायेगा। सभीके मतमें विषयका प्रकाश ज्ञानसे होता है। 'ज्ञान स्वयंका प्रकाशक है या नहीं' इस विषयमें दार्शनिकोंके मतभेद हैं। 'ज्ञान पर(विषय)का ही प्रकाशक है', यह नैयायिक-वैशेषिक और भाट्टमीमांसक मानते हैं। 'ज्ञान स्वयंका भी प्रकाशक है' ऐसा वेदान्ती और प्राभाकरमीमांसक मानते हैं।

ज्ञानका परप्रकाशत्व-

नैयायिकवैशेषिकमत- नैयायिक और वैशेषिक ज्ञानका परप्रकाशत्व स्वीकार करते हैं। इनका कहना है कि जब 'यह घट है' इस प्रकार ज्ञान(व्यवसाय ज्ञान) उत्पन्न होता है, तब उस ज्ञानसे केवल घटका प्रकाश होता है, स्वयं उस ज्ञानका प्रकाश नहीं होता क्योंकि ज्ञान स्वयंका प्रकाश करता हुआ उत्पन्न होता है, ऐसा किसीका अनुभव नहीं है। उस ज्ञानको स्वयंप्रकाश मानने पर कर्तृकर्म विरोध भी होता है। पूर्व ज्ञानका अपने उत्तर क्षणमें होनेवाले 'मैं घटज्ञानवाला हूँ' इस मानस ज्ञान(अनुव्यवसाय ज्ञान)से प्रकाश होता है। इस मानस ज्ञानका भी अपने उत्तरक्षणमें होनेवाले मानस ज्ञानसे प्रकाश होता है, अतः कोई भी ज्ञान स्वयंप्रकाश नहीं है, सभी ज्ञान परप्रकाश ही हैं।

निराकरण- १.पूर्वकालीन प्रथम व्यवसायात्मक ज्ञानका उत्तरकालीन द्वितीय अनुव्यवसायात्मक मानस प्रत्यक्षात्मक ज्ञानसे प्रकाश सम्भव नहीं है क्योंकि ये दोनों जन्य ज्ञान युगपद् सम्भव नहीं हैं, क्रमशः ही उत्पन्न होंगे। प्रकाश्य प्रथम ज्ञानका विनाश होनेपर उत्पन्न हुआ प्रकाशक द्वितीय ज्ञान प्रथम ज्ञानको प्रकाशित नहीं कर सकता है क्योंकि प्रकाश्य और प्रकाशककी एक कालमें विद्यमानता अनिवार्य है। ज्ञानके स्वयंप्रकाश होनेका यह अर्थ है कि ज्ञान अपने प्रकाशमें

ज्ञानान्तरकी अपेक्षा नहीं करता है। इस प्रकार कर्तृकर्मभावरूप विरोध भी खण्डित हो जाता है, अतः किसी भी प्रकार इसे परप्रकाश नहीं माना जा सकता है। इस प्रकार ज्ञानका अनुव्यवसायसे प्रकाश होना खण्डित हो जाता है।

२.प्रथम ज्ञानका प्रकाशक द्वितीय ज्ञान, उसका प्रकाशक तृतीय ज्ञान, इस प्रकार स्वीकार करने पर अनवस्था दोष प्राप्त होगा। यहाँ पर यदि नैयायिक ऐसा कहें कि प्रथम घटज्ञानका 'घटज्ञानवान् अहम्' ऐसा मानस प्रत्यक्ष माना जाता है किन्तु इस मानस प्रत्यक्षका दूसरा मानस प्रत्यक्ष नहीं माना जाता है। ऐसा माननेसे हमारे मतमें अनवस्था दोषकी प्रसक्ति नहीं होती है किन्तु उनका यह कथन अनुचित है क्योंकि जिस मानस प्रत्यक्षका दूसरे मानस प्रत्यक्षसे प्रकाश नहीं हुआ है। वह प्रमाणशून्य होनेसे तुच्छ अर्थात् शून्य हो जायेगा। इस प्रकार प्रथम मानस प्रत्यक्ष जब शून्य होगा तब उससे घटज्ञान भी सिद्ध(प्रकाशित) नहीं होगा क्योंकि शून्यसे किसीकी सिद्धि नहीं हो सकती। घटज्ञान सिद्ध न होनेपर घटज्ञान भी शून्य होगा। घटका साधक घटज्ञान शून्य होनेपर घट भी शून्य होगा। इस प्रकार शून्यवाद उपस्थित होगा। इससे बचनेके लिए द्वितीय आदि मानस प्रत्यक्षका मानस प्रत्यक्ष स्वीकार करने पर पुनः अनवस्था दोषकी प्रसक्ति होगी और ज्ञानका ज्ञान, उसका ज्ञान इस प्रकार ज्ञानकी धारा चलनेके कारण सुषुप्तिका अभाव होगा तथा अन्य ज्ञानोंकी उत्पत्तिका अवसर न होनेके कारण समस्त व्यवहारोंका भी उच्छेद हो जायेगा। यदि उक्त दोषोंसे बचनेके लिए द्वितीय आदि ज्ञानोंमेंसे किसी ज्ञानको स्वयंप्रकाश माना जाय तो प्रथम ज्ञानको ही स्वयंप्रकाश स्वीकार कर लेना चाहिए। ज्ञान मानसप्रत्यक्षका विषय है, क्षणिक होते हुए आत्माका विशेष गुण होनेसे- **संवित् मानसप्रत्यक्षविषयः क्षणिकात्मविशेषगुणत्वात्** इस

अनुमानसे नैयायिक ज्ञानको अनुव्यवसायवेद्य सिद्ध करते हैं किन्तु यह संभव नहीं है क्योंकि क्षणिकत्व पक्षमें विद्यमान न होनेसे असिद्ध हेत्वाभास है तथा मानसप्रत्यक्षविषयत्वरूप साध्यके अभावके अधिकरण प्रायश्चित्तानुष्ठानजन्य धर्ममें उक्त हेतु विद्यमान रहनेसे सव्यभिचार हेत्वाभास है। वह धर्म पापका नाश करके अनन्तर क्षणमें स्वयं नष्ट हो जाता है, इसलिए क्षणिक है और आत्माका विशेष गुण है।

भाट्टमीमासंकमत- नैयायिकोंके समान भाट्ट मीमांसक भी ज्ञानको परप्रकाश स्वीकार करते हैं, इनके अनुसार ज्ञान विषयका ही प्रकाश करता है, स्वयंका प्रकाश नहीं करता है। ज्ञानसे विषयमें ज्ञातता उत्पन्न होती है। यह ज्ञातता ही प्रकाश और प्राकट्य शब्दोंसे अभिहित होती है। इस ज्ञाततासे उसके हेतु ज्ञानको अनुमानसे सिद्ध किया जाता है। इस प्रकार ज्ञातता लिङ्गसे होनेवाले अनुमिति ज्ञानके द्वारा ज्ञानका प्रकाश होता है। ज्ञाततासे उसके कारण ज्ञानका अनुमान उसी प्रकार किया जाता है जिस प्रकार सुख-दुःखसे उनके कारण पुण्य-पापका अनुमान किया जाता है। ज्ञातता स्वयंप्रकाश(सर्वथा असंदिग्ध) है। अतः उसकी सिद्धिके लिए अन्य ज्ञानकी आवश्यकता न होनेके कारण अनवस्था आदि दोष भी उपस्थित नहीं होंगे, इसलिए ज्ञानको अनुमेय मानना चाहिए।

निराकरण- उक्त मत समीचीन नहीं है क्योंकि ज्ञानसे विषयमें ज्ञातता नामक कोई धर्म उत्पन्न नहीं होता है। यदि उत्पन्न होता तो जिस प्रकार घटादिमें रूपादि धर्म दृष्टिगोचर होते हैं, वैसे ही ज्ञातता भी दृष्टिगोचर होती। घटका ज्ञान(विषयता सम्बन्धसे घटमें विद्यमान ज्ञान) ही घट का प्रकाश है। ज्ञानसे अतिरिक्त ज्ञातता धर्मकी सिद्धि नहीं होती है। उसे मानने पर गौरव दोष होता है। विषयका प्रकाशक ज्ञान अपना भी प्रकाश करते हुए उत्पन्न होता है। ऐसा

किसीका भी अनुभव नहीं है कि घटका प्रकाश होता हो किन्तु घट ज्ञानका प्रकाश न होता हो। अतः ज्ञानका अनुमिति ज्ञानसे प्रकाश मानना सर्वथा उपहासास्पद है। ज्ञानके कार्य ज्ञातताको स्वयंप्रकाश और स्वयंप्रकाश ज्ञातताके कारण ज्ञानको परप्रकाश स्वीकार करना सर्वथा अनुचित है। एक ज्ञानका प्रकाश अनुमितिरूप ज्ञानसे, इसका प्रकाश अन्य अनुमितिरूप ज्ञानसे, इसका अन्यसे इस प्रकार ज्ञानके परप्रकाश पक्षमें भी अनवस्था दोष प्रसक्त होगा तथा इसी प्रकार पूर्ववत् सुषुप्तिका अभाव, अन्य ज्ञानोंका अभाव तथा व्यवहारका उच्छेद भी प्राप्त होगा। अतः ज्ञानको पर प्रकाश मानना अनुचित है।

ज्ञान यदि केवल विषयका प्रकाश करता, ज्ञाता और अपना प्रकाश नहीं करता तो(घटज्ञान होनेपर) यह घट है, मैं इसे जानता हूँ या नहीं, यह संशय अथवा नहीं जानता हूँ, यह विपर्यय होना चाहिए किन्तु ऐसा नहीं होता है- **वित्तिवेदितृप्रतिभासशून्यायां च विषयवित्तावभ्युपगम्यमानायां घटस्तावदयम्, अहं तु जानामि न वेति, न ज्ञायते इति च कदाचित् प्रतिभासः स्यात्, न चैवमस्ति**।(सि.त्र.१) इससे सिद्ध होता है कि ज्ञान विषयके प्रकाशके साथ अपना और अपने आश्रय ज्ञाता आत्माका भी प्रकाश करता है। यह श्रीयामुनाचार्य स्वामीने भाट्टमतनिराकरणके प्रसङ्गमें कहा है। इस कथनसे नैयायिकमत भी निराकृत हो जाता है।

स्वयंप्रकाशत्व- १.ज्ञानसे ही सभी पदार्थोंको जानते हैं। सभी पदार्थोंके जानने(प्रकाश)का हेतु ज्ञान ही है। जिस प्रकार घट आदि पदार्थ विद्यमान होनेपर कभी प्रकाशित(ज्ञात या विषय) होते हैं, कभी प्रकाशित नहीं होते हैं। उस प्रकार ज्ञान नहीं है क्योंकि वह विद्यमान होनेपर सदा प्रकाशित ही होता रहता है। ज्ञान विद्यमान होनेपर कभी प्रकाशके विना नहीं रहता है। यदि वैसा होता तो वह

परप्रकाश कहा जाता। ज्ञान विद्यमान होनेपर सदा प्रकाश करनेके कारण प्रकाशरूप कहा जाता है। यह विषय का प्रकाश करते हुए स्वयं अपना प्रकाश करता है, इसलिए स्वयंप्रकाश कहा जाता है।

२.ज्ञान उत्पन्न होनेपर किसीको भी ''मैं इसे(ज्ञानको) जानता हूँ या नहीं'' इस प्रकार ज्ञानके विषयमें सन्देह उत्पन्न नहीं होता। अतः ज्ञानका प्रकाश मानना चाहिए। अन्यके अधीन प्रकाश माननेसे गौरव होनेके कारण स्वयंप्रकाश मानना चाहिए।

३.जिस प्रकार सर्वविषयक ईश्वरबुद्धि सर्वके अन्तर्गत होनेके कारण अपने(ईश्वरबुद्धि)को भी विषय करती है, उसी प्रकार सभी बुद्धियाँ अपनेको विषय करती है। इस प्रकार सभी ज्ञान स्वयंप्रकाश सिद्ध होते हैं।

४.ज्ञानके स्वयं प्रकाश होनेका अर्थ है- इतर ज्ञानकी अपेक्षा न करके प्रकाशक होना अर्थात् अपनेको विषय करनेवाले अन्य ज्ञानकी अपेक्षा न करके व्यवहारयोग्य होना। जैसे ज्ञान है 'ज्ञानम् अस्ति' इस प्रकार होनेवाला ज्ञान ज्ञानत्वसामान्यरूपसे सभी ज्ञानोंको विषय(प्रकाशित) करते हुए अपनेको भी विषय करता है क्योंकि ज्ञानत्वसामान्य जिस प्रकार अन्य सभी ज्ञानोंमें है, उसी प्रकार उस ज्ञानमें भी है। उस ज्ञानमें यदि ज्ञानत्व न रहता तो उक्त ज्ञानसे उसका प्रकाश न होता। ऐसा होनेपर उसे परप्रकाश कह सकते थे किन्तु उसमें ज्ञानत्व है, अतः वह स्वयंप्रकाश है।

५.जिस प्रकार घटादि विद्यमान होनेपर भी जड़ होनेके कारण ज्ञानके विना उनका व्यवहार सम्भव न होनेसे व्यवहार ज्ञानकी अपेक्षा करता है, उस प्रकार ज्ञान नहीं है अर्थात् ज्ञानका व्यवहार उससे अतिरिक्त ज्ञानकी अपेक्षा नहीं करता है क्योंकि ज्ञानकी सत्तासे ही उसका प्रकाश सम्भव होता है। अपनी सत्तासे ही

प्रकाशित होना स्वयंप्रकाशता है।

६.ज्ञान होनेके अनन्तर क्षणमें ही 'मैं इसे जानता हूँ', इस प्रकार विषय और ज्ञान दोनोंको विषय करनेवाला व्यवहार होता है। यदि मानसप्रत्यक्ष अथवा अनुमितिके द्वारा ज्ञानका प्रकाश होता तो ज्ञानके पश्चात् उसके प्रकाशक ज्ञानकी उत्पत्तिके कारण व्यवहारमें विलम्ब होनेसे ज्ञानके अव्यवहितोत्तर क्षणमें व्यवहार नहीं होता किन्तु ज्ञानके अव्यवहितोत्तर क्षणमें उसका व्यवहार देखा जाता है। इससे सिद्ध होता है कि वह स्वयं प्रकाश है।

७.जिस ज्ञानके मध्यमें दूसरा ज्ञान उत्पन्न न हो, वह धारावाहिक ज्ञान कहलाता है। धारावाहिक ज्ञान अनेक ज्ञानोंका समूह है। इसमें सदृश ज्ञानोंका प्रवाह चलता है। 'यह घट है', 'यह घट है' इस प्रकार बहुत समय तक होनेवाला ज्ञान धारावाहिक ज्ञान है। जब तक विषय-इन्द्रियसंयोग विद्यमान रहता है, तब तक धारावाहिक ज्ञान प्रत्यक्ष ही रहता है। धारावाहिक ज्ञानके पश्चात् मनुष्य 'मैं इतने समय तक इसी घटको देखता रहा' इस प्रकार विषयप्रकाशक धारावाहिक ज्ञानका स्मरण करता है। इस स्मरणसे सिद्ध होता है कि धारावाहिक ज्ञान उत्पन्न होते समय आत्माके लिए निरन्तर अपना प्रकाश करता रहा। वह प्रकाश दूसरे ज्ञानके द्वारा नहीं हो सकता है क्योंकि दूसरा ज्ञान होनेपर धारा खण्डित हो जाती किन्तु धारा खण्डित नहीं होती है। इससे सिद्ध होता है कि धारावाहिक ज्ञान स्वयंप्रकाश है। यदि वह स्वयंप्रकाश न हो, विना प्रकाशके ही नष्ट हो जाए तो बादमें उसकी स्मृति नहीं हो सकती है किन्तु स्मृति होती है। इससे सिद्ध होता है कि ज्ञान स्वयंप्रकाश है। यदि कोई कहना चाहे कि धारावाहिकज्ञानके अन्तर्गत आनेवाले प्रत्येक ज्ञानके पश्चात् उसका मानस प्रत्यक्षात्मक ज्ञान उत्पन्न होता है, उससे पूर्व-पूर्व ज्ञानोंका प्रकाश होता है, तो यह कथन उचित नहीं

क्योंकि प्रत्येक ज्ञानके पश्चात् मानस प्रत्यक्ष उत्पन्न होता है, ऐसा किसीका भी अनुभव नहीं है। यदि वैसा मानसप्रत्यक्ष मान भी लिया जाय, तो धारा अवश्य खण्डित हो जाती। धारावाहिक ज्ञानका स्मरण सभीके अनुभवसे सिद्ध है। यह तभी सम्भव है, जब धारावाहिक ज्ञान स्वयंप्रकाश हो। इस प्रकार ज्ञानका स्वयंप्रकाशत्व सिद्ध होता है।

८.लक्षण लक्ष्यका प्रकाशक(बोधक) होता है। लक्षण अज्ञात होकर लक्ष्यका प्रकाशक नहीं होता है अपितु ज्ञात होकर लक्ष्यका प्रकाशक होता है। अर्थात् लक्षणका ज्ञान लक्ष्यका प्रकाशक होता है। विषयका ग्राहक(प्रकाशक) होना ज्ञानका लक्षण है- **विषयग्राहकत्वं ज्ञानस्य लक्षणम्।** विषयग्राहकत्व लक्षणका लक्ष्य ज्ञानसामान्य है। इस लक्षणको विषय करनेवाला ज्ञान भी सामान्यके अन्तर्गत है, अतः वह लक्षणविषयक ज्ञान भी उक्त लक्षणका लक्ष्य है। ज्ञानके लक्षणका ज्ञान अन्य ज्ञानोंका प्रकाश करते हुए अपना(ज्ञानके लक्षणके ज्ञानका) भी प्रकाश करता है। इस प्रकार बुद्धिलक्षण ज्ञान(ज्ञानके लक्षणका ज्ञान)को दृष्टान्त बनाकर धर्मभूतज्ञान पक्षमें स्वयंप्रकाशत्वको सिद्ध किया जाता है। ज्ञान स्वयंप्रकाश है, धीत्व(ज्ञातत्व) होनेसे, बुद्धिलक्षण ज्ञानके समान- **धर्मभूतज्ञानं स्वयंप्रकाशं धीत्वात् बुद्धिलक्षणज्ञानवत्।**

९.ज्ञानसंस्कार अपने अधिकरण आत्मामें होनेवाले ज्ञानके अनुभवकी अपेक्षा नहीं करता है क्योंकि उसमें संस्कारत्व है, विषयसंस्कारके समान- **ज्ञानसंस्कारः स्वसमानाधिकरणज्ञानानुभवानपेक्षः संस्कारत्वाद् विषयसंस्कारवत्।** जिन संस्कारोंसे ज्ञानकी स्मृति होती है, वे ज्ञानकी स्मृतिके जनक संस्कार ज्ञानसंस्कार कहे जाते हैं। जिन संस्कारोंसे विषयकी स्मृति होती है वे विषयकी स्मृतिके जनक संस्कार विषयसंस्कार कहे जाते हैं। यहाँ ज्ञानसंस्कार पक्ष है, विषयसंस्कार

दृष्टान्त है। जो संस्कार हैं, वे अपने अधिकरण आत्मामें होनेवाले ज्ञानके अनुभवकी अपेक्षा नहीं करते हैं। जैसे विषयसंस्कार जिस आत्मामें होता है, वह उसमें होनेवाले विषयके अनुभवकी अपेक्षा करता है क्योंकि विषयके अनुभवसे ही विषयसंस्कार उत्पन्न होते हैं किन्तु वह विषयसंस्कार आत्मामें होनेवाले ज्ञानके अनुभवकी अपेक्षा नहीं करता है। उसी प्रकार ज्ञानसंस्कार भी एक संस्कार है, अतः वह जिस आत्मामें विद्यमान होता है। उसमें विद्यमान ज्ञानके अनुभवकी अपेक्षा नहीं करता है। ज्ञानका अनुभव न होनेपर जो ज्ञानसंस्कार होता है, उसका कारण ज्ञान ही होता है। इससे सिद्ध होता है कि ज्ञान अपनेको प्रकाशित करनेवाले दूसरे अनुभवकी अपेक्षा न करके विषयसंस्कारको उत्पन्न करता है। इस प्रकार ज्ञानका स्वयंप्रकाशत्व सिद्ध हो जाता है।

१०.अनुभूति अनन्याधीन अपने धर्मवाली है, अपने सम्बन्धसे अर्थान्तरमें उसके धर्मका हेतु होनेसे, रूपके समान- **अनुभूतिः अनन्याधीनस्वधर्मा स्वसम्बन्धादर्थान्तरे तद्धर्महेतुत्वात् रूपवत्।** यहाँ अनुभूति पक्ष है, अनन्याधीनस्वधर्मत्व साध्य है, स्वसम्बन्धादर्थान्तरे तद्धर्महेतुत्व हेतु है, रूप दृष्टान्त है। रूपके सम्बन्धके कारण ही घटादि पदार्थोंमें उनका चाक्षुषत्व धर्म माना जाता है क्योंकि रूपवाले होनेके कारण ही घटादि चाक्षुष अर्थात् चक्षु इन्द्रियसे ज्ञात होते हैं। हेतुको दृष्टान्तमें समझनेके लिए स्व पदसे रूपको ग्रहण किया जाता है। स्व= रूपके सम्बन्धसे, अर्थान्तर= घटादिमें, तद्धर्म= (उनके) चाक्षुषत्व धर्मका हेतु रूप है, इस प्रकार हेतुको दृष्टान्तमें समझा जाता है। जैसे घटादिका चाक्षुषत्व रूपके अधीन है, वैसे रूपका चाक्षुषत्व अन्य रूपके अधीन नहीं है क्योंकि रूप किसी अन्य रूपसे सम्बन्ध नहीं रखता है। रूपके कारण ही रूपमें चाक्षुषत्व धर्म है। इस प्रकार रूप अनन्याधीन अपने चाक्षुषत्व धर्मवाला है। दृष्टान्तमें

साध्यका समन्वय करनेके लिए स्वधर्म पदसे चाक्षुषत्वधर्मको लिया जाता है। इस प्रकार अनन्याधीनस्वधर्मत्व साध्य रूप दृष्टान्तमें रहता है। अब पक्षमें हेतुको समन्वित करनेके लिए स्वपदसे अनुभूतिको ग्रहण किया जाता है। वह अपने सम्बन्धसे घटादि अर्थान्तरमें(उसके) प्रकाश धर्मका हेतु है। घटादिमें प्रकाश धर्मको उत्पन्न करनेवाली अनुभूति अपने प्रकाश धर्मकी स्वयं हेतु है अर्थात् अनन्याधीन स्वधर्मवाली अनुभूति है, अतः अनन्याधीनस्वधर्मत्व साध्य अनुभूति पक्षमें ज्ञात होता है। इस प्रकार यह सिद्ध होता है कि अनुभूति अर्थात् ज्ञानका प्रकाश उसीके अधीन है, ज्ञानान्तरके अधीन नहीं। इसी कारणसे ज्ञान स्वयंप्रकाश कहा जाता है।

११.ज्ञान स्वयंप्रकाश है क्योंकि वह अजड़ है- **ज्ञानं स्वयंप्रकाशम् अजडत्वात्**। जो स्वयंप्रकाश नहीं है, वह अजड़ नहीं है, जैसे- घटादि। ज्ञान अजड़ होनेसे स्वयंप्रकाश है। इसी प्रकार 'ज्ञान स्वयंप्रकाश है क्योंकि वह ज्ञान है'- **ज्ञानं स्वयंप्रकाशं ज्ञानत्वात्** ।

निर्विशेषाद्वैत सिद्धान्तमें यह विषयप्रकाशक ज्ञान ही आत्मा माना जाता है किन्तु विशिष्टाद्वैतवेदान्त सिद्धान्तमें विषयप्रकाशक ज्ञान आत्माका धर्म है, ज्ञानका आश्रय आत्मा है।

बुद्धिके अवेद्यत्वका निराकरण

शंका- ज्ञानका स्वयंप्रकाशत्व स्वीकार करने पर भी उसका वेद्यत्व(ज्ञेयत्व) नहीं हो सकता है क्योंकि जो वस्तु वेद्य होती है, वह जड़ होती है, जैसे-घट। यदि ज्ञानको किसीसे वेद्य मानेंगे तो वह भी घटकी तरह जड़ होगा, अतः ज्ञानको शांकर सिद्धान्तके अनुसार अवेद्य ही स्वीकार करना चाहिए।

समाधान- ज्ञानके स्वयंप्रकाशत्वका यह अर्थ है कि ज्ञान विषय प्रकाशनकालमें ज्ञानान्तरकी अपेक्षा न करके अपने आश्रय आत्माके

लिये स्वयं प्रकाशित होता है। ज्ञानके स्वयंप्रकाश होनेका यह अर्थ नहीं है कि वह अपने आश्रय आत्माके लिए सदा प्रकाश करता है और अपने अनाश्रय सबके लिए प्रकाश करता है। ज्ञान विषयप्रकाशनकालमें ज्ञाता आत्माके लिए प्रकाशित होता है, उस समय वह ज्ञातासे ज्ञानान्तरके द्वारा वेद्य नहीं होता है किन्तु सर्वथा सभीके द्वारा अवेद्य ही है, ऐसा तात्पर्य नहीं है क्योंकि अपना अनुभव कालान्तरमें स्मृतिरूप ज्ञानका विषय बनता है। इस प्रकार कालान्तरमें वह स्मृतिके द्वारा उसी ज्ञाताका वेद्य हो जाता है। दूसरे पुरुषोंकी विलक्षण प्रवृत्ति और निवृत्तिको देखकर हम प्रवृत्ति और निवृत्तिके हेतुभूत उन पुरुषोंके ज्ञानको अनुमानसे जानते हैं। इससे सिद्ध होता है कि एकका ज्ञान दूसरेकी अनुमितिका विषय होता है। खिलानेवाले और मारनेवालेके अभिप्रायको जानकर ही पशु आदिमें प्रेम और भय उत्पन्न होता है। उनके प्रेम तथा भयरूप ज्ञानको हम अनुमॉनसे समझते हैं। जब व्यवहारके द्वारा शक्ति(शब्द और अर्थका सम्बन्ध)का ज्ञान होता है, तब दूसरे पुरुषके ज्ञानका अनुमान करके अमुक शब्दका अमुक अर्थ है। इस प्रकार शक्तिज्ञान होता है। यदि एकका ज्ञान दूसरेके द्वारा वेद्य न हो तो शक्तिज्ञान असम्भव होगा और शब्दोंको सुनकर वक्ताके ज्ञानका अनुमान भी असम्भव होगा। चेष्टाको देखकर चेष्टा करनेवाले पुरुषका ज्ञान भी असम्भव होगा। शास्त्रार्थ करनेवाले विद्वान् भी शब्दोंके द्वारा परस्परके ज्ञानको नहीं जान पायेंगे। शिष्य आचार्यके ज्ञानको अनुमानसे समझकर ही ज्ञानप्राप्त्यर्थ उनकी सेवा करते हैं और आचार्य भी शिष्यके अज्ञान, अन्यथा ज्ञान और विपरीत ज्ञानको अनुमानसे समझकर ही तत्त्वोपदेश करते हैं। ज्ञानको अवेद्य मानने पर ये सभी व्यवहार असम्भव हो जायेंगे। यदि एक ज्ञानका दूसरे ज्ञानसे सर्वथा प्रकाश न हो तो ज्ञान, संवित्, मति आदि शब्दोंसे भी उसे बताया नहीं जा

सकता है। ज्ञान आदि शब्दोंसे जन्य ज्ञानका विषय ज्ञान है, इसीलिए उसे इन शब्दोंसे बतलाया जाता है। ईश्वर और मुक्त सर्वज्ञ हैं, अतः इनका ज्ञान सबके ज्ञानोंको भी विषय करता है। इस प्रकार ज्ञानका वेद्यत्व सिद्ध होता है। इस वेद्य ज्ञानमें अजड़त्व(प्रकाशत्व) ही विद्यमान होता है। अतः जो वस्तु वेद्य होती है, वह जड़ होती है। यह व्याप्ति भी निरस्त हो जाती है।

अनुभूतिः स्वयंप्रकाशा अनुभूतित्वात् यह अनुमान केवलाद्वैतीको भी मान्य है, अतः उससे प्रश्न होता है कि अनुभूति पदसे अनुभूतिका बोध होता है या नहीं? यदि होता है तो अनुभूति वेद्य(शब्दजन्य ज्ञानका विषय) हो जाती है। यदि बोध नहीं होता है तो पक्षकी ही असिद्धि होनेसे उसमें स्वयंप्रकाशत्व साध्यकी भी सिद्धि नहीं होगी। अनुभूति पक्षमें स्वयंप्रकाशकत्वकी सिद्धि तब हो सकती है, जब उसका वेद्यत्व स्वीकार किया जाय। इस प्रकार ज्ञानके स्वयंप्रकाशत्वकी तरह उसका वेद्यत्व भी सिद्ध होता है।

नित्यत्व- बौद्ध और नैयायिक ज्ञानको क्षणिक मानते हैं। बौद्धमतमें उत्पत्ति क्षणके बाद द्वितीय क्षणमें नष्ट होनेवाली वस्तु क्षणिक कही जाती है- **द्वितीयक्षणवृत्तिध्वंसप्रतियोगित्वं क्षणिकत्वम्।** नैयायिक मतमें उत्पत्ति क्षणके बाद तृतीय क्षणमें नष्ट होनेवाली वस्तु क्षणिक कही जाती है- **तृतीयक्षणवृत्तिध्वंसप्रतियोगित्वं क्षणिकत्वम्।** नैयायिकमतमें प्रत्येक आत्माके प्रति ज्ञान भिन्न है। वेदान्तमतमें भी प्रत्येक आत्माके प्रति ज्ञान भिन्न है। इन्द्रियादि सामग्रीसे जन्य होनेके कारण तथा सुषुप्तिकालमें उपलब्ध न होनेके कारण न्यायमतमें प्रत्येक आत्माका ज्ञान अनित्य एवं अनेक माना जाता है किन्तु वेदान्तमतमें प्रत्येक आत्माका ज्ञान नित्य एवं एक माना जाता है। ज्ञान नित्य-आत्माका स्वरूपनिरूपक धर्म होनेसे नित्य है।

श्रुति प्रमाण- ज्ञाताके ज्ञानका लोप नहीं होता है क्योंकि ज्ञाता आत्मा अविनाशी है। द्रष्टाकी दृष्टिका लोप नहीं होता क्योंकि द्रष्टा आत्मा अविनाशी है- **नहि विज्ञातुर्विज्ञातेर्विपरिलोपो विद्यते अविनाशित्वात्**।(बृ.उ.४.३.३०), **नहि द्रष्टुर्द्रष्टेर्विपरिलोपो विद्यते अविनाशित्वात्**।(बृ.उ.४.३.२३) इन दोनों श्रुतियोंसे आत्माका धर्मभूतज्ञान नित्य सिद्ध होता है। उक्त वाक्योंसे ज्ञानके विनाशका अभाव ही प्रतीत होता है, उसकी उत्पत्तिका अभाव प्रतीत नहीं होता है, ऐसा नहीं कहना चाहिए क्योंकि स्वरूपतः अनादि भावपदार्थ[1] का नाश सम्भव नहीं है, इस कथनसे ही उसकी उत्पत्तिका भी अभाव सिद्ध हो जाता है। जिस भावपदार्थकी उत्पत्ति होती है, उसका नाश होता है। जिसका नाश होता है, उसकी उत्पत्ति होती है। धर्मभूतज्ञानका नाश सम्भव न होनेसे इसकी उत्पत्तिका अभाव ही सिद्ध होता है।

निर्विशेषाद्वैती- यहाँ श्रुतिमें **विज्ञातुः विज्ञातेः** इस प्रकार समानाधिकरण षष्ठी है, अतः उक्त श्रुतिका अर्थ है कि ज्ञानस्वरूप ज्ञाताका लोप नहीं होता है और ऐसा होनेपर यह श्रुति आत्माकी नित्यताका ही प्रतिपादन करती है, उसके धर्मभूतज्ञानकी नित्यताका प्रतिपादन नहीं करती है।

सविशेषाद्वैती- **नहि विज्ञातुः विपरिलोपो विद्यते** इतने कथनसे ही आत्माकी नित्यता सिद्ध हो जाती है। अतः इस श्रुतिसे आत्माके आश्रित रहनेवाले ज्ञानकी नित्यता स्वीकार न करने पर 'विज्ञातेः' यह विशेषणवाचक पद व्यर्थ होगा किन्तु श्रुतिका कोई भी पद व्यर्थ

टिप्पणी१- कर्मरूप अज्ञान भी अनादि भावपदार्थ है, इसका ब्रह्मविद्यासे नाश होता है। अज्ञान प्रवाहतः अनादि है, स्वरूपतः अनादि नहीं है।

नहीं होता है, इसलिए यह मानना चाहिए कि आत्मस्वरूपकी नित्यताके प्रतिपादनमें उक्त श्रुतिका तात्पर्य नहीं है। 'विज्ञातुः विज्ञातेः' यहाँ व्यधिकरण षष्ठी है। ऐसा स्वीकार करने पर 'विज्ञातेः' पदकी व्यर्थता नहीं होती है और आत्माके विशेषण(धर्म)भूत ज्ञानकी नित्यता सिद्ध होती है। यह श्रुति आत्माके धर्मभूत ज्ञानकी नित्यतामें आत्माके अविनाशित्वको हेतु कहती है। इससे यह सिद्ध होता है कि धर्मी आत्मा नित्य होनेसे उसका धर्मभूतज्ञान भी नित्य है।

आत्मा अविनाशी होनेसे ज्ञान भी अविनाशी है। आत्माके अविनाशित्व हेतुके सामर्थ्यसे ज्ञानको अविनाशी बतानेवाली इस श्रुतिसे यह सिद्ध होता है कि ज्ञान आत्माका स्वरूपप्रयुक्त धर्म है। स्वरूपप्रयुक्त धर्म तब तक रहता है, जब तक उसका आश्रय रहता है। जैसे उष्णता अग्निका स्वरूपप्रयुक्त धर्म है। यह धर्म तब तक रहता है, जब तक अग्नि रहती है। उसी प्रकार आत्माका स्वरूपप्रयुक्त धर्म तब तक रहता है, जब तक आत्मा रहती है। आत्मा नित्य होनेके कारण सदा रहती है, अतः उसका स्वरूपप्रयुक्त धर्मभूतज्ञान भी सदा रहता है।

अरे! यह आत्मा अविनाशी है। इसका धर्मभूतज्ञान भी अविनाशी है- **अविनाशी वा अरे अयमात्मा अनुच्छित्तिधर्मा**।(बृ.उ.४.५.१४) यह श्रुति अविनाशी पदसे आत्माको अविनाशी(नित्य) कहकर अनुच्छित्तिधर्मा पदसे उसके धर्म (ज्ञान गुण)को अविनाशी कहती है। जिस पदार्थका उच्छित्ति अर्थात् विनाश नहीं होता है, वह अविनाशी पदार्थ अनुच्छित्ति कहलाता है- **न विधते उच्छित्तिः विनाशो यस्य तद् अनुच्छित्तिः ज्ञानम्**। जिसका धर्मभूतज्ञान अनुच्छित्ति है, वह आत्मा अनुच्छित्तिधर्मा कही जाती है- **अनुच्छित्तिः धर्मो यस्य सोऽयम् अनुच्छित्तिधर्मा**। इस प्रकार बहुब्रीहिगर्भबहुब्रीहि समाससे आत्माका

धर्मभूतज्ञान गुण अविनाशी कहा जाता है। इससे ज्ञान गुणकी नित्यता सिद्ध होती है। इस प्रकार आत्माके धर्मकी ही नित्यता होनेपर **अविनाशी वा अरे अयम् आत्मा** इस प्रकार कही गई धर्मी आत्माकी नित्यता कैमुत्यन्याय[1] से सिद्ध हो जाती है। इसलिए अनुच्छित्ति पद धर्मका विशेषण है।

निर्विशेषाद्वैती- न उच्छित्तिः= अनुच्छित्तिः। इस प्रकार पहले नञ् तत्पुरुष समास करने पर अनुच्छित्तिका अर्थ अविनाशित्व(विनाशका अभाव) होता है। फिर जिसका अनुच्छित्ति विशेषण है-**अनुच्छित्तिः धर्मः यस्य** इस प्रकार बहुब्रीहि समास करने पर अनुच्छित्तिधर्मा पदका अर्थ अविनाशी आत्मा होती है। इस प्रकार श्रुति तत्पुरुषगर्भबहुब्रीहि समाससे आत्मा के ही नित्यत्वका प्रतिपादन करती है, धर्मभूतज्ञानके अविनाशित्वका प्रतिपादन नहीं करती है।

सविशेषाद्वैती- अनुच्छित्तिधर्मा पदका उक्त रीतिसे अविनाशी आत्मा अर्थ स्वीकार करने पर धर्म पदकी व्यर्थताका प्रसंग होता है क्योंकि केवल अनुच्छित्ति पदसे आत्मस्वरूपके विनाशका अभाव सिद्ध होता है। जिसका विनाश नहीं होता है, वह आत्मा अनुच्छित्ति है- **न विद्यते उच्छित्तिः यस्य स अनुच्छित्तिः आत्मा।** इस प्रकार बहुब्रीहिसमास करने पर केवल अनुच्छित्ति पदसे उक्त अर्थ निष्पन्न हो जाता है। अनुच्छित्तिधर्मा पदका अविनाशी आत्मा अर्थ करने पर

टिप्पणी१- किं च तत् उत च, समाहारो वा किमुत। तस्य भावः इत्यर्थे ष्यञ् कैमुत्यम्। तत्र भवः इत्यर्थे अध्यात्मादित्वात् ठञ् कैमुतिकः इति। जब एकका प्रतिपादन किया गया धर्म दूसरेमें अनायास सिद्ध हो जाता है, तब इस न्यायकी प्रवृत्ति होती है। जैसे ज्ञानगुणकी नित्यताके प्रतिपादनसे उसके आश्रय आत्माकी नित्यता अनायास सिद्ध हो जाती है क्योंकि गुणकी नित्यता उसके आश्रय आत्माकी नित्यताके विना नहीं हो सकती है, अतः धर्मकी नित्यताके प्रतिपादनसे उसके आश्रय आत्माकी नित्यता अनायास सिद्ध हो जाती है।

पुनरुक्ति दोष भी होता है क्योंकि पूर्वमें **अविनाशी वा अरे अयम् आत्मा** ऐसा कथन है।

सूत्र प्रमाण- ज्ञोऽत एव(ब्र.सू.२.३.१९) सूत्र में **आत्मा ज्ञः= अविनाभूतज्ञानधर्मकः एव** इस प्रकार ज्ञानको चेतन आत्माका स्वाभाविक धर्म कहा गया है। **यावदात्मभावित्वाच्च न दोषस्तद्दर्शनात्**(ब्र.सू.२.३.३०) इस प्रकार ज्ञानको यावद् आत्मभावी अर्थात् आत्माकी विद्यमानता पर्यन्त रहनेवाला धर्म कहा गया है। आत्मा नित्य है, इसलिए उसका धर्मभूतज्ञान भी नित्य सिद्ध होता है। यहाँ उद्धृत दो सूत्रोंसे ज्ञानकी नित्यता सिद्ध होती है।

स्मृति प्रमाण- असत्(अविद्यमान पदार्थ) की उत्पत्ति(प्रकाश) नहीं हो सकती है, इसलिए जिस प्रकार मणिके मलका प्रक्षालन करनेसे उसमें नूतन प्रकाश उत्पन्न नहीं किया जाता है किन्तु पूर्वसे विद्यमान प्रकाशको आविर्भूत किया जाता है, उसी प्रकार आत्माके दोषोंको नष्ट करने पर उसमें नूतन ज्ञान उत्पन्न नहीं किया जाता है किन्तु पूर्वसे विद्यमान ज्ञानको आविर्भूत किया जाता है। जिस प्रकार कूपके निर्माणसे नूतन जल और आकाश उत्पन्न नहीं किये जाते हैं किन्तु पहलेसे विद्यमान जल और आकाशको प्रकाशमें लाया जाता है, उसी प्रकार आत्माके दुर्गुणोंको नष्ट करके ज्ञान इत्यादि सद्गुण प्रकाशमें लाये जाते हैं। वे उत्पन्न नहीं किये जाते हैं क्योंकि वे आत्माके नित्य गुण हैं- **यथा न क्रियते ज्योत्स्ना मलप्रक्षालनान्मणेः। दोषप्रहाणान्न ज्ञानमात्मनः क्रियते तथा।। यथोदपानकरणात्क्रियते न जलाम्बरम्। सदेव नीयते व्यक्तिमसतः संभवः कुतः।। तथा हेयगुणध्वंसादवबोधादयो गुणाः। प्रकाश्यन्ते न जन्यन्ते नित्या एवात्मनो हि ते।।** (वि.ध.पु.)

शंका- ज्ञान विषयका प्रकाशक है, इसलिए यह(आत्माके लिए) सदा(विषयका तथा अपना) प्रकाश करता ही रहेगा। ऐसा होनेपर

सुषुप्तिका अभाव होगा क्योंकि विषयके प्रकाशका अभाव ही सुषुप्ति है। सदा एक समान विषयका प्रकाश होनेपर सर्वानुभवसिद्ध जाग्रत आदि अवस्थाओंका भेद भी सिद्ध नहीं होगा।

समाधान– संसारदशामें ज्ञान इन्द्रियोंके द्वारा ही विषयका प्रकाशक होता है। जब तमोगुण उत्कर्षताको प्राप्त होता है, तब वह ज्ञानके प्रसारकी हेतु इन्द्रियोंको आवृत और शिथिल कर देता है। ऐसा होनेपर ज्ञान भी संकुचित होकर आत्माके आश्रित बना रहता है, उसका प्रसार नहीं होता। इस समय ज्ञान विषयका प्रकाश नहीं करता है और अपना भी प्रकाश नहीं करता है क्योंकि यह विषयप्रकाशनकालमें ही आत्माके लिए प्रकाशित होता है। ज्ञानके नित्य होनेपर भी उसकी अति संकोचावस्था तथा अभिव्यक्तिके साधन न होनेसे वह प्रकाश नहीं करता है। इस प्रकार सभी ज्ञानोंकी अभावरूपा सुषुप्ति सम्भव होती है।

सत्त्वगुण ज्ञानके प्रसारका हेतु है। सत्त्वगुणके होनेपर विषयप्रकाशक ज्ञानका प्रसार इन्द्रियद्वारा होता है। तमोगुण ज्ञानप्रसारका प्रतिबन्धक है। तमोगुणके बढ़ने पर सुषुप्ति होती है। जिस प्रकार दाहक स्वभाववाली अग्निका दाहकत्व मणिमन्त्र आदि प्रतिबन्धकके उपस्थित होनेपर अवरुद्ध हो जाता है, उसी प्रकार प्रकाश स्वभाववाले ज्ञानका प्रकाश तमोगुण प्रतिबन्धकके उपस्थित होनेपर अवरुद्ध हो जाता है। ज्ञानके प्रसार(विकास)का अवरोध अर्थात् ज्ञानका संकोच ही निद्रा अवस्था है। जिस प्रकार प्रतिबन्धकके निवृत होनेपर अग्नि दाह करने लगती है, उसी प्रकार प्रतिबन्धकके निवृत होनेपर ज्ञान प्रकाश करने लगता है। यह जाग्रत अवस्था है। जाग्रत अवस्थामें सत्त्वगुण अधिक रहता है और स्वप्नावस्थामें सत्त्व गुण अल्प होता है। इस प्रकार जाग्रत् आदि अवस्थाओंका भेद सिद्ध होता है। इन्द्रिय अदि ज्ञानकी सामग्री

ज्ञानके विकासमें सहायक होती है। यह **पुंस्त्वादिवत्त्वस्य सतोऽभिव्यक्ति योगात्**(ब्र.सू.२.३.३१) इस सूत्रमें प्रतिपादित है। जिस प्रकार बाल्यावस्थामें अनभिव्यक्त पुंस्त्वकी यौवनावस्थामें अभिव्यक्ति होती है, उसी प्रकार सुषुप्ति अवस्थामें अनभिव्यक्त ज्ञानकी जाग्रत् और स्वप्नावस्थामें अभिव्यक्ति होती है।

शंका- ज्ञान नित्य है, नित्य पदार्थकी उत्पत्ति और विनाश नहीं होते हैं। अतः 'मेरा ज्ञान उत्पन्न हुआ', 'मेरा ज्ञान नष्ट हुआ' इत्यादि कथन कैसे सम्भव होते हैं?

समाधान- ज्ञानकी संकोच और विकास अवस्थाओंको लेकर उक्त व्यवहार सम्भव होते हैं। ज्ञान जब इन्द्रियद्वारा बाहर निकलकर विषयको प्रकाशित करता है, तब कहा जाता है कि ज्ञान उत्पन्न हुआ। इस प्रकार ज्ञानका विकास अर्थात् इन्द्रियद्वारा बाहर निकलकर विषयको प्रकाशित करना ही ज्ञानकी उत्पत्ति है। शुभाशुभकर्मरूप अविद्यासे अवरोध होनेके कारण बद्ध जीवोंके ज्ञानका संकोच होता है। ज्ञानका संकोच अर्थात् इन्द्रियद्वारा बाहर न निकलकर विषयको प्रकाशित न करना ही ज्ञानका नाश है। इस प्रकार ज्ञानकी संकोच और विकास अवस्थाओंको लेकर उक्त व्यवहार सम्भव होते हैं। बद्धजीवोंका नित्य ज्ञानगुण विविध वृत्तिरूपताको प्राप्त होता रहता है, ये वृत्तियाँ अनित्य हैं। ज्ञान गुण स्वरूपतः नित्य है, वृत्तिरूपसे अनित्य है अर्थात् ज्ञानगुण नित्य होनेपर भी उसकी अवस्थाएं अनित्य हैं।

शंका- यदि स्वयंप्रकाश ज्ञान नित्य है तो सुषुप्ति और मूर्च्छामें भी इसकी उपलब्धि(प्रकाश) होनी चाहिए क्योंकि स्वयंप्रकाश वस्तु विद्यमान रहते प्रकाशित न हो, ऐसा सम्भव नहीं है। अतः 'मैंने सुषुप्ति कालमें कुछ नहीं जाना' इस प्रकार सोकर उठे हुए व्यक्तिके

स्मरणसे सुषुप्तिमें ज्ञानका अभाव(अनुपलब्धि) सिद्ध होनेसे वह नित्य नहीं हो सकता है।

समाधान- ऊपर कहा जा चुका है कि ज्ञान विषयप्रकाशनकालमें ही अपना प्रकाश करता है। सुषुप्ति आदिमें ज्ञानप्रसारके करण उपरत हो जानेसे वह संकोचावस्थाको प्राप्त करता है। इस प्रकार सुषुप्तिकालमें ज्ञानका प्रसार सम्भव न होनेसे वह न तो विषयको प्रकाशित करता है और न ही अपनेको प्रकाशित करता है। विद्यमान वस्तुका प्रकाश न होने मात्रसे उस वस्तुका अभाव सिद्ध नहीं होता है, जिस प्रकार अन्धकारमें विद्यमान घटका प्रकाश न होनेसे उसका अभाव सिद्ध नहीं होता है। किसी वस्तुके अभावनिश्चयमें केवल अनुपलब्धि हेतु नहीं होती है अपितु योग्यानुपलब्धि हेतु होती है, इसलिए अन्धकरमें विद्यमान घटकी अनुपलब्धि (अप्रकाश) मात्रसे उसके अभावका निश्चय नहीं होता है। उसी प्रकार सुषुप्तिकालमें विद्यमान ज्ञानकी अनुपलब्धिमात्रसे उसके अभावका निश्चय नहीं होता है क्योंकि वहाँ योग्यानुपलब्धिका अभाव है।

योग्यदशामें होनेवाली अनुपलब्धि ही योग्यानुपलब्धि है- **योग्यदशायाम् अनुपलब्धिः योग्यानुपलब्धिः**। घटसे अतिरिक्त उसके ज्ञानके सकल हेतुओंकी विद्यमान दशा घटकी योग्य दशा है। अन्धकारमें स्थित घटकी दशा योग्यदशा नहीं है, अतः वहाँ उसकी अनुपलब्धि योग्यानुपलब्धि नहीं है, इसलिये अन्धकारमें घटके अभावका निश्चय नहीं होता है। विषयके प्रकाशकी दशा ज्ञानकी योग्यदशा है। सुषुप्तिमें विषयका प्रकाश न होनेसे उस समय ज्ञानकी योग्य दशा नहीं है, अतः सुषुप्तिमें ज्ञानकी अनुपलब्धि योग्यानुपलब्धि नहीं है। सुषुप्तिमें योग्यानुपलब्धि न होनेसे ज्ञानका अभाव सिद्ध नहीं होता है। ज्ञान सदा विद्यमान रहता है, फिर भी सुषुप्तिमें

विषयप्रकाशरूप सहकारी कारणका अभाव होनेसे प्रकाशित नहीं होता है। ज्ञान सदा विद्यमान रहनेसे नित्य ही है।

विभुत्व- सभी आत्माओंके ज्ञान स्वाभाविकरूपसे विभु(व्यापक) ही हैं। जिस प्रकार सूर्यके प्रकाशका स्वाभाविकरूपसे सभी दिशाओंमें समानरूपसे प्रसार होता है। दीवार, दरवाजा और परदा आदि अवरोध(प्रतिबन्धक) हम लोगों ने लगा रखे हैं। इन अवरोधोंके कारण ही प्रकाशका संकोच हो जाता है, अवरुद्ध स्थानोंमें प्रकाशका प्रसार नहीं होता है। संकोचके हेतु इन अवरोधोंके हटते ही प्रकाशका प्रसार हो जाता है। उसी प्रकार आत्माके धर्मभूतज्ञानका स्वभावतः सब ओर समानरूपसे प्रकाश होता है। बद्ध जीवोंने शुभाशुभ कर्मोंको करके तज्जन्य अनादि अविद्यात्मक पुण्य-पापरूप अवरोधोंको लगा रखा है, इसलिए उनका ज्ञान संकुचित रहता है। प्रतिबन्धकके तारतम्य(न्यूनता-अधिकता)के कारण ही बद्धजीवोंके ज्ञानमें तारतम्य होता है। ब्रह्मज्ञानसे प्रतिबन्धक अज्ञानकी निवृत्ति होते ही स्वाभाविक विभु ज्ञानका प्रसार(आविर्भाव) हो जाता है। ईश्वर और नित्य सूरियोंके अज्ञानका सर्वदा अभाव होनेसे उनका ज्ञानगुण सदा विभु ही रहता है। मुक्तोंका ज्ञान बद्धावस्थामें तिरोहित रहता है और मुक्तावस्थामें आविर्भूत हो जाता है।

द्रव्यत्व- ज्ञानके द्रव्यत्वमें निम्न अनुमान प्रमाण हैं-

१.बुद्धि द्रव्य है क्योंकि वह अवस्थाओंका आश्रय है, मिट्टी आदिके समान- '**बुद्धिः द्रव्यम् अवस्थाश्रयत्वात् मृदादिवत्**'। जिस प्रकार चूर्णत्व, पिण्डत्व, घटत्व आदि अवस्थाओंका आश्रय होनेसे मिट्टी द्रव्य सिद्ध होती है, उसी प्रकार संकोचविकासरूप अवस्थाओंका आश्रय होनेसे बुद्धि द्रव्य सिद्ध होती है।

२.ज्ञान द्रव्य है क्योंकि वह स्वयंप्रकाश है, आत्माके समान- **'ज्ञानं द्रव्यं स्वयंप्रकाशत्वाद् आत्मवत्'**। जहाँ स्वयंप्रकाशत्व है, वहाँ द्रव्यत्व है, यथा आत्मा। उसी प्रकार ज्ञानमें स्वयंप्रकाशत्व होनेसे उसका द्रव्यत्व सिद्ध होता है।

३.ज्ञान द्रव्य है क्योंकि वह संयोग और अदृष्टसे अन्य होते हुए भावना(संस्कार)का कारण है, आत्माके समान- **ज्ञानं द्रव्यं संयोगादृष्टान्यत्वे सति भावनाकारणत्वात् आत्मवत्।**

शंका- ज्ञानस्वरूप आत्मा द्रव्य है, विषयप्रकाशक ज्ञान भी द्रव्य है। अतः जैसे घटपटादि दो द्रव्योंमें नियत धर्मधर्मिभाव नहीं देखा जाता है, वैसे ही यहाँ ज्ञानस्वरूप आत्मा धर्मी है, ज्ञान धर्म है। इस प्रकार नियत धर्मधर्मिभाव सम्भव नहीं है। ज्ञानको गुण स्वीकार करने पर 'गुणे गुणानङ्गीकारात्' इस नियमके अनुसार ज्ञानरूप आत्मा ज्ञानगुणका आश्रय नहीं हो सकती है।

समाधान- जिस प्रकार प्रभा और प्रभावान् दोनों द्रव्य होने पर भी प्रभावान् दीप ही धर्मी होता है और प्रभा उसका धर्म ही होती है, ऐसा नियत धर्मधर्मिभाव देखा जाता है। उसी प्रकार ज्ञान और ज्ञानाश्रय आत्मा दोनों द्रव्य होनेपर भी इनमें नियत धर्मधर्मिभाव सम्भव होता है।

शंका- उक्त समाधान उचित नहीं है क्योंकि दीपके विशीर्ण(फैले हुए) अवयव ही प्रभा हैं। प्रभा दीपका धर्म नहीं है, अतः प्रभा और प्रभावान्को दृष्टान्त बनाकर समाधान करना अनुचित है।

समाधान- प्रभा दीपका धर्म ही है। प्रभा दीपका विशीर्णावयव नहीं है क्योंकि वैसा स्वीकार करने पर मणि और सूर्य आदिके क्रमशः विनाशकी प्राप्ति होगी किन्तु ऐसा नहीं होता। अतः प्रभाको दीपका

विशीर्णावयव न मानकर प्रभाका धर्म ही मानना चाहिए। प्रभा तेजोद्रव्य है, दीपके आश्रित होनेसे वह परका शेषभूत है, इस कारण उपचारसे गुण या धर्म कहा जाता है। नैयायिकोंके द्वारा परिभाषित गुणत्वजातिमत्त्व अथवा द्रव्यकर्मभिन्नत्वविशिष्ट सत्ताके कारण गुण नहीं कहा जाता है।

द्रव्यके लिए गुण शब्दका प्रयोग– मीमासंक अग्निहोत्र आदि कर्मोंके शेष दधि आदि द्रव्योंका गुण पदसे कथन करते हैं। तद्गुणसंविज्ञान बहुब्रीहि इत्यादि स्थलोंमें वैयाकरण उपसर्जन द्रव्यका गुण शब्दसे कथन करते हैं। अर्थशास्त्रमें सन्धि, विग्रह आदि भी गुण कहे जाते हैं।

उक्त विचारोंसे यह निष्कर्ष निकलता है कि धर्म(विशेषण) बनकर रहना जिसका स्वभाव है, उसे गुण कहा जाता है– **धर्मस्वभावत्वं गुणत्वम्** यह लक्षण द्रव्यभूत प्रभा और ज्ञानमें संगत हो जाता है। 'अहं जानामि' इस प्रकार ज्ञानकी आत्मधर्मत्वेन नियत प्रतीति होनेके कारण इसे गुण कहा जाता है। प्रसरणकालमें भी आत्माके सम्बन्धको न छोड़नेके कारण उसका धर्म कहा जाता है। व्युत्पत्तिवाद[1]में गदाधर भट्टाचार्यने भी पराश्रित पदार्थको गुण कहा है।

टिप्पणी१– 'पर्वतो वह्निमान् धूमात्'। यहाँ धूमका गुणत्व न होनेसे धूम पदको गुणरूप हेतुका वाचक न होनेसे **विभाषागुणेऽस्त्रियाम्**(अ.सू.२.३.२५) सूत्रके द्वारा धूम पदसे पर हेतुमें पञ्चमी विभक्ति कैसे हो सकती है, ऐसी शंका करके समाधान दिया है– **गुणपदं च न चतुर्विंशतिपरम् (रूपादिचतुर्विंशतिगुणपरम्) धूमादिहेतौ तत्त्वासंभवात्।....नापि धर्ममात्रपरं गगनादेरपि कालिकसंबन्धेन धर्मतया अव्यावर्तकत्वात्। समवायादिना धर्मत्वं चाभावाद्यसंग्राहकम्। नापि द्रव्याश्रितत्वं सत्तावान् गुणत्वादित्यादौ पञ्चम्यन्तस्यालाक्षणिकत्वपक्षे पञ्चम्यनुपपत्तेः किन्तु कार्यस्य ज्ञाप्यस्य वा आश्रये**

ज्ञान द्रव्य होनेपर भी **तद्गुणसारत्वात्तु तद्व्यपदेशः प्राज्ञवत्।** (ब्र.सू.२.३.२९) इस प्रकार ब्रह्मसूत्रकारने ज्ञानको गुण कहा है। वेदान्तसिद्धान्तमें पराश्रित होनेके कारण ज्ञानको गुण कहनेपर भी अवस्थाका आश्रय होनेसे वह द्रव्य ही माना जाता है। ज्ञानादि गुण द्रव्यात्मक हैं। सत्त्व, रज, तम ये गुण ही हैं। इनमें गुण शब्दका प्रयोग मुख्य है।

ज्ञानकी प्रतिपुरुष भिन्नता- यह धर्मभूत ज्ञान प्रतिपुरुष भिन्न है अर्थात् प्रत्येक आत्माके आश्रित भिन्न-भिन्न धर्मभूतज्ञान रहते हैं।

प्रश्न- प्रत्येक आत्माका एक नियत धर्मभूत ज्ञान होता है। ऐसी स्थितिमें एक ही पुरुषमें स्मृति और अनुभवके भेदसे, प्रत्यक्ष और परोक्षके भेद से, दर्शन और श्रवणके भेदसे, पूर्व और परके भेदसे सर्वलोकप्रसिद्ध ज्ञानके भेदकी सिद्धि कैसे होगी?

उत्तर- ज्ञानका संकोच और प्रसार स्वभाव होनेसे उक्त भेदोंकी सिद्धि हो जाती है। मनके द्वारा पूर्वानुभूत विषयके आकारका हुआ ज्ञान स्मृति कहलाता है एवं स्मृतिभिन्न ज्ञान अनुभव कहलाता है। इन्द्रियके द्वारा बाहर प्रसारित ज्ञान प्रत्यक्ष कहलाता है एवं व्याप्तिज्ञान आदिके द्वारा विषयके आकारका होनेवाला ज्ञान परोक्ष कहलाता है। चक्षुके द्वारा प्रसारित ज्ञान दर्शन एवं श्रोत्रके द्वारा होनेवाला ज्ञान श्रावण कहलाता है। पूर्वकालमें होनेवाला ज्ञान पूर्व था उत्तरकालमें होनेवाला ज्ञान पर कहलाता है। इस प्रकार भिन्न-भिन्न प्रसरणोंके कारण ज्ञान भी भिन्न-भिन्न कहलाता है।

आश्रितत्वम्। जाड्यादेः स्वप्रयोज्यबन्धाश्रये धूमादेश्च स्वज्ञाप्यवह्न्याद्याश्रये आश्रितत्वाद् गुणत्वम्।(व्यु.वा.तृ.का.)

संकोचविकास- १.मुझसे ही स्मृति, ज्ञान और विस्मृति(ज्ञानका संकोच) होती हैं- **मत्तः स्मृतिर्ज्ञानमपोहनं च**(गी.१५.१५)।

२.ज्ञानस्वभाववाले क्षेत्रज्ञ जीवका आत्मविषयक ज्ञान वासनाओंसे आवृत होता है- **आवृतं ज्ञानमेतेन**(गी.३.३६)।

३.उस परमात्मासे अनादि धर्मभूतज्ञानका प्रसार होता है- **प्रज्ञा च तस्मात् प्रसृता पुराणी**।(श्वे.उ.४.१८)

४.विषयोंमें संचरण करनेवाली इन्द्रियोंमें यदि एक भी इन्द्रिय बाहर जाती है तो उसके द्वारा ज्ञानका इस प्रकार प्रसार हो जाता है, जिस प्रकार चर्मकी थैलीसे जल निकल जाता है- **इन्द्रियाणां तु सर्वेषां यद्येकं क्षरतीन्द्रियम्। तेनास्य क्षरति प्रज्ञा दृतेः पादादिवोदकम्**।।(म.स्मृ.२.९९)

५.इन्द्रियोंके साथ चलने वाला मन उसी प्रकार ज्ञानको विषयोंमें हर ले जाता है, जिस प्रकार वायु जलमें नौकाको हर ले जाती है- **तदस्य हरति प्रज्ञां वायुर्नावमिवाम्भसि**।(गी.२.६७)।

६.हे राजन! कर्म नामवाली अविद्या तृतीय शक्ति मानी जाती है, जिससे सभी शरीरोंमें रहने वाली क्षेत्रज्ञरूप शक्तिका ज्ञानगुण आवृत होनेसे वह लगातार होनेवाले सब प्रकारके सांसारिक तापोंको भोगती रहती है। हे राजन्! कर्मनामक अविद्यासे तिरोहित होनेके कारण ही जीव ज्ञानगुणको लेकर विभिन्न शरीरोंमें तारतम्यसे रहते हैं- **अविद्या कर्मसंज्ञाऽन्या तृतीयाशक्तिरिष्यते। यया क्षेत्रज्ञशक्तिः सा वेष्टिता नृप सर्वगा। संसारतापानखिलानवाप्नोत्यतिसन्ततान्।। तया तिरोहित्वाच्च शक्तिः क्षेत्रज्ञसंज्ञिता । सर्वभूतेषु भूपाल तारतम्येन लक्ष्यते**।। (वि.पु.६.७.६१-६३)

किसी शरीरमें कोई जीव अधिक ज्ञानवाला होता है, दूसरे शरीरमें दूसरा जीव अल्प ज्ञानवाला होता है। जिस जीवका ज्ञान कर्मसे संकुचित होता है, वह अल्पज्ञ हो जाता है और जिस जीवका ज्ञान कर्मसे विकसित होता है, वह बहुज्ञ हो जाता है। उक्त वचनोंसे सिद्ध होता है कि जीवके धर्मभूतज्ञानका कर्मसे संकोच एवं विकास होता है।

प्रत्येक धर्मभूतज्ञानका यह स्वभाव है कि वह सभी पदार्थोंको ग्रहण करे, ऐसा स्वभाव होनेपर भी बुद्धि(धर्मभूतज्ञान) बद्धावस्थामें कर्मसे संकुचित हो जाती है, इसलिए सभी पदार्थोंको ग्रहण नहीं कर पाती है। कर्मोंके अनुसार किसी पुरुषका ज्ञान अधिक होता है तथा किसी पुरुषका ज्ञान अल्प होता है। इस प्रकार बुद्धि विभिन्न पुरुषोंमें तारतम्यसे रहती है। इसका प्रसार(विकास) इन्द्रियोंके अधीन होता है। इन्द्रियोंके अधीन होकर फैलनेके कारण ही बुद्धि तत्तद्-इन्द्रियग्राह्य व्यवस्थित विषयोंको ग्रहण करती है। भिन्न-भिन्न प्रसरणोंके कारण बुद्धि भी भिन्न-भिन्न कहलाती है। धर्मभूतज्ञानके स्वरूपतः नित्य होनेपर भी इसके प्रसरणके लिए इन्द्रियों की अपेक्षा होती है। इन्द्रियोंके साथ ज्ञान भी बाहर निकलकर विषयोंसे उसी प्रकार सम्बन्ध स्थापित करता है, जिस प्रकार हाथके साथ फैलकर त्वक् इन्द्रिय विषयोंसे सम्बन्ध स्थापित करती है।

स्वतः प्रत्यक्ष होकर रहना ही बुद्धिका स्वभाव है क्योंकि सभी तरहकी उपाधियोंसे निवृत्त होनेपर मुक्तोंका ज्ञान सदाके लिए प्रत्यक्ष बनकर रहता है। बुद्धि संसारावस्थामें कर्मसे संकुचित होकर जब इन्द्रिय और व्याप्तिज्ञान आदिके द्वारा विकासको प्राप्त होती है, तब बुद्धिमें प्रत्यक्ष, अनुमिति आदि विभाग होते हैं। यह विभाग औपाधिक है क्योंकि करणभेद इसमें प्रयोजक है। सब प्रकारके प्रसरणों(विकास) में ज्ञान अपने विषयमें प्रत्यक्ष प्रकाशरूपमें ही बना

रहता है, इसलिए ज्ञान होते समय किसीको यह संशय नहीं होता है कि मुझे ज्ञान हुआ या नहीं। ज्ञान घटादिपदार्थोंके विषयमें चाहे प्रत्यक्षरूप धारण करे, चाहे परोक्षरूप धारण करे किन्तु यह अपने विषयमें सदा प्रत्यक्ष ही रहता है। ज्ञान अत्यन्त वेगवाला होनेसे दूरस्थ पदार्थोंके साथ शीघ्र सम्बन्ध स्थापित कर लेता है और अत्यन्त सूक्ष्म होनेके कारण किसीसे भी अवरुद्ध नहीं होता है।

ज्ञान स्वयं द्रव्य है, उसका अन्य द्रव्यके साथ संयोग सम्बन्ध होता है। घटादि द्रव्यमें विद्यमान रूपादि गुणोंके साथ ज्ञानका संयोगिनिष्ठता सम्बन्ध होता है। संयोगी= संयोगका आश्रय घटादि द्रव्य, उसमें निष्ठ= स्थित रूपादि होते हैं। इस प्रकार संयोगिनिष्ठता सम्बन्ध रूप आदि गुणोंमें रहता है। संयोगिनिष्ठता सम्बन्धको संयुक्ताश्रितत्व सम्बन्ध भी कहा जाता है। ज्ञान और अतीत-अनागत पदार्थोंका विषयविषयिभाव सम्बन्ध ही होता है। ज्ञानका द्रव्यके साथ संयोग ही ज्ञानकी विषयता है और ज्ञानका रूपादिके साथ संयुक्ताश्रितत्व सम्बन्ध ही ज्ञानकी विषयता है।

शंका- धर्मभूतज्ञानको नित्य द्रव्य मानकर उसे संकोचविकासके योग्य मानना सर्वथा विरुद्ध है क्योंकि अवयवों के उपचय-अपचयरूप संकोचविकासवाला द्रव्य अनित्य देखा जाता है, जैसे वृक्षादि। अतः ज्ञानको संकोच विकासके योग्य मानने पर वह अनित्य ही सिद्ध होगा।

समाधान- अवयवके उपचय-अपचयरूप संकोचविकासवाला पदार्थ अनित्य होता है। निरवयव ज्ञानका संकोच-विकास अवयव का उपचय-अपचयरूप नहीं है, बल्कि यह प्रसरणाप्रसरणरूप है। ज्ञानका विकास प्रसरणरूप है, संकोच अप्रसरणरूप है। अतः इसके अनित्यत्वकी प्रसक्ति नहीं है। जिस प्रकार मणिका प्रकाश धर्म

संकोचविकासके योग्य होनेपर भी अनित्य नहीं होता है, उसी प्रकार संकोचविकासके योग्य ज्ञान भी अनित्य नहीं होगा। नित्य आत्माका यावद् आत्मभावी स्वाभाविक ज्ञानगुण अनित्य नहीं हो सकता है। प्रसरण स्वाभाविक होनेसे उपाधिके कारण होनेवाले संकोच-विकाससे ज्ञानकी वस्तुस्थितिमें कोई परिवर्तन नहीं होता है। प्रसरण उत्पन्न होनेपर ज्ञान उत्पन्न कहा जाता है, प्रसरण नष्ट होनेपर अर्थात् संकोच होनेपर ज्ञान नष्ट कहा जाता है। जिस प्रकार त्रिगुण द्रव्यका अवस्थान्तरकी प्राप्तिरूप विकार उसके स्वरूपतः नित्यत्वका बाधक नहीं है, उसी प्रकार ज्ञानका अवस्थान्तरकी प्राप्तिरूप विकार उसके स्वरूपतः नित्यत्वका बाधक नहीं है। संकोच-विकासरूप दोनों अवस्थाएं आगमापायी(आने-जानेवाली) होनेपर भी ज्ञान नित्य ही है।

धर्मभूतज्ञान और आत्मा की समानता

धर्मभूत ज्ञान	आत्मा (स्वरूपभूतज्ञान)
१. धर्मभूतज्ञान द्रव्य है।	१.आत्मा द्रव्य है।
२. धर्मभूतज्ञान स्वयंप्रकाश (अजड़) है।	२.आत्मा स्वंयप्रकाश(अजड़)है।
३. धर्मभूतज्ञान आनन्दरूप है।	३.आत्मा आनन्दरूप है।

धर्मभूतज्ञान और आत्मा का भेद

धर्मभूत ज्ञान	आत्मा(स्वरूपभूतज्ञान)
१. यह आत्माके आश्रित रहनेवाला द्रव्य है।	१. यह धर्मभूतज्ञानकी आश्रय है।
२.जीवात्माका ज्ञान संकोचविकासके योग्य होता है। परमात्माका ज्ञान संकोच-विकासके योग्य नहीं होता है, सदा विभु ही रड़ता है।	२. यह संकोचविकासके अयोग्य ही होती है।
३. यह अपनेसे इतर वस्तुका भी प्रकाश करता है।	३.यह अपनेसे इतर वस्तुका प्रकाश नहीं करती है।
४. यह पर(आत्मा)के लिए स्वयं प्रकाश है।	४.यह स्वके लिए स्वयंप्रकाश है।
५.यह विभु परिमाणवाला है।	५.जीवात्मा अणुपरिमाणवाला है तथा परमात्मा विभु परिमाणवाला है।
६.यह विषय प्रकाशनकालमें प्रकाशित होता है।	६.यह सर्वकालमें प्रकाशित होती है।

सुखादिकी ज्ञानविशेषरूपता- ज्ञान ही भिन्न-भिन्न कर्मरूप उपाधियोंके कारण सुख, दुःख, इच्छा, द्वेष और प्रयत्न रूप होता है। नैयायिक-वैशेषिकमतमें अनुकूल वस्तुको विषय करनेवाला जो ज्ञान सुखका तथा प्रतिकूल वस्तुको विषय करनेवाला जो ज्ञान दुःखका जनक माना जाता है, वेदान्तमतमें वह ज्ञान ही सुख एवं दुःख रूप है। उन ज्ञानोंसे अतिरिक्त सुख और दुःखको माननेमें कोई प्रमाण नहीं है। जिस प्रकार 'स्मरण करता हूँ', यह व्यवहार ज्ञानविशेषको लेकर संभव होता है। उसी प्रकार 'इच्छा करता हूँ', 'द्वेष करता हूँ' इत्यादि व्यवहार भी ज्ञानविशेषको लेकर सम्भव होते हैं। सुख, दुःख, इच्छा, द्वेष, प्रयत्न आदि ज्ञानविशेष ही हैं। अनुकूल वस्तुको विषय करनेवाला ज्ञान अनुकूल होता है और प्रतिकूल वस्तुको विषय करनेवाला ज्ञान प्रतिकूल होता है। धर्मभूतज्ञान स्वाभाविकरूप से अनुकूल ही है क्योंकि इसका विषय आत्मा अनुकूल है और परमात्मा निरतिशय अनुकूल है। प्रतिकूलता तो कर्मरूप उपाधिके कारण है। अन्य विषय स्वरूपतः न तो अनुकूल होते हैं और न ही प्रतिकूल होते हैं। इनकी अनुकूलता और प्रतिकूलता तो पुण्यपापात्मक कर्मरूप उपाधिके कारण प्रतीत होती है। अनुकूलत्वेन प्रतीयमान ज्ञान ही सुख कहलाता है, प्रतिकूलत्वेन प्रतीयमान ज्ञान ही दुःख कहलाता है। अपेक्षात्मक ज्ञान ही इच्छा कहलाता है। अनिष्टात्मक ज्ञान ही द्वेष कहलाता है। अनुकूल विषयको प्राप्त करनेकी इच्छा काम कहलाती है। प्रतिकूल विषयको निरास करनेकी इच्छा क्रोध कहलाती है। इसी प्रकार प्रत्यक्ष, अनुमिति, शाब्दबोध, स्मृति, संशय, निर्णय, विपर्यय(अन्यथा ज्ञान), भ्रम(विपरीत ज्ञान) मोह, राग, मद(गर्व), मात्सर्य, धैर्य, चापल्य, दम्भ, लोभ, दर्प, द्रोह, अभिनिवेश, निर्वेद, सुमति, दुर्मति, प्रीति, तुष्टि, कीर्ति, विरक्ति, मैत्री, दया, मुमुक्षा, लज्जा, क्षमा,

चिकीर्षा, जुगुप्सा, तृष्णा, भक्ति, प्रपत्ति आदि जीवात्माके गुण अवस्थाविशेषको प्राप्त हुआ धर्मभूतज्ञान ही है। ज्ञानका आश्रय आत्मा है। अवस्थाविशेष को प्राप्त किया हुआ ज्ञान ही सुखादि है। सुखादिका आश्रय आत्मा ही है। ज्ञान आत्माका स्वाभाविक धर्म होनेके कारण नित्य धर्म है। सुख-दुःखादि आत्माके स्वाभाविक धर्म न होनेके कारण अनित्य धर्म हैं। वे केवल आत्मस्वरूपसे उत्पन्न नहीं होते हैं बल्कि प्रकृतिके संसर्गसे होनेवाले कर्मोंसे उत्पन्न होते हैं। आत्मस्वरूप इनका साधारण कारण है, कर्म असाधारण कारण है। उन कर्मोंका भी असाधारण कारण जीवका प्रकृतिके साथ संसर्ग है। कर्मकृत प्रकृतिके संसर्गसे विनिर्मुक्त होकर परब्रह्म और उनकी विभूतिभूत सकल पदार्थोंको विषय करनेवाला अपरिच्छिन्न आनन्दरूप साक्षात्कारात्मक ज्ञान ही जीवका स्वाभाविक धर्म है।

प्रश्न- नैयायिक मतमें प्राणसंचारका कारण जीवनयोनि नामक यत्न माना जाता है। इसके जीवनपर्यन्त विद्यमान रहनेसे जीवके प्राणोंका संचार होता रहता है। वेदान्तमतमें प्रयत्न भी ज्ञानरूप माना जाता है। ऐसा होनेपर सभी ज्ञानोंकी उपरतिरूप सुषुप्तिमें प्रयत्न कैसे सम्भव होगा?

उत्तर- सुषुप्ति आदि अवस्थाओंमें कोई प्रयत्न होता ही नहीं है क्योंकि वैसे प्रयत्नका अनुभव किसीको भी नहीं होता है। उक्त अवस्थाओंमें प्राणसंचार अदृष्टसे ही सम्भव होता है। उसके लिए प्रयत्न माननेकी आवश्यकता नहीं है। सुषुप्ति आदिमें प्रयत्न स्वीकार करनेवाले नैयायिक भी अदृष्टको प्रयत्नका कारण मानते ही हैं, अतः अदृष्टसे ही प्राणसंचार माननेमें लाघव है। उसके लिए प्रयत्नकी कल्पना करना व्यर्थ है। जिस स्पन्दनत्व हेतुसे प्राणस्पन्दनमें प्रयत्नजन्यत्व सिद्ध किया जाता है, वह स्पन्दनत्व हेतु अन्यथा सिद्ध है क्योंकि प्रयत्नके विना ही अदृष्टसे प्राणस्पन्दन

सम्भव होता है। **अन्तराभूतग्रामवत्**(ब्र.सू.३.३.३५) इस अधिकरणके श्रीभाष्यमें कहा गया है कि प्राणसंचाररूप जीवनके प्रति जीवात्मा कर्ता नहीं है। उसके अदृष्टके अनुरूप प्राणसंचारके कर्ता भगवान् ही हैं।

प्रश्न- कामना, इच्छा, संकल्प, संशय, श्रद्धा(आस्तिक्य बुद्धि) अश्रद्धा, धृति(प्रीति या सुख), अधृति(अप्रीति), लज्जा, धी(प्रमाणजन्यज्ञान) और भय ये सभी मन ही हैं- **कामस्संकल्पो विचिकित्सा श्रद्धाऽश्रद्धा धृतिरधृतिर्ह्रीधीर्भीरित्येतत् सर्वं मन एव**।(बृ.उ.१.५.३) इस प्रकार कामादिको मन कहे जानेसे सभी मनके ही धर्म सिद्ध होते हैं, आत्माके नहीं, तो आप इन्हें मनके धर्म न मानकर आत्माके धर्म क्यों मानते हैं?

उत्तर- उक्त श्रुति इस प्रकार है- **अन्यत्रमना अभूवन्नादर्शमन्यत्रमना अभूवं नाश्रौषमिति मनसा ह्येव पश्यति, मनसा शृणोति कामः संकल्पो विचिकित्सा श्रद्धाऽश्रद्धाधृतिरधृतिर्ह्रीधीर्भीरित्येतत् सर्वं मन एव तस्मादपि पृष्ठत उपस्पृष्टो मनसा विजानाति**।(बृ.उ.१.५.३) इस उदाहृत श्रुतिके प्रथम भाग(मनसा ह्येव पश्यति, मनसा शृणोति) एवं तृतीय भाग(मनसा विजानाति)में स्पष्टरूपसे मनको करण कहा गया है। अन्यत्र भी 'मनसे ही प्रत्यक्ष करना चाहिए'- **मनसैवानुद्रष्टव्यम्**।(बृ.उ.४.४.१९)इस प्रकार मनको करण कहा गया है। वाक्के अधीन शब्दका उच्चारण होता है, इसलिए वहीं **यः कश्च शब्दो वागेव सा**(बृ.उ.१.५.३)इस प्रकार शब्दको वाक् कहा गया है तथा ये कामादि मनरूप सहकारी कारणके होनेपर उत्पन्न होते हैं, इसलिए ये मन ही हैं। इस प्रकार 'आयुर्वै घृतम्' की तरह ये उपचारसे मन कहे गये हैं। अतः कामादि आत्माके ही धर्म हैं। मन करण है। इन्हें मनका धर्म मानना श्रुतिविरुद्ध है। कामनात्व, इच्छात्व आदि अवस्थाएं आत्माश्रित बुद्धि(धर्मभूतज्ञान)की हैं,

आत्माकी नहीं। बुद्धि ही कामनात्व आदि अवस्थाओंको प्राप्त करती है, अतः कामनात्वसे विशिष्ट बुद्धि ही कामना है, इच्छात्वसे विशिष्ट बुद्धि ही इच्छा है, इसकारण कामना आदि धर्मोंका आश्रय आत्मा है, इसलिए ये आत्माके धर्म सिद्ध होते हैं। आत्माका ज्ञानगुण(बुद्धि) स्वाभाविक है। कामना आदि गुण तो आगन्तुक हैं।

आत्मा(जीवात्मा) का शरीरके साथ सम्बन्ध होनेपर इच्छादि उत्पन्न होते हैं, इसलिए **इच्छा द्वेषः सुखं दुःखं संघातश्चेतना धृतिः। एतत्क्षेत्रं समासेन सविकारमुदाहृतम्।**।(गी.१३.६) इस प्रकार गीतामें इच्छा, द्वेष, सुख, दुःखको क्षेत्रके अन्तर्गत कहा गया है।

सुषुप्ति- जीवनकालमें जीवकी मूर्च्छासे भिन्न सम्पूर्ण ज्ञानके प्रसरणका अभावरूप जो अवस्था होती है, वह सुषुप्ति कहलाती है। चिन्ता, आलस्य और परिश्रमके कारण स्वकार्यसे उपरत होनेवाले मनकी अवस्थाविशेष निद्रा(सुषुप्ति) है अथवा धर्मभूतज्ञानकी अत्यन्त संकुचित अवस्था निद्रा है।

योगमत- ज्ञानाभावको निद्रा स्वीकार करना उचित नहीं है क्योंकि जागनेपर 'मैं सुखसे सोया', 'कुछ नहीं जाना' इस प्रकार स्मरण होते हैं। स्मरण संस्कारके विना नहीं हो सकता है और संस्कार अनुभव(ज्ञानविशेष)के विना नहीं हो सकता है। जाग्रतके स्मरणके बल पर सुषुप्ति एक अनुभवात्मक वृत्ति सिद्ध होती है। जाग्रत और स्वप्नकालिक वृत्तियोंके अभावके कारणको विषय करनेवाली चित्तकी वृत्ति निद्रा है- **अभावप्रत्ययालम्बनावृत्तिर्निद्रा**।(यो.सू.१.१०), जिस आवरणके होनेपर जाग्रत और स्वप्नकी वृत्तियोंका अभाव होता है, वह आवरणात्मक तमोगुण या अज्ञान उन वृत्तियोंके अभावका कारण होता है। इसके अनुभवको निद्रा कहा जाता है। जाग्रत और स्वप्नकी अपेक्षा निद्रा तामसवृत्ति है। यह तीन प्रकार की होती है-

सात्त्विकी निद्रा– जिस निद्रामें सत्त्वगुणके लेश सहित तमोगुण रहता है, उस निद्रासे उठने पर मनुष्य 'मैं सुखसे सोया, मेरा मन प्रसन्न है और मेरी बुद्धि स्वच्छ है' ऐसी स्मृति करता है, ऐसी स्मृतिकी हेतु वृत्तिरूप निद्रा सात्त्विकी निद्रा कही जाती है।

राजसी निद्रा– जिस निद्रामें रजोगुणके लेश सहित तमोगुण रहता है, उससे उठनेपर मनुष्य 'मैं दुःखसे सोया, मेरा मन अस्थिर और घूमता सा है' इस प्रकार स्मृति करता है, ऐसी स्मृतिकी कारण निद्रा राजसी निद्रा कही जाती है।

तामसी निद्रा– जिस निद्रामें केवल तमोगुणकी प्रबलता रहती है, उससे उठनेपर 'मैं बेसुध सोया, मेरे अङ्ग भारी हैं और चित्त व्याकुल हो रहा है,' इस प्रकार स्मृति होती है, ऐसी स्मृतिकी जनक निद्रा तामसी निद्रा कही जाती है।

सांख्य मत– सांख्यप्रवचनभाष्य(१.१४८) के अनुसार अर्द्ध लय और समग्र लयके भेदसे सुषुप्ति दो प्रकारकी होती है–

अर्द्धलयरूप सुषुप्ति– जब बुद्धिकी विषयाकार वृत्ति नहीं होती है किन्तु सुख, दुःख और मोहाकार वृत्ति होती है, तब अर्द्धलयरूप सुषुप्ति होती है। सुखाकार बुद्धिवृत्तिरूप सात्त्विकी सुषुप्ति होनेपर 'मैं सुखसे सोया', 'मेरा मन प्रसन्न है'। इस प्रकार स्मृति होती है, दुःखाकार बुद्धिवृत्तिरूप राजसी सुषुप्ति होनेपर 'मैं दुःखसे सोया', 'मेरा मन चंचल है' इस प्रकार स्मृति होती है तथा मोहाकार बुद्धिवृत्तिरूप तामस सुषुप्ति होनेपर 'मैं बेसुध सोया', 'मेरा मन व्याकुल है', इस प्रकार स्मृति होती है।

समग्रलयरूप सुषुप्ति– यह समस्त वृत्तियोंकी अभावरूपा होती है।

समीक्षा– ऊपर सांख्यमतमें कही दूसरी सुषुप्ति वेदान्तसम्मत है। योगदर्शनकी सुषुप्तिके समान ही सांख्यकी प्रथम सुषुप्ति है। इसमें

सुषुप्तिको त्रिविध माना गया है। सांख्य-योग शास्त्रका उपरि लिखित यह कथन उचित नहीं है क्योंकि ये जिस सुख-दुःख-मोहाकार वृत्तिको सुषुप्ति कहते हैं, वह सुषुप्ति नहीं है, वह तो सुषुप्ति की पूर्वावस्था है। दार्शनिक प्रगाढ़ सुषुप्तिको ही सुषुप्ति कहते हैं। सकलवृत्तियोंके अभावकी दशा ही सुषुप्ति है।

सुषुप्तिमें स्वरूपभूत प्रकाशसे अतिरिक्त कोई वृत्ति नहीं रहती है। साधनमार्गमें इसके निरोधके लिए उपचारसे वृत्ति कहनेपर वेदान्तसे कोई विरोध नहीं है। वेदान्तसिद्धान्तके अनुसार सभी वृत्तियोंका अभावरूप निद्रा है। वह वृत्तिरूप नहीं हो सकती है किन्तु समाधि पानेवाले साधकको अन्य वृत्तियोंके समान निद्राका भी निरोध करना चाहिए। इस अभिप्रायसे महर्षि पतञ्जलिने **प्रमाणविपर्ययविकल्पनिद्रास्मृतयः**।(यो.सू.१.६) इस प्रकार निद्राको वृत्ति कहा है। सुषुप्तिका विस्तृत वर्णन जीव विवेचनमें किया गया है।

अपूर्व

मीमांसक मत- स्वर्ग की कामना करने वाला मनुष्य याग करे- **स्वर्गकामो यजेत** इत्यादि वाक्यों के द्वारा स्वर्ग आदि फल के साधनरूपसे यागादि कर्मों का विधान किया जाता है। इन कर्मों के करते ही फलप्राप्ति नहीं होती है, वह तो विलम्ब से होती है। यागादि कर्म विनाशी हैं। शीघ्र विनष्ट होनेवाले इन कर्मों से स्वर्ग आदि फल की प्राप्ति कैसे हो सकती है? इस शंका के निवारणार्थ पूर्वमीमांसक अपूर्व(अदृष्ट) की कल्पना करते हैं। वह कर्म से जन्य होता है और फलका जनक होता है। यागादि कर्मों के शीघ्र विनाशी होनेपर भी अपूर्व फलकी प्राप्तिपर्यन्त स्थिर रहता है। इस प्रकार मीमांसकमत में अपूर्वके फलजनकत्व की कल्पना की जाती है।

वेदान्तमत

जीवका अदृष्ट ईश्वरकी प्रीति एवं कोपरूप- वेदवेत्ताओंको उक्त कल्पना की आवश्यकता नही होती है। वे जीव के अदृष्ट को ईश्वर की प्रीति एवं कोपरूप मानते हैं। इष्टफलके साधनको धर्म कहते हैं, यह शास्त्रविहित कर्मोंसे उत्पन्न होता है। अनिष्ट फलके साधनको अधर्म कहते हैं। यह निषिद्ध कर्मोंसे उत्पन्न होता है। ये धर्माधर्म शास्त्रसे अतिरिक्त प्रमाणोंसे ज्ञात(दृष्ट) नहीं होते हैं, इसलिए अदृष्ट कहलाते हैं। जिस प्रकार इच्छा और प्रयत्न आदि ज्ञानविशेष हैं, उसी प्रकार शुभाशुभ कर्मोंसे उत्पन्न होनेवाला धर्माधर्म नामक अदृष्ट भी ईश्वरका ज्ञानविशेष है। शुभकर्म करने पर ईश्वरकी जीवके प्रति जो प्रीति होती है, वह जीवका धर्मनामक अदृष्ट है तथा अशुभ कर्म करने पर ईश्वरका जीवके प्रति जो कोप होता है, वह जीवका अधर्म नामक अदृष्ट है। वेदों से इस सिद्धान्त की स्थापना की गयी है कि सभी कर्मों से आराधित होने वाले श्रीभगवान् ही प्रसन्न होकर अभीष्ट फल प्रदान करते हैं। जिस प्रकार राजा सेवा से प्रसन्न होकर सेवक को इष्ट फल प्रदान करते हैं तथा अपराध से कुपित होकर अपराधी को दण्ड देते हैं। सेवा और अपराध विनाशी होने पर भी राजा के मन में प्रसन्नता और कोपको उत्पन्न कराके उनके द्वारा फलप्रद होते हैं, उसी प्रकार सत्कर्म से प्रसन्न होकर श्रीभगवान् साधक को इष्टफल प्रदान करते हैं तथा दुष्कर्म से कुपित होकर पापी को दण्ड देते हैं। सत्कर्म और दुष्कर्म नश्वर होने पर भी भगवान के मन में प्रसन्नता एवं कोप को उत्पन्न कराकर उनके द्वारा फलप्रद होते हैं। ऐसा स्वीकार करने पर अपूर्व की कल्पना की कोई आवश्यकता नहीं रहती है।

प्रश्न- जीवका अदृष्ट ईश्वरकी प्रीति और कोपरूप ही है। ऐसा होनेपर जीव कर्मजन्य अदृष्टका आश्रय नहीं होगा तो जीवके

कर्मफलभोगकी व्यवस्था कैसे सम्भव होगी ?

उत्तर– वेदान्तसिद्धान्तके अनुसार शास्त्रविहित कर्म ईश्वरकी आराधनारूप हैं, इसलिए शास्त्रविहित कर्म करनेवाले जीवों पर ईश्वर प्रसन्न होकर अपने अनुग्रहसंकल्पसे इष्टफल प्रदान करते हैं तथा निषिद्ध कर्म करनेवाले जीवों पर ईश्वर क्रुद्ध होकर निग्रहसंकल्पसे अनिष्टफल प्रदान करते हैं। इस प्रकार ईश्वरके संकल्पसे ही जीवके कर्मफलभोगकी व्यवस्था सम्भव होती है। महर्षि वेदव्यासने **फलमत उपपत्तेः**(ब्र.सू.३.२.३७) इस सूत्रसे इस अर्थका प्रतिपादन किया है। सूत्रार्थ इस प्रकार है– सभी कर्मफल परमपुरुषसे ही प्राप्त होते हैं क्योंकि वह सर्वज्ञ तथा सर्वशक्तिमान् होनेसे फलप्रदाता है। इस प्रकार वेदान्तमतमें जीवोंका अदृष्ट गुण स्वीकार करनेकी आवश्यकता नहीं होती है। यद्यपि अग्नि, इन्द्र आदि देवताओंके उपासकोंका अदृष्ट देवताओंका प्रीति-अप्रीतिरूप है, ऐसा स्वीकार करनेमें कोई दोष नहीं है, फिर भी देवताओंका फलप्रदातृत्व ईश्वरके ही अधीन है, इस विषयको **लभते च ततः कामान् मयैव विहितान् हि तान्**।(गी.७.२२) **अहं हि सर्वयज्ञानां भोक्ता च प्रभुरेव च**।(गी.९.२४)। इस प्रकार भगवान् ने स्वयं ही कहा है।

ऊपर सुखादि की ज्ञानविशेषरूपता के निरूपणप्रसङ्गमें यह कहा गया कि अवस्थाविशेषको प्राप्त हुआ धर्मभूतज्ञान ही प्रमारूप(प्रत्यक्ष,अनुमिति और शाब्दबोधरूप) होता है। अब प्रसङ्गतः प्रमा और उसके करण का निरूपण किया जा रहा है–

प्रमाण– प्रमा (यथार्थज्ञान) के करण (असाधारण कारण) को प्रमाण कहते हैं– **प्रमाकरणं प्रमाणम्**।

प्रमा- यथावस्थितव्यवहारोपयोगी ज्ञानको प्रमा कहा जाता है- **यथावस्थितव्यवहारानुगुणज्ञानं प्रमा।** 'ज्ञानं प्रमा' कहनेपर शुक्तिरजतज्ञानमें अतिव्याप्ति होती है। इसके निवारणके लिए व्यवहारानुगुण कहा गया है। शुक्तिरजतज्ञान आभूषणनिर्माणरूप व्यवहारका उपयोगी ज्ञान नहीं है, इसलिए शुक्तिरजतज्ञानमें अतिव्याप्ति नहीं होती है किन्तु शुक्तिरजत ज्ञान होनेपर उसी भ्रान्तिदशामें 'इदं रजतम्' यह व्यवहार होता है क्योंकि शुक्तिरजतज्ञान व्यवहारानुगुण ज्ञान है। इसलिए व्यवहारानुगुण कहनेपर भी शुक्तिरजतज्ञानमें अतिव्याप्ति होती है। उसकी निवृत्तिके लिए लक्षणमें यथावस्थित कहा गया है। यथावस्थित व्यवहारका अर्थ है-उपयोगके योग्य अर्थको विषय करनेवाला व्यवहार। पञ्चीकरण-प्रक्रियाके अनुसार शुक्तिमें रजत होनेपर भी वह आभूषणनिर्माणरूप उपयोगके योग्य नही है, अतः शुक्तिरजतका भ्रान्तिज्ञान यथावस्थितव्यवहारोपयोगी ज्ञान नहीं है, इसलिए उसमें अतिव्याप्ति नहीं होती है। 'यह अमुक वस्तु है' इस प्रकार जो वस्तु जैसी है, उसका वैसा ही व्यवहार यथावस्थित व्यवहार कहा जाता है। वह अबाधित वस्तुको विषय करनेवाला सफल व्यवहार होता है। यथावस्थितव्यवहारोपयोगी ज्ञानको 'प्रमा' कहा जाता है। काल और अदृष्टादिमें अतिव्याप्तिके वारणके लिए ज्ञानपद दिया गया है। सिद्धान्तमें यथार्थ स्मृतिको प्रमा माना जाता है, इसलिए प्रमाके लक्षणमें 'अनुभव' पद का प्रयोग न करके 'ज्ञान' पद का प्रयोग किया गया है। प्रमाके तीन भेद होते हैं- १.प्रत्यक्ष २.अनुमिति ३. शाब्द। प्रमाके लक्षणमें आए यथावस्थित पदसे संशय, विपरीतज्ञान और अन्यथाज्ञान इन तीनोंकी व्यावृत्ति होती है।

संशय- धर्मीका ज्ञान होनेपर परस्परविरुद्ध अनेक धर्मोंका स्फुरण संशय कहलाता है- **धर्मिग्रहणे मिथो विरुद्धानेकविशेषस्फुरणं संशयः।**

जैसे- यह स्थाणु(ठूंठ) है या पुरुष- **अयं स्थाणुर्वा पुरुषो वा** यह ज्ञान। ऊर्ध्वत्वविशिष्ट वस्तुका ज्ञान होनेपर परस्पर विरुद्ध स्थाणुत्व और पुरुषत्व धर्मोंका 'यह स्थाणु है या पुरुष' इस प्रकार होनेवाला ज्ञान संशय कहलाता है। 'अयम्' इस प्रकार पुरोवर्ती धर्मीका ज्ञान और 'स्थाणुर्वा पुरुषो वा' इस प्रकार स्थाणुत्वपुरुषत्वरूप धर्मोंका ज्ञान एक ज्ञान नहीं हो सकता है। पुरोवर्तिवस्तुका स्थाणुत्वविशिष्टत्वेन ज्ञान होनेपर पुरुषत्वविशिष्टत्वेन ज्ञान नहीं हो सकता है और पुरुषत्वविशिष्टत्वेन ज्ञान होनेपर स्थाणुत्वविशिष्टत्वेन ज्ञान नहीं हो सकता है । इसलिए संशयस्थलमें दो ज्ञान स्वीकार करने चाहिए। उनमें पुरोवर्ती ऊर्ध्ववस्तुका ज्ञान अनुभवात्मक है तथा स्थाणुत्व, पुरुषत्वका ज्ञान स्मृतिरूप है। इस कारण संशयको नैयायिकमतके समान सिद्धान्तमें एक ज्ञान नहीं माना जाता है किन्तु धर्मीका ज्ञान और दो धर्मोंका ज्ञान, इस प्रकार दो ज्ञान माने जाते हैं। दोषके कारण दोनोंका भेद प्रतीत नहीं होता है। इस कारण 'वह स्थाणु है या पुरुष', इस प्रकार अव्यवस्थित व्यवहार का हेतु संशय होता है।

अन्यथाज्ञान- धर्मीकी एकता होनेपर अन्यविशेषणके आरोपसे होनेवाला ज्ञान अन्यथाज्ञान कहलाता है- **धर्म्यैक्ये सति प्रकारान्तरारोपणेन ज्ञानं अन्यथाज्ञानम्** । जैसे- 'शंख पीला है'- 'पीतः शंख' यह ज्ञान अन्यथा ज्ञान है। एक धर्मी शंख है, उसका स्वाभाविक धर्म शुक्लत्व है। दोषके कारण शंखमें पीतत्वका आरोप करके 'पीतः शंखः' ऐसा जो ज्ञान होता है, वह अन्यथाज्ञान है। आत्माका कर्तृत्व श्रुति आदि प्रमाणोंसे सिद्ध है, यह आत्मा के कर्तृत्वप्रसङ्गमें विस्तारसे निरूपित है। आत्माका कर्तृत्व सिद्ध होनेपर सांख्यसम्मत कुयुक्तियोंके द्वारा 'आत्मा अकर्ता है' इस प्रकार होनेवाला ज्ञान अन्यथाज्ञान है। यहाँ एक धर्मी आत्मा है,

अकर्तृत्वविशेषण जड़पदार्थका धर्म है। आत्मामें उसके आरोपसे आत्माके अकर्तृत्वका ज्ञान अन्यथाज्ञान है। वह रजोगुणका कार्य है, **अयथावत्प्रजानाति बुद्धिः सा पार्थ राजसी।** (गी.१८.३१)

विपरीतज्ञान– एक धर्मीका अन्य धर्मीरूपसे होनेवाला ज्ञान विपरीत ज्ञान कहलाता है– **धर्म्यन्तरस्य धर्म्यन्तरत्वेन ज्ञानं विपरीतज्ञानम्।** जैसे शुक्तिका रजतत्वेन ज्ञान, रज्जुका सर्पत्वेन ज्ञान, देहादिका आत्मत्वेन ज्ञान इत्यादि। विपरीतज्ञान तमका कार्य है, **अधर्मं धर्ममिति या मन्यते तमसावृता। सर्वार्थान् विपरीतांश्च बुद्धिः सा पार्थ तामसी।।**(गी.१८.३२)

असाधारण धर्मको लक्षण कहते हैं। वह अव्याप्ति, अतिव्याप्ति और असंभव इन तीन दोषोंसे रहित होता है। लक्ष्यके एक भागमें लक्षणका न रहना अव्याप्तिदोष है। जैसे–जीवात्माका लक्षण **गुणत्रयवश्यत्व** अव्याप्ति दोषसे युक्त है। यहाँ सभी जीव लक्ष्य हैं किन्तु यह लक्षण बद्ध जीवोंमें ही रहता है, लक्ष्यके एक भाग मुक्त और नित्य जीवों में नहीं रहता है, इसलिए इसमें अव्याप्ति दोष होता है। लक्ष्यमें रहते हुए अलक्ष्यमें भी लक्षणका रहना अतिव्याप्ति दोष होता है। जैसे–जीवका ज्ञानगुणाश्रयत्व लक्षण अतिव्याप्ति दोषसे युक्त है। यह लक्षण लक्ष्य जीवमें रहते हुए लक्ष्यभिन्न परमात्मामें भी रहता है, इसलिए अतिव्याप्ति दोषसे युक्त है। लक्ष्यमें कहीं भी लक्षणका न रहना असंभव दोष है। जैसे–जीवका चक्षुर्विषयत्वं लक्षण असंभव दोषसे युक्त है। यह लक्षण लक्ष्य जीवमें कहीं भी न रहनेसे असंभव दोषवाला है। उक्त प्रमा और प्रमाणके लक्षण तीनों दोषोंसे रहित हैं। साधकतमको करण कहते हैं। अत्यन्त साधकको साधकतम कहते हैं। जिसके होनेपर शीघ्र कार्य उत्पन्न होता है, उसे अत्यन्त साधक कहते हैं। इस प्रकार 'प्रमाकरणत्व' प्रमाणका लक्षण निष्पन्न होता है।

प्रमाणके भेद- प्रमाणके तीन भेद होते है- १.प्रत्यक्ष २.अनुमान ३.शब्द। मनु महाराजने **प्रत्यक्षं चानुमानं च शास्त्रं च विविधागमम्। त्रयं सुविदितं कार्यं धर्मशुद्धिमभीप्सता**।।(म.स्मृ.१२.१०५) इस प्रकार तीन प्रमाणोंको ही मान्यता दी है और **दृष्टानुमानागमजं ध्यानस्यालम्बनं त्रिधा** इस प्रकार महर्षि शौनकने भी तीन प्रमाणोंको मान्यता दी है।

प्रत्यक्षप्रमाण- प्रत्यक्षप्रमाका करण प्रत्यक्ष प्रमाण कहा जाता है- **प्रत्यक्षप्रमाकरणं प्रत्यक्षम्।** अनुमान और शब्द प्रमाणमें अतिव्याप्तिवारणके लिए लक्षणमें प्रत्यक्ष कहा गया है। दोषयुक्त इन्द्रियसे जन्य ज्ञानके करण दोषयुक्त इन्द्रियमें अतिव्याप्ति निवृत्तिके लिए प्रमा कहा गया है।

प्रत्यक्षप्रमा- अनुमिति, शाब्दबोध और स्मृतिसे भिन्न प्रमा प्रत्यक्षप्रमा कही जाती है। इन्द्रियजन्य प्रत्यक्ष प्रमा होती है, ऐसा नहीं कहा जा सकता है क्योंकि नित्य और मुक्त आत्मा तथा ईश्वरकी प्रत्यक्ष प्रमा इन्द्रियजन्य नहीं है। बद्ध आत्माकी ही प्रत्यक्ष प्रमा इन्द्रियरूप प्रमाणसे जन्य है।

प्रत्यक्षज्ञानकी उत्पत्ति- बद्ध जीवोंका प्रत्यक्ष ज्ञान उत्पन्न होता है। जीवात्मा हृदयमें स्थित है, मन हृदय में स्थित है और अन्य इन्द्रियाँ भी हृदयमें स्थित हैं। हृदयस्थ नाड़ियों से संबद्ध होकर ये इन्द्रियाँ अपने-अपने गोलकोंमें भी विद्यमान रहती हैं। जाग्रत अवस्था आनेपर इन इन्द्रियोंका हृदयसे गोलकोंमें संचरण नाड़ियोंके माध्यमसे होता है। इस प्रकार हृदयमें रहनेवाली ये इन्द्रियाँ भिन्न-भिन्न नाडियोंके माध्यमसे गोलकोंमें स्थित होकर अपना अपना कार्य करती हैं। आत्माका धर्मभूतज्ञानद्वारा मनसे संबन्ध होता है। मनका धर्मभूतज्ञानद्वारा चक्षु इन्द्रियसे सम्बन्ध होता है और चक्षुइन्द्रियका धर्मभूतज्ञान द्वारा घटादि विषयके साथ सम्बन्ध होता है। इस प्रकार

धर्मभूतज्ञानका विषयके साथ सम्बन्ध होनेपर विषयका प्रकाश होता है। जिस प्रकार सरोवरमें स्थित जल छिद्रसे निकलकर नालीके द्वारा खेतमें जाकर खेतके आकारका हो जाता है अर्थात् खेत जैसा त्रिकोण, चतुष्कोण होता है। जल भी उसी आकारका हो जाता है, उसी प्रकार आत्माश्रित धर्मभूतज्ञान मनसे निकलकर चक्षु आदि इन्द्रियके द्वारा घटादि विषयदेशमें जाकर विषयके आकारका हो जाता है। तब 'यह घट है', 'यह पट है'– इस प्रकार चाक्षुष ज्ञान उत्पन्न होता है। धर्मभूतज्ञानके विषयाकार परिणामको ही वृत्ति या विषयज्ञान कहते हैं धर्मभूतज्ञानका घटाकार परिणाम घटज्ञान है और पटाकार परिणाम पटज्ञान है। इस प्रकार आत्मा धर्मभूतज्ञान द्वारा विषयका प्रकाश करती है। आत्माका धर्मभूतज्ञान द्वारा मनसे सम्बन्ध होना तो सभी ज्ञानकी उत्पत्तिमें समान है और जब मनका धर्मभूतज्ञान द्वारा त्वग् इन्द्रिंयके साथ और त्वक्का ज्ञान द्वारा विषयके साथ सम्बन्ध होता है, तब 'यह शीत है', 'यह उष्ण है', 'यह मृदु है', 'यह कठोर है' इस प्रकार स्पार्शन प्रत्यक्ष होता है। इसी प्रकार मन और घ्राण का धर्मभूतज्ञानद्वारा पृथिवीके आश्रित गन्धके साथ सम्बन्ध होनेपर गन्धका घ्राणज प्रत्यक्षज्ञान होता है। रसनाका धर्मभूतज्ञानद्वारा रसके साथ सम्बन्ध होने पर रसका रासन प्रत्यक्ष होता है और श्रोत्रका शब्दसे सम्बन्ध होने पर शब्दज्ञान होता है। चक्षु इन्द्रिय घटादि द्रव्य तथा रूप अद्रव्यका ज्ञान कराती है। त्वग् इन्द्रिय घटादि द्रव्य और स्पर्श अद्रव्यका ज्ञान कराती है। घ्राण, रसना और श्रोत्र अद्रव्यका ही ज्ञान करानेवाली हैं। इन्द्रिय और विषयका संयोग सम्बन्ध होनेपर द्रव्यका प्रत्यक्ष होता है। वेदान्तसिद्धान्तमें समवाय सम्बन्ध स्वीकृत नहीं है। द्रव्यगत रूपका प्रत्यक्ष तो संयुक्तद्रव्याश्रितत्व सम्बन्धसे होता है। इस प्रकार चाक्षुष, त्वाच, घ्राणज, रासन और श्रौत्र प्रत्यक्षका निरूपण संपन्न होता है।

नैयायिक- अभी पाँच प्रकारके ही प्रत्यक्ष ज्ञानका निरूपण किया गया, वह उचित नहीं है क्योंकि मनसे सुखादिका प्रत्यक्ष होता है, अतः षष्ठ मानसप्रत्यक्षको भी स्वीकार करना चाहिए।

वेदान्ती- ज्ञान स्वयंप्रकाश है, ज्ञाता अहमर्थ आत्मा भी स्वयंप्रकाश है। अवस्थाविशेषको प्राप्त किया हुआ ज्ञान ही सुखदुःखादिरूप होता है, इसलिए सुखादि भी स्वयंप्रकाश हैं। स्वयंप्रकाश होनेके कारण उन्हें प्रकाशित करनेके लिए मनकी अपेक्षा नहीं होती है, इसलिए वेदान्तसिद्धान्तमें मानस प्रत्यक्ष स्वीकार नहीं किया जाता है। अनुकूल विषयके साथ इन्द्रियसंयोग होनेपर ज्ञान सुखरूप होता है और प्रतिकूल विषयके साथ संयोग होने पर ज्ञान दुःखरूप होता है। इस प्रकार ज्ञानके सुखरूप और दुःखरूप होनेमें मनके व्यापारका निराकरण नहीं किया जाता है किन्तु इनका प्रकाश तो स्वयं ही होता है। अणुत्व, नित्यत्व, भगवच्छेषत्व आदि धर्मोंसे विशिष्ट प्रत्यगात्माका साक्षात्कार योगाभ्याससे जन्य अदृष्टके द्वारा संस्कृत मनसे निष्पन्न होता है। कहनेका अभिप्राय यह है कि सामान्य मनुष्योंको मानसप्रत्यक्ष नहीं होता है। स्वयंसिद्धज्ञानवाले और दिव्यज्ञानवाले योगियोंको मानसप्रत्यक्ष होता ही है। नैयायिक मतमें आत्मा और उसके सुखादि धर्म जड़(अस्वयंप्रकाश) होनेसे उन्हें प्रकाशित करनेके लिए मानस प्रत्यक्ष स्वीकार किया जाता है किन्तु वेदान्तमतमें उनकी स्वयंप्रकाशता श्रुतिसिद्ध होनेसे उन्हें प्रकाशित करनेके लिए मानस प्रत्यक्ष स्वीकार नहीं किया जाता है।

सभी ज्ञान 'यह वस्तु ऐसी है।' (इदम् इत्थम्= यह वस्तु विशेषणसे विशिष्ट है।) इस प्रकार उत्पन्न होते हैं। यहाँ पर 'यह' पदसे वस्तुके स्वरूपका निर्देश होता है तथा 'ऐसी' इस पदसे उसके प्रकार(विशेषण) का निर्देश होता है। वस्तुका प्रथम ज्ञान 'यह गाय है' (इयं गौः) इस प्रकार होता है तथा द्वितीयादि ज्ञान 'यह भी गाय

है।' (इयमपि गौः) इस प्रकार होते हैं। प्रथम ज्ञानमें गोव्यक्ति विशेष्यरूपसे तथा गोत्व जाति प्रकाररूपसे भासती है। द्वितीयादि ज्ञानोमें भी ऐसा होता है, फिर भी दोनों ज्ञानोंमें इतना अन्तर है कि प्रथम ज्ञानमें जिस गोत्व जातिका अनुभव हुआ है, द्वितीयादि ज्ञानोंमें उसकी अनुवृत्ति भासती है, प्रथम ज्ञानमें अनुवृत्ति नहीं भासती। इस कारण 'यह गौ है' इस प्रकार प्रथम ज्ञान तथा 'यह भी गौ है' इस प्रकार द्वितीय आदि ज्ञान होते हैं। प्रथम ज्ञानमें जातिका प्रत्यक्ष अनुभव होता है, उससे संस्कार उत्पन्न होता है। इस कारण द्वितीयादि ज्ञानोंमें जातिकी अनुवृत्ति भासती है, अतः(पूर्वमें पाँच प्रकारसे निरूपित) प्रत्यक्षज्ञान निर्विकल्पक, सविकल्पक भेदसे दो प्रकारका होता है-

(१)निर्विकल्पक प्रत्यक्ष- संस्कारके विना इन्द्रियसे जन्य ज्ञानको निर्विकल्पक प्रत्यक्ष ज्ञान कहते हैं- **संस्काररहितेन्द्रियजन्यं ज्ञानं निर्विकल्पकम्।**

(२)सविकल्पक प्रत्यक्ष- संस्कारकी सहायतासे जो इन्द्रियजन्य प्रत्यक्षज्ञान होता है, उसे सविकल्पक प्रत्यक्ष ज्ञान कहते हैं।

वस्तुका प्रथम ज्ञान निर्विकल्पक होता है क्योंकि वह संस्कारके विना इन्द्रियसे जन्य होता है। द्वितीयादि ज्ञान सविकल्पक होते हैं क्योंकि वे संस्कार की सहायतासे इन्द्रियद्वारा जन्य होते हैं। 'यह वही गौ है', 'यह भी गौ है।' 'इसके समान यह गौ है।' इस प्रकार भी द्वितीयादि ज्ञानका व्यवहार किया जाता है किन्तु संस्कारसहकृत इन्द्रियसे जन्य होनेके कारण यह सविकल्पक ही कहा जाता है।

शंका- अन्य मतमें विशेषण (विकल्प) से रहित वस्तुका ज्ञान निर्विकल्पक तथा विशेषणके सहित वस्तुका ज्ञान सविकल्पक माना

जाता है किन्तु वेदान्त मतमें दोनों ज्ञान विशेषणसहित वस्तुको विषय करनेवाले माने जाते हैं तो इनमें भेद कैसे सिद्ध होगा?

समाधान- अल्प विशेषणोंसे विशिष्ट ज्ञानको निर्विकल्पक तथा अधिक विशेषणोंसे विशिष्ट ज्ञानको सविकल्पक कहा जाता है, जिस प्रकार लोकमें अल्प धनवाला मनुष्य निर्धन तथा अधिक धनवाला मनुष्य धनी कहा जाता है। जातिकी व्यक्त्यन्तरमें अनुवृत्तिरूप विशेषण निर्विकल्पक ज्ञानमें नहीं होता है, वह सविकल्पक ज्ञानमें होता है। इस प्रकार दोनों ज्ञानोंमें भेद सिद्ध हो जाता है।

वस्तुका प्रथम ज्ञान 'यह है'- अयम् इस प्रकार होनेपर उसीका पुनः ज्ञान 'यह वही है'- सोऽयं इस प्रकार होता है। यदि पूर्वका निर्विकल्पकज्ञान विशेषणसे विशिष्ट वस्तुको विषय नहीं करता तो 'यह वही है' इस प्रकार द्वितीय ज्ञान नहीं होता किन्तु वैसा ज्ञान होता है। इससे सिद्ध होता है कि निर्विकल्पक ज्ञानका विषय भी विशेषणविशिष्ट वस्तु होती है, निर्विशेष वस्तु नहीं होती।

यदि प्रथम(निर्विकल्पक) अनुभवके संस्कार नष्ट हो जाएं तो दूसरी बार होनेवाला उसी वस्तुका ज्ञान अथवा उस जातिवाली अन्य वस्तुका ज्ञान भी निर्विकल्पक ही होगा क्योंकि पूर्वानुभूत धर्म द्वितीय ज्ञानके विषय नहीं होंगे। पूर्वानुभूत वस्तुका 'यह वही देवदत्त है।' अथवा 'यह वही गाय है।' इस प्रकार पुनः ज्ञान होता है। पूर्वानुभूत वस्तुकी सदृश वस्तुका 'यह वही दीप शिखा है' अथवा 'यह भी गाय है' इस प्रकार पुनः ज्ञान होता है। 'यह वही है।' इस प्रकार पूर्वानुभूत वस्तुके ही पुनः होनेवाले ज्ञानमें जाति, गुण, देश तथा काल भासते हैं किन्तु जातिकी व्यक्त्यन्तरमें अनुवृत्ति नहीं भासती है क्योंकि दोनों ज्ञानोंका विषय एक ही वस्तु (व्यक्ति) होती है। पूर्वानुभूत वस्तुके सदृश वस्तुके ज्ञानमें जातिकी व्यक्त्यन्तरमें अनुवृत्ति

भी भासती है। इस प्रकार सभी प्रत्यक्ष ज्ञानोंसे सविशेष वस्तुकी ही सिद्धि होती है, निर्विशेषकी सिद्धि नहीं होती।

निर्विकल्पक और सविकल्पक भेदवाला प्रत्यक्ष ज्ञान दो प्रकारका होता है- १. अर्वाचीन २. अनर्वाचीन।

१.अर्वाचीन प्रत्यक्षज्ञान- जन्य प्रत्यक्षज्ञानको अर्वाचीन प्रत्यक्षज्ञान कहा जाता है। इसके दो भेद हैं- **क.** इन्द्रियसापेक्ष और **ख.** इन्द्रियनिरपेक्ष।

क.इन्द्रियसापेक्ष प्रत्यक्षज्ञान- बद्ध आत्माओंका प्रत्यक्ष ज्ञान अपनी उत्पत्तिके लिए इन्द्रियोंकी अपेक्षा रखता है, इसलिए उनका ज्ञान इन्द्रियसापेक्ष प्रत्यक्ष ज्ञान कहलाता है। इसकी उत्पत्तिके प्रकारका निरूपण पूर्वमें हो चुका है।

ख.इन्द्रियनिरपेक्ष प्रत्यक्षज्ञान- यह दो प्रकारका होता है- स्वयंसिद्ध और दिव्य।

स्वयंसिद्ध प्रत्यक्षज्ञान- स्वयंसिद्ध प्रत्यक्षज्ञान प्रयत्नसे साध्य योगाभ्यास, तपश्चर्या आदि के द्वारा जन्य प्रकृष्ट अदृष्टविशेषसे उत्पन्न होता है। यह अदृष्टविशेष भगवत्प्रीति ही है। इससे सूक्ष्म, व्यवहित और विप्रकृष्ट वस्तुका भी प्रत्यक्ष होता है। वह योगकालमें प्रकृष्ट अदृष्टविशेष की सहायतासे केवल मनके द्वारा उत्पन्न होता है। उस अवस्थामें बाह्येन्द्रियोंका निरोध होनेके कारण उनका विषयके साथ सम्बन्ध संभव न होनेसे बाह्येन्द्रियोंसे विषयका प्रत्यक्ष नहीं हो सकता है। योगाभावकालमें प्रकृष्ट अदृष्टविशेषकी सहायतासे चक्षु आदि बाह्येन्द्रियोंसे भी जन्य होता है। ब्रह्मसूत्रभाष्यके समन्वयाधिकरणमें अदृष्टके विना केवल भावनासे जन्य योगजप्रत्यक्षका निराकरण किया गया है, अदृष्टसहकृत विशुद्धमनसे निष्पन्न होनेवाले योगज प्रत्यक्षका निराकरण नहीं किया गया है।

योगस्मृतिमें ब्रह्मको जगत्का केवल निमित्तकारण माना गया है। अभिन्ननिमित्तोपादान कारण नहीं माना गया है। पदार्थोंकी सृष्टिक्रमका व्युत्क्रम देखा गया है। प्रत्यगात्माका ज्ञान मोक्षसाधन माना गया है, कैवल्यमात्रको मोक्षका स्वरूप कहा गया है इत्यादि कारणोंसे ब्रह्मसूत्रकार भगवान वेदव्यासने **एतेन योगः प्रत्युक्तः**(ब्र.सू. २.१.३) इस प्रकार योगस्मृतिका खण्डन किया है। योगसाधन तो वेदान्तसम्मत है, **आसीनः सम्भवात्**(ब्र.सू.४.१.७) तथा **ध्यानाच्च**(ब्र. सू.४.१.८) इत्यादि सूत्र योगका प्रतिपादन करते है। **आवृत्तिरसकृद् उपदेशात्** (ब्र.सू.४.१.१) यह सूत्र ज्ञानकी समाधिपर्यन्तता का बोध कराता है।

स्वयंसिद्ध प्रत्यक्षज्ञान साधनाजन्य प्रकृष्ट अदृष्टविशेषके सहयोगसे इन्द्रियद्वारा उत्पन्न होता है। वह केवल इन्द्रियजन्य न होनेसे इन्द्रियनिरपेक्ष प्रत्यक्ष ज्ञान कहा जाता है।

दिव्यप्रत्यक्षज्ञान– दिव्य प्रत्यक्षज्ञान श्रीभगवानके अनुग्रहसे होता है। भगवदनुग्रहसे अन्तर् और बाह्य सभी इन्द्रिया दिव्य हो जाती हैं। इनसे जन्य दिव्यप्रत्यक्ष ज्ञानके द्वारा सूक्ष्म, व्यवहित, और विप्रकृष्ट वस्तुओंका बोध होता है। यह भी युक्तावस्थामें मनसे जन्य होता है तथा वियुक्तावस्थामें चक्षु आदि बाह्येन्द्रियोंसे जन्य होता है। यह भगवदनुग्रहसहकृत इन्द्रियसे जन्य होता है, केवल इन्द्रियसे जन्य नहीं होता है। इसलिए यह इन्द्रियनिरपेक्ष प्रत्यक्षज्ञानकी श्रेणीमें आता है।

दिव्य चक्षु– महर्षि वाल्मीकि, सञ्जय, और अर्जुन आदिको दिव्य चक्षु प्राप्त थे। तुम परिमित वस्तुके बोधक अपने प्राकृत चक्षु द्वारा मेरे सकलेतर विलक्षण अपरिमेय स्वरूपका दर्शन नहीं कर सकते हो। मेरे दर्शनका साधनं दिव्य अप्राकृत चक्षु तुझे देता हूँ, उससे अनन्त ज्ञानादिगुणों तथा अनन्त विभूतियोंवाला मुझे देख– **न तु मां**

शक्यसे द्रष्टुमनेनैव स्वचक्षुषा। दिव्यं ददामि ते चक्षुः पश्य मे योगमैश्वरम्।।(गी.११.८) इन्द्रियके अधीन ज्ञानवाले संसारी जीवका दिव्य चक्षु मन है। संसारावस्थामें मनके अधीन जिस धर्मभूतज्ञानका विकास होता है, उस धर्मभूतज्ञानरूप दिव्यचक्षुसे मुक्त पुरुष ब्रह्ममें विद्यमान सभी कल्याणकारक गुणोंका अनुभव करते हुए आनन्दित होता है- **मनोऽस्य दिव्यं चक्षुः। स वा एष एतेन दिव्येन चक्षुषा मनसैतान् कामान् पश्यन् रमते य एते ब्रह्मलोके।** (छां.उ.८.१२.५) संसारी जीव मनके विना न कुछ जान सकता है और न ही बोल सकता है। सभी इन्द्रियोंसे ग्राह्य विषयके मननका साधन मन है। इन विशेषताओंके कारण छान्दोग्योपनिषत् में संसारी जीवका दिव्य चक्षु मनको कहा जाता है। मुक्तात्मा सर्वज्ञ होता है। उसका ज्ञान इन्द्रियनिरपेक्ष होता है। उसका दिव्यचक्षु धर्मभूतज्ञान कहा जाता है। वह अप्राकृत वस्तुका भी प्रत्यक्षज्ञान कराता है। संसारावस्थामें मनकी प्रधानता होनेसे **मनोऽस्य दिव्यं चक्षुः** इस प्रकार श्रुति उसका पूर्वमें कथन करती हैं और मुक्तावस्थामें मनकी निवृति हो जाती है। उसका कार्य भी धर्मभूतज्ञानसे सिद्ध हो जाता है। इस अर्थका बोध करानेके लिए द्वितीय वाक्यके आरम्भमें **दिव्येन चक्षुषा** इस प्रकार धर्मभूतज्ञानका पूर्वमें निर्देश करती है।

प्रत्यगात्मस्वरूप(जीवात्मा) और ब्रह्मस्वरूप दोनों ही रूपादि गुणोंसे रहित हैं, इसलिए उन्हें नेत्र आदि इन्द्रियोंसे नहीं जान सकते हैं। मुक्तात्मा धर्मभूतज्ञानके द्वारा सभीको जानता हैं। साधक योगकालमें मनसे धर्मभूतज्ञानका प्रसार होनेके कारण अतीन्द्रिय पदार्थोंका भी साक्षात्कार करता हैं। वह व्युत्थानकालमें प्रत्यगात्मा, ब्रह्म और उनके दया, वात्सल्य आदि अनन्त कल्याणकारक गुणोंको धर्मभूतज्ञानसे जानता है। उनके श्रीविग्रहको चक्षुसे जानता है। ब्रह्मका श्रीविग्रह रूपादिसे युक्त होनेपर भी अप्राकृत होनेसे इन नेत्र

आदि इन्द्रियोंसे नहीं जाना जा सकता हैं। मुक्तात्माके ज्ञानका प्रतिबन्धक अज्ञानका सर्वथा अभाव होनेसे उसका ज्ञान सर्वविषयक होता है। संसारावस्थामें ज्ञानका प्रतिबन्धक कर्मरूप अज्ञान होनेसे संसारी जीव सबको नहीं जानता है। वह कुछ परिच्छिन्न पदार्थोंको ही जानता है किन्तु योगज प्रत्यक्षज्ञान और दिव्यज्ञानसे वह अतीन्द्रिय, अप्राकृत, अपरिच्छिन्न पदार्थोंको भी जानता है। संसारावस्थामें ज्ञानका प्रसार मनके अधीन होता है, इसलिए साधक ध्यानकालमें मनसे ही सभीका प्रत्यक्ष करता है अर्थात् वह गुण और विभूतिसे विशिष्ट परमात्माका भी प्रत्यक्ष करता है, इसलिए संसारी जीवका दिव्यचक्षु मन कहा गया है। स्वयंसिद्ध प्रत्यक्षज्ञान और दिव्यप्रत्यक्ष ज्ञानकी जनक इन्द्रियाँ दिव्य अर्थात् अप्राकृत वस्तुओंके दर्शनकी साधन विलक्षण सामर्थ्यसे युक्त होती हैं। इन्द्रियोंमें ऐसा विलक्षण सामर्थ्य भगवदनुग्रहसे आता है। श्रीभगवान् जीवके भजन-ध्यानसे अनुग्रह करें अथवा वर्तमान जन्ममें की गयी साधनाके विना करें। ध्यानावस्थामें मनसे श्रीभगवान्का साक्षात्कार होता है। व्युत्थानकाल (ध्यान से अतिरिक्तकाल)में चक्षु आदि इन्द्रियोंसे भी साक्षात्कार होता है। परब्रह्मके श्रीविग्रहका प्रत्यक्ष चक्षुसे होता है और उनके स्वरूपका प्रत्यक्ष मनसे होता है। गीतामें कहे गये 'दिव्यचक्षु' पदसे दिव्य घ्राण और दिव्य मनका भी ग्रहण होता है। चक्षुके दिव्य होनेसे ही अर्जुनने विचित्र अद्भूत आकृतिवाले व्यापक भगवद्विग्रहका दर्शन किया। गीतामें **अनन्तवीर्यम्**(गी.११.१६) कहा गया है। सम्पूर्ण जगत्का धारण और नियमन करते हुए भी निर्विकार बने रहनेका सामर्थ्य भगवान्का वीर्य गुण है। अनन्तवीर्यका अर्थ है- **अनवधिकातिशयवीर्य।** यहाँ आया 'वीर्य' शब्द ज्ञान, बल, ऐश्वर्य, शक्ति और तेजका उपलक्षण है। अर्जुनने अनवधिकातिशय ज्ञान, बल, ऐश्वर्य वीर्य, शक्ति और तेजके निधान

परब्रह्मका दर्शन किया। ज्ञानादि गुण और परब्रह्मस्वरूप प्राकृत इन्द्रियोंका विषय नहीं है, दिव्य मनसे उनका दर्शन किया। **दिव्यगन्धानुलेपनम्** (गी.११.११) इस प्रकार वर्णित दिव्यगन्धका दिव्य घ्राणसे अनुभव किया।

अज्ञानरूप तमकी निवृत्ति ही इन्द्रियोंका फल है। इन्द्रियाँ विषयका प्रकाश नहीं करती हैं। विषयका प्रकाश धर्मभूतज्ञान करता है। इन्द्रियाँ तो प्रकाशके प्रतिबन्धक अज्ञानकी निवृत्ति करती हैं। इन्द्रियाँ ज्ञानकी साधन हैं। प्रकाशक धर्मभूतज्ञानका आश्रय आत्मा ज्ञाता होती है।

२.अनर्वाचीन प्रत्यक्षज्ञान- अजन्य प्रत्यक्षज्ञानको अनर्वाचीन प्रत्यक्षज्ञान कहा जाता है। नित्य, मुक्त और परमात्माका प्रत्यक्षज्ञान अनर्वाचीन प्रत्यक्षज्ञान है। वह युगपद् सम्पूर्ण विषयोंका प्रत्यक्ष करनेमें समर्थ होता है। नित्य और मुक्त आत्मा के इन्द्रियनिरपेक्ष सर्वविषयक प्रत्यक्षज्ञानका जीवात्मविवेचन और परमात्मा के प्रत्यक्षज्ञान का ब्रह्मविवेचनमें विशद वर्णन किया गया है।

प्रत्यक्षज्ञानको प्रत्यक्ष कहते हैं, उसके विषयको प्रत्यक्ष कहते हैं और उस ज्ञानके जनक प्रमाणको भी प्रत्यक्ष कहते हैं। इस प्रकार प्रत्यक्ष शब्दका प्रयोग ज्ञान, प्रमेय तथा प्रमाण इन तीनोंके लिए होता है।

स्मृति- पूर्वानुभवसे जन्य जो संस्कार होते है, केवल उस संस्कारसे जन्य ज्ञानको स्मृति कहा जाता है- **पूर्वानुभवजन्यसंस्कारमात्रजन्यं ज्ञानं स्मृतिः** अर्थात् इन्द्रिय और विषयके सन्निकर्षसे अजन्य तथा संस्कारजन्य ज्ञानको स्मृति कहा जाता है। यथार्थ और अयथार्थ भेदसे अनुभव दो प्रकारका होता है। प्रत्यक्ष, अनुमिति और शाब्दबोध ये तीन प्रकारके यथार्थानुभव होते हैं। संशय, विपरीतज्ञान

और अन्यथाज्ञान ये तीन प्रकारके अयथार्थ ज्ञान भी पूर्वमें कहे गये हैं। यथार्थानुभवको ही प्रमा कहा जाता है। और अयथार्थानुभवको ही अप्रमा कहा जाता है। पूर्वमें किसी विषयका अनुभव होता है, अनुभवसे संस्कार होते हैं और संस्कारमात्रसे जन्य ज्ञानको स्मृति कहा जाता है। प्रत्यभिज्ञामें अतिव्याप्तिनिवारणार्थ स्मृतिके लक्षणमें मात्र पद दिया गया है।

अनुभवके दो भेद होनेसे तद्मूलक स्मृति भी यथार्थ और अयथार्थ भेदसे दो प्रकारकी होती है। प्रमामूलक स्मृति प्रमा मानी जाती है और अप्रमामूलक स्मृति अप्रमा मानी जाती है। यथावस्थित व्यवहारोपयोगी ज्ञान प्रमा है, ऐसा पूर्वमें कहा गाया है। प्रमामूलक स्मृति भी यथावस्थित व्यवहारोपयोगी ज्ञान होनेसे प्रमा ही है। स्मृति अपनी उत्पत्तिके लिए प्रत्यक्ष, अनुमिति और शाब्दबोधसे जन्य संस्कारोंकी अपेक्षा करती है, इसलिए संस्कारों की जनक प्रत्यक्ष, अनुमिति और शाब्दबोधरूप प्रमा स्मृतिकी मूल होती है, अतः प्रत्यक्षप्रमामूलक स्मृतिका प्रत्यक्षप्रमामें अन्तर्भाव होता है। इसी प्रकार अनुमितिप्रमामूलक और शाब्दबोधप्रमामूलक स्मृतिका क्रमसे अनुमिति प्रमा और शाब्दबोधरूप प्रमामें अन्तर्भाव होता है। इस कारण वेदान्तमें तीन प्रकारकी ही प्रमा मानी जाती है। स्मृति अतिरिक्त प्रमा नहीं मानी जाती है।

संस्कार– जो अनुभवसे जन्य होते हुए स्मृतिका हेतु होता है, उसे संस्कार कहा जाता है। उद्बुद्धसंस्कारोंसे ही स्मृति होती है, अनुद्बुद्धसे नहीं होती। समान वस्तुका ज्ञान, अदृष्ट, चिन्तन(विचार) और साहचर्यज्ञान ये चार संस्कारके उद्बोधक हेतु होते हैं। इनसे उद्बुद्ध हुए संस्कार स्मृतिके जनक होते हैं। जैसे–
१. देवदत्त और यज्ञदत्तके परस्पर समान होने पर देवदत्तको देखनेसे यज्ञदत्तकी जो स्मृति होती है, वह देवदत्तरूप समान वस्तुके

ज्ञानसे पूर्वानुभूतयज्ञदत्तविषयक संस्कारोंके उद्बुद्ध होनेसे होती है। २. कालान्तर और देशान्तरमें अनुभव किये गये अयोध्या, श्रीरङ्गम्, तिरुपति, चित्रकूट और वृन्दावन आदि दिव्य तीथस्थानोंकी जो स्मृति होती है, वह अदृष्टसे उद्बुद्ध हुए संस्कारोंके द्वारा होती है। ३. चिन्तन करनेपर कनकभवनबिहारी श्रीरामचन्द्र भगवान् और उनके साथ विराजमान पराम्बा भगवती श्रीसीताजीकी जो स्मृति होती है, वह चिन्तन द्वारा उद्बुद्ध संस्कारोंसे होती है। ४.साथ-साथ रहनेवाले दो व्यक्तियोंके मध्यमें एकके दर्शनसे जो दूसरेकी स्मृति होती है, वह सहचरित अर्थात् साथ रहनेवाले व्यक्तिके ज्ञानसे संस्कारोंके उद्बुद्ध होनेपर होती है। सम्यक् अनुभूत सभी पदार्थोंकी स्मृति होनेका कोई नियम नहीं है क्योंकि अधिक काल होनेसे अथवा व्याधि आदिके द्वारा संस्कार नष्ट हो जाते हैं, इसलिए स्मृति नहीं होती है।

प्रत्यभिज्ञा- संस्कारकी सहायतासे इन्द्रिय और विषयके सन्निकर्षसे जन्य ज्ञान प्रत्यभिज्ञा कहलाता है- **संस्कारसहकृतेन्द्रियार्थसन्निकर्षजन्यं ज्ञानं प्रत्यभिज्ञा**। जैसे-पूर्वमें देवदत्तको देखनेसे जन्य संस्कारकी सहायतासे वर्तमानमें देवदत्त अर्थके साथ चक्षुइन्द्रियका संयोग होनेके कारण 'यह वही देवदत्त है।' इस प्रकार उत्पन्न होनेवाला ज्ञान प्रत्यभिज्ञा कहलाता है। स्मृतिके समान प्रत्यभिज्ञाका भी प्रत्यक्षप्रमामें अन्तर्भाव होता है। प्रत्यभिज्ञा भी सविकल्पक ज्ञानका ही भेद है। भिन्न देश अथवा भिन्न कालमें देखे गये दो व्यक्तियोंके अभेदका बोध करानेवाली प्रत्यभिज्ञा होती है। प्रत्यभिज्ञा कहींपर व्यक्तिके स्वरूपतः अभेदका बोधक होती है, जैसे 'यह वही देवदत्त है' और कहीं सादृश्यमूलक अभेदका बोधक होती है, जैसे-'यह वही दीपशिखा है।'

अभावकी भावान्तररूपता– मिट्टी ही पहले चूर्ण फिर पिण्ड और इसके पश्चात् घटरूप होती है। घटकी उत्पत्तिके पूर्व घटका प्रागभाव रहता है। पिण्डत्वावस्था घटोत्पत्तिके पूर्वमें विद्यमान रहती है। पिण्डत्वावस्था ही घटका प्रागभाव है। घटत्वावस्थाकी विरोधी पिण्डत्वरूप पूर्व अवस्था है। इस प्रकार प्रागभाव विरोधी पूर्वावस्थारूप सिद्ध होता है। घटका प्रध्वंसाभाव कपालत्वावस्थारूप है। प्रध्वंसाभाव विरोधी उत्तरावस्थारूप होता है। भूतलमें विद्यमान घटका अत्यन्ताभाव भूतल अथवा भूतलत्वरूप ही होता है। घटमें विद्यमान पटका अन्योन्याभाव घटत्वरूप ही है। अधिकरणमें विद्यमान असाधारण विरोधी धर्मरूप ही अन्योन्याभाव होता है।

अभावको अतिरिक्त पदार्थ माननेवाले विद्वान भी अभावके अभावको भावरूप ही मानते हैं अन्यथा अनवस्था दोष प्राप्त होता है। उसी प्रकार विरोधी भावरूप अवस्थान्तरसे ही अभावव्यवहारका निर्वाह हो जाता है, इसलिए अतिरिक्त अभावकी कल्पना गौरवग्रस्त और व्यर्थ है। ब्रह्मसूत्रकारने **असद्व्यपदेशान्नेति चेन्न, धर्मान्तरेण वाक्यशेषाद् युक्तेः शब्दान्तराच्च** (ब्र.सू.२.१.१८) इस सूत्रसे अभावको भावान्तररूप कहा है।

अनुपलब्धि प्रमाकी असिद्धि– वेदान्तसिद्धान्तमें अभाव भी भावान्तररूप माना जाता है, इसलिए अभावको विषय करनेवाली प्रमा प्रत्यक्षप्रमा ही होती है, अतः अभावको विषय करनेके लिए अनुपलब्धि प्रमा स्वीकार करनेकी आवश्यकता ही नहीं होती।

ख्याति– भ्रान्तिज्ञानको 'ख्याति' कहा जाता है। वह दोषयुक्त कारणसे जन्य होती है तथा उससे जन्य व्यवहार बाधित होता है। ख्यातिके विषयमें वादियोंके विविध मत प्रचलित हैं। भ्रमस्थलमें योगाचार बौद्ध आत्मख्याति, माध्यमिक बौद्ध असत्ख्याति, निर्विशेषाद्वैती अनिर्वचनीयख्याति, प्राभाकर मीमांसक अख्याति,

नैयायिक अन्यथाख्याति तथा सविशेषाद्वैतवेदान्ती सत्ख्यातिको स्वीकार करते हैं। लोकमें जो जो ज्ञान होता है, वह सभी प्रमा है, ऐसा नहीं कहा जा सकता है क्योंकि वैसा माननेपर पूर्वपक्षीका ज्ञान भी प्रमा हो जायेगा और वह विजयी हो जायेगा। 'सभी ज्ञान अप्रमा हैं' ऐसा भी नहीं कहा जा सकता है क्योंकि ऐसा मानने पर सिद्धान्तीका ज्ञान भी अप्रमा हो जायेगा और वह पराजित हो जाएगा। इस कारण कुछ ज्ञान प्रमारूप माने जाते हैं और कुछ ज्ञान अप्रमारूप माने जाते हैं, ऐसा विभाग सभी स्वीकार करते हैं। प्रमाका निरूपण पूर्वमें किया जा चुका हैं।

आत्मख्याति- क्षणिकविज्ञानवादी योगाचार बौद्ध आत्मख्याति मानते हैं। यहाँ आत्मा का अर्थ है-विज्ञान या बुद्धि। इनके मतमें ज्ञानसे अतिरिक्त ज्ञेय पदार्थोंका अस्तित्व नहीं है। अपना ज्ञान ही नाना प्रकारके बाह्य विषयरूपमें भासित होता है। अपने ज्ञानकी बाह्य विषयरूपमें प्रतीति ही आत्मख्याति है। 'इदं रजतम्' इस प्रकार अपनी बुद्धि ही रजतरूपमें प्रतीत हो रही हैं। यहाँ आत्मत्वेन अभिमत ज्ञानकी रजतरूपमें प्रतीति ही आत्मख्याति है। जैसे- यह घट है। इस प्रकार बुद्धि ही घटरूपमें प्रतीत होती है, वैसे ही भ्रमस्थलमें बुद्धि ही रजतादिरूपसे प्रतीत होती है।

समीक्षा- विचार करने पर योगााचारसम्मत आत्मख्याति उचित प्रतीत नहीं होती है क्योंकि योगाचारमतमें ज्ञान ही आत्मा है और वह ही बाह्य विषयरूपमें भासित होता है। ऐसा माननेपर आत्मा और विषयका अभेद होनेसे 'मैं रजत हूँ' ऐसी प्रतीति भी होनी चाहिए किन्तु ऐसी प्रतीति नहीं होती बल्कि 'यह रजत है' ऐसी प्रतीति होती है इत्यादि कारणोंसे यह मत असंगत सिद्ध होता है।

असत्ख्याति- सर्वशून्यवादी माध्यमिक बौद्ध असत्ख्याति मानते हैं। इनके अनुसार असत् अर्थात् अविद्यमान वस्तु ही प्रतीत होती है। असत् रजतादिकी प्रतीति ही असत्ख्याति कहलाती है।

समीक्षा- अब इस विषयमें माध्यमिकसे यह प्रश्न होता है कि क्या असद् वस्तु असत् ही प्रतीत होती है? अथवा असद्वस्तु सत् प्रतीत होती है? यहाँ प्रथम पक्ष उचित नहीं है क्योंकि वैसा माननेपर वह प्रतीति यथार्थ होगी, वह भ्रम नहीं हो सकती है। द्वितीय पक्ष भी उचित नहीं है क्योंकि वैसा माननेपर अन्यथाख्याति ही सिद्ध होगी। असत्ख्याति सिद्ध नहीं होगी तथा 'सद्वस्तु ही प्रतीत होती है, असद्वस्तु प्रतीत नहीं होती है।' यह सबका अनुभव है। अतः असत्‌की प्रतीति अनुभवविरुद्ध है। इस कारण असत्ख्याति पक्ष त्याज्य है।

अनिर्वचनीयख्याति- शांकरवेदान्ती अनिर्वचनीयख्याति स्वीकार करते हैं। इस मतके अनुसार शुक्तिरजतादि भ्रमस्थलमें अनिर्वचनीय रजतादिकी उत्पत्ति होती है। इस अनिर्वचनीय रजतादिकी प्रतीतिको ही अनिर्वचनीय ख्याति कहा जाता है। पहले शुक्तिमें 'इदं रजतम्' इस प्रकार रजत्‌की प्रतीति होती है और बादमें 'न इदं रजतम्' इस प्रकार रजतका बाध होता है। सद्वस्तुका बाध नहीं हो सकता है किन्तु रजतका बाध होता है, इसलिए उसे सत् नहीं कह सकते हैं। असद्वस्तुकी प्रतीति नहीं हो सकती है किन्तु रजत्‌की प्रतीति होती है, इसलिए उसे असत् भी नहीं कहते हैं। अन्य पदार्थका अन्य पदार्थरूपसे भान नहीं हो सकता है, अतः यह मानना पड़ता है कि यहाँ सदसद्‌से विलक्षण अनिर्वचनीय रजतकी उत्पत्ति हुई है। अधिष्ठानका अज्ञान ही अनिर्वचनीय पदार्थका उत्पादक होता है।

समीक्षा- शुक्तिरजतस्थलमें रजतको अनिर्वचनीय कहना भी उचित नहीं है क्योंकि भ्रान्तिकालमें उसका सत्त्वेन निर्वचन होता है और

बाधकालमें असत्त्वेन निर्वचन होता है। एक वस्तु की एक ही कालमें दो प्रकारसे प्रतीति विरुद्ध है, भिन्नकालमें विरुद्ध नहीं है। भ्रमका मूल सादृश्य होता है। अनिर्वचनीय पदार्थका किसीके साथ सादृश्य न होनेसे उसका भ्रम भी संभव नहीं है। पहलेसे विद्यमान विषयके साथ ही इन्द्रियका सन्निकर्ष होनेपर प्रत्यक्ष ज्ञान होता है। शांकरमतानुसार अनिर्वचनीय रजत प्रातिभासिक पदार्थ है और वह प्रतीति कालमें ही उत्पन्न होता हैं। प्रतीतिसे पूर्व रजतके अविद्यमान होनेसे उसके साथ इन्द्रियसन्निकर्ष संभव न होनेसे उसका प्रत्यक्ष नहीं हो सकता है। यदि सन्निकर्ष के विना साक्षिभास्य होनेसे रजतका प्रत्यक्ष स्वीकार किया जाये तो यह भी उचित नहीं है क्योंकि वहाँ अपूर्व अनिर्वचनीय रजत, उसकी उत्पत्तिके कारण और उसकी प्रतीति आदि अनेक कल्पनाओंकी अपेक्षा दोषवशात् शुक्ति ही रजतरूपमें प्रतीत हो रही है, इस प्रकार अन्यथाख्याति माननेमें ही लाघव है। अनिर्वचनीय पदार्थकी कल्पनाकरने वाले विद्वान् शुक्तिरजतभ्रान्तिस्थलमें 'इदम्' इस प्रकार अन्तःकरणकी वृत्ति तथा 'रजतम्' इस प्रकार अविद्याकी वृत्ति मानकर दो ज्ञान स्वीकार करते हैं, ऐसा होने पर अनिर्वचनीयत्वकी कल्पना तो व्यर्थ ही होती है। अनिर्वचनीय रजतकी कल्पना करनेपर भी वहाँ अन्यका अन्यथाभानरूप अन्यथाख्यातिका त्याग नहीं किया जा सकता है। अन्यथाख्याति स्वीकार करनेसे ही प्रतीति, प्रवृत्ति और बाध संभव हो जाते हैं, इसलिए अत्यन्त अप्रसिद्ध पदार्थकी कल्पना करना उचित नहीं है। अनिर्वचनीयकी कल्पना करनेपर भी वह अनिर्वचनीयत्वेन प्रतीत नहीं होती है बल्कि सत्यत्वेन ही प्रतीत होती है। यदि अनिर्वचनीय वस्तुकी अनिर्वचनीयत्वेन प्रतीति हो तो वह यथार्थज्ञान ही होगा, भ्रान्ति नहीं होगी। अतः उसका बाध भी नही

होगा। अनिर्वचनीय होनेके कारण उसको ग्रहण करनेमें प्रवृत्ति भी नहीं होगी।

अख्याति- प्राभाकर मीमांसक अख्याति को अङ्गीकार करते हैं। इनके मतमें सभी ज्ञान यथार्थ ही होते हैं। कोई भी ज्ञान अयथार्थ नहीं होता है। शुक्तिमें होनेवाला रजतज्ञान यथार्थ ही है। पुरोवर्ती (समक्ष विद्यमान) शुक्तिके साथ इन्द्रियसन्निकर्ष होनेपर 'इदम्' इस प्रकार पुरोवर्ती वस्तुका ज्ञान होता है, उसमें विद्यमान शुक्तित्वका दोषके कारण ज्ञान नहीं होता है। शुक्तिमें स्थित चाकचिक्य आदिके द्वारा उद्‌बुद्ध हुए संस्कारसे पूर्व अनुभूत रजतका स्मरण हो जाता है, अतः 'इदं रजतम्' इस प्रकार दो ज्ञान होते हैं। पूर्व ज्ञान अनुभवात्मक होता है और 'रजतम्' इस प्रकार होनेवाला द्वितीय ज्ञान स्मरणात्मक होता है किन्तु दोषके कारण दोनों ज्ञानोंका भेद ज्ञात नहीं होता है और उनके विषय शुक्ति और रजतका भी भेद ज्ञात नही होता है। दोनो ज्ञानोंका भेद ज्ञात न होनेसे 'इदं रजतम्' ऐसी प्रतीति होती है। अनुभवका विषय है- शुक्ति और स्मरणका विषय है- रजत। अनुभव और स्मरण दोनोंका स्वरूपतः और विषयतः भेद ज्ञात न होनेसे 'इदं रजतम्' यह ज्ञान प्रवृत्तिका जनक होता है। इस मतमें ज्ञान और विषय दोनोंका ही बाध नहीं होता है अपितु ज्ञानसे जन्य व्यवहारका बाध होता है। व्यवहारका बाध होनेसे ज्ञानका बाध उपचारसे कहा जाता है। दोनों ज्ञानोंकी भिन्नत्वेन प्रतीति न होनेसे भ्रान्तिको अख्याति कहा जाता है।

समीक्षा- दो ज्ञानोंके भेदका अज्ञान प्रवृत्तिका कारण कहीं नहीं देखा गया है। प्रवृत्तिके प्रति इच्छा कारण होती है। पुरोवर्तिवस्तुका रजतत्वेन ज्ञान होनेपर उसकी इच्छा होती है और ग्रहण करनेके लिए प्रवृत्ति संभव होती है। पुरोवर्ती रजतभिन्न शुक्तिका रजतत्वेन ज्ञान ही अन्यथाख्याति है। इस प्रकार जब यहाँ भी प्रवृत्तिके लिए

अन्यथाख्याति अपरिहार्य होती है तो अख्याति स्वीकार करनेकी आवश्यकता ही नहीं है।

अन्यथाख्याति– नैयायिक और वैशेषिक अन्यथाख्याति स्वीकार करते हैं। अन्य वस्तुकी अन्यरूपसे प्रतीति अन्यथाख्याति कहलाती है। जैसे– **इदं रजतम्** इस प्रकार शुक्तिकी रजतरूपसे होनेवाली प्रतीति अन्यथाख्याति है। वह देशान्तर और कालान्तरमें अनुभूत रजतत्व आदि धर्मसे विशिष्ट पुरोवर्तिवस्तुका ज्ञानरूप होती है।

समीक्षा– जहाँ शुक्तिमें रजतभ्रम होता है, वहाँ शुक्तिके परिमाणके समान ही रजतका परिमाण प्रतीत होता है अर्थात् जहाँ अल्प परिमाणवाली शुक्तिमें रजतभ्रम होता है, वहाँ रजतमें अल्प परिमाण भासता है और जहाँ अधिक परिमाणवाली शुक्तिमें रजतभ्रम होता है, वहाँ रजतमें अधिक परिमाण भासता है। यदि शुक्ति देशान्तरस्थ रजतरूपसे प्रतीत हो तो रजतका शुक्तिके समान परिमाण प्रतीत नहीं होना चाहिए किन्तु रजतका शुक्तिके समान ही परिमाण प्रतीत होता है। इससे सिद्ध होता है कि शुक्ति देशान्तरस्थ रजतरूपसे प्रतीत नहीं होती है।

सत्ख्याति– विद्यमान विषयकी ही ख्याति सत्ख्याति कहलाती है। सभी ज्ञान यथार्थ ही होते हैं, यह वेदवेत्ताओंका मत है– **यथार्थं सर्वविज्ञानमिति वेदविदां मतम्** यह वचन ब्रह्मसूत्रभाष्यमें उद्धृत है। श्रुतप्रकाशिकाकारने ‘वेदविदां’पदसे महर्षि बोधायन और श्रीनाथमुनि आदिको ग्रहण किया है। इस प्रकार सत्ख्यातिवाद वेदान्तपरम्परामें आरम्भसे ही स्वीकृत है। **यथार्थं सर्वविज्ञानम्** इसे न्यायपरिशुद्धि ग्रन्थमें वैभववाद कहा गया है किन्तु यह वैभववाद एकदेशीकी दृष्टिसे है। छान्दोग्यमें त्रिवृत्करण सुना जाता है, इसे सभी आचार्य

पञ्चीकरणका उपलक्षण मानते हैं। पञ्चीकरण प्रक्रियाका प्रकृतिप्रकरणमें विस्तारसे प्रतिपादन किया गया है। इस प्रक्रियाके द्वारा सभी भूतोंमें सभी भूत विद्यमान रहते हैं। शुक्तिके अधिक अवयवों और उसकी अपेक्षा रजतके अल्प अवयवोंसे शुक्तिका निर्माण होता है, इसलिए शुक्तिमें भी रजतके अंशोंकी विद्यमानता है। उसमें रजतके अवयव होनेपर भी शुक्तिके अवयवोंकी अधिकताके कारण शुक्ति कहा जाता है। शुक्तिमें होनेवाले 'इदं रजतम्' इस ज्ञानका विषय सत्य रजत है। वह मिथ्या नहीं है। दोषके कारण शुक्तिके अंशके अज्ञानसहित शुक्तिमें विद्यमान रजतके सूक्ष्म अंशोंका चक्षुसे ज्ञान होता है। यथार्थ वस्तुको विषय करनेवाला यह ज्ञान यथार्थ ही होता है। इसी प्रकार रज्जुके अवयव और सर्पके अवयव दोनों पार्थिव होनेके कारण उन अवयवोंसे भिन्न-भिन्न कालमें भिन्न-भिन्न पदार्थोंका निर्माण होनेपर रज्जुमें भी पार्थिव सर्पावयव विद्यमान होते हैं, अतः तिमिरादि दोषकी सहायतासे रज्जुमें होनेवाला सर्पज्ञान यथार्थ ही है। जिसमें जिसके अंश होते है, उसमें उसीका भ्रम होता है। जैसे-शुक्तिमें रजतके अंश होते हैं, इसलिए शुक्तिमें रजतका भ्रम होता है। शुक्तिरजत आदि स्थलमें जैसे 'मैंने भ्रमसे रजत समझ लिया, वहाँ तो रजत है ही नही', ऐसा कोई मानता है किन्तु 'मुझे रजतका ज्ञान हुआ ही नहीं,' ऐसा कोई भी नहीं मानता है। न होनेपर जो वस्तु ज्ञात होती है, वह अयथार्थ कही जा सकती है किन्तु होनेपर जो वस्तु ज्ञात होती है, वह यथार्थ ही कही जाती है, अयथार्थ नहीं कही जाती। इसलिए शुक्तिरजत आदि ज्ञान भी यथार्थ ही कहे जाते हैं। यहाँ ज्ञानका विषय सत्य है और उस सत्यवस्तुको विषय करनेवाला ज्ञान भी सत्य है, इसलिए सत्ख्याति पक्षमें ज्ञानका बाध नहीं होता है और विषयका भी बाध नहीं होता किन्तु शुक्तिमें रजतके अवयव

अल्प होनेसे उनसे आभूषणनिर्माणरूप व्यवहार नहीं हो सकता है। 'इयं शुक्तिः' इस प्रकार शुक्तिके अंशकी अधिकताके ज्ञानसे भ्रमके कार्य व्यवहारका बाध होता है, उसका बाध होनेसे उस बाधित व्यवहारका जनक ज्ञान भ्रम कहा जाता है। अन्यथाख्याति पक्षमें भी ज्ञानका स्वरूपतः बाध नहीं माना जाता है, विषयका ही स्वरूपतः बाध माना जाता है किन्तु सिद्धान्तमें विषयका भी बाध नहीं माना जाता है। 'इदं रजतम्' इस ज्ञानसे जन्य व्यवहारका बाध माना जाता है। यह दोनों मतमें भेद है। यद्यपि ज्ञानका विषय यथार्थ होनेसे सभी ज्ञान यथार्थ स्वीकार किये जाते है, फिर भी सफल व्यवहारका जनक ज्ञान प्रमा होता है और असफल व्यवहारका जनक ज्ञान अप्रमा अर्थात् भ्रम होता है, ऐसा स्वीकार करनेपर प्रमा और अप्रमाका विभाग संभव हो जाता है।

शंका– मणिकी प्रभाको मणि समझना अप्रमा है, इसे असफल व्यवहारका जनक होना चाहिए किन्तु मणिप्रभाको मणि जानकर प्रवृत्त होनेवाला मनुष्य मणिको प्राप्त कर ही लेता है। इस प्रकार यहाँ व्यवहार असफल नहीं होता है, इसलिए अप्रमा भी सफल व्यवहारका जनक होती है, अतः आपके द्वारा कहा गया विभाग उचित नहीं है।

समाधान– मणिप्रभाको मणि समझकर प्रवृत्त हुए पुरुषकी प्रवृत्ति सफल नहीं होती है और बादमें मणिको मणि समझकर प्रवृत्त होनेपर प्रवृत्ति सफल होती है अर्थात् मणिप्रभाको मणि समझना मणिप्राप्तिरूप व्यवहारका कारण नहीं है बल्कि निकट जानेपर मणिके साथ इन्द्रियसन्निकर्षसे जन्य मणिका ज्ञान ही मणिप्राप्तिका कारण है। इस प्रकार सफल प्रवृत्तिका जनक मणिमें मणिज्ञान है। भ्रान्तिज्ञान सफल प्रवृत्तिका जनक नहीं है, अतः उक्त विभाग उचित है।

प्राभाकर मीमांसक भी सभी ज्ञान यथार्थ ही स्वीकार करते हैं। वे 'इदं रजतम्' ऐसे भ्रमस्थलमें 'इदम्' यह पुरोवर्तिवस्तुका प्रत्यक्षानुभवात्मक ज्ञान तथा 'रजतम्' यह रजतका स्मरणात्मक ज्ञान इस प्रकार दो ज्ञान मानते है। 'इदं रजतम्' यह एक ही विशिष्ट ज्ञान है, ऐसा नैयायिक और विशिष्टाद्वैती मानते हैं किन्तु उसे नैयायिक अयथार्थ मानते हैं और विशिष्टाद्वैती यथार्थ मानते हैं क्योंकि वह ज्ञान विद्यमान रजतके अवयवोंको ही विषय करता है। सिद्धान्तमें विलक्षणसन्निवेश वाले अवयवसमुदायसे अतिरिक्त अवयवी नहीं माना जाता है, इसलिए 'यह रजत है' इस प्रकार रजतके अवयव ही रजत पदसे कहे जाते हैं। शुक्तिमें अल्प रजत विद्यमान है, प्रचुर रजत विद्यमान नहीं है। शुक्तिमें विद्यमान अल्प रजतका प्रचुरत्वेन ज्ञान होनेसे अन्यथाख्यातिका प्रसङ्ग होता है, ऐसी शंका नहीं करनी चाहिए क्योंकि रजतका ज्ञान होनेपर भी प्रचुरताका ज्ञान नहीं होता है। वहाँ रजतके अल्पत्वका अज्ञान अवश्य है। प्रचुरताके ज्ञानमें प्रतियोगीके ज्ञानकी अपेक्षा होती है और प्रतियोगी शुक्तिका ज्ञान न होनेसे यह मानना पड़ता है कि प्रचुरताका ज्ञान नहीं हुआ है, अतः अन्यथाख्यातिका कोई प्रसङ्ग नहीं है। विशिष्टाद्वैतमतमें अभाव भावान्तररूप माना जाता है, इसलिए अल्पत्वका अज्ञान (ज्ञानाभाव) ही प्रचुरताका ज्ञान है। इस प्रकार पुनः अन्यथाख्यातिका प्रसङ्ग आता है, ऐसा भी नहीं कहना चाहिए क्योंकि हमारे मतमें अल्पत्वके अज्ञानका अर्थ प्रचुरत्वका ज्ञान नहीं है बल्कि अल्पत्वको विषय करनेवाले ज्ञानका संकोच ही अल्पत्वका अज्ञान है। प्रचुरताका ज्ञान न होनेपर रजतको ग्रहण करनेमें प्रवृत्ति कैसे होती है? ऐसा भी नहीं कहना चाहिए क्योंकि यहाँ कार्याक्षमत्वके अज्ञानसहित रजतज्ञानको प्रवर्तक माना जाना है, अतः यहाँ अन्यथाख्यातिका प्रसङ्ग नहीं है।

शंका- ब्रह्माण्डरचनाके पूर्व पृथिवी आदि जिन भूतोंका पञ्चीकरण हुआ है, वे पृथ्वी आदि पञ्चभूत प्रकृति आदि २४ तत्वोंके अन्तर्गत आते हैं। पञ्चीकरणके पूर्व जो पृथ्वी आदि तत्त्व हैं। वे अतीन्द्रिय हैं, स्थूल नहीं हैं और पञ्चीकरणके पश्चात् जो पृथ्वी आदि भूत निर्मित होते हैं, वे इन्द्रियग्राह्य हैं, स्थूल हैं। पञ्चीकरण प्रक्रिया का आश्रय लेकर ही सिद्धान्तमें शुक्तिरजतादि ज्ञानोंको यथार्थ माना जाता है किन्तु पञ्चीकरणके पूर्व शुक्ति और रजत दोनों ही अविद्यमान हैं, अतः पञ्चीकरणसे शुक्तिमें रजतके अवयव कैसे आ सकते हैं? क्या वे अन्य रजतसे लेकर शुक्तिमें निविष्ट किये गये हैं? और रज्जुमें सर्पके अवयव भी कैसे आ सकते हैं?

समाधान- शुक्तिमें जो रजतके अवयव कहे जाते हैं, वे शुक्तिमें रजतकी समानताके जनक चाकचिक्य आदि आकार (धर्म) से विशिष्ट अवयवविशेष हैं। रज्जुमें जो सर्पके अवयव कहे जाते हैं, वे रज्जुमें सर्पकी समानताके जनक दीर्घत्व और कृष्णत्वरूप आकारविशेषसे विशिष्ट अवयवविशेष हैं। व्यष्टि-सृष्टि दशामें जब पृथ्वीसे शुक्ति आदि की उत्पत्ति होती है, तब पञ्चीकृत पृथ्वीमें स्थित चाकचिक्यादि तेजोधर्मसे विशिष्ट रजतके अवयवसे मिश्रित शुक्तिके अधिक अवयवोंका समुदाय जो कि शुक्ति शब्दसे कहा जाता है, वह उत्पन्न होता है, ऐसा मानने पर सब संगत हो जाता है। इस प्रकार शुक्तिमें रजतके सद्भावका अर्थ आभूषण आदिके लिए उपयोगी रजतका सद्भाव नहीं है, इसलिए बहुत शुक्तिसे किञ्चित् रजत लेकर व्यवहारका प्रसङ्ग नहीं होता, अतः अनुभवसे कोई विरोध नहीं है। अल्प रजतके अवयवोंमें अल्पत्वका अज्ञानमात्र अर्थात् ज्ञानाभावरूप अख्यातिमात्र नहीं है बल्कि तन्मूलक रजतकी अधिकताका ज्ञान भी है, यह वाद अन्यथाख्याति है। इस प्रकार अन्यथाख्यातिका कारण भी अख्याति ही है। शुक्तिमें शुक्तिके

अवयवोंकी अधिकता और रजतके अवयवोंकी अल्पताके अज्ञान (अख्याति) की सहायतासे विद्यमान रजतका ज्ञान ही अख्यातिसंवलित यथार्थख्याति कहा जाता है, इस प्रकार विशिष्टाद्वैत सिद्धान्तमें प्रतिपादित सत्ख्याति वस्तुतः अख्यातिसंवलित सत्ख्याति ही है। यदि रजतके विना शुक्तिमें रजतका ज्ञान होता तो यह अन्यथाख्याति ही होता किन्तु ऐसा नहीं है। शुक्तिमें रजतावयव हैं ही, अतः यह अन्यथाख्याति नहीं है। अल्प रजतावयव अधिक रजतावयवरूपसे भासते हैं, इसलिए यहाँ अन्यथाख्याति अवर्जनीय है, ऐसा नहीं कह सकते है क्योंकि यहाँ अन्यथाख्यातिकी मूल अख्यातिसे ही कार्य संभव होता है, अतः अन्यथाख्याति स्वीकार करनेकी कोई आवश्यकता नहीं है।

आत्मख्यातिवाद पक्षमें ज्ञान ही विषयरूपसे भासता है। असत्ख्यातिपक्षमें असत् वस्तु सद्रूपसे भासती है। अनिर्वचनीय ख्यातिपक्षमें अनिर्वचनीय वस्तु सत्यत्वेन प्रतीत होती है और अख्यातिपक्षमें अन्यका विशेषण अन्यके विशेषणरूपसे भासता है और दो ज्ञान एक ज्ञानरूपसे भासते हैं। इस प्रकार सभी ख्यातिवादियोंको भी अन्ततः अन्यथाख्याति स्वीकार करनी ही पड़ती है। **स्वारस्यम् अन्यथाख्यातावख्यातौ लाघवं स्थितम्।**(न्या.प.) इस प्रकार न्यायपरिशुद्धि ग्रन्थमें अन्यथाख्याति पक्षमें स्वारस्य और अख्याति पक्षमें लाघव कहा गया है। अख्यातिपक्षमें दो ज्ञान एकज्ञानत्वेन भासते हैं। इस प्रकार अख्यातिपक्षमें अन्यथाख्यातिको दिखाकर भाष्यकार भगवान्‌ने अख्याति पक्षको शिथिल किया है। अन्यथाख्यातिका भी हेतु अख्याति होनेसे अन्यथाख्याति पक्ष भी शिथिल हो जाता है, इस प्रकार भाष्यकार भगवान् को पूर्वाचार्यसम्मत सत्ख्याति ही मान्य है।

वेदान्त मतमें प्राभाकर मतके समान पुरोवर्तिवस्तु और रजतके भेदका अज्ञान नहीं कहा जाता है किन्तु अयोग्यमें योग्यके भेदका अज्ञान कहा जाता हैं। जैसे शुक्तिरजतभ्रमस्थलमें शुक्तिमें विद्यमान आभूषणनिर्माणके अयोग्य रजतमें आभूषणनिर्माणके योग्य रजतका भेद विद्यमान है किन्तु अयोग्य रजतमें योग्य रजतके भेदकी ख्याति (ज्ञान) नहीं होती है। इस कारण शुक्तिरजत ज्ञानके पश्चात् होनेवाली प्रवृत्ति विफल होती है। इसी प्रकार स्वप्नदृष्ट बन्धु आदिसे भिन्न वस्तुमें बन्धु आदिके भेदका अज्ञानरूप अख्याति होती है। इस प्रकार सत्ख्यातिपक्षमें भी अख्याति निहित है।

यदि सोम प्राप्त न हो तो पूतीकका अभिषव करें(निचोड़ें)- **यदि सोमं न विन्देत पूतीकान् अभिषुणुयात्**। यह श्रुति मीमांसा शाबरभाष्य(६.३.३१)में उद्धृत है। यह सोमलताकी प्राप्ति न होनेपर पूतीक लताके अभिषवसे रसनिष्पत्ति को कहती है। मुख्यद्रव्यका लाभ न होनेपर उसके समान अन्य वस्तुका ग्रहण प्रतिनिधि कहलाता है। सोमलता प्राप्त न होने पर उसके समान पूतीक लताका ग्रहण प्रतिनिधि है। अब उक्तविधि क्या अपूर्व विधि है? या नियम विधि है? यह विचार प्रवृत्त होता है। **सोमेन यजेत** इस वाक्यके द्वारा सोमके अवयव यागके साधन ज्ञात होते हैं। सोमके अधिक अवयववाला सोमद्रव्य प्राप्त न होने पर अन्यद्रव्यमें विद्यमान सोमके अल्प अवयव यागके साधन ज्ञात होते हैं, इसलिए सोमके सदृश पूतीक और पूतीकसे भिन्न वस्तुका यागके साधनरूपसे अभिषव प्राप्त होनेपर 'सोमावयववाले पूतीकका ही अभिषव करें' यह **यदि सोमं न विन्देत** इस वाक्यके द्वारा नियम किया जाता है, अतः उक्त वाक्य नियमविधि है। उक्तविधिमें सोमके अवयवोंका सद्भाव ही हेतु है अन्यथा पूतीकके ही ग्रहणका नियम संभव नहीं होता, ऐसा शास्त्रदीपिका आदिमें निरूपण किया गया है। इस

नियमविधिके द्वारा कहे प्रतिनिधिन्यायसे ही सदृशस्थलमें एकद्रव्यके अवयवोंकी अन्यत्र विद्यमानता कही जाती है। इस कारण ही **व्रीहिभिर्यजेत** इस वाक्यके द्वारा यागके साधनरूपसे व्रीहिका विधान किये जानेपर भी व्रीहिकी प्राप्ति न होनेपर यागके साधनरूपसे नीवारका ग्रहण किया जाता है। भूतमें भूतान्तरके भ्रममें पञ्चीकरण न्यायकी प्रवृत्ति मानी जाती है। जैसे मरुमरीचिकामें होनेवाला जलका भ्रम। सदृशवस्तुमें सदृशवस्त्वन्तरके भ्रममें प्रतिनिधि न्यायकी प्रवृत्ति मानी जाती है। जैसे-शुक्तिरजतभ्रम. किन्तु कुछ विद्वान शुक्तिरजत भ्रमस्थलमें भी पञ्चीकरण न्यायकी प्रवृत्ति मानते हैं।

पञ्चीकरणके द्वारा शुक्तिमें विद्यमान तेज अंशकी भास्वरशुक्लरूपाश्रयत्वेन परिणामको प्राप्त होनेवाले रजतके साथ अत्यन्त समानता होनेसे रजतका अवयव कहना संभव होता है। उभयवादीसम्मत रजतके अवयवोंके अत्यन्त समान शुक्तिमें विद्यमान अवयव हैं, इसलिए वे रजतके अवयव कहे जाते हैं। पूतीकमें प्रतीत होनेवाले सोमलता आदिके अवयव उभयवादीसम्मत सोमलताके अवयवोंके अत्यन्त समान होनेसे सोमके अवयव कहे जाते हैं। यह विषय अनुभवसे सिद्ध है तथा अबाधित भी है क्योंकि 'शुक्ति रजतसदृश नहीं है' और 'पूतीक सोमसदृश नहीं है' ऐसा बाधक ज्ञान कभी भी उत्पन्न नहीं होता है। शुक्तिमें विद्यमान रजतके अवयव विजातीय शुक्तिके अवयवोंकी प्रचुरताके कारण आभूषणनिर्माणरूप अपना कार्य नहीं कर पाते हैं।

शंका- लोकप्रसिद्ध भ्रमके विषय भूत अथवा भौतिक पदार्थोंको पञ्चीकरण प्रक्रिया अथवा प्रतिनिधिन्यायसे यथार्थ माना जा सकता है किन्तु देहादि सावयव पदार्थों में जो निरवयव आत्माका भ्रम होता है, उसे यथार्थ ख्याति कैसे माना जा सकता है?

समाधान- उक्त स्थलोंमें वेदान्तसिद्धान्तमें भी अख्याति अथवा अन्यथाख्यातिसे निर्वाह किया जाता है। **मनो ब्रह्मेत्युपासीत** (छां.उ. ३.१८.१) इत्यादि प्रतीकोपासना विधिस्थलमें भी अख्याति अथवा अन्यथाख्यातिसे निर्वाह किया जाता है। उक्त विवेचनसे यह निष्कर्ष निकलता है कि सविशेषाद्वैत वेदान्तमें सर्वत्र भ्रमोंमें यथार्थख्याति नहीं कही जा सकती है किन्तु भूतभौतिक पदार्थोंके भ्रमस्थलमें ही सत्ख्याति कही जाती है। देहात्मभ्रम और प्रतीकोपासना स्थलमें अख्याति अथवा अन्यथाख्याति स्वीकार की जाती है। संशयकी यथार्थता संशयनिरूपण स्थलमें ही प्रतिपादित है।

पूर्वोक्तरीतिसे मरुभूमिमें भी जलके अवयव सिद्ध होते हैं, इसलिए मरुभूमिमें जलकी प्रतीति सत्ख्याति ही है। वहाँ दोषके कारण तेज और पृथ्वीका ज्ञान नहीं होता है, अदृष्टवशात् जलका ही ज्ञान होता है। बृहदारण्यक श्रुति(४.३.१०)के अनुसार स्वप्नकालिक पदार्थोंके निर्माता श्रीभगवान् ही हैं, इसलिए स्वप्नके विद्यमान दृश्योंका ज्ञान भी सत्ख्याति है। जीवात्मप्रकरणमें स्वप्नका विस्तारसे वर्णन किया गया है। पित्तदोष उग्र होनेपर नेत्रमें भी पित्तकी वृद्धि हो जाती है, ऐसी स्थितिमें जब चक्षुमें विद्यमान पित्तद्रव्यसे संश्लिष्ट चक्षुकी किरणें शंखस्थानमें जाकर स्वाभाविक शुक्लवर्णवाले शंखसे संयुक्त हो जाती हैं, तब पित्तके पीतवर्णसे शंखका शुक्लवर्ण अभिभूत (आवृत) हो जाता है। इसलिए शुक्लवर्णका ज्ञान नहीं होता है, अतः जिस प्रकार सुवर्णसे पोता हुआ शंख पीला प्रतीत होता है, उसी प्रकार पित्त रोगी को पीला शंख प्रतीत होता है। शंखमें पीतवर्ण विद्यमान होनेसे वह ज्ञान यथार्थ ही है।

नेत्र रश्मियोंके द्वारा लाया गया पित्तका पीतवर्ण सूक्ष्म होता है। इसलिए जिसके नेत्रोंसे निकलता है, वही उसे जानता है, अन्य

मनुष्य नहीं जानता है। जैसे कमरेमें हरे रंगका बल्ब लगानेपर शुक्ल वस्तुएं हरी दिखाई देती हैं। लाल रंगका बल्ब लगानेपर लाल और पीले रंगका बल्व लगानेपर पीली दिखाई देती हैं। बल्बके हरे, लाल और पीले रंग प्रकाशकी रश्मियोंके साथ जाकर ज्ञेय विषयोंसे सम्बद्ध हो जाते हैं। इसलिए वे वस्तुएं हरी, लाल और पीली ज्ञात होती हैं। कमरेंमें रंगीन बल्ब होनेपर कैमरेसे चित्र लेनेपर चित्रमें बल्बके रंगके समान ही कमरेमें विद्यमान वस्तुएं प्रतीत होती हैं। भ्रम चेतनको हो सकता है, जड़ कैमरेको नहीं हो सकता है। वह तो यथार्थ स्थितिका ही चित्रण करता है। जैसे प्रकाशके द्वारा जाकर कमरेंमें स्थित वस्तुओंमें हरा, लाल और पीला रंग विद्यमान होनेसे सत्य होता है और उनको विषय करनेवाला ज्ञान सत्य होता है, वैसे ही नेत्ररश्मियोंके द्वारा जाकर शंखमें पीत वर्ण विद्यमान होनेसे सत्य होता है और उसे विषय करनेवाला 'शंख पीला है' यह ज्ञान यथार्थ होता है, ऐसा आधुनिक वैज्ञानिक भी मानते हैं। पीतवर्णका पित्तद्रव्यके साथ जैसा संसर्ग होता है, पीत वर्णका शंखके साथ वैसा संसर्ग नहीं होता है। इस असंसर्गाग्रहरूप अख्यातिके साथ होनेसे यहाँ भी अख्यातिसंवलित यथार्थ ख्याति है। इसी प्रकार सभी स्थलोंमें समझना चाहिए। पित्तरोग निवृत्त होने पर 'शंख पीत है'। यह व्यवहार बाधित होता है, इसलिए इस व्यवहारका जनक पीतशंखका ज्ञान भ्रम कहा जाता है।

जपाकुसुम (गुड़हलका पुष्प) रक्त होता है, स्फटिक शुक्ल होती है। जब स्फटिकके समीप जपाकुसुम विद्यमान होता है, तब जपाकुसुमसम्बन्धी रक्तकान्तिसे स्फटिकका शुक्लवर्ण अभिभूत हो जाता है। इसलिए 'जपाकुसुम रक्त है' यह प्रतीति होती है। वह यथार्थ ही होती है क्योंकि जपाकुसुमसम्बन्धी रक्तकान्तिका स्फटिकमें प्रतिफलन होता है और इस प्रकार स्फटिकमें रक्त वर्ण विद्यमान

होता है। जिस प्रकार रक्त वर्णका जपाकुसुमके साथ संसर्ग होता है, उस प्रकार स्फटिकके साथ संसर्ग नहीं होता है किन्तु दोषके कारण असंसर्गका ज्ञान नहीं होता है, इसलिए यहाँ भी अख्यातिसंवलित यथार्थ ख्याति होती है किन्तु व्यवहार बाधित होनेसे व्यवहारका जनक 'स्फटिक रक्त है' यह ज्ञान भ्रम कहा जाता है।

नेत्रकी रश्मियोंका दर्पणसे संयोग होनेपर दर्पणका ज्ञान होता है और बादमें दर्पणसे टकराकर रश्मियोंके वापस आनेपर मुखका ज्ञान होता है। इस प्रकार चक्षु इन्द्रियसे अपने अपने स्थानमें स्थित ही दर्पण और मुखका ज्ञान होता है। वे दोनों ज्ञान यथार्थ ही होते हैं किन्तु प्रतिघातकी शीघ्रतारूप दोषके कारण दर्पण और मुखको विषय करनेवाले ज्ञानके द्वारा दोनोंके अन्तराल(दूरी)का ज्ञान नहीं होता है और दोनों ज्ञानोंके मध्यवर्ती क्षणका भी ज्ञान नहीं होता है, इसलिए दर्पणमें मुख प्रतीत होता है। पूर्वमें दर्पण और मुखका अन्तराल जाननेवाले मनुष्यको दर्पणस्थ मुखकी प्रतीति कैसे होती है? ऐसी शंका नहीं करनी चाहिए क्योंकि बिम्बसे अतिरिक्त बिम्बजन्य प्रतिबिम्ब है, ऐसे भ्रान्तिज्ञानसे जन्य वासना ही अन्तराल ज्ञानवाले मनुष्यको दर्पणस्थ मुखकी प्रतीतिका कारण है। वहाँ भी रश्मियोंके प्रतिघातकी शीघ्रताके कारण मुख और दर्पणके बोधक ज्ञानके द्वारा अन्तरालका बोध नहीं होता है। दर्पणमें मुखकी प्रतीतिकालमें मुखका बायां और दाहिना भाग विपरीत क्यों प्रतीत होता है? स्वसम्मुख विद्यमान दर्पणके वाम और दक्षिण भाग अपने से विपरीत होते हैं। दर्पण और मुखका अन्तराल न जानने से मुख का वाम और दक्षिण भाग विपरीत प्रतीत होता है। दर्पणमें अपने मुखकी प्रतीति यथार्थ ही है क्योंकि 'मुझे दर्पणमें मुखका ज्ञान नहीं हुआ' ऐसा कोई भी नहीं मानता है। शीघ्रतारूप दोषसे दर्पण और मुखका निरन्तर भान होनेके कारण दर्पणमें मुख है, ऐसा व्यवहार भी होता

है। इस व्यवहारका बाध होनेसे व्यवहारका जनक दर्पणमें मुखज्ञान भ्रान्ति माना जाता है।

दो चन्द्रमाका ज्ञान भी यथार्थ है। वहाँ ज्ञानकी जनक सामग्री दो प्रकारकी होती है। तिमिर रोग अथवा अङ्गुलिके अवरोधसे नेत्रकी रश्मियोंकी गतिमें भेद हो जाता है। उनमें नेत्रकी ऋजुगतिवाली रश्मिसे स्वदेशस्थ चन्द्रका ज्ञान होता है। तिमिर दोष अथवा अङ्गुलिके अवरोधसे नेत्रकी वक्रगति वाली रश्मि चन्द्रके समीप देशमें जाकर समीप देशके ज्ञानपूर्वक स्वदेशवियुक्त चन्द्रका ज्ञान कराती है। एक ज्ञानका विषय स्वदेशस्थ चन्द्र और दूसरे ज्ञानका विषय चन्द्र ये दोनों ही सत्य हैं। ज्ञानकी जनक दोनों नेत्रोंकी परस्परनिरपेक्ष रश्मियाँ सत्य हैं और उनसे जन्य दोनों ज्ञान भी सत्य हैं। वहाँ दोनों ज्ञानोंकी शीघ्रताके कारण दोनों रश्मियोंके गन्तव्य देशके अन्तराल और दोनों ज्ञानोंके मध्यवर्ती क्षणकी प्रतीति नहीं होती है, इसलिए दो बार होनेवाला चन्द्रका ज्ञान 'दो चन्द्र हैं' इस व्यवहारका हेतु होता है किन्तु दोषकी निवृत्ति होनेपर स्वदेशविशिष्ट एक चन्द्रका ही ज्ञान होता है। दो बार चन्द्रका ज्ञान न होनेसे उक्त व्यवहार बाधित हो जाता है, इसलिए व्यवहारका जनक द्विचन्द्रज्ञान भ्रम कहा जाता है, जड़ देहसे अतिरिक्त अहमर्थ ज्ञाता आत्मा है। यह 'मैं जानता हूँ।' इस अबाधित प्रत्ययसे सिद्ध है और इसे शास्त्र तथा अनुमानसे दृढ किया जाता है। यह विचारकोंका विषय हैं। अन्य तो देहको ही आत्मा समझते हैं, उससे अतिरिक्त आत्माको नहीं समझते, ऐसे अविवेकी मनुष्योंकी 'अहं स्थूलः' यह प्रतीति एक ज्ञान नहीं है। इसमें दो ज्ञान हैं। 'अहम्' इस प्रकार आत्माका ज्ञान और 'स्थूलः' इस प्रकार देहका ज्ञान। ये दोनों ज्ञान सत्य हैं और उनके विषय क्रमशः आत्मा और स्थूल देह सत्य हैं। इस प्रकार यहाँ भी सत्ख्यातिका समर्थन होता है किन्तु

यहाँ दोनों ज्ञान और उनके विषयोंमें भेद प्रतीतिका अभावरूप अख्याति होती है और 'अहं स्थूलः' इस व्यवहारके बाधित होनेसे व्यवहारका जनक 'अहं स्थूलः' इस ज्ञानको भ्रम कहा जाता है। इसी प्रकार 'अहं कृशः' इत्यादि स्थलमें जानना चाहिए। सत्ख्यातिका विस्तार ब्रह्मसूत्रभाष्य आदि ग्रन्थों में देखना चाहिए।

सत्ख्याति सिद्ध होनेसे यह सिद्ध होता है कि सभी ज्ञान यथार्थ और सविशेष वस्तुको विषय करनेवाले होते हैं। निर्विशेष वस्तुका ज्ञान नहीं होता है। वह तो शशविषाणके समान होती है। वेदान्तसिद्धान्तमें अवयव संस्थानको ही जाति (सामान्य) माना जाता है। सावयव पदार्थोंमें विद्यमान भेद अवयवसंस्थानरूप होता है और निरवयव पदार्थोमें विद्यमान भेद असाधारण धर्मरूप होता है, इसलिए प्रथम होनेवाला प्रत्यक्ष ज्ञान भी जाति आदिरूप भेदसे विशिष्ट वस्तुको ही विषय करता है। भेदके स्वरूपतः ज्ञानमें प्रतियोगीके ज्ञानकी अपेक्षा नहीं होती है, प्रतियोगीके ज्ञानकी अपेक्षा तो भेदके भेदत्वेन ज्ञानमें होती है और भेदके व्यवहारमें होती है। प्रकाररहित तथा वस्तुके स्वरूपमात्रको विषय करनेवाला ज्ञान निर्विकल्पक होता है। न्यायदर्शनके इस मतका पूर्वमें निराकरण हो चुका है। निर्विकल्पक समाधिमें भी ध्येय सविशेषवस्तु ही भासित होती है। इसमें भी ध्याता, ध्यान और ध्येयरूप त्रिपुटी रहती ही है किन्तु समाधिकी प्रकर्षतासे ध्येयके साथ तन्मयता होनेके कारण त्रिपुटी भासित नही होती है और सविकल्पकमें त्रिपुटी भासित होती है। यही दोनों समाधियोंमें भेद है।

प्रश्न– न्यायवैशेषिक और व्याकरण शास्त्र सभी शास्त्रोंके अध्ययनमें सहायक होते हैं– **काणादं पाणिनीयं च सर्वशास्त्रोपकारकम्** तो वेदान्तमतमें न्यायवैशेषिक मतका निराकरण क्यों किया जाता है?

उत्तर– वेदान्तमतमें पूर्णतः किसी भी मतका निराकरण नहीं किया जाता है। जगत्के उपादानकारण परमाणु हैं, ईश्वर केवल निमित्तकारण है, वेद पौरुषेय हैं, ईश्वर अनुमानसे सिद्ध है, जीवका विभु परिमाण है। जीवात्माके ज्ञानसे मोक्ष होता है, सामान्य, विशेष और समवाय पदार्थ हैं इत्यादि विषय श्रुतिसूत्रोंसे विरुद्ध होनेके कारण वेदान्तमतमें स्वीकृत नहीं होते हैं, अविरुद्धांश तो स्वीकृत होते हैं।

शब्द प्रत्यक्षज्ञानका जनक नहीं– तू दसवाँ है- **दशमस्त्वमसि** इस वाक्यसे 'मैं दसवाँ हूँ' ऐसा जो ज्ञान होता है, वह अपरोक्ष (प्रत्यक्ष) है। ऐसा कुछ निर्विशेषाद्वैती विद्वान मानते हैं, वह उचित नहीं है क्योंकि वाक्य परोक्ष ज्ञानका ही जनक होता है, प्रत्यक्षज्ञानका जनक नहीं होता। वाक्यसे प्रथम दशमत्वविशिष्ट अहम्का शाब्दबोधरूप परोक्ष ज्ञान होता है, बादमें मन इन्द्रियसे अहमर्थका प्रत्यक्ष ज्ञान होता है। जब तक नौ व्यक्तियोंको आँखसे नहीं देखता है, तब तक दशमत्वका परोक्ष ज्ञान ही रहता है। निर्विशेषाद्वैतीके मतमें अहमर्थ विशेष्य प्रत्यक्षयोग्य है, इसलिए दशमत्वविशिष्ट अहम्का प्रत्यक्ष माना जाता है। वह उचित नहीं है क्योंकि विशेष्यके प्रत्यक्षयोग्य होनेपर विशेषणका भी प्रत्यक्ष ज्ञान स्वीकार करनेपर 'तुम धार्मिक हो- **धार्मिकस्त्वमसि** इस वाक्यसे जन्य धर्मका भी प्रत्यक्ष ज्ञान स्वीकार करना चाहिए, जिसे कि निर्विशेषाद्वैती कभी भी स्वीकार नहीं करते हैं क्योंकि उनके मतमें भी धर्म अतीन्द्रिय पदार्थ है, वह शास्त्रैकगम्य है। यदि कहना चाहें कि धर्म अतीन्द्रिय होनेसे उसका प्रत्यक्ष नहीं हो सकता है किन्तु दशमत्व प्रत्यक्षयोग्य होनेसे उसका प्रत्यक्ष होता है तो यह कहना भी उचित नहीं है क्योंकि वैसा मानने पर 'पर्वतके पृष्ठ भागमें अग्नि है' इस वाक्यसे अग्निका भी प्रत्यक्ष होना चाहिए। जैसे यहाँ वाक्यसे अग्निविशिष्ट पर्वतका प्रत्यक्ष नहीं

होता है, वैसे ही वाक्यसे दशमत्वविशिष्ट अहमर्थका प्रत्यक्ष नहीं हो सकता है। अतः **तत्त्वमसि** आदि वाक्य स्वविषयक प्रत्यक्ष ज्ञानके जनक हैं, स्वतः अपरोक्ष अर्थको विषय करनेके कारण 'तू दसवाँ है' इस वाक्यके समान- **तत्त्वमस्यादिवाक्यं स्वविषयगोचरप्रत्यक्षज्ञानजनकं स्वतोऽपरोक्षार्थगोचरत्वात् दशमस्त्वमसि इत्यादि वाक्यवत्** इत्यादि अनुमानोंका निराकरण हो जाता है। प्रथम तत्त्वमसि आदि वाक्योंसे परोक्ष ज्ञान होता है, पश्चात् मनन-निदिध्यासनसे अपरोक्ष ज्ञान होता है। यह विषय इसी ग्रन्थमें अप्रतीकोपासना प्रसङ्गमें निरूपित है।

व्याप्तिज्ञानरूप अनुमानप्रमाण प्रत्यक्षप्रमाणसे होनेवाले भूयोदर्शनकी अपेक्षा करता है, इसलिए प्रत्यक्षनिरूपणके पश्चात् अनुमानका निरूपण किया जाता है।

अनुमिति- व्याप्यत्वेन व्याप्यके अनुसन्धान(ज्ञान)से होनेवाली व्यापकविशेषकी प्रमा अनुमिति कहलाती है- **व्याप्यस्य व्याप्यत्वानुसन्धानाद् व्यापकविशेषप्रमितिः अनुमितिः।** अग्निव्याप्यत्वेन धूमके अनुसन्धानसे होनेवाली व्यापकविशेष अग्निकी प्रमा अनुमिति कहलाती है। हेतु व्याप्य होता है और साध्य व्यापक होता है। व्याप्य हेतुके व्याप्यत्वेन अनुसन्धानका अर्थ है- हेतुका साध्यनिरूपित-व्याप्त्याश्रयत्वेन अनुसंधान। लक्षणमें व्याप्यस्य पद न देनेपर अव्याप्य धूलीपटलमें धूमत्वभ्रमसे धूलीपटलके व्याप्यत्वेन अनुसन्धानसे होनेवाले अग्निज्ञानमें अनुमितिके लक्षणकी अतिव्याप्ति होती है। इसकी निवृत्तिके लिए लक्षणमें 'व्याप्यस्य' कहा गया है। धूलीपटलका व्याप्यत्वेन अनुसन्धान व्याप्यका अनुसन्धान नहीं है, इसलिए उससे होनेवाले अग्निज्ञानमें अतिव्याप्ति नहीं होती है।

अनुमानप्रमाण- अनुमितिके करणको अनुमान कहते हैं- **अनुमितिकरणम् अनुमानम्।** अनुमितिका करण व्याप्तिज्ञान होता है,

इसलिए व्याप्तिज्ञान ही अनुमान प्रमाण है। व्यापककी अपेक्षा जो अल्प देश और अल्प कालमें रहता है, वह व्याप्य होता है। व्याप्यकी अपेक्षा जो अधिक देश और अधिक कालमें रहता है, वह व्यापक होता हैं। व्यापक साध्य हेतुके सभी अधिकरणोंमें रहता है। हेतु साध्यका अविनाभूत अर्थात् साध्याभाववदवृत्ति होता है। साध्याभावके अधिकरणमें रहनेवाली वस्तु साध्यकी विनाभूत होती है, वह साध्यकी व्याप्य नहीं होती है और साध्याभावके अधिकरणमें न रहनेवाली वस्तु साध्यकी अविनाभूत होती है, वह साध्यकी व्याप्य होती है। जिसके विना व्याप्य नहीं रह सकता है, उसे व्यापक कहा जाता है। व्यापक साध्यका अविनाभूत व्याप्य होता है। अविनाभूत व्याप्य अविनाभावसम्बन्ध वाला होता है। अविनाभाव सम्बन्धको ही नियत सम्बन्ध कहा जाता है। व्याप्तिका आश्रय व्याप्य होता है। नियत सम्बन्ध निरुपाधिक सम्बन्ध होता है। निरुपाधिक सम्बन्धको ही व्याप्ति कहा जाता है। वह साध्यके साथ हेतुका सामानाधिकरण्यरूप होती है अर्थात् **हेतुमन्निष्ठाभावप्रतियोगिता-ऽनवच्छेदकसाध्यताऽवच्छेदकाऽवच्छिन्नसाध्यसामानाधिकरण्य** हेतुमें रहनेवाली साध्यकी व्याप्ति होती है। जहाँ जहाँ धूम है, वहाँ वहाँ अग्नि है। इस प्रकार भूयोदर्शनसे व्याप्तिका निश्चय होता है। हेतु और साध्यके एक अधिकरणमें रहनेका प्रत्यक्षप्रमाणसे अनेक बार दर्शन व्याप्तिज्ञानका कारण होता है। अन्वय और व्यतिरेक भेदसे व्याप्ति दो प्रकारकी होती है। जहाँ जहाँ हेतु है, वहाँ वहाँ साध्य है। इस प्रकार हेतुके सम्बन्धसे साध्यके सम्बन्धकी बोधक व्याप्ति अन्वयव्याप्ति है। जहाँ जहाँ साध्यका अभाव है,वहाँ वहाँ हेतुका अभाव है। इस प्रकार साध्यके व्यतिरेक (अभाव) से हेतुके व्यतिरेकके आधारपर साध्यकी बोधक व्याप्ति व्यतिरेक व्याप्ति होती है। यह उभयविध व्याप्ति उपाधि होनेपर दूषित होती है। साध्यका

व्यापक होते हुए साधनका अव्यापक होना उपाधि कहलाता है- **साध्यव्यापकत्वे सति साधनाऽव्यापकत्वम् उपाधिः।** जैसे 'पर्वत धूमवाला है, अग्नि होनेसे' इस प्रकार अग्निसे धूमकी अनुमिति करनेपर आर्द्रेन्धनसंयोग उपाधि होती है। यहाँ पर्वत पक्ष है, धूम साध्य है, अग्नि हेतु है और आर्द्रेन्धनसंयोग उपाधि है। जहाँ जहाँ धूम है, वहाँ वहाँ आर्द्रेन्धनसंयोग है। जैसे-पाकशाला। इस प्रकार साध्यकी व्यापक उपाधि होती है और जहाँ जहाँ अग्नि है, वहाँ वहाँ आर्द्रेन्धनसंयोग नही है, जैसे-तप्त लौहपिण्ड। इस प्रकार साधनकी अव्यापक उपाधि होती है। उपाधिके दो भेद होते हैं- १.निश्चित और २.शङ्कित। १.भगवत्सेवा दुःखका हेतु है, सेवात्व होनेसे राजाकी सेवाके समान- **भगवत्सेवा दुःखहेतुः सेवात्वात् राजसेवावत्।** यहाँ पर पापारब्धत्व(पापजन्यत्व) उपाधि है। जहाँ जहाँ दुःखहेतुत्व है, वहाँ वहाँ पापारब्धत्व है, जैसे रोगादि। इस प्रकार यह उपाधि साध्यकी व्यापक है। जहाँ जहाँ सेवात्व है, वहाँ वहाँ पापारब्धत्व नहीं है, जैसे-भगवत्सेवा। भगवत्सेवा पक्षमें पापारब्धत्व उपाधि नहीं है, ऐसा शास्त्रप्रमाणसे निश्चित होनेके कारण यह उपाधि 'निश्चितोपाधि' कही जाती है। इसी प्रकार पूर्वमें वर्णित आर्द्रेन्धनसंयोग उपाधि निश्चितोपाधि है। २. यह जीव इस शरीरकी समाप्तिमें मोक्ष प्राप्त करनेवाला है, निष्पन्नसमाधित्व होनेसे शुकादिके समान- **विप्रतिपन्नो जीवः एतच्छरीरावसाने मुक्तिमान् निष्पन्नसमाधित्वात् शुकादिवत्।** यहाँ कर्मात्यन्तपरिक्षय (कर्मोंका पूर्णतः नाश) उपाधि है। जहाँ जहाँ इस शरीरकी समाप्ति होनेपर मोक्ष है, वहाँ वहाँ कर्मोंका अत्यन्त परिक्षय है। इस प्रकार उपाधि साध्यकी व्यापक होती है। निष्पन्नसमाधि अर्थात् साक्षात्कारात्मक ज्ञानवाले योगी भी प्रारब्ध कर्मोंका अत्यन्त परिक्षय होनेपर मोक्ष प्राप्त करते हैं। कुछ प्रारब्ध कर्म ज्ञानीके वर्तमान शरीरके ही साधक

होते हैं और कुछ प्रारब्धकर्म नूतन शरीरके भी साधक होते हैं। श्रुति और सूत्र– **तस्य तावदेव चिरं यावन्न विमोक्ष्ये** (छां.उ.६.१४.२),**यावदधिकारमवस्थितिः आधिकारिकाणाम्** (ब्र.सू.३.३.३१) इस प्रकार कारक पुरुषके विषयमें वर्णन करते हैं। इसलिए जहाँ जहाँ निष्पन्नसमाधित्व है, वहाँ वहाँ कर्मात्यन्तपरिक्षयके होनेमें सन्देह होनेसे यह सन्दिग्धोपाधि है।

हेतु व्याप्य होता है, इसे साधन और लिङ्ग भी कहते हैं। साध्य व्यापक होता है, इसे हेतुमान् और लिङ्गी भी कहते हैं। हेतुके दो रूप होते हैं- व्याप्ति और पक्षधर्मता। ये अनुमितिके साधक होते हैं। पूर्वोक्त दो रूपोंके विस्तार हेतुके पञ्च रूप होते हैं। १. पक्षमें हेतुका रहना २. सपक्षमें हेतुका रहना ३. विपक्षमें हेतुका न रहना ४. अबाधितविषयत्व ५. असत्प्रतिपक्षत्व। जिसमें साध्यकी अनुमिति की जाती है, उसे पक्ष कहते हैं। जैसे पर्वतः अग्निमान् धूमात्। इस प्रकार पर्वतमें अग्निकी अनुमिति करनेपर पर्वत पक्ष होता है। पक्षमें जिसकी अनुमिति की जाती है, वह साध्य होता हैं। पर्वतमें अग्निकी अनुमिति की जाती है, इसलिए अग्नि साध्य होती है। पक्षमें साध्यकी अनुमिति जिससे की जाती है, वह हेतु होता हैं। जैसे पर्वत पक्षमें अग्निकी अनुमिति धूमसे की जाती है, इसलिए धूम हेतु होता है। जिसमें साध्यका निश्चय होता है, उसे सपक्ष कहते हैं। जैसे पाकशालामें अग्नि साध्यका निश्चय होता है, इसलिए पाकशालाको सपक्ष कहते हैं। जिसमें साध्यके अभावका निश्चय होता है, उसे विपक्ष कहते हैं। जैसे सरोवरमें अग्निके अभावका निश्चय होता है, इसलिए सरोवरको विपक्ष कहते हैं। हेतु दो प्रकारका होता है- १. अन्वयव्यतिरेकी और २. केवलान्वयी। पूर्वोक्त पाँच रूपोंसे युक्त हेतु अन्वयव्यतिरेकी कहा जाता है, जैसे-पर्वतः अग्निमान् धूमात्। यहाँ पर धूम हेतु अन्वयव्यतिरेकी है।

विपक्षका अभाव होनेके कारण चार रूपोंसे युक्त हेतु केवलान्वयी कहा जाता हैं, जैसे **ब्रह्म शब्दवाच्यं वस्तुत्वात् घटवत्। घटः अभिधेयः प्रमेयत्वात्।** नैयायिक विद्वान् केवलव्यतिरेकव्याप्तिवाला केवलव्यतिरेकी हेतु भी स्वीकार करते है।

केवलव्यतिरेकी हेतुका निराकरण- केवलव्यतिरेकी हेतुके साध्यकी प्रसिद्धि न होनेसे व्यतिरेकव्याप्ति संभव नही होती है, इसलिए केवलव्यतिरेकी हेतु सिद्ध नहीं होता है। नैयायिकाभिमत केवलव्यतिरेकी हेतुका साध्य अनुमितिसे पूर्व कहीं प्रसिद्ध है? या नहीं?। यदि पक्षमें प्रसिद्ध है, तो सिद्धसाधनता दोष होता है। सपक्षमें साध्य प्रसिद्ध होनेपर हेतु केवलव्यतिरेकी रहता ही नहीं है। विपक्षमें प्रसिद्ध होनेपर व्याघात दोष उपस्थित होता है। इस प्रकार साध्यकी प्रसिद्धि न होनेसे व्यतिरेकव्याप्ति नहीं हो सकती है। **यत्र यत्र साध्याभावः तत्र तत्र हेत्वभावः** इस प्रकार व्यतिरेकव्याप्ति साध्याभावसे घटित होती है। अभावज्ञानमें प्रतियोगीका ज्ञान कारण होता है। इस नियमके अनुसार साध्याभावघटित व्यतिरेकव्याप्तिज्ञानमें साध्यका ज्ञान अपेक्षित होता है किन्तु साध्य कहीं भी ज्ञात नहीं होता है, इसलिए व्यतिरेकव्याप्ति सम्भव न होनेसे केवलव्यतिरेकी हेतु खण्डित हो जाता है। यदि कहना चाहें कि उक्त दोष भाव साध्य होनेपर ही होता है, अभाव साध्य होनेपर नहीं होता क्योंकि अभावका अभाव भावरूप होता है और भावके ज्ञानमें प्रतियोगिज्ञानकी अपेक्षा न होनेसे व्यतिरेकव्याप्ति सम्भव हो जाती है तो यह कथन भी उचित नहीं है क्योंकि व्यतिरेव्याप्तिके निरूपणकालमें उसका साध्याभावरूपत्वेन ही निरूपण करना होगा, ऐसी स्थितिमें प्रतियोगी साध्यके ज्ञानकी अपेक्षा होनेसे पुनः उक्त दोष प्राप्त होता है। साध्याभावत्वेन निरूपण न करनेपर साध्यसे विरोध न होनेपर व्याप्तिको व्यतिरेकव्याप्ति ही नहीं कहा जा सकता

है। इस प्रकार चाहे भाव साध्य हो अथवा अभाव साध्य हो, उभयपक्षमें दोष होनेसे केवल व्यतिरेकी हेतु निराकृत हो जाता है।

परार्थानुमानका निराकरण- कुछ दार्शनिक स्वार्थानुमान और परार्थानुमान भेदसे अनुमानप्रमाणके दो भेद स्वीकार करते हैं। वह उचित नहीं हैं क्योंकि सभी अनुमान स्वार्थानुमान ही होते हैं। कोई भी अनुमान परार्थानुमान नहीं होता है। सभीके अपने अनुमान स्वयंकी ही अनुमितिके जनक होते हैं, इसलिए वेदान्तमतमें सभी अनुमान स्वार्थानुमान ही माने जाते हैं। दूसरेका अनुमान दूसरेकी ही अनुमितिका जनक होता है, स्वयंकी अनुमितिका जनक नहीं होता है। यदि दूसरेका अनुमान स्वयंकी अनुमितिका जनक होता तो उसे परार्थानुमान माना जाता किन्तु ऐसा नहीं होता है 'एक मनुष्यके पञ्चावयववाक्यसे अन्यको अनुमिति होती है, इसलिए पञ्चावयव वाक्यको परार्थानुमान कहना चाहिए।' यह कथन भी उचित नहीं है, क्योंकि पञ्चावयववाक्य अनुमितिका जनक नहीं है। अनुमितिका जनक तो उस वाक्यसे होनेवाला अनुमितिकर्ताका अपना अनुमान अर्थात् व्याप्ति और पक्षधर्मताज्ञान है। पञ्चावयववाक्यसे साध्यका ज्ञान स्वीकार करनेवालोंको साध्यका शाब्दबोधात्मक ज्ञान ही स्वीकार करना चाहिए क्योंकि वाक्य शाब्दबोधका जनक होता है, अनुमितिका जनक नहीं होता। पञ्चावयववाक्यसे होनेवाला अनुमान अनुमितिका जनक होता है। इस कारण भी पञ्चावयववाक्यको परार्थानुमान कहना उचित नहीं है क्योंकि वैसा माननेपर सम युक्तिसे प्रत्यक्ष प्रमाणके भी स्वार्थ और परार्थ दो भेद स्वीकार करने चाहिए। जैसे- अपने इन्द्रियरूप प्रत्यक्ष प्रमाणसे घटादि विषयका प्रत्यक्ष होता है, वैसे ही दूसरेके वाक्यप्रयोगके पश्चात् भी अपनी इन्द्रियसे घटादि विषयका प्रत्यक्ष होता है। इसे परार्थ प्रत्यक्ष

कहना चाहिए किन्तु जैसे परार्थ प्रत्यक्ष नहीं माना जाता है, वैसे ही परार्थानुमान भी नहीं माना जा सकता है।

स्वयंकी अनुमितिका जनक जो स्वयंका अनुमान, उसका बोध करानेवाला दूसरेके द्वारा प्रयुक्त वाक्य प्रतिज्ञा, हेतु, उदाहरण, उपनय और निगमन इन पाँच अवयवोंसे युक्त होता है। नैयायिक पञ्चावयववादी हैं। प्रतिज्ञा, हेतु और उदाहरणरूप त्रि-अवयववादी मीमांसक हैं। उदाहरण, उपनयरूप द्वि-अवयववादी बौद्ध हैं। उदाहरण और उपनय इन दो अवयवों से ही व्याप्ति और पक्षधर्मताकी सिद्धि होनेके कारण दो अवयवोंसे ही अनुमिति संभव होती है। कभी किसी अनुमितिकर्ताको दो अवयवोंसे अनुमिति होती है, किसीको तीनसे और किसीको पाँच अवयवोंसे अनुमिति होती हैं। इस प्रकार कुशाग्र, मध्यम और मन्दमतिवाले अधिकारियोंके लिए यथायोग्य दो, तीन और पाँच अवयवोंका प्रयोग प्रयोक्ता पुरुषकी इच्छाके अधीन होता है, इसलिए सविशेषाद्वैत वेदान्तमतमें अवयवोंकी संख्याका आग्रह नहीं है। पूर्वोक्त पाँच अवयवोंसे युक्त सद् हेतु ही साध्यकी अनुमितिका जनक होता है। जो हेतु नहीं हैं किन्तु हेतुके समान प्रतीत होते हैं, वे हेत्वाभास कहलाते हैं। दोषयुक्त हेतु साध्यके साधक नहीं होते हैं। इनके पाँच भेद हैं- १.असिद्ध २.विरुद्ध ३.अनैकान्तिक (व्यभिचारी) ४.सत्प्रतिपक्ष और ५.बाधित।

शाब्दज्ञान- अनाप्तपुरुषके द्वारा न कहे गये वाक्यसे जन्य उस वाक्यके अर्थका ज्ञान शाब्दज्ञान(शाब्दप्रमा) कहलाता है- **अनाप्तानुक्तवाक्यजनितत्वे सति तदर्थविज्ञानत्वं शाब्दज्ञानत्वम्।** शाब्दज्ञानका वाक्यजनितत्व लक्षण करनेपर वाक्यध्वंसमें अतिव्याप्ति होती है क्योंकि वाक्यका ध्वंस भी वाक्यसे जनित है। इसे दूर करनेके लिए विज्ञानत्व कहा गया है। शाब्दज्ञानका केवल विज्ञानत्व

लक्षण करनेपर प्रत्यक्ष ज्ञान और अनुमिति ज्ञानमें अतिव्याप्ति होती है। उसके निवारणके लिए वाक्यजनितत्व कहा गया है। **वाक्यजनितत्वे सति विज्ञानत्व** लक्षणकी वाक्यस्वरूपके श्रौत्र प्रत्यक्षज्ञानमें अतिव्याप्ति होती है क्योंकि वह वाक्यसे जन्य है और ज्ञान है। इसकी निवृत्तिके लिए अर्थ पद दिया गया है। यहाँ वाक्यजनितविज्ञान वाक्यस्वरूपका श्रौत्र प्रत्यक्षज्ञान है। वह अर्थज्ञान नहीं है। यदि कहना चाहें कि वाक्यस्वरूप भी वाक्य पदका अर्थ है, इसलिए वाक्यजनितत्वविशिष्ट अर्थविज्ञानत्व लक्षणकी पुनः वाक्यस्वरूपके श्रौत्र प्रत्यक्षज्ञानमें अतिव्याप्ति होती है। इसके परिहारके लिए लक्षणमें 'तद्' शब्दका निवेश करके तदर्थ कहा है। तदर्थसे प्रकृतवाक्यका अर्थ विवक्षित है। प्रकृतवाक्यका विवक्षित अर्थ वाक्यस्वरूप नहीं है। वाक्यजनितत्वे सति तदर्थविज्ञानत्व लक्षणकी भ्रान्तिज्ञानमें अतिव्याप्ति होती है क्योंकि वह वाक्यसे जन्य होते हुए वाक्यके अर्थका ज्ञान है। उस अतिव्याप्तिकी अप्रसक्तिके लिए लक्षणमें 'अनाप्तानुक्त' कहा गया है। यहाँ भ्रान्तिका जनक वाक्य अनाप्तके द्वारा अनुक्त नहीं है, वह तो अनाप्तके द्वारा उक्त है। इस प्रकार अतिव्याप्तिका वारण हो जाता है। यहाँ अनाप्तानुक्तका अर्थ है- 'अनाप्तके द्वारा अविरचित'। अपौरुषेय वेदवाक्य किसीके द्वारा रचे न होनेसे अनाप्तानुक्त हैं। सत्यभाषण करनेवालेको आप्त कहा जाता है। पौरुषेय वाक्य आप्तपुरुषके द्वारा रचित होनेसे अनाप्तानुक्त हैं। इस प्रकार अनाप्तानुक्त कहनेसे अपौरुषेय वेदवाक्य और आप्तोच्चरित पौरुषेय वाक्योंका ग्रहण हो जाता है। अनाप्तानुक्तके स्थानपर आप्तोक्त कहनेपर वेदवाक्यका ग्रहण न होनेसे वेदवाक्यजन्य तदर्थविज्ञानमें अव्याप्ति होती है, इसलिए अनाप्तानुक्त कहा गया है। इस ज्ञानमें **आप्तोक्तवाक्यजनितत्वे सति तदर्थविज्ञानत्व** लक्षणका समन्वय तभी हो सकता है, जब वेदवाक्य

आप्तोक्त अर्थात् पौरुषेय माने जायें किन्तु ऐसा मानना वेदान्तसम्मत नहीं है, इसलिए अव्याप्ति होती ही है और उसके निवारणके लिए अनाप्तानुक्त कहा गया है।

शब्दप्रमाण– शाब्दज्ञानका करण शब्दप्रमाण कहलाता है– **शाब्दज्ञानकरणं शब्दप्रमाणम्।** अनाप्तके द्वारा न कहे गये अपौरुषेय वेदवाक्य तथा पौरुषेय स्मृति, इतिहास और पुराण शाब्दप्रमाके करण हैं। इसलिए वे शब्दप्रमाण कहे जाते हैं।

मानवमात्रमें भ्रम, लिप्सा, प्रमाद और करणापाटव आदि दोषोंकी संभावना रहती है, इसलिए पुरुषप्रणीत ग्रन्थोंमें पुरुषगत भ्रमादि दोष होनेसे उनके अप्रामाण्यकी आशंका होती है। अतः पौरुषेय वचनोंका प्रामाण्य तभी मान्य है, जब उनका मूल आप्त हो किन्तु ईश्वरीय संविधानरूप जो अपौरुषेय वेद हैं, वे तो स्वतः पुरुषगत भ्रमादि दोषसे रहित होनेके कारण स्वतःप्रमाण हैं। स्मृति, इतिहास, पुराण आदि पौरुषेय शास्त्र वेदमूलक होनेसे प्रमाण हैं। अनाप्तके द्वारा कहा गया वचन भ्रमादि दोषोंसे युक्त होता है, इसलिए उसका बाधक ज्ञान अवश्य होता है। शब्दोंमें स्वतः दोष नही रहता है। वक्ता पुरुषमें दोष होनेपर शब्दमें दोष माना जाता हैं। वक्ताके दोष पौरुषेय शब्दोंमें आ जाते हैं, इसलिए आप्तपुरुषका वाक्य ही प्रमाण माना जाता है। अनाप्त अर्थात् दोषयुक्त मनुष्यका वाक्य प्रमाण नहीं माना जाता है। अपौरुषेयश्रुतिमूलक जो पौरुषेय वाक्य हैं, वे भ्रमादि दोषोंसे रहित होनेके कारण अबाधित अर्थवाले होते हैं। शाब्दज्ञानका कारण शब्द है। कारण शब्दमें दोष होनेसे तज्जन्य ज्ञान भी दोषयुक्त होता है, इसलिए बाधित हो जाता है। वेदजन्य ज्ञानका बाधक ज्ञान अनुमान प्रमाणसे नहीं हो सकता है क्योंकि अनुमान ही वेदसे बाधित होनेके कारण अप्रमाण हो जाता है। स्मृति भी वेदमूलक होनेसे वेदका बाधक नहीं हो सकती है।

वेदविरुद्ध स्मृति वेदानुकूल स्मृतिसे विरुद्ध होनेके कारण अप्रमाण हो जाती है। लौकिक वाक्य भी बाधक नहीं हो सकता है क्योंकि अलौकिक विषयमें उसकी प्रवृत्ति ही नहीं होती है।

विलक्षण आनुपूर्वीमें स्थित अपौरुषेय अक्षरराशि वेद हैं। अपौरुषेय, निर्दोष वेदोंके द्वारा प्रतिपाद्य अर्थ सत्य होते हैं। वेद परब्रह्म परमात्मा नारायणके स्वरूप, उनकी प्राप्तिके साधन, आराधना एवं आराधित परमात्मासे प्राप्त होनेवाले फलका प्रतिपादन करते हैं। जैसे- भगवान् नित्य हैं, वैसे ही उनका संविधानरूप वेद भी नित्य है। वेद अनन्त हैं तथा उनका अर्थ सुगमतासे समझमें नहीं आता है, इसलिए वेदार्थका विशदरूपसे प्रतिपादन करनेवाले उपबृंहण ग्रन्थोंकी आवश्यकता होती है। वेदार्थको विशदरूपसे बतानेवाले ग्रन्थ ही उपबृंहण ग्रन्थ कहलाते हैं। श्रीभगवान्से प्रेरणाको प्राप्तकर महर्षियोंने समग्र संसारके कल्याणार्थ वेदार्थका स्मरण करके उसे व्यक्त करनेवाले उपबृंहण ग्रन्थोंका निर्माण किया। वेदके विधिभागके उपबृंहण धर्मशास्त्र हैं। मन्त्र और अर्थवाद भागके उपबृंहण इतिहास और पुराण हैं।

वेदोंका अपौरुषेयत्व और नित्यत्व- पुरुषके द्वारा उच्चरित होना मात्र पौरुषेयका लक्षण नहीं है क्योंकि वैसा माननेपर वर्तमान शिष्य, अध्यापक आदि पुरुषोंके उच्चारणको लेकर वेदको भी पौरुषेय मानना होगा, इसलिए पुरुषके संकल्प (इच्छा) के अधीन अपूर्व आनुपूर्वीसे विशिष्ट उच्चारणका विषय होना पौरुषेयत्व है और उसका न होना अपौरुषेयत्व है- **पुरुषसंकल्पाधीनापूर्वक्रम-विशिष्टोच्चारणविषयत्वं पौरुषेयत्वं तदभावोऽपौरुषेयत्वम्**। पुरुष जब किसी काव्य आदिकी रचना करता है, तब प्रयोग किये जानेवाले पदोंका क्रम (आनुपूर्वी) उसकी इच्छाके अधीन होता है। इस क्रमको पुरुषसंकल्पाधीनापूर्वक्रम कहा जाता है। इस क्रमसे युक्त वर्ण, पदका

उच्चारण होता है। इस प्रकार पुरुषसंकल्पाधीन अपूर्वक्रम-विशिष्टोच्चारणका विषय पदसमूहरूप उसकी कृति पौरुषेय होती है। पूर्वकल्पमें वेद जिस क्रममें थे, सर्वज्ञ भगवान् उस क्रमसे युक्त वेदोंका ब्रह्माजीको उपदेश देते हैं। जैसे आचार्य रात्रिमें सोये हुए छात्रोंको प्रातःकाल जगाकर वेदोपदेश करते हैं, वैसे ही श्रीभगवान् महाप्रलयमें सोये हुएके समान सामर्थ्यरहित होकर पड़े ब्रह्माजीको सृष्टिके आरम्भमें रचकरके वेदोपदेश करते हैं। भगवान् कल्पके आरम्भमें अपूर्व नूतन वेदोंका निर्माण नहीं करते हैं। वेद ईश्वरीय संविधान है। वह सदैव एक जैसा ही रहता है। पापका जनक कर्म पुण्यजनक नहीं हो सकता है और पुण्यजनक कर्म पापजनक नहीं हो सकता है। इसी प्रकार पुण्यपापविशेषका हेतु कर्म करनेका प्रकार भी एकरूप ही होता है। अङ्गभूत कर्मके समान अङ्गभूत मन्त्रोंकी आनुपूर्वी सदा एक होती है। वह पूर्व आनुपूर्वीसे भिन्न नहीं होती है अर्थात् उसमें कोई परिवर्तन नहीं होता है। इसी प्रकार ब्राह्मणभागकी आनुपूर्वी भी एक समान होती है। अतः ईश्वरके द्वारा प्रत्येक कल्पके आरम्भमें किया गया वेदोपदेश पूर्वकल्पमें वेदोंके क्रमके समान क्रमसे विशिष्ट उच्चारणरूप(पूर्वक्रमविशिष्ट उच्चारणरूप) ही है, इसलिए वेद पौरुषेय नहीं हैं।

पद अपने अर्थके बोधक होते हैं। वाक्यके अन्तर्गत प्रयुक्त होनेवाले प्रत्येक पदका अर्थ पहलेसे ही ज्ञात रहता है। वाक्य उन पदार्थोंके पारस्परिक संसर्गका बोध कराता है। यह संसर्ग ही वाक्यार्थ होता है। पदार्थोंके पारस्परिक संसर्गका बोध कराने वाला पदसमुदाय ही वाक्य कहा जाता है। वाक्यके अन्तर्गत आनेवाले पदोंके उच्चारणमें क्रम होता है। एक पदका पहले उच्चारण होता है, दूसरे पदका उच्चारण बादमें होता है। जिन पदसमूहरूप वाक्योंका उच्चारणक्रम वक्ता पुरुषकी स्वतन्त्र इच्छाके अनुसार होता

है। वे वाक्य पौरुषेय कहलाते हैं। पुरुष स्वेच्छासे इन वाक्योंकी रचना करते हैं। महर्षि वाल्मीकि, पराशर, वेदव्यास आदि विद्वानोंके द्वारा रचित ऐसे ग्रन्थ पौरुषेय कहलाते हैं। जिन शब्दोंका उच्चारणक्रम पुरुषकी स्वतन्त्र इच्छाके अनुसार नहीं होता है किन्तु पूर्व-पूर्व उच्चारणक्रमके अनुसार ही उत्तरोत्तर शब्दोंका उच्चारण होता है, क्रमका परिवर्तन नहीं होता है। वे शब्द अपौरुषेय कहलाते हैं। इनके क्रमका परिवर्तन करनेमें पुरुषोंका अधिकार नहीं है। पूर्व-पूर्व क्रमके अनुसार ही उच्चारण करनेका अधिकार है, ऐसे अपौरुषेय शब्द वेद ही हैं। सिद्धान्तमें वेदोंको अपौरुषेय और नित्य माना जाता है क्योंकि छात्र आचार्योंसे उन शब्दोंके परम्पराप्राप्त उच्चारण क्रमको सीखते हैं और आगे उस संस्कारके अनुसार उसी क्रमका स्मरण करके उसके अनुसार ही उच्चारण करते हैं, ऐसा ही अनादिकालसे चला आ रहा है। सृष्टिके आरम्भमें श्रीभगवान् पूर्वकल्पमें स्थित वेदाख्य अक्षरराशिके क्रमको जानकर ही उसी क्रमसे ब्रह्माजीको वेदप्रदान करते हैं। ब्रह्मासे लेकर आज तकके वेदज्ञ आचार्य पूर्व-पूर्व उच्चारण क्रमका अनुभव करके उस अनुभवसे होनेवाले संस्कारके अनुसार उसी क्रमसे उच्चारण करते हैं। पूर्व-पूर्वकल्पोंमें होनेवाले पदोंके उच्चारण क्रमके ज्ञानसे जन्य संस्कारद्वारा उस क्रमविशेषका स्मरण करके ही उसी क्रमसे उच्चार्यमाणत्व ही वेदोंका अपौरुषेयत्व और नित्यत्व है- **एतदेव च वेदस्य अपौरुषेयत्वं नित्यत्वं च यत् पूर्वपूर्वोच्चारणक्रमजनितसंस्कारेण तमेव क्रमविशेषं स्मृत्वा तेन एव क्रमेण उच्चार्यमाणत्वम्।** (श्रीभा.१.३.२९) यहाँ इतना भेद अवश्य ध्यातव्य है कि हम सभीका उच्चारण संस्काराधीनस्मरणमूलक है किन्तु श्रीभगवान् सदा सर्वज्ञ हैं, इसलिए उनका उच्चारण संस्काराधीनस्मरणमूलक नहीं हैं। वे संस्कारनिरपेक्ष ही सब कुछ जानते हैं। जो ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद

और अथर्ववेद है, वह श्वासके समान सहजमें परमात्मासे उच्चरित हुआ है- **अस्य महतो भूतस्य निःश्वसितम् एतद् यद् ऋग्वेदो यजुर्वेदः सामवेद अथर्वाङ्गिरसः।** (बृ.उ.२.४.१०) यदि सर्वेश्वर भी पूर्वकालिक क्रमविशेषका स्मरण करके उच्चारण करें तो उन्हें संस्कारके उद्‌बोधसे पहले अज्ञ तथा पराधीनज्ञान वाला मानना होगा जो कि इष्ट नहीं हैं। हम लोगोंका अपने उच्चारणसे जन्य संस्कारोंकी अपेक्षा न करनेवाला जो वेदोच्चारण है, वह अध्यापककी अपेक्षा रखनेवाला है तथा अध्यापककी अपेक्षा न रखनेवाला हम लोगोंका उच्चारण स्व-उच्चारण जन्य संस्कार की अपेक्षा करने वाला है किन्तु ईश्वरका उच्चारण इन दोनोंकी अपेक्षा नहीं करता है।

वेदापौरुषेयत्व प्रतिपादनका सार यह है कि वेदोंकी आनुपूर्वी अनादि है। वह सदा एक जैसी रहती है, उसी अनादि आनुपूर्वीविशेषसे युक्त वेदोंका परवर्तीकालमें उच्चरित होते रहना अपौरुषेयत्व है- **अनाद्यानुपूर्वीविशेषविशिष्टत्वेन पश्चादपि उच्चार्यमाणत्वम् अपौरुषेयत्वम्**। नित्यत्वका अर्थ है- कारणरहितत्व अर्थात् सदा एक जैसा रहना। अपौरुषेयत्वका तात्पर्य भी इसी अर्थमें है, इसलिए श्रीभाष्यमें अपौरुषेयत्व और नित्यत्वको एक ही कहा है।

पूर्वमीमांसकमतका निराकरण- पूर्वमीमांसक वेदके नित्यत्वका साधक वर्णनित्यत्व और पदनित्यत्वको मानते हैं, वह उचित नहीं है क्योंकि वैसा मानने पर रघुवंश आदिके भी अपौरुषेयत्वका प्रसङ्ग होगा क्योंकि वैदिक और लौकिक शब्दोंकी एकता प्रमाणसे सिद्ध है। इस विषयको ब्रह्मविवेचन के अन्तर्गत 'सभी पदार्थोंका ब्रह्मात्मकत्व और सभी शब्दोंका ब्रह्मबोधकत्व' प्रसङ्गमें देखना चाहिए। वर्णोच्चारणकी जो आनुपूर्वी है, उसकी नित्यता भी वेदकी नित्यताका साधक नहीं

हो सकती है क्योंकि मीमांसकमतमें वर्ण नित्य और विभु माने जाते हैं। नित्य वर्णोंकी सभी कालोंमें विद्यमानता होनेसे उनकी कालकृत आनुपूर्वी नहीं हो सकती है और विभु वर्णों की सभी देशोंमें विद्यमानता होनेसे उनकी देशकृत आनुपूर्वी नहीं हो सकती है, इसलिए उच्चारणकी आनुपूर्वीको ही वेदकी नित्यताका साधक स्वीकार करना चाहिए। उच्चारणक्रिया भिन्न होती है और वह उत्पत्तिविनाशवाली होती है, इसलिए उच्चारणक्रियाकी आनुपूर्वीकी नित्यता हो ही नहीं सकती है, फिर भी पूर्वोच्चारणके सजातीय उत्तरोच्चारण होता ही है, इसलिए वर्णोंके पूर्व-पूर्व उच्चारणकी आनुपूर्वी जैसी होती है, वैसी ही आनुपूर्वीसे उत्तरोत्तर उच्चार्यमाणत्व (उच्चरित होते रहना) ही वेदका नित्यत्व है। इस प्रकार वेदकी नित्यताका साधक वर्णोच्चारणकी नियत आनुपूर्वी सिद्ध होती है। पूर्वमीमांसकोंको भी यही स्वीकार करना चाहिए। इस प्रकार वेदनित्यत्वकी सिद्धिके लिए वर्णोंकी नित्यता स्वीकार करना अनावश्यक ही होता है। इस विवरणसे सिद्ध होता है कि वेदकी स्वरूपतः नित्यता को माननेवाला मीमांसकमत उचित नहीं है और वेदकी प्रवाहतः नित्यता को मानने वाला वेदान्तमत ही उचित है।

ब्रह्मबोधकवेदवाक्यका प्रामाण्य– अर्थ दो प्रकारके होते हैं- सिद्ध और कार्य(साध्य) । जो पदार्थ पहलेसे विद्यमान रहते हैं, जिन्हें बनाना नहीं पड़ता है। वे सिद्ध कहलाते हैं और जो पदार्थ प्रयत्नसे साध्य होते हैं, वे कार्य कहलाते हैं। आत्मा, परमात्मा सिद्ध अर्थ ही हैं और गमन, यजन आदि क्रियाएं कार्य अर्थ ही हैं। घट, पट आदि उत्पत्तिसे पूर्व साध्य होते है और बादमें सिद्ध होते हैं। प्राभाकर मीमांसकमतमें कार्य अर्थके बोधक वाक्योंका प्रामाण्य माना जाता है, ब्रह्मके बोधक वाक्यों का प्रामाण्य नहीं माना जाता है और

वेदान्त मतमें ब्रह्मके बोधक वाक्योंका भी प्रामाण्य माना जाता है। अब इनका क्रमशः विवरण प्रस्तुत किया जा रहा है-

प्राभाकरमीमांसकमत- लिङ्, लोट् और तव्यत्की शक्ति कार्यमें होती है तथा अन्य पदोंकी शक्ति कार्यसे अन्वित (सम्बद्ध) अर्थमें होती हैं, इसलिए शक्तिज्ञान होनेपर लिङ् आदि कार्यके बोधक होते हैं तथा अन्य पद कार्यान्वित अर्थके बोधक होते हैं। इससे यह सिद्ध होता है कि लौकिक और वैदिक सभी शब्द कार्य अर्थका ही बोध कराते हैं, सिद्ध अर्थका बोध नहीं कराते हैं। शक्तिज्ञान वृद्ध (शक्तिज्ञानसम्पन्न मनुष्य)के व्यवहारके अधीन होता है। व्यवहारसे कार्य (क्रिया) और कार्यसे अन्वित अर्थमें ही पदकी शक्तिका ज्ञान होता है, सिद्धार्थमें शक्तिका ज्ञान नहीं होता है। इसलिए सिद्ध अर्थ ब्रह्मस्वरूपके बोधक वेदवाक्य अप्रमाण हैं।

वेदान्तमत- सिद्ध अर्थमें भी पदकी शक्ति है। शक्तिज्ञान होने पर पद सिद्ध अर्थके भी बोधक होते हैं। ब्रह्म सिद्ध अर्थ है, वेदान्तवाक्य सिद्ध अर्थ ब्रह्मका बोध कराते हैं। व्युत्पित्सु (शक्तिज्ञानका इच्छुक) मनुष्यको सिद्धार्थमें शक्तिका ज्ञान होता है। घरके सदस्य शिशुको 'यह तुम्हारा पिता है,' 'यह तुम्हारी माता है', 'यह भ्राता है', 'यह चन्द्रमा है' इत्यादि प्रकारसे बार-बार सिद्ध अर्थमें ही अङ्गुलिनिर्देशपूर्वक पदकी शक्तिका बोध कराते हैं। इस प्रकार प्राथमिक शक्तिज्ञान भी सिद्ध अर्थमें ही होता है। तदनन्तर बालक उन अर्थोंको समझकर स्वयं भी वैसा व्यवहार करने लगता है। अत्यन्त छोटी अवस्थामें उक्त रीतिके अनुसार ही शिक्षाको प्राप्त किये हुए बालक वृद्धके व्यवहारको देखकर शब्दकी शक्तिको जाननेका सामर्थ्य रखते हैं। अत्यन्त छोटे बालक भी शब्दोंको सुनते ही उन अर्थोंको जानने लगते हैं। इसका कारण शब्दकी अर्थबोधक शक्तिका ज्ञान है।

यह शक्ति स्वाभाविक है, संकेतरूप नहीं है। शब्दकी अर्थबोधक शक्ति स्वाभाविक होनेके कारण अनादि कालसे व्यवहार चल रहा है। वेद अपौरुषेय होनेसे पदकी शक्ति किसी पुरुषकी संकेतरूप नहीं हो सकती है। जिस प्रकार पिता बालकका नाम रखते समय संकेत करते हैं कि इस बच्चेका यह नाम है, इस संकेतके अनुसार वह नाम बोधक तथा अर्थ बोध्य होता है। उसी प्रकार संसारके सभी शब्दोंका उनके अर्थोंमें किसीने भी संकेत नहीं किया है। यदि संकेत करनेवाला कोई होता तो लोग उसका अवश्य स्मरण करते किन्तु स्मरण नहीं किया जाता है, इससे सिद्ध होता है कि शब्दशक्ति संकेतरूप नहीं है। पिताके संकेतके पहले बालकका उस नामसे स्मरण और व्यवहार नहीं होता है किन्तु संसारकी वैसी स्थिति नहीं है। सृष्टिकालमें परमात्मा शब्दोंसे ही अर्थको जान करके पूर्वकल्पानुसार उनकी सृष्टि करते हैं। जो मनुष्य उस शक्तिको समझते हैं, वे उन शब्दोंसे उन अर्थोंको सहज ही समझते हैं। माता-पिताके द्वारा प्रदत्त शिक्षासे बालककी यह धारणा हो जाती है कि मामा, चन्द्रमा, पशु और पक्षी आदि शब्द सिद्ध अर्थ मामा आदिका बोध करानेके लिए प्रयोग किये जाते हैं। जिन शब्दों का सिद्ध वस्तु को बताने में तात्पर्य होता है, वे सिद्ध वस्तुके विषयमें प्रमाण होते हैं और जिन शब्दोंका कार्यको बतानेमें तात्पर्य होता है, वे कार्यके विषयमें प्रमाण होते हैं। यह व्यवस्था मानना ही न्यायसंगत है। इस व्यवस्था के अनुसार सिद्ध वस्तु ब्रह्मस्वरूपका बोध करानेमें तात्पर्य होनेके कारण वेदान्तवाक्य ब्रह्मस्वरूपके विषयमें अकाट्य प्रमाण होते हैं, इसलिए प्रभाकरके मतानुयायी मीमांसकोका मत उचित नहीं है।

प्रश्न- पूर्वमें वेदप्रामाण्यकी स्थापना की जा चुकी है। हजारों माता-पितासे भी बढ़कर वात्सल्य रखनेवाले वेद अधिकारी मनुष्योंके

कल्याणका उपदेश देते हैं, इसलिए श्येन नामक यागसे शत्रुका मारण करना चाहिए- **श्येनेनाभिचरन् यजेत** यह शत्रुवधरूप हिंसात्मक फलके जनक यागका विधायक वाक्य कल्याणकारक कैसे हो सकता है?

उत्तर- उक्त वेदवाक्य शत्रुवधरूप दृष्टफलको दिखाकर शास्त्रमें विश्वास कराकर कल्याणकारक अदृष्ट स्वर्गादिफलके साधनोंमें प्रवृत्तिका जनक होता है। वेदशास्त्रको न माननेवाला जो मनुष्य दूसरोंको मारने-काटनेमें लगा रहता है, **श्येनेनाभिचरन् यजेत** इस वाक्यको सुनकर उसके मनमें यह विचार आता है कि श्येन यागसे हम अपने अभीष्टफलको प्राप्त कर लेंगे और लोकनिन्दासे भी बच जायेंगे। इस विचारसे उसके द्वारा सम्पन्न श्येनयागसे जब शत्रुकी मृत्यु हो जाती है, तब 'वेदके वचन सत्य है' इस प्रकार उसका वेदशास्त्रोंमें विश्वास उत्पन्न होता है और वह वेदमें प्रतिपादित **सत्यं वद, धर्मं चर**(तै.उ.१.११.१) **मा हिंस्यात् सर्वाभूतानि** इत्यादि कल्याणकारक वचनोंमें विश्वास करके अपने कल्याणके लिए अभिचार जैसे हिंसात्मक कर्मोंको सदाके लिए छोड़ देता है और वेदविहित सद्धर्मका आचरण करके अपना जीवन मङ्गलमय बना लेता हैं।

वेदोंका पूर्वभाग ब्रह्मके आराधनारूप कर्मका प्रतिपादन करता है और उत्तरभाग आराध्य ब्रह्मका प्रतिपादन करता है। पूर्वभागमें भी ब्रह्मके प्रतिपादक वाक्य हैं। पूर्वोत्तरविभाग तो प्रतिपाद्य विषयकी अधिकताको लेकर किया गया है। पूर्वभागमें कर्मका अधिक प्रतिपादन होनेपर भी वह प्रधान नहीं है। प्रधानता तो सर्वत्र ब्रह्मकी ही है क्योंकि ब्रह्मको उद्देश्य करके सभी कर्म किये जाते हैं और उनके अनुग्रहसे ही फल प्राप्त होते हैं, इसलिए वहाँ भी प्रधान प्रतिपाद्य ब्रह्म ही है। अतः 'पूर्वभागका प्रधान प्रतिपाद्य कर्म है' यह

कथन उचित नहीं है। सभी वेद जिस प्राप्य ब्रह्मका प्रतिपादन करते हैं- **सर्वे वेदा यत्पदम् आमनन्ति।**(क.उ.१.२.१५), सभी वेदोंके द्वारा वेद्य मैं ही हूँ- **वेदैश्च सर्वैरहमेव वेद्यः।**(गी.१५.१५) पूर्वभागमें कर्मका अधिक प्रतिपादन होनेसे प्रधान प्रतिपाद्य कर्म है, ऐसी भ्रान्ति होती है। पूर्वभागमें पठित मन्त्र कर्ममें विनियुक्त होकर चरितार्थ हो जाते हैं तो वे ब्रह्मका प्रतिपादन कैसे कर सकते हैं? यह कथन निर्मूल है क्योंकि जैसे शीतनिवृत्ति करनेपर भी अग्निकी दाहकता बनी ही रहती है। तृषानिवृत्तिके लिए नीयमान जलपूर्णघट पथिकका मङ्गल करता ही है। वैसे ही कर्ममें विनियुक्त होनेपर भी मन्त्र ब्रह्मका प्रतिपादन करता ही है। पूर्वभागमें भी ब्रह्मके स्पष्ट बोधक अनेक वचन विद्यमान हैं। कर्मभाग तथा ब्रह्मभाग ये दोनों व्याख्येय वेदके एक भाग हैं, इसलिए उनकी व्याख्यारूप कर्ममीमांसा और ब्रह्ममीमांसा ये दोनों एक ही शास्त्र हैं। व्याख्येय विषयके क्रमके अनुसार कर्ममीमांसा और ब्रह्ममीमांसामें पूर्वापर क्रम होता है। ब्रह्मसूत्रके प्रथम वृत्तिकार भगवान् बोधायन महर्षिने कहा है कि जैमिनिविरचित षोडशाध्यायी पूर्वमीमांमासाके साथ महर्षि बादरायणविरचित चार अध्यायवाली उत्तरमीमांसा एक व्याख्येय वेदका व्याख्यान है, इसलिए उभय मीमांसा एक शास्त्र सिद्ध होते हैं- **संहितम् एतच्छारीरकं जैमिनीयेन षोडशलक्षणेन इति शास्त्रैकत्वसिद्धिः**(बो.वृ.)भगवान् जैमिनिने षोडशाध्यायी पूर्वमीमांसाकी रचना की थी। शबरस्वामीने द्वादशाध्यायी पर भाष्य लिखा था। शेष चार अध्याय संकर्ष(संकर्षण) काण्ड अथवा दैवतकाण्ड कहे जाते हैं। शबरस्वामी भी मीमांसाभाष्य(१०.४.३२. तथा १२.२.११) में **इति संकर्षे वक्ष्यते, इति संकर्षे वक्ष्यति** इस प्रकार जैमिनिकृत

संकर्षकाण्डका उल्लेख करते हैं। शबर स्वामीसे भी प्राचीन आचार्य देवस्वामीने षोडशाध्यायी मीमांसा पर व्याख्या[1] लिखी थी। ऋक्, यजु, साम और अथर्वभेद से वेद चार प्रकारका होता है। इसकी शाखाएं अनन्त हैं। ऋगादि चार प्रकारवाले वेदके तीन भेद हैं - १.विधि २.मन्त्र ३.अर्थवाद।

१.विधि- कर्तव्यका उपदेश करनेवाला वेदवाक्य विधि कहलाता है- **हितानुशासनरूपं वाक्यं विधिः** अर्थात् इष्टप्राप्ति तथा अनिष्टनिवृत्तिके साधनरूप अलौकिक अर्थका विधान करनेवाला वाक्य विधि कहलाता है- **इष्टानिष्टप्राप्तिपरिहारसाधनालौकिकार्थविषायकं वाक्यं विधिः।** विधि के तीन भेद होते हैं- अपूर्व, नियम और परिसंख्या। **विधिरत्यन्तमप्राप्ते नियमः पाक्षिके सति। तत्र चान्यत्र च प्राप्ते परिसंख्येति गीयते।।**(तं.वा.१.२.३४) **यजेत स्वर्गकामः** इत्यादि विधि अपूर्वविधि हैं। **तद् विज्ञानार्थं स गुरुमेवाभिगच्छेत् समित्पाणिः श्रोत्रियं ब्रह्मनिष्ठम्।**(मु.उ.१.२.१२) इत्यादि विधि नियमविधि हैं। **पञ्च पञ्च नखा भक्ष्या ब्रह्मक्षत्रेण राघव। शल्यकः श्वाविधो गोधा शशः कूर्मश्च पञ्चमः।।**(वा.रा.४.१७.३९) इत्यादि विधि परिसंख्या विधि हैं, यहाँ परिसंख्या भक्षणकी निवृत्तिका बोधक है। अपूर्वविधिके चार भेद होते हैं-नित्य, नैमित्तिक, काम्य और प्रायश्चित्त। **अहरहः सन्ध्याम् उपासीत** इत्यादि विधि नित्य विधि हैं। **राहूपरागे स्नायात्** इत्यादि विधि नैमित्तिक विधि हैं। **ज्योतिष्टोमेन स्वर्गकामो यजेत** इत्यादि काम्य विधि हैं। **ब्रह्मचार्यवकीर्णी नैर्ऋतं गर्दभमालभेत** इत्यादि प्रायश्चित्तविधि हैं। निवृत्तिका विधान करनेसे निषेधवाक्य भी विधिके अन्तर्गत माने जाते हैं।

टिप्पणी१- यह मद्रास विश्वविद्यालयसे १९६५ में प्रकाशित हो चुकी है।

२.मन्त्र– कर्मानुष्ठानके लिए उपयोगी अर्थका बोध करानेवाला वाक्य मन्त्र कहलाता है– **अनुष्ठेयार्थप्रकाशको मन्त्रः।**

३.अर्थवाद– विधिके अधीन होनेवाली प्रवृत्ति और निवृत्तिका शीघ्र साधक वाक्य अर्थवाद कहलाता है–**विध्यधीनप्रवृत्त्युत्तम्भकवाक्यविशेषः अर्थवादः।**

वेदाङ्ग– वेदके छः अङ्ग होते हैं–

१.शिक्षा– वर्णोंके उच्चारण स्थान, प्रयत्न, स्वर और मात्राका निरूपक वेदाङ्ग शिक्षा कहलाता हैं।

२.कल्प– यज्ञादि कर्मोका प्रतिपादक वेदाङ्ग कल्प कहा जाता है।

३.निरुक्त– वैदिक शब्दोंके अर्थको स्पष्ट करनेवाले शास्त्रको निरुक्त कहते हैं।

४.ज्योतिष्– अध्ययन और कर्मके लिए उपयुक्त कालका निर्धारण करनेवाला शास्त्र ज्योतिष् कहलाता है।

५.छन्द– गायत्री, अनुष्टुप्, त्रिष्टुप् आदि रचनाविशेष छन्द कहलाते हैं।

६.व्याकरण– शब्दोंके साधुत्वका बोधक शास्त्र व्याकरण कहा जाता है।

वेदसे अविरुद्ध आचार, व्यवहार और प्रायश्चित्त का प्रतिपादन करने वाली मनु आदि महर्षियोंके द्वारा विरचित स्मृतियाँ भी प्रमाण हैं। सांख्य और योग स्मृति मन्वादि-स्मृतियों से अविरुद्धांशमें प्रमाण हैं, विरुद्धांश में प्रमाण नहीं हैं। इसीप्रकार वेदके उपबृंहणरूप इतिहास और पुराण प्रमाण हैं। रामायण और महाभारत इतिहास हैं। अष्टादश पुराण प्रसिद्ध हैं। पाशुपतागम तथा काश्मीरशैवागमको भी वेदके अविरुद्ध अंशमें ही प्रमाण जानना

चाहिए। कहीं भी वेदसे विरोध न होनेके कारण वैखानसागम और पाञ्चरात्रागम पूर्णतः प्रमाण हैं। शिल्प, आयुर्वेद, गान्धर्वशास्त्र (गानशास्त्र), भरतागम(नृत्यशास्त्र) आदि श्रुतिसे अविरुद्ध अंशमें ही प्रमाण हैं। श्रोत्रिय-ब्रह्मनिष्ठ सम्प्रदायाचार्यों द्वारा विरचित सम्प्रदायपरम्परानुसारी वेदके पूर्वभागके व्याख्यान, उपनिषद्, गीता, ब्रह्मसूत्रके भाष्य तथा तन्मतानुसारी सभी ग्रन्थ पूर्णतः प्रमाण हैं और भगवत्साक्षात्कारी पूर्वाचार्योंके शास्त्रमूलक सभी वचन प्रमाण हैं। आप्तपुरुषके द्वारा उच्चरित आकाङ्क्षा, योग्यता और सन्निधिवाले लौकिकवाक्य भी प्रमाण हैं।

वाक्यसे जन्य शाब्दबोधमें पदज्ञानको करण, पदार्थस्मरणको व्यापार और शक्तिज्ञानको सहकारिकारण कहा जाता है। वाक्य पदार्थोंके पारस्परिक सम्बन्धको विषय करनेवाले ज्ञानका उत्पादक होता है- **संसर्गगोचरज्ञानजनकत्वं वाक्यत्वम्**। पद संसर्गविषयक ज्ञानका जनक नहीं होता है। आकाङ्क्षा आदिसे रहित पदसमूह ही वाक्य नहीं हैं अन्यथा घट, कुम्भ, कलश अथवा घट, पट, दण्ड आदि पदसमुदाय भी वाक्य होने लगेंगे। पदके अर्थबोधक सामर्थ्यको वृत्ति कहा जाता है, इसके दो भेद होते हैं- १.मुख्यवृत्ति २.औपचारिकवृत्ति।

१.मुख्यवृत्ति- यह पद और अर्थका साक्षात् सम्बन्धरूप होती है। इसे ही शक्तिवृत्ति और अभिधावृत्ति कहा जाता है। जैसे- सिंहपदकी वनके राजा मृगेन्द्रमें मुख्यवृत्ति है। इसके योग, रूढि और योगरूढि आदि निम्नलिखित भेद होते हैं-

योग- प्रकृति और प्रत्ययरूप अवयवोंके सम्मिलित अर्थकी बोधिका शक्ति योग कहलाती हैं। जैसे पाककर्तारूप अर्थकी बोधक योगशक्ति पाचक पदमें है। इसमें 'पच्' धातु प्रकृति है और 'ण्वुल्' प्रत्यय है। यहाँ प्रकृतिरूप अवयवका अर्थ है- पाक और 'ण्वूल्' प्रत्ययका अर्थ

कर्ता है। इस प्रकार 'पाचक' पदका 'पाककर्ता' अर्थ होता है। योगशक्तिसे युक्त पद 'यौगिक' कहे जाते है। इसी प्रकार पाठक, याजक और अध्यापक आदि पदोंमें योगशक्तिको जानना चाहिए।

रूढि– प्रकृतिप्रत्ययरूप समुदायके अर्थका बोध करानेवाली शक्ति रूढि कहलाती है। जैसे गोत्वविशिष्ट गो अर्थकी बोधक रूढि शक्ति गो पदमें है। गोत्वविशिष्ट प्राणी समुदायका अर्थ है। **गच्छति इति गौः** इस व्युत्पत्तिके अनुसार गमनकर्तारूप अवयवार्थका रूढि शक्तिसे बोध नहीं होता है। इसी प्रकार मण्डल और मण्डप पदोंमें रूढि शक्तिको जानना चाहिए। रूढि शक्तिसे युक्त पद रूढ कहे जाते हैं।

योगरूढि– अवयवार्थके साथ समुदायार्थका भी बोध करानेवाली शक्ति योगरूढि कही जाती है। जैसे पङ्क (कीचड़) से उत्पन्न कमल अर्थकी बोधक योगरूढि शक्ति कमल पदमें है। केवल अवयवार्थ लेनेपर पङ्कसे उत्पन्न होनेवाले कुमुद और शैवाल भी पङ्कज पदके अर्थ हो जायेंगे किन्तु वैसा इष्ट नहीं है, इसलिए यहाँ समुदायार्थ भी लिया गया है। योग शक्तिसे युक्त पद योगरूढ कहलाते हैं।

यौगिकरूढि– अवयवार्थ और समुदायार्थका स्वतन्त्ररूपसे बोध करानेवाली शक्ति यौगिक रूढि कही जाती है। जैसे-**उत् ऊर्ध्वं भिनत्ति** इस व्युत्पत्तिके अनुसार अवयवार्थ वृक्ष और लता की बोधक तथा समुदायार्थ यागविशेषकी बोधक शक्ति 'उद्भिद्' पदमें है।

उपर चतुर्विध कही गयी मुख्यवृत्तिसे जिस अर्थका बोध होता है। उसे मुख्यार्थ, शक्यार्थ, अभिधेयार्थ और वाच्यार्थ कहा जाता है।

२.औपचारिक वृत्ति– मुख्यार्थका बाध होनेपर उससे सम्बद्ध अर्थका बोध करानेवाली जो वृत्ति होती है, उसे औपचारिक वृत्ति कहा जाता

है। वह शक्य (मुख्यार्थ)का सम्बन्धरूप होती है। लक्षणा और गौणी भेदसे उसके दो प्रकार होते हैं–

लक्षणा– यह शक्यका संयोगसम्बन्धरूप होती है। जैसे– गंगातीरमें पशुपालककी झोपड़ी है– गङ्गायां घोषः। यहाँ गंगापदके मुख्यार्थ प्रवाहमें घोषका बाध (असंभावना) होता है, इसलिए गंगा पद गंगाप्रवाहसे सम्बद्ध तीर अर्थका लक्षणासे बोध कराता है। यह लक्षणा वृत्ति शक्य गंगाप्रवाहका तीरमें सम्बन्धरूप है।

गौणी– यह शक्यार्थका सादृश्यसम्बन्धरूप होती है। जैसे देवदत्त शेर है– **सिंहो देवदत्तः**। यहाँ देवदत्तको सिंह पदका मुख्यार्थ मृगेन्द्र होना संभव नहीं है किन्तु सिंह पदके मुख्यार्थ मृगेन्द्रमें जो शूरता, वीरता, क्रूरता गुण हैं, उन गुणोंके सदृश गुणोंका सम्बन्ध देवदत्तमें है, इसलिए सिंह पद सिंहके समान शूर, वीर, क्रूर गुणवाले देवदत्तका लक्षणासे बोध कराता है।

सभी मतोंमें सामान्यरूपसे स्वीकृत शक्ति और लक्षणाका वर्णन उपर किया गया। वेदान्तसिद्धान्तमें अपर्यवसानवृत्ति स्वीकृत है। वह शक्तिवृत्तिसे अतिरिक्त नहीं है।

अपर्यवसान वृत्ति– जिस वृत्तिसे शब्द परमात्मापर्यन्त अर्थका बोध कराते हैं, वह अपर्यवसान वृत्ति कही जाती है। वह मुख्यवृत्ति है। अपर्यवसानवृत्तिसे पदार्थका बोध करानेवाले सभी शब्द केवल उन पदार्थोंके ही बोधक नहीं होते हैं अपितु उनके अन्तर्यामी परमात्मा तकके बोधक होते हैं। **यः पृथिव्यां तिष्ठन् पृथिव्या अन्तरो, यं पृथिवी न वेद, यस्य पृथिवी शरीरं, यः पृथिवीम् अन्तरो यमयति, एष त आत्मान्तर्याम्यमृतः**।(बृ.उ.३.७.७), **यस्य आपः शरीरम्**। (बृ. उ.३.७.८), **यस्यात्मा शरीरम्**।(बृ.उ.मा.पा.३.७.२६) इस प्रकार श्रुतिमें तथा **जगत्सर्वं शरीरं ते**(वा.रा.६.११७.२५) इस प्रकार

रामायणादिमें कही गयी रीतिसे चेतन जीवात्मा तथा अचेतन प्रकृतिको परमात्माका शरीर स्वीकार किया जाता है तथा परमात्माको चेतन और अचेतनका आत्मा स्वीकार किया जाता है, इस प्रकार चेतनाचेतनमिश्रित जगत् तथा परमात्माका शरीरात्मभाव सम्बन्ध शास्त्रसे सिद्ध है।

शरीरवाचक शब्द शरीरी आत्मा तक बोध कराते हैं। यह लोकमें सभीके अनुभवसे सिद्ध है। जैसे चैत्र जानता है, मैत्र दुःखी है। ऐसा कहनेपर चैत्रशरीरान्तर्वर्ती आत्मा जानती है, मैत्रशरीरान्तर्वर्ती आत्मा दुःखी है। यह अर्थ सर्वसम्मत है। यहाँ चैत्रादि शब्दों को शरीरमात्रका वाचक नहीं मान सकते हैं क्योंकि शरीर ज्ञानादिका आश्रय नहीं हो सकता। इसी प्रकार शरीरवाचक सभी शब्दोंको शरीरीपर्यन्त अर्थका बोधक होना सभीके अनुभवसे सिद्ध है। जीव, गौ इत्यादि सभी द्रव्यवाचक शब्द केवल जीवादिका बोध नहीं कराते हैं बल्कि तदन्तर्वर्ती परमात्माका भी बोध कराते हैं। परमात्मा पर्यन्त अर्थ का बोध कराने वाली वृत्ति ही शास्त्रमें अपर्यवसान वृत्ति कही जाती है। मुख्य विशेष्यका बोध कराये विना केवल विशेषणका बोध करानेसे जिस वृत्तिकी कृतकृत्यता नहीं होती है, वह विशेष्य तकका बोध करानेवाली शब्दकी शक्तिवृत्ति ही अपर्यवसान वृत्ति कहलाती है- **नास्ति पर्यवसानं मुख्यविशेष्यबोधनम् अन्तरा विशेषणबोधनमात्रेण कृतकृत्यता यस्या वृत्तेः सा विशेष्यपर्यन्तबोधिका शब्दशक्तिः अपर्यवसानवृत्तिः।** वेदान्तमतमें अपर्यवसानवृत्ति ही मुख्य है। केवल विशेषणकी बोधक पर्यवसानवृत्तिमुख्य नहीं है।

शब्द दो प्रकार के होते हैं- (१)निष्कर्षक शब्द, (२)अनिष्कर्षक शब्द।

(१)जातिशब्द, जातिवाचक घटत्वपटत्वादि शब्द, गुणशब्द, गुणवाचक नीलत्व, पीतत्वादि शब्द, शरीरशब्द और आत्मा आदि शब्द निष्कर्षक शब्द कहे जाते हैं। जातिशब्द आदि तथा गुणशब्द आदि घटादिरूप विशेष्यको छोड़कर जातिगुणादिरूप विशेषणमात्र के बोधक होते हैं। शरीर और आत्मा शब्द क्रमशः शरीर और आत्मा अर्थके ही बोधक होते हैं, शरीर शब्द परमात्माका बोधक कभी भी नहीं होता है और आत्मा शब्द अचेतन शरीरका बोधक कभी नहीं होता है, इसलिए ये सभी निष्कर्षक शब्द कहे जाते हैं।

निष्कर्षक शब्द दो प्रकार के होते हैं- (क)नियत निष्कर्षक (ख)अनियत निष्कर्षक। पूर्वोक्त जाति आदि शब्द नियत निष्कर्षक शब्द हैं और आत्मा शब्द अनियत निष्कर्षक शब्द है। नीलपीतादि शब्द अनियत निष्कर्षक हैं। 'नीलो घटः' इत्यादि स्थलोंमें नीलादिपद नीलत्वादिगुणविशिष्ट उनके आश्रय घटादिके वाचक हैं। 'घटस्य नीलः' इत्यादि स्थलोंमें नीलादिपद आश्रयके विना केवल नीलत्व आदि रूपके वाचक हैं। इसी प्रकार त्वम्, सूर्यः, मनुः इत्यादि शब्द भी अनियतनिष्कर्षक शब्द हैं। इन शब्दोंको वैवक्षिक निष्कर्षक शब्द भी कहा जाता है।

(२)देवमनुष्यादि शब्द देव, मनुष्यादिरूप तत्तद्-आकृतिवाले शरीरके बोधक होते हुए तद्शरीरक आत्मा और आत्मशरीरक परमात्माके भी बोधक होते हैं, इसलिए ये अनिष्कर्षक शब्द कहे जाते हैं।

लोकमें चेतनाचेतनके वाचक शब्द चेतन और अचेतन अर्थके ही वाचक हैं, परमात्माके वाचक नहीं हैं। अपर्यवसानवृत्तिसे उन शब्दोंको परमात्माका वाचक माननेपर लोकव्यवहारसे विरोध होता है, ऐसी शंका यहाँ नहीं करनी चाहिए क्योंकि लोकमें शब्द जितने अर्थका वाचक होता है, उस अर्थ का त्याग नहीं किया जाता

है अपितु शब्द उसका बोध कराते हुए वेदान्तशास्त्रके अनुसार परमात्माका भी बोध कराता है।

शरीर आदि शब्द मुख्य विशेष्यके वाचक नहीं हैं, आत्मा इत्यादि शब्द विशेष्यके वाचक हैं। ऐसे शब्द निष्कर्षकशब्द कहे जाते हैं। देवमनुष्यादि शब्द शरीरसे विशिष्ट आत्माके वाचक हैं। जैसे- चैत्र देवता हो गया किन्तु चैत्र स्थूल हो गया इत्यादि प्रयोगमें चैत्रादिपद केवल शरीरके वाचक हैं क्योंकि स्थूलता केवल शरीरमें रहती है। चैत्र मुक्त हो गया, यहाँ पर चैत्र पद केवल आत्माका वाचक है क्योंकि शरीरकी मुक्ति नहीं होती है। निष्कर्षक अर्थमें तात्पर्य न होनेपर शब्द अपर्यवसानवृत्तिसे विशिष्ट अर्थके वाचक होते हैं।

'मैं मनुष्य हूँ,' 'यह पशु है' इत्यादि व्यवहार लोकमें प्रसिद्ध हैं। इनका अर्थ है- 'मैं मनुष्य शरीरवाला हूँ,' 'यह पशु शरीरवाला है' उक्त व्यवहार मूर्खसे लेकर विद्वान् पर्यन्त सभी लोग करते हैं। अतः उक्त अर्थको औपचारिक मानना दुःसाहस ही है। आत्मा और शरीरका सम्बन्ध संयोगमात्र नहीं है। इन दोनोंका अपृथक्सिद्धि सम्बन्ध है, यह सभीके अनुभवसे सिद्ध है। इसलिए जीवसे सम्बन्धविच्छेद होनेके बाद उस द्रव्यके लिए 'शव' व्यवहार ही प्रामाणिक है। भूतपूर्व स्थितिको लेकर शवके लिए शरीर व्यवहार तो औपचारिक ही है। अपृथक्सिद्ध विशेषणवाचक शब्द अपर्यवसानवृत्तिसे विशेष्यपर्यन्त अर्थके बोधक होते है। यह 'नीलो घटः', 'खण्डः गौः', 'मुण्डः गौः' इत्यादि स्थलोंमें देखा जाता है। अतः 'मनुष्योऽहम्' इत्यादि स्थलोंमें सामानाधिकरण्य शरीरशरीरिभाव के कारण है। यहाँ औपचारिक सामानाधिकरण्य नहीं है।

'सभी शब्द परमात्मा पर्यन्त अर्थके बोधक होते हैं'। यह अर्थ निम्नवचनोंसे सिद्ध होता है। सभी वेद जिस प्राप्य ब्रह्मका

वर्णन करते हैं- **सर्वे वेदा यत्पदम् आमनन्ति।**(क.उ.१.२.१५)। सभी वेद जिस परमात्मामें एक होते हैं- **सर्वे वेदा यत्रैकं भवन्ति।**(तै.आ. ३.११.२) अर्थात् सभी वेदोंका वाच्यार्थ एक परमात्मा ही है। एक ही परमात्मा चेतनाचेतनरूप बहुत प्रकारोंके प्रति प्रकारी होनेसे उनके अन्तर्यामीरूपसे स्थित होते हैं- **एको देवो बहुधा सन्निविष्टः।** (तै.आ.३.१४.१) देव मनुष्यादि जीवोंके अन्तर्यामी रूपसे उनके साथ ही रहनेवाले परमात्माको उसकी इन्द्रियाँ नहीं जान पाती हैं- **सहैव सन्तं न विजानन्ति देवाः।**(तै.आ.३.११.१२)। हम उस परब्रह्मको नमस्कार करते हैं, जिसमें सभी शब्दोंकी शाश्वत प्रतिष्ठा (स्थिति) होती है- **नताः स्मः सर्ववचसां प्रतिष्ठा यत्र शाश्वती।**(वि.पु.१.१४. २३)। शब्दोंकी वाच्यार्थमें स्थिति होती है। परब्रह्म सभी शब्दोंके वाच्यार्थ हैं, इसलिए उनमें सभी शब्दोंकी स्थिति कही गयी है। जैसे- देव, मनुष्यादि शब्दोंसे जीवात्मा वेद्य होती है। वैसे ही ब्रह्मात्मक अग्नि, सूर्य, सोम तथा इन्द्रादि देवताओंके प्रतिपादक रूपसे प्रतीत होनेवाले समस्त वेदोंके द्वारा अपर्यवसानवृत्तिसे वासुदेव ही परम वेद्य हैं, केवल अग्नि आदि देवता वेद्य नहीं हैं। इस प्रकार सभी शब्दों के वाच्य परब्रह्म नारायण सिद्ध होते हैं। इसका विस्तार ब्रह्मविवेचन के अन्तर्गत 'सभी पदार्थों का ब्रह्मात्मकत्व और सभी शब्दोंका ब्रह्मबोधकत्व' तथा 'नामरूपव्याकरण' प्रसङ्गमें देखना चाहिए।

अद्रव्य द्रव्यके ही आश्रित रहता है, स्वतन्त्र नहीं रहता है। इसलिए अब द्रव्य निरूपणके पश्चात् अद्रव्यका निरूपण किया जा रहा है-

लक्षण- संयोगसे रहित पदार्थ अद्रव्य कहा जाता है- **संयोगरहितम् अद्रव्यम्।** जिसमें किसी पदार्थका संयोग नहीं होता है और जो किसी पदार्थसे संयुक्त नहीं होता है, वह अद्रव्य कहा जाता है। द्रव्योंका ही परस्परमें संयोग होता है। अद्रव्य संयुक्त नहीं होता है। यह द्रव्यके आश्रित रहने पर भी द्रव्यसे सर्वथा भिन्न ही होता है- **अद्रव्यं द्रव्याद्द् अन्त्यन्तभिन्नम्।**(त.मु.क.५.२.) अवस्थाका आश्रय द्रव्य होता है, अद्रव्य अवस्थाका आश्रय नहीं होता है।

यह सांख्यमतके समान द्रव्यसे अभिन्न नहीं होता तथा भाट्ट और जैन मतके समान भिन्नाभिन्न नहीं होता है। अद्रव्यके दश भेद होते हैं - सत्त्व, रज, तम्, शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध, संयोग और शक्ति।

नैयायिक-वैशेषिक विद्वान् जो यह मानते हैं कि द्रव्यसे भिन्न ही गुण होता है, द्रव्य गुण नहीं होता है। वह वेदान्तमें मान्य नहीं है। जिस प्रकार द्रव्य और अद्रव्य दूसरेके आश्रित होनेपर विशेषण होते हैं, उसी प्रकार ये दोनों दूसरेके प्रति नियत आश्रित होनेपर गुण होते हैं। वेदान्तमतमें गुणका लक्षण यह है कि जो स्वभावतः जिसका आश्रय लेकर रहता है, वह उसका गुण होता है- **यो यदाश्रितस्वभावः सः तस्य गुणः।** (न्या.सि.) द्रव्य और अद्रव्य ये दोनों ही द्रव्यका आश्रय लेकर रहते हैं। प्रभा (दीप आदिके आश्रित रहनेवाली प्रभा) और धर्मभूत ज्ञानरूप द्रव्य तथा सत्त्वादि अद्रव्य ये

सभी नियत रूपसे द्रव्यका आश्रय लेकर ही रहते हैं, इसलिए सिद्धान्तमें द्रव्य और अद्रव्य दोनोंको गुण कहा जाता है। इस प्रकार अद्रव्यके लिए गुण शब्दका प्रयोग संभव होता है।

१.सत्त्व- प्रकाश, सुख और लाघवादिका कारण, अतीन्द्रिय तथा शक्ति आदिसे अतिरिक्त अद्रव्यको सत्त्व कहा जाता है- **प्रकाशसुखलाघवादिनिदानत्वे सति अतीन्द्रियत्वे सति शक्त्याद्यतिरिक्तत्वे सति अद्रव्यत्वं सत्त्वस्य लक्षणम्।** यहाँ प्रकाश शब्दका अर्थ है - 'वस्तुके यथार्थस्वरूपका ज्ञान'। सत्त्वगुणका आधिक्य और विषय-इन्द्रियका सन्निकर्ष होनेपर वस्तुके यथार्थ स्वरूपका ज्ञान उत्पन्न होता है, सुख उत्पन्न होता है, शरीर-इन्द्रियोंमें लघुता होती है अर्थात् शरीर आलस्य-प्रमादसे रहित होकर स्फूर्तियुक्त होता है एवं इन्द्रियाँ प्रसन्न हो जाती हैं। लक्षणमें आदिपदसे आरोग्य, ज्ञानासक्ति और सुखासक्तिको ग्रहण करना चाहिए। अरोगताका कारण सत्त्वगुण है तथा ज्ञानमें आसक्ति और सुखमें आसक्तिका कारण भी सत्त्वगुण है। सत्त्व, रज और तम इन गुणोंके कार्य क्रमशः सुख, दुःख और मोह प्रत्यय होते हैं किन्तु गुण तो अतीन्द्रिय होते हैं और कार्यके द्वारा अनुमेय होते हैं। **शक्त्याद्यतिरिक्तत्वम्**। यहाँ पर आदि पदसे अदृष्ट और अतीन्द्रिय संयोगको ग्रहण करना चाहिए। सत्त्वके लक्षणकी रज और तममें अतिव्याप्तिका वारण करनेके लिए **प्रकाशसुखलाघवादिनिदानत्व** विशेषण कहा गया है। शब्दादि पाँच विषय और इन्द्रियग्राह्य संयोगमें अतिव्याप्तिका निवारण करने के लिए अतीन्द्रियत्व विशेषण दिया गया है। शक्ति, अदृष्ट और अतीन्द्रिय संयोगमें अतिव्याप्तिका परिहार करनेके लिए **शक्त्याद्यतिरिक्तत्व** विशेषण कहा गया है। सत्त्वगुण निर्मल है अर्थात् प्रकाश और सुखको आवृत्त करनेके स्वभावसे रहित है तथा प्रकाश और सुखको नियत उत्पन्न करनेके

स्वभावसे युक्त है, अतः वह प्रकाश और सुखका कारण है। सत्त्व गुण जीवकी सुखमें आसक्ति और ज्ञानमें आसक्ति कराकर बाँधता है। यह अरोगताका भी कारण है- **तत्र सत्त्वं निर्मलत्वात् प्रकाशकमनामयम्। सुखसङ्गेन बध्नाति ज्ञानसङ्गेन चानघ।।**(गी.१४.६), **प्रकाशसुखावरणस्वभावरहितता निर्मलत्वं प्रकाशसुखजननैकान्त-स्वभावतया प्रकाशसुखहेतुभूतम् इत्यर्थः।।**(गी.रा.भा.१४.६)। ज्ञान और सुखमें आसक्ति होनेपर जीव उनकी प्राप्तिके हेतु लौकिक और वैदिक कर्मोंमें प्रवृत्त होता है, फिर उन कर्मोंके फलानुभवकी साधन विभिन्न योनियोंमें उत्पन्न होता है। इस प्रकार सत्त्वगुण ज्ञान और सुखमें आसक्तिके द्वारा बन्धनका हेतु होता है। जब ज्ञानकी साधन चक्षु आदि इन्द्रियोंमें प्रकाश्य वस्तुके यथार्थ स्वरूपको विषय करनेवाला ज्ञान उत्पन्न होता है, तब ऐसा जानो कि देहमें सत्त्वगुण बढ़ा है- **सर्वद्वारेषु देहेऽस्मिन् प्रकाश उपजायते। ज्ञानं यदा तदा विद्यात् विवृद्धं सत्त्वम् इत्युत।।**(गी.१४.११) इस प्रकार भगवान्ने ज्ञान हेतुसे उसके कार्य सत्त्वगुणको अनुमेय कहा है। जब मनुष्य सत्त्वगुणकी वृद्धिकालमें मृत्युको प्राप्त होता है, तब वह आत्माके यथार्थस्वरूपको जाननेवालोंके दोषरहित कुलोंको प्राप्त करता है- **यदा सत्त्वे प्रवृद्धे तु प्रलयं याति देहभृत्। तदोत्तमविदां लोकान् अमलान् प्रतिपद्यते।।**(गी.१४.१४) आत्माके यथार्थस्वरूपको जाननेवालोंके कुलमें जन्म लेकर आत्मसाक्षात्कारके साधन निष्काम कर्मोंका अधिकारी होता है। सत्त्वगुणमें स्थित मनुष्य क्रमशः संसारबन्धनसे मुक्त हो जाते हैं- **ऊर्ध्वं गच्छन्ति सत्त्वस्थाः**(गी.१४.१८)। उत्तरोत्तर वृद्धिको प्राप्त सत्त्वगुणसे मोक्षका साक्षात् साधन परमात्माके यथार्थ स्वरूपका अपरोक्ष ज्ञान होता है- **सत्त्वात् संजायते ज्ञानम्** (गी.१४.१७)।

सत्त्व दो प्रकारका होता है- १.शुद्धसत्त्व, २.मिश्रसत्त्व। रज और तमसे रहित त्रिपादविभूतिमें विद्यमान सत्त्व शुद्धसत्त्व है। इसका नित्यविभूति प्रकरणमें निरूपण किया गया है। रज और तमके साथ त्रिगुणात्मिका प्रकृतिमें रहनेवाला सत्त्व मिश्र सत्त्व है। मिश्रसत्त्वको अशुद्ध सत्त्व भी कहा जाता है। सत्त्व आदि तीनों जड़ प्रकृतिके गुण हैं। वे प्रकृतिसे संम्बन्ध रखने वाले जीवके गुण उपचारसे कहे जाते हैं। सत्त्व जिसकालमें सुखका जनक होता है, उस कालको उपचारसे सात्त्विक कहा जाता है। शुद्ध सत्त्व अपने प्रवर्तक ईश्वरका गुण उपचारसे कहा जाता है।

२.रज- राग, तृष्णा, लोभ और प्रवृत्ति आदिका कारण, अतीन्द्रिय तथा शक्ति आदिसे अतिरिक्त अद्रव्य रज कहलाता है- **रागतृष्णालोभप्रवृत्त्यादिनिदानत्वे सति, अतीन्द्रियत्वे सति शक्त्याद्यतिरिक्तत्वं अद्रव्यत्वं रजसः लक्षणम्।** यहाँ स्त्री और पुरुषके परस्पर मिलनेकी इच्छाको राग कहा गया है। शब्दादि सभी विषयोंकी इच्छा तृष्णा कही गयी है। अपने धनके त्याग न करनेका स्वभाव लोभ कहा गया है। **रागतृष्णालोभप्रवृत्त्यादिनिदानत्व** यहाँ आदि पदसे शम(उपरामता)का अभाव और कर्मासक्ति आदिको ग्रहण करना चाहिए। हे अर्जुन! रजोगुणको राग, तृष्णा और आसक्तिका कारण जानो। वह जीवात्माकी कर्ममें आसक्ति उत्पन्न करके बन्धन करता है- **रजो रागात्मकं विद्धि तृष्णासङ्गसमुद्भवम्। तन्निबध्नाति कौन्तेय कर्मसङ्गेन देहिनम्**।(गी.१४.७) हे अर्जुन! रजोगुण बढ़नेपर लोभ, चंचलता, फलके साधन काम्य कर्मोंका आरम्भ, शमका अभाव और विषयकी इच्छाएं उत्पन्न होती हैं- **लोभः प्रवृत्तिरारम्भः कर्मणामशमः स्पृहा। रजस्येतानि जायन्ते विवृद्धे भरतर्षभ।**।(गी.१४.१२) रजोगुणकी वृद्धिमें मरा हुआ मनुष्य स्वर्गादि फलके लिए कर्म करनेवालोंके कुलमें जन्म लेता है- **रजसि प्रलयं**

गत्वा कर्मसङ्गिषु जायते। (गी.१४.१५) यह गुण कर्मानुष्ठानके द्वारा स्वर्ग आदि फलोंकी प्राप्ति करानेवाला है और दुःखका हेतु है।

३.तम- प्रमाद और मोह आदिका कारण, अतीन्द्रिय तथा शक्ति आदिसे अतिरिक्त अद्रव्य तम कहलाता है- **प्रमादमोहादिनिदानत्वे सति अतीन्द्रियत्वे सति, शक्त्याद्यतिरिक्तत्वे सति अद्रव्यत्वं तमसः लक्षणम्।** असावधानीको प्रमाद कहा जाता है। विपरीतज्ञानको मोह कहा जाता है- **मोहः विपरीतज्ञानम्**(गी.रा.भा.१४.१३)। 'प्रमादमोहादि' यहाँ आदि पदसे आलस्य, निद्रा, ज्ञानका अभाव और प्रमादमें आसक्ति आदिका ग्रहण होता है। हे अर्जुन! तमोगुणको विपरीतज्ञानसे (पापकर्ममें प्रवृत्तिके द्वारा) उत्पन्न हुआ जानो और सभी प्राणियोंके विपरीत ज्ञानका जनक जानो। वह प्रमाद, आलस्य और निद्राके द्वारा बन्धनको करनेवाला है- **तमस्त्वज्ञानजं विद्धि मोहनं सर्वदेहिनाम्। प्रमादालस्यनिद्राभिस्तन्निबध्नाति भारत।।**(गी.१४.८) कर्मोंमें प्रवृत्त न होनेका स्वभाव आलस्य कहलाता है। हे कुरुनन्दन! तमोगुणके बढ़ने पर ज्ञानाभाव, अप्रवृत्ति, प्रमाद और मोह भी उत्पन्न होते हैं- **अप्रकाशोऽप्रवृत्तिश्च प्रमादो मोह एव च। तमस्येतानि जायन्ते विवृद्धे कुरुनन्दन।।**(गी.१४.१३) तमोगुणकी वृद्धिमें मृत मनुष्य निम्न योनियोंमें जन्म लेता है- **तथा प्रलीनस्तमसि मूढयोनिषु जायते।।** (गी.१४.१५)।

सत्त्वादि गुणत्रय सम्पूर्ण प्रकृतिमें व्याप्त रहते हैं और प्रकृतिके अधीन बद्धपुरुषके कार्योंमें हेतु होते हैं। ये स्वरूपतः अनित्य हैं किन्तु इनका प्रवाह सदा बना रहता है। ये प्रलयकालमें अन्त्यन्त साम्यावस्थामें रहते हैं किन्तु सृष्टि और स्थितिकालमें वैषम्यावस्थामें रहते हैं। रजोगुण सृष्टिमें उपयोगी है, सत्त्व स्थितिमें उपयोगी है और तम संहारमें उपयोगी है। प्राचीन कर्म और देहके पोषक आहारकी विषमतासे ईश्वरीय संकल्पके अनुसार सत्त्व आदि

तीनों गुण एक-दूसरेका अभिभव करनेवाले(दबानेवाले), एक-दूसरेकी वृद्धि करनेवाले एवं एक-दूसरेके सहायक होते हैं। हे अर्जुन! रज और तमको दबाकर सत्त्वगुण, सत्त्व और तमको दबाकर रजोगुण और ऐसे ही सत्त्व और रजको दबाकर तमोगुण वृद्धिको प्राप्त होता है- **रजस्तमश्चाभिभूय सत्त्वं भवति भारत। रजः सत्त्वं तमश्चैव तमः सत्त्वं रजस्तथा।।**(गी.१४.१०) जैसे- लोकमें जब एक ही स्त्रीशरीर पतिके सुखका कारण, सौतके दुःखका कारण तथा अन्य कामुक जनोंके मोहका कारण बन जाता है, तब पतिमें सत्त्वगुणकी वृद्धि और इतर गुणोंका ह्रास, सौत में रजोगुणकी वृद्धि और इतरगुणोंका ह्रास एवं दूसरे कामुकमें तमोगुणका आविर्भाव और इतरगुणोंका अभिभव भोक्ता पति आदिके कर्मानुसार ज्ञात होता है। विष्णुपुराणमें कहा है- क्योंकि एक ही वस्तु विभिन्न पुरुषोंमें दुःख, सुख और ईर्ष्याकी प्राप्तिका तथा कोपका कारण होती हैं। इसलिए एकवस्तु एकस्वभाववाली कैसे हो सकती है- **वस्त्वेकमेव दुःखायसुखायेर्ष्यागमाय च। कोपाय च यतस्तस्माद् वस्तुवस्त्वात्मकं कुतः**(वि.पु.२.६.४७)। क्योंकि एक ही वस्तु एक पुरुषके लिए कभी सुखका कारण बनकर पुनः दुःखका कारण बन जाती है। वही कोपका कारण बनकर कालान्तरमें प्रसन्नताका कारण बन जाती है, इसलिए एक वस्तु केवल सुखका कारण अथवा केवल दुःखका कारण नहीं हो सकती है- **तदेव प्रीतये भूत्वा पुनर्दुःखाय जायते। तदेव कोपाय यतः प्रसादाय च जायते। तस्माद् दुःखात्मकं नास्ति न च किञ्चित् सुखात्मकम्।।**(वि.पु.२.६.४८-४९)

सांख्यमत- सांख्यमतमें त्रिगुण ही प्रकृतिका स्वरूप है अर्थात् साम्यावस्थाको प्राप्त सत्त्व, रज और तम ही प्रकृति है और इसी प्रकार विषमावस्थाको प्राप्त सत्त्व,रज, तम ही महदादि कार्य द्रव्य हैं।

वेदान्तमत- सांख्यमतमें जिस प्रकार गुणोंका स्वरूप माना जाता है। वह वेदान्तमतमें मान्य नहीं है क्योंकि सत्त्व, रज और तम ये तीनों प्रकृतिके गुण हैं, द्रव्य नहीं हैं। सभी प्रकारके कर्म प्रकृतिके सत्त्वादि गुणों द्वारा किये जाते हैं- **प्रकृतेः क्रियमाणानि गुणैः कर्माणि सर्वशः।**।(गी.३.२७) प्रकृतिके गुणोंसे मोहित अल्पज्ञ मनुष्य गुणोंके अनुसार कर्मोंमें प्रवृत्त होते हैं- **प्रकृतेर्गुणसम्मूढाः सज्जन्ते गुणकर्मसु**।(गी.३.२६) सत्त्व, रज और तम ये तीनों गुण प्रकृतिके स्वाभाविक असाधारणधर्म हैं- **सत्त्वं रजस्तम इति गुणाः प्रकृतिसम्भवाः**।(गी.१४.५) सभी मनुष्य पूर्वकृत पुण्यपापके संस्कारानुरूप परवश कर्मोंमें प्रवृत्त किये जाते हैं- **कार्यते ह्यवश कर्म सर्वः प्रकृतिजैर्गुणैः**।(गी.३.५) इत्यादि शास्त्रवचन स्पष्टरूपसे सत्त्व, रज और तमको प्रकृतिके गुण कहते हैं, उसका स्वरूप नहीं कहते हैं। श्रीभगवान्‌में इन गुणोंका अभाव होनेसे ही वे निर्गुण कहे जाते हैं। सत्त्व, रज और तम ये तीनों गुण प्रकृतिके स्वरूपसे सम्बन्ध रखनेवाले और उसके स्वरूपका निरूपण करनेवाले असाधारण धर्म हैं। इनके विना प्रकृतिकी कोई अवस्था नहीं होती है। फिर भी प्रकृति धर्मी है, सत्त्व आदि गुण उसके धर्म हैं। इस प्रकार इन दोनोंमें धर्मधर्मिभाव सम्बन्ध होता है- **रचनानुपपत्तेश्च नानुमानं प्रवृत्तेश्च**।(ब्र.सू.२.२.१) इस सूत्रके भाष्य और वेदान्तदीपमें सांख्यसम्मत गुणत्रयके द्रव्यत्वका निराकरण वर्णित है।

शब्द- हम लोगोंकी श्रोत्र-इन्द्रियके द्वारा ग्राह्य पदार्थसे विजातीय जो पदार्थ उससे व्यावृत्त होते हुए अद्रव्य होना शब्दका लक्षण है- **अस्मदादिश्रोत्रग्राह्यविजातीयव्यावृत्तत्वे सति अद्रव्यत्वं शब्दस्य लक्षणम्।** हम लोगोंकी श्रोत्र इन्द्रियसे ग्राह्य शब्द है, उससे भिन्न स्पर्शादि हैं, उनसे भिन्न होते हुए जो अद्रव्य है, वह शब्द है। इस प्रकार सभी शब्दोंमें लक्षणका समन्वय हो जाता है। लक्षणमें विजातीयव्यावृत्तत्व

पद न देनेपर त्रिपादविभूतिस्थ शब्दमें अव्याप्ति होती है क्योंकि वह अस्मादिकी श्रोत्रसे अग्राह्य है और अद्रव्य है। इस अव्याप्तिके वारणके लिए विजातीयव्यावृत्तत्व पर्यन्त अनुधावन किया गया है। इसी प्रकार स्पर्शादिके लक्षणोंमें जानना चाहिए। शब्द दो प्रकार के होते हैं- १.वर्णात्मक, २.ध्वन्यात्मक। इनमें वर्णात्मक शब्द देवमनुष्यादिके तालु आदि उच्चारण स्थानोंसे अभिव्यक्त होता है तथा ध्वन्यात्मक शब्द भेरी आदिसे जन्य होता है। शब्द केवल आकाशके आश्रित नहीं रहता है, बल्कि आकाशादि सभी भूतोंके आश्रित रहता है। श्रोत्रेन्द्रियके विषयदेशमें जानेसे शब्दका ज्ञान होता है। यह एक मत है। शब्दकी अभिव्यञ्जक वायुके श्रोत्रस्थानमें आनेपर शब्दका ज्ञान होता है। यह दूसरा मत है। 'वेद जिस परमात्माके शरीर हैं- **यस्य वेदाः शरीरम्** इस प्रकार शब्दात्मक वेदको परमात्माका शरीर कहे जानेसे शब्द द्रव्य ही सिद्ध होता है, अद्रव्य सिद्ध नहीं होता है।' यह शंका उचित नहीं है क्योंकि उक्त श्रुतिमें वेदशब्द वेदाभिमानी देवताका वाचक है। शब्दात्मक वेदका वाचक नहीं है। अतः शब्द द्रव्य नहीं है, वह तो अद्रव्य ही है। अथवा जैसे शरीर सदा शरीरी ईश्वरके अधीन रहता है, वैसे ही वेद भी सदा उनके अधीन हैं। इस कारण उपचारसे शब्दात्मक वेदको शरीर कहा जाता है।

स्पर्श- हम लोगोंकी त्वग् इन्द्रियके द्वारा ग्राह्य पदार्थसे विजातीय जो पदार्थ उससे भिन्न होते हुए अद्रव्य होना स्पर्शका लक्षण है- **अस्मदादिस्पर्शनेन्द्रियग्राह्यविजातीयव्यावृत्तत्वे सति अद्रव्यत्वम् स्पर्शस्य लक्षणम्।** हम लोगोंकी त्वग् इन्द्रियसे ग्राह्य स्पर्श और उसका आश्रय द्रव्य है। उनसे विजातीय रूपादि हैं, उनसे भिन्न होते हुए अद्रव्य स्पर्श कहा जाता है। इस प्रकार लक्ष्यमें लक्षण समन्वित हो जाता है। लक्षणमें विजातीयव्यावृत्तत्व पद न देनेपर अनुद्भूत स्पर्शमें

अव्याप्ति होती है क्योंकि वह हम लोगोंकी त्वग् इन्द्रियसे ग्राह्य पदार्थ नहीं है। इस अव्याप्तिके निरसनके लिए विजातीयव्यावृत्तत्व कहा गया है। घटादि द्रव्योंमें अतिव्याप्तिकी अप्रसक्तिके लिए अद्रव्यत्व पद दिया गया है। संयोगमें अतिव्याप्तिकी निवृत्तिके लिए स्पर्शनैकेन्द्रियग्राह्यत्व कहना चाहिए। स्पर्श तीन प्रकारका होता है- १.शीत स्पर्श, २.उष्ण स्पर्श, ३.अनुष्णाशीत स्पर्श। जलमें शीत स्पर्श रहता है, तेजमें उष्ण स्पर्श रहता है, पृथ्वी और वायुमें अनुष्णाशीत स्पर्श रहता है। अनुष्णाशीतस्पर्श भी एक प्रकारका स्पर्श है, वह उष्ण स्पर्श और शीतस्पर्शका अभावमात्र नहीं है। यदि अनुष्णाशीत स्पर्श दोनोंका अभावरूप होता तो आकाशमें भी अनुष्णाशीत स्पर्श का अनुभव होना चाहिए किन्तु अनुभव नहीं होता है। इससे सिद्ध होता है कि अनुष्णाशीत स्पर्श भी उक्त स्पर्शद्वयसे विलक्षण स्पर्श है। जलका संसर्ग होनेपर पृथ्वी और वायुमें जो शीत स्पर्श प्रतीत होता है, वह जलका ही है, पृथ्वी और वायुका नहीं है। इसी प्रकार तेजका सम्बन्ध होनेपर पृथ्वी और वायुमें जो उष्ण स्पर्श प्रतीत होता है। वह तेजका ही गुण है, पृथ्वी और वायुका नहीं है। वायु और जलमें उष्णताकी प्रतीतिकालमें वायुके स्वाभाविक गुण अनुष्णाशीत स्पर्श और जलके स्वाभाविक गुण शीतस्पर्शकी प्रतीति न होनेका कारण वायु और जलमें तेजका संसर्ग है। रत्नकी प्रभा आदिका स्पर्श अनुद्भूत स्पर्श है, इसलिए त्वग् इन्द्रियसे उसका ग्रहण नहीं होता है। त्वग् इन्द्रियसे रत्नकी प्रभाका ज्ञान न होनेसे उसके द्वारा रत्नका ज्ञान नहीं होता है। पुनः पाकज और अपाकज भेदसे स्पर्श दो प्रकारका होता है। पृथ्वीमें पाकज स्पर्श होता है तथा जलादि तीनोंमें अपाकज स्पर्श होता है। पाकज स्पर्शके ये अवान्तर भेद हैं-

१.शुद्धिका हेतु गंगा, गो और ब्राह्मणादिका स्पर्श।

२.अशुद्धिका हेतु कुत्ता आदिका स्पर्श।

३.जीवनका हेतु अमृतका स्पर्श।

४.मृत्युका हेतु विषका स्पर्श आदि।

त्वग् इन्द्रियसे ही मृदुता और कठोरताका ज्ञान होता है, इसलिए ये दोनों भी स्पर्शविशेष हैं।

रूप– हम लोगोंकी एकमात्र चक्षुरिन्द्रियके द्वारा ग्राह्य पदार्थसे विलक्षण जो पदार्थ, उससे भिन्न अद्रव्यको रूप कहा जाता है– **अस्मदादिचक्षुरिन्द्रियैकग्राह्यविजातीयव्यावृत्तम् अद्रव्यम् रूपम्।** हम लोगोंकी चक्षु इन्द्रियमात्रसे ग्राह्य रूप है, उससे विलक्षण रसादि और उनसे भिन्न अद्रव्य सभी रूप हैं। इस प्रकार रूप लक्ष्यमें लक्षणका समन्वय होता है। लक्षणकी संयोगमें अतिव्याप्ति रोकनेके लिए एक कहा गया है। रूपके चार भेद होते हैं– १.शुक्ल, २.रक्त, ३.कृष्ण और ४.पीत। जल, रजत(चाँदी), शंख, शुक्ति तथा चन्द्रमा आदिमें रहनेवाले रूप शुक्लरूपके अवान्तर भेद हैं। अग्नि, जपाकुसुम, अनार, गुल़ाब् पुष्प, मूंगा और पद्मराग मणि आदिमें रहनेवाले रूप रक्तरूपके अवान्तर भेद हैं। सुवर्ण और हल्दी आदिमें रहनेवाले रूप पीतरूपके अवान्तर भेद हैं। मरकतमणि, भ्रमर, मेघ, अन्धकार, तमाल वृक्ष और दूर्वा घास आदिमें रहनेवाले रूप कृष्णरूपके अवान्तर भेद हैं। नील रूप भी कृष्णरूपका अवान्तर भेद है। सामान्य कृष्णरूप नीलरूप है और वही अत्यन्त गहरा (सघन) होनेपर लोकमें कृष्ण रूप कहा जाता है। अग्निमें जो रक्त रूप है, वह तेज का है। जो शुक्ल रूप है, वह जलका है और जो कृष्ण रूप है, वह पृथ्वीका है– **यदग्ने रोहितं रूपं तेजसस्तद्रूपम्, यच्छुक्लं तदपाम्, यत्कृष्णं तदन्नस्य॥**(छां.उ.६.४.१) इस श्रुतिमें तेज, जल और पृथिवीके क्रमशः रक्त, शुक्ल और कृष्ण इन तीन रूपोंका ही वर्णन किया गया है। इसलिए कुछ विद्वान् पीतरूपको

अतिरिक्त रूप न मानकर रक्तरूपका अवान्तर भेद मानते हैं। प्रकारान्तरसे रूपके दो भेद होते हैं- १.भास्वर और २.अभास्वर। तेजमें रहनेवाला रूप भास्वर है, इसलिए तेज दूसरोंको प्रकाशित करता है। जल और पृथिवीमें रहनेवाला रूप अभास्वर है, इसलिए पृथ्वी और जल किसीको प्रकाशित नहीं करते हैं। पृथिवीमें अनेक प्रकारके अभास्वर रूप रहते हैं। पृथ्वीके संसर्गके कारण यमुना जलमें श्यामताकी प्रतीति होती है।

चित्ररूपका निराकरण- नैयायिकमतमें उक्तरूपोंसे अतिरिक्त चित्ररूप स्वीकार किया जाता है। नानावर्णवाले तन्तुआदि अवयवों से बननेवाले पट आदि अवयवीमें चित्ररूप होता है। यह नैयायिकोंका कथन उचित नहीं है क्योंकि विलक्षण सन्निवेशसे विशिष्ट अवयवसमूह ही अवयवी होता है। उससे अतिरिक्त अवयवीकी सिद्धि होती ही नहीं है, इसलिए चित्ररूपकी कल्पनाका अवसर ही नहीं आता है। 'तुष्यतु दुर्जनन्याय'से अतिरिक्त अवयवी स्वीकार करनेपर भी जैसे शाखाऽवच्छेदेन वृक्षमें कपिसंयोग और मूलाऽवच्छेदेन वृक्षमें कपिसंयोगाभाव रहता है, वैसे ही पट आदि में अवच्छेदक भेदसे नाना रूप रह सकते हैं, इसलिए अतिरिक्त चित्र रूप स्वीकार करनेकी आवश्यकता नहीं है।

रस- हम लोगोंकी रसना इन्द्रियके द्वारा ग्राह्य पदार्थ से विलक्षण जो पदार्थ उससे भिन्न अद्रव्यको रस कहा जाता है- **अस्मदादि-रसनेन्द्रियग्राह्यविजातीयेतरो रसः**। हम लोगोंकी रसनेन्द्रियसे ग्राह्य पदार्थ रस है। उससे विलक्षण रसको छोड़कर सब पदार्थ, उससे भिन्न सभी रस होते हैं। इस प्रकार रस लक्ष्यमें लक्षणका समन्वय हो जाता है। यह छः प्रकारका होता है- १.मधुर, २.अम्ल, ३. लवण, ४.कटु, ५.कषाय और ६.तिक्त। ईख, दूध और गुड़ आदिमें मधुर रस रहता है। कच्चा आम, इमली, आँवला आदिमें

अम्ल रस रहता है। सैन्धव नमक, समुद्रीय नमक और ऊषरकी मिट्टी आदिमें लवण रस रहता है। सोंठ, मिर्च और सरसों आदिमें कटु रस रहता है। हरीतकी(हरड़) बहेड़ा और आमके पल्लव आदिमें कषाय रस रहता है। नीम और करेला आदि में तिक्त रस रहता है। रसके विशद ज्ञानके लिए आयुर्वेद शास्त्रका अवलोकन करना चाहिए।

गन्ध– हम सभीकी घ्राण इन्द्रियके द्वारा ग्राह्य पदार्थसे विजातीय जो पदार्थ उससे भिन्नको गन्ध कहा जाता है– **अस्मदादिघ्राण–ग्राह्यविजातीयेतरो गन्धः।** हम लोगोंकी घ्राणसे ग्राह्य जो गन्ध, उससे विजातीय गन्धातिरिक्त सभी पदार्थ, उससे भिन्न सभी प्रकारकी गन्ध होती है। इस प्रकार लक्ष्यमें लक्षण संभव होता है। गन्ध दो प्रकारकी होती है– १.सुगन्ध, २.दुर्गन्ध। चन्दन, कस्तूरी, कुङ्कुम और चम्पाके पुष्प आदिमें सुगन्ध रहती है। सड़े–गले दूषित पदार्थोंमें दुर्गन्ध रहती है। गन्ध पृथिवीका धर्म है। जिस प्रकार लोहेमें अग्निका संसर्ग होनेके कारण 'लोहा जलाता है,' ऐसी प्रतीति होती है। उसी प्रकार जल और वायुमें सुगन्धित चम्पक पुष्प आदिके संसर्ग से 'जल सुगन्धित है' और 'वायु सुगन्धित है,' ऐसी प्रतीति होती है। यद्यपि पञ्चीकरण प्रक्रियासे शब्दादि पाँच पञ्चभूतोंके गुण हैं क्योंकि शास्त्रप्रमाणके अनुसार सृष्टिके आरम्भमें पञ्चीकरणकी प्रक्रियासे एकभूतमें दूसरे भूतका संसर्ग प्रमाणित है, तथापि पुष्पका संसर्ग बादमें होता है। यह प्रत्यक्ष प्रमाणसे प्रमाणित है।

पञ्चीकरणके अनुसार आकाशमें नीलरूपवाली पृथिवीका मिश्रण है, इसलिए आकाश नील प्रतीत होता है। पञ्चीकरणके पूर्व पृथ्वीमें विद्यमान नील रूप उसका स्वाभाविक धर्म है, पाकसे जन्य नहीं है क्योंकि पञ्चीकरणके पूर्व पाकका हेतु तेज अपना कार्य

करनेमें समर्थ नहीं है। जिस प्रकार पाक न होनपर भी जल अभास्वर शुक्लरूप एवं शीतस्पर्शसे युक्त होकर ही उत्पन्न होता है तथा तेज उत्पन्न होते समय भास्वर शुक्लरूप एवं उष्णस्पर्शसे युक्त होकर ही उत्पन्न होता है। उसी प्रकार पृथ्वी उत्पन्न होते समय नील रूप, अनुष्णाशीत स्पर्श एवं सुगन्धसे युक्त होकर ही उत्पन्न होती है। जिस प्रकार वायुमें विद्यमान अनुष्णाशीत स्पर्श पाकज नहीं है, उसी प्रकार पृथिवीमें विद्यमान अनुष्णाशीत स्पर्श पाकज नहीं है। विष, अमृत और विलक्षण औषधियोंमें जो विशेष स्पर्श हैं, वे पाकज हैं। मधुर रसवाले जलसे उत्पन्न पृथ्वीका मधुर रस ही स्वाभाविक है। अन्य रस तो पाकसे उत्पन्न होते हैं। इसी प्रकार पृथ्वीके रक्त और शुक्ल रूपोंको पाकज समझना चाहिए।

गन्ध पृथ्वीका गुण है। रस पृथिवी और जलका गुण है। रूप पृथिवी, जल और तेजका गुण है। स्पर्श पृथिवी आदि चारका गुण है। शब्द पाँच भूतोंका गुण है। यद्यपि पञ्चीकरण प्रक्रियाके अनुसार सभी गुण सभी भूतोंमें होते है, फिर भी प्रधानता(अधिकता)को लेकर उक्त कथन संभव होता है। इसलिए दोनों कथनोंमें कोई विरोध नहीं है। विजातीय तेजसंयोगको पाक कहते हैं। पाकसे गुणके आश्रय द्रव्यमें गुणान्तरकी उत्पत्ति होती है। गुणके आश्रय द्रव्यके नाशके विना ही उसीमें गुणान्तरकी उत्पत्ति होती है, इसलिए प्रमाणविरुद्ध द्रव्यका नाश स्वीकार करनेकी आवश्यकता नहीं होती है। इस प्रसङ्गमें पीलुपाकवाद और पिठरपाकवाद ये दोनों अश्रद्धेय हैं। परमाणुको पीलु कहा जाता है। परमाणुपर्यन्त अवयवी द्रव्यका भङ्ग होनेपर उस परमाणुमें ही पाक होता है, अवयवीमें नहीं होता है। ऐसा वैशेषिकोंका मत पीलुपाकवाद है। अवयव-अवयवीका समुदाय पिठर कहा जाता है। अवयवी द्रव्यमें भी पाक होता है, ऐसा माननेवाले नैयायिकोंका मत

पिठरपाकवाद कहलाता है। परमाणुकी परिकल्पना अवैदिक है और विलक्षण सन्निवेशसे विशिष्ट अवयवसमूहसे भिन्न अवयवी होता ही नहीं है, इसलिए ये दोनों मत खण्डित हो जाते हैं।

संयोग- ये दोनों द्रव्य संयुक्त हैं। ऐसे ज्ञानका निमित्त जो अद्रव्य है, वह संयोग है- **संयुक्तप्रत्ययनिमित्तम् अद्रव्यं संयोगः।** वह प्रकृति, काल, नित्यविभूति, धर्मभूतज्ञान, जीवात्मा और परमात्मा इन सभी छः द्रव्यों में रहनेवाला सामान्य गुण है। जिस अधिकरण में संयोग रहता है, उसी अधिकरणमें संयोग का अभाव भी रहता है। अपने अभाव के साथ एक अधिकरणमें रहने का हेतु अवच्छेदकभेद (अंशभेद) होता है। एक ही वृक्षमें कपिसंयोग और कपिसंयोगका अभाव रहता है। वृक्षमें शाखाऽवच्छेदेन कपिसंयोग रहता है और मूलाऽवच्छेदेन कपिसंयोगाभाव रहता है। इस प्रकार अवच्छेदकभेदसे दोनों के विद्यमान होने में कोई विरोध नहीं है। यदि दोनों अवच्छेदकभेद के विना एक अधिकरणमें विद्यमान होते तो विरोध होता किन्तु उस प्रकार विद्यमान होना संभव ही नही है। संयोग दो प्रकारका होता है- १.अनित्य संयोग, २.नित्य संयोग।

१.अनित्य संयोग- परिच्छिन्न मूर्त द्रव्यों का संयोग अनित्य होता है। इसी प्रकार परिच्छिन्न मूर्त द्रव्य और अपरिच्छिन्न विभु द्रव्यका संयोग भी अनित्य होता है क्योंकि वह उत्पन्न होता है। यह कार्यरूप संयोग कहीं पर दोनों पदार्थोंमें होनेवाली क्रियाओंसे उत्पन्न होता हैं, जैसे-दो भेड़ों अथवा दो मल्लोंके युद्धमें दोनोंमें होने वाली क्रियाओं से दो भेडों का संयोग अथवा दो मल्लों का संयोग उत्पन्न होता है। कहीं एक द्रव्यमें होने वाली क्रियासे भी संयोग उत्पन्न होता है, जैसे-पक्षी और शिलाका संयोग। यह संयोग एक परिच्छिन्न मूर्त द्रव्य पक्षी में होने वाली क्रियासे जन्य होता है। यद्यपि वैशेषिक विद्वान् संयोगज संयोगको भी मानते हैं। जैसे- हस्तपुस्तकसंयोगसे

कायपुस्तकसंयोग होता है, तथापि उनका यह मत उचित नहीं है क्योंकि वैशेषिकसम्मत हस्तपुस्तकसंयोग हो या कायपुस्तकसंयोग हो। दोनों स्थितियों में यही देखनेमें आता है कि उस समय देहके एक भाग के साथ पुस्तकसंयोग हुआ है। यह तो देखनेमें नहीं आता कि हस्तपुस्तकसंयोग के बाद उससे भिन्न कायपुस्तकसंयोग हुआ है। संयोगजसंयोग के समान विभागजविभागका भी निराकरण जानना चाहिए। विभागका अन्तर्भाव आगे कहा जाएगा।

२.नित्यसंयोग- नित्य विभुद्रव्योंका संयोग नित्य होता है। काल, धर्मभूतज्ञान, जीव और ईश्वर विभु द्रव्य हैं, ईश्वरका विग्रहविशेष भी विभु है। विभु द्रव्योंमें क्रिया नहीं होती है, इसलिए उनका संयोग जन्य नहीं हो सकता है। वह अजन्य अर्थात् नित्य ही होता है। विभु द्रव्योंमें क्रिया का अभाव होनेसे उनका संयोग संभव न होने की शंका उचित नहीं है क्योंकि क्रिया जन्य संयोग का हेतु है। उसके न होनेसे जन्यसंयोग का ही अभाव सिद्ध होता है, नित्यसंयोगका अभाव सिद्ध नहीं होता है। विभुद्रव्य नित्य होनेसे उनका संयोग भी नित्य होता है। भगवान् सर्वव्यापक हैं- **सर्वव्यापी स भगवान्**(श्वे.उ.३.११), नारायण सभी पदार्थों को अन्दर और बाहरसे व्याप्त करके स्थित है- **अन्तर्बहिश्च तत्सर्वं व्याप्य नारायणः स्थितः।**(तै.ना.उ.६४)इत्यादि श्रुतियाँ परमात्माका सभी द्रव्यों के साथ संयोग कहती हैं। विभु परमात्माका सभी द्रव्यों के साथ संयोग कहे जानेसे उनका अन्य विभु द्रव्योंसे भी संयोग सिद्ध होता है। इस प्रकार नित्यसंयोग श्रुतियोंसे सिद्ध है। विभु द्रव्य दूसरे विभु द्रव्यसे संयुक्त है, द्रव्यत्व होनेसे घट के समान- **विभुद्रव्यं विभुद्रव्यसंयोगवत् द्रव्यत्वात् घटवत्।** विभु द्रव्य ईश्वरसे संयुक्त है, द्रव्यत्व होनेसे, घट के समान- **विभुद्रव्यम् ईश्वरसंयुक्तम् द्रव्यत्वात् घटवत्।** ईश्वर कालादिसे संयुक्त है, द्रव्यत्व होनेसे, घट के समान- **ईश्वरः**

कालादिसंयुक्तः द्रव्यत्वात् घटवत् इत्यादि अनुमानों से भी विभु द्रव्योंका संयोग सिद्ध होता है।

शंका– ईश्वरका कालके साथ संयोग मानने पर काल के सम्बन्धसे होनेवाले विकार ईश्वरमें भी मानने होंगे, इसलिए ईश्वर और कालका संयोग नहीं मानना चाहिए।

समाधान– यह शंका उचित नहीं है क्योंकि जो काल ईश्वरके अधीन होकर ही स्वयं विकारोंको प्राप्त करता है, वह ईश्वर में विकार नहीं कर सकता है। ईश्वर काल का जीर्णतारूप परिणाम करते हैं। त्रिपादविभूतिमें श्रीभगवान् ही सब करने में समर्थ हैं, काल समर्थ नहीं है- **कालं स पचते तत्र न कालः तत्र वै प्रभुः**।(म.भा.शां.१६६.९) इन वचनोंसे ईश्वरमें कालके सम्बन्ध से होनेवाले विकारोंका अभाव ही सिद्ध होता है, इसलिए ईश्वरका कालादि के साथ संयोग मानने में कोई बाधक नहीं है।

शक्ति– कारणमें रहनेवाला कार्योत्पत्तिके योग्य धर्मविशेष शक्ति कहलाता है- **हेतुनिष्ठः कार्योत्पादनयोग्यो धर्मविशेषः शक्तिः**। हेतु में विद्यमान कार्योत्पत्तिके योग्य धर्मविशेष कारणता ही है और यह कारणता ही शक्ति है। यह कारणोंके कारणत्वका निर्वाहक धर्म होती है। यह निर्वाहक शक्ति कारणतावच्छेदकरूप अथवा कारणव्यवहारविषयताऽवच्छेदकरूप होती है। कार्योत्पादनमें समर्थ(शक्तियुक्त) होनेसे पदार्थ कारण होता है। शक्ति अद्रव्य है और वह सभी द्रव्यों के आश्रित रहती है। तर्क और शास्त्र प्रमाणसे शक्ति की सिद्धि होती है। दाहक अग्नि और तृणसंयोग आदि सहकारी कारणोंमें न्यूनता न होनेपर भी प्रतिबन्धक चन्द्रकान्त मणि और मन्त्र आदि का सन्निधान होने पर जिसका प्रतिबन्ध होनेसे अग्नि दाह नही करती है, वह शक्ति है। अग्निमें जो

दाहानुकूला(दाहजनक) शक्ति विद्यमान है। वह प्रतिबन्धक मणि आदि से प्रतिबन्धित हो जाती है, इसलिए दाह नहीं होता है। अग्निमें दाह की जनक दाहकत्व शक्ति विद्यमान है। इस प्रकार तर्क से शक्ति सिद्ध होती है। जलमें क्लेदन शक्ति है। अयस्कान्त(चुम्बक) में आकर्षण करने की शक्ति है। भगवान् में अचिन्त्य नाना प्रकारकी शक्तियाँ हैं। भगवान्‌की पराशक्ति विविध प्रकारकी सुनी जाती है जो कि स्वाभाविक है- **परास्य शक्तिर्विविधैव श्रूयते स्वाभाविकी।**(श्वे.उ.६.८)सभी पदार्थों की स्वाभाविक शक्तियाँ तर्कसे अचिन्त्य और दिव्य ज्ञानका विषय होती हैं, इसलिए परब्रह्मकी जगत्सृजन आदि की निमित्त शक्तियाँ स्वाभाविक होती हैं। हे तपस्विश्रेष्ठ! जैसे अग्निकी उष्णता प्रमाणसिद्ध होती है, वैसे परब्रह्मकी शक्तियाँ भी प्रमाणसिद्ध होती हैं- **शक्तयः सर्वभावानाम् अचिन्त्यज्ञानगोचराः। यतोऽतो ब्रह्मणस्तास्तु सर्गाद्या भावशक्तयः। भवन्ति तपतां श्रेष्ठ पावकस्य यथोष्णता।।**(वि.पु.१.३.२)

शंका- शब्द अर्थके बोधक होते हैं, इसलिए शब्दमें अर्थबोधकत्व शक्ति स्वीकार करनी चाहिए। शब्द में शक्ति गुण स्वीकार करनेपर गुण का आश्रय होने से उसे द्रव्य मानना होगा, इसलिए शब्द अद्रव्य नहीं हो सकता है।

समाधान- शब्दमें अतिरिक्त शक्ति स्वीकार नहीं की जाती है। शब्द स्वरूपतः ही अर्थका बोधक होता है। अर्थका बोध कराने में व्याकरण आदि सहकारी कारण होते हैं, इसलिए शब्दमें अतिरिक्त शक्ति गुण स्वीकार करनेकी आवश्यकता ही नहीं होती है। यह विषय तत्त्वमुक्ताकलाप ग्रन्थके अद्रव्यसर-१००में तथा उसकी सर्वार्थसिद्धि और अलभ्यलाभ व्याख्या में स्पष्ट है। इस प्रकार शब्दके द्रव्य होनेकी शंका निरस्त हो जाती है।

शंका- १.महर्षि पराशरने कहा है कि मुक्तात्मा विष्णुकी पराशक्ति है, बद्धात्मा अपरा शक्ति है और कर्मनामवाली अविद्या तीसरी शक्ति मानी जाती है- **विष्णुशक्तिः परा प्रोक्ता क्षेत्रज्ञाख्या तथापरा। अविद्या कर्मसंज्ञान्या तृतीया शक्तिरिष्यते।।**(वि.पु.६.७.६१)। २.हे श्रेष्ठ तपस्वी! जीवात्मा अपनी कर्मरूप शक्तिसे देव, मनुष्य आदि शरीरोंको प्राप्त करता है- **नीयते तपतां श्रेष्ठ स्वशक्त्या वस्तु वस्तुताम्।**(वि.पु.१.४.५२) इस पुराणवचन की व्याख्या में **स्वशक्त्या- स्वकर्मणैव** (श्रीभा.२.१.३४) इस प्रकार श्रीभाष्यकारने सहकारी कारण पुण्यपापात्मक कर्मों को जीवकी शक्ति कहा है। ३.ब्रह्मविद्या सञ्चित पापकर्मों को नष्ट करती है अर्थात् उन पापोंसे उत्पन्न शक्ति को नष्ट करती है। पाप कर्मोंसे होनेवाली परमपुरुषकी अप्रीति ही शक्ति है- **अघस्य विनाशकरणम् उत्पन्नायाः तच्छक्तेः विनाशकरणम्।**(श्रीभा.४.१.१३) इस प्रकार श्रीभाष्यकारने भगवान् की प्रीति और अप्रीतिको कर्म की शक्ति कहा है। इस अद्रव्य प्रकरणमें शक्ति अद्रव्य कही गयी है किन्तु शक्ति को द्रव्य बतानेवाले उक्त वचनों की क्या संगति होगी?

समाधान- शक्ति अद्रव्य ही है। शक्ति को द्रव्य बतानेवाले वचन औपचारिक हैं। १.मुक्तात्मा, बद्धात्मा और अविद्या परमात्माके अधीन हैं, इसलिए इनको उक्त विष्णुपुराण(६.७.६१)वचनमें परमात्माकी शक्ति कहा गया है। २.परमात्मा की प्रेरणा से किये जानेवाले कर्मो का जीव ही कर्ता होता है, इसलिए कर्म की उत्पत्ति जीवके अधीन होती है, अतः उक्त विष्णुपुराण(१.४.५२)वचनमें कर्मोंको जीवकी शक्ति कहा गया है। ३.जीव के प्रति भगवान् की प्रीति और अप्रीति उसके कर्मों के अधीन होती है, इसलिए उक्त श्रीभाष्य(४.१.१३)वचनमें भगवानकी प्रीति और अप्रीतिको कर्मकी

शक्ति कहा गया है। इस प्रकार उपचार से उक्त शास्त्रवचनों की संगति हो जाती है।

जगज्जननी श्री भगवान् के अधीन हैं, इसलिए कहीं पर उपचारसे श्रीको भी भगवान् की शक्ति कह दिया जाता है। इसी प्रकार शक्ति और शक्तिमान् में अभेद को आरोपित कर कहीं पर शक्तिमान् परब्रह्मको भी शक्ति कह दिया जाता है। इस प्रकार दश अद्रव्यों का निरूपण सम्पन्न होता है।

परमतमें बुद्धि (ज्ञान), सुख, दुःख, इच्छा और प्रयत्न ये जीवात्मा के गुण माने जाते हैं। सिद्धान्त मतमें धर्मभूतज्ञान ही भिन्न-भिन्न कर्मरूप उपाधियोंके कारण बुद्धि, सुख, दुःख आदि रूपों को धारण करता है। इसलिए इन ६ गुणों का अन्तर्भाव धर्मभूतज्ञानमें हो जाता है। जीवका धर्म जीवके प्रति ईश्वरकी प्रीति है और जीव का अधर्म उसके प्रति ईश्वर की अप्रीति है। ईश्वरका ज्ञान ही प्रीति और अप्रीति रूपवाला होता है। इस प्रकार धर्माधर्म का ईश्वर के धर्मभूतज्ञानमें अन्तर्भाव हो जाता है। इन गुणोंका अन्तर्भाव धर्मभूतज्ञानविवेचनमें निरूपित है। ज्ञानसे जन्य संस्कार होते हैं। ये धर्मभूत ज्ञानके रूपविशेष हैं, इसलिए इन भावना नामक संस्कारों का धर्मभूतज्ञानमें अन्तर्भाव हो जाता है। वैशेषिक मतमें वेगका जनक कर्म माना जाता है। कर्मसे ही वेग के दूरगमन आदि कार्यो का निर्वाह हो जाता है, इसलिए वेग नामक अतिरिक्त संस्कार स्वीकार करने की अवश्यकता नहीं होती है। अन्य स्थितिमें की गई वस्तुको पुनः पूर्वस्थितिकी प्राप्ति कराने वाला संस्कार स्थितिस्थापक कहलाता है। वैशेषिक विद्वान् इसे अतिरिक्तगुण स्वीकार करते हैं। जैसे- वृक्ष की शाखा और धनुष आदि को खींचने पर जो कारण उसे पूर्वस्थिति की प्राप्ति व रा देता है, वह कारण स्थितिस्थापक संस्कार कहलाता है। विलक्षण अवयवसन्निवेश

से विशिष्ट जिस पदार्थमें स्थितिस्थापकनामक संस्कार माना जाता है। उस पदार्थ में विद्यमान अवयवसन्निवेशसे ही उक्त कार्य का निर्वाह सम्भव है। उसके लिए अतिरिक्त स्थितिस्थापक संस्कारको स्वीकार करना व्यर्थ है।

शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध ये पाँच अद्रव्य प्रत्यक्ष प्रमाणसे सिद्ध हैं। ये वेदान्त सिद्धान्त में स्वीकार किये जाते हैं। संयोग के विना पदार्थों के स्थित होने पर 'वे पृथक् स्थित हैं और विभक्त(विभागसे युक्त होकर) स्थित हैं।' इस प्रकार संयोग के अभाववाले पदार्थों की प्रतीति होती है और व्यवहार होता है। इस कारण विभाग और पृथक्त्व गुण संयोगाभावरूप ही सिद्ध होते हैं। उन्हें भिन्न गुण स्वीकार करना अपेक्षित नही हैं। विप्रकृष्टदेशसंयोग और विप्रकृष्टकालसंयोग ही परत्व है तथा सन्निकृष्टदेशसंयोग और सन्निकृष्टकालसंयोग ही अपरत्व है, अतः संयोगसे भिन्न परत्वापरत्व गुण स्वीकार करना अपेक्षित नहीं है।

वैशेषिक मतमें एकत्व संख्या के दो भेद हैं- कार्य और नित्य। कारण अवयवगत एकत्व से कार्य अवयवीमें जो एकत्व उत्पन्न होता है, वह कार्य एकत्व कहा जाता है किन्तु वेदान्तमतानुसार कार्य एकत्व होता ही नहीं है क्योंकि विलक्षण सन्निवेशसे विशिष्ट अवयवसमुदायसे अतिरिक्त कार्य अवयवी होता ही नहीं है, इसलिए कार्य एकत्व माननेकी आवश्यकता ही नहीं होती है। घट और पटमें जो एंकत्व माना जाता है, वह समुदायमें रहनेवाला एकत्व है। विलक्षण सन्निवेशवाले मृत्कणों का समुदाय ही घट है एवं विलक्षण संन्निवेशवाले तन्तुओंका समुदाय ही पट है। जिस प्रकार एक स्थानमें रहनेवाले धान्योंकी राशिमें एकत्व व्यवहार होता है, उसी प्रकार घट और पट इत्यादि समुदायमें भी एकत्व व्यवहार होता है। वैशेषिक राशिको अवयवी द्रव्य नहीं मानते हैं।

उसमें व्यवहार किये जानेवाले एकत्वको औपचारिक ही मानते हैं। इसी प्रकार घटपटादिगत एकत्वको भी औपचारिक ही मानना चाहिए। नित्य एकत्व भी अतिरिक्त नहीं है। वह भेदाभावरूप है। ऐसा निर्विशेषाद्वैती आचार्य मानते हैं। वह स्वसत्त्वरूप (तद्व्यक्तितत्वरूप) है, ऐसा सविशेषाद्वैती आचार्य मानते हैं क्योंकि इतरका सद्भाव होने पर भी एकत्व रहता है। वह ज्ञानविशेषविषयतारूप ही है, अतिरिक्त नहीं है। द्वित्व आदि संख्याएं अपेक्षाबुद्धिविशेषविषयतारूप हैं अर्थात् विषयतासम्बन्धसे विषयमें रहनेवाली अपेक्षाबुद्धिविशेष ही द्वित्व आदि हैं। अपेक्षाबुद्धिविशेषके होने पर ही द्वित्व आदि व्यवहार होता है और न होने पर द्वित्वादि व्यवहार नहीं होता है, इसलिए द्वित्वादिसंख्याको अतिरिक्त स्वीकार करनेकी अवश्यकता नहीं होती है। वैशेषिक विद्वान् जिस अपेक्षाबुद्धिसे पदार्थोंमें द्वित्वादि संख्याकी उत्पत्ति मानते है, वेदान्ती उस अपेक्षाबुद्धिको ही द्वित्वादि संख्या मानते हैं। उससे द्वित्वादिकी उत्पत्ति नहीं मानते क्योंकि ज्ञान बाह्य वस्तुको केवल प्रकाशित कर सकता है, उसमें द्वित्वादिकी उत्पत्ति नहीं कर सकता है। द्वित्वादिरूप अपेक्षाबुद्धि स्वयंप्रकाश होनेसे द्वित्वादिविषयक ज्ञानरूप भी होती है। वैशेषिकमतमें अपेक्षाबुद्धिसे द्वित्वादि और द्वित्वादिसे द्वित्वादिविषयक व्यवहार माना जाता है किन्तु वेदान्तमतमें अपेक्षाबुद्धिसे ही द्वित्वादिविषयक व्यवहार माना जाता है। मध्यमें द्वित्वादिकी उत्पत्ति नहीं मानी जाती है। वैशेषिक विद्वान् अपेक्षाबुद्धिके नाशसे द्वित्वादि संख्याका नाश मानते हैं, वह उचित नहीं है क्योंकि उनके मतानुसार अपेक्षाबुद्धि द्वित्वादिका निमित्तकारण है, निमित्तकारणके नाशसे कार्यका नाश नहीं होता है। जैसे निमित्तकारण दण्डके नाशसे घट कार्यका नाश नहीं होता है, वैसे ही अपेक्षा बुद्धिके नाशसे द्वित्वादिका नाश नहीं हो सकता है

इत्यादि दोषोंके कारण संख्याके विषयमें वैशेषिकमत युक्तियुक्त प्रतीत नहीं होता है। प्रत्येक द्रव्य किसी न किसी देशको व्याप्त करके रहता है। इस प्रकार प्रत्येक द्रव्यकी जो देशव्याप्तिविशेष है, वही परिणाम है, गुणान्तर नहीं है। जलमें विद्यमान अवयवसन्निवेशविशेष ही द्रवत्व है, अतिरिक्त गुण नहीं है। वैशेषिक विद्वान् पिण्डीभावका हेतु स्नेह गुण स्वीकार करते हैं, वह उचित नहीं है क्योंकि जलस्वरूप ही सहकारिकारण के होने पर पिण्डीभावका हेतु होता है। जलस्वरूपसे अतिरिक्त स्नेह गुण स्वीकार करनेकी आवश्यकता नहीं होती है। पतनका कारण शक्तिविशेष ही गुरुत्व है, वह अतिरिक्त गुण नहीं है। इस प्रकार दश गुणोंमें ही अन्य गुण अन्तर्भूत होनेसे दश गुण स्वीकार करना ही उचित है।

वैशेषिक मतावलम्बी प्रामाणिक सत्त्वादि गुणोंका परित्याग करते हैं और अप्रामाणिक अन्यथासिद्ध गुणोंका भिन्नत्वेन वर्णन करते हैं, इसलिए उनकी गुणपरिगणना शास्त्रप्रमाणावलम्बी विद्वानोंके हृदयको स्पर्श नहीं करती है ।

इति ।।

प्रभू सीतारामौ कनकभवने शोभिततनू
विराजेते प्रेष्ठौ त्रिभुवनवशौ पादयुगयोः।
सरोजाक्षौ श्रेष्ठौ प्रमुदितमृगाङ्काभयुतयोः,
तयोर्मालेयं वाङ्मनसरचिता यातु शुभयोः।।१।
कनकभुवनाधीशः, सीतया सह राजते।
समर्पिता कृती रम्या, तयोः पादारविन्दयोः।।२।।

परिशिष्ट

१.संकेताक्षरानुक्रमणिका

१ -	अ.को.	अमरकोषः
२ -	अ.शि.उ.	अथर्वशिखोपनिषत्
३ -	अ.सं.	अथर्ववेदसंहिता
४ -	अ.सू.	अष्टाध्यायीसूत्रम्
५ -	आ.भा.	आनन्दभाष्यम्
६ -	इ.सि.मं	इष्टसिद्धिमङ्गलाचरणम्
७ -	ई.उ.	ईशावास्योपनिषत्
८ -	उ.मी.	उत्तरमीमांसा
९ -	उ.रा.च.	उत्तररामचरितम्
१० -	उ.सू.	उणादिसूत्रम्
११ -	ऋ.सं	ऋग्वेदसंहिता
१२ -	ऐ.आ.	ऐतरेय-आरण्यकम्
१३ -	ऐ.उ.	ऐतरेयोपनिषत्
१४ -	ऐ.उ.आ.भा.	ऐतरेयोपनिषद्-आनन्दभाष्यम्
१५ -	ऐ.उ.भा.प.	ऐतरेयोपनिषद्-भाष्यपरिष्कारः
१६ -	क.उ.	कठोपनिषत्
१७ -	कू.पु.उ.	कूर्मपुराण-उपरिविभागः
१८ -	कू.पु.पू.	कूर्मपुराण-पूर्वविभागः
१९ -	कौ.उ.	कौषीतकी-उपनिषत्
२० -	ग.उ.	गर्भोपनिषत्
२१ -	ग.पु.	गरुडपुराणम्

२२ - ग.पू.उ. गणेशपूर्वतापनीयोपनिषत्
२३ - गी. गीता (श्रीमद्भगवद्गीता)
२४ - गी.ता.नि. गीतातात्पर्यनिर्णय
२५ - गी.रा.भा. गीता-रामानुजभाष्यम्
२६ - चि.उ. चित्युपनिषत्
२७ - छां.उ. छान्दोग्योपनिषत्
२८ - तं.वा. तन्त्रवार्तिकम्
२९ - त.चि. तत्त्वचिन्तामणिः
३० - त.मु.क.आ. तत्त्वमुक्ताकलाप-आनन्ददायिनी व्याख्या
३१ - त.मु.क.जी. तत्त्वमुक्ताकलाप-जीवसरः
३२ - त.मु.क.स. तत्त्वमुक्ताकलाप-सर्वार्थसिद्धिव्याख्या
३३ - त.मु.क.सर्व. तत्त्वमुक्तकलाप-सर्वङ्कषाव्याख्या
३४ - ता.दी. तात्पर्यदीपिका(वेदार्थसंग्रहस्य व्याख्या)
३५ - तै.आ. तैत्तिरीय-आरण्यकम्
३६ - तै.उ. तैत्तिरीयोपनिषत्
३७ - तै.ना.उ. तैत्तिरीयनारायणोपनिषत्(महानारायणोपनिषत्)
३८ - तै.ब्रा. तैत्तिरीय-ब्राह्मणम्
३९ - तै.सं. तैत्तिरीय-संहिता
४० - द्र.भा. द्रमिडभाष्यम्
४१ - नि. निरुक्तम्
४२ - नि.ध. निघन्टु-धर्मवर्गः
४३ - न्या.त.प्र. न्यायतत्त्वप्रकाशिका (न्यायपरिशुद्धेः व्याख्या)
४४ - न्या.प. न्यायपरिशुद्धिः
४५ - न्या.मं. न्यायमञ्जरी

४६ - न्या.सि. न्यायसिद्धाञ्जनम्

४७ - न्या.सि.ई.र.

न्यायसिद्धाञ्जन-ईश्वरपरिच्छेद-रत्नपेटिकाव्याख्या

४८ - न्या.सि.ज. न्यायसिद्धाञ्जन-जड़द्रव्यपरिच्छेदः

४६ - न्या.सू. न्यायसूत्रम्

५० - पा.पं. पाञ्चरात्र-पद्मसंहिता

५१ - पू.मी. पूर्वमीमांसा

५२ - पौ.सं पौलस्त्य-संहिता

५३ - प्र.उ. प्रश्नोपनिषत्

५४ - बृ.उ. बृहदारण्यकोपनिषत्

५५ - बृ.उ.आ.भा. बृहदारण्यकोपनिषद्-आनन्दभाष्यम्

५६ - बृ.उ.मा.पा. बृहदारण्यकोपनिषद्-माध्यन्दिन पाठः

५७ - बृ.उ.रं.भा. बृहदारण्यकोपनिषद्-रङ्गरामानुजभाष्यम्

५८ - बो.वृ. बोधायनवृत्तिः

५६ - ब्र.उ. ब्रह्मोपनिषत्

६० - ब्र.नं.वा. ब्रह्मनन्दिवाक्यम्

६१ - ब्र.पु.उ. ब्रह्माण्डपुराण-उत्तरार्धः

६२ - ब्र.वै.पु. ब्रह्मवैवर्तपुराणम्

६३ - ब्र.सू. ब्रह्मसूत्रम्

६४ - ब्र.सू.आ.भा. ब्रह्मसूत्र-आनन्दभाष्यम्

६५ - ब्र.सू.भा. ब्रह्मसूत्रभाष्यम्

६६ - ब्र.सू.भा.भा. ब्रह्मसूत्रभास्करभाष्यम्

६७ - ब्र.सू.शां.भा. ब्रह्मसूत्रशांकरभाष्यम्

६८ – भा.	भागवतम्(श्रीमद्भागवतम्)
६९ – भा.द.	भाष्यार्थदर्पणम् (श्रीभाष्यस्य व्याख्या)
७० – भा.प्र.	भावप्रकाशिका (श्रुतप्रकाशिकायाः व्याख्या)
७१ – मं. उ.	मन्त्रिकोपनिषत्
७२ – म.भा.	महाभारतम्
७३ – म.भा.शां.	महाभारतशान्तिपर्व
७४ – महा.	महाभाष्यम्
७५ – महा.प्र.	महाभाष्य–प्रदीपव्याख्या
७६ – मा.उ.	माण्डूक्योनिषत्
७७ – मा.का.अला.	माण्डूक्यकारिका–अलातशान्तिप्रकरणम्
७८ – मा.का.वै.	माण्डूक्यकारिका–वैतथ्यप्रकरणम्
७९ – मी.शा.भा.	मीमांसा–शाबरभाष्यम्
८० – मी.सू.	मीमांसासूत्रम्
८१ – मु.उ.	मुण्डकोपनिषत्
८२ – य.सं.	यजुर्वेदसंहिता
८३ – यो.सू.	योगसूत्रम्
८४ – रा.च.मा.	रामचरितमानस
८५ – रा.टी.	रामायणशिरोमणिटीका (वाल्मीकिरामायणस्य)
८६ – रा.मो.उ.	रामोत्तरतापनीयोपनिषत्
८७ – र.ब्रा.	रहस्याम्नायब्राह्मणम्
८८ – लं.	लङ्कावतारः
८९ – ल.तं.	लक्ष्मीतन्त्रम्
९० – लि.पु.	लिङ्गपुराणम्
९१ – व.उ.	वराहोपनिषत्

९२ - व. पु. वराहपुराणम्
९३ - वा.प. वाक्यपदीयम्
९४ - वा.पु.पू. वायुपुराण-पूर्वार्द्धः
९५ - वा.सं वाजसनेयी संहिता(यजुर्वेदीया)
९६ - वा.रा. वाल्मीकिरामायणम्
९७ - वि.ध. विष्णुधर्मोत्तरपुराणम्
९८ - वि.पु. विष्णुपुराणम्
९९ - वि.सं विष्वक्सेनसंहिता
१०० - वि.स.ना. विष्णुसहस्रनामस्तोत्रम्
१०१ - वी.रा. वीरराघवीय-भागवतव्याख्यानम्
१०२ - वे.प. वेदान्तपरिभाषा
१०३ - वे.सं. वेदार्थसंग्रहः
१०४ - वे.सं.चं.ति. वेदार्थसंग्रहस्य-चन्द्रिकातिलकव्याख्या
१०५ - वे.स्य. वेदान्तस्यमन्तकः
१०६ - वै.द. वैशेषिकदर्शनम्
१०७ - व्या.स्मृ. व्यासस्मृतिः
१०८ - व्यु.वा.तृ.का. व्युत्पत्तिवाद-तृतीयाकारकः
१०९ - श.ग. शरणागतिगद्यम्
११० - श.ब्रा. शतपथब्राह्मणम्
१११ - शां.उ. शाडिल्योपनिषत्
११२ - श्रु.प्र. श्रुतप्रकाशिका(श्रीभाष्यस्य व्याख्या)
११३ - श्रौ.प्र.च. श्रौतप्रमेयचन्द्रिका
११४ - श्वे.उ. श्वेताश्वेतरोपनिषत्

११५ = स.शा. [illegible]

११६ = स.सं. सदाशिवसंहिता

११७ = सां.प्र.भा. सांख्यप्रवचनभाष्यम्

११८ = सा.सं सात्वतसंहिता

११९ = सि.त्र. सिद्धित्रयम्

१२० = सि.सि. सिद्धान्तसिद्धाञ्जनम्

१२१ = सु.उ सुबालोपनिषत्

१२२ = सु.वा. सुरेश्वरवार्तिकम्

१२३ = स्क.पु. स्कन्दपुराणम्

अथ य एषोऽन्तरादित्ये	(छां.उ.१.६.६-७)	५६६
अथ यदा सुषुप्तो भवति	(बृ.उ.२.१.१६)	२३१
अथ यो दक्षिणे	(तै.ना.उ.१५०)	२८४
अथ योऽन्यां देवताम् उपास्ते	(बृ.उ.१.४.१०)	२६८
अथ यो वेदेदं जिघ्राणीति स	(छां.उ.८.१२.४)	१०६,१३१
अथ यो ह वा अस्माल्लोकात्	(बृ.उ.१.४.१५)	२४६
अथवा बहुनैतेन किं ज्ञातेन	(गी.१०.४२)	३६७
अथ स्वप्ने पुरुषं कृष्णं	(ऐ.आ.उ.३.२.४)	२२५
अथ सोऽभयं गतो भवति	(तै. उ.२.७.२)	१६५
अथात् आत्मादेशः	(छां.उ.७.२५.२)	३६०
अथात आदेशो नेति नेति	(बृ.उ.२.३.६)	३६२,३६३
अथातो ब्रह्म जिज्ञासा	(ब्र.सू.१.१.१)	४०६
अथातोऽहंकारादेशः	(छां.उ.७.२५.१)	१८,३६०
अथेमा दश नाड्यो भवन्ति	(सु.उ.४.३)	२२,२३५
अथैतयोः पथोर्न कतरेणचन	(छां.उ.५.१०.८)	२११
अद्रव्यं द्रव्याद् अन्त्यन्तभिन्नम्	(त.मु.क.५.२.)	६७६
अधर्मं धर्ममिति या मन्यते	(गी.१८.३२)	६२०
अधिकं तु भेदनिर्देशात्	(ब्र.सू.२.१.२२)	१८५
अधिष्टानं तथा कर्ता करणं	(गी.१८.१४-१६)	१४४
अधीहि भगवो ब्रह्मेति	(तै.उ.३.१.१)	३५४
अधो निष्ट्या वितस्त्यां तु	(तै.ना.उ.६.७)	१५७
अध्यात्मयोगाधिगमेन देवं	(क.उ.१.२.१२)	२५७
अनन्तवीर्यम्	(गी.११.१६)	६२६
अनभिसंहितफलकर्मणां हि	(श्रु.प्र.२.१.१)	३६२
अनात्मनि आत्मबुद्धिः	(भा.प्र.१.१.२)	४०२
अनाद्यनन्तमव्यक्तं नित्यं	(भा.१२.४.१६)	६०
अनादिनिधनं ब्रह्म शब्दतत्त्वं	(वा.प.१.१)	४८३
अनादिर्भगवान् कालः	(वि.पु.१.२.२६)	६३,६४,६६

अनावृत्तिः शब्दाद् अनावृत्तिः	(ब्र.सू.४.४.२२)	२६१,३००
अनुप्रविश्य नामरूपे व्याकर..	(छां.उ.६.३.२)	४२८
अनु म एतां भगवो देवतां	(छां.उ.४.२.२)	२४६
अनुविद्य विजानाति	(छां.उ.८.१२.६)	२४४,२४५
अनृतेन हि प्रत्यूढाः	(छां.उ.८.३.२)	५१०,५३४
अनेन जीवेनात्मनाऽनुप्रविश्य	(छा.उ.६.३.२)	४२,४४०,५३८
अन्तराभूतग्रामवत्	(ब्र.सू.३.३.३५)	६१२
अन्तर्बहिश्च तत्सर्वं व्याप्य	(तै.ना.उ.६४)	४२२,४६६,६६३
अन्तवन्त इमे देहा नित्यस्योक्ता	(गी.२.१८)	१६७
अन्तःप्रविष्टः शास्ता जनानां	(तै.आ.३.११.३)	५,१५०,१५३,१८४, ४२०,४४०,४६५,५०४
अन्तस्तद्धर्मोपदेशात्	(ब्र.सू.१.१.२१)	५६७,५६८
अन्ते विश्वमाया निवृत्तिः	(श्वे.उ.१.१०)	६०
अन्नमयं हि सोम्य मनः	(छां.उ.६.५.४)	३३
अन्नमशितं त्रेधा विधीयते	(छां.उ.६.५.१)	३३
अन्यत्रमना अभूवन्नादर्शम..	(बृ.उ.१.५.३)	६२,६१२
अन्यमीशम्	(श्वे.उ.४.७)	१८५
अन्यार्थश्च परामर्शः	(ब्र.सू.१.३.१६)	२५७
अपच्छेदाधिकरण	(६.५.१६)	३०७
अपरे तु वादिनः पारमार्थिक..	(ब्र.सू.शां.भा.१.३.१६)	१८४
अपरे तु सुषुप्तिर्हि ज्ञाना..	(त.मु.क.जी.आ.६)	१२६
अपहतपाप्मा	(छां.उ.८.१.५)	३११
अपाणिपादः	(श्वे.उ.३.१६)	५६५
अपीतौ तद्वत्प्रसङ्गात्	(ब्र.सू.२.१.८)	४८०
अपृथक्सिद्धिसंबन्ध....	(न्या.सि.ई.र.)	२६७
अप्रकाशोऽप्रवृत्तिश्च	(गी.१४.१३)	६८३
अभावं बादरि	(ब्र.सू.४.४.१०)	५६१
अभावप्रत्ययालम्बनावृत्तिर्निद्रा	(यो.सू.१.१०)	६१३

अयथावत्प्रजानाति बुद्धिः	(गी.१८.३१)	६२०
अयमात्मानन्तरोऽबाह्यः कृत्स्नः	(बृ.उ.४.५.१३)	१२२
अयमात्मा ब्रह्म	(मा.उ.१.२)	१६५
अरुणाधिकरणन्याय	(पू.मी.३.१.६)	४५८
अर्शआदिभ्योऽच्	(अ.सू.५.२.१२७)	३२५,३८१
अलौकिकश्रेयस्साधनं धर्मः	(श्रु.प्र.)	२३७
अवस्थाश्रय उपादानम्	(न्या.सि.)	८
अविकाराय शुद्धाय	(वि.पु.१.२.१)	३४१
अविद्या कर्मसंज्ञाऽन्या	(वि.पु.६.७.६१-६३)	२६४,५२२ ६०५
अविनाशि तु तद्विद्धि येन	(गी.२.१७)	१६७
अविनाशी वाऽरे अयमात्मा	(बृ.उ.४.५.१४)	११२,१६७,५६५
अविभागेन दृष्टत्वात्	(ब्र.सू.४.४.४)	१६३
अव्यक्तमक्षरे लीयते	(सु.उ.२)	५३६
अशरीरं वाव सन्तं न प्रियाप्रिये	(छां.उ.८.१२.१)	५६१
अष्टचक्रा नवद्वारा देवानां	(अ.सं१०.२.३१)	५५०
अष्टौ प्रकृतयः षोडशविकाराः	(ग.उ.३)	२०
असङ्गो ह्ययं पुरुषः	(बृ.उ.४.३.१५)	१४७
असद्व्यपदेशान्नेति चेन्न	(ब्र.सू.२.१.१८)	६३३
असदिति चेन्न प्रतिषेधमात्रत्वात्	(ब्र.सू.२.१.७)	४८०
अस्तिधातोः सत्ता ह्यर्थः तेनेदं	(श्रु.प्र.४.१.३)	४५२
अस्थूलमनण्वह्रस्वमदीर्घम्	(बृ.उ.३.८.७)	६६,४००
अस्मान् मायी सृजते	(श्वे.उ.४.९)	१५,१८५,३६४,५३७
अस्य महतो भूतस्य	(बृ.उ.२.४.१०)	६६४
अस्य लोकस्य सर्वावतो	(बृ.उ.४.३.९)	२२५
अस्येशाना जगतः विष्णुपत्नी	(तै.सं.४.४.१२)	५००
अहंकारं बलं दर्पम्	(गी.१६.१८)	१९
अहं कृत्स्नस्य जगतः प्रभवः	(गी.७.६)	१३१

अहं बीजप्रदः पिता	(गी.१४.७)	१३२
अहंशुभयोर्युस	(अ.सू.५.२.१४०)	१६
अहं सर्वस्य प्रभवो मत्तः	(गी.१०.८)	१३१
अहं हि सर्वयज्ञानां भोक्ता	(गी.९.२४)	१६४,३९१,६१७
अहमन्नम् अहमन्नादः	(तै.उ.३.१०.६)	१३१
अहमात्मा गुडाकेश	(गी.१०.२०)	१३१,१९७,१९८,३८६
अहमिमास्तिस्रो देवता	(छां.उ.६.३.२)	३४६
अहमेवाक्षयः कालः	(गी.१०.३३)	६३,६४
आकाशस्य त्रिवृत्करणोपदेश...	(श्री२.२.२३)	३६
आकाशाद्वायुम्, वायुर्भूत्वा	(छा.उ.५.१०.५-६)	२१०
आकृत्यधिकरणन्याय	(पू.मी.१.३.११)	११७
आगन्तुकोऽपृथक्सिद्ध	(श्रौ.प्र.च.)	८
आत्मकृतेः	(ब्र.सू.१.४.२६)	३६१,४७७,४८१
आत्मज्ञानं विना परमात्मज्ञान...	(गी.ता.नि.)	२५७
आत्मन आकाशः सम्भूतः	(तै.उ.२.१.१)	६१,४२१
आत्मशब्दः न व्याप्तृमात्रवाची	(श्रु.प्र.१.३.१)	४२१
आत्मनि चैवं विचित्राश्च हि	(ब्र.सू.२.१.२८)	४८२
आत्मा ज्ञानानन्दमयोऽमलः	(वि.पु.६.७.२२)	७५,२९०
आत्माधिकरण	(ब्र.सू.२.३.३)	४८१
आत्मानं चेद् विजानीयादयम..	(बृ.उ.४.४.१२)	१३१
आत्मानमेव लोकम् उपासीत	(बृ.उ.१.४.१५)	२४४
आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः	(बृ.उ.२.४.५,४.५.६)	२४४,२४६, २७२
आत्मा वा इदमेक एवाग्र	(ऐ.उ.१.१)	३३४,४२१
आत्मारामाश्च मुनयो निर्ग्रन्थाः	(भा.१.७.१०)	२५७
आत्मा हि नाम शरीरस्य	(गी.रा.भा.१०.२०)	१९८
आत्मेति तूपगच्छन्ति ग्राह्यन्ति	(ब्र.सू.४.१.३)	२६९
आत्मेत्येवोपासीत	(बृ.उ.१.४.७)	२६९

आत्मौपम्येन सर्वत्र समं	(गी.६.३२)	१८०
आत्यन्तिकस्तु मोक्षाख्यः	(वि.पु.६.३.२)	७२
आदत्ते वा सर्वम् इति	(ऐ.उ.आ.भा.१.१)	४१६
आनन्दं ब्रह्मणो विद्वान् न	(तै.उ.२.६.१)	३८६,४१०
आनन्दत्वम् स्वानुकूलत्वम्	(श्रु.प्र.१.१.२)	४०८
आनन्दमयोऽभ्यासात्	(ब्र.सू.१.१.१२)	३००
आनन्दो ब्रह्म	(तै.उ.३.६)	२७६,३८८
आनुकूल्यस्य संकल्पः	(अ.सं.)	२७४
आपः पीतास्त्रेधा विधीयन्ते	(छां.उ.६.५.२)	२८
आप्नोति व्याप्नोति सर्वम्	(ऐ.उ.आ.भा.१.१)	४१६
आप्याय्यन्ते च ते नित्यं	(म.भा.शा.१८४.४३)	२६
आप्रयाणात् तत्रापि हि	(ब्र.सू.४.१.१२)	२५५
आपोमयः प्राणः	(छां.उ.६.५.४)	२८
आभूतसंप्लवं स्थानम् अमृतत्वं	(वि.पु.२.८.६५)	२४०
आरभ्यते=आलभ्यते=स्पृश्यते	(श्रीभा.२.१.१५)	३१८
आरम्भणाधिकरण	(ब्र.सू.२.१.६)	४२६,४७८
आराग्रमात्रो ह्यवरोऽपि दृष्टः	(श्वे.उ.५.८)	१५६,१६०
आवृतं ज्ञानमेतेन	(गी.३.३६)	६०५
आवृत्तिरसकृद् उपदेशात्	(ब्र.सू.४.१.१)	६२७
आसीनः सम्भवात्	(ब्र.सू.४.१.७)	६२७
आहारशुद्धौ सत्त्वशुद्धिः	(छां.उ.७.२६.२)	२४७,२५६
ओमित्येव ध्यायथ आत्मानम्	(मु.उ.२.२.६)	२४४
औपनिषदं पुरुषं पृच्छामि	(बृ.उ.३.६.२६)	४०६
इच्छागृहीताभिमतोरुदेहः	(वि.पु.६.५.८४)	५७३
इच्छा द्वेषः सुखं दुःखं	(गी.१३.६)	६१३
इति संकर्षे वक्ष्यते	(मी.भा.१०.४.३२,१२.२.११)	६६६
इति संचिन्त्य भगवान्	(भा.१०.२८.१४)	५५४
इदं ज्ञानमुपाश्रित्य मम	(गी.१४.२)	१७६,१८६

इन्द्रियाणां तु सर्वेषां यद्येकं	(म.स्मृ.२.९९)	६०५
इन्द्रियाणां व्युपरमे	(म.भा.शां.२७५.२४)	२२१
इन्द्रियाणि मनो बुद्धिः सत्त्वं	(वि.स.ना.१३६)	२८८
इन्द्रो मायाभिः पुरुरूप ईयते	(बृ.उ.२.५.१९)	३६१,४२६,५३७
इष्टापूर्तं बहुधा जातं जायमानं	(तै.ना.उ.६)	३९१
इहैकस्थं जगत् कृत्स्नं पश्याद्य	(गी.११.७)	३९८
इहैव तैर्जितः सर्गो येषां साम्ये	(गी.५.१९)	१८०
ईश्वरोऽहम्	(गी.१६.१४)	५०३
ईशानो भूतभव्यस्य	(क.उ.१.१.१२)	५००
ईशावास्यम्	(ई.उ.१)	५
उणादयो बहुलम्	(अ.सू.३.३.१)	४१९
उत तमा देशमप्राक्ष्यः	(छां.६.१.३)	३२५
उत्तमः पुरुषस्त्वन्यः	(गी.१५.१७)	१८८
उपदेशेऽजनुनासिक इत्	(अ.सू.१.३.२)	३२५
उपसंहार दर्शनान्नेति	(ब्र.सू.२.१.२४)	४७२
उपादानाद् विहारोपदेशाच्च	(ब्र.सू.२.३.३४)	१४९
उपासनस्य कर्मत्वं स्मृतिसंतति	(श्रु.प्र.१.१.१)	२१३
उभयेऽपि हि भेदेनैनमधीयते	(ब्र.सू.१.२.२१)	१८५
ऊर्ध्वं गच्छन्ति सत्त्वस्थाः	(गी.१४.१८)	६८१
ऋतं पिबन्तौ	(क.उ.१.३.१)	५३४
ऋता सत्यामरा	(म.भा.शां.३४१.१४)	६१
ऋतुकाले संप्रयोगादेकरात्रोषितं	(ग.उ.)	५५
ऋषयो मनवो देवा मनुपुत्रा	(भा.१.३.२७)	४९३
ऋष्यादयः एते सर्वे हरेरेव	(वी.रा.)	४९४
एकतत्त्वमिवोदितौ	(ल.तं.)	४९८
एकमेवाद्वितीयम्	(छां.उ.६.२.१)	५०९
एकस्सन बहुधा विचचार	(चि.उ.११.१)	४६८
एकान्तिनः सदा ब्रह्मध्यायिनो..	(वि.पु.१.६.३९)	५५०

एको देवो बहुधा सन्निविष्टः	(तै.आ.३.१४.१)	६७८
एको रसः करुण एव	(उ.रा.च.३.४७)	४८३
एतं ब्रह्मलोकं न विन्दन्ति	(छा.उ.८.३.२)	५३५
एतदेव च वेदस्य अपौरुषेयत्वं	(श्री.भा.१.३.२९)	६६३
एतन्मतं समातिष्ठ परमेण	(भा.२.९.३६)	२५८
एतमितः प्रेत्याऽभिसंभवितास्मि	(छां.उ.३.१४.४)	१८६
एतस्य वा अक्षरस्य प्रशासने	(बृ.उ.३.८.८)	२९९,३२५
एते चांशकलाः पुंसः कृष्णस्तु	(भा.१.३.२८)	४९४
एतेन प्रतिपद्यमाना इमं मानवम्	(छां.उ.४.१५.६)	२९१
एतेन योगः प्रत्युक्तः	(ब्र.सू.२.१.३)	६२७
एवं चात्माऽकात्स्र्यनम्	(ब्र.सू.२.२.३२)	१६६
एवं ज्ञेया परा नित्या	(स.सं.)	४९८
एवंविच्छान्तो दान्त उपरत...	(बृ.उ.४.४.२३)	२६३
एवमप्युपन्यासात् पूर्वभावाद्	(ब्र.सू.४.४.७)	११६
एवमस्यैता हिता नाम नाड्यो	(बृ.उ.४.२.३)	२३४
एष आत्मा अपहतपाप्मा	(छां.उ.८.१.५)	१८९,३११,३१३, ४०३,५२०,५६८
एष आत्मा निष्क्रामति	(बृ.उ.४.४.२)	१५९
एष म आत्माऽन्तर्हृदये	(छां.उ.३.१४.४)	१६०
एष संप्रसादोऽस्माच्छरीरात्	(छां.उ.८.१२.२)	२८७
एष सर्वेश्वरः	(बृ.उ.४.४.२२)	४०७
एष सेतुर्विधरणः	(बृ.उ.४.४.२२)	२०४,४०७
एष हि द्रष्टा स्प्रष्टा श्रोता	(प्र.उ.४.९)	१०८,११२,११४,१४०
एष ह्येवैनं साधु कर्म कारयति	(कौ.उ.३.६४)	१५४
एष ह्येवैनमसाधु कर्म	(कौ.उ.३.६५)	१५४
एष ह्येवानन्दयाति	(तै.उ.२.७.१)	१६५,३९४
एषोऽणुरात्मा चेतसा वेदितव्यो	(मु.उ.३.१.९)	१५५,१५९
ऐतदात्म्यम् इदं सर्वम्	(छां.उ.६.८.७)	५,३४५,४३८,

		४४१,४४८
ऐतदात्म्यमिदं सर्वमित्युक्तस्य	(श्रीभा.१.१.१)	४५०
कण्ठे स्वप्नं विनिर्दिशेत्	(ब्र.उ.)	२२५
कदाचिद्(स्वप्ने) कण्ठः	(ऐ.उ.आ.भा.३.१२)	२२५
कर्ता शास्त्रार्थवत्त्वात्	(ब्र.सू.२.३.३३)	१४६,१५३,१५५
कर्त्रधिकरण	(ब्र.सू.२.३.५)	१४६
कर्मकर्तृव्यपदेशाच्च	(ब्र.सू.१.२.४)	१८८
कलामुहूर्तादिमयश्च कालो न	(वि.पु.४.१.८४)	६,६६,६७,५५०
कल्याणत्वम् अन्येषां	(श्रु.प्र.१.१.२)	४०८
कामः संकल्पो विचिकित्सा	(बृ.उ.१.५.३)	२३,६१२
कार्यते ह्यवश कर्म सर्वः	(गी.३.५)	६८५
कार्याधिकरण	(ब्र.सू.४.३.५)	२३८
कारणं तु ध्येयः	(अ.शि.उ.२.१७)	३४४,३७६
कालं स पचते तत्र न	(म.भा.शां.१९८.६)	६६,६६४
कालः सम्पच्यते तत्र न	(म.भा.शा.१९८.६)	५५०
कालोऽस्मि लोकक्षयकृत्प्रवृद्धः	(गी.११.३२)	६३
कृतप्रयत्नापेक्षस्तु विहितं	(ब्र.सू.२.३.४१)	१५१
कृत्यल्युटो बहुलम्	(अ.सू.३.३.११३)	३२५
कृदभिहितो भावो द्रव्यवत्	(महा.३.१.६७)	११०
केवलभेदवादिनां चात्यन्तभि..	(श्रीभा.१.१.१)	४६८
क्रियावानेष ब्रह्मविदां वरिष्ठः	(मु.उ.३.१.४)	२६१
क्षयन्तमस्य रजसः पराके	(तै.सं.२.२.१२.५)	५४६
क्षरं प्रधानं अमृताक्षरं हरः	(श्वे.उ.१.१०)	४
क्षरात्मानावीशते देव एकः	(श्वे.उ.१.१०)	७५
क्षिपाम्यजस्रमशुभानासुरीष्वेव	(गी.१६.१९)	२३६
क्षीयन्ते चास्य कर्माणि तस्मिन्	(मु.उ.२.२.९)	२५७,२६५
क्षेत्रज्ञं चापि मां विद्धि	(गी.१३.२)	१८६
गङ्गायां घोषः	(मु.उ.३.२.९)	१९१

गन्धर्वनगरस्वप्नमाया..	(लं.)	३७७
गमेर्डोः	(उ.सू.२.६८)	२०२
गामाविश्य च भूतानि धार...	(गी.१५.१३)	४२६
गुणपदं च न चतुर्विंशतिपरम्	(व्यु.वा.तृ.का.)	६०३
गुणमयी मम माया दुरत्यया	(गी.७.१४)	५३७
गुणवाचिशब्देन गुण्यभिधानं	(श्रु.प्र.२.३.३०)	११७
गुणाद् वालोकवत्	(ब्र.सू.२.३.२६)	१५७
गुहां प्रविष्टावात्मानौ हि तद्..	(ब्र.सू.१.२.११)	४२०
गोजठरगतवत्से गोत्वजातिवत्	(तै.उ.रं.भा.२.६.२)	४२३
गौरनाद्यन्तवती सा जनित्री	(मं.उ.१.५)	६०
चतुर्विधा भजन्ते मां जनाः	(गी.७.१६)	३६४
चतुर्विधोऽपि भेदोऽयं मिथ्याज्ञान	(वि.ध.)	१७७
चतुर्होतारो यत्र संपदं गच्छन्ति	(तै.आ.३.११.३)	३६२
चितः	(अ.सू.६.१.१६३)	३८१
चिदानन्दमय देह तुम्हारी	(रा.च.म.२.१२६.५)	५७०
चेष्टेन्द्रियार्थाश्रयः शरीरम्	(न्या.सू.१.११)	४२
चोदनालक्षणोऽर्थोधर्मः।	(जै.सू.१.१.२)	२३७
जगत् सर्वं शरीरं ते	(वा.रा.६.११७.२५)	४१,६७४
जन्माद्यस्य यतः	(ब्र.सू.१.१.२)	२६८,३००,३७६
जब जब होई धरम कै हानी	(रा.च.मा.१.१२०.६)	४६१
जिज्ञासाधिकरण	(ब्र.सू.१.१.१)	२२१
जीवस्य कर्तृत्वम्	(बृ.उ.रं.भा.४.३.७)	१५०
जीवे यत् कर्तृत्वम् आभाति	(बृ.उ.आ.भा.४.३.७)	१५०
ज्ञाज्ञौद्वावजावीशनीशौ	(श्वे.उ.१.९)	३,१८४,५०३
ज्ञानप्रसरे तु कर्तृत्वम् अस्ति	(श्रीभा.१.१.१)	१४६
ज्ञानाग्निः सर्वकर्माणि	(गी.४.३७)	२५७
ज्ञानादात्यन्तिकः प्रोक्तो योगिनः	(कू.पु.उ.४३.९)	७२
ज्ञानादात्यन्तिकः प्रोक्तो योगिनः	(वि.पु.१.७.४३)	७२

ज्ञानेन तु तदज्ञानं येषां (गी.५.१६) १७६
ज्ञाप्यान्तर्भूतो ज्ञाप्यप्रतीत्युपायः (श्रु.प्र.१.१.२) ३५०
ज्ञाप्यबहिर्भूतो ज्ञाप्यप्रतीत्युपायः (श्रु.प्र.१.१.२) ३५०
ज्ञेया परा नित्या, सीता तु (स.सं.) ४६८
ज्ञोऽत एव (ब्र.सू.२.३.१६) १५४,५६७
ण्यासश्रन्थो युच् (अ.सू. ३.३.१०७) ७६
तं विद्याकर्मणी समन्वारभेते (बृ.उ.४.४.२) २१०
त इह व्याघ्रो वा सिंहो वा (छां.उ.६.१०.२) २३४
ततस्तु तं पश्यति निष्कलं (मु.उ.३.१.८) २४७
तत्तेजोऽसृजत (छां.उ.६.२.३) ६१,४७७
तत्त्वमसि श्वेतकेतो (छां.उ.६.८.७) १६३,१६५,२०५,
३१२,३२५,५३७
तत्त्वमसीत्यत्र उद्देश्यो... (श्रीभा.१.१.१) ४४७
तत्प्रयोजको हेतुश्च (अ.सू.१.४.५५) १५२
तत्र प्रत्यक्षमात्मानमौपवर्षाः (न्या.म.) १३५
तत्र सत्त्वं निर्मलत्वात् (गी.१४.६) ६८१
तत्र सत्यपदं निरुपाधिक.. (श्रीभा.१.१.२) ३५६
तत्रैकस्थं जगत्कृत्स्नं (गी.११.१३) ३६८
तत्रैव मुख्यवृत्तोऽयम् अन्यत्र (ग.पु) ४१७
तत्सुकृतदुष्कृते धूनुते (कौ.उ.१.३७) २८२
तत् सृष्ट्वा तदेवानुप्राविशत् (तै.उ.२.६.२)२७०,३४६,४२३,४२८
तथा आत्मा प्रकृतेः संगादहं... (वि.पु.६.७.२४) १७७
तथा प्रलीनस्तमसि मूढयोनिषु (गी.१४.१५) ६८३
तदक्षरे परमे व्योमन् (तै.ना.उ.२) ५५१
तदनन्तम् (वि.पु.२.७.२६) ६०
तदनुप्रविश्य (तै.उ.२.६.२) ४२५
तदनुप्रविश्य सच्च त्यच्चाभवत् (तै.उ.२.६.३) ५३५
तदन्तरस्य सर्वस्य तदु (ई.उ.५) ३६५

तदभावाधिकरण (ब्र.सू.३.२.२) २३१
तदस्य हरति प्रज्ञां वायुर्नावमिव (गी.२.६७) ६०५
तदात्मानं स्वयमकुरुतं (तै.उ.२.७.१)३३४,३६१,४७७,४८२
तदेतत्सत्यम् (मु.उ.१.२.१ तथा २.१.१) ३७५
तदेव प्रीतये भूत्वा पुनर्दुःखाय (वि.पु.२.६.४८) ६८४
तदेव भूतं तदु भव्यमा इदं (तै.ना.उ.२) ५४६
तदेवाग्निस्तद्वायुस्तत्सूर्यस्तदु (तै.ना.उ.७) ३६१
तदैक्षत, तत् तेजोऽसृजत (छां.उ.६.२.३) ३६७
तदैक्षत् बहु स्याम् (छां.उ.६.२.३) १७,७७,३१२,३४५, ६१,३६१,३६७,४४४, ४६२,४७२,५०५,५२०
तदैनं वाक् सर्वैर्नामभिः (कौ.उ.४.३६) २२६
तद्गुण सारत्वात् तु (ब्र.सू.२.३.२६) ११७,३८६,६०४
तद् ब्रह्म (तै.उ.३.१.१) ३५२
तद् य इत्थं विदुः ये चेमेऽरण्ये (छां.उ.५.१०.१) २३६
तद् य इह रमणीयचरणा (छां.उ.५.१०.७) २११
तद् यत्रैतत् सुप्तः समस्तः (छां.उ.८.६.३) २३१
तद् यथा अस्मिन्नाकाशे (बृ.उ.४.३.१६) २२८
तद्यथा प्रियया स्त्रिया (बृ.उ.४.३.२१) २३०
तद्यथा हिरण्यनिधिं (छां.उ.८.३.२) २२६
तद् यथेषीकातूलम् अग्नौ (छां.उ.५.२४.३) २८१
तद् विज्ञानार्थं स गुरुमेव.. (मु.उ.१.२.१२) २७०,६७०
तद् विष्णोः परमं पदं सदा (तै.सं.१.३.६.२,सु.उ.६) ६५,२६४, ५४६
तद् श्रूयतां चाप्यविद्यायाः (वि.पु.६.७.१०-११) १३३
तद्धैतद् पश्यन् ऋषिर्वामदेवः (बृ.उ.१.४.१०) १३१,५०५
तद्धेदं तर्ह्यव्याकृतमासीत् (बृ.उ.१.४.७) ३४६,४२६,४८२
तन्नामरूपाभ्यामेव व्याक्रियत (बृ.उ.१.४.७) ५०५

तन्मात्राणां तु आवारकत्वाद्य...	(न्या.सि.ज.)	३८
तन्मात्राणि भूतादौ लीयन्ते	(सु.उ.२)	२०
तन्वभावे सन्ध्यवदुपपत्तेः	(ब्र.सू.४.४.१३)	५६३
तब तब प्रभु धरि विविध	(रा.च.मा.१.१२०.८)	४६१
तमसः पारं दर्शयति भगवान्	(छां.उ.७.२६.२)	२४८
तमस्त्वज्ञानजं विद्धि मोहनं	(गी.१४.८)	६८३
तमुत्क्रामन्तं प्राणोऽनूत्क्रामति	(बृ.उ.४.४.२)	६३,१५६
तमेतं वेदानुवचनेन ब्राह्मणाः	(बृ.उ.४.४.२२)	२६१,२६६
तमेव विदित्वातिमृत्युमेति	(श्वे.उ.३.८)	१३६,२५१,२५५
तमेवं विद्वान् अमृत इह	(तै.आ.३.१.३)	२५१,२८०
तस्मात्प्रसूतमव्यक्तम्	(म.भा.शां.३४०.२६)	६१
तस्माल्लोकात् पुनरेत्यस्मै	(बृ.उ.४.४.६)	१५६
तस्मिन्नेव ब्रह्मशब्दो मुख्यवृत्तः	(ग.पु.)	४१७
तस्य तावदेव चिरं यावन् न	(छां.उ.६.१४.२)	३२६,६५५
तस्य त्वष्टा विदधद् रूपमेति	(वा.सं.३१.२१)	४२३
तस्य भासा सर्वमिदं विभाति	(मु.उ.२.२.१२)	३१३
तस्य यथा कप्यासं पुण्डरीक...	(छां.उ.१.६.७)	५६७
तस्य यदेकां शाखां जीवो	(छां.उ.६.११.२)	१५८
तस्य सर्वेषु लोकेषु कामचारा	(छां.उ.७.२५.२)	१४६
तस्य हैतस्य पुरुषस्य रूपं	(बृ.उ.२.३.६)	५६७
तस्य हैतस्य हृदयस्याग्रं	(बृ.उ.४.४.२)	१५६
तस्यात्मपरदेहेषु	(वि.पु.२.१४.३१)	१६१,१८१,१८२
तस्यैव तेऽन्येन धृते वियुक्ते	(वि.पु.१.२.२४)	६३
तस्योदिति नाम।	(छां.उ.१.६.७)	४०८
तानहं द्विषतः क्रूरान् संसारेषु	(गी.१६.१६-२०)	१५४,१६४
ताभिः प्रत्यवसृप्य पुरीतति शेते	(बृ.उ.२.१.१६)	२३५
तासु तदा भवति	(कौ.उ.४.३८)	२३५
तेजोमयी वाक्	(छां.उ.६.५.४)	३०

तेन मायासहस्त्रं	(वि.पु.१.१६.२०)	५३६
ते ये शतम्	(तै.उ.२.८.२)	४१५
तेषां सततयुक्तानां भजतां	(गी.१०.१०-११)	१५४,२५०
तेषामसौ विरजो ब्रह्मलोकः न	(प्र.उ.१.१६)	२६२
तेषामहं समुद्धर्ता	(गी.१२.७)	१३२
तेषामादित्यवज्ज्ञानं प्रकाशयति	(गी.५.१६)	११३
ते ह नाकं महिमानं सचन्त	(य.सं.३१.१६)	५५०
तैजसानीन्द्रियाण्याहुर्देवा	(वि.पु.१.२.४७)	२५
त्रिगुणं प्रधानं.....स्वभावेनैव	(ब्र.सू.शां.भा.२.२.१)	४८३
त्र्यात्मकत्वात् तु भूयस्त्वात्	(ब्र.सू.३.१.२)	३४
त्वं वा अहमस्मि भगवो देवते	(व.उ.२.३४)	२६८,४४७
दर्शनसमानाकारत्वं च साक्षा...	(सि.सि.पृ.६४)	२४५
दानं न्यायसिद्धद्रव्यस्य	(त.टी.१.१.१)	२६२
दानं लोभराहित्यम्	(श्रु.प्र.१.१.१)	२६२
दिव्यं स्थानमजरं चाप्रमेयं	(म.भा.)	५५०
दिव्यगन्धानुलेपनम्	(गी.११.११)	६३०
दृश्यते तु	(ब्र.सू.२.१.६)	४७१,४७६
दृश्यते त्वग्र्यया बुद्धया	(क.उ.१.३.१२)	१४८,२७६, ३२२,४१२
देवताधिकरण	(उ.मी.१.३.७)	१६५
देवताधिकरण	(पू.मी.६.१.४)	१६५
देहयोगाद् वा सोऽपि	(ब्र.सू.३.२.५)	२०६
दैवी ह्येषा गुणमयी	(गी.७.१४)	१५
द्वादशाहवदुभयविधं बादराय...	(ब्र.सू.४.४.१२)	२८६
द्वाविमौ पुरुषौ लोके	(गी.१५.१६)	१८८
द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया	(ऋ.सं.२.३.१७,अ.सं.६.६.२०, मु.उ.३.१.१,श्वे.उ.४.६)	३,१८४,४६५,५०३

द्विजऋषभ स एष ब्रह्मयोनिः (भा.१२.११.२४) ४८६
दुःखमेव सर्वं विवेकिनः (यो.सू.२.१५) २८८
द्वे वाव ब्रह्मणो रूपे (बृ.उ.२.३.१) ३६२
द्वैतिनोऽतथ्यदर्शिनः (वि.पु.२.१४.३१) १८२
धर्मेण पापम् अपनुदति (तै.ना.उ.१४४) २६५
धर्मोपपत्तेश्च (ब्र.सू.१.३.८) २६८
धाता यथापूर्वमकल्पयत् (ऋ.सं.८.८.४८,तै.आ.१०.१.१४)६२
ध्यानाच्च (ब्र.सू.४.१.८) ६२७
न च पुनरावर्तते, न च (छां.उ.८.१५.१) २६१
न चक्षुषा गृह्यते नाऽपि वाचा (मु.उ.३.१.८) २६,२४८
न जायते म्रियते वा विपश्चि... (क.उ.१.२.१८) १६७,३४७
न तत्र वेशान्ताः पुष्करिण्यः (बृ.उ.४.३.१०) २२३
न तत्र रथा न रथयोगा न (बृ.उ.४.३.१०) २२३
न तत्समश्चाभ्यधिकश्च दृश्यते (श्वे.उ.६.८) ३१३,४६८
न तदस्ति विना यत्स्यान्मया (गी.१०.३६) १६७,१६८,३६६
न तस्मात् प्राणाः उत्क्रामन्ति (बृ.उ.मा.पा.४.४.६) २८५
न तस्य प्राकृता मूर्तिर्मांस... (व.पु.७५.४४) ५६६
न तस्य प्राकृती मूर्तिर्मांस... (वा.पु.३४.४०) ५६६
न तस्य प्राणाः उत्क्रामन्ति (बृ.उ.४.४.६) २८४
नताः स्मः सर्ववचसां प्रतिष्ठा (वि.पु.१.१४.२३) ६७८
न तु दृष्टान्तभावात् (ब्र.सू.२.१.६) ४८०
न तु मां शक्यसे द्रष्टुमनेनैव (गी.११.८) ६२८
न त्वेवाहं जातु नासम् (गी.२.१२) १३१
न निरोधो न चोत्पत्तिर्न बद्धो (मा.का.वै.३२) ३७७
न पश्यो मृत्युं पश्यति, न रोगं (छां.उ.७.२६.२) १०६
न भूतसंघसंस्थानो देहोऽस्य (म.भा.शां) ५७०
न सुकृतं न दुष्कृतं (छां.उ.८.४.१) ४०३
न हि मुक्तस्यापरिच्छिन्नज्ञान... (श्रु.प्र.१.१.१) १६१

नहि द्रष्टुर्द्रष्टेर्विपरिलोपो विद्यते	(बृ.उ.४.३.२३)	५६४
नहि विज्ञातुर्विज्ञातेर्विपरिलोपो	(बृ.उ.४.३.३०)	११२,५६४
नात्मा श्रुतेर्नित्यत्वाच्च ताभ्यः	(ब्र.सू.२.३.१८)	१६८
नानावीर्याः पृथग्भूतास्ततस्ते	(वि.पु.१.२.५२-५४)	३४
नान्तं गुणानां गच्छन्ति	(वि.पु.२.५.२४)	३८४
नान्तोऽस्ति मम दिव्यानां	(गी.१०.४०)	३६४
नान्यो हेतुर्विद्यते ईशनाय	(श्वे.उ.६.१७)	३१३
नामरूपं च भूतानां कृत्यानां	(वि.पु.१.५.६३)	४३७
नामरूपाद् विमुक्तः परात्परं	(मु.उ.३.२.८)	१८६
नामरूपे व्याकरवाणि	(छां.उ.६.३.२)	४३५
नाभाव उपलब्धेः	(ब्र.सू.२.२.२८)	३७८
नायं हन्ति न हन्यते	(क.उ.१.२.१६, गी.२.१६)	१६७
नायमात्मा प्रवचनेन लभ्यो न	(मु.उ.३.२.३)	२५०
नायमात्मा बलहीनेन लभ्यः	(मु.उ.३.२.४)	२६३
नाविरतो दुश्चरितान्नाशान्तो	(क.उ.१.२.२४)	२६५
ना सदासीन्नोसदासीत्	(तै.ब्रा.२.८.६.८)	६३,५३५
नाहं वेदैर्न तपसा न दानेन	(गी.११.५३-५४)	२५१,२५३
नाह खल्वयमेवं सम्प्रत्यात्मानं	(छां.उ.८.११.१)	११६
निखिलशब्देन अचिद्गतहेयाः	(श्रु.प्र.१.१.२)	४०२
निर्गता निकृष्टाः प्राकृता गुणा	(ब्र.सू.आ.भा.१.१.१)	३११
निचाय्य तं मृत्युमुखात् प्रमुच्यते	(क.उ.१.३.१५)	२४४
नित्यं तत्परमं ब्रह्म नित्या च	(ब्र.वै.पु.१.२८.३०)	६०
नित्यं नित्याकृतिधरम्	(सा.सं.)	५७१
नित्यं विभुम्	(मु.उ.१.१.६)	४००
नित्यं हि नास्ति जगति भूतं	(म.भा.शां.३३६.३२)	५७१
नित्यसिद्धे तदाकारे तत्परत्वे	(पौ.सं.)	५७१
नित्यालिङ्गा स्वभावसंसिद्धिः	(र.ब्रा.)	५७१
नित्योदितात्सम्बभूव	(वि.सं.)	४८४

नित्यो नित्यानाम् (क.उ.२.२.१३,श्वे.उ.६.१३)
१६७,१७६,१८४,३४७,५०३
नित्यो नैमित्तिकश्चैव प्राकृता...(कू.पु.उ.४३.५) ७०
नित्यः सदैव भूतानां यो (वि.पु.१.७.४३) ७२
नित्यः सर्वगतः (गी.२.२४) १६२
निरञ्जनः परमं साम्यम् उपैति (मु.उ.३.१.३) ७२,१८६,२८६
निर्ममो निरहंकारः (गी.२.७१) १६
निर्वाणमय एवायमात्मा (वि.पु.६.७.२२) १२६,१७८
निशि नेति चेन्न सम्बन्धस्य (ब्र.सू.४.२.१८) २८४
निष्कलं निष्क्रियं शान्तं (श्वे.उ.६.१९) ३०६,५२०,५६६
नीलतोयदमध्यस्था विद्युल्लेखेव (तै.ना.उ.१००) ५७४
नीयते तपतां श्रेष्ठ स्वशक्त्या (वि.पु.१.४.५२) ६६६
नेति होवाच याज्ञवल्क्यः अत्रैव (बृ.उ.३.२.११) २८५
नेत्रस्थं जाग्रतं विद्यात्, कण्ठे (ब्र.उ.) २१९
नेह नानास्ति किञ्चन (क.उ.२.१.११,बृ.उ.४.४.१९)
१९८,२७९,३६१,३६८,३६९,५०२
नैतद् बुद्धेन भाषितम् (मा.का.अला.९९) ३७६
नैमित्तिकः प्राकृतिकस्तथैवा... (वि.पु. १.७.४१) ७०
नैव स्त्री, न पुमानेष, न (श्वे.उ.५.१०) २०८,२१९
न्यास इत्याहुर्मनीषिणः (तै.ना.उ.१४५) २७३
पञ्च पञ्च नखा भक्ष्या (वा.रा.४.१७.३९) ६७०
पटवच्च (ब्र.सू.२.१.१९) ४७७
पतिं विश्वस्य (तै.ना.उ.९२) २०१,२९०
परं जैमिनिर्मुख्यत्वात् (ब्र.सू.४.३.११) ४१८
परं ज्योतिरुपसंपद्य स्वेन (छां.उ.८.१२.२) १९०
परगतातिशयाधानेच्छया (श्रु.प्र.१.१.१) २००
परम कारणात्परब्रह्मभूतात् (पा.प.सं) ४८६
परमात्मात्मनोर्योगः परमार्थ (वि.पु.२.१४.२७) १९५

परागर्थप्रमेयेषु या फलत्वेन (सु.वा.) ६८
परात्तु तच्छ्रुतेः (ब्र.सू.२.३.४०) १५०,१५३
परास्य शक्तिर्विविधैव श्रूयते (श्वे.उ.६.८) ३०५,३१३,३८७,४०४, ४४४,४६४,६६५
परिणामात् (ब्र.सू.१.४.२७) ३६१,४७५,४७६, ४७७,४८१
परिणामो नाम उपादान.. (वे.प.) ४७३
परित्राणाय साधूनां विनाशाय (गी.४.८) ४६१
पादोऽस्य विश्वा भूतानि (ऋ.सं.८.४.१७,तै.आ.३.१२.३, य.सं.३१.३) १७६,१८४,३६४
पिण्डः पृथग्यतः पुंसः (वि.पु.२.१३.८६) १३२
पुंस्त्वादिवत्त्वस्य सतोऽभिव्यक्ति (ब्र.सू.२.३.३१) १०६,११४,५६६
पुण्डरीकस्य देहात्तु तेन (प.पु.उ.ख.२१६.४८) २६३
पुमान् न देवो न नरो न (वि.पु.२.१३.६८) १७८
पुरुष एवेदं सर्वम् (ऋ.सं.८.४.१७, य.सं.३१.२) ३६४
पुरुषः स परः पार्थ भक्त्या (गी.८.२२) २५१
पूर्वं शरीरतया परिक्लृप्त.. (ब्र.सू.श्रीभाष्य २.१.६) ४०
पृथगात्मानं प्रेरितारं च मत्वा (श्वे.उ.१.६) ३,७५,१८५,१६३, २०५,२६६
पृथिव्यप्सु प्रलीयते (सु.उ.२) ५६
पौर्वापर्ये पूर्वदौर्बल्यं प्रकृतिवत् (जै.सू.६.५.५४) ३०७
प्रकाशसुखावरणस्वभावरहितता (गी.रा.भा.१४.६) ६८१
प्रकाशदिवत्तु नैवं परः (ब्र.सू.२.३.४६) २०४
प्रकृतिं पुरुषं चैव विद्ध्यनादी (गी.१३.१६) ५५२
प्रकृतिं सत्यमित्याहुर्विकारो... (ब्र.पु.उ.३.८५) ६०
प्रकृतिश्च प्रतिज्ञादृष्टान्ता... (ब्र.सू.१.४.२३) ३३५
प्रकृतेः क्रियमाणानि गुणैः (गी.३.२७) १४४,६८५
प्रकृतेर्गुणसम्मूढाः सज्जन्ते (गी.३.२६) ६८५

प्रकृतैतावत्त्वं हि प्रतिषेधति	(ब्र.सू.३.२.२१)	३६२
प्रजापतिः प्रज्ञा असृजत	(ग.पू.उ.१.२)	३४७
प्रज्ञा च तस्मात् प्रसृता पुराणी	(श्वे.उ.४.१८)	६०५
प्रज्ञानघन एव	(बृ.उ.४.५.१३)	११३
प्रज्ञानघन एवानन्दमयः	(रामो.उ.३)	३८१
प्रतिसन्धिः अर्थद्वयविषयैकबुद्धिः	(न्या.प.४.२)	१२७
प्रत्यक्षं चानुमानं च शास्त्रं च	(म.स्मृ.१२.१०५)	६२१
प्रत्येकानुभूतार्थद्वयविषयकज्ञानं	(न्या.त.प्र.४.२)	१२७
प्रधान क्षेत्रज्ञपतिर्गुणेशः	(श्वे.उ.६.१६)	१८५
प्रधानपुंसोरजयोः कारणं	(वि.पु.१.९.३७)	३३७
प्रमाणविपर्ययविकल्पनिद्रास्मृतयः	(यो.सू.१.६)	६१५
प्रमाणान्तरावसेयाणुत्वशेषत्व...	(न्या.सि.जी.प)	१२०
प्रयाति प्राकृते चैव ब्रह्माण्डं	(वि.पु.१.७.४२)	७१
प्रवृत्तं कर्म संसेव्य देवानामेति	(म.स्मृ.१२.९०)	२८६
प्रवृत्तेः निमित्तं द्वारम्	(श्रु.प्र.)	४५७
प्रवृत्तेः शब्दानामर्थबोधनशक्तेः	(त.चि.)	४५७
प्रशासितारं सर्वेषाम्	(म.स्मृ.१२.१२२)	३२५
प्राकृतो द्विपरार्द्धकः	(वि.पु.६.३.२)	७२
प्राज्ञेनात्मनान्वारूढः	(बृ.उ.४.३.३५)	१८५
प्राज्ञेनात्मना सम्परिष्वक्तः	(बृ.उ.४.३.२१)	१८५
प्राणः शरीरं परिरक्षति	(सु.उ.४)	२२८
प्राणोऽस्मि प्रज्ञात्मा	(कौ.उ.३.१४)	९२,९३,२७०
प्राणो हृदये	(तै.ब्रा.३.१०.८.५)	२८
प्रियो हि ज्ञानिनोऽत्यर्थमहं	(गी.७.१७)	२५०
प्रेक्षोपलब्धिश्चित् संवित्	(अ.को.१.५.१)	७५
फलमत उपपत्तेः	(ब्र.सू.३.२.३७)	३९४,६१७
बहिष्कुलायादमृतश्चरित्वा	(बृ.उ.४.३.१२)	२२६

बहु स्याम्	(छां.उ.६.२.३)	१३२,३३२,३३८
ब्रह्मजिज्ञासा	(ब्र.सू.१.१.१)	२६८
ब्रह्मणा सह ते सर्वे सम्प्राप्ते	(कू.पु.पू.११.२८४)	२०८
ब्रह्मदाशा ब्रह्मदासा ब्रह्मेमे	(अ.सं.)	२०६
ब्रह्म परिवृढं सर्वतः	(नि.१.३.८)	४१४
ब्रह्मभूतः प्रसन्नात्मा न शोचति	(गी.१८.५४)	२५७
ब्रह्मलोकमभिसंभवामि	(छां.उ.८.१३.१)	१३१
ब्रह्म वा इदमग्र आसीत्	(बृ.उ.१.४.१०)	३३४
ब्रह्मविदाप्नोति परम	(तै.उ.२.१.१)	२४६,२५५,३२२, ४०६,४१०
ब्रह्मवेद ब्रह्मैव भवति	(मु.उ.३.२.६)	१३७,१८६,२५५
ब्रह्मादक्षादयः कालस्तथैव...	(वि.पु.१.२२.३१)	६३
ब्राह्मो नैमित्तिकस्तत्र शेतेऽयं	(वि.पु.१.७.४२)	७१
ब्राह्मो नैमित्तिकस्तेषां कल्पान्ते	(वि.पु.६.३.२)	७१
ब्राह्मो नैमित्तिको नाम कल्पान्ते	(कू.पु.उ.४३.७)	७१
बाल्यञ्च पाण्डित्यञ्च	(बृ.उ.३.५.१)	२६०
बृंहेर्नोऽच्च	(उ.सू.४.१४७)	४१५
बृहति बृंहयति च सर्वं	(शां.उ.३)	४१४
बृहत्त्वाद् बृंहणत्वाच्च	(वि.पु.१.१२.५५)	४१४
भक्त्या त्वन्यया शक्यः	(गी.११.५४)	२५३
भक्त्या मामभिजानाति	(गी.१८.५५)	२५१
भाति च तपति च कीर्त्या	(छां.उ.३.१८.३)	२४६
भावे जाग्रद्वत्	(ब्र.सू.४.४.१४)	५६३
भिन्नप्रवृत्तिनिमित्त...	(वे.सं.च.)	४४४
भिन्नप्रवृत्तिनिमित्तानां	(महा.प्र.१.२.४२)	३५५,४५७
भिद्यते हृदयग्रन्थिश्छिद्यन्ते	(मु.उ.२.२.६)	२४७
भूमिरापोऽनलो वायुः खं	(गी.७.४)	२०
भूयश्चान्ते विश्वमायानिवृत्तिः	(श्वे.उ.१.१०)	२८०

भेदव्यपदेशात्	(ब्र.सू.१.३.४)	१८६
भोक्ता भोग्यं प्रेरितारञ्च	(श्वें.उ.१.१२)	१३६,५०३,५५२
भोक्तारं यज्ञतपसां	(गी.५.२६)	१६४,३६२
भोगमात्रसाम्यलिङ्गाच्च	(ब्र.सू.४.४.२१)	१८८
भोगेन त्वितरे क्षपयित्वाऽथ	(ब्र.सू.४.१.१६)	२८२
मत्तः स्मृतिर्ज्ञानमपोहनं च	(गी.१५.१५)	६०५
मद्भक्तिं लभते पराम्	(गी.१८.५४)	२५२
मनसा तु विशुद्धेन	(व्या.स्मृ.)	३२२,४११
मनसैवानुद्रष्टव्यम्	(बृ.उ.४.४.१६)	१४८,२४८,६१२
मनसैवेदम् आप्तव्यम्	(क.उ.२.१.११)	३६६
मनोमयः प्राणशरीरो भारूपः	(छां.उ.३.१४.२)	५६७
मनो ब्रह्मेत्युपासीत्	(छां.उ.३.१८.१)	२४६,२६६,६४६
मनोऽस्य दिव्यं चक्षुः	(छां.उ.८.१२.५)	६२८
मनः प्राणेः	(छां.उ.६.८.६)	६४
मन्त्रेषु कर्माणि	(मु.उ.१.२.१)	३७५
मम प्रकाराः पञ्चेति	(वि.सं.)	४८४
मम साधर्म्यमागताः	(गी.१४.२)	१८०,२८६
ममैवांशो	(गी.१५.७)	२०४
मया ततमिदं सर्वम्	(गी.६.४)	३६६
महतो महीयान्	(क.उ.१.२.२०)	३६७,३६६,४००
महदाद्यं विशेषान्तं यदा संयाति	(कू.पु.उ.४३.८)	७१
महान् अव्यक्ते लीये	(सु.उ.२)	१७
महाभूतान्यहंकारः..	(गी.१३.५)	१६
माम् उपास्स्व	(कौ.उ.३.१४)	२७०
मामेव विज्ञानीहि	(कौ.उ.३.८)	२७०
मायां तु प्रकृतिं विद्यात्	(श्वे.उ.४.१०)	३४०,३६४,५३६
मायामात्रं तु कार्त्स्येन...	(ब्र.सू.३.२.३)	२२४
माया वयुनं ज्ञानम्	(नि.ध.२२)	३६१,४६१

क्तानां परमागतिः (वि.स.१५) १७६
क्तोपसृप्यव्यपदेशाच्च (ब्र.सू.१.३.२) १८८
क्तिः कैवल्यनिर्वाणश्रेयः (अ.को.१.५.६) २३८
त्तिकेत्येव सत्यम् (छां.उ.६.१.४) ३७६
त्योः स मृत्युमाप्नोति य (क.उ.२.१.१०,बृ.उ.४.४.१६) ५०२
ोहः विपरीतज्ञानम् (गी.रा.भा.१४.१३) ६८३
आत्मनि तिष्ठन् (बृ.उ.मा.पा.३.७.२६) १८५,१६६,
२०३,२०६,२६७,३६६,४४०,४६५
आत्मानमन्तरो यमयति (बृ.उ.मा.पा.३.७.२६) १५०,१५३
आत्माऽपहतपाप्मा विजरो (छां.उ.८.७.१) १८६,२०६
एनं विदुरमृतास्ते भवन्ति (क.उ.२.३.६) २५५
एष सुप्तेषु जागर्ति कामं (क.उ.२.२.८) २२४
एषोऽन्तर्हृदय आकाशः (बृ.उ.२.१.१७) २३२
एषोऽन्तर्हृदये लोहितपिण्डः (बृ.उ.४.२.३) २३४
च्च किंचिज्जगत्यस्मिन् (तै.ना.उ.६४) ३६५
च्चाप्नोति यदादत्ते यच्चात्ति (लिं.पु.७०.१६) ४१६
च्छुक्लं तद् अपाम् (छां.उ.६.४.१) ३२
ज्ञं तनुते, कर्माणि तनुतेऽपि (तै.उ.२.५.१) १४०
ज्ञैस्त्वमिज्यसे नित्यं (वि.पु.५.२०.६७) ३६१
तो अभ्युदयनिःश्रेयससिद्धिः (वै.सू.१.१.२) २३७
तो वा इमानि भूतानि (तै.उ.३.१.२) १६६,१८६,३००,
३३१,३५०
तो वाचो निवर्तन्ते (तै.उ.२.४.१) ३२१,४०६,४१३
तः प्रवृत्तिर्भूतानां येन (गी.१८.४६) ३६२
त्कृष्णं तदन्नस्य (छां.उ.६.४.१) ३३
त् तत् त्रिगुणमव्यक्तं (भा.३.२६.१०) ६०
त् साक्षाद् अपरोक्षाद् (बृ.उ.३.४.१) ४१७,४१८
त्ते रूपं कल्याणतमं (ई.उ.१६) ५६५,५६७

मुक्तानां परमागतिः (वि.स.१५) १७६
मुक्तोपसृप्यव्यपदेशाच्च (ब्र.सू.१.३.२) १८८
मुक्तिः कैवल्यनिर्वाणश्रेयः (अ.को.१.५.६) २३८
मृत्तिकेत्येव सत्यम् (छां.उ.६.१.४) ३७६
मृत्योः स मृत्युमाप्नोति य (क.उ.२.१.१०,बृ.उ.४.४.१९) ५०२
मोहः विपरीतज्ञानम् (गी.रा.भा.१४.१३) ६८३
य आत्मनि तिष्ठन् (बृ.उ.मा.पा.३.७.२६) १८५,१९६, २०३,२०६,२६७,३९६,४४०,४९५
य आत्मानमन्तरो यमयति (बृ.उ.मा.पा.३.७.२६) १५०,१५३
य आत्माऽपहतपाप्मा विजरो (छां.उ.८.७.१) १८९,२०९
य एनं विदुरमृतास्ते भवन्ति (क.उ.२.३.९) २५५
य एष सुप्तेषु जागर्ति कामं (क.उ.२.२.८) २२४
य एषोऽन्तर्हृदय आकाशः (बृ.उ.२.१.१७) २३२
य एषोऽन्तर्हृदये लोहितपिण्डः (बृ.उ.४.२.३) २३४
यच्च किंचिज्जगत्यस्मिन् (तै.ना.उ.९४) ३९५
यच्चाप्नोति यदादत्ते यच्चात्ति (लिं.पु.७०.१६) ४१९
यच्छुक्लं तद् अपाम् (छां.उ.६.४.१) ३२
यज्ञं तनुते, कर्माणि तनुतेऽपि (तै.उ.२.५.१) १४०
यज्ञैस्त्वमिज्यसे नित्यं (वि.पु.५.२०.९७) ३९१
यतो अभ्युदयनिःश्रेयससिद्धिः (वै.सू.१.१.२) २३७
यतो वा इमानि भूतानि (तै.उ.३.१.२) १६९,१८९,३००, ३३१,३५०
यतो वाचो निवर्तन्ते (तै.उ.२.४.१) ३२१,४०९,४१३
यतः प्रवृत्तिर्भूतानां येन (गी.१८.४६) ३९२
यत्कृष्णं तदन्नस्य (छां.उ.६.४.१) ३३
यत् तत् त्रिगुणमव्यक्तं (भा.३.२६.१०) ६०
यत् साक्षाद् अपरोक्षाद् (बृ.उ.३.४.१) ४१७,४१८
यत्ते रूपं कल्याणतमं (ई.उ.१६) ५६५,५६७

यत्र त्वस्य सर्वमात्मैवाभूत्	(बृ.उ.२.४.१४)	५०५
यत्र पूर्वे साध्याः सन्ति देवाः	(ऋ.सं.८.४.१६)	२६४
यत्र सुप्तो न कंचन कामं	(मा.उ.२.३)	२३०
यत्र हि द्वैतमिव भवति	(बृ.उ.२.४.१४)	५०१
यत्रैतत् पुरुषः स्वपिति नाम	(छां.उ.६.८.१)	२३१
यथा च तक्षोभयथा	(ब्र.सू.२.३.३६)	१४६
यथा न क्रियते ज्योत्स्ना	(वि.ध.पु.)	५६७
यथा नद्यः स्यन्दमानाः	(मु.उ.३.२.८)	१८७
यथा पुष्करपलाश आपो	(छां.उ.४.१४.३)	२८१
यथा प्रकाशयत्येकः कृत्स्नं	(गी.१३.३३)	१५८
यथा प्रधान सङ्ख्येयसङ्ख्यायां	(सि.त्र.३.२५)	३
यथा प्रयोग्य आचरणे युक्तः	(छां.उ.८.१२.३)	२१२
यथार्थं सर्वविज्ञानमिति	(श्रीभा.१.१.१)	६३८
यथा सर्वगतं विष्णुम्	(वि.पु.१.१८.४१)	३६६
यथा सुदीप्तात् पावकात्	(मु.उ.२.१.१)	३७५
यथा सूर्यादिः भास्रूपप्रकाशवान्	(ब्र.सू.आ.भा.२.३.४६)	२०४
यथा सोम्यैकेन मृत्पिण्डेन	(छां.उ.६.१.४)	३१७,३६६
यथोदकं शुद्धे शुद्धमासिक्तं	(क.उ.२.१.१५)	७२,१८८
यथोर्णनाभिः सृजते गृह्णते	(मु.उ.१.१.८)	४७१
यदग्ने रोहितं रूपं तेजसः	(छां.उ.६.४.१)	३१,६८८
यदा कर्मसु काम्येषु स्त्रियं	(छां.उ.५.२.६)	२२४
यदा पश्यः पश्यते रुक्मवर्णं	(मु.उ.३.१.३)	१८६
यदा सत्त्वे प्रवृद्धे तु प्रलयं	(गी.१४.१४)	६८१
यदा सुप्तः स्वप्नं न कथंचन	(कौ.उ.४.३६)	२३२
यदिदं किञ्च, तत्सृष्ट्वा	(तै.उ.२.६.२)	४२४
यदेकमव्यक्तमनन्तरूपं विश्वं	(तै.ना.उ.५)	५४६
यदेवेह तदमुत्र यदमुत्र	(क.उ.२.१.१०)	३६६
यद् अज्ञानात् संसारः	(न्या.प.१.१)	१

यद् यद् विभूतिमत्सत्त्वं	(गी.१०.४१)	४६३
यद् द्वैतं न पश्यति	(बृ.उ.४.३.२३)	२३०
यद्यन्योऽस्ति परः कोऽपि	(वि.पु.२.१३.९०)	१८२,१८२
यद् वेदादौ स्वरः प्रोक्तो	(तै.ना.उ.८६)	४०८
यन्मनसा न मनुते	(के.उ.१.५)	४११
यस्तद् वेद यत् स वेद स	(छां.उ.४.१.४)	२४६
यस्तु सर्वाणि भूतान्यात्म...	(ई.उ.६)	६
यस्मात्क्षरमतीतोऽहम्	(गी.१५.१८)	१३१,३८६
यस्माद् असत्येव घटादौ	(मा.का.अला.२८)	३७७
यस्मिन् सर्वाणि भूतान्या...	(ई.उ.७.)	६,२७६
यस्य आत्मा शरीरम्	(बृ.उ.मा.पा.३.७.२६)	४,२०२
यस्य आपः शरीरम्	(बृ.उ.३.७.८)	६७४
यस्य तमः शरीरम्	(बृ.उ.३.७.१७)	४
यस्य पृथिवी शरीरम्	(बृ.उ.३.७.७)	४,४१,३४१
यस्यात्मा शरीरं ...	(बृ.उ.मा.पा.३.७.२६)	४२५,४३२, ६७४
यस्यायुतायुतांशांशे विश्व..	(वि.पु.१.९.५३)	३९८
याऽनुभूतिरजाऽमे	(इ.सि.मं.)	९८
यावदधिकारमवस्थितिः	(ब्र.सू.३.३.३१)	६५५
यावदात्मभावित्वाच्च न	(ब्र.सू.२.३.३०)	११७,५९७
युष्मद्युपपदे समानाधिकरणे	(अ.सू.१.४.१०५)	४४५
येन जातानि जीवन्ति	(तै.उ.३.१.१)	३४७
येनाक्षरं पुरुषं वेद सत्यं	(मु.उ.१.२.१३)	४०६
येनाश्रुतं श्रुतं भवति	(छां.उ.६.१.३)	३१४,३६६
येनेद सर्वं विजानाति	(बृ.उ.२.४.१४)	१०६
ये वै के चास्माल्लोकात्	(कौ.उ.१.६)	१५६
यैस्स्वधर्मपरैर्नाथ! नरैराराधितो	(वि.पु.५.३०.१६)	३९१
यो अस्याध्यक्षः परमे व्योमन्	(तै.ब्रा.२.८.९.६)	५४६

योऽकामो निष्काम आत्मकामः	(बृ.उ.४.४.६)	२८५
योगिनाममृतं स्थानं	(वि.पु.१.६.३६)	२४०
यो ब्रह्माणं ..... शरणम्	(श्वे.उ.६.१८)	२७३
योऽयं विज्ञानमयः प्राणेषु	(बृ.उ.४.३.७)	२२,११६
योऽयं संदृश्यते नूनं लोके	(कू.पु.उ.४३.६)	७२
यो यदाश्रितस्वभावः सः	(न्या.सि.)	६७६
यो यो यां यां तनुं भक्तः	(गी.७.२१-२२)	३६१
यो लोक त्रयमाविश्य	(गी.१५.१७)	१८६,३६६,४०७
यो विज्ञाने तिष्ठन्	(बृ.उ.३.७.२६)	१०८,११७,१४१
यो वेद निहितं गुहायां परमे	(तै.उ.२.१.१)	४०६,५४६
यः एषोऽन्तरादित्ये हिरण्मयः	(छां.उ.१.६.६)	५६७
यः कश्च शब्दो वागेव सा	(बृ.उ.१.५.३)	६१२
यः कालः पञ्चविंशकः	(भा.३.२६.१५)	६३
यः पृथिव्यां तिष्ठन् पृथिव्या	(बृ.उ.३.७.७)	४६४,६७४
यः सर्वज्ञः सर्ववित्	(मु.उ.१.१.१०,२.२.७)	३१३,३८७, ४०४,४४४,५२०
यः सर्वेषु भूतेषु तिष्ठन्	(बृ.उ.३.७.१६)	४६४
रचनानुपपत्तेश्च नानुमानं	(ब्र.सू.२.२.१)	६८५
रजसि प्रलयं गत्वा	(गी.१४.१५)	६८२
रजस्तमश्चाभिभूय सत्त्वं	(गी.१४.१०)	६८४
रजो रागात्मकं विद्धि	(गी.१४.७)	६८२
रथान् रथयोगान् पथः	(बृ.उ.४.३.१०)	२२७
रश्म्यनुसारी	(ब्र.सू.४.२.१७)	२८४
राघवत्वेऽभवत्सीता रुक्मिणी	(वि.पु.१.६.१४४)	४६८
रामसुग्रीवयोरैक्यं देव्येवं	(वा.रा.५.३५.५३)	१८३
रामानुजं लक्ष्मणपूर्वजातम्	(वा.रा.सु.२८.१०)	४३६
रूपं वातीन्द्रियम् अन्तःकरण...	(ब्र.नं.वा.)	५७२
लभते च ततः कामान् मयैव	(गी.७.२२)	१६४,६१७

लक्ष्म्या भगवदभेदादेव	(वे.स्य.)	५०१
लोभः प्रवृत्तिरारम्भः	(गी.१४.१२)	६८२
वसुरण्यो विभू.....	(तै.ना.उ.१४८)	२७३
वस्तुनः आन्तरं रूपम्	(त.मु.क.सर्व.२.५)	१२२
वस्त्वेकमेव दुःखायसुखाये..	(वि.पु.२.६.४७)	६८४
वाचारम्भणं विकारो नामधेयं	(छां.उ.६.१.४)	३६५
वायव्यं श्वेतमालभेत भूतिकामः	(तै.सं.२.१.१.१)	१६३
वायुर्वै क्षेपिष्ठा देवता	(तै.सं.२.१.१.१)	१६३
वालाग्रशतभागस्य शतधा	(श्वे.उ.५.९)	१५६,१६०
वासांसि जीर्णानि यथा विहाय	(गी.२.२२)	१६७
वासुदेवः सर्वम्	(गी.७.१९)	३८२
विकरणत्वान्नेति चेत्तदुक्तम्	(ब्र.सू.२.१.३१)	४७२
विजरो विमृत्युः	(छां.उ.८.१.५)	४४४
विज्ञातारम् अरे केन	(बृ.उ.४.५.१५)	१०८,३८७
विज्ञानं यज्ञं तनुते	(तै.उ.२.५.१)	१४०
विज्ञानघन एव	(बृ.उ.२.४.१२)	११३,५१८
विज्ञानम् आनन्दं ब्रह्म	(बृ.उ.३.९.२८)	३८१,३८८
विज्ञानात्मा पुरुषः	(प्र.उ.४.९)	११२,११६,३८६,५२१
विज्ञाय प्रज्ञां कुर्वीत	(बृ.उ.४.४.२१)	२४४,२४५
वित्तिवेदितृप्रतिभासशून्यायां	(सि.त्र.१)	५८६
विद्यां चाविद्यां च यस्तद्वेदोभयं	(ई.उ.११)	२६४
विद्याविनयसम्पन्ने ब्राह्मणे	(गी.५.१८)	१८०
विधिरत्यन्तमप्राप्ते नियमः	(तं.वा.१.२.३४)	६७०
विनञ् इति एताभ्याम्	(महा.५.२.२७)	३६९
विनञ्भ्यां नानाञौ न	(अ.सू.५.२.२७)	१९६,३६९
विप्र धेनु सुर सन्त हित	(रा.च.मा.१.१९२)	४९१
विभाषागुणेऽस्त्रियाम्	(अ.सू.२.३.२५)	६०३
विभेदजनकेऽज्ञाने नाशम...	(वि.पु.६.७.९६)	१९२

विरोधाधिकरण	(जै.सू.१.३.२)	३०८
विरोधे त्वनपेक्ष्यं स्यादसति	(जै.सू.१.३.३)	३०८
विवर्तवादस्य तु पूर्वभूमिः	(सं.शा.२.६१)	४८३
विशते इति प्रकृतिबन्ध...	(ता.दी.)	२५२
विशुद्धसत्त्वं तव धाम	(भा.१०.२७.४)	५५०
विष्णुशक्तिः परा प्रोक्ता	(वि.पु.६.७.६१)	२१३,६६६
वृक्षे-वृक्षे हि पश्यामि	(वा.रा.३.३६.१५)	२४६
वृद्धौ च मातापितरौ साध्वी	(प.पु.१.३८.३४)	२०२
वेदान्तश्रवणेन च व्युत्पत्तिः	(वे.सं.)	४३६
वेदाहमेतं पुरुषं महान्त...	(य.सं.३१.१८, श्वे.उ.३.८)	५६६
वेदैश्च सर्वैरहमेव वेद्यः	(गी.१५.१५)	६,४०६,६६६
वैधर्म्यं हि भवति स्वप्न...	(ब्र.सू.शां.भा.२.२.२६)	३७८
वैधर्म्याच्च न स्वप्नादिवत्	(ब्र.सू.२.२.२८)	३७३,३७८
वैशेष्यात्तु तद्वादस्तद्वादः	(२.४.१६)	३४
वैष्णवीं तां महातेजो यद्	(वा.रा.७.११०.१०)	५५०
व्यतिरेको गन्धवत्तथा	(ब्र.सू.२.३.२७)	११३
शक्तयः सर्वभावानाम्	(वि.पु.६.७.६१)	६६५
शतं, सहस्त्रमयुतं न्यर्बुद...	(अ.सं.१०.८.२४)	२३६
शब्दस्य परिणामोऽयमित्या...	(वा.प.१.१२०)	४८३
शब्दोऽहमिति दोषाय नात्मन्येष	(वि.पु.२.१३.८६)	१३२
शरीरं यदवाप्नोति यच्च...	(गी.१५.८)	२५
शरीरवाङ्मनोभिर्यत् कर्म	(गी.१८.१५)	१४८
शरीरेन्द्रियादिसहितं तद्रहितं	(ब्र.सू.आ.भा.४.४.१२)	५६१
शान्त उपासीत	(छां.उ.३.१४.१)	२६०
शान्ताङ्गार इवादित्यमहंकारो	(सि.त्र.१.११)	१०७
शास्त्रफलं प्रयोक्तरि	(मी.सू.३.७.१८)	१४०
शुद्धभावं गतो भक्त्या	(म.भा.)	२५२
शेषे प्रथमः	(अ.सू.१.४.१०८)	४४५

श्रुतेस्तु शब्दमूलत्वात्	(ब्र.सू.२.१.२७)	४७१
श्रोतव्यो मन्तव्यो	(बृ.उ.२.४.५)	४०६
श्रोत्रियं श्रुतवेदान्तम्	(त.टी.१.१.१)	२७०
षड् भावविकाराः भवन्तीति	(नि.१.१.३)	२६५
षड्भावविकृतिश्चास्ति जायते	(व.उ.१-८)	४०२
संकल्पादेव तच्छ्रुतेः	(ब्र.सू.४.४.८)	१४६
संकल्पादेवास्य	(छां.उ.८.२.१)	१४६
संगात्संजायते कामः	(गी.२.६२)	२६०
संज्ञामूर्तिक्लृप्तिस्तु	(ब्र.सू.२.४.१७)	५७
संदिग्धेषु वाक्यशेषात्	(पू.मी.१.४.२६)	१६५
संभवाम्यात्ममायया	(गी.४.६)	४६१,५३७
संविशत्यात्मानात्मानं	(मा.उ.४.१)	४८७
संहितम् एतच्छारीरकं	(बो.वृ.)	६६६
स आत्मनि तिष्ठन्	(बृ.उ.मा.पा.३.७.२६)	४४०
स एकधा भवति	(छां.उ.७.२६.२)	२८६,५६२
स एको ब्रह्मणः आनन्दः	(तै.उ.२.८.४)	३८६
स एव सा स सैवास्ति	(स्क.पु.२.२.१३)	४६८
स एष इह प्रविष्ट	(बृ.उ.१.४.७)	४२८
स एष सर्वेभ्यः पाप्मभ्य	(छां.उ.१.६.७)	४०३
स कारणं करणाधिपाधिपः	(श्वे.उ.६.९)	१८५
सकृदेव प्रपन्नाय तवास्मीति	(वा.रा.६.१९.३३)	२७६
स चाऽनन्त्याय कल्पते	(श्वे.उ.५.९)	१५६,१६०,१६१,४१५
सत्त्वंरजस्तम इति गुणाः	(गी.१४.५)	६८५
सत्त्वात् संजायते ज्ञानम्	(गी.१४.१७)	२६५,६८१
सत्यं चानृतं च सत्यमभवत्	(तै.उ.२.६.३)	३४५,३५७
सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म	(तै.उ.२.१.१)	२७०
सत्यं ज्ञानम् अनन्तम् ब्रह्म	(तै.उ.२.१.१)	३५५,३८०,३८४,४४४
सत्यं ज्ञानम् अनन्तं	(भा.१०.२८.१५)	५५०,५५४

सत्यं वद, धर्मं चर	(तै.उ.१.११.१)	६६८
सत्यकामः सत्यसंकल्पः	(छां.उ.८.१.५)	३११,३१३
सत्यज्ञानानन्तानन्दमात्रैक	(भा.१०.१३.५४)	५७०
सत्यपदं स्वरूपतो गुणतश्च	(तै.उ.आ.भा.२.१.१)	३५७
सत्यमेतत् स्मृतौ	(ब्र.सू.शां.भा.२.४.१७)	२३
सत्यसंकल्पः	(छां.उ.८.१.५)	३०६
सत्यस्य सत्यम्	(बृ.उ.२.३.६)	३५७,३६२
सत्येन लभ्यः	(मु.उ.३.१.५)	२६१
सदा तद्भावभावितः	(गी.८.६)	२६०
सदा पश्यन्ति सूरयः	(सु.उ.६)	२४०
सदेव सोम्येदमग्र	(छां.उ.६.२.१)	५,६४,१९९,३०४, ३१४,३२४,३३४,३३४,३४४, ३६७,,४४४,४७२,४७९,५५१
सदैकरूपरूपाय	(वि.पु.१.२.१)	५७१
सन्ध्याधिकरण	(ब्र.सू.३.२.१)	२२५,२२६
सन्मूलाः सोम्येमाः सर्वाः प्रजाः	(छां.उ.६.८.४)	३१२,४३८,३४५,४४१
सभूमिंसर्वतस्पृत्वात्यतिष्ठद्	(शु.य.सं.३१.१)	१५७
स भूरिति व्याहरत्, भुवम्	(तै.ब्रा.२.२.४)	४२७
समानकर्तृकयोः पूर्वकाले	(अ.सू.३.४.२१)	४२४
समाने वृक्षे पुरुषो	(मु.उ.३.१.२)	२१५
स यत्र प्रस्वपिति	(बृ.उ.४.३.९)	२२४
स यथा कुमारो वा महाराजो	(बृ.उ.२.१.१९)	२३४
स यथा शकुनिः सूत्रेण प्रबद्धो	(छां.उ.६.८.२)	२२८
स यदि पितृलोककामो भवति	(छां.उ.८.२.१)	२९०
स यो ह वै तत्परमं ब्रह्म वेद्	(मु.उ.३.२.९)	१९१
सर्वं खल्विदं ब्रह्म	(छां.उ.३.१४.१)	२८८,३१३,३५३, ३७२,३८२
सर्वं तं परादात् योऽन्यत्रात्मनः	(बृ.उ.४.५.७)	२६६,५०५

सर्वं ह पश्यः पश्यति	(छां.उ.७.२६.२)	१०६,१३७,२८७
सर्वकर्माण्यपि सदा कुर्वाणो	(गी.१८.५६)	१६४
सर्वकालवर्तमानत्वं	(श्रीभा.१.१.१)	१६८
सर्वगन्धः सर्वरसः.....	(छां.उ.३.१४.२)	५६४
सर्वत्रासौ समस्तं च	(वि.पु.१.२.१२)	३६८
सर्वद्वारेषु देहेऽस्मिन् प्रकाश	(गी.१४.११)	६८१
सर्वम् इदं तर्कमूलप्रश्नस्य	(भा.द.२.२.२३)	३७
सर्वव्यापी स भगवान्	(श्वे.उ.३.११)	६६३
सर्वशाखाप्रत्ययन्याय	(पू.मी.)	३१२
सर्वस्य वशी, सर्वस्येशानः	(बृ.उ.४.४.२२)	२०१,३७०,५२०
सर्वाणि रूपाणि विचित्य	(तै.आ.३.१२.१६)	४३०
सर्वे निमेषा जज्ञिरे विद्युतः	(तै.ना.उ.८)	६७,५६७
सर्वेन्द्रियकन्दभूते स्थानविशेषे	(ब्र.सू.भा.१.२.१८)	२२,१५७
सर्वे वेदा यत्रैकं भवन्ति	(तै.आ.३.११.२)	६७८
सर्वे वेदाः यत्पदम्	(क.उ.१.२.१५)	६,४०८,६६६,६७८
सर्वेषां तु स नामानि	(म.स्मृ.१.२१)	४३७
सलिल एको द्रष्टाऽद्वैतो	(बृ.उ.४.३.२२)	२३२
स वा एष महानज आत्मा	(बृ.उ.४.४.२२)	३६६
स विज्ञानो भवति	(बृ.उ.४.४.२)	२१०
स विश्वस्तैजसः प्राज्ञस्तुरीय	(भा.१२.११.२२-२३)	४८५
स स्वराड् भवति	(छां.उ.७.२५.२)	१४६,२६०
स हि कर्ता	(बृ.उ.४.३.१०)	२२४
सहैव सन्तं न विजानन्ति	(तै.आ.३.११.२)	२६,६७८
सांसारिकप्रवृत्तिषु जीवस्य	(ब्र.सू.आ.भा.२.३.३४)	१४४
साकेते विद्यमानेषु संतानेषु	(रा.टी.)	२६३
साक्षी चेता केवलो निर्गुणश्च	(श्वे.उ.६.११)	३०६
सातिभ्यां मनिन्मनिणौ	(उ.सू.४.१५४)	४१६
साधुकारी साधुर्भवति	(बृ.उ.४.४.५)	२०६

साम्ये चैव क्वचिच्छब्दः	(नि.)	१६१
सिताऽसिता च रक्ता च	(मं.उ.५)	१५
सुषुप्तौ एकदेशलयः	(श्रु.प्र.१.४.२३)	७४
सूत्रकारः श्रुत्यनुकारी	(ब्र.सू.भा.भा.१.४.२५)	४७५
सूर्याचन्द्रमसौ धाता	(तै.ना.उ.४४)	४३७
सैव हि सत्यादयः	(ब्र.सू.३.३.३७)	४४१
सोऽकामयत। बहुस्यां	(तै.उ.२.६.२)	३४५,३६१,५०५
सोऽन्वेष्टव्यः स विजिज्ञासितव्यः	(छां.उ.८.७.१)	२४५
सोऽश्नुते सर्वान् कामान्	(तै.उ.२.१.१)	५१,१८६,४०४
स्नेहपूर्वमनुध्यानं	(लि.पु.)	२४४
स्याद् रूपं कृतकम्	(ब्र.नं.वा.)	५७१
स्वतन्त्रः कर्ता	(अ.सू.१.४.५४)	१५२
स्वप्नदशायाम् अन्तःकरणम्	(ऐ.उ.रं.भा.३.१२)	२२५
स्वप्नमाये	(मा.का.वै.३१)	३७७
स्वप्नान्तं जागरितान्तं	(क.उ.२.१.४)	३७५
स्वशक्त्या- स्वकर्मणैव	(श्रीभा.२.१.३४)	६६६
स्वशब्दोन्मानाभ्यां च	(ब्र.सू.२.३.२३)	१५६
स्वशरीरे यथाकामं परिवर्तते	(बृ.उ.२.१.१८)	१४०
स्वाध्यायोऽध्येतव्यः	(तै.आ.२.१५.५,श.ब्रा.१.५.७)	२७१
स्वाभाविकी ज्ञानबलक्रिया	(श्वे.उ.६.८)	४१५,५२१
स्वारस्यम् अन्यथाख्याता...	(न्या.प.)	६४३
हन्ता चेन्मन्यते हन्तुं	(क.उ.१.२.१६)	१४७
हन्ताहमिमास्तिस्रो देवताः	(छां.उ.६.३.२)	१३२,३४५,३८६, ४२३,४३०
हिता नाम नाड्यो द्वासप्तति	(बृ.उ.२.१.१६)	२२६
हि नाम हृदयस्य नाड्यो	(कौ.उ.४.३८)	२३४
हिरण्मयः इति रूपसामान्यात्	(द्र.भा.)	५७२
हिरण्मयः पुरुषो दृश्यते	(ब्रं.नं.वा.)	५६९

हिरुङ् नाना च वर्जने	(अ.को.३.४.३)	३७०
हृदयस्य दश छिद्राणि	(सु.उ.४.२)	२२,२३५
हृदि ह्येष आत्मा	(प्र.उ.३.६)	१५६
हृद्यन्तर्ज्योतिः पुरुषः	(बृ.उ.४.३.७)	१५६
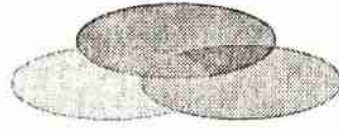
३.न्यायानुक्रमणिका

१	अनुक्तमन्यतो ग्राह्यम्	६१
२	अपच्छेदन्याय	३०७
३	अरुणाधिकरणन्याय	४५८
४	आकृत्यधिकरणन्याय	११७
५	उपक्रमाधिकरणन्याय	३१०,१६८
६	कैमुत्यन्याय	५६६
७	छागपशुन्याय	२५४
८	बहूनामनुपरोधः	२६६
९	विरोधाधिकरणन्याय	३०८
१०	सर्वशाखाप्रत्ययन्याय	३१२
११	सामान्यविशेषन्याय	३११

४.आचार्यानुक्रमणिका

१	आचार्य उपवर्ष, बोधायन, भगवान् बोधायन	१३५,३८८, ४७८,५००,५०३,६४०,६६६
२	कल्पतरुकार अप्पयदीक्षित	४७५
३	कुमारिलभट्ट	६६,३८०
४	के.एस.वरदाचार्य	४८३
५	गदाधर भट्टाचार्य	६०३
६	गौड़पादाचार्य	३७४,३७६
७	चैतन्य महाप्रभु	५००
८	जैमिनि	१६५,३०७,४१८,६६६
९	तुलसीदास	४६१
१०	द्रमिडाचार्य	५७२
११	बादरि	४१८,५६१
१२	ब्रह्मनन्दि, वाक्यकार	४७५,४७६,५६६,५७२

१३	भर्तृहरि	४८३
१४	भास्कराचार्य	४७५
१५	मनु	२०२,६२१
१६	याज्ञवल्क्य	२८५
१७	यादवप्रकाशाचार्य	३७५
१८	यामुनाचार्य	५८६
१९	राधादामोदर	५००
२०	रामप्रपन्नाचार्य	२५
२१	रामप्रसादाचार्य	२५७
२२	रामानन्दाचार्य	४९६,५००
२३	रामानुजाचार्य, श्रीभाष्यकार	४४७,४७८,४८१,६६६
२४	लोकाचार्य	५००
२५	वाचस्पतिमिश्र, भामतीकार	४७५,४८३
२६	वाल्मीकि	४९०,६२७,६६३
२७	वेदव्यास, महर्षि बादरायण, ब्रह्मसूत्रकार	२५,११६,१५४, १६५,२८६,२९८,२९३,३४७,३९२,४१८,४७५,४७९,४८९, ४९२,५६१,५६७,६०४,६१७,६२७,६३३,६६३,६७०
२८	वेदान्तदेशिकस्वामी, वेंदान्तदेशिकाचार्य	२३९,५००
२९	शंकराचार्य, शंकरभगवत्पाद, आचार्यशंकर	२३,९८,१८४, ३००,३०५,३७७,३७८,४७९,४७९,४८३,४८४,५५१
३०	शौनक	४८६,६२१
३१	श्रीकृष्ण	२०,१३१,१८८
३२	श्रीरामचन्द्र	२४९,२७६
३३	सर्वज्ञ आत्ममुनि	४८४
३४	सुदर्शनसूरि, श्रुतप्रकाशिकाचार्य	६०
३५	स्वामी शंकरानन्द सरस्वती	१५५

५.सहायकग्रन्थानुक्रमणिका

१ अथर्ववेद संहिता- नाग प्रकाशन, दिल्ली, सन् १९९४

२ अन्यथाख्यातिवादीया विद्वत्संगोष्ठी-श्रीवल्लभाचार्य ट्रस्ट, कंसारा बाजार, माण्डवी, कच्छ, वि.सं.२०५८

३ अमरकोशः- सुधाख्यया व्याख्यासहिता, चौखम्बा संस्कृत प्रकाशन दिल्ली, सन् १९८५

४ अहमर्थविवक- त्रिदण्डी स्वामी विष्वकसेनाचार्य, बक्सर, बिहार, वि.सं.२०२२

५ अष्टाध्यायी- पदच्छेद-वृत्तिटिप्पणी सहिता, चौखम्बा सुरभारती प्रकाशन, वाराणसी, सन् १९९७

६ आत्मतत्त्वमीमांसा- श्रीनीलमेघाचार्य, आत्रूछा यज्ञ समिति, गया, बिहार, वि.सं. २०१७

७ आनन्दभाष्यम्- भाष्यदीपप्रकाशयुतम्, श्रीकोसलेन्द्र मठ, पालड़ी सरखेज रोड अहमदाबाद, सन्१९९६

८ आप्टे संस्कृत-हिन्दीकोश- नागप्रकाशन, दिल्ली, सन् १९८८

९ ईशावास्योपनिषद्भाष्यम्- श्रीमद्वेदान्तदेशिकविरचितम्, तद्व्याख्यानं आचार्यभाष्यतात्पर्यं च श्रीउत्तमूर वीरराघवाचार्य सेन्टिनेरी ट्रस्ट चैन्नई, सन् २००४

१० ईशावास्योपनिषत्- व्याख्याषट्कोपेता, संस्कृतसंशोधन संसत्, मेलुकोटे, सन् १९९१

११ ईशाद्यष्टोत्तरशतोनिषदः- चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी, सन् १९९०

१२ ईशकेनकठप्रश्नमुण्डकमाण्डूक्यतैत्तिरीयैतरेयोपनिषदः- भगवच्छ्रीरामानन्दाचार्यप्रणीतानन्दभाष्योपेता, श्रीरामानन्दवेदान्तप्रचारक समिति, अहमदाबाद, सन् १९९६

१३ उणादिकोशः- रामलालकपूर ट्रस्ट, बहालगढ़, हरियाणा, सन् १९८७
१४ उपनिषत्संग्रहः- मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली, सन् २००६
१५ उपनिषद्वाक्यमहाकोशः (भाग १.२)- शास्त्री गजानन साथले, रूपा बुक्स प्रा.लि., जयपुर, सन् १९९१
१६ उपासनादर्पण- मलूकपीठ, वृन्दावन, सन् २०१०
१७ ऋग्वेदसंहिता- नाग प्रकाशन, दिल्ली, सन् १९९६
१८ ऐतरेयोपनिषत्- भाष्यचतुष्टयोपेता, संस्कृतसंशोधनसंसत्, मेलुकोटे सन् १९९७
१९ कठोपनिषत्- श्रीरङ्गरामानुजमुनिभाष्योपेता, तिरुमला तिरुपति देवस्थानम् तिरुपति, सन् १९८४
२० कठोपनिषत्- भाष्यचतुष्टयोपेता, संस्कृत-संशोधन संसत्, मेलुकोटे, सन् २००२
२१ काशिकान्यासपदमञ्जरी- भावबोधिनी सहिता (भाग १-११) तारा प्रिंटिंग वर्क्स कमच्छा, वाराणसी, सन् १९८५
२२ कूर्मपुराण- हिन्दी अनुवाद सहित, गीताप्रेस, गोरखपुर, वि.सं.२०६१
२३ केन-कठ-प्रश्न-मुण्डक-माण्डूक्य-श्वेताश्वेतर-अथर्वाशिखा-कौषीतकी-मन्त्रिका-अग्निरहस्य-सुबालोपनिषद् भाष्यम् २५, नाथमुनिवीथी, ति. नगर, चेन्नई, सन् १९७२
२४ गद्यत्रयम्- श्रीमद्रामानुजाचार्यविरचितं, व्याख्याद्वयोपेतम्, संस्कृतसंशोधन संसत् मेलुकोटे, सन् २००६
२५ गम्भीर चिन्तन- लोकहित प्रन्यास, पंजाबी बाग, नई दिल्ली, सन् १९८०
२६ गरुडमहापुराणम्- नागपब्लिशर्स दिल्ली, सन् १९८४

२७ गीतातात्पर्यनिर्णयः- श्रीरामप्रसादाचार्य विरचित, प्रकाशक श्रीचिन्तामणि दास, अयोध्या।

२८ छान्दोग्योपनिषत्- आनन्दगिरिकृतटीकासंवलितशांकरभाष्योपेता, कैलास आश्रम ऋषिकेश, सन् १९८३।

२९ छान्दोग्योपनिषत्- व्याख्याचतुष्टयोपेता, संस्कृत संशोधन संसत्, मेलुकोटे।

३० छान्दोग्योपनिषत्- श्रीराघवेन्द्रतीर्थविरचितखण्डार्थसहिता, पूर्णप्रज्ञ विद्यापीठ, बेंगलूर, सन्१९८८

३१ छान्दोग्योपनिषत्- श्रीमद्भगवद्रामानन्दाचार्यप्रणीत-आनन्दभाष्योपेता श्रीरामानन्दवेदान्तप्रचारक समिति, अहमदाबाद, वि.सं.२०२५

३२ ज्ञानेश्वरी- गीताप्रेस गोरखपुर, वि.सं.२०६५

३३ ज्ञानेश्वरी- चौखम्बा संस्कृत प्रतिष्ठान दिल्ली, सन् १९९२

३४ तत्त्वचिन्तामणिः (भाग१-४)- चौखम्बा संस्कृत प्रतिष्ठान, दिल्ली, सन् १९९०

३५ तत्त्वमुक्ताकलापः (भाग१-२)- व्याख्यात्रयोपेतः, संपूर्णानन्द संस्कृतविश्वविद्यालयः वाराणसी सन् १९९०,१९९६

३६ तत्त्वमुक्ताकलापः- सर्वङ्कषाव्याख्यासहितः, आर्षग्रन्थ प्रकाशन, २८४२ पम्पति रोड, जयनगर, मैसूर, सन् २००४

३७ तत्त्वमुक्ताकलापः- सव्याख्यसर्वार्थसिद्धिसमेतः, उभयवेदान्तग्रन्थमाला, २५ नाथमुनिवीथी, ति.नगर चेन्नई-१७, सन् १९७३

३८ तत्त्वत्रयम्- विश्वविद्यालय प्रकाशन केन्द्र, फैजाबाद।

३९ तत्त्वत्रयम्- वरवरमुनिकृतभाष्योपेतम्, स्वामी मधुसूदनाचार्य, श्रीलक्ष्मीव्यंकटेश मन्दिर, श्रीवैष्णवटोला पो., जि.नवलपुरासी, लु.अ.(नेपाल) वि.सं.२०४३

४० तर्कभाषा- पं.बदरीनाथशुक्लकृत हिन्दी व्याख्या सहित, मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली, सन्१९९६

४१ तर्कसंग्रहः- प्राचीननवटीकासहितः, चौखम्बा संस्कृत संस्थान वाराणसी, वि.सं.२०५४

४२ त्रिरत्नी- भगवदाचार्यसंग्रहीता, अहमदाबाद।

४३ तैत्तिरीय-ऐतरेय-छान्दोग्योपनिषद्-भाष्यम् श्रीरङ्गरामानुजमुनि विरचितम्, उत्तमूर वीरराघवाचार्यप्रणीतपरिष्कारपरिष्कृतम्,२५ नाथ मुनिवीथी, ति. नगर, चेन्नई, सन् १९७३

४४ तैत्तिरीयोपनिषत्- षट्टीकोपेता, संस्कृतसंशोधनसंसत्, मेलुकोटे,

४५ निघण्टुः- यास्कमुनिनिर्मितो वैदिककोषः, वैदिक यन्त्रालय, अजमेर, वि.सं १९९२

४६ निरुक्तम्- यास्कमुनिप्रणीतम्, निघण्टुभाष्यरूपम्, मेहरचन्द्र लक्ष्मणदास, दिल्ली, सन् १९८२

४७ न्यायकोशः- महामहोपाध्यायभीमाचार्येण विरचितः, भाण्डारकर प्राच्य विद्या संशोधन मन्दिरम्, पुणे, सन् १९९६

४८ न्यायदर्शनम्- वात्स्यायनभाष्यविश्वनाथकृतवृत्तिसहितम्,चौखम्बा संस्कृतप्रतिष्ठान, दिल्ली, सन् १९८६

४९ न्यायदर्शनम्-प्रसन्नपदाख्यव्याख्यासनाथीकृतन्यायभाष्यसहितम्, मणिलाल इच्छारामदेसाई, गुजराती मुद्रणालय, मुंबई वि.सं १९७८

५० न्यायपरिशुद्धिः- न्यायतत्त्वप्रकाशिकासहिता नाथमुनि स्ट्रीट, टी. नगर, चेन्नई, सन् १९७८

५१ न्यायपरिशुद्धिः- चौखम्बा संस्कृतसीरीज आफिस, वाराणसी, सन्१९२३

५२ न्यायसिद्धाञ्जनम्- श्रीवेंकटनाथविरचितम् भाषानुवादसहितम्, पण्डित नीलमेघाचार्य, सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय वाराणसी, सन् १९९६

५३ न्यायसिद्धाञ्जनम्- रत्नपेटिकारंगरामानुजीयसमेतम्, उभयवेदान्त ग्रन्थमाला, टी. नगर, चेन्नई सन् १९७६

५४ पञ्चदशी- रामकृष्णकृतव्याख्यया समलङ्कृता, चौखम्बा संस्कृत प्रतिष्ठान, दिल्ली, सन् १९८७

५५ पदशक्तिः- संस्कृत संशोधन संसत् मेलुकोटे, सन् १९९५

५६ परमपदसोपान- स्वामी श्रीनीलमेघाचार्य, श्रीदेवी प्रकाशन रङ्गजीका कटरा, वृन्दावन, सन् १९९५

५७ परमार्थभूषणम्- शतभूषण्यादिखण्डनम्, उभयवेदान्त ग्रन्थमाला, नाथमुनि वीथी, टी. नगर, चेन्नई, सन् १९५६

५८ पातञ्जलयोगदर्शनम्- व्यासभाष्य तथा हिन्दी व्याख्यासहित, मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली, सन् १९८०

५९ पातञ्जल योगप्रदीप- गीताप्रेस गोरखपुर, वि.सं.२०४३

६० पुराणविमर्श- चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी, सन् १९८७

६१ पुनर्विमर्शनीयशाङ्करभाष्यम्- स्वामी शङ्करानन्द सरस्वती, परमार्थ निकेतन, ऋषिकेश, विः सं.२०४९

६२ पूर्वमीमांसाचित्रपटः- स्वोपज्ञलघुन्यायसुधाटीकासहितः, राष्ट्रियसंस्कृतविद्यापीठम्, तिरुपति, सन् १९९३

६३ प्रत्यक्षतत्त्वचिन्तामणिविमर्शः-एन.एस.रामानुजताताचार्येण विरचितः, राष्ट्रियसंस्कृतविद्यापीठम्, तिरुपति, सन् १९९२

६४ प्रधानप्रतितन्त्रदर्पणम्- श्रीनिवासाचार्य विरचितम्, संस्कृतविद्याधर्मविज्ञानसंकायः, काशीहिन्दूविश्वविद्यालय वाराणसी, सन् २००१

६५ प्रपञ्चहृदयम् तथा प्रस्थानभेदः- रामलाल कपूर ट्रस्ट बहालगढ़, हरियाणा, सन् १६८७

६६ प्रपन्नपारिजातः- श्रीवात्स्यवरदाचार्यकृत, विशिष्टाद्वैत प्रचारिणी सभा, चेन्नई, सन् १६७१

६७ प्रमेयपरिशोधिनी- राम मन्दिर सारंगपुर दरवाजा, अहमदाबाद, सन् १६६५

६८ प्रशस्तपादभाष्यम्- न्यायकन्दलीटीकया समलंकृतम्, मेडिकल हाल यन्त्रालय काशी, वि.सं.१६४१

६६ प्रशस्तपादभाष्यम्- न्यायकन्दली संस्कृत तथा हिन्दी व्याख्या सहित सम्पूर्णानन्दसंस्कृत विश्वविद्यालय वाराणसी, वि.सं.२०५३

७० प्रश्नोपनिषत्- भाष्यचतुष्टयोपेता, संस्कृत-संशोधन संसत्, मेलुकोटे, सन् २००२

७१ प्रश्नोपनिषत्- श्रीरङ्गरामानुजमुनिभाष्योपेता, तिरुमला तिरुपति देवस्थान, सन् १६७८

७२ बृहदारण्यकोपनिषत्-श्रीमद्भगवद्रामानन्दाचार्यप्रणीतानन्द भाष्योपेता, श्रीरामानन्द वेदान्तप्रचारक समिति, अहमदाबाद, वि.सं.२०२५

७३ बृहदारण्यकोपनिषत्-भाष्यचतुष्टयोपेता, संस्कृत संशोधन संसत् मेलुकोटे सन्, २००६

७४ बृहदारण्यकोपनिषत्भाष्यम्- श्रीरङ्गरामानुजमुनिभाष्योपेता, तिरुमला तिरुपति देवस्थानम् तिरुपति सन् १६५३

७५ ब्रह्मसूत्रभाष्यम्- श्रीभास्कराचार्यविरचितम्, चौखम्बा संस्कृत सीरीज आफिस, वाराणसी, सन् १६६१

७६ ब्रह्मवैवर्तपुराणम्- राष्ट्रियसंस्कृतसंस्थानम् नई दिल्ली, सन् २००४

७७ ब्रह्मसूत्रविमर्शः- पी.एम. चक्रवर्ती, ३/१०३ बल्लार स्ट्रीट, नृसिंह महानगर तिरवेट्टीपुरम् तमिलनाडु, सन् १९९०

७८ ब्रह्मसूत्रशाङ्करभाष्यम्- भाष्यरत्नप्रभा-भामती-न्यायनिर्णय व्याख्यात्रयोपेतम्, मोतीलाल बनारसीदास दिल्ली, सन् १९८८

७९ ब्रह्मसूत्रशाङ्करभाष्यम्-भाषानुवादसत्यानन्दी-दीपिकासहितम्, गोविन्दमठ, टेढ़ीनीम वाराणसी, वि.सं.२०५८

८० ब्रह्मसूत्र श्रीभाष्यम् श्रुतप्रकाशिका सहितम् (भाग १-२)- विशिष्टाद्वैत प्रचारिणी सभा, २७. व्यंकटेश अग्रहारम्, मैलापोर, चेन्नई, सन् १९८९

८१ ब्रह्माण्डमहापुराणम्- कृष्णदास अकादमी, वाराणसी, सन् १९८३

८२ भगवद्गुणदर्पणाख्यं श्रीविष्णुसहस्रनामभाष्यम्- ग्रन्थमाला, आफिस, एल कांचीपुरम्, सन् १९६४

८३ भारतीयदर्शनेषु प्रत्यक्षप्रमाणविमर्शः- अडयार पुस्तकालय चेन्नई, सन् १९९५

८४ भारतीयदर्शनेषु प्रत्यक्षम्- पूर्णप्रज्ञसंशोधन मन्दिरम्, पूर्णप्रज्ञविद्यापीठम्, बेङ्गलूरु

८५ भास्करोदया- तर्कसंग्रहदीपिका-प्रकाशस्यव्याख्या, चौखम्बा भारती अकादमी, वाराणसी, सन् १९८७

८६ भेदसाम्राज्यम्- श्रीरङ्गरामानुजमहादेशिकैः विरचितम्, त्यागराजनगर, नाथमुनि वीथी, चेन्नई, सन् २००२

८७ मनुस्मृति- मन्वर्थमुक्तावलीसहिता, मणिलाल देसाई, गुजराती मुद्रणालय, मुम्बई, सन् १९१३

८८ महाभारत (भाग१-६)- हिन्दी-अनुवाद सहित, गीताप्रेस गोरखपुर, वि.सं. २०५३।

८९ महाभाष्यम्- हिन्दीव्याख्यया सहितम्, श्री प्यारेलाल द्राक्षादेवी न्यास कालोनी, दिल्ली, सन् १९९२

९० मानरत्नावली- मयूखसहिता, पं. सम्राट् स्वामी वैष्णवाचार्य वेदान्तपीठ, अहमदाबाद, सन् १९६२

९१ माण्डूक्योपनिषत्- गौडपादीयकारिकासहिता,टीकासंवलितशांकर भाष्यसमेता, कैलासाश्रम, ऋषीकेश, वि.सं. २०३८

९२ माण्डूक्योपनिषत्- भाष्यपञ्चकोपेता, संस्कृत-संशोधन संसत्, मेलुकोटे

९३ मानमेयप्रकाशिका- हरिजीवनशास्त्रिविरचिता, स्वामी नारायणमन्दिर, बडताल, गुजरात।

९४ मीमांसाकोषः (१-७)- इण्डियन बुक सेन्टर, शक्तिनगर, दिल्लीं, सन् १९९२

९५ मीमांसाशाबरभाष्यम् (भाग१-६)- हिन्दीव्याख्यासहितम्, युधिष्ठिर मीमांसक, रामलालकपूरट्रस्ट बहालगढ़ हरियाणा, सन् १९८७

९६ मुण्डकोपनिषत्- भाष्यचतुष्टयोपेता, संस्कृत-संशोधन संसत्, मेलुकोटे, सन् २००५

९७ यजुर्वेदसंहिता- नाग प्रकाशन, दिल्ली सन् १९९७

९८ यतीन्द्रमतदीपिका- लघुवर्तिकाव्याख्यासमन्विता, श्रीरङ्ग नाथ प्रेस, वृन्दावन, सन १९७६

९९ यतीन्द्रमतदीपिका- प्रकाशाख्यव्याख्या समेता, आनन्दाश्रम पुणे, सन् १९७७

१०० रक्षाग्रन्थाः- श्रीमद्वेङ्कटनाथवेदान्तदेशिकविरचिताः, उत्तमूर वीर राघवाचार्य, चेन्नई, सन् १९६९

१०१ रामानुजवेदान्तसार- आगरा

१०२ रामानन्द वेदान्तादर्शः- वाराणसी

१०३ रामायणम्- टीकात्रयेणोपस्कृतम् (भाग १ से ७)- परिमल पब्लिकेशन, दिल्ली, सन् १९९१

१०४ वराहमहापुराणम्- मेहरचन्द लछमनदास दिल्ली, सन् १९८४

१०५ वाक्यपदीयम्- अम्बाकर्त्रीव्याख्यया समलङ्कृतम्, सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय,वाराणसी, सन् १९६८

१०६ वाचस्पत्यम् (भाग १ से ६)- चौखम्बा संस्कृत सीरीज आफिस, वाराणसी, वि.सं. २०४६

१०७ विशिष्टाद्वैतसिद्धिः- डी.टी ताताचार्य, तिरुपति, सन् १९६५

१०८ विशिष्टाद्वैतकोशः (भाग-१ से १०)- संस्कृत-संशोधन- संसत् मेलुकोटे, सन् १९८३-२००९

१०९ विशिष्टाद्वैतदर्शनम्- स्वामी श्रीभगवदाचार्येण प्रणीतं काश्मीरा सोसायटी, अहमदाबाद-७, सन् १९७३

११० वेदवाणी- वेदाङ्ग विशेषाङ्क, वेदवाणी कार्यालय, बहालगढ़, हरयाणा, वि.सं. २०५७

१११ वेदान्तकारिकावली- थियोसिकल सोसायटी, अडयार मद्रास।

११२ वेदान्तकौस्तुभप्रभा- हिन्दी अनुवादसहिता, मोतीझील वृन्दावन वि.सं. २०६३

११३ वेदान्तदीपः- भगवद्रामानुजाचार्यविरचितः संस्कृत-संशोधन-संसत्, मेलुकोटे, सन् २००९

११४ वेदान्तदीप- हिन्दीव्याख्याकार स्वामी नीलमेघाचार्य, श्रीवैकुण्ठाचार्य बुक ट्रस्ट, एस.८७, पंचशीलपार्क नईदिल्ली, सन् २०१०

११५ वेदान्तपरिभाषा- कैलास आश्रम, ऋषीकेश, वि.सं. २०४०

११६ वेदान्तप्रबोध- स्वामी परमानन्दभारती, वेदान्तदर्शनसमिति, करनाल, हरियाणा, सन् २००६

११७ वेदान्तसमीक्षा- स्वामी सच्चिदानन्द, गुर्जर प्रकाशन,गान्धी रोड, अहमदाबाद, सन् १६६५

११८ वेदान्तसारः- हिन्दींव्याख्यासहितः, मोतीलाल बनारसीदास दिल्ली, सन् १६६३।

११६ वेदान्तस्यमन्तकः- श्रीगदाधरगौरहरिप्रेस, हरिदासनिवास, कालीदह, वृन्दावन

१२० वेदार्थसंग्रहः- चन्द्रिकातिलकव्याख्यासहिता, सम्पूर्णानन्दसंस्कृत विश्वविद्यालय, वाराणसी, सन् १६६१

१२१ वेदार्थसंग्रह- तात्पर्यदीपिकाख्यव्याख्यासंवलितः पं. रामदुलारे शास्त्री, विष्णुपुरा, ढखवा बाजार, गोरखपुर, वि.सं. १६६८

१२२ वेदार्थसंग्रह- हिन्दीव्याख्याकार स्वामी श्रीनीलमेघाचार्य बरेली, सन्१६६१

१२३ वेदार्थसंग्रह-संस्कृत संशोधन संसत् यादवाद्रि(मेलुकोटे), सन्१६६१

१२४ वेदान्तवैजयन्ती- शतभूषणीग्रन्थविमर्शरूपा, संस्कृतविद्या धर्मविज्ञानसंकायः, काशीहिन्दूविश्वविद्यालय, वाराणसी, सन् १६६१

१२५ वैदिकचर्याविज्ञान- स्वामी शंकरानन्द सरस्वती, परमार्थ निकेतन, ऋषिकेश, वि.सं. २०४५

१२६ वैयाकरणसिद्धान्तकौमदी (भाग-१-४)- मोती लाल बनारसी दास, दिल्ली, सन्१६८२

१२७ वैशेषिकदर्शनम्- रसायनाख्यसंस्कृतव्याख्ययोपेतम्, श्रीउत्तमूर वीरराघवाचार्य, सेन्टेनरी ट्रस्ट चेन्नई,सन् २००५

१२८ व्याकरणमहाभाष्यम् (भाग१-६)- उद्योतपरिवृतप्रदीपसहितम्, चौखम्बा संस्कृत प्रतिष्ठान, दिल्ली, सन् १६८७।

१२६ व्याकरणमहाभाष्यम्- मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली, सन्१६८४
१३० व्युत्पत्तिवादः- सुनन्दाख्यहिन्दीटीकाविभूषितः, भारतीय विद्या प्रकाशन वाराणसी, सन् २००१
१३१ शतदूषणी- श्रीरामसदनम् १०. अलर्मेलमङ्गापुरम् चेन्नई, सन् १६७४
१३२ शब्दकल्पद्रुमः (भाग-१ से ५)- राष्ट्रियसंस्कृतसंस्थानम्, नई दिल्ली, सन् २००२
१३३ शारीरकमीमांसायाःआनन्दभाष्यम्- अधिकरणरत्नमाला प्रकाशाख्या व्याख्या च (प्रथमो भागः) श्रीरामजी मन्दिर सारंगपुर दरवाजा बाहर, अहमदाबाद, वि.स. २०२२
१३४ शारीरकमीमांसायाःआनन्दभाष्यम्-श्रीरामानन्दीयवैष्णव-महामण्डल, अहमदाबाद, सन् १६२६
१३५ शास्त्रदीपिका- हिन्दीव्याख्यासहिता, स्वामी रामतीर्थ मिशन, देहरादून, सन् १६६६
१३६ श्वेताश्वतरोपनिषत्- प्रकाशिका व्याख्या संवलिता, निम्बार्क महासभा, वृन्दावन
१३७ श्रीतत्त्वसिद्धाञ्जनम्- श्री के. आर. पद्मनाभन्, आर.के. पुरम् नई दिल्ली, सन् १६८१
१३८ श्रीपद्ममहापुराणम् (भाग१-४)- नाग प्रकाशन, दिल्ली, सन्१६८४
१३६ श्रीब्रह्मवैवर्तपुराणम्- राष्ट्रियसंस्कृतसंस्थानम् नई दिल्ली, सन् २००४
१४० श्रीभाष्यम् (भाग १-२)- भाष्यार्थदर्पणसमेतम्, श्रीरङ्गम, श्रीमद् आंडवन आश्रम, तमिलनाडु सन् १६६७

१४१ श्रीभाष्यम्-(मूलमात्रम्) श्रीमद्रामानुजविरचितम्, संस्कृत-संशोधन संसत्, मेलुकोटे, सन्- १९९५
१४२ श्रीभाष्यम्(विमर्शात्मक सम्पादनम् १-४)- संस्कृत संशोधन संसत्, मेलुकोटे, सन् १९८५से १९९१
१४३ श्रीभाष्यम् (भाग१)- श्रुतप्रकाशिका तत्त्वटीकाव्याख्याद्वयोपेतम् श्रीनिवास यन्त्रालय, वृन्दावन, सन् १९१६
१४४ श्रीभाष्यम्(भाग२-६)-श्रुतप्रकाशिकाभावप्रकाशिकाटीकाद्वयोपेतम् श्रीनिवास यन्त्रालय, वृन्दावन सन्१९१७-१९२५
१४५ श्रीमद्भगवद्गीता- आनन्दभाष्येण गीतार्थसुधया गुह्यार्थ-दीपिकया च सहिता, सिद्धपुर, गुजरात, सन् १९९५
१४६ श्रीमद्भगवद्गीता-तात्पर्यचन्द्रिकासहितम् रामानुजभाष्यम, उत्तमूरवीरराघवाचार्य सेनेटरी ट्रस्ट नाथमुनि स्ट्रीट, टी नगर चेन्नई, सन् २००४
१४७ श्रीमद्भगवद्गीता- तात्पर्यचन्द्रिकासहितम् रामानुजभाष्यम्, श्रीरङ्गनाथप्रेस, वृन्दावन, सन् १९७६
१४८ श्रीमद्भगवद्गीता- श्रीरामानुजभाष्य, हिन्दी अनुवादसहित, गीताप्रेस गोरखपुर, वि.सं. २०५०
१४९ श्रीमद्भगवद्गीता- शाङ्करभाष्यसहिता, गीताप्रेस गोरखपुर, वि.सं.२०६६
१५० श्रीमद्भगवद्गीता- शाङ्करभाष्याद्यष्टटीकासहिता, इण्डोलॉजिकल बुक हाउस, पीलखाना सोनारपुरा, वाराणसी, सन् १९८४
१५१ श्रीमद्भागवतमहापुराण(भाग१-२)- हिन्दी व्याख्या सहित, गीताप्रेस गोरखपुर, वि.सं, २०४५
१५२ श्रीमद्भागवतम्- अनेकटीकोपेतम्, वरार मन्दिर, वृन्दावन

१५३ श्रीमद्भागवतमहापुराणम्- अनेकव्याख्यासमलङ्कृतम्, श्रीभागवतविद्यापीठः, कृष्णधाम सोला, अहमदाबाद, सन्१९९७

१५४ श्रीमद्वाल्मीकीयरामायण (भाग१-२)- हिन्दीभाषान्तरसहित, गीताप्रेस गोरखपुर, वि.सं. २०४५

१५५ श्रीमद्वाल्मीकीयरामायणम् (भाग१-६)- नाग पब्लिशर्स दल्ली, सन् १९९०

१५६ श्रीमन्महाभारतम्(भाग१-८)-भारतभावदीपाख्यटीकया समेतम्, नाग प्रकाशन, दिल्ली, सन् १९८८

१५७ श्रीरामचरितमानस-गीताप्रेस गोरखपुर, वि.सं. २०४७

१५८ श्रीवायुमहापुराणम्- नाग प्रकाशन दिल्ली, सन् १९८३

१५९ श्रीविष्णुधर्मोत्तरपुराणम्- नागपब्लिशर्स, दिल्ली,सन् १९२५

१६० श्रीविष्णुमहापुराणम्- गीताप्रेस गोरखपुर, वि.सं. २०५०

१६१ श्रीविष्णुमहापुराणम्- विष्णुचित्त्यात्मप्रकाशाख्य श्रीधरीय व्याख्याद्वयोपेतम्, नाग प्रकाशन, दिल्ली, सन् १९८५

१६२ श्रीवैष्णवमताब्जभास्करः- श्रीरामानन्दाचार्यप्रणीतः, श्रीरैवासाधाम सीकर, राजस्थान, वि.सं. २०५७

१६३ श्रीवैष्णवमताब्जभास्करः- श्रीरामानन्दाचार्यप्रणीतः, श्रीरामेश्वरानन्दाचार्यप्रणीत प्रभा-किरण सहितः, रामानन्दपीठ विश्रामद्वारका, सन् १९८०

१६४ श्रीरामानुजमतसंग्रहः- सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय वाराणसी, सन् १९९३

१६५ श्रौतप्रमेयचन्द्रिका- प्रभाख्यया व्याख्ययाऽलंकृता, पं. सम्राट् स्वामी श्रीवैष्णवाचार्य वेदान्तपीठाधीश, कालुपुरदरवाजा, अहमदाबाद, सन् १९७१।

१६६ श्रौतार्थसंग्रहः- जगद्गुरुरामानन्दाचार्यपीठ, कोशलेन्द्रमठ, पालडी, अहमदाबाद, सन् १९७३

१६७ षट्दर्शनसूत्रसंग्रहः- सुधीप्रकाशनम्, वाराणसी, सन् १९८४

१६८ सर्वदर्शनसमन्वय- स्वामी शङ्करानन्द सरस्वती, परमार्थ निकेतन, ऋषिकेश, वि.सं. २०३५

१६९ सर्ववेदान्तसारसङ्ग्रहः- श्यामसुन्दर झा, हिन्दु गुरुकुल, संस्कृत महाविद्यालय, सूरत, वि.सं. २००८

१७० साधन विचार- स्वामी शङ्करानन्द सरस्वती, परमार्थ निकेतन, ऋषिकेश, वि.सं. २०४३

१७१ संक्षेपशारीरकम्- अन्वयार्थप्रकाशिकाटीकासहितम्, चौखम्बा संस्कृत संस्थानम्, वाराणसी सन् १९९२

१७२ संक्षेपशारीरकम्- सारसंग्रह टीका का हिन्दी अनुवाद, श्रीकृष्णनिवास आश्रम, कनखल हरिद्वार, सन् १९९९

१७३ संस्कृतधातुकोशः- रामलाल कपूर ट्रस्ट बहालगढ़, हरियाणा, सन् १९९६

१७४ सांख्यदर्शन- सांख्यप्रवचनभाष्यसहितम्,भारती विद्याप्रकाशन, वाराणसी, सन् १९९४

१७५ सिद्धान्तसिद्धाञ्जनम्- अनन्तार्यवर्यैः विरचितम्, सन् १८९९

१७६ सिद्धित्रयम्- सिद्धाञ्जननामकव्याख्योपेतम् कोसलेश सदन अयोध्या, सन् १९८०